ओ३म् वन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड २ } वैशाख १९७९ { अङ्क ७ पूर्णाङ्क २५

यूनानमें इतिहास-कलाका प्रारंभ ।

इतिहास लिखनेकी परिपाटी हजारों वर्षसे चली आती है । देश कालके अनुसार इतिहास कलाने अनेक रूप धारण किये हैं । ईसवी सन् और विक्रम संवत्के कई हजार वर्ष पहिले मिश्र और बाबुलमें तेजस्वी राजाओंके कारनामे पत्थरों पर अंकित कर देते थे । अधिकांश लेख कालकवलित हो चुके पर जो बाकी हैं उनसे साफ २ मालूम होता है कि उनका अभिप्राय ऐतिहासिक था[१]। कोई तीन हजार वर्ष हुए, यूनान देशमें होमरके अमर काव्य इलियड और ओडिसीकी रचना हुई । उनकी कथामें बहुत सी असम्भव और भ्रमात्मक बातें हैं पर उनमें भी इतिहासका कुछ अंश है । उस समय इतिहास और काव्यमें विशेष अन्तर नहीं मानते थे, इतिहास काव्यके रूपमें ही लिखा जाता था । [२] ओकोनीसके निवासी एरिस्टियसने ऐरिमास्पिया नामक ग्रन्थमें काव्यरूपसे ही इतिहास कहा है । वह ईसामसीहके छ या सात सौ वर्ष पहिले हुआ था । हीसियडने भी इतिहास-घटनाओंके वर्णनके लिये काव्य-प्रणालीका अवलम्बन किया है । ईसाके ५०० वर्ष पूर्व यूनानकी मानसिक स्थिति बदलने लगी । अतएव

१ ब्रुगश, मैसपरो, विल्किंसन, ब्रेस्टेड केलेख, मिस्रके लिये ; तथा ऐलिसन, डंकर, विकलरके लेख बाबुलके लिये ।

२ गिलबर्ट मरे कृत होमरके काव्य, यूनानी रासाका प्रारंभ (Rise of the Greek Epic) यूनानी साहित्यका इतिहास (History of Greek Literature) बरर्ड के ओडिसी सम्बन्धी लेख, जे० बी० ब्यूरी कृत पुराने यूनानी इतिहासकार (Ancient Greek Historians)

इतिहास-प्रणाली भी बदलने लगी। स्टेसिकोरसने इलियडकी हेलन सम्बन्धी कथाकी सत्यतामें संदेह प्रकट किया। जेनोफेनीजने होमर और हीसियड दोनों पर ही आपत्ति की।

हिकेटियस. इसी समय माइलीटसके हिकेटियसने ऐतिहासिक अनुसंधानकी नीव डाली। देशदेशान्तरमें घूमकर उसने भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्योंका संग्रह किया। किम्वदन्तीपर भरोसा न करके उसने जानकार लोगोंसे पूछ ताछ की। पद्यको छोड़ कर उसने बराबर गद्यका आश्रय लिया। उसके बाद लीरौसके फेरिसाइडीजने, एक्युसिलौसने, हेरेक्लियाके हेरोडोटसने उनका अनुकरण किया, देवी देवताओंकी पुरानी कथाओंकी थोड़ी सी समीक्षा की, अपने समयकी बहुत सी घटनाओंकी जांच पड़ताल की। लम्पास्कसके चारौंनने और माइलीटसके डायोनीसियसने, हिकेटियसकी प्रणालीके अनुसार, फारसका इतिहास लिखा। अपने समयके फारस-यूनान युद्धकी भी गवेषणा उन्होंने की। केरियंडा के साइक्लैसने भी, जिसने फारस नरेश दाराके कहनेसे सिन्धु नदी और तटवर्ती प्रदेशोंकी खोजकी थी, अपने समयका थोड़ा सा इतिहास संकलित किया। लीडियाके जेन्थसने और विशेष कर साइराक्यूजके ऐटायकस और लेसवौसके हेलैनिकसने भूमध्यसागरके प्रदेशोंके प्राचीन और समकालीन इतिहास की रचना की।

हेरोडोटस. तत्पश्चात् ईसाके पूर्व पांचवीं सदीमें, हेली कार्नेसस नामक नगरमें हेरोडोटसका जन्म हुआ जो इतिहासका जन्मदाता कहलाता है। वास्तवमें इतिहासका जन्म पहिले ही हो चुका था। हेरोडोटसने उसे पुष्ट किया और अपने पैरों चलना सिखाया। हेरोडोटसने भूमध्यासागरके तटवर्ती अनेक एशियायी, यूरोपियन और अफ्रीकन देशोंकी सैर करते करते प्राकृतिक बातोंका पता लगाया, रीति-रिवाजका निरीक्षण किया, राजनीतिका अध्ययन किया और ऐतिहासिक घटनाओंका अनुसन्धान किया। उसका ग्रंथ मनुष्यशास्त्र (Anthropology) और समाजशास्त्र (Sociology) का आदि पुराण है। जैसा इतिहास उसने लिखा वैसा पहिले किसीने नहीं लिखा था। यह पहिला तुलनात्मक इतिहास था, पहिला अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास था। हेरोडोटस पहिला इतिहासकार है जिसने भूगोलके ऐतिहासिक प्रभावको पूरी तरह समझा, जिसने इतिहास क्षेत्रमें सामाजिक तथ्योंको स्थान दिया।[२]

थ्यूसिडिडीज. हेरोडोटसने फारस यूनान युद्धका इतिहास लिखा था। (ईसापूर्व) पांचवीं सदीके उत्तरार्द्ध थ्युसिडिडीज़ने यूनानके दो सबसे बड़े नगरराज्य ऐथेन्स और स्पार्टाके पारस्पारिक संग्रामका वर्णन किया। उसने हेरोडोटसकी अपेक्षा समालोचनाका कहीं अधिक प्रयोग किया। अतीत काल या वर्त्तमान कालके जो समाचार उसे मिलते उनको वह यों ही न मान लेता था। वह उनकी समीक्षा करता था। उनके आदि स्रोतका पता लगाता था। दूसरे समाचारोंसे उनकी तुलना करता था। संशयात्मक

---

२ ब्यूरी--प्राचीन यूनानी इतिहासकार पृष्ठ ३६-७४ रौलिंशनकृत हेरोडोटसके अंग्रेज़ी अनुवादकी भूमिका। स्वयं हेरोडोटसका इतिहास।

बातोंको छोड़ देता था और केवल विश्वसनीय घटनाओंको ग्रहण करता था। थ्युसिडिडीज़की विस्तृत आलोचना फिर किसी समय की जायगी। जिज्ञासू उसका ग्रन्थ पढ़ लें; उसके विषयके जौवेट, मेर, व्यूरी, हैरिसन प्रभृति विद्वानोंके लेख पढ़ लें। यहां केवल इस बातपर ज़ोर देना है कि थ्युसिडिडीज़ उस समालोचनात्मक इतिहास कलाका जन्मदाता है जिसे आज सब इतिहासकार अपना आदर्श मानते हैं। हेरोडोटसने गवेषणाकी रीतिको उत्कर्ष प्रदान किया।

अन्य इतिहासकार.

थ्युसिडिडीज़के बाद यूनानमें बहुतसे इतिहासकार हुए। ज़ेनोफनने 'एनैबैसिस-'में अपने प्रसिद्ध दसहजारी आक्रमणकी कथा कही और 'हेलैनिका' में एथेन्स स्पार्टा युद्धके सूत्रको वहांसे उठाया जहां थ्युसिडिडीज़ने छोड़ दिया था। आइसोक्रेटीज़ने इवेगोरसका जीवन चरित्र लिखा।

जीवनचरित्र.

आइसोक्रेटीजकी देखा देखी जेनोफनने एजि सिलासका जीवनचरित्र लिखा, इस प्रकार यूरोपमें जीवनचरित्र लिखनेकी रीति चली और जीवनचरित्र इतिहासका एक भाग हो गया। क्रेटिपसके लुप्त महान इतिहासका एक छोटासा टुकड़ा अभी मिला है। इसमें थ्युसिडिडीजका प्रभाव साफ साफ दिखायी पड़ता है। फिलिस्टस कृत सिसिली टापूकी अनेक वर्ण चित्रित कथामें भी वही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है पर उनके बाद यूनानकी मानसिक स्थिति एक बार फिर बदली। उसके कारणोंकी आलोचना भविष्यमें किसी अवसरपर की जाय गी। यहां यह समझना आवश्यक है कि इस समय यूनानमें ओजस्वी वक्तृत्वकलाकी अपूर्व उन्नति हुई। उर्दूमें जिस गुण या अवगुणको लफ्फाजी कहते हैं उसने सारे साहित्य पर अपनी छाप लगा दी। इतिहासकारोंने सत्यशोधन की अपेक्षा प्रभाव पैदा करनेको अपना अभीष्ट समझा। तथ्योंके स्थानपर शब्दोंकी भरमार हुई। थ्युसिडिडीज़के सौ वर्षके बाद एफोरस और थियोपौम्पसके ग्रन्थ पढ़ते पढ़ते कभी हैम्लेटकी याद आ जाती है कि हम केवल शब्द ही शब्द पढ़ रहे हैं; भाव न जाने कहां छिपे हैं। तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने दो एक अंशमें इतिहास कलाकी उन्नति की। उन्होंने मानव-चरित्रकी तीक्ष्ण आलोचना की। उन्होंने इतिहासका काल-विभाग किया।

काल-विभाग.

(ईसापूर्व) तीसरी शताब्दीमें हेजेसेयस टाइमियस, ड्यूरिस, क्लैटारकस, हाइरोनिमस आदिने उनका अनुकरण किया। इस सदीमें और इसके पहिलेकी सदीमें तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा हुई। प्लेटो और अरिस्टाटलने वे ग्रन्थ लिखे जिनका परिशीलन मानव-जातिको सदा लाभ पहुंचायगा; चित्तको प्रसन्न करेगा, मस्तिष्कको पुष्ट करेगा; और समाजके नये नये सिद्धान्त बतायेगा। नगर नगरमें

तत्वज्ञान.

और विशेषत: एथेन्समें तत्त्वज्ञानियोंने शालाएं खोलकर विद्यार्थियोंको तत्त्वज्ञानी बनाना प्रारम्भ किया। तत्त्वज्ञानके जोर शोरका प्रभाव इतिहास कलापर पड़ना आवश्यक था। कई लेखकोंने कोरी घटनाओंका वर्णन

छोड़ कर सभ्यताके इतिहासकी ओर दृष्टि की। डिकेआरकसने यूनानकी संस्थाओं और कलाओंका इतिहास रचा।

यूनानका महत्व. यूनानी इतिहास कलाकी यह संक्षिप्त विवेचना यदि किसीको अरुचिकर मालूम हो तो मैं यह कहकर क्षमा मांगना चाहता हूं कि इसके बिना यूरोपकी इतिहास-प्रणाली समझमें नहीं आ सकती। जैसे कोई वर्तमान भारतवर्षकी अवस्थाको प्राचीन भारतवर्षके धर्म, समाज राजनीतिके परिशीलनके विना नहीं समझ सकता है वैसे ही कोई अर्वाचीन यूरोपकी किसी बातको भी यूनानकी सहायता विना अच्छी तरह नहीं ग्रहण कर सकता। सारे यूरोपीय साहित्यपर यूनानी साहित्यका प्रभाव दृष्टिगोचर है। सारा मध्यकालीन और अर्वाचीन यूरोपीय तत्त्वज्ञान यूनानके आधारपर स्थित है। ईसाई धर्मकी उत्पत्ति फिलिस्तीन (पैलेस्टाइनमें) हुई थी पर यूरोपमें फैलनेके पहिले यूनानी प्रतिभाने उसपर भी सदाके लिये अपनी छाया लगा दी। यूरोपीय इतिहास-रचना भी यूनानी प्रणालीसे निकली है।

रोम. फ्रीमैनने कहा है और सच कहा है कि (यूरोपीय) संसारके इतिहासका केन्द्र रोम है। सारे प्राचीन इतिहासकी धाराएं रोममें मिलती हैं और पीछेके सारे इतिहासकी धाराएं रोमसे निकलती हैं। रोमने सारे पाश्चात्य यूरोपको, ईसवी सन्‌की आरंभिक सदियोंमें बर्वरतासे निकालकर सभ्यता सिखायी; उद्योग व्यापार सिखाया, लिखना पढ़ना सिखाया; धर्म सिखाया। सारा यूरोप रोमका शिष्य हो गया पर स्वयं रोम किसका शिष्य था? कानून और शासनकलामें रोमन प्रतिभाने, विना किसीकी सहायताके ऐसे चमत्कार दिखाये जो आज भी आंखोंको चकाचौंध करते हैं। पर साहित्यमें, तत्त्वज्ञानमें, कलामें वे यूनानके शिष्यमात्र थे। जिस समय रोमने यूनानकी राजनीतिक विजय की उसी समय यूनानने रोमकी आध्यात्मिक विजय कर ली।

रोमन इतिहास. रोमन इतिहास प्रणाली यूनानी प्रणालीकी छायामात्र है। रोमन इतिहास-लेखनके सिद्धान्त यूनानसे लिये गये हैं। रोममें ऐतिहासिक कथा और गीत सदियोंसे चले आते थे पर जब (ईसापूर्व) तीसरी और दूसरी सदीमें सुसम्बद्ध इतिहास लिखा गया तब उसने यूनानका ही अनुकरण किया। फेबियस पिक्टर आदि रोमन इतिहासकारोंने यूनानी भाषामें ही रचना की। रोमकार्थेज युद्धका इतिहासकार पौलीवायस स्वयं यूनानी था। रोमके अन्य इतिहासकार—कैटो, सैलस्ट, लिवी, टैसिटस, सीजर, पौसीडोनियस, डायोडोरस, इत्यादि २—की समालोचना अन्य किसी समय की जायगी। उन्होंने यूनानी भाषाको छोड़ कर मातृभाषा लैटिनमें रचनेकी बुद्धिमानी दिखायी और यूनानी परिपाटीका अनुक्रमण करनेकी भी बुद्धिमानी दिखायी पर उन्होंने इतिहास-कलामें किसी नये गुणका समावेश नहीं किया। रोमन प्रतिभा व्यावहारिक प्रतिभा थी। साहित्य विज्ञानमें कोई अपना नया मार्ग निकालनेकी शक्ति उसमें न थी।

यूनानमें इतिहासकलाका प्रारम्भ

पांचवी सदीमें रोमन साम्राज्यको बर्बरोंने रोमन नैतिक पतन और कुशासनकी सहायतासे ध्वंस कर दिया। सारे यूरोपमें अर्द्धसभ्य जातियोंने अपने २ राज्य स्थापित कर लिये। रोमन साहित्य, शिक्षा, कला, राजनीति, कानून व्यवस्था, शान्ति,—अर्थात् सारी रोमन सभ्यता—चार शताब्दियोंके लिये लुप्तप्राय हो गयी। ईसाई धर्म भी बहुतसे देशोंसे लुप्त हो गया। जब उसने फिर सिर उठाया तो नयी परिस्थितिने उसे बहुत बदल दिया। हम किसी उपयुक्त अवसर पर यह बतलावेंगे कि मध्यकालीन यूरोपके इतिहासमें धीरे धीरे अराजकताके समुद्रसे व्यवस्थाकी सृष्टि हुई; सर्वव्यापी घमासान संग्रामके स्थानमें थोड़ी थोड़ी शान्ति स्थापित हुई; शान्ति और व्यवस्थाने उद्योग व्यापारको पुनरुज्जीवित किया; उद्योग व्यापारने नगरोंको जन्म दिया; सब कारणोंने मिलकर भाषाओंको परिष्कृत किया; साहित्य कलाकी वृद्धि की, नये विचारोंका प्रादुर्भाव किया। पांचवीं सदीकी बर्बर जातियोंके शनैः शनैः सभ्यता-क्रमकी अपेक्षा कोई अधिक मनोरंजक अध्याय यूरोपके इतिहासमें नहीं है। प्राचीन यूनान और रोमके बराबर होनेमें यूरोपको १००० वर्ष लगे। यह काल मध्ययुग कहलाता है। इसके पांच पांचसौ वर्षके दो विभाग हो सकते हैं। पहिले भागको 'अन्धकार युग' कह सकते हैं क्योंकि वह अराजकता, अशान्ति, मूर्खता, अत्याचारके अन्धकारसे आच्छादित था। इस कालमें केवल एक ज्योति टिमटिमा रही थी—रोमन कैथलिक ईसाई चर्च। रोमका साम्राज्य नष्ट हो चुका था पर रोमका दबदबा सारे पश्चिमी यूरोपके ईसाई धर्मका केन्द्र हो गया। रोमका पादरी पोप हो गया जिसकी सत्ताके सामने ११—१३ वीं सदीमें बड़े बड़े सम्राट कांपने लगे। रोमन पोपोंने जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशोंको ईसाई बनाया। प्रचारके उद्देश्यसे और धार्मिक उत्कर्षके उद्देश्यसे यूरोपमें बहुतसे मठ बने। मठोंके महन्त बस्तीसे बाहर कहीं जाकर रहते थे, ब्रह्मचर्य पालन करते थे; रुखा सूखा खाकर गरीबोंकी मदद करते और दूर देशोंमें जाकर धर्मका प्रचार करते थे। वे थोड़ा बहुत पढ़ने लिखनेका अभ्यास करते थे, प्राचीन और समकालीन घटनाओंको जो उनके कान तक पहुंचती थीं, लेख-बद्ध करते थे। उन्हींके लेख हैं जो अन्धकार युगकी घटनाओं पर थोड़ा सा प्रकाश डालते हैं। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिये पर उनके दोषों को कोई दृष्टिसे ओझल नहीं कर सकता। उनकी शिक्षा बहुत थोड़ी थी, उनमें समालोचना शक्तिका सर्वथा अभाव था, सत्यासत्य निर्णयका उन्हें विचार न था, उनका धार्मिक जोश इतना प्रबल था कि धार्मिक पुरुषोंके विषयमें वे सब तरहके अस्वाभाविक अनहोने चमत्कारों पर विश्वास करनेको तैयार थे। मानव-चरित्रमें, मानव-समाजमें उन्हें कोई अन्तर्दृष्टि न थी। जो कुछ वे सुनते थे लिख मारते थे, न उसका अनुसंधान करते और न उसका अर्थ समझते थे। इस अवस्थामें इतिहास-कलाकी उन्नति की चर्चा ही क्या? यही बहुत था कि किसी तरह घटनाओंकी स्मृति बनी रही।

(Margin notes: **मध्यकालीन यूरोप.** — **ईसाईमठ.** — **महन्तोंके इतिहास.**)

मध्यकालके उत्तरार्द्धमें अवस्था बहुत कुछ सुधर गयी। महन्त लोग अधिक

शिक्षित हुए, सर्व साधारणमें शिक्षाका कुछ प्रचार हुआ, महन्तोंके अलावा और लोग भी इतिहास लिखने लगे। ऐतिहासिक सामग्री कुछ ज्यादा मिलने लगी। **इतिहासकार.** भाषाएं परिपक्क हुईं, लेखन शैली उत्कृष्ट हुई, इतिहास ग्रन्थ सुपाठ्य हुए। आज भी मैथ्यूपैरिस और फौइसार्टके इतिहास चित्तको प्रसन्न करते हैं। एंग्लो सेक्सन क्रौनिकल नामक अंग्रेजी इतिहासके और विलियम आफ मैम्जबरी कथानकके कुछ भाग अब भी एक रोचक ग्रन्थमें उद्धृत हो सकते हैं। लैम्बर्ट आफ हर्जफील्ड और जौइर्नाविलीकी रचनाएं सदा पढ़ी जायँगी। पर इस कालमें भी कुछ ऐसी अड़चनें मौजूद थीं जिनसे इतिहास-कला थ्युसिडिडीजके बराबर भी न पहुंच सकी। एक तो वह समय अन्ध-विश्वासका था। उस समय धार्मिकताका दौरा था। सबका विश्वास **उनके दोष.** था कि परमेश्वर जो कुछ चाहे कर सकता है, उसके लिये कोई नियम नहीं है। चमत्कारों—अस्वाभाविक चमत्कारोंको—सब लोग भोलेपनसे मान लेते थे। आज भी बहुतसे इतिहासकार परमेश्वरको सर्व-शक्तिशाली मानते हैं पर वे प्राकृतिक नियमोंमें भी विश्वास करते हैं। परमेश्वरके होते हुए भी प्रकृतिका संचालन कुछ नियमोंके अनुसार होता है। मध्य कालकी मानसिक वृत्तिमें नियमोंके लिये कोई स्थान न था। जब सब कुछ सम्भव है तब किसी घटनापर अविश्वास करनेका कारण ही क्या है? विशेष कर धर्मशील साधु सन्तोंके विषयमें तो सबही होनी-अनहोनी घटनाएं ग्राह्य थीं। अत्यन्त धार्मिकताके कारण लोग परमेश्वरकी सृष्टिमें, उसके कार्योंमें, अपनी अक्ल लड़ाना पाप समझते थे। उसमें अधिक छानबीन नहीं करते थे। तात्पर्य यह कि उस समय समालोचनाका अभाव था और बिना समालोचनाके सच्चा इतिहास असम्भव है।

दूसरे, मध्यकालमें पुस्तकोंका अभाव था। छापना तो कोई जानता ही न था। हस्त लिपियां बहुत होने पर भी पर्याप्त नहीं थीं। पुस्तकोंके दाम इतने ज्यादा थे कि लखपतियों के सिवाय कोई सौ दो सौ भी नहीं खरीद सकता था। बड़े २ नगरों, गिरजों और मठोंमें बड़े २ पुस्तकालयोंतक पहुंचना इतना संकट मय था कि विद्वानोंके लिये उनसे अधिक लाभ उठाना असम्भव था। पाठशालाओंमें धर्म, तत्त्वज्ञान, न्याय और रोमन कानून पर ही जोर दिया जाता था, इतिहासको कोई न पूछता था।

पन्द्रहवीं सदीने यूरोपीय जीवनमें एक महान विप्लव उत्पन्न किया। यूनान और रोमके **पन्द्रहवीं सदी ईसवी.** साहित्य और कला, इतिहास और धर्मकी चर्चा जाग्रत हुई। यूनानी और लैटिन भाषाओंका पढ़ना पश्चिमी यूरोपका फैशन हो गया। **विद्याका पुनरुज्जीवन.** पृथ्वीका क्षेत्र बढ़ गया। राजकुमार हेनरीकी अध्यक्षतामें अफ्रिकाके अनेक देशोंका पता लगा। कोलम्बसने अमरीका ढूंढ़ निकाला। वास्कोडिगामाने सात समुद्र पार करके कालीकटमें लंगर डाला। उधर वैज्ञानिकोंने सिद्ध किया कि पृथ्वी गोलाकार है और सूर्यके चारों ओर घूमती है। सामुद्रिक कंपास ईजाद किया गया और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि छापनेका आविष्कार

हुआ। राजनीतिक्षेत्रमें ज़मीन्दारी शासन (Feudalism) का
राष्ट्रीयराज्य. ह्रास हुआ और राष्ट्रीयराज्य (nation state) का विकास हुआ। समाजके मध्यवर्गका प्रभाव बढ़ा। सर्व साधारणमें शिक्षा फैली; देशी भाषाओंका प्रचार बढ़ा और उस देशी साहित्यकी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हुई। इस समय यूरोपका जीवन ही बदल गया। इतिहास-कला भी बदलने लगी। जैसा कि गूचने अपनी इतिहास विषयक पुस्तकमें निर्देश किया है, पेट्रर्क और वोकैकियो, जो नयी विद्याके प्रथम आचार्य थे, अर्वाचीन इतिहास कलाके जन्मदाता थे। उनके बाद फ्लोरंस निवासी ब्रूनीने एक बार फिर इतिहासमें समालोचनाका सुसम्बद्ध प्रयोग किया। तत्पश्चात् मेकिपावेली और गाइक्यार्डिनीने
१६वीं शताब्दी. सुसम्बद्ध राजनीतिक इतिहासकी नींव डाली। मध्यकालके बहुतसे
१७वीं शताब्दी. ऐतिहासिक विश्वास हवामें उड़ गये। १६ वीं शताब्दीमें महान
१८वीं शताब्दी. धार्मिक क्रान्ति हुई जो ल्यूम्बरके नामसे पुकारी जाती है। सैकड़ों धार्मिक इतिहास लिखे गये। कुछ राजनीतिक इतिहासोंकी भी रचना हुई। सत्रहवीं सदीमें बहुत कुछ धार्मिक शान्ति स्थापित हो गयी; धार्मिक वादविवाद कुछ ठण्डा हुआ। लौकिक इतिहासकी प्रचुरता हुई। अठारहवीं सदीने तो यूरोपके मानसिक क्षितिजमें एक और प्रभावशाली परिवर्त्तन किया। इस समय धीरे धीरे वे सामाजिक और राजनीतिक शक्तियां काम कर रही थीं जिन्होंने फ्रेंच राज्यक्रान्तिको उत्पन्न किया। विचारमें बड़े बड़े परिवर्त्तन हो रहे थे। सवत १८०५ (सन् १७४८) में मान्टेस्क्यूने अपनी क़ानून सम्बन्धी पुस्तकमें बतलाया है कि मनुष्य समाजपर प्राकृतिक परिस्थितियोंका बड़ा प्रभाव पड़ता है; मनुष्य जीवनके सब विभाग परस्पर सम्बद्ध हैं; मानवी संस्थाओंको एतिहासिक रीतिसे अध्ययन करना चाहिये। बेलीने धार्मिक सिद्धान्त और परम्पराका खण्डन किया। वाल्टेयर सत्तूबांधकर ईसाई धर्म और ईसाई पादरियोंके पीछे पड़ा। उसने काव्य, नाटक, इतिहास, विज्ञान, समालोचना इत्यादिके सैकड़ों ही ग्रन्थ लिखे और लिखवाये। हज़ारों ही पत्र उसने यूरोप भरके विद्याप्रेमियोंको भेजे। पश्चिमी यूरोपके विद्वानोंका वह सम्राट् था। अपना सारा प्रभाव उसने रोमनकैथलिक ईसाई धर्मकी जड़ खोदनेमें लगाया। अपने इतिहास ग्रन्थोंमें वाल्टेयरने प्रतिपादन किया कि मनुष्य समाजके इतिहासमें एक्य है अर्थात् सब घटनाएं एक दूसरेसे सम्बद्ध रहती हैं। सारे इतिहासमें कार्य कारण सबन्ध मौजूद है। कुछ वर्ष पहिले प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेता लेवनिज़ने इसी सिद्धान्तकी घोषणा की थी। उसने कहा था कि प्रकृत्तिमें कोई घटना एकदम नहीं होती, सब घटनाओंका धीरे धीरे विकास होता है। टर्गो, विको, लैसिंगने भी इस सिद्धान्तका समर्थन किया। हर्डरने मनुष्य जातिके इतिहासके विचारमें इन्हीं बातोंपर जोर दिया। बर्कने फ्रेंचराज्य-क्रान्तिपर विचार करनेमें बहुत अनौचित्य किया है पर व्यवहारतः यह बताया है कि मनुष्य-

समाजके सब अंग एक दूसरेसे कैसा घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं और राजनीतिक मामलोंमें भूत-कालकी घटनाओंपर कैसी दृष्टि रखनी चाहिये* ।

१९वीं शताब्दी.

१९वीं शताब्दीमें ये सिद्धान्त सर्वमान्य हो गये। आगस्ट कौंट ने मानव इतिहास पर इनकी दृष्टिसे विचार किया। संवत १९०५ (सन् १८४८) में चार्ल्स डारविनने। 'जन्तुओंकी उत्पत्ति' शीर्षक जगद्विख्यात पुस्तक प्रकाशित की, उन्होंने सिद्ध किया कि प्रारंभमें बहुत ही नन्हे नन्हें जीव प्रकट हुए; धीरे २ विकसित होनेपर उन्होंने बड़ा आकार धारण किया, प्राकृतिक परिस्थितियोंके अनुसार उनके नये अंग गिरने लगे; जो वनस्पति या प्राणी नयी परिस्थितियोंके अनुकूल बन सके वे तो जिन्दा रहे, बाक़ी सब नष्ट हो गये; जो जिन्दा रहे वे, क्रमिक विकाससे वर्तमान अवस्थाको पहुंचे हैं। एक पीढीके बाद डार्विनने 'मनुष्यकी उत्पत्ति' शीर्षक दूसरी पुस्तकमें सिद्ध किया कि अन्य जन्तुओंकी तरह मनुष्यका भी धीरे २ विकास हुआ है, बन्दर जातिके जन्तु-विशेष ही उन्नति करते २ मनुष्य बन गये और मनुष्य उन्नति करते२ वर्तमान अवस्थाको पहुंच गया। डार्विनकी पुस्तकोंने सारे संसारमें हलचल मचादी। पादरी लोग बेतरह बिगड़े, पुराने विचारोंके लोग सहम गये पर देखते देखते वैज्ञानिक लोग क्रमिक विकासके सिद्धान्तको मानने लगे। जन्तु शरीर और मनुष्य शरीरके अलावा भी सब बातोंमें यह सिद्धान्त लगाया गया। सर चार्ल्स लायलने सिद्ध किया कि स्वयं पृथ्वीका यह रूप क्रमिक विकासका परिणाम है। जल तेज वायु सब धीरे २ प्रगट हुए हैं। मनुष्यका मस्तिष्क, मनुष्यकी भाषा, रीति रिवाज, धर्म, आचार सब ही विकाससे उत्पन्न हुए हैं। हक्सले, स्पेन्सर, वाइजमेन, मैक्स मूलर, हेनरी मेन, एड वर्ड क्लौड प्रभृति धुरन्धर विद्वानोंके ग्रन्थोंमें इस विषयकी आलोचना मिलेगी।

विकास सिद्धान्तकी व्यापकता-

धीरे २ प्राकृतिक कारणोंसे वस्तुओंके पैदा होने और बदलनेका यह विकास सिद्धान्त आज सारे विज्ञानका केन्द्र सिद्धान्त है। राजनीति और समाज, धर्म और आचार, भाषा और कानूनविषयमें अब जो कुछ विचार किया जाता है इसी सिद्धान्तको मान कर किया जाता है। अब इतिहासका उद्देश्य यही है कि मनुष्यके जीवनमें जो परिवर्त्तन हुए हैं उनकी खोज की जाय और उनके कारणोंका अनुसंधान किया जाय। इसके लिये तथ्योंका संग्रह परमावश्यक है। यदि हमें घटनाओंका पूरा ज्ञान नहीं है तो हम न परिवर्तनका ही ठीक २ अन्दाज लगा सकेंगे न कारणोंकाही ठीक पता लग सकेगा। घटनाओंका ठीक २ पता लगानेका उपाय यह है कि उसी समयके लेख, पत्र, सिक्के, ध्वंसावशेष इत्यादिकी खोज करें। इसीका नाम मौलिक अनुसंधान है। किसी भी ऐतिहासिक सामग्रीके प्राप्त होने पर इतिहास-शोधकका पहला प्रश्न यह होता है कि इसकी रचना कब हुई थी ?

---

*गूशः उन्नीसवीं शताब्दीके इतिहासकार। मिलः न्यायशास्त्र। ग्रेह्म, अंग्रेज़ी राजनीतिक तत्त्वज्ञान। मौर्लेःवर्क।

यूनानमें इतिहास-कलाका प्रारंभ।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि इसके रचयिताको सच सच बातें जाननेकी सुगमता थी या नहीं? तीसरे, सच लिखनेकी ओर उसकी मानसिक वृत्ति थी या नहीं—वह रागद्वेषसे कितना संलिप्त था और कितना रहित था? लांगलो और सेनोबोके ग्रन्थमें इन सिद्धान्तों की विस्तृत आलोचना पाठकोंको मिलेगी। 'जार्जकी ऐतिहासिक साक्षी' में भी कुछ वर्णन मिलेगा। रांकेके सत्तर ग्रन्थोंमें इन सिद्धान्तोंके व्यावहारिक प्रयोगके मनोहर दृष्टान्त मिलेंगे।

जनताका इतिहास.

ऊपर कह चुके हैं कि इतिहास कला पर सामाजिक परिस्थितिका बड़ा असर पड़ता है। जिस समय समाजमें साधारण जनताकी कोई पूछ न थी, जब समाजमें एक सत्ता या कुलीन सत्ताका दौर दौरा था, तब जन समूहके इतिहासकी ओर किसीकी दृष्टि न थी। इतिहासकार राजाओंके और बड़े आदमियोंके कारनामे लिखनेमें ही सारी शक्ति लगा देते थे। मध्यकालीन यूरोपके इतिहास राजाओं और पादरियोंके जीवनचरित्र मात्र हैं। १८ वीं सदीके अन्तमें फ्रांसमें एकसत्ता और कुलीन सत्ताका पतन हुआ; प्रजातन्त्रका उदय हुआ। उन्नीसवीं सदीमें साम्यवाद और समष्टिवादके सिद्धान्तोंका प्रचार हुआ—भूमिपर किसानोंका अधिकार है, ज़मीन्दारोंका नहीं; पुतलीघरोंके मालपर मजदूरोंका अधिकार है, पूंजीवालोंका नहीं, रेल, तार, जहाज, जलकल, खान इत्यादिका प्रबन्ध पूंजी वालोंके हाथमें न होना चाहिये किन्तु राज्यके और राज्य पूर्णतः जनसत्तात्मक होने चाहिये; सारीसम्पत्ति, भोग और ऐश्वर्यके सारे साधन, जहां तक हो सके, सब लोगोंके पास बराबर होने चाहिये; न किसीको लखपति, करोड़पति होना चाहिये और न किसीको भूखा मरना चाहिये; समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुताके आधारपर सारा राजनीतिक और आर्थिक संगठन होना चाहिये।

यूरोपके सब देशोंमें मजदूरोंने और रूसमें किसानोंने भी इन सिद्धान्तोंको कार्यमें परिणत करानेका या इनके अनुसार कुछ परिवर्त्तन करानेका उद्योग किया; सभाएँ बनायीं; प्रचार किया, हड़तालकी, बलवे किये। दिन प्रति दिन मजदूरों और किसानोंके आन्दोलन प्रबलशाली होते गये और हो रहे हैं। संसारके इतिहासमें इसके बराबर महत्त्वपूर्ण या शिक्षाप्रद दूसरा आन्दोलन नहीं है। इसके कारण, प्रगति, वर्तमान रूप और भविष्य आशाओंकी विस्तृत विवेचना न कर हम यहां केवल यह दिखना चाहते हैं कि इतिहास कलापर इस आन्दोलनका क्या प्रभाव हुआ। जनताके वर्तमान महत्त्वको देख कर इतिहासकारोंने जन साधारणकी पुरानी स्थितिकी खोज की। लोग क्या खाते थे, क्या पहिनते थे, उनके रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वास कैसे थे, आचार कैसा था, आदर्श कैसे थे, इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा अब इतिहास करता है। इसे जनसत्तात्मक इतिहास कह सकते हैं; यही सचा इतिहास है। फ्रीमैनने कहा था कि इतिहास केवल पुरानी राजनीति है। सिर्जावकका मत था कि इतिहास पुरानी राजनीति है और राजनीति वर्तमान इतिहास है। सीली भी इतिहास—क्षेत्रकी मर्यादा

रखनेके पक्षमें थे। कार्लाइलके मतमें तो इतिहास महापुरुषोंके जीवन चरित्रके सिवाय कुछ भी न था। पर आज ये सम्मतियां किसीको मान्य नहीं हैं। इंग्लिस्तानके प्रधान इतिहासज्ञ ऐक्टनने कहा है कि इतिहासका वास्तविक महत्त्व राजनीतिमें नहीं है; विचारों और सिद्धान्तोंमें है। ऐक्टनके शिष्य गूशने ठीक ही जोर दिया है कि साहित्य, कला, सामाजिक और आर्थिक संगठनकी चर्चाके विना इतिहास पूरा नहीं है।

इतिहास विज्ञानका तत्व.

मनुष्यजातिके हजारोंवर्षके इतिहासकी आलोचनासे कोई साधारण व्यापकनियम निकलते हैं या नहीं? मनुष्यकी उन्नति या अवनतिके कोई व्यापक सिद्धान्त मालूम होते हैं या नहीं? इस विषय पर इतिहासकारोंमें बड़ा मत-भेद रहा है। कार्लाइल, किंग्स्ले, फ्रूड आदिका कहना है कि मनुष्य स्वतंत्र है, वह जब जैसा चाहता है काम करता है, उसके कार्यके नियम कुछ हो ही नहीं सकते। इसके विपरीत "वैज्ञानिक" इतिहासकारोंकी युक्ति है कि व्यक्तिविशेष भी प्रायः जल-वायु, खान-पान, तथा सुखप्राप्तिके नियमोंके अनुसार चलता है या चलनेकी कोशिश करता है। व्यक्ति समूह तो अनजानमें ही नियमोंका और भी अधिक पालन करता है। इतिहास और वर्तमानस्थिति पर साथ साथ विचार करनेसे हम देख सकते हैं कि सर्वत्र अराजकता एक सी ही संस्थाओंका कारण होती है; उद्योग-व्यापार, समुद्र-यात्रा एकसे ही आर्थिक परिवर्त्तन करते है; यह परिवर्त्तन एक सा ही राजनीतिक उलट-फेर करते हैं: एक सी ही परिस्थितियां युगान्तर उत्पन्न करती हैं। माना कि इन नियमोंके अपवाद भी हैं पर इनकी साधारण व्यापकता संदेहसे परे है। हर्बर्ट स्पेन्सरने अपने "समाजशास्त्रके अध्ययन" में अकाट्य युक्तियोंसे इस सिद्धान्तका समर्थन किया है। यह ऐतिहासिक नियमस्थापना ही इतिहास-विज्ञानका तत्त्व है बक्ल, ग्रीन, फ्रेडरिक हैरीसन, मौर्ले आदिने अपनी पुस्तकोंमें इसीकी पुष्टि की है।

अस्तु, इतिहास जहां तक हो सके, तत्कालीन सामग्रीके आधारपर लिखना चाहिये; इतिहास केवल राजनीतिक ही नहीं किन्तु कृषि, उद्योग, व्यापार, धर्म, समाज, साहित्य, कला इत्यादि सबका होना चाहिये; केवल महापुरुषोंका ही नहीं किन्तु सारे राष्ट्र-का होना चाहिये; इतिहासमें केवल घटनाओंका वर्णन ही न चाहिये किन्तु घटनाओंका अर्थ लगानेका एवं उनसे कुछ व्यापक सिद्धान्त स्थिर करनेका प्रयत्न भी उसमें किया जाना चाहिये। घटनाओंका सच सच पता लगाना कोई आसान काम नहीं है। कहीं तो सामग्री कम है, कहीं जालसाजीने सामग्रीका प्रयोग कठिन कर दिया है; रागद्वेष लगभग सर्वत्र विद्यमान है; पुराने शब्दोंके अर्थ बदल गये हैं, इत्यादि कठिनाइयां सबही इतिहास लेखकोंके अनुभवमें आती हैं। जन्मभरके परिश्रमके बाद फ्रीमैनकी धारणा हो गयी थी कि सत्यका पता लगाना असम्भव है। कुछ जर्मन लेखकोंने अपना अनुभव यह बताया है कि ऐतिहासिक सत्य कोई चीज ही नहीं। पर सत्य घटनाओंका पता लगानेकी अपेक्षा कहीं अधिक दुस्तर कार्य घटनाओंका अर्थ लगाना है। कितने आदमी हैं जो अपनी आखोंके सामनेकी घटनाओं का महत्त्व समझते हैं? कौन है जो सैकड़ों वर्ष पुराने विदेशी आन्दोलनोंके भावोंको

पूरा पूरा ग्रहण करनेका दावा कर सकता है? भूतकालको समझनेके लिये ऐतिहासिक ज्ञानके सिवाय मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्रके ज्ञानकी आवश्यकता होती है। इससे भी बढ़ कर सहानुभूति और कल्पनाशक्तिकी आवश्यकता होती है। संसारके सर्व-शिरोमणि इतिहासकार गोमसेनने कहा है कि कल्पनासे ही इतिहासकी रचना होती है—अर्थात् अपनी कल्पनाके परोंसे उड़कर इतिहासकारको दूसरे कालके वायुमंडलमें प्रवेश करना होता है। कल्पनाके अभावसे ही उन्नीसवीं सदीके उत्तरार्द्धके बहुतसे जर्मन इतिहास शुष्क और निर्जीव हैं। इतिहासके लिये उपन्यासकार की सी प्रबल कल्पना होनी चाहिये—घटनाएं पैदा करनेके लिये नहीं किन्तु घटना समूहकी व्यवस्थाके लिये।

सहृदयता. इतिहास लिखनेके लिये सहृदयताकी भी आवश्यकता है। सहृदयताके विना मनुष्य दूसरे मनुष्यके भावोंको समझ ही नहीं सकता। १५-१८ वीं सदियोंके विद्वान् मध्यकालको सहानुभूतिकी दृष्टिसे न देखते थे। वे मध्यकालको समझ ही न सके। अधिकांश अंग्रेज लेखक भारतवर्षसे सहानुभूति नहीं रखते। अतएव उनके लिखे हुए भारतीय इतिहास विडम्बना मात्र हैं। सहानुभूतिका यह अभिप्राय नहीं है कि हम बुरे आदमियों और बुरे कामोंको भी अच्छा कहें। सहानुभूतिका अर्थ यह है कि हम अपनेसे भिन्न या विपरीत धर्म, आचार, आदर्श रखने वाले लोगोंकी स्थितिमें अपनेको रख सकें।

भाषा. यह हैं इतिहास निर्माणके नियम। इतिहासकी भाषा कैसी होनी चाहिये—चटकीली या साधारण? प्राचीन समयमें इतिहास साहित्यका अंगमात्र था। इतिहास-की भाषा ओजस्वी साहित्यकी भाषा थी। पर १६ वीं शताब्दीमें इतिहासका उद्देश्य सत्यासत्य-निर्णय हुआ। जर्मन इतिहासोंकी भाषा वैज्ञानिक पुस्तकोंकी सी हो गयी। पर निर्जीव भाषाकी पुस्तकें कभी जन साधारणमें प्रचलित नहीं हो सकतीं। भाषा विषय पर इतिहासकारोंमें दो मत हो गये—एक तो सत्य-शोधनकी दृष्टिसे वैज्ञानिक भाषाके पक्षपाती थे और दूसरे जनताकी दृष्टिसे चटकीली साहित्यक भाषाका दम भरते थे। दोनों पक्षोंमें अब तक वाद-विवाद जारी है पर सच पूछिये तो यह व्यर्थका बतंगड़ है। सत्यका अणुमात्र भी त्याग न करते हुए, भाषा जितनी साहित्यक हो सके उतनी ही अच्छी बात है। शुष्कता और निर्जीवताकी आराधना न हो पर यदि सत्य चामत्कारिक न हो सके तो न सही।

हम अर्वाचीन इतिहासकलाके सिद्धान्तोंके अनुसार इतिहास सम्बन्धी कुछ लेख लिखनेका प्रयत्न करेंगे पाठकोंको यदि इन लेखोंमें उल्लिखित स्थानों और मनुष्योंके नाम अरुचिकर मालूम हों तो लेखक उन्हें केवल धैर्य धरनेकी सलाह दे सकता है। यूरोपीय इतिहासमें ये नाम बारम्बार आवेंगे। जैसे हो इतिहास प्रेमियोंको विदेशी नामोंका अभ्यास कर लेना चाहिये।

बेनी प्रसाद

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा ?

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

प्राच्य इतिहासके अनेक स्थलोंपर राजालोग अपनेको प्रजागणके धर्मनेता कहकर घोषित करते पाये जाते हैं। इसका कारण या तो मनुष्यका स्वाभाविक आत्मगौरव हो सकता है या कोई गूढ़ राजनीतिक तत्व। यदि राजा बाह्यान्तर दोनों जगतमें कार्यदक्ष हो सकता है तो फिर पृथ्वीपर उसकी अपेक्षा बलवती शक्ति कोई हो ही नहीं सकती; संसारमें उसकी क्षमता अनवरुद्ध तथा उसका "एकातपत्र जगतः प्रभुत्वं" ही है। नवलक्ष अश्वारोही सेनाके प्रभु दिल्ली-सम्राटको भी यह समझ कर सुख प्राप्त होता था कि मैं तो कोटि कोटि मनुष्योंकी स्वेच्छा-भक्ति तथा हार्दिक प्रेमका पात्र हूं। सचमुच उन्हें विश्वास था कि मैं और साधारण जनसमुदायकी श्रेणीमें नहीं हूं—किसी देवताका अवतार अथवा दैवशक्ति-सम्पन्न मनुष्य हूं।

प्राचीन मिश्र देशके भी इतिहासमें यही बात देखी जाती है। वहांके राजा अपनेको सूर्य देव "रा" के पुत्र मानते थे। यहां तक कि भावी सन्तानमें सूर्य तेजका पूर्णांश सुरक्षित रखनेके लिये ही वे निज सहोदर भगिनीसे विवाह भी करते थे। कौलिन्य-प्रथाका यही धर्म-संगत अन्तिम फल है। जो कुछ हो राज-कन्याके अतिरिक्त अन्य रानियोंके पुत्रोंमें सूर्यांश कम होनेसे उनका सिंहासनाधिकार भी कम माना जाता था। इसी लिए मिश्रकी शिला लिपियों पर पट्ट-महिषीकी गौरवपूर्ण उपाधि "राजाकी भगिनी, राजाकी स्त्री" का उल्लेख मिलता है।

इसी प्रकार रोममें भी हुआ। प्रजातंत्र राज्यके पतनके पश्चात जब "आगष्टस" उपाधिधारी सेनापतियोंके अधीन साम्राज्य स्थापित हुआ तो भूमध्य सागरके पूर्व एशियाके प्रदेशोंमें एक सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जो सम्राटका उपासक था। इन सब लोगोंका नाम 'अगष्टलेस (Augustales) था। ये मन्दिरोंमें राजाकी मूर्तिकी पूजा करते थे। इनके लिये 'नरपति' क्या थे 'नरदेव थे।

इंग्लैण्डमें भी ऐसा युग उपस्थित हुआ था जब राजा लोग, देवता नहीं तो कमसे कम, देवभावापन्न माने जाते थे। उनकी भक्ति की जाती थी, उन्हें ईश्वर के पार्थिव प्रतिनिधि तथा प्रजाशक्तिकी शासन-समालोचनाके परे मानते थे। इस युगको इतिहासमें स्टुअर्ट-युग कहते हैं।

अब अपने देशका हाल सुनिये। जहां तैंतीस करोड़ देव-देवियोंकी पूजा होती

थी, वहां राजाओंका इतना सम्मान कुछ आश्चर्यजनक सा देख पड़ता है। राजाको देवताओंकी श्रेणीमें न रखनेसे केवल राजद्रोह ही नहीं होता था किन्तु साधारण भद्रताका भी अभाव माना जाता था। न जाने क्यों हमारे प्रपितामहगण प्रजातंत्र तेजसे इस प्रकार नितान्त रहित थे! भारतमें पहले केवल ब्राह्मण ही देवता माने जाते थे—'भूदेव' तथा 'भूसुर' उन्हींकी उपाधि थी। देव-देवियोंकी संख्या ज्यों २ बढ़ती गयी, त्यों २ राजाका आदर और भी अधिक होता गया। इसीसे तो कालिदासने श्री रामचन्द्रजीके विषयमें लिखा है—

'अन्यत्ररक्षो भवनोषितायाः परिग्रहान् मानवदेव ! देव्याः ।"

इसी प्रकार उन्होंने महाराज रघुके गर्भमें आनेके विषयमें इन गौरवपूर्ण शब्दों में लिखा है—

"अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्नि निष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपति-कुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी,
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥"—रघुवंश

लेखके आदिमें मनुजीका श्लोक आपने देखा ही है। इन सबसे कितनी राजभक्ति टपकती है! पर हां, उस समयकी परिस्थिति भी कुछ भिन्न थी। कुछ दिन हुए मैं महारानी विक्टोरियाकी जीवनी लिख रहा था। उस समय मुझे एक अंग्रेज मित्रने इंग्लैण्डसे इस प्रकार लिखा था—

"I am very glad to hear you are writing the life of the good Queen in Hindi. You know, the ancient view of kingship (according to Manu) is sadly dying out in these democratic days! Perhaps you will say that the kings themselves have departed from the ideal. I do not think that is true of George V, who is a true 'shepherd of the sheep? But Manu never contemplated the idea of a 'foreign' king!"

अर्थात मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आप उदार महारानीकी जीवनी लिख रहे हैं। आप जानते हैं कि मनुके अनुसार राजत्व-विषयक प्राचीन धारणा आज कलके प्रजातंत्रात्मक दिनोंमें उठी जा रही है। शायद आप यह कहें कि राजागण ही उस आदर्शसे च्युत हो गये हैं। मेरी समझमें तो जार्ज पंचम ऐसे नहीं हैं—वे तो 'भेड़ोंके सच्चे गड़रिये हैं'। हां, यह ठीक है कि मनुको अन्य देशीय राजाका ध्यान स्वप्नमें भी नहीं था।" हां मनुजीको

तो सचमुच इसका ध्यान न रहा होगा। अब इसका विचार लोग करें कि जार्ज पंचम 'भेड़ोंके' "गड़ेरिये" कहां तक कहे जा सकते हैं।

मुसलमानी राज्यमें तो राजाका दैवभाव होना सहज ही था। इसलाम विचारानुसार देश-शासक प्रकृत विश्वासीगणका सेनापति (अमीरुल-मुमनीन) तथा समवेत प्रार्थना (जमाअत-नमाज) का नेता अर्थात इमाम है। राजा ही एक मात्र खलीफा है। अतएव यदि वह राज्य-पदके योग्य है तो वह प्रेरित पुरुष (मुहम्मद) का गुण तथा शक्ति धारी है और इस्लामीय सैन्यका नायक एवं धर्मग्रन्थका सर्वोच्च व्याख्याकारक (मुज्तहिद) भी है। अतः आपत्ति आनेपर अनेक मुसलमान देशोंने कई शताब्दियों तक निरक्षर सेनापतिको सुलतान मान लिया था—इस क्षेत्रमें राजा कार्यतः इमाम अथवा मुज्तहिद नहीं थे।

सूफी नामक इस्लामीय दार्शनिक सम्प्रदायका विश्वास है कि संसारमें समय २ पर अमानुषिक क्षमतासम्पन्न अथवा दैव-भाव-प्रणोदित (इन्सपायर्ड) धर्मनेता आते हैं। उन्हें 'इन्साने-कामिल' अर्थात पूर्ण पुरुष अथवा संस्कृतमें "भगवान"* कहते हैं। मुसलमान दर्शनमें भी हिन्दू दर्शनकी भांति ईश्वरके युग्म स्वरूप—प्रकृत तथा पुरुष—माने जाते हैं। अर्थात स्रष्टा (अल्हक़) एवं स्रष्टजीव (अल् खल्क़) एक दूसरेके पूरक हैं और एक ही वस्तुके दो दृश्य मात्र हैं। एक अरबके वेदान्तीका कहना है—"मनुष्यमें ईश्वर तथा संसारका रूप समवेत है। ईश्वर मानव-रूप दर्पणमें प्रकाशित होते हैं। हम लोग स्वयं वह गुण हैं जिसके द्वारा हम ईश्वरकी वर्णना करते हैं। हमारा अस्तित्व ईश्वरके अस्तित्वका केवल जड़ अथवा प्रकटमान स्वरूप है।" उसी पूर्ण मनुष्य या अवतार द्वारा परमात्मा प्रकट होते और फिर उसमेंसे अपने हीमें मिल जाते हैं। इस प्रकार पूर्ण पुरुष क्रमशः उच्च श्रेणीमें पहुंचता हुआ अन्तमें ज्ञानालोकके बलसे ईश्वरके प्रकाशभण्डारमें लीन हो जाता है—अर्थात देवता हो जाता है। यही पूर्णपुरुष विश्वका केन्द्र (कुतुब) है, उसीसे संसारकी रक्षा होती है और वही सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिमान है। सभी उसकी उपासना करते हैं, क्योंकि वह ईश्वरका प्रतिनिधि है। (कुरान २–२८ में लिखा है कि पृथ्वी पर ईश्वरके प्रतिनिधि अर्थात खलीफा आविर्भूत होंगे)। यह इंसाने-कामिल साथ ही साथ देवता तथा जीव दोनों हैं—या यों कहिये कि वह ईश्वर तथा संसारके बीच सेतु स्वरूप हैं। अल ज़िली नामके मुसलमान दार्शनिकका कथन है कि प्रत्येक युगमें वही आदि इंसाने कामिल अथवा मुहम्मद किसी न किसी जीवित पीरका शरीर धारण करके अवतीर्ण होता है और भक्तोंके निकट अपनेको प्रकाशित करता है। [एनसाइक्लोपीडिया आव इस्लाम, खण्ड २ पृ० ५१०]

---

* ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः, ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इति स्मृतः।

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा ?

हिन्दू समाज तो अवतारोंको पूजाई माननेके लिये प्रस्तुत है ही। हम लोगोंका तो विश्वास ही है कि सहस्रोंबार भूतकालमें अवतार हुए हैं और भविष्यमें भी होंगे। यह स्पष्ट है कि मुगलोंके समयमें भारतवर्षके हिन्दू मुसलमान सभी अवतार की प्रतीक्षामें मग्न रहते थे। राजाओंके पक्षमें यह बात अच्छी थी।

और भी एक बात थी। मुगल साम्राज्य स्थापित होनेके पूर्व ही, जब पठान राज्यका अन्त हुआ, तो मारकाट आरम्भ हुई और धन, धर्म एवं शान्तिका विनाश होने लगा। उस समय एक प्रकारकी राज्यक्रान्ति सी हो गयी और देश भरमें दुःखपूर्ण निराशा का साम्राज्य हो गया। लाखों स्त्री पुरुष असन्तुष्ट हो मारे मारे फिरने लगे और यही प्रार्थना करने लगे कि कब वह शुभ अवसर. आवेगा जब युगावतार होगा और शान्ति स्थापित होगी। ठीक इसी समय बंगालमें चैतन्य देवने अपने भक्तिधर्मका स्रोत बहाकर धर्म-प्रवृत्ति को प्रबल करना चाहा और उधर पंजाबमें नानक देवने अपने सिक्ख धर्मका प्रचार कर भक्तगणको नवजीवन दान दिया। ये दोनों धर्म थोड़े ही कालमें परम विजयी हो गये। किन्तु उसी समय और भी असंख्य नवीन धर्म सम्प्रदाय अनेक प्रदेशोंमें उठ खड़े हुए। देश भरमें चारों ओर लोग युगान्तरकी आशामें मुग्ध होने लगे। सर्वत्र ही लोग एकत्र होकर गुरु एवं पीरोंका अन्वेषण करनेमें तत्पर हुए और स्थान २ पर भण्ड पीर तथा युगावतार (मेहदी) देख पड़ने लगे।

ऐसे सुअवसर पर सम्राट अकबरने अपनेको " इंसाने-कामिल अथवा " साहिबे-ज़मान " (युगावतार) कह कर धाक जमायी। यद्यपि वे लिखना पढ़ना न जानते थे तथापि दरबारके सभी मुसल्लागणने लोभ तथा भय वश होकर एक फतवा सही कर दिया कि बादशाह ही कुरानके सर्व श्रेष्ठ व्याख्याकारक एवं धर्म सम्बन्धीय समस्त शंकाओंके परमयोग्य समाधाता (मुज़तहिद) हैं। इधर हिन्दुओंने भी उनके गुणों पर मुग्ध होकर और उनकी बदौलत अपने धर्मकी रक्षा तथा साधु सन्यासियोंका आदर देखकर उन्हें ' जगद्गुरु " की उपाधि दे दी। बस अब क्या था, मुसलमानोंमें प्रकृत भक्तोंके अतिरिक्त भण्ड अर्थलोभी चाटुकारगण भी उन्हें " साहिबे-ज़मान " अर्थात " वर्तमान युगके प्रभु या गुरु " कहने लगे।

इन भक्तोंमेंसे अधिकांश पारसी थे। यद्यपि पारसीलोग आर्य मुसलमान थे तथापि नर पूजाकी आकांक्षाने उनमें भली भांति घर कर लिया था। पारसी-इस्लामीय युगकी पहली दो शताब्दियोंमें अनेक अवतार आविर्भूत हुए और इधर उधर कई पीर तथा अद्भुत शक्ति सम्पन्न गुरु भी प्रकट हुए। इन लोगोंने नवीन २ सम्प्रदाय स्थापित किये। अध्यापक ब्राउन रचित " पारसी साहित्यिक इतिहास " नामक पुस्तकमें इसका बड़ा विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन है। अकबरके पारसिक शीया कर्मचारी एवं सभासद लोग ऐसे खुशामदी निकले कि वे उन्हें अवतार ही कहते थे। उनको भी यह अच्छा लगा और उन्होंने पहले तो चुपके २ फिर सर्वसाधारणमें मुहम्मदके अनेक गुणों तथा शक्तियोंका

अपनेमें आरोपण करना आरम्भ कर दिया। यही नहीं उन्होंने ईश्वरत्व तथा अवतारत्व का भी दावा करनेकी चेष्टा की। कट्टर मुसलमान गण तो इससे बहुत रुष्ट हुए और बीच २ में सैनिकोंने विशुद्ध इस्लामसे च्युत बादशाहको सिंहासनसे उतार भी देना चाहा। सम्राटके चाटुकार अबुल फजलके लेखसे इसका कुछ पता चलता है। उन्होंने लिखा है (आइन, खण्ड १, पृ० १६३-१६६) :—

"जब सौभाग्यवश किसी देशके लोगोंमें सत्य पूजाका पथ जान लेनेकी शक्ति आजाती है तो वे स्वभावतः राजाकी ही ओर दृष्टि डालते हैं और उसीको धर्मनेता बनाना चाहते हैं क्योंकि उसमें ही दिव्य ज्ञानकी ज्योति रहती है जो मनुष्यको प्राप्त होना दुर्लभ है। हमारे युगके बादशाहका भी यही हाल हुआ है। उनके जन्म होने पर ही ज्योतिषीगण यह जानते थे और तत्पश्चात उन्होंने उसके सफल होनेकी प्रतीक्षा भी की। किन्तु बादशाहने तो पहले कोई बात न खोली, मानों वह यह सब जानते ही न थे। पर "ईश्वरेच्छा बलीयसी"—उन्हें बाध्य होकर हृदयकी बात प्रकाश करनी ही पड़ी। अब तो वे प्रजावर्गके गुरु हैं, उन्होंने सबके लिये सत्यपथ खोल दिया है और सभी सत्य पिपासु पथिकोंकी तृष्णा निवारण करनेका यथेष्ट प्रबन्ध कर दिया है।

"सब जातिके लोग—बालक वृद्ध, परिचित अथवा अपरिचित, निकटके किंवा दूरवर्ती—सभी जानते हैं कि समस्त दुःख-निवारणका उपाय यही है कि बादशाहकी मनौती मानदी जाय। जब उनकी मनोकामना पूर्ण हो जाती है तो वे उनकी पूजा करते और उन्हें माथा नवाते हैं। जब वे राजधानीके बाहर भ्रमणको निकलते हैं तो प्रत्येक ग्राम तथा नगरमें सैकड़ों स्त्री पुरुष आकर उनका दर्शन करते हैं, उनके हाथमें पूजोपहार एवं मुखमें प्रार्थना रहती है, भूमि पर मस्तक रखकर वे उन्हें प्रणाम करते और उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। वे कहते हैं कि उनकी मनौती बड़ी फलवती हुई है और बादशाह की उपासना करनेसे उनके आध्यात्मिक बलकी अद्भुत वृद्धि हुई है। बादशाह भी उन्हें उत्कृष्ट उत्तर देते तथा सबकी धर्मशंकाओंका समाधान करते हैं। प्रति दिन कितने ही आदमी जलभरके उनके पास लाते हैं और वे उसपर फूंक मार देते हैं, बस उसीको पीकर कितने ही ऐसे रोगी स्वस्थ हो गये जिन्हें वैद्योंने असाध्य कहके छोड़ दिया था।

"इसके अतिरिक्त कई सहस्र मनुष्योंने बादशाहके शिष्य हो कर उनके "दीन-इलाही" नामक धर्मको स्वीकार कर लिया है।"

ये धर्म शिष्यगण अकबरको दण्डवत् प्रणाम करते थे जिसको "सिजदा" कहते हैं। इस प्रकारका प्रणाम केवल नमाज़के समय ईश्वरको ही किया जाता है; इसीसे कट्टर मुसलमान लोग इसे बहुत ही बुरा मानने लगे। इसी भयसे अकबरने हुक्म दिया कि शिष्यगण अब मुझे एकान्तमें प्रणाम किया करें। इस प्रकारका 'अचलाचुम्बन' (ज़मीन-बुस) फ़ारस देशमें राजाको एवं हिन्दुओंमें धर्मगुरुको किया जाता था। अबुल्-फ़ज़ल निःसंकोच भावसे लिखते हैं (१६ पृ०)—"बादशाहके सम्मुख साष्टांग प्रणिपात तथा

ईश्वरके प्रति प्रणाम, दोनों एक ही बात है. क्योंकि राजा ईश्वरकी शक्तिका चिन्ह (emblem) है। परन्तु अकबरके पश्चात् विद्रोहभयसे शाहजहांने इस प्रकारके एकान्तप्रणामका भी निषेध करा दिया।

इतना ही नहीं; हिन्दुओंका एक और नर-पुजारी दल था। ये लोग जिस दिन प्रातःकाल आगरा (अथवा दिल्ली) में किलेके बरामदेमें बादशाहका दर्शन कर लेते थे उस दिन वे न भोजन ही कर सकते थे और न कोई अन्य काम काज। इसी प्रकार का सम्मान-निदर्शन अभीतक गया तथा जगन्नाथजीमें भक्तगण वहांके देवताके प्रति करते हैं। राज-दर्शन-प्रिय इस सम्प्रदायका नाम "दर्शनिया" था और इन लोगोंके लिये कितने ही विशेष नियम थे (आईन पृ० १-२०७)। यह बात यहां तक फैली कि दर्बारके क्रीतदासोंको भी अन्तमें बादशाहके शिष्य बनाना पड़ा। अबुल-फजल लिखते हैं कि "धर्मप्राण बादशाहको यह पसन्द नहीं कि किसीको 'बन्दा' या 'दास' कहा जाय क्यों कि उनका विश्वास है कि केवल ईश्वर ही मनुष्यका प्रभु है (अर्थात एक मनुष्य दूसरे का दास कदापि नहीं हो सकता)। इसीलिये उन्होंने इन दासोंका नाम रख दिया है "चेला" अर्थात भक्त शिष्य। (पृ० २५३) यह नाम मुगल समयके अन्त तक व्यवहृत होता था। तत्पश्चात इसका दर्बारी व्यवहार प्रायः लुप्त हो गया।

अकबरके पीछे भी लोगोंका यह विश्वास था कि बादशाह प्रजावर्गको दीक्षा देकर शिष्य करते हैं। वे स्वयं तो इस्लामच्युत थे, पर उनके प्रपौत्र औरंगजेब बड़े निष्ठावान मुसलमान एवं "नमाजी दरवेश" थे। उन्हें लोग "आलमगीर ज़िन्दा पीर" अर्थात "जाग्रत साधु" कहते थे। उनकी कीर्ति भी देशके कोने २ में व्याप्त थी। सं० १६४७ (सन् १६९० ई०) में जब वे कृष्णा नदीके तटपर शिविरमें दर्बार कर रहे थे तो एक आदमीने आकर कहा ' महाराज, मैं मुसलमान हूं और सुदूर बंगदेशसे आपका शिष्य होनेके लिये आया हूं। मेरी मनोकामना पूर्ण कीजिये।" बादशाहने व्यंगहास्य पूर्ण शब्दोंमें मीरतुजुकको एक सौ रुपये देकर कहा "यह इसे देदो, यही इच्छा करके यह मेरे पास आया है।" परन्तु उसने रुपये फेंक दिये और जाकर नदीमें कूद पड़ा। दर्बारके सिपाहियोंने उसे पानी से बचा कर बादशाहको सूचना दी। तुरन्त ही उनकी आज्ञा हुई कि इसे सरहिन्द नगरके एक विख्यात मुल्लाके पास लेजाकर उसका ही शिष्य कर दो। [नासिरे-आलमगीरी पृ० ३३३-३४]।

यही नहीं, फारसी इतिहास तथा चिट्ठी पत्रोंमें भी मुगलबादशाहोंको अनेक गौरवान्वित उपाधियां दी गयी हैं। किसीको धर्मका केन्द्र (कुतुबुद्दीन), किसीको 'किब्ला व काबा' (किब्ला=पवित्र पश्चिम दिशा, काबा=मक्केका पवित्र मंदिर—) कहा गया है किसी को मुर्शिदे-आलम व आलमियां' 'इहलोक तथा परलोकका गुरु) कहा गया है तो औरों को "दीनो दुनिया" अथवा "दोजहां" का पद दिया गया है। हां, एकाधको ईश्वरकी छाया, वर्तमान कालके खलीफा, युगप्रभु आदि ही कहकर छोड़ दिया है।

इसकी संक्रामक हवा दक्षिणमें भी जा पहुंची, वहां बीजापुरके सुलतान लोग मुगल बादशाहोंका अनुकरण करने लगे। सो भी पीठ पीछे नहीं। अकबरके समकालीन बीजापुरके इब्राहीम आदिलशाह द्वितीयने (१५८०-१६२६) भी अकबरकी भांति "जगद्गुरू" की उपाधि धारण की थी और कुछ दिन तक हिन्दू धर्म ग्रहण कर केवल शाकाहारी हो देवताओंकी पूजा भी की। बीजापुरमें अब तक उनके पूजा करनेका स्थान लोग बतलाते हैं, हां मुसलमान लोग यह धर्मान्तर ग्रहण स्वीकार नहीं करते। बल्कि मुसलमान ऐतिहासिकों (बसातीन--सलातिन पृ०२५९-६०, २६४) ने तो यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि उनकी यह सब कथा केवल अपवाद मात्र है। परन्तु उनकी पूजाका स्थान अबतक बहुत निर्जन है, किलेके भीतर मन्दिरके नीचे खाईमें पानी है और ऊपर एक बड़ा पुराना पीपलका पेड़--जिससे बात सच्ची प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त इतिहासमें भी इसका प्रमाण है कि वे "जगद्गुरु" नामसे विख्यात थे और फारसी तथा ब्रजभाषा मिश्रित एक अपनी अलग भाषामें कुछ पद्य रचना भी करते थे। जान पड़ता है वे कृष्णके भी उपासक थे।

यह तो हुआ सम्राटकी प्राचीन महिमाके विषयमें। अब यदि सम्राज्ञीको कोई सम्मानपूर्ण उपाधि न दी जाय तो ठीक नहीं। उस समयके लोगोंने यह भी उठा नहीं रक्खा। जहांगीरकी प्रधान स्त्री (योधपुर-कन्या एवं शाहजहांकी माता) को वे लोग "जगद्गो स्वामिनी" कहा करते थे [तुजुके-जहांगीरी, सैयद अहमद खां सम्पादित मूल फारसी, पृ० ५]

आज कल हमारे देशमें राजाके प्रति 'दास्य भाव' (slave mentality) की बड़ी निन्दा की जा रही है। यद्यपि हमारा प्रयत्न इस आलोचना गर्हित अथवा विवेक रहित सिद्ध करनेका नहीं है, तथापि इस प्रबन्धमें निष्पक्ष भावसे यह दिखानेकी चेष्टा की गयी है कि यह 'दास्य भाव' कितना प्राचीन है और कहांतक आदिसे ही इसके प्रति लोगोंकी श्रद्धा अथवा घृणा रही है। पर हां, यह अलबत्ता है कि निर्धारित भाव सर्व-सम्मत कभी नहीं रहा है और अब तो इसका ह्रास ही हो चला है। यह तो समयका फेर है; क्या किया जावे?

"नीचैर्गच्छ त्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"। *

कालिदास।

श्रीरामाज्ञा द्विवेदी

---

* प्रसिद्ध इतिहासज्ञ, अध्यापक श्री यदुनाथ सरकार एम. ए., आई-ई-एस., पि-आर-एस., के एक लेखके आधार पर लिखित।

संपत्तिशास्त्रका विषय तथा विचारक्रम।

संपत्ति शास्त्रका कोई निश्चित लक्षण नहीं है। भिन्न भिन्न लोगोंने भिन्न भिन्न रूपसे उसकी व्याख्याकी है। इस हालतमें संपत्ति शास्त्रका यदि किसी तरीकेसे कोई स्वरूप प्रगट किया जा सकता है तो वह यही है कि संपत्ति शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय दिखा दिया जाय*। प्रोफेसर मार्शलने ठीक ही कहा है कि संपत्ति शास्त्र सांसारिक मनुष्यके आर्थिक जीवनका अनुशीलन करता है। यह शास्त्र इस बातको दिखानेका यत्न करता है कि मनुष्य अपनी आर्थिक उन्नति तथा सुखकी वृद्धिके लिये कैसे कैसे यत्न करता है और उन यत्नोंका उसके जीवन-निर्माणमें क्या भाग है†।

इस प्रकार संपत्तिशास्त्र एक तरफतो संपत्तिका और दूसरी तरफ मनुष्यका अनुशीलन करता है। संपत्ति तथा मनुष्यमें किसको किस प्रकार और कितना महत्त्व देना चाहिये, इस सम्बन्धमें संपत्ति शास्त्रज्ञोंका मत भेद है। कुछ विद्वान् संपत्तिशास्त्रपर लिखते समय मनुष्यको सर्वथा गौणरूप देते हैं और संपत्तिकी वृद्धि तथा ह्रासके नियमोंका उसी प्रकार पता लगाते हैं जिस प्रकार रासायनिक भिन्न भिन्न पदार्थोंके संश्लेषण तथा विश्लेषणके नियमोंको जाननेका यत्न करते हैं। किन्तु बहुतसे विद्वान् संपत्तिको गौणरूप देकर मनुष्यको ही मुख्य रूप देते हैं। आर्थिक संबंधों तथा आर्थिक घटनाओंके साथ मनुष्यकी उन्नति-अवनतिका क्या संबन्ध है, इसीको मुख्य तौर पर दिखानेका वे लोग यत्न करते हैं। जातीय उन्नति तथा सार्वभौम उन्नति परस्पर विपरीत वस्तुएँ हैं। संरक्षक करसे यदि एक जाति समृद्ध हो सकती है तो यही दूसरी जातिके दारिद्र्यका कारण बन सकता है। कलोंके प्रयोगसे बेकारी उत्पन्न होती है। इस बेकारीको यूरोप चाहे अपने ऊपर ले ले या एशिया पर फेंक दे, किसी न किसीको तो यह बेकारी भुगतनी ही है। यही बात संपत्ति उत्पन्न करने वाले अन्य साधनोंके साथ भी है। पदार्थोंको उत्पन्न करने वाले नवीन साधन तथा उनसे काम लेनेकी नवीन विधि इस हद तक विचित्र है कि वह जहां एक ओर एक जातिको समृद्ध बनाती है वहां दूसरी ओर अन्य जातियोंको हानिकारकभी प्रतीत होती है। सारांश यह है कि हमारा जातीय आर्थिक संगठन सर्वथा दोषपूर्ण है। यह सार्वभौम भ्रातृभाव, सर्वजातीय हित तथा वैयक्तिक सुखके बढ़ानेमें असमर्थ है। उसमें

---

*महाशय निकल्सन लिखित प्रिंसिपल्स आव पोलिटिकल इकानमी प्रथम खंड (१६०२) पृष्ठ ३-४.

†महाशय अल्फ्रेड मार्शल लिखित प्रिंसिपल्स आव् पुलिटिकल इकानमी (१६१६ ई०) पृष्ठ-१

समष्टि-भाव, भ्रातृभाव तथा स्वतंत्रताका सुरक्षित रहना प्राय: असम्भव है। इसी आर्थिक संगठनके परिणामसे इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, अमेरिका, जापान आदि महाशक्तिशाली समृद्ध राष्ट्रोंका उदय, भारत मिश्र तथा चीनका अधःपतन और आस्ट्रेलिया अफ्रिका, न्यूजीलैण्ड तथा अमेरिकाकी आदिम जातियोंका सर्व नाश हुआ। इसीने एक ओर बड़े २ ट्रस्टों, पूलों, कर्टेलों तथा रिंगोंको उत्पन्न किया और दूसरी ओर भारतकी प्राचीन कारीगरी को तबाह किया। अधिक क्या, बड़े २ लोहे तथा रूईके व्यापारियों और दर दर भीख मांगने वालोंमें, इसीने सारे समाज तथा सारे संसारको बांट दिया है।

संपत्ति शास्त्रके साथ इस दोषपूर्ण आर्थिक संगठनका घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्यको मुख्य रूप देकर संपत्ति शास्त्रका प्रारम्भ करने वाले विद्वानोंके सामने यह एक विकट समस्या है कि अब आर्थिक संगठनका सुधार किस प्रकार किया जाय? जिस प्रकार स्थान तथा समय सम्बन्धी प्राकृतिक बाधाएँ रेल तथा तारसे दूरकी गयीं, क्या उसी प्रकार किसी एक कृत्रिम सामाजिक संगठनसे धन सम्बन्धी असमानताको भी दूर करनेका यत्न किया जाय? अथवा शिक्षा तथा धर्म द्वारा सामाजिक मनुष्योंका आचार, इस प्रकार सुधारा जाय कि श्रमियों तथा दरिद्रियोंको उनसे सर्वदा सहायता मिलती रहे और वे लोग अपनी दरिद्रताके कष्टको भूल जावें? जातीय असमानता कैसे दूरकी जाय? यदि वर्त्तमान आर्थिक संगठनसे सब जातियोंमें आर्थिक समता उत्पन्न ही हो सकती तो वह कौनसा संगठन हो सकता है जो इस कमीको दूर कर सके? यदि इस कमीको दूर करने वाले किसी आर्थिक संगठनका ढंग विदित हो जाय तो भी संसारकी सब जातियां उसको माननेके लिये कैसे तैयार हो सकती हैं? वह ऐसी कौनसी शक्ति है जो सब जातियोंको ऐसा आर्थिक संगठन माननेके लिए बाधित कर सकती है? यदि जातियां समष्टि भावके सिद्धान्त पर चलनेके लिये तैयार न हों और अपने स्वार्थके लिए दूसरी जातियोंकी स्वतंत्रता, समृद्धि तथा सत्ताको नष्ट करना ही उचित समझती हों, तो ऐसी अवस्थामें क्या किया जाय? *।

उपर्युक्त समस्याओंने संसारके सभी विचारकोंको घबराहटमें डाल दिया है। क्या किया जाय, यह किसीकी समझमें ही नहीं आता। यदि समष्टि भावका होना आवश्यक है तो वह समाजमें कैसे प्रचलित किया जाय। क्या अराजकवादियोंके सिद्धान्तोंके अनुसार धनी लोग बम्बसे उड़ा दिये जायँ अथवा मैशीनगन लगाकर धनिकोंसे धन छीना जाय और दरिद्रोंमें बांट दिया जाय? जो जातियां दूसरी जातियोंको धन तथा स्वतन्त्रता से वञ्चित कर रही हैं और इस लूटमारको सभ्यताके नामसे पुकारती हैं उनका क्या किया जाय?

जिन जातियोंने आकाशसेना तथा जल और थलकी सेनाओंसे अन्य जातियोंको

---

* महाशय फ्रेड्रिक लिस्ट लिखित दी नेशनल सिस्टम आफ् पुलिटिकल इकानमी (१९०९ ई०) पृष्ठ ९७—१०७।

घेर रखा है, मेशीनगनोंके जोरपर पराजित जातियोंका गला घोंट दिया है उनके चंगुलसे ये नि:शक्त जातियां किस प्रकार छुडायी जायँ ? यदि संसारकी सभ्य जातियां विजित पराधीन जातियोंको स्वतन्त्र बनाना अपना मुख्य कर्तव्य न समझकरके उन्हें कुत्तेकी हड्डीका रूप देदें और उनको चबानेके लिए घनघोर महा भयङ्कर पशाचिक युद्ध करें तो इसकी क्या तदबीर है ? वास्तविक बात तो यह है कि हम लोग नि:शक्त तथा अज्ञ हैं। हम जो कुछ समझते हैं उससे कहीं उलटा हो रहा है। आजसे बहुत समय पूर्व नवीन नवीन आविष्कारोंसे हमारी आशायें बहुत बढ़ गयीं। रेल, कल, विमान, विजली, भाप, जल प्रपातकी शक्ति तथा बेतारकी तारबर्की, प्रेस तथा अन्य यन्त्रादि देखकर हम अधिकाधिक प्रसन्न होने लगे और यह समझ बैठे कि अब हमने प्रकृतिपर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया एवं उसकी उलझन भी सुलझा ली। इस महा मोहपंकमें हम यहां तक धस गये कि हमने प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेको ही सभ्यता कहना शुरू किया* हम अपने आपको सभ्य कहने लगे। प्रश्न तो यह है कि क्या हमने प्रकृत्तिपर सचमुच विजय प्राप्त कर ली और उसकी उलझनको सुलझा दिया ? कहीं ऐसा तो नहीं हो गया कि हम प्रकृतिके उलझनमें और उलझ गये ? यदि हमने सौ दिनमें हज़ार आदमियोंसे होनेवाले कामको दस आदमियोंके द्वारा एकही दिनमें करा लिया तो उससे जो बेकारी उत्पन्न हो गयी उसका क्या उपाय किया ? यदि एक कष्टको दूर करना ही प्रकृतिपर विजय प्राप्त करना है तो उस एक कष्टके दूर करनेके कारण जो सौ गुना और कष्ट बढ़ गया उसे क्या समझना चाहिये ? हम लोहे तथा रूईके व्यापारियों और उनके विशाल भवनोंको देखकर संसारकी प्रकृतिपर विजय मानें या ट्रस्टों, कर्टेलों तथा रिंगोंमें काम करने वाले मजदूरों और थके मांदे दु:खितोंके दु:खका ध्यान करके संसारको ही प्रकृति द्वारा विजित समझें ?

कोयलेकी खानोंमें हजारोंकी संख्यामें काम करनेवाले रोगी लोगोंके दु:खोको हम देखें अथवा इने गिने ट्रस्टपतियोंके विशाल भवनों तथा विलास साधनोंको देखें ?† प्रश्न तो यह है कि रेल, तार, विमानों, तथा वाष्पीय पोतोंसे संसारके लोग अधिक संख्यामें स्वाधीन हुए अथवा पराधीन ? संसारमें स्वार्थ जन्य पैशाचिक भयंकर युद्ध कम हुए अथवा बढ़े, उनकी भयंकरता पूर्वापेक्षा और भी अधिक बढ़ी या घटी ? कहीं इन प्राकृतिक विजयों तथा आविष्कारोंसे ये पैशाचिक युद्ध जाति-व्यापी होनेके बदले अब संसार-व्यापी तो नहीं हो गये ?

अनेक विद्वानोंने उपरि लिखित प्रश्नोंका उत्तर ढूंढ़ निकालनेकी चेष्टा की है। उन्हें मालूम हुआ है कि उक्त बातोंके कारण उलझनें और भी अधिक बढ़ गयीं हैं। जितने प्रश्न थे उनसे कहीं अधिक दल बन गये। झगड़ा मिटनेके स्थानपर और भी अधिक बढ़ गया।

---

* महाशय बक्ल हिस्ट्री आव सिविलिजेशन इन् इंग्लैण्ड या लेखकका "सभ्यताका इतिहास" द्वितीय परिच्छेद तथा परिशिष्ट।

† देखो प्रिंस क्रोपाटकिनका "कांक्वेस्ट आव दी ब्रेड"।

पैशाचिक युद्धों तथा आक्रान्तियोंकी संभावना दिनपर दिन अधिक होती जाती है। संसारका क्या भविष्य है, कुछ भी नहीं जान पड़ता। किधर जायँ? कुछ नहीं सूझता।

क्या अराजकवादियोंका कहना मानकर राज्य, समाज तथा सामाजिक संघटनका लोप करके व्यष्टिवादका अवलम्बन करें और इस कार्यमें खूनकी नदियोंका बहाना भी पुन्य समझ लें? अथवा सामूहिकवादियों (collectivists) के सदृश संसारको समष्टि भावके उन्मुख मान ट्रस्टों तथा कर्टेलोंको बढ़ने दें और भावी आक्रान्तिकी प्रतीक्षामें बैठ रहें? क्या वैस्टिपटूके उत्कृष्टवादी संप्रदायके अनुसार जो कुछ हो रहा है अच्छा ही हो रहा है" यह समझकर गरीब दुःखियोंके दुःखोंको दूर करनेका यत्न न करें और उदासीनता देवीके परम उपासक बन जायँ? क्या धर्म, भ्रातृभाव, सदाचार, सद्व्यवहार तथा पुण्योंको तिलांजलि देकर संसारको स्वार्थमय समझकर जातीय हितकी कामना करें और संरक्षण-नीति, सामुद्रिक कर, बाउन्टीज, नाविक नियम, बायकाट (बहिष्कार) आदि साधनोंसे स्वदेशीय व्यवसाय-व्यापार तथा कृषिको बढ़ावें और राजनीतिक बलसे अपने देशके अधिक मालको दूसरे देशोंके सिर मढ़ना शुरू करें? यदि हम परतन्त्र हैं तो क्या हम अमेरिकाके सदृश स्वतन्त्रताके लिए युद्ध करें या रूसके सदृश साम्यवादी बन जायँ? अथवा अमेरिकन दासों के सदृश पूर्ण स्वातन्त्र्यके स्वयं ही मिल जानेकी आशामें चातकोंके सदृश मुंह खोले हुए भिक्षाकी प्रतीक्षा करते रहें?

इन्हीं प्रश्नोंने मनुष्य समाजको भिन्न २ संप्रदायोंमें विभक्त कर दिया है। इस दशामें संपत्ति शास्त्र इन झगड़ोंसे कब बच सकता था? भिन्न २ विचारक अपने २ ढँगों पर ही संपत्तिशास्त्रका प्रारम्भ करते हैं। अराजकवादियों की "परस्पर सहायता" (mutual aid), सामूहिक वादियोंकी पूंजी (capital)* जातीयता वादियोंका जातीय संपत्ति शास्त्र (National System of Political Economy) इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अधिक क्या, भिन्न २ जातीय अवस्थाओं तथा जातीय विचारोंने संपत्ति शास्त्रमें, आंग्ल सम्प्रदाय, आस्ट्रियन सम्प्रदाय, अमेरिकन सम्प्रदाय, जर्मन सम्प्रदाय, आदिको जन्म दिया है। यही कारण है कि संपत्ति शास्त्रका लक्षण, स्वरूप, तथा विषय प्रकट करना सुगम काम नहीं है। ‡

प्राणनाथ विद्यालंकार।

---

* कार्ल मार्कसकी पुस्तक "कैपिटल"

‡ (Luize cosst) लाइजी कास लिखित इन्ट्रोडक्सन टू दी स्टडी आव पुलिटिकल इकानमी और इन्ग्रेम लिखित हिस्ट्री आव पुलिटिकल इकानमी।

मरहठोंकी सैनिकव्यवस्था।

भारतके अर्वाचीन इतिहासमें महाराष्ट्रका इतिहास-भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण होने पर भी ऐसा नहीं लिखा गया है जिससे महाराष्ट्रोंके राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी विकासोंका पता लगे, इसके खिलाफ वे इतिहासमें 'चोर' 'लुटेरे' और 'डांकू' आदि कुत्सित नामोंसे ही याद किये गये हैं, जिससे राष्ट्रीय नैतिक अधः पतन (moral degradation) के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं होता। यह खेदकी बात है। इसका कारण अधिकतर यही है कि प्रायः कलाशूर अंग्रेज जातिने ही तत्कालीन इतिहास लिखे हैं और महाराष्ट्रोंसे उनका बहुत समयतक घोर वैर-भाव रहा था और शत्रु शायद ही कभी शत्रुकी प्रशंसा करते हैं। कर्नल जेम्स टाड साहबके 'राजस्थान' को पढ़ कर जो अंग्रेज ऐतिहासिकोंकी निष्पक्षताकी डुगडुगी पीटते हैं वे जरा उस समयकी स्थितिपर ध्यान दें जब वह इतिहास कर्नल साहबने लिखा था। गिरे हुए राजपूती साहसको पुनरुज्जीवित करनेके लिये एवं मरहठोंको हेय बनानेके लिये ही यह संजीवनी टाड साहबने बड़े परिश्रम और उदार हृदयसे तैयार की थी जिसका प्रथम गुणतो 'रेजीडेन्सी' खरासने उतार दिया और दूसरी गन्ध सम्पूर्ण दक्षिण दिगन्तमें फैल गयी—आज एक भी राजपूत भूपति किसी महाराष्ट्र सरदार या नृपतिके अधीन नहीं है, परन्तु वे अपना गौरव अब भी वैसेही भूले हैं। अस्तु।

अंग्रेज लिखें या न लिखें, यदि उन्होंने न भी लिखा तो हमें कुछ और अधिक हानि न हो गयी, किन्तु यदि वे लिखते तो अवश्य और भी अधिक हानि होनेकी सम्भावना थी। उन्होंने जो कुछ चित्रित किया है वह अपूर्ण है, इसीसे अभी तक भारतके राष्ट्रीय ऐतिहासिक चित्रकार इस भागकी पूर्ति करनेके लिये दृश्योंकी खोज कर रहे हैं, और यदि यह भाग भी उन पुराने उदार (?) इतिहासकारोंने पूर्ण कर दिया होता तो शायद हम उसी चित्रसे संतुष्ट हो जाते जिसका फल हमें अपने पदसे और भी गिरानेवाला ही होता। इससे कहना पड़ता है कि कभी २ शत्रुके दाव भी अनुकूल पड़ जाते हैं। आज इस लेख द्वारा हम मरहठोंकी सैनिक व्यवस्थाका वर्णन उनके ही बखर आदि ग्रन्थोंके आधार पर 'स्वार्थ' के पाठकोंकी भेंट करते हैं। इस लेखकी सामग्रीका आधार वह इतिहास सम्बन्धी खोजका फल है जो महाराष्ट्रमें बड़ी तत्परतासे वर्षोंसे हो रही है। अतः इस लेखसे मरहठोंके सम्बन्धमें कितनी ही भ्रम पूर्ण बातें दूर हो जावेंगी।

सेना-विभाग

सेना राष्ट्रके कुशल और क्षेमके लिये कितना आवश्यक अंग है यह विश्व

पाठकोंको अविदित नहीं है। सेना राष्ट्रका बल है, वह शरीरका रक्त है और प्राण क्रिया उसीसे चलती है। मरहठोंकी स्थिर सेना (स्टैंडिंग आर्मी) अधिक नहीं थी किन्तु अस्थिर या तैनाती (इर्रेगुलर) ही अधिक थी। 'छत्रपति' का पद सितारेके शासकको ही प्राप्त था अतः वह मरहठोंका सम्राट कहा जा सकता है और मरहठोंके अधः पतन होनेसे पूर्व उनकी बागडोर सब प्रकारसे सतारा-पतिके हाथमें ही थी। मरहठोंकी नादतन्त्री वहींसे हिलती थी। परन्तु उन महराजकी भी स्थिर सेना हजार दो हजारसे भी अधिक नहीं थी। सेनाका प्रबन्ध देशवालोंके हाथमें था और सितारापतिको आवश्यकता होने पर ये ही लोग सेना उपस्थित कर देते थे, परन्तु पेशवाओंकी सेना भी अधिकसे अधिक १० हजार थी। पेशवाई फौजके दो विभाग थे–हुजरात या खास पाउस। इस सेनाका प्रबन्ध पेशवाओं द्वारा नियत किये सरदार ही करते थे। पेशवाओंके सरदारोंकी विवरणात्मक सूची यहां "काव्येतिहास संग्रह"से उद्धृत की जाती है।

अनुक्रम	सरदार	फौज	जागीर
१	मल्हारराव होलकर	२२ हजार सवार	६५ लाख
२	आनन्दराव पंवार	१५ ,, ,,	४५ ,,
३	पटवर्धन चिन्तामणि पाण्डुरंग, गंगाधर गोविंदा	३ ,, ,,	११ ,,
४	पटवर्धन परशुराम रामचन्द्र	१॥ ,, ,,	६॥ ,,
५	पटवर्धन कुरुदवाडकर	३ सौ सवार	२॥ ,,
६	प्रतिनिधि	५ सौ	१४ ,,
७	रास्ते	३ ,,	११ ,,
८	मुधोलकर घोरपड़े	८ ,,	४ ,,
९	पानसे	तोप खाना	३॥ ,,
१०	थोरात	५ सौ सवार	१। ,,
११	भायकर	१॥ ,,	६ हजार
१२	हरिपंत फड़के	०	१ ला. ८० हजार
१३	नानाफड़नवीस	७ सौ	४॥ लाख
१४	त्र्यंबकराव पेठे	१२ ,,	७॥ ,,
१५	मकल कोटके भौंसले	१ हजार	४॥ ,,
१६	सुलतान राव	५ सौ	१॥ ,,
१७	पुरन्दरे	१ ,,	२ ला. ३२ हजार
१८	शेखमीर	१॥ ,,	६० हजार
१९	आंबेकर	०	८० हजार
२०	सुलतानजी भौंसले खान्देश	२ सौ	७५ ,,

मरहठोंकी सैनिकव्यवस्था।

अनुक्रम	सरदार	फौज	जागीर
२१	नावगावकर	५ सौ	१॥ लाख
२२	राजे बहादुर	३ हजार	६ लाख
२३	विठ्ठलराव सुन्दर	,,	१२ ,,
२४	अली बहादुर	१० ,,	२२ ,,
२५	खण्डेराव वोड़ेकर	८००	२ ,, ४० हजार
२६	दाभाड़े	५००	१ ला. ३५ हजार
२७	राघोजी भौंसले नागपुर	२५ हजार	१ कोटि
२८	गायकवाड़	५ हजार	७ लाख २० हजार
२९	इस्लाम पुरकर मंत्री	३००	७५ हजार
३०	आंग्रे कुलावा		३ लाख
३१	सुमन्त	०	२५ हजार
३२	चिट नवीस	०	७५ हजार
३३	जमाल	०	१५ हजार
३४	सचिव	०	२ लाख ३२ हजार
३५	राजाज्ञा	०	३० हजार
३६	कोल्हापुरकर	३ हजार	९ लाख २५ हजार
	राजमण्डल—		
३७	नायक वाराम तीकर	२ सौ	१६५०००
३८	भौंसले शंभु महादेव	०	४५०००
३९	निवालकर (४ स्थानोंके)	०	२५७०००
	सरदेस मुखी चौथके बदले मुकर घास दाना आदि—		
४१	सरञ्जामके बदले		२० लाख
४२	इतर सरञ्जाम		२ लाख
४३	दौलतराव सिंधिया अलीजा बहादुर	२२ हजार	६० लाख
४४	घोरपड़े मंडली (गुत्तीकर)	०	१४ लाख ६३ हजार

सरञ्जामके अतिरिक्त सेंधिया, होलकर और पँवारने मुगलोंके सूबे दिल्ली अकबराबाद वगैरः जीते थे अब उनके करमें से तीनोको क्रमसे २२, २३ और १० प्रति सैकड़ा मिलता था और शेष ४५ प्रति सैकड़ा पेशवाओंके पास रहता था। इस प्रकार—

सेंधियाको	२ करोड़	५० लाख रु०
होलकर ,,	२ करोड़	६१ लाख ३६ हजार रु०
पंवार ,,	१ करोड़	१३ लाख ६३ हजार रु०

और मिलता था।

युद्धपद्धति

लड़ाईके समय सेनाके साथ स्वयं छत्रपति शिवाजी और उनके उत्तराधिकारी संभाजी भी जबतक युद्धस्थलमें जाते रहे तबतक वे ही सेनापति कहलाते थे और उनके ही हाथमें सेनाकी बागडोर रहती थी। संभाजीके पीछे केवल पेशवे ही युद्धस्थलमें जाते रहे, परन्तु बादको पेशवोंने भी जाना छोड़ दिया था। माधवराव पेशवा अन्तिम पेशवा था जिसने पेशवाकी हैसियतसे खर्डीके युद्धमें अन्तिम वार स्वयं भाग लिया। इसके पीछे, बाजीराव दूसरेने भी एक युद्धमें भाग लिया, परन्तु यही अन्तिम युद्ध था जिसे बाजीरावने जीवन भरमें अपनी आखोंसे देखा था और उसमें भी वह पराजित होकर भाग आया था। पश्चात् नानाफड़नवीस आदि मरहठा अफसर समय समय पर सेनापतिका कार्य चलाते थे।

मराठी सेनामें पैदलोंकी अपेक्षा 'घुडसवार' अधिक थे। इसका कारण उनकी युद्ध-पद्धति थी। शिविर डालकर या खंदक खोदकर अथवा और किसी प्रकारसे भी ऐसा युद्ध करना जिसमें अधिक समय लगे उनकी पद्धतिके प्रतिकूल था, इसके अतिरिक्त उनका देश भी पहाड़ी और ऊँचे नीचे टीलोंसे भरा हुआ था। ज्यों ही शत्रु उनकी दृष्टिमें पड़ता कि वे तुरन्त उस थके मांदे शत्रुपर हमला बोल देते और भूखे प्यासे एवं मार्गसे थके शत्रुको नष्ट-भ्रष्ट करके कुछको मार जाते, कुछको जख्मी कर जाते एवं कुछसे खाद्य और युद्धोपयोगी सामग्री छीन ले जाते। परन्तु जहां देखते कि इस प्रकारकी मारकाटसे काम न चलेगा वहां शत्रुसे दूर रह कर ही उसके चारों ओर घेरा डाल देते तथा उसकी नई रसद बन्द कर देते एवं पहिलीको छीन लेनेका उपक्रम करते। यदि शत्रु प्रबल होता और कभी अपने ही ऊपर आ बनती तो वे अपने पहाड़ी दुर्गम किलोंमें आश्रय लेते या उन गढ़ोंमें घुस जाते जिन्हें मुगल सम्राट क्रोध और घृणासे 'चूहोंके बिल' कहते थे। ऐसी युद्ध-व्यवस्थाके लिये पैदलोंकी अपेक्षा घुड़सवार ही अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं, इस लिये मरहठे अधिकतर घुडसवार ही सेना रखते थे। इस प्रकारके युद्धमें तोपखानेकी आवश्यकता अधिक नहीं पड़ती थी, परन्तु जब उन्हें यूरोपियन लोगोंसे, और विशेषकर अंग्रेजोंसे काम पड़ा तो उन्हें अपनी पद्धतिमें परिवर्तन करना पड़ा। अंग्रेज लोगोंके लिये उन्हें तोपखाना तैयार करना पड़ा और उक्त प्रकारके युद्धको छोड़कर यूरोपीय ढंग उन्हें भी सीखना पड़ा, अतः पैदल सिपाही भी उन्हें रखने पड़े।

घुड़सवार सेना दो प्रकारकी थी खासपागा या वह सेना जिसका स्वामित्व स्वयं महाराज अथवा पेशवाके हाथमें होता था; और शिलेदार या ऐसे घुड़सवार जो अपने घोड़ेके व्यय आदिका प्रबन्ध स्वयं अपने पाससे करते थे। खासपागा वालोंको सरकारसे घोड़ा और लड़ाईके लिये अस्त्र-शस्त्र आदि मिलते थे और कुछ वेतन भी मिलता था। शिलेदार ऐसे वीर होते थे जिनका पेशा ही सिपाहीका होता था और जो आवश्यकता पड़ने पर निर्दिष्ट संख्यामें सरकारको घुड़सवार देनेकी प्रतिज्ञा करके सरकारसे वेतन या

'तनखाह' ठहरा लेते थे। खासपागा सैनिकोंको केवल भोजन मिलता था अर्थात् ८) से १०) मासिक तक परन्तु शिलेदारोंको घोड़ेका खर्च भी मिलता था और उनका वेतनादि सब खर्च मिल कर कमसे कम ३५) मासिक होता था। इसके अतिरिक्त चढ़ाईके समय अथवा जब कभी रँगरूट भरती करनेकी आवश्यकता होती थी तो प्रत्येक युवकको उसके कुल, मान आदि प्रतिष्ठाके अनुसार ४५) तक वेतन दिया जाता था। रंगरूटोंको अपना ही घोड़ा भी लाना पड़ता था। इनका वेतन कुछ भी नियत नहीं था किन्तु छीना-झपटी और लूटमारसे ही वे अपना प्राप्तव्य प्राप्त कर लेते थे। वास्तवमें उनका काम ही यह था। उन्हें सैनिक सेवाका अभिमान भी नहीं था और न वे सैनिक बनकर लड़ना ही चाहते थे। युद्ध समाप्त होने पर वे संभवतः इस शर्त पर लूटकी आज्ञा मरहठोंसे प्राप्त कर लेते थे कि लूटका अमुक भाग हम सरकारको भी देंगे। इसी लिये न तो इन्हें शत्रु ही अच्छा समझते थे और न मित्र ही। कभी २ ये मराठी सेनाको भी असावधान देखकर लूट लेते थे। इसी लिये होलकर आदि दो एक सरदारोंको छोड़ कर मराठा सरदार पिंडारियोंको प्रायः अपनी सेनामें नहीं रखते थे।

खड़ी पैदल सेना या 'पागा' बारह महीनों रहती थी, और उसे वेतन मिलता था, परन्तु शिलेदार आदि दूसरे प्रकारकी सेना आवश्यकता पड़नेपर ही इकट्ठी की जाती थी अतः उसकी नौकरीका कोई समय नियत नहीं था। जब प्रधान सेना कहीं चढ़ाई करती थी तो आवश्यकता और देशकाल आदिके विचारसे जहां जैसा संभव होता वहां शिलेदार आदिकी सेना बुला ली जाती थी अतः उसके लौटाने (Demobilisation) की कोई विशेष व्यवस्था नहीं होती थी। प्रायः ऐसा होता था कि जब किसी दूर देशसे चढ़ाई करके लौटते थे तो जहां जिसका गांव या स्थान अथवा जानेका मार्ग आ गया वहां वही सरदार अपनी सेना समेत अपना मार्ग लेता था। स्थित सेनाकी हाजिरी होती थी, परन्तु शिलेदारोंकी हाज़िरीका नियम यह था कि सरदार अपने नियत (quota) संख्याके घोड़े और मनुष्योंको दिखा देता था। शिलेदारोंका काम युद्धमें सरकारकी सेवा करना था, युद्धके उपरान्त अथवा पहिले वे स्वतन्त्र होते थे और इच्छानुसार खेती बाड़ी आदिका कार्य करते थे। ये शिलेदार उस युद्ध-सेवाके द्वारा ही सैनिक क्रमके अनुसार पदोन्नति भी प्राप्त करते थे। भाला, तलवार, और बन्दूक आदि चलानेकी शिक्षा देनेकी कोई पाठशाला आदि उस समय भी नहीं थी अतः इस प्रकारकी युद्ध-शिक्षा उन्हें घर पर ही पालन-पोषणके साथ जन्मसे मिलती थी। इस समय सब कुछ प्रतिष्ठा और उन्नत होनेका मार्ग घोड़ेकी पीठपर बैठकर ही प्राप्त हो सकता था, अतः घोड़ेका उस समय कितना अधिक महत्व रहा होगा। जिसके घर घोड़ा नहीं होता था और जो शस्त्रास्त्रकी शिक्षासे अनभिज्ञ होता था, जिसे घोड़े की सवारी नहीं आती थी वह उस समय मनुष्यभी नहीं समझा जाता होगा! और यह ठीक भी है। भीमा, गोदावरी तुंगभद्रा, नर्मदा आदिके कठिन, और दुर्गम करारोंकी यात्रा करना क्या सरल बात थी? पर दुर्भाग्यसे महाराष्ट्र कभी भी अच्छे घोड़ोंका क्षेत्र

नहीं रहा है अतः महाराष्ट्रवालोंको सदा ही घोड़ोंके लिये विदेशोंका मुंह देखना पड़ा है—अफगानिस्तान, अरब, तिब्बत, काठियावाड आदि स्थानोंके सौदागर ही यहां बड़े बड़े नगरोंमें घोड़ोंका व्यापार करते थे अतः उन्हींसे यहांके श्रीमान् लोग घोड़े खरीद लेते थे, इसलिये श्रीमानोंके लिये ही उस समय उन्नत होनेका अधिक अवसर था।

परन्तु पैदल सेनामें सम्मिलित होनेका अवसर सबको था। मुसल्मान भी इस विभागमें यथेष्ट नौकरी करते थे और उन्हें बड़े बड़े पद मिलते थे। प्रायः सम्पूर्ण तोपखाना एक बार उन्हींके अधीन था। मुसलमानोंके अतिरिक्त अरब, हिन्दुस्तानी, पुरविये, आदि सबही प्रकारके मनुष्य इस सेनामें यथेष्ट संख्यामें होते थे।

कवायदीसेना और तोपखाना।

कवायदी तथा पैदल सेना और तोपखानेका अधिक विस्तृत प्रयोग प्रथमबार भाऊसाहब पेशवाकी अधीनतामें ही पानीपतमें हुआ था। पानीपतके युद्धमें मरहठोंकी पराजयका कारण यह बताया जाता है कि मरहठोंने शत्रुके हिरावलके सामने ही पड़ाव डाला और सदाशिवराव भाऊने उन्हें मैदानमें खड़ा करके लड़ाया। यह लड़नेकी पद्धति मरहठाशाही नहीं थी। परन्तु वहां ही इस प्रकारके युद्धमें इब्राहिमखांकी सेनाने असाधारण योग्यता भी दिखायी थी और इसके पीछेके युद्धोंमें महादजी सेंधियाने भी इस कवायदी ढंगकी सेनाका सफलता पूर्वक उपयोग किया था। इस कवायदी सेनामें महादजी सेंधियाने और भी सुधार किये थे जिनके कारण इस सेनाकी दृढ़ताकी धांक बैठ गयी थी। महादजीने यह विद्या अंग्रेज़ोंसे उड़ायी थी क्योंकि उसने अंग्रेज़ी सेनाओंकी सफलता आंखोंसे देखी थी। सौभाग्यसे फ्रांसीसी सैनिक डिवाइनकी सहायता भी महादजीको मिल गयी थी और मराठा वीरने फ्रांसीसी-अंग्रेज़-वैमनस्यका यथेष्ट नैतिक लाभ उठाया—१०, १५ वर्षमें ही उक्त अफसरकी सहायतासे आगरेमें कारखाना खोलकर महादजीने अपनी कवायद सीखी हुई सेनाके लिये शस्त्रास्त्र भी बना दिये। बड़गांव और खर्डाके युद्धोंमें इन्हीं सेनाओं और शस्त्रास्त्रोंसे अधिक काम लिया गया था। होलकरने भी सेंधियाका अनुकरण किया यशवंतराव होलकरने भी शस्त्रास्त्र बनानेका एक ऐसा ही कारखाना स्थापित कर दिया था और फौजें कवायददां बना दी थीं। निज़ाम और टीपूने भी इसी प्रकारके सुधार फ्रांसीसी सरदारोंकी सहायतासे किये थे। डिवाइनकी सहायतासे सेंधियाने २० हजार पैदल, १० हजार बंदूकची और ३ हजार तोपखाना तैयार कर लिये थे। पेशवाओंके शिलेदारोंकी व्यवस्था देखकर मरहठोंमें महादजीने अपने अधीनस्थ सिपाहियोंको नियमित वेतन देनेकी व्यवस्था की। महादजीका प्राधान्य इसी हेतुसे हो गया था। परन्तु सेंधियाका सैनिक व्यय बजटसे अधिक होगया था। केवल दक्षिणमें ही सेंधियाकी इतनी अधिक सेना थी कि एक समय उसका व्यय २५ लाख रुपया मासिक (३ करोड़ रुपया वार्षिक) होता था। इस पैदल सेनामें मराठे कम थे क्योंकि शायद वे सैनिक प्रबन्ध नहीं चाहते थे।

मरहठोंकी सैनिकव्यवस्था ।

पैदल सेना ।

जब घुड़सवारोंकी उपयोगिता कम हो गयी और उनका व्यय अधिक होने लगा, तो पैदल सैनिकोंका अधिक उपयोग होने लगा। पैदलोंके लिये जितनी बन्दूकोंकी आवश्यकता होती थी उतनी मरहठोंके कारखानोंमें तैयार नहीं होती थीं, अतः पहिले पहिल अंग्रेज़ोंसे ही उन्होंने बन्दूकें खरीदीं। पर इस समय तक उन्होंने अंग्रेज़ोंसे कोई युद्ध नहीं किया था और अंग्रेज भी व्यापारिक दृष्टिसे ही उन्हें बन्दूकें बेचते थे। जब मरहठोंसे उनकी लड़ाई छिड़ गयी तो अंग्रेजोंने बन्दूक बेचना बन्द कर दिया या अपनी फौजकी इस्तेमाल की हुई बन्दूकें इन्हें बेचने लगे जिनकी नाल वे लोग तोड़कर विलायतको नई बन्दूक बननेके लिये भेज देते थे क्योंकि इस समय भी अंग्रेजोंका हथियार बनानेका भारतमें कोई कारखाना नहीं था। इस विषयमें सच्ची बात तो यह है कि बन्दूकोंके लिये मराठोंको सदा ही परावलम्बी रहना पड़ा और भारतके राष्ट्रके लिये यह बात आज भी सच है। यही बात तोप और गोला-बारूदके विषयमें कही जा सकती है। देशी कारखानोंमें न तो इतने अधिक प्रमाणमें सामानही तैयार होता था और न ऐसी उत्तम तथा सुन्दर मशीन ढीली ढाली चक्र टेढ़े और तोप गोलोंके नापकी ही बनायी जाती थीं, किन्तु तोपोंके मुंहके नापके मुआफिक गोले तैयार किये जाते थे, तिसपर गोले ढाले नही जाते थे किन्तु कूड़के तैयार किये जाते थे। हथौड़ेसे कितनाही कूटने पीटनेपर भी वे सुडौल नहीं बनते थे इस लिये तोपोंके मुंह भी जल्द खराब हो जाते थे। अतः तोपखाना साथ रहनेपर भी अधिक विश्वासकी वस्तु नहीं समझी जाती थी। बाणोंका उपयोग भी मराठे इस समयतक करते थे। सेंधियाकी फौजमें संगीनोंका उपयोग भी होने लगा था, परन्तु मराठोंके मुख्य शस्त्र भाला और तलवार ही थे।

रसद और पड़ाव ।

मराठोंकी सेनाके शिविरके साथ साथ बाजार भी होता था। बाजारसे आगेके मुकाम तकके लिये सैनिक लोग खाद्य सामग्री ले लेते थे। शिविरके साथ साथ खास सवारी (महाराज या पेशवाकी अथवा सेनापतिकी) का वैभव अत्यधिक होता था। हौदा कसे हाथी, सामानसे लदे बारबरदारीके घोड़े, पालकी, पीनस आदि साथ चलते थे। सेनापति और वीर सामन्तोंके डेरे पड़ते थे और मुख्य मुख्य सरदारों और सेनापतियोंके डेरोंके आगे नित्य सन्ध्या समय दर्बार भी लगता था जहां नित्यका राजकार्य होता था। इसकी व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि आगन्तुकोंसे भेंट आदि भी यहीं होती थी और विशेषकर यूरोपीयन अभ्यागत इस वैभवको देखनेको भी जाते थे, तो भी मुगल शिविरोंके जैसा आडम्बर यहां नहीं था, सादगी अधिकथी, इसी लिये ये लोग अपना शिविर शीघ्रतासे उठा कर लम्बी लम्बी यात्रा कर सकते थे। यात्रामें हवा हो या आंधी, मेह बरसताहो अथवा तेज लू चलती हो, भोजन भी यथेष्ट किया हो या न किया हो, ज्वार बाजराकी बालें हाथोंसे मीड़ कर चलते चलते उससे पेट भर लेते थे, परन्तु यात्राके उद्दिष्ट स्थान पर पहुंच कर

ही प्रायः यह शिविर रुकता था। यदि तोपखाना साथ होता था तो घुड़सवार आगे आगे ही पहुंचकर तोपकी गाड़ियों (मैशीन) और बैलोंके स्थान तथा दाने भूसेका प्रबन्ध कर देते थे। नित्य कमसे कम १२ मीलका पड़ाव होता था। व्यापारी लोग आगेसे ही अपने आदमियोंको भेजकर गांव गांवसे रसदका सामान खरीद कर शिविरका बाजार तैयार कर लेते थे। शिविरोंमें सिपाहियोंको मालका मूल्य सवाया देना पड़ता था।

फौजी अफसर

मराठोंकी कवायदी फौजके अफसर यूरोपियन ही थे और उनका वेतन भी अधिक था। सैंधियाका फौजी अफसर डिबाइन तो जागीरदार ही बना दिया गया था कर्नल पेरनको ५ हजार रुपया मासिक वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त एक हजारसे तीन हजार रुपया मासिक वेतन पाने वाले भी कई यूरोपियन अफसर थे। वेतनके अतिरिक्त इन्हें कुछ भत्ता भी मिलता था। होलकरके यूरोपियन सेनापतिका वेतन तीन हजार रुपया मासिक था और इतनाही वेतन बाजी रावके गोरे सेनापतिका था। संवत् १८५३ में सब हिन्दू और मुसलमान सरदारोंकी सेनामें ३०० के लगभग यूरोपियन अफसर थे। इनमें ७।८ उच्चाधिकारी, ६० मध्यम अधिकारी और शेष गोलन्दाज सार्जन्ट आदि थे। इनमें अधिकतर फ्रांसीसी थे तथा कुछ ऐसे अंग्रेज भी थे जो कम्पनीकी नौकरी छोड़ आये थे या जहाजोंकी नौकरीसे चले आये थे। ऐसे लोगोंका वेतन ३०) से ६०) मासिक था। ज्यों ज्यों मराठोंमें कवायददां फौजका महत्व बढ़ता गया त्यों त्यों ये गोरे अफसर बढ़ने लगे और उनकी संख्या-वृद्धिके साथ साथ उनका महत्व तथा अधिकार भी बढ़ने लगा। किन्हीं किन्हीं बातोंमें तो इन्हें मराठा और देशी अफसरोंसे भी अधिक अधिकार प्राप्त हो गये थे। उदाहरणार्थ इनके लिये विलायतसे आनेवाले मालपर राजकर नहीं लियाजाता था। दरबारमें सभापतिको छोड़कर और किसीकी पालकी नहीं आसकती थी, परन्तु इन लोगोंको पालकीकी आज्ञा मिल गयी थी। और और देशी दरबारोंमें भी इन्हें ऐसे ही या इससे भी अधिक अधिकार मिले थे।

एक अंग्रेज लेखकने तत्कालीन मराठा-सैन्य-संख्या इस प्रकार दी है—

पेशवा	४० हजार सवार	२० हजार पैदल
सैंधिया	६० ,, ,,	३० ,, ,,
भौंसले	५० ,, ,,	१० ,, ,,
होलकर	३० ,, ,,	४ ,, ,,
गायकवाड़	३० ,, ,,	
योग	२ लाख १० हजार	६४ हजार=२ लाख ७४ ह०

यूरोपियन अफसर।

उस समय भारतके राजाओंमें अंग्रेजी कवायद वाली फौजोंका उत्साह बढ़ रहा

था और निजाम (हैदराबाद), हैदर अली (मैसूर) गोहदके राणा, तथा और कई रजवाड़ोंमें यूरोपियन सैनिक ढंग पर सेनायें तैयार की जारहीं थी। स्वयं डिवाइनही शिंदेके पास आनेसे पूर्व उक्त गोहदके राणा और जयपुराके महाराजके यहां रह चुका था। कहते हैं कि डिवाइनने एक शर्त सैंधियासे यह भी की थी कि अंग्रेजोंके विरुद्ध हम नहीं लड़ेंगे परन्तु इस बातका कुछ प्रमाण नहीं मिलता है, अस्तु। डिवाइनने जाकर फौजकी वर्दी भी बदल दी थी और सैनिक अफसरोंका क्रम भी। इसके अधीन ये अफसर और थे—कर्नल मासिक वेतन ३०००) लेफ्टिनैन्ट कर्नल २०००) मासिक, मेजर १२००) मासिक, कैप्टिन ४००) मासिक, लेफ्टिनैन्ट १५०) २००) मासिक। इन अधिकारियोंके अतिरिक्त १७।१८ अधिकारी और भी थे जिनका वेतन १२०) मासिकसे लेकर १४००) पर्यन्त था। संवत् १८५० के लगभग शिन्देने दो पल्टनें ऐसी और तैयार की थीं और अन्तमें उसकी यूरोपीयन ढंगकी सेना ३० हजार तक पहुंच गयी थी। डिवाइनको १६ लाखकी जागीर दी गयी थी। इस प्रकार सैन्धियाके पास दोनों प्रकारकी सेना थी। संवत् १८४८ में तुकोजी होलकरने भी एक फ्रांसीसी अफसरको रखकर अपनी सेनामें एक भाग ऐसा ही तैयार कराया।

जगनलाल गुप्त।

संसारके व्यवसायका इतिहास ।

(गतांकसे आगे)

कांग्रेसको सं० १८४३ (सन् १७८६) की दशा भूली न थी । उसने घेन्टकी सन्धिके उपरान्त आज्ञा दी कि एक वर्षके लिये पहलेके कर दूने कर दिये जायं । इस समयमें देशमें व्यवसायकी उन्नति होने लगी । किन्तु उसके बाद ही व्यक्तिगत स्वार्थों—जो शिल्पियोंके बड़े विरोधमें थे—तथा अर्थशास्त्रियोंकी युक्तियोंसे बाधित होकर चुंगी फिर भी घटा दी गयी, जिससे वही बाह्य देशोंके साथ स्पर्धाके परिणाम फिर प्रकट हुए । देशके कारखाने नष्ट होने लगे, अपने देशका माल बिकना रुक गया, मूल्य गिर गया, और भूमिपति विपत्तिमें पड़ गये। यह दूसरा अवसर था कि देशने युद्धके समयमें शान्तिकी विभूतियां भोगी थीं । उसके बाद यह फिर दूसरी बार देशको ऐसा धोखा हुआ जिसके कारण शान्तिके समयमें भी उसे युद्धकी घोर विपत्तियोंसे भी अधिक क्षतिका सामना करना पड़ा । इधर जब सं० १८८१ (सन् १८२४) के इंग्लैण्डके अन्न सम्बन्धी विधानोंका दुष्परिणाम दिखायी पड़ा तब उत्तरी पश्चिमी और मध्य प्रान्तोंकी कृषि और शिल्पकी उन्नतिके लिए अमेरिकाने अपना कर बढ़ा दिया । परन्तु श्रीहस्किसनने इस करके बाधक परिणामको दूर करनेका शीघ्र ही प्रतिकार कर लिया । ऐसी अवस्था देख कांग्रेसने करको अपर्य्याप्त देखकर फिर बड़ी बहसके बाद संवत् १८८५ (सन् १८२८) में कुछ कर-वृद्धि कर दी ।

मसाचसेटके सरकारी विवरणसे भली भांति जान पड़ता है कि अमेरिकामें विशेषतः उत्तरीय राष्ट्रोंमें सं० १८८५ (सन् १८२८) वाले प्रतिबन्धक कर-सुधार द्वारा शिल्पको कितना लाभ पहुंचा था । संवत् १८९४ (सन् १८३७) में उक्त राष्ट्रमें २८२ सूतके कारखाने और ५६५०३१ तकुए चल रहे थे जिनमें ४९९७ पुरुष तथा १४७५७ स्त्रियां काममें लगी हुई थीं । इनमें लगभग ४६०७७ मन सूत लगता था जिससे १२६ लाख गज कपड़ा तयार होता था । इस व्यवसायमें ४३३१०२१ रुपये लगाकर ३४१६९९७७ रुपयेका माल तयार किया जाता था ।

उसी प्रान्तमें ऊनके भी १९२ कारखाने और ५०१ कलें चलती थीं जिनमें ३४८५ स्त्री तथा ३६१२ पुरुष काम करते थे । इनमें ५४२९४९ सेर ऊनसे ११३१३४२६ गज कपड़ा बनता था जिसका मूल्य ३२४९.६३९७ रुपया होता था और उसमें १८०३३५९४ रूपया मूल धन लगा था ।

वहां ५२०४७८७५ रूपयेके मूल्यके १६६८९८७७ जोड़ जूते बने थे जिनका अधिक भाग पश्चिमीय राष्ट्रोंमें गया था ।

इसी प्रकार दूसरे शिल्प भी उन्नतिपर थे। जहाजनिर्माण छोड़ कर राष्ट्र भरका शिल्प २६९०००००० रुपयेका था जिसमें लगभग १८७५ लाख रुपये मूलधन लगा था।

संवत् १८९४ (सन् १८३७) में अमेरिकाकी जनसंख्या ७०१३३१ थी जिसमें ११७३५२ पुरुष शिल्पशालाओंमें काम करते थे।

शिल्पी समाजमें दुःख, क्रूरता एवं अपराधका नाम भी न था, कारखानामें तो बहुतसे काम करने वाले स्त्री-पुरुषोंका रहन सहन पवित्र, स्वच्छ और सदाचारयुक्त था। उनकी पोशाक भी साफ़ रहती थी। उनके लिए पुस्तकालय भी खुले हुए थे जिनमें उनके लिए उपयोगी तथा शिक्षाप्रद पुस्तकोंका संग्रह किया गया था। उनको काम भी बहुत अधिक न करना पड़ता था और भोजन भी पुष्टिकारक और अच्छा मिलता था। कितनी स्त्रियां तो अपने विवाहके लिए पर्याप्त दहेज भी इकट्ठा कर लेती थीं* ।

इसका एकमात्र कारण यही था कि प्रत्येक दिनकी आवश्यक सामग्री सस्ती, कर कम और चुंगी उचित रीतिपर लगायी गयी थी। यदि इंग्लैण्ड भी कच्चे मालके आनेका प्रतिबन्ध हटा दे और भोजनके द्रव्योंपर आधा वा तिहाई कर करदे और उसकी क्षतिको आमदनीपर कर लगा कर पूरा करनेका प्रबन्ध करे तो वहांके श्रमजीवियोंका जीवन भी वैसा ही आनन्द मय हो सकता है।

भविष्य दशाओं तथा राष्ट्रीय आर्थिक समस्याके सम्बन्धमें किसी भी राष्ट्रको समझनेमें इतना भ्रम नहीं हुआ जितना उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिकाको समझनेमें हुआ है। यह भ्रम अर्थ शास्त्रियों तथा व्यावहारिक लोग दोनोंको ही है। एडम स्मिथ और जे० बी० सेका मत है कि अमेरिका भी पोलैण्डके सदृश केवल कृषिके निमित्त ही है। विचार करनेकी बात है कि नवजात १० या १२ राष्ट्रोंके सुसंगठित राज्यके लिए यह तुलना कैसे प्रिय हो सकती थी और इससे उनको अपने भविष्यके लिए कब प्रोत्साहन मिल सकता था? उक्त काल्पनिकोंका अनुमान था कि प्रकृति देवीने वहांके निवासियों-को कृषि करनेके लिए ही बनाया है और जब तक वहां की अच्छीसे अच्छी भूमि थोड़े मूल्यपर मिलती रहेगी ऐसा ही होगा। वहांके निवासियोंने प्रकृतिकी इस नैसर्गिक व्यवस्थाको स्वीकार करके प्रथम स्वतन्त्र वाणिज्यके पक्षमें अर्थ शास्त्रियोंको बहुत उत्तम नमूना दिया, इसके लिये उनकी बहुत प्रशंसा भी की गयी।

किन्तु थोड़े ही दिनमें इन महापुरुषोंको अपने हेत्वाभासोंका पता चल गया। उनके सिद्धान्तोंकी सत्यता खण्डित होने लगी और उन्हें अमेरिकाको, जातीय सम्पत्तिकी वृद्धिके विचारसे स्वतन्त्र वाणिज्यके विरुद्ध कार्य करते हुए भी देखनेका दौर्भाग्य सहन करना पड़ा।

---

*एक अमेरिकन पत्रने अपने १८३९ ई० के जुलाई मासके एक अंकमें लिखा था कि लावेन नगर ही में सौसे भी अधिक श्रमी स्त्रियोंने सेविंग बैंकमें १००० डालरोंसे भी अधिक जमा कर लिया था।

जिस प्रकार पहले यह देश अर्थ शास्त्रियोंकी आंखोंका तारा था वैसे ही अब वह यूरोपके प्रत्येक राष्ट्रके अर्थ शास्त्रियोंकी आंखोंका शूल बन गया। उस समय अमेरिकाका नया संसार अर्थशास्त्रीय विज्ञानमें नव प्रविष्ठ बालकसा अबोध समझा जाता था। उनका कथन था कि जब सम्पूर्ण यूरोपके बड़े बड़े राष्ट्र सच्चे उत्साहसे सर्व कल्याणप्रद स्वतन्त्र वाणिज्यका प्रयत्न कर रहे थे और जब कि इंगलैण्ड और फ्रांस खास तौरपर इस सर्वोपकारक उद्देश्यकी विशेष उन्नतिके लिए कमर कसे हुए थे उस समय अमेरिका केवल अपनी समृद्धि बढ़ानेके लिए उसी पुरानी चिर खण्डित, रद्द की हुई व्यापारिक शैलीपर चलना चाहता था। उनके विचारमें जिस देशमें इतनी उर्वरा भूमि जोतने बोनेको पड़ी रहे और वेतन इतने अधिक मिलते हों उसको चाहिये कि वह अपने प्राकृतिक धन और बढ़ती जनसंख्याको कृषिके अतिरिक्त किसी और अच्छे काममें लगावे ही नहीं इसीमें उसकी प्रजाकी वृद्धि तथा भौतिक पदार्थोंका सदुपयोग होगा, और इसीकी पूर्ण वृद्धिके उपरान्त शिल्पका प्रादुर्भाव आपसे आप बिना किसी कृत्रिम प्रयत्नके नैसर्गिक रूपसे होने लगेगा। किन्तु यदि अमेरिका कृत्रिम रूपसे शिल्पकी ही उन्नति करेगा तो न केवल सभ्य उन्नत राष्ट्रोंकी ही हानि होगी परन्तु उनसे भी अधिक स्वयं उसकी ही क्षति होनी निश्चित है।

परन्तु चाहे जो कुछ हो, अमेरिका वालोंकी विवेचक बुद्धि और निर्दोष जातीय प्रवृत्ति काल्पनिकोंकी कल्पनाओंसे कहीं बढ़कर शक्तिशाली थी। उन लोगोंने इनके सिद्धान्तोंकी भली प्रकार छान बीन की और लोगोंको दिखाया कि जिस मतको स्वयं उसके पक्षपाती ही कार्यमें परिणत नहीं करते उसे दूसरे देश वाले कैसे मान सकते हैं।

बिना जोती हुई भूमियोंके विषयमें अमेरिकाका यह उत्तर था कि अधिक जनसंख्या वाले अच्छी कृषिसे सम्पन्न राष्ट्रोंकी वे सम्पन्न भूमियां शिल्प उद्योगके लिये ही पकी खड़ी हैं। उनमें ऐसी उत्कृष्ट भूमियोंकी उतनी ही कमी है जितनी इंग्लैण्डमें। शेष भूमियां पश्चिममें बहुत दूरीपर हैं, वहां मजदूरोंके पहुंचनेमें ही अधिक व्यय हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्रको उनकी बहुत आर्थिक और मानसिक हानि ही नहीं होती बल्कि, पहलेके ग्राहकोंके ये लोग प्रतिस्पर्धी बन कर भूमि तथा उत्पादित वस्तुका मूल्य भी घटा देते हैं। अपने राष्ट्रकी जन-संख्या, सभ्यता तथा सैन्यबलकी पुष्टि और वृद्धि न करके संयुक्त राष्ट्रोंका केवल समुद्र तककी सम्पूर्ण भूमिका जोतना कुछ भी लाभका नहीं है। अस्पृष्ट भूमियोंका जोतना भी पूर्वीय राष्ट्रोंके लिए तब तक हितकर न होगा जब तक वे स्वयं शिल्पकी और ध्यान न देंगे और अपनी प्रस्तुत वस्तुके बदले पश्चिमीय प्रान्तोंसे उत्पन्न सामग्री लेनेका बन्दोबस्त न करेंगे। अमेरिकाके वासी तो और भी अधिक उत्तेजित होकर यहां तक कहने लगे "क्या स्वयं इंग्लैण्डकी ही दशा ऐसी नहीं थी? क्या अब भी इंग्लैण्ड के अपने कनाडा आस्ट्रेलिया आदि बड़े बड़े प्रान्तोंमें बहुतसी बेजोती बोई उत्तम भूमियां खाली नहीं पड़ी हैं। जैसे अमेरिकाको एक कोनेसे दूसरे कोने तक अपनी भूमिको जोतनेके लिये श्रमियोंको भेजनेकी सम्मति दी जाती है इंगलैण्ड अपने उपनिवेशोंकी अधिक जनता

को पड़ता भूमियोंमें बस जानेकी सम्मति क्यों नहीं देता ? क्या उसको वैसी ही सुविधा नहीं है ? यदि है तो इंग्लैण्ड अपने शिल्पकी रक्षा और उन्नतिमें ही क्यों लगा रहता है ?

कुछ अर्थशास्त्रियोंकी कल्पना है कि कृषिमें मजूरी अधिक हो जानेसे शिल्प कभी स्वतः सफल नहीं हो सकता । बहुत परिश्रमसे कृत्रिम कुंज-काच भवनोंमें पाले पोषे पौधोंकी नाईं अंशत: फल सकता है । किन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं है, क्योंकि अधिक मज़दूरीका असर हाथसे बननेवाली छोटी छोटी वस्तुओंपर तभी पड़ता है जब उत्पादित मालका वजन तथा मात्रा मूल्यकी अपेक्षा कहीं कम होती है; परन्तु जिन वस्तुओंके मूल्यपर मजदूरीका बहुत कम असर पड़ता है, और जिनमें मजदूरीका भार अधिक होते हुए भी यन्त्र तथा जलशक्तिके प्रयोग, सस्ते कच्चे माल, तथा भोजनकी सामग्री, सस्ते इन्धन कारखानोंके प्रयोग तथा अल्प कर और सिद्धहस्त श्रमजीवियोंके होनेकी सुविधा है उनपर यह नियम नहीं लगता है ।

इसके अतिरिक्त अमेरिकावालोंने अपने अनुभवसे बहुत ही पहलेसे यह सीख लिया है कि जब तक तय्यार मालको कच्चे मालसे बदलनेका सदाके लिये विघ्न रहित बन्दोबस्त न कर लिया जाय, कृषिकी उन्नति हो नहीं सकती लेकिन यदि कच्चा माल तय्यार करनेवाला अमेरिकामें हो और पक्के माल तैयार करनेवाला इंग्लैंडमें हो तो इनके अदले बदलेमें युद्ध, व्यापारिक संकट और वैदेशिक चुंगी आदिके कारण समय समयपर नाना प्रकारकी बाधाएं पड़ेंगी ही । यदि राष्ट्रीय सुख-समृद्धिको चिरस्थायी बनाना है तो जैफर्सनके शब्दोंमें 'शिल्पोंका कृषकके अत्यन्त समीप रहना ही श्रेयस्कर है ।'

अन्तमें अमेरिकावालोंको इस सत्यका पता लग गया कि किसी बड़े राष्ट्रको केवल तात्कालिक आर्थिक लाभके पीछे ही न पड़े रहना चाहिये, प्रत्युत शक्ति तथा सभ्यता—जिनकी केवल आर्थिक लाभकी अपेक्षा कितनी ही अधिक उपादेयता और आदर है—शिल्पकी उत्पादक शक्तिकी उन्नतिसे ही प्राप्त हो सकती हैं । ऐडेम स्मिथ भी इस बातको स्वीकार करते हैं । उसको यह भी भलीभांति ज्ञात हो गया था कि संसारके प्रधान और सभ्यतम राज्योंकी समतामें उच्च आसन पानेके लिए राष्ट्रको बहुमूल्य बलि चढ़ानेमें भी संकोच न करना चाहिए, और उस समय अटलान्टिक सागरके तटस्थ राज्य ऐसी समृद्धिके लिए विशेष उपयोगी समझे जाते थे ।

अटलान्टिक सागरके किनारोंपर ही सबसे पहिले यूरोपीय उपनिवेश तथा यूरोपियन सभ्यताकी गहरी नींव पड़ी । वहीं सबसे पहिले सम्पन्न सभ्य राष्ट्रोंकी घनी बस्तीके राष्ट्र बने और यहींपर उनके मत्स्यग्राही; तटस्थ वाणिज्य एवं जल-शक्तिका विकास हुआ । यहां ही उनको स्वतन्त्रताका विजय-लाभ हुआ और उनका संगठन हुआ । इन्हीं राष्ट्रों द्वारा संयुक्त राज्यका अन्य राष्ट्रोंसे वाणिज्य चला, इन्हीं द्वारा अन्य सभ्य राष्ट्रोंसे सम्बन्ध भी स्थापित होता है । इन्हीं द्वारा उसे यूरोपसे यथेष्ट जनसंख्या, सामग्री, मूलधन तथा गुणोंकी प्राप्ति होती है और इन्हीं तटस्थ राष्ट्रोंकी सभ्यता, धन

तथा शक्तिपर न केवल सम्पूर्ण राष्ट्रकी सभ्यता धन एवं स्वतन्त्रता आश्रित है, परन्तु छोटे राज्योंका भविष्य भी इन्हींपर निर्भर है। यदि इन तटस्थ राष्ट्रोंकी जनसंख्या, मछुआही तथा विभव बढ़नेके बदले घटने लगे तो समस्त राष्ट्रकी सभ्यताका सामान, स्वतन्त्रताके आधार तथा बाह्यशक्तियां भी उसी प्रकार घटने लगेंगी। यदि ऐसा सम्भव हो कि अमेरिकाके एक सागरसे दूसरे सागरतकके सम्पूर्ण खेत बोये और जोते जाने लगें और देशभरमें आबादी भी खूब घनी हो जाय तो भी वैदेशिक व्यवसाय, अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति, स्वतन्त्रता एवं सभ्यताके विचारसे देशकी अवस्था अच्छी न रह जायगी। अब भी कुछ ऐसे राष्ट्र ऐसी ही दशामें हैं। असंख्य जनसंख्या होते हुए भी उनमें जलशक्तिका अभाव है।

यदि कोई राष्ट्र अमेरिकाके सम्पूर्ण विभवका नाश करके वहांकी जनताको शिल्प व्यवसाय और राजनीतिमें भी दासत्वके बन्धनमें डालना चाहे तो उसे चाहिये कि वह तटस्थ राज्योंको खाली करके उनके मूल्यधन तथा मनुष्योंको भीतरी भागमें ढकेलनेका प्रयत्न करे। ऐसा करनेसे वह न केवल उसकी राष्ट्रीय जलशक्तिका ही नाश करेगा परन्तु उसके तटस्थ विशेष युद्धोपयोगी तट और नदी-मुख भी उसके हाथ लग जायंगे। इसका उपाय भी सहजमें सोच लिया जा सकता है। इसके लिए केवल दो बातें आवश्यक हैं एक तो अटलान्टिक तटस्थ राज्योंकी उत्पादन शक्तिकी वृद्धिको रोकना और दूसरे अमेरिकामें स्वतन्त्र विदेशीय वाणिज्यकी प्रथाका संचार करना।

यदि ये राष्ट्र स्वत: शिल्पसे माल तय्यार न करें तो उनके लिये वर्तमान सभ्यताकी समता बनाये रखना तो दूर रहा वे लोग हर तरहसे अवश्य नीचे गिरते ही चले जायंगे। विना शिल्पकी उन्नतिके उनकी उन्नति हो ही कैसे सकती है। यह देश यदि शिल्पको छोड़ केवल कच्चा माल यूरोप भेजकर इंग्लैंडकी बनी वस्तु लेने हीमें अपना व्यापार समाप्त कर दे तो शेष प्रजाको काम और भोजन कहां मिलेगा? क्योंकि इसके कामके लिए तो केवल गिने गिनाये थोड़ेसे मनुष्य ही पर्याप्त होंगे। मछुआही किस प्रकार उन्नत होगी? जो लोग समुद्र तट छोड़कर भीतरी भागमें जा बसे हैं वे लोग नमक लगाकर रक्षित मछलीके मांसके बदले ताज़ी मछली अधिक पसन्द करते हैं, जिससे तटस्थ मछुआहीकी वृद्धि असम्भव हो गयी है। उनको रेलोंके लिए तेलकी आवश्यकता भी न होगी! फिर सागरके तटका व्यापार कैसे चलेगा? किनारेपरके बसनेवाले अधिकतर कृषक हैं। वे अपने लिए प्राय: सभी सामग्री उत्पन्न कर लेते हैं जिससे समुद्रद्वारा वस्तुओंको इधर उधर लेजानेकी भी आवश्यकता ही न पड़ेगी। फिर समुद्र-व्यवसायकी किस तरह उन्नति होगी? अमेरिकामें किसी विशेष प्रकारकी वस्तु भी नहीं होगी जिसको दूसरे देशमें ले जानेके लिए जहाज तय्यार किये जायं। उनमें जब मछुआही, तटस्थ वाणिज्य, जल-यात्रा तथा विदेशीय व्यवसाय की दिनों दिन अवनति होगी तो जलशक्ति कहांसे स्थापित हो सकेगी? जलशक्तिके विना वे राष्ट्र विदेशी आक्रमणोंसे अपनी रक्षा कैसे कर सकेंगे? इन प्रान्तोंमें कृषिकी उन्नति ही कैसे होगी जब कि रेलों और नहरों द्वारा पश्चिमकी सस्ती और अधिक उर्वरा भूमिकी फसलें

पूर्वकी पहले ही निचुड़ी तथा बजर हुई भूमियोंमें नयी फसल पैदा करनेकी अपेक्षा अधिक सस्तेमें उठाकर ले जायी जा सकेगी ।

ऐसी दशाओंमें सभ्यता कैसे उन्नत होगी और जनसंख्या कैसे बढ़ेगी जब कि यह स्पष्ट है कि इंग्लैगडके साथ स्वतन्त्र वाणिज्य करनेसे सारी जनसंख्या और कृषिका मूल धन पश्चिममें खिंच जायगा । वर्जिनिया प्रान्तकी वर्त्तमान दशाके देखनेसे यह आभास अवश्य हो जाता है कि शिल्प व्यवसायके न होनेपर अटलाण्टिक तटस्थ राष्ट्रोंकी किस प्रकारसे अधोगति होगी, क्योंकि वर्जिनियाका प्रान्त दक्षिणीय प्रान्तके समान वर्त्तमान अटलाण्टिक राष्ट्रोंको कच्चा माल प्रस्तुत करनेमें बहुत बड़ा भाग ले रहा है ।

परन्तु अटलाण्टिक राष्ट्रोंका शिल्प-व्यवसाय खूब समृद्ध और उन्नत होनेके कारण उपरोक्त सभी बातें विपरीत हो रही हैं ।

अब समस्त यूरोपकी जन-संख्या मूल-धन कौशल तथा चतुरता वहीं बढ़ी चली जा रही है । अब पश्चिमसे कच्चा माल आ रहा है और उनके बदले उन प्रान्तोंकी तय्यार की हुई वस्तुओंकी बड़ी भारी मांग है । अब ज्यों ज्यों पश्चिम वाले इसके सम्बन्धसे अपने खेतोंकी संख्या बढ़ाते जा रहे हैं त्यों त्यों यहां धन तथा जन संख्याकी भी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है । सम्पूर्ण यूरोपीय देशोंके मूलधन तथा शिल्पकारोंकी भरमार हो गयी है । जन संख्या इतनी बढ़ रही है कि नगरोंमें स्थान न होनेके कारण दक्षिणी भूमि भी बसती जाती है । जनसंख्याकी वृद्धिसे मांस, मक्खन, दूध, घी, फल और तेलके पदार्थोंकी इतनी मांग बढ़ गयी कि उनको अपनी कृषिको भी बहुत बढ़ाना पड़ा है । नमकीन मछली तथा गाड़ियोंके लिए तेलकी आवश्यकता बढ़जानेसे मछुआहीकी दिनों दिन उन्नति हो रही है । जिन प्रान्तोंमें कारखाने हैं वहांकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए भोजन तथा मकान आदि बनानेकी सभी सामग्री जहाजोंद्वारा बराबर चली जा रही हैं । अब माल भी इतना अधिक तय्यार हो रहा है कि बाहर सभी दुनियांके देशोंमें भेजा जा रहा है और खूब मुनाफा उठाया जा रहा है । तटस्थ व्यवसाय, मछुआही, जलयात्रा तथा सब प्रकारकी स्वतन्त्रता रहनेसे जलशक्ति इतनी पुष्ट हो रही है । इसके साथ राष्ट्रकी स्थिर स्वतन्त्रता और अन्यराष्ट्रोंपर आतंक भी जम गया है । पहले विज्ञान, कला, साहित्य तथा सभ्यता भी पूर्वीय प्रदेशोंसे पश्चिमीय प्रदेशोंमें गयी थी, परन्तु अब पूर्वीय प्रदेश ही देखा देखी अपनी उन्नति करने लगे हैं ।

जब संयुक्त प्रान्तोंने विदेशीय मालपर प्रतिबन्धक नियम लगाये और अपने कारखानोंकी रक्षा की तब अमेरिकाकी ऐसी परिस्थिति थी । हम पहले यह भली भांति दिखा चुके हैं कि इससे उनको कितनी सफलता हुई । यदि इस नीतिका अवलम्बन न किया गया होता तो अटलान्टिक राष्ट्रोंमें कारीगरी न रह गयी होती । यह पाठ हमें केवल उन्हींके अनुभवोंसे नहीं परन्तु अन्य राष्ट्रोंके आर्थिक इतिहासोंसे भी मिलता है ।

कुछ लोगोंका कथन है कि इन्हीं प्रतिबन्धोंके कारण अमेरिकामें समय समयपर

व्यवसाय संकट उपस्थित होते हैं। किन्तु उनका यह कथन निराधार है। अमेरिकाके पहले और अबके इतिहाससे विदित होता है कि जब अंग्रेजोंके साथ प्रायः स्वतन्त्र वाणिज्य ही होता था तब भी अबकी अपेक्षा ऐसे ही और भी अधिक संकट उपस्थित होते रहे हैं। व्यवसाय-संकटका कारण कुछ और ही है। कृषिप्रधान देशोंमें जहां बाहरसे तय्यार माल आता है ऐसे संकट आयात तथा निर्यात वस्तुओंकी विषमतासे होते हैं।

शिल्पसे पक्का माल तय्यार करने वाली जातियां कृषिप्रधान देशोंसे अधिक सम्पन्न होती हैं। वे अपने निर्यात मालको बढ़ानेकी चिन्तामें ही लगी रहती हैं। वे अपना माल विश्वासपर व्यापारियोंके गले मढ़ देते हैं और खपतको प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार वे आने वाली भावी फसलका भी पेशगी रूपया दे चुकते हैं। यदि दैववश फसल इतनी कम हो कि उसका मूल्य लिये मालके मूल्यसे बहुत न्यून पड़े या फसल इतनी अधिक हो जाय कि फसलकी पूरी खपत न रख सके तो उसका भाव गिर जाता है। और उसी समय बाजारोंमें विदेशी माल और भी लदता जाता है। तब पहले खपे माल और उसके चुकताके लिए उचित मूल्यमें विषमता होजानेके कारण व्यापार संकट उपस्थित होजाता है। यही संकट कच्चे माल और पक्के मालोंकी मांग और मात्राकी विषमतासे भी उत्पन्न हो जाते हैं। स्थानिक और वैदेशिक बैंक इन संकटोंको और भी अधिक बढ़ा सकते हैं, परन्तु पैदा नहीं कर सकते। अगले परिच्छेदमें हम इसी विषयको और भी स्पष्ट करेंगे।

दशम अध्याय।

इतिहासकी शिक्षा।

सब देशों और सभी कालोंमें किसी राष्ट्रका कल्याण उसके नागरिकोंके व्यवसाय, सदाचार एवं बुद्धिके अनुरूप ही होता रहा है और इन्हींकी उन्नति या अवनतिसे धनकी भी बढ़ती वा घटती होती है। किन्तु व्यवसाय तथा मितव्ययिता एवं आविष्कार तथा उद्योगसे कोई भी मनुष्य समुचित लाभ नहीं उठा सकता जब तक उनकी पुष्टि नागरिक स्वतन्त्रता, उपयोगी सार्वजनिक संस्था तथा नियम, शासन एवं विदेशीय व्यवस्था तथा राष्ट्रीय एकता एवं बलसे न की जाय।

इतिहाससे सिद्ध होता है कि सब देशोंमें सामाजिक तथा व्यक्तिगत अवस्था तथा शक्तियोंमें परस्पर बड़ा सम्बन्ध है। इटली एवं हन्सवालोंके नगरोंमें हालैण्ड तथा इंगलैण्डमें, फ्रांस और अमेरिकामें उत्पादक शक्तिके साथ ही साथ व्यक्तिगत सम्पत्तिकी भी दिनों दिन वृद्धि, स्वतन्त्रता और राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओंकी उन्नतिके अनुसार ही हो रही है और इन संस्थाओंकी उन्नति नागरिकोंकी वैयक्तिक उत्पादक शक्ति तथा सम्पत्तिकी उन्नतिके साथ साथ हो रही है। इंग्लैण्डके बल और व्यवसायकी वास्तविक उन्नति उसकी

राष्ट्रीय स्वतन्त्रताकी नींव पड़ते ही आरम्भ हुई थी और उसी प्रकार वेनिस, स्पेन, पुर्तगाल एवं हंस वाले नगरोंका व्यवसाय और बल, स्वतन्त्रताके नाश होते ही लुप्त होने लगे थे। किसी भी राष्ट्रके नागरिक कितने ही परिश्रमी, मितव्ययी एवं बुद्धिमान क्यों न हों, वे लोग स्वतन्त्रताके अभावको दूर नहीं कर सकते। इतिहाससे भी इस बातका प्रमाण मिलता है कि नागरिकोंकी उत्पादक शक्तिका बहुत अधिक भाग सामाजिक स्थिति तथा अवस्थासे उत्पन्न होता है।

स्वतन्त्रता, बुद्धिमत्ता एवं ज्ञानका राष्ट्रकी शक्तिपर तथा राष्ट्रकी शक्ति द्वारा उत्पादन और राष्ट्रीय धनपर कितना प्रभाव पड़ता है इसका जितना अच्छा उदाहरण जलशक्तिसे मिलता है उतना और कहीं नहीं मिल सकता। व्यवसाय सम्बन्धी कामोंमें जल यात्राके लिये सबसे अधिक उद्यम, साहस, श्रम एवं उत्साहकी आवश्यकता है। और ये सभी गुण केवल स्वतन्त्रताके क्षेत्रमें ही फलते फूलते हैं। और किसी दूसरे व्यवसायपर मूर्खता, पक्षपात, आलस्य, अन्धविश्वास, दौर्बल्य, भीरुता और पौरुषहीनताका इतना भीषण प्रभाव नहीं पड़ता और अन्य कामोंमें स्वावलम्बन और आत्मविश्वासकी भी इतनी आवश्यकता नहीं होती। इतिहासमें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जहां परतन्त्र जाति जल-यात्रामें उत्कृष्ट होती देखी गयी हो। हिन्दू, चीनी तथा जापानी सर्वदासे नहर, नदी अथवा समुद्र तटोंके समीप ही व्यवसाय करते आये हैं। प्राचीनकालमें मिश्र देश वाले इस व्यवसायको घृणासे देखते थे। कदाचित् इसका कारण यह था कि वहांके शासक एवं पुरोहितोंको भय था कि कहीं इसके द्वारा स्वतन्त्रताके भावका संचार न हो जाय। यूनानके सबसे अधिक स्वतन्त्र और शिक्षित राष्ट्रोंने ही जलयात्राकी प्रबल शक्तिका सम्पादन किया था और स्वतन्त्रताका ह्रास होते ही इस शक्तिका भी नाश हो गया। इतिहासमें मकदूनियाके राजाओंके स्थलीय विजयोंका चाहे कैसा ही उत्कृष्ट वर्णन क्यों न हो, पर सामुद्रिक विजयोंका नाम तक भी नहीं मिलता।

रोमवालोंकी जलशक्ति कब उन्नत थी? और कबसे उनका पता नहीं चलता? किस समय इटलीने भूमध्य सागरमें प्रभुत्व जमा रखा था और कबसे उसका तटस्थ व्यवसाय भी विदेशियोंके हाथ चला गया? अंग्रेजोंकी और हालैण्डकी जहाज़ी उन्नतिके पूर्व ही धार्मिक[१५३] न्यायालयोंने स्पेनकी जलशक्तिका गला घोंट दिया था। जबसे हांसवालोंका व्यवसाय कुछ अमीरोंके हाथमें आ गया तबसे उनके बल एवं जलयात्राके प्रति उत्साहके भाव जाते रहे।

अनुवादक-हरिहरनाथ।

सामयिक संग्रह

समाज और व्यक्ति ।

समाज और व्यक्तिमें किस प्रकारका पारस्परिक सम्बंध है, इस विषय पर भिन्न भिन्न दार्शनिकोंने भिन्न मत प्रकट किये हैं। टामस हाब्स नामक अंग्रेज दार्शनिकका अनुमान था कि पहिले सभी मनुष्य प्रायः अलग अलग ही रहा करते थे किन्तु बादमें उन्होंने पारस्परिक हितके विचारसे समाजके रूपमें संगठित होकर रहना सीखा और इसकी उचित व्यवस्थाके निमित्त उन्होंने राज्यकी स्थापना की। यद्यपि राज्यकी स्थापना प्रजाकी इच्छासे ही हुई थी, किन्तु उसका नियंत्रण राजाकी ही इच्छा और विवेक-बुद्धिपर छोड़ दिया गया था। " लॉक " नामक दूसरे अंग्रेज दार्शनिकका कहना है कि मनुष्य समाजके रूपमें तो पहिलेभी रहते थे, हां कानून और राज्यकी उत्पत्ति अवश्य राजा और प्रजाके पारस्परिक समझौतेसे ही हुई। इन दोनों तत्व-वेत्ताओंके कथनमें सत्यका बहुत कुछ अंश है। इस सम्बन्धमें श्री गोवर्धनलाल एम० ए० बी० एल० द्वारा लिखित " सामाजिक बन्धनका सिद्धान्त " शीर्षक लेख मार्च और अप्रैलकी प्रभामें प्रकाशित हुआ है। उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है।

सामाजिक अवस्थामें रहना स्वीकार करके निस्सन्देह मनुष्य अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रताको संकुचित करता है, मनमाने रूपसे आचार-व्यवहार करनेकी अपनी नैसर्गिक शक्तिको वह निस्सन्देह परित्याग करता है और समाज द्वारा अनुशासित होता है। परन्तु यह भी स्पष्ट ही है कि समाजको या समाजके अधिकांश भागको व्यक्तिपर समुचित सीमासे अधिक अत्याचार करनेका अधिकार नहीं है क्योंकि वैयक्तिक स्वतन्त्रताकी रक्षा करना ही समाजका कर्त्तव्य है। इस स्वतन्त्रताको वह कदापि अपहरण नहीं कर सकता।

इसके बाद " कानून " " प्रभु " इत्यादि शब्दोंका अर्थ समझाते हुए लेखक महाशय कहते हैं।

राजनैतिक दार्शनिकोंको दो दलोंमें विभक्त किया जा सकता है। इनमेंसे एकको हम शायद आईन-वादी और दूसरेको विप्लव-वादीके नामसे पुकार सकते हैं। एकका उद्गम हौब्सके दर्शन शास्त्रसे और दूसरेका लौक और रूसोके सिद्धान्तोंसे हुआ है। आईन-वादियोंकी रायमें प्रत्येक राष्ट्रमें ऐसी एक संस्था अवश्य विद्यमान रहती है कि जो आज्ञा जारी किया करती है और नियम बनाया करती है। इसी संस्थाकी आज्ञाओंका दूसरा नाम ही कानून है। कानूनके द्वारा ही अधिकार और कर्तव्यक।

जन्म होता है-अधिकार और कर्त्तव्य कानूनसे पृथक् नहीं है । यह शक्ति एक या एकाधिक व्यक्तियोंमें केन्द्रीभूत रह सकती है। शक्तिके इस केन्द्रको राजनीतिज्ञ "प्रभु" (या सौवरेन Sovereign) कहते हैं। "प्रभु" पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र है। वह सभी नियम—हर प्रकारका कानून—बना सकता है और उसके पालनके लिए प्रजाको बाध्य कर सकता है। इसकी कोई भी आज्ञा अन्याय नहीं कही जा सकती। इसकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करना प्रजाका कर्त्तव्य है। इसकी आज्ञासे पृथक् प्रजाको कोई अधिकार प्राप्त नहीं हैं। उदाहरणार्थ 'फ्रांसीसी विप्लवके पूर्व फ्रांसके जमींदारोंको किसानोंपर अत्याचार करनेका तथा भारी भारी महसूलोंके वसूल करनेका साधारण अधिकार था और उनकी आज्ञाओंका पालन करना किसानोंका कर्त्तव्य। हम इन भूपतियोंके आचरणको अन्याय्य नहीं कह सकते। इसी प्रकार एक स्वेच्छाचारी राजा अपने किसी भी अनुचरको अपनी प्रजाके प्राण और सम्पत्तिका महज स्वामी नियुक्त कर सकता है और मन-मानी रीतिसे प्रजाके प्राण और सम्पत्तिका अपहरण कर सकता है पर उसके आचरणको अन्याय्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा करनेका उसे सहज अधिकार है।" शासक जिस वस्तुको चाहे उसे वैध और न्याय्य बना दे और जिसे चाहे उसे अवैध और अन्याय्य। वह नैतिक बातोंको अवैध और अनैतिक बातोंको वैध बना सकता है। वह सर्व शक्तिमान है। परन्तु विप्लववादियोंका कथन है कि इस प्रश्नको केवल क़ानूनकी दृष्टिसे नहीं वरन् नैतिक दृष्टिसे भी देखना चाहिए। सदाचारका स्थान क़ानूनसे कहीं ऊंचा है। और वास्तवमें नियम विशेष तो सदाचार की छाया मात्र होने चाहिए। नियमोंको सदाचारसे पराङ्मुख कदापि न होना चाहिए। नीतिको कानूनके अधीन नहीं वरन् कानूनको नीतिके अधीन होना चाहिए। नैतिक अधिकार और कर्त्तव्य कानूनी अधिकारों और कर्त्तव्योंसे स्वतन्त्र हैं।

आगे चल कर कानूनके आधारका जिक्र करते हुए आप लिखते हैं

यथार्थ प्रभुत्व (Sovereignty) शासकमें नहीं वरन शासित वर्गमें ही केन्द्रीभूत रहता है। प्रजाकी प्रत्यक्ष वा परोक्ष सम्मति ही कानूनका आधार है। प्रजाकी सम्मतिपर ही शासकका बल निर्भर है। रूसोका यह कथन कि यथार्थ प्रभु (Sovereign) जो है शासक नहीं तथा समस्त शक्तिकी अधिपति भी प्रजा ही है पूर्णरूपसे सत्य है। यदि प्रजा किसी कानूनके माननेके लिये तैयार नहीं है तो वह कानून किसी प्रकार लागू नहीं हो सकता। कानूनका सम्मान प्रजाकी सम्मति हीमें है। सदा बलके द्वारा ही कानूनका प्रवर्तन नहीं किया जाता वरन् प्रजाका बहुत बड़ा अंश स्वेच्छासे अपना कर्त्तव्य समझ कर उसका पालन करता है।

[अप्रैलकी "प्रभा"से]

लंबे रेशेदार कपासकी आवश्यकता।

भारतमें लंबे रेशेदार (Long Stapled cotton) उत्तम कपासकी उपज बढ़ानेकी इस समय बहुत आवश्यकता है। यहांपर ऐसा कपास इतना कम पैदा होता है कि मिलोंको बारीक सूत कातनेके लिए या तो कपास अमेरिका या ईजिप्टसे खरीदना पड़ता है या बारीक कपड़ा बुननेके लिए बारीक सूत इंग्लैण्डसे मंगाना पड़ता है। गत वर्ष (सन् १९२०-२१) में करीब २१ लाख मन कपास विदेशसे भारतमें आया, जिसकी कीमत करीब १ करोड़ ६८ लाख रुपये थी। लंबे रेशेदार कपास और बारीक सूतकी कमीके कारण ही भारतीय मिलोंमें और करघों द्वारा बारीक कपड़े अधिक परिमाणमें नहीं बनाये जाते और इस कारण करोड़ों रुपयोंके बारीक कपड़े इंगलैण्डसे प्रति वर्ष मंगाये जाते हैं। यदि लंबे रेशेदार कपास काफी परिमाणमें भारतमें ही पैदा होने लगे और उसका बारीक सूत यहांपर ही काता जाकर उसके बारीक कपड़े बनने लगे तो फिर विदेशसे कपड़े मंगानेकी आवश्यकता ही न पड़े। नीचेके कोष्टकमें यह बतलाया गया है कि भिन्न भिन्न प्रकारका कितना सूत गत वर्ष (सन् १९२०-२१) में भारतमें आया और कितना भारतकी मिलोंमें काता गया।

	सूतका आयात (लाख सेर)	देशकी मिलोंमें काता गया सूत (लाख सेर)
१ से २५ नंबर तकका सूत	४०	२९६०
२६ से ३० " " "	१९	२५३
३१ से ४० " " "	११४	७५
४० से अधिक नंबरका सूत	२५	१०
रंगीन सूत	२१	—
अन्य तरहके सूत	१७	२
	२३६	३३००

उपर्युक्त कोष्टकसे पता लगता है कि ३१ नम्बरसे कम नंबरके सूतका आयात बहुत थोड़ा है, वह सम्पूर्ण आयातका करीब एक चौथाई हिस्सा है, बाकीका तीन चौथाई हिस्सा ३० से अधिक नंबरके सूतका और रंगीन सूतका रहता है। इस कोष्टकसे यह भी मालूम होता है कि देशी मिलोंमें ३० से अधिक नंबरका सूत बहुत कम काता जाता है और इसका मुख्य कारण लंबे रेशेदार कपासकी कमी है।

सामयिक संग्रह

अमेरिका और ईजिप्टका लंबे रेशेदार कपास भारतमें सिन्ध, पञ्जाब और मद्रास प्रान्तमें सफलता पूर्वक बोया जा सकता है। परन्तु इन कपासोंके लिए सिचाईकी बहुत आवश्यकता रहती है और जब तक सिन्धमें सक्कर बैरेज नहर पूरी नहीं बन जाती और किसानोंको बारहों महीने पानी देनेका प्रबन्ध नहीं किया जाता तब तक वहांपर अमेरिका और ईजिप्टके कपासकी बोनी अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। हां, उस नहरके बनजाने पर करीब ६ लाख एकड़ जमीनमें लंबे रेशेदार कपास बोया जा सकेगा। पञ्जाब और मद्रासमें नहरोंके आस पासके खेतोंमें भी ऐसे कपासकी खेती बढ़ाई जासकती है। परन्तु इसमें भी एक बड़ी बाधा है। लंबे रेशेदार कपासको देशी कपासकी अपेक्षा अधिक समय लगता है और उसके बोनेमें खर्च भी अधिक लगता है इस लिए जब तक किसानोंको लंबे रेशेदार कपासकी कीमत देशी कपासकी कीमतसे काफी अधिक नहीं मिलती तब तक वे उसको बोना उचित न समझेंगे। आज कल कई कारणोंसे किसानोंको अपने कपासकी उचित कीमत नहीं मिल पाती। बीचके दलाल उनका बहुतसा मुनाफा हड़प कर जाते हैं।

[अप्रैलकी प्रभासे]

* * *

शराबखोरीका प्रश्न।

शराबखोरीके बन्द होनेसे अमेरिकाके श्रमजीवियोंको बड़ा आर्थिक लाभ हुआ। इसका प्रमाण यह है कि शराब बन्द होते ही अमेरिकाके बंकोंमें बहुत रुपया जमा होने लगा। सियेटल वाशिंगटन-के बंकमें जिस साल शराब बंद हुई उसी साल १ करोड़ ८० लाख डालर अधिक जमा हुआ अर्थात् पहिलेसे २१ फी सैकड़ेकी वृद्धि हुई। इस संबंधमें ब्रेवोर्ट सेविंग बंक न्यूयार्कके सभापति लिखते हैं कि बहुतसे लोगोंने मुझसे कहा कि अपने जीवनमें पहिले पहल हम यह रुपया जमा कर रहे हैं, नहीं तो पहिले हम कमाईकी बचतको शराब पीकर उड़ा देते थे। शराब बंद होनेके ९ महीने बाद अमेरिकाके सरकारी बंकोंमें १ अरब ४२ करोड़ २८ लाख ३ हजार डालर अधिक जमा हुआ और ८ लाख ८० हजार ९४९ नये खाते खुले।...शराब बंद होनेसे नीग्रो जातिको भी बड़ा आर्थिक लाभ हो रहा है। हालमें ही समस्त अमेरिका भरमें इस जातिकी हैसियत १ अरब १८ करोड़ डालरकी बतलायी गयी है। संवत् १९७६ (१९१९ ईसवी) में इनकी हैसियत सिर्फ ५७ करोड़की थी। इस उन्नतिके और भी कारण हो सकते हैं लेकिन इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि इसका एक प्रधान कारण शराबका बंद होना भी है ...।

शराब बंद होनेसे अमेरिका निवासियोंका स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा हो गया है। शिकागोके वाशिंगटन होम नामक अस्पतालमें अब मुश्किलसे १८ महीनेमें १२ शराबके रोगी आते हैं।...पहिले एक महीनेमें लगभग ६५ रोगी आते थे। शराबका जहां प्रचार होता है वहां इसके नशेमें आत्महत्या भी खूब होती है। बास्टन नगरमें एक सालमें इस प्रकारकी ६५ आत्महत्याएं होती थीं। शराब बन्द होनेके बाद पहिले ही सालमें इसकी संख्या १२ हो गयी। शराब बंद होनेसे गरमी सुजाक इत्यादि रोगोंकी संख्या भी बहुत घट गयी है। बोस्टन नगरमें शराब बंद होनेके बाद सात महीनोंमें पहिलेसे सुजाकके १ हजार ६३४ तथा गर्मीके ७५४ रोगी घट गये। पहिलेसे सुजाक सैकड़ा २८ तथा गर्मी सैकड़ा ३२ घट गया है। क्षय रोग भी धीरे धीरे घट रहा है।...लड़कोंकी मृत्यु संख्या भी घट गयी है। न्यूयार्क शहरमें संवत् १९७५ (सन् १९१८) में १२,५६७ लड़के मरे थे अर्थात् एक हजारमें ९२ बालक मरते थे। संवत् १९७६ (सन् १९१९) में १०,६३९ लड़कोंकी मृत्यु हुई अर्थात् एक हजारमें ८२ बालक मरे। बड़े बड़े डाकृरोंकी सम्मतिमें शराबबंदी ही इसका कारण है। इसी प्रकार पागलपन तथा अन्य प्रकारके रोग भी घट रहे हैं। शराब बंद होनेसे साधारण अपराधोंकी संख्या भी घट गया है। आवारों और भिखमंगे भी कम हो रहे हैं। सनफ्रांसिसकोंमें शराब बंद होते ही २ महीनोंमें आवारोंकी संख्या एक तिहाई घट गयी। बास्टनमें सं० १९७६ के अगहनसे ७७ के अगहन (नवंबर १९१९ से नवंबर १९२०) तक जाल लेनेके अपराधकी संख्या ८३ से ६६ हो गयी। खूनके अपराधकी संख्या ७५ से ४५ हो गयी और प्राण लेनेके हेतु आक्रमण करनेके अपराधकी संख्या ७७ से ४५ हो गयी। इसी प्रकार चोरीके लिये गिरफ्तारीकी संख्या ३,११७ से २,६९९ हो गयी। दूसरेका धन हरण करनेके लिये मारपीट करनेके अभियोगमें गिरफ्तारोंकी संख्या ७१७ से ५६१ हो गया। जेलोंमें भी कैदियोंकी संख्या घट रही है।... न्यूयार्क लारेंस कंट्रीमें २ लाख डालर खर्च कर एक जेल बनायी जाने वाला था लेकिन शराब बन्द होनेके बाद अपराधियोंकी संख्या इतनी घट गया कि अब नया जेल बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। इंडियानामें संवत् १९७६ के २ चैत्र (२ अप्रल १९१९) को शराबखोरी बन्द कर गयी थी। अब वहां २४ जेल खाली हो गयी हैं और बाकी ३४ में ५ से ज्यादा किसी जेलमें कैदी नहीं हैं। अमेरिकाके प्रत्येक नगरमें यही हाल हो रहा है।

['माघ' की मर्यादासे]

श्री शास्त्रीजीकी विदेशयात्राका व्यय ।

अमेरिका और यूरोपमें श्री श्रीनिवास शास्त्री क्या कर रहे हैं और क्या कह रहे हैं भारतको इसके समाचार भेजनेमें 'रूटर' सदा सजग रहता है। निस्सन्देह अनेक शहरोंकी अनेक सभाओंमें शास्त्रीजीने पदार्पण किया है और मौका देख कर भारतको औपनिवेशिक स्वराज्य पानेके अधिकारपर भी जोर दिया है। किन्तु इतना सब कुछ कहने और करनेके बाद यह प्रश्न उठता है कि श्री शास्त्रीजीकी इस यात्राके कारण भारतीय करदाताओंको कितना व्यय-भार सहना पड़ा? क्या इस यात्राका परिणाम उसके व्ययके अनुरूप कहा जा सकता है? दक्षिण अफ्रीकामें जाति-द्वेषका प्रश्न ज्योंका त्यों बना है। कनैडा और आस्ट्रेलियामें भी जो कुछ हुआ है, वह इतना ही समझिये कि दृश्य देखने और शिक्षा प्राप्त करनेकी कुछ सुविधाएँ करदी गयी हैं।...... कोई भी असहयोगी भारतमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसके कारण देशकी और संसारका ध्यान इन निपुण वक्ताकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावयुक्त रूपमें खिंच जायगा। शास्त्रीजी जोरोंसे चिल्ला कर कहते हैं कि भारतवासी स्वेच्छाचारी शासनकी ओर लौटना सहन न करेंगे। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि शास्त्रीजी वास्तवमें भारतको अन्य स्वावलम्बी देशोंके पदपर पहुंचाना चाहते हैं, किन्तु एक बात है। जब लार्ड रालिनसन (भारत सरकारके सेनाध्यक्ष) ने स्पष्ट रूपसे यह आशंका प्रकट की है कि सरकार और जनताके बीच शीघ्र ही शक्ति-परीक्षाकी संभावना है, तब क्या यह बात हम सोच सकते हैं कि श्री श्रीनिवास शास्त्रीकी वर्त्तमान नीतिका प्रभाव अन्तमें उनलोगोंपर पड़ेगा जो सचिन्त भावसे इस संभावनाकी बाट-जोह रहे हैं? इस समय भारतको सार्वजनिक हितकी कामना करनेवाले ऐसे व्यक्ति-समूहकी आवश्यकता है जो अपने ही खर्चसे देशकी उन्नतिका प्रयत्न करें। लन्दन, जेनीव्हा और वाशिंगटनकी यात्राओंसे तो हम थक गये। मुझे विदित हुआ है कि ब्रिटिश ग्वाइनाको जो प्रतिनिधि-मण्डल गया है उसके भारतीय सदस्योंको डेढ़ हजार रुपये मासिक (१०० पौण्ड) तथा यात्राके समय पहिले दर्जेका खर्च एवं लन्दनमें जब तक ठहरें तब तक इसके अतिरिक्त तीस रुपये रोज और दिया जाता है। देशभक्तके लिये यह कोई बुरी बात नहीं है।

[कैपिटल, १६ मार्च]

कोरिया और जापान ।*

न्यूयार्क अमेरिकासे प्रकाशित होने वाले लिटररी डाइजेस्टके सात जनवरी वाले अंकमें "जापानने कोरिया क्यों लिया" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। जापानने संवत् १९६७ में कोरियाकी स्वाधीनताका अपहरण किया था। उसकी इस नीतिके समर्थकों का कहना है कि खाद्य सामग्री प्राप्त करने एवं उसे उत्पन्न करनेके लिये स्थान पानेकी इच्छासे ही जापानने कोरिया प्रायद्वीपको अपने अधीन किया था।

(कोरिया लेनेके) पश्चात् यदि वहांका कोई निवासी किसी ऐसे स्थानमें स्वाधीनताकी पुकार कर बैठता जहां जापानी कर्मचारी उसकी आवाज सुन सकते थे तो वह बलवाई समझ लिया जाता था और उसे ऐसी अमानुषिक क्रूरताके साथ दण्ड दिया जाता था कि जिसकी निन्दा स्वयं जापानियोंने की है। जापानियोंका कहना है कि ज़मीनकी आवश्यकता, आर्थिक दबाव तथा बढ़ती हुई गोरांग जातियों, खासकरके रूस, के भयसे हमें कोरियाकी स्वतंत्रता छीन लेनी पड़ी, किन्तु हमने कोरियामें जो विशेष लाभदायक कार्य किये हैं उन्हें देख कर हमारा आक्रमण न्याय्य कहा जा सकता है।...कोरियापर प्रभुत्व स्थापित होनेके पूर्व एक जापानी पत्रके सम्पादकने उपालंभ पूर्वक लिखा था "हम अपने उन लाखों देश निवासियोंको कहां रखें जो हमारे देशमें अधिक हो रहे हैं। हमारे छोटेसे देशकी संकुचित सीमाके भीतर इतना स्थान नहीं है कि प्रतिवर्ष पचास लाखकी संख्यामें बढ़ने वाले जापान-निवासियोंका निर्वाह हो सके। हम उन सबोंकी हत्या तो कर नहीं सकते और न हम जापान-समुद्रको ही पूर कर उनके रहनेके लिये सूखी ज़मीन बना सकते हैं।"

इस प्रकार जब अपनी बढ़ती हुई जन-संख्याके निमित्त अमेरिका, आस्ट्रेलिया इत्यादिमें जापानने यूरोपियनोंकी तरह अपने उपनिवेश बसानेकी कोई गुञ्जाइश और तरकीब नहीं देखी तो लाचार होकर उसे कोरियाको निगल जाना पड़ा।

किन्तु कोरियन लेखक दूसरी ही बात कहते हैं। उनके विचार से जापानने आवश्यकता देखकर नहीं, प्रत्युत लालचसे प्रेरित होकर ही कोरियापर अपना कब्जा किया है। वह पूर्वमें शक्तिशाली राष्ट्र बनना चाहता है।...संवत् १९६१ के मंचूरियन युद्धके परिणाम स्वरूप कोरियापर जापानका संरक्षण स्वीकृत हुआ था। जापानको अपने सैनिक हितकी रक्षाके लिये इतना ही काफी था। किन्तु संरक्षणके अतिरिक्त और कुछ प्राप्त करनेकी चेष्टासे आन्तरिक भयकी आशंका अनिवार्य है।

* किसी अनिवार्य कारणसे यह अवतरण गत मासमें प्रकाशित न हो सका — सं० स्वा०

कोरियापर रूस, चीन और जापान—तीन तीन देशोंके दांत लगे रहे हैं। पहिले बहुत दिनोंतक वह चीनके कब्जेमें था, फिर युद्धके पश्चात् वह जापानके संरक्षणमें चला गया।

संवत् १९१७ (सन् १८६०) में रूसने चीनसे कुछ ऐसी रियायतें प्राप्त करलीं जिनके कारण जापान भयभीत हो गया। संवत् १९५१-५८ के चीन-जापान-युद्धके बाद चीनके साथ कोरियाको सम्बंध निश्चित रूपसे टूट गया और विजयी जापानने कोरियाकी स्वतंत्रता स्वीकृत करली। संवत् १९६१ के युद्धसे कोरियामें रूसकी पैठके मंसूबोंका भी निवारण हो गया और जापानने फिर कोरियाकी स्वतंत्रता मान ली। किन्तु संवत् १९६२ के १ मार्गशीर्ष (१७ नवम्बर) के समझौतेके अनुसार कोरिया जापानके संरक्षणमें रखा गया और पांच वर्षके बाद जापान-साम्राज्यमें ही संयुक्त कर लिया गया। कोरिया-निवासियोंका कहना है कि इस समझौतेकी शर्तें कोरियाके राजा और उसके सचिव-मण्डल द्वारा जबरदस्ती और छल पूर्वक स्वीकृत करायी गयी थीं।

यद्यपि जापानने कोरियामें कुछ "सुधार" अवश्य किये हैं, पर उनसे जापानके भयंकर अत्याचारोंका परिहार नहीं हो सकता। 'सुराज्य' और 'स्व-राज्य' में बड़ा भारी अन्तर है।

कोरियन लेखक श्री हेनरी चंग लिखते हैं कि कोरियापर जापानका प्रभुत्व स्थापित होना स्वेच्छाचार, अन्याय और उत्पीड़नकी पापपूर्ण कहानी है।—जिस समय एक ओर जापानके राजपुरुष यह सार्वजनिक घोषणा कर रहे हैं, कि हम कोरियनोंके साथ भाईकासा स्नेह करते हैं, ठीक उसी समय दूसरी ओर गांवके गांव चौपट किये जा रहे हैं, जेलके सीकचोंके पीछे निरपराध स्त्री-पुरुष मृत्यु पर्य्यन्त पीटे जा रहे हैं।

जापानको कोरियाकी आवश्यकताके सम्बंधमें उक्त लेखकका कहना है कि

एशिया महाद्वीपमें अधिक शक्तिशाली बननेके लिये जापानको कोरियामें मोर्चे बन्दी करना आवश्यक है ताकि वह समयपर कोरियाको अपनी सैनिक कारखाइयोंका केन्द्र बना सके। इस कारण, और सिर्फ इसी कारण, कोरिया पर आधिपत्य बनाये रखना जापानके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

जापानियोंने कोरियामें जो सुधार किये हैं उनके सम्बंधमें श्री चंग कहते हैं

यह सत्य है कि कोरियामें मार्ग बना दिये गये हैं, सड़कें चौड़ी कर दी गयी हैं, सफाईमें उन्नति हुई है, तार और डाकका विस्तार अधिक कर दिया गया है और जंगलोंकी रक्षाको प्रोत्साहन दिया जाता है। किन्तु इन सब बातोंके लिये कोरिया निवासी रुपया खर्च करते हैं, जंगलोंकी रक्षा जिस मात्रामें की गयी है, उसकी अपेक्षा सौ गुनी मात्रामें वहांके अस्पृष्ट जंगल उजाड़ दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इन भौतिक सुधारोंपर बारीकीसे विचार करनेपर मालूम होगो कि सिर्फ वे ही सुधार किये गये हैं जिनसे जापानियोंका हित हो। उनसे

यदि कोरियावासियोंकी भी भलाई हो गयी तो इसे अनुद्दिष्ट और आकस्मिक घटना ही समझिये।

(७ जनवरीके ' लिटररी डाइजेस्ट ' से)

* *

*

प्राचीन भारतमें मनुष्य गणना

मेगस्थनीजने लिखा है—" मनुष्योंके जन्म एवं मरणके विषयमें अनुसन्धान करना एवं कितने मनुष्य किस तारीखको किस कारणसे मरे यह लिखना तृतीय श्रेणीके कर्म चारियोंका मुख्य काम था। सभी सम्प्रदायके लोगोंके जन्म-मृत्यु-विवरण जिसमें सर्व साधारण जान सकें, इसी उद्देश्यसे मनुष्य गणना की जाती थी। इससे कर वसूल करनेमें भी बड़ा सुभीता होता था।

कौटिल्यके अर्थ शास्त्रमें भी इस विषयका यथेष्ट प्रमाण मिलता है। सम्राट चन्द्रगुप्तकी राज्य-शासन-प्रणालीका भी मनुष्य गणना एक प्रधान अंग था। यद्यपि आजकी मनुष्यगणनाकी रीति-नीतिमें उस समयकी गणनासे बहुत भेद है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय भी मनुष्य-गणना करना राजकर्मचारियोंका कर्त्तव्य था। चन्द्रगुप्तके शासनकालमें किसी निर्द्दिष्ट समयमें मनुष्यगणना न होती थी। राजसभाके मुख्य मुख्य सदस्योंकी रायसे किसी भी समय काम शुरू हो जाता था। उस समय मनुष्य-गणनाका विभाग ही अलग था। इस विभागमें असंख्य कर्मचारी नियुक्त थे। इस विभागके सर्वोच्च अधिकारी " समाहर्ता" कहलाते थे। समाहर्ताके अधिकारमें जो प्रदेश रहते थे वे चार भागोंमें विभक्त किये जाते थे। इस प्रत्येक भागके मुख्य अधिकारी "स्थानिक" कहलाते थे। "स्थानिक" की अधीनतामें अनेक कर्मचारी काम करते थे। प्रत्येक कर्मचारीपर १० या ५ गांवोंके मनुष्यों की गणनाका भार रहता था। ये कर्मचारी "गोप" कहलाते थे। इनके अतिरिक्त और एक प्रकारके कर्मचारी थे जो "प्रदेष्टार" कहलाते थे। आज कलके शब्दोंमें इन्हें "इन्स्पेक्टर" भी कह सकते हैं क्यों कि इनका यही काम था कि "स्थानिक" तथा " गोप" गण अच्छी तरह काम करते हैं या नहीं इसकी तहकीकात किया करें।

निर्द्दिष्ट ग्राम अथवा नगरके मनुष्योंकी गणना करना, कौन आदमी किस उपायसे अपना जीवन निर्वाह करता है यह लिखना, प्रत्येक व्यक्तिके आयव्यय तथा उसके चरित्रका निरूपण करना एवं प्रत्येक गृहस्थ द्वारा पालित पशुओंकी गणना करना गोप गणोंका प्रधान कार्य था।

[बंगला "प्रवासीसे"]

सम्पादकीय।

भारतकी आर्थिक स्वतन्त्रता।

भारतमें जो नूतन "शासन-सुधार" किये गये हैं, उनके कारण भारतीय व्यवस्थापक सभाओंको भी अपने देशकी अर्थनीतिका सञ्चालन करनेमें थोड़े बहुत अधिकार प्राप्त हो गये हैं। इन अधिकारोंके मिल जानेसे यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत पूर्णरूपसे क्या, सन्तोषजनक मात्रामें भी आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुका है—सैनिक व्ययपर मत देनेका अधिकार व्यवस्थापक सभाको है ही नहीं, अन्य विषयोंमें भी यदि वाइसराय महोदय चाहें तो अपने विशेष अधिकारका प्रयोग कर उसके निर्णयको रद्द कर सकते हैं—फिर भी आर्थिक मामलोंमें भारतकी इस आंशिक स्वतन्त्रतासे भी किसी किसीको ईर्ष्या होने लगी है।

यह तो हम गत मासमें दिखला ही चुके हैं कि संवत् १९७९ के आय-व्ययके लेखेमें कुल मिलाकर ३१¾ करोड़की घटीका अनुमान किया गया है। इस घटीका सामना करनेके लिये भारत सरकारके अर्थ-सचिव सर मेलकम हेलीने भिन्न भिन्न करोंकी वृद्धिका जो प्रस्ताव किया था उसका भी संक्षिप्त उल्लेख हम गत मासमें कर चुके हैं। किन्तु अर्थ-सचिव जितनी कर-वृद्धि चाहते थे उतनी नहीं की जा सकी। व्यवस्थापक सभाने येन-केन-प्रकारेण ९¼ करोड़की कर-वृद्धि रोक दी। बस उसकी यह ढीठता लन्दनके "टाइम्स" पत्रको सहन न हुई। क्रोधके मारे वह आपेसे बाहर हो गया। इस अवस्थामें उसने जो उद्गार प्रकट किये हैं, वे पढ़ने लायक़ हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतकी आर्थिक स्वतन्त्रताके सम्बन्धमें ब्रिटिश जनताके कमसे कम एक भागके विचार कितने संकीर्ण हैं। जिस "टाइम्स" पत्रने इंग्लैण्डकी 'गेडीज़ कमिटी' नामक व्यय-भार-हरण-समितिका ज़ोरोंसे समर्थन किया था और जिसने भारतके सैनिक व्ययको भी असह्य (क्रशिंग) बतलाया था, उसे ही भारतीय व्यवस्थापक सभाके इस कार्यपर ऐसी टिप्पणी करते देखकर आश्चर्य होता है।

"टाइम्स" की सम्मतिमें कर-वृद्धिके विरुद्ध ज़रा भी चूँ-चाँ करना आर्थिक स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करना और नूतन सुधारोंकी असफलता प्रमाणित करना है! वह कहता है कि "न दिल्लीमें और न भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें ही नूतन व्यवस्थापक सभाएँ सफल हो रही हैं, इस लिये यह बतला देना आवश्यक है कि सुधार विना शर्तके नहीं दिये गये थे।" इस धमकीका यही आशय है कि यदि व्यवस्थापक सभावालोंने जरा भी ऊधम मचाया तो उनके हाथसे सुधार छुड़ा लिये जायँगे। बड़ी आफत है "सुधारों"का समादर करनेवाले व्यवस्थापक सभाओंके सदस्य तो स्वयं ही इस तरह फूँक फूँककर पांव रखते चल रहे हैं कि जिसमें कोई यह न कह बैठे कि तुमने अपने नूतन अधिकारोंका दुरुपयोग नहीं किया। इतना होनेपर भी यदि उन्हें सुधारोंको असफल करनेका दोष दिया जाय तो इससे बढ़कर परेशानी उनके लिये और क्या होगी! अस्तु।

हमारा ख्याल यह है कि यदि देशी वस्त्रोंपर कर बढ़ा दिया जाता या विलायतसे आनेवाले सूती कपड़ोंपर आयात-कर कम कर दिया जाता तो संभवत: "टाइम्स" यहांकी व्यवस्थापक सभाओंपर यह दोषारोपण कदापि न करता। इतना ही नहीं, वह कदाचित् उनकी काफी प्रशंसा करनेमें भी पीछे न हटता। साथही लंकाशायरवाले तथा और भी बहुतेरे लोग व्यवस्थापक सभाकी पीठ ठोकनेको तैयार हो जाते। 'सुधारों' को सफल करनेका आशय यही है कि चाहे भारतका हित होता हो या अहित, साम्राज्यके और विशेष करके इंग्लैण्डके, हितकी रक्षाका ध्यान अवश्य रखो। भारतको जो आर्थिक स्वतन्त्रता दी गयी है, क्या उसका यही अभिप्राय है कि देशके भीतरी मामलोंमें चाहे जो रद्दो-बदल कर लिया जाय पर जिन बातोंका सम्बन्ध विलायतसे हो उनमें, अपना अहित देखते हुए भी, हस्तक्षेप न किया जाय? बलिहारी ऐसी आर्थिक स्वतन्त्रताकी!

नूतन विधानोंके अनुसार यह निर्धारित किया गया था कि यदि भारत सरकार और बड़ी व्यवस्थापक सभामें मतैक्य हो तो ऐसे अवसरपर भारतमंत्री उनकी कारवाईमें हस्तक्षेप न करेंगे। इतना जानकर भी "टाइम्स" के समान सुप्रसिद्ध पत्र भारतीय व्यवस्थापक सभाओंको अपनी आर्थिक स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करनेका दोष लगाता है और पार्लमेण्टके लंकाशायरवाले सदस्य बारम्बार भारतीय आर्थिक मामलोंमें हस्तक्षेप करनेके लिये भारतमंत्रीपर दबाव डालनेकी चेष्टा करते हैं। गत वर्ष जिस समय विदेशी कपड़ोंपर आयात कर मूल्यके अनुसार ७½ के स्थानमें ११ फी सैकड़ा किया गया था, उसके बाद लंकाशायरवालोंने उसे कम करानेके लिये अपना एक प्रतिनिधिदल तत्कालीन भारतमंत्री श्री मांटेगूके पास भेजा था। अपने इस प्रयत्नमें असफल होनेपर भी उन्होंने फिर इसकी चेष्टा की एवं इस बार आयात करकी पुनर्वृद्धिका प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाने पर भी उन्होंने श्री मांटेगूके पद-त्यागके बाद ही नये भारत-मंत्री लार्ड राबर्ट पील महोदयके पास अपना प्रतिनिधि-मण्डल भेज ही दिया। कहा जाता है कि वर्त्तमान भारतमंत्री लंकाशायरके रहनेवाले हैं और लंकाशायरवालोंसे उनकी सहानुभूति है। चाहे जो हो, यदि हम नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टिसे विचार न भी करें, तो भी भारतकी नूतन शासन-व्यवस्थाके ही अनुसार भारतमंत्रीको इस मामलेमें हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है। अत: यदि लंकाशायरवाले अपनी आपत्ति सुनाने और अपने पक्षमें किसी बातकी रियायत करानेके लिये प्रतिनिधि भेजना ही चाहते हैं तो सीधे भारतको क्यों नहीं भेजते?

भारत सरकार तो खुदही विलायत वालोंके हितका ध्यान रखती है पर क्या करे राजनीतिक चातुर्यके कारण उसे मौके मौकेपर भारतीयोंकी माँग भी तो स्वीकृत करनी पड़ती है। गत वर्ष जब आयात-करकी वृद्धि की गयी थी तब लंकाशायर वालोंका लक्ष्य कर ही श्री हेलीने कहा था "हमें विश्वास है कि इंग्लिस्तानमें रहनेवाले हमारे भाई हमारा वास्तविक उद्देश समझ कर यह न कह उठेंगे कि नूतन अधिकार प्राप्त होते ही तुमने 'संरक्षण' नीति धारण कर ली और टेक्स बढ़ाकर अपने देशमें हमारे कपड़ेकी खपत

कम करनेका प्रयत्न किया।" इसबार जब देशी कपड़ोंपर कर बढ़ाना व्यवस्थापक सभाने अस्वीकृत कर दिया तब आयात करकी वृद्धिसे लंकाशायरवालोंकी अप्रसन्नताका ख्याल कर ही श्री रोड्सने उसे न बढ़ानेका प्रस्ताव उपस्थित किया। ऊपरसे चाहे जो कहा जाय पर वास्तवमें बात यही है। अर्थ-सचिवने भी आयात करकी वृद्धिको अनावश्यक बतलाते हुए कहा कि "मेरी भावना है इस कर-वृद्धिसे उतनी आमदनी न होगी जितनी गड़बड़ी मचेगी।" इसी समय किसीने चुपकेसे "मैनचेस्टर" का नाम ले दिया। हेली महाशय बड़े बिगड़े। आपने ज़ोरदार, ऊंची और क्रोधभरी आवाज़से कहा "मैं सौवीं बार कहता हूं कि हमारी नीतिपर बाहरी लोगोंका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है। आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनेकी दृढ़तामें सभाके एक भी सदस्यकी अपेक्षा भारत सरकार किसी क़दर कम नहीं है।" अगर वास्तवमें ऐसा है तो ग़नीमत समझिये।

जब देशी कपड़ोंपर लगनेवाले महसूलकी वृद्धिका प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया तो सरकारकी स्थिति बड़ी शोचनीय हो गयी। बड़े लाटको विदेशीय कपड़ोंकी प्रस्तावित कर-वृद्धि स्वीकृत होनेपर या तो देशी कपड़ोंके करके सम्बन्धका व्यवस्थापक सभा द्वारा किया गया निश्चय अपने विशेष अधिकारसे रद्द करना पड़ता या फिर उन्हें लंकाशायरवालों तथा उनके मित्रोंकी तीव्र आलोचनाका तूफ़ान सहनेके लिये तैयार होना पड़ता। भारतमंत्री तथा भारत सरकारकी नीतिके सम्बन्धमें आजकल इंग्लैण्डमें जैसी हवा बह रही है, उसके कारण सम्भव है, आयात करकी वृद्धिपर इतना विरोध उठ खड़ा होता कि जिसके कारण वाइसराय महोदयको भी त्यागपत्र देनेके निमित्त बाध्य होना पड़ता। किन्तु भारत सरकारके सौभाग्यसे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न ही न होने पायी। बड़ी व्यवस्थापक सभाके "राष्ट्रीयदल" तथा 'लोकतन्त्रवादी' दलके सदस्योंने आपसमें कुछ मंत्रणा कर अपना विरोध लौटा लिया और आयातकर न बढ़ानेका श्री रोड्सका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। यद्यपि इस प्रस्तावके कई समर्थकोंने प्रधानतया यही दिखलानेकी चेष्टा की कि यह कर बढ़ा देनेसे कपड़ोंका उपयोग करनेवाली गरीब जनताका बड़ा नुक़सान होगा, कर-वृद्धिके कारण कपड़ा महँगा हो जायगा और लोग अपनी आवश्यकताएँ पूरी न कर सकेंगे—फिर भी हम यह बात माननेको तैयार नहीं हैं कि उक्त निश्चयके साथ इंग्लैण्डवालोंके हितके लक्ष्यका ज़रा भी सम्बन्ध नहीं है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं आयात-करकी वृद्धिके विरोधमें अर्थ-सचिवने तीन बातोंका उल्लेख किया। एक तो यह कि इससे आमदनीकी विशेष वृद्धि न होगी, दूसरे उसके कारण अनभिलषित परिणामोंकी आशंका है और तीसरे कपड़ा पहिरनेवालोंको कष्ट उठाना पड़ेगा। अब विचार करनेकी बात है कि जिस समय अर्थ-सचिवने आय-व्यय-पत्र तैयार किया था उस समय उन्हें इन बातोंका ख्याल क्यों न आया? क्या किसी कारणसे वे उस समय किसी घोर निद्रामें निमग्न हो गये थे? यदि नहीं तो दस ही पांच दिनोंके भीतर ऐसी कौन सी घटना हो गयी कि जिससे उक्त तीन बातोंकी आशंका

प्रतीत होने लगी ? आयातकरकी वृद्धिको अनावश्यक प्रमाणित करनेवाले ये तीनों कारण बजट बनाते समय भी उसी रूपमें मौजूद थे जिसमें कि वे श्री हेलीको अपना भाषण करते समय दृष्टिगोचर हुए। अस्तु।

बाहरी बातोंके प्रभावका उल्लेख करते हुए "न्यूइंडिया" का संवाददाता लिखता है "श्री माण्टेगूके इस्तीफेके कारण बड़ी व्यवस्थापक सभाके सदस्यों ने, देशके हितको यथासंभव लक्ष्य रखते हुए, सरकारकी सहायतापर कमर बाँधी ," उसकी सम्मतिमें "सभापर लन्दनवालोंको प्रभाव बढ़ रहा है, संभव है वह समय शीघ्र आ जावे जब कि भारतकी अर्थ-नीतिका नियंत्रण दिल्लीसे न होकर 'ह्वाइट हाल' से ही होने लगे।' यदि वास्तवमें यह शंका सत्य हो तो इस कुप्रवृत्तिको रोकनेका उपाय जितना शीघ्र होसके होना चाहिये, अन्यथा भारतकी "आर्थिक स्वतंत्रता" का कोई अर्थ ही न रह जायगा।

* *

*

आसामके कुलियोंकी आर्थिक दशा।

इस मासके "ज्ञातव्य विषय तथा अंक" शीर्षकमें प्रकाशित अंकोंको देखनेसे प्रकट होगा कि आसाममें चायके कुलियोंको जो मासिक पारिश्रमिक मिलता है, वह कितना कम है। बम्बईके "लेबर गजट"में प्रकाशित विवरणके अनुसार गतवर्ष प्रत्येक (पुरुष) कुलीका मासिक वेतन सात रुपये तीन पैसे था। स्त्रियोंको माहमें पाँच रुपये बारह आने सात पाई और बालकोंको तीन रुपये, सात आने, दस पाई मजदूरी मिलती थी। इसमें 'टिक्का' अर्थात् अतिरिक्त कामकी मजदूरी तथा 'विशेष पुरस्कार' इत्यादि भी शामिल हैं। यदि उक्त पारिश्रमिकमें इन सब बातोंकी गणना न की जाय तो उसकी वास्तविक मात्राका पता लगे। इस रीतिसे संभवतः यह रक़म लगभग छः रुपये मासिक ही निकले। इतने थोड़े पारिश्रमिकसे अकेले आदमीका निर्वाह होना भी मुशकिल है। फिर जिनके घरमें दो तीन छोटे छोटे बच्चे तथा बूढ़ी मा या अन्य दो चार व्यक्ति हैं वे अपनी ज़िंदगी कैसे काटते होंगे, इसकी कल्पना भी करना कठिन है। यदि घोर जाड़ेके दिनोंमें भी वे अपने शरीरकी रक्षाके लिये काफी वस्त्र न खरीद सकें एवं दिनभरमें दो बार नहीं तो एक बार भी समुचित भोजन न पा सकें तो इस अवस्थामें उनका जीना न जीना बराबर ही है। गतवर्ष ज्येष्ठ आषाढ़में जब आर्थिक संकट तथा अन्य दुःखोंके कारण आसामके कुली असन्तुष्ट होकर अपने घरोंको लौट रहे थे तब उनके पास न रेल किराया था और न दो चार दिनके लिये खानेकी सामग्री ही थी। अनेक स्त्रियोंके शरीरपर फटे पुराने वस्त्र तक न थे और उन्हें लज्जा-निवारणके लिये कागज लपेट कर ही गुजारा करना पड़ा था। इतनेपर भी आसामकी सरकार यह दिखलानेकी चेष्टा करती है कि वहांके मज़दूर बड़े सुख और आरामसे रहते हैं। "वे गाय रख सकते हैं, उसका

दूध पी सकते हैं और रियायती लगानपर बागीचोंकी ज़मीन जोतकर तरकारी इत्यादि उत्पन्न कर सकते हैं ।" गाय ही नहीं उन्हें आप घोड़ा, ऊंट, हाथी इत्यादि रखनेकी भी 'अनुमति' क्यों न दे दीजिए, पर इससे उनका क्या लाभ होगा ? उनके पास इतनी पूंजी भी तो होनी चाहिये कि जिससे वे गाय इत्यादि खरीद सकें । हम नहीं कह सकते कि आसाममें फी सैकड़े कितने कुलियोंके पास दूध खानेके लिये गायें मौजूद हैं । पारिश्रमिककी उक्त तालिका तथा गतवर्ष दयालु-हृदय श्री सी. एफ. एण्ड्रूजके मुखसे उनकी दुःख गाथा सुनकर हमें ज़रा भी विश्वास नहीं होता कि सौ पीछे १५-२० कुली भी आसाम सरकारकी इस " रियायत " से लाभ उठा सकते होंगे ।

आगे चलकर आसाम सरकार द्वारा की गयी अन्य सुविधाओंका भी उल्लेख है । "उन्हें रहनेका स्थान मुफ्त दिया जाता है और बीमार होनेपर डाक्टर साहब मुफ्त ही उनका मुलाहिजा कर देते हैं ।" सबसे बड़ी बात तो यह है कि "उन्हें पानी काफी मात्रामें दिया जाता है" (गुड सप्लाई आफ वाटर) ! यह भी सरकारकी ही कृपाका फल है, नहीं तो मज़दूरोंको शायद चुल्लूभर पानी भी न मिलता क्योंकि आसाम भी तो एक प्रकारका 'मारवाड़' ही है !

मज़दूरोंके साथ एक और भी रियायत की जाती है । उन्हें बाजारसे कुछ कम भावपर चावल मिल सकते हैं । इस प्रकार गतवर्ष कुल ५२ लाख १८ हजारके चावल बेचे गये थे, जिन्हें खरीदनेके लिये ७४ लाख ७६ हजार रुपये लगते अर्थात् मज़दूरोंको २२ लाख ६० हजार रुपयेकी बचत हुई । अब ज़रा देखिये प्रत्येक मनुष्यको इससे कितना लाभ हुआ । रिपोर्टसे मालूम होता है कि आसाममें उस समय छः लाखसे ऊपर मजदूर थे । अतः वर्ष भरमें फी मजदूरने पौने चार रुपये अर्थात् पांच आने प्रतिमासका लाभ उठाया !

यह तो हुई मजदूरी, 'पुरस्कार' तथा रियायतोंकी बात । अब प्रश्न यह है कि इन सब बातोंके होते हुए भी क्या उन लोगोंकी दशा किसी प्रकार सन्तोषजनक कही जा सकती है ? जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इतनी कम मजदूरीसे अकेले मनुष्यका भी ठीक ठीक निर्वाह नहीं हो सकता । इस समुन्नत बीसवीं शताब्दीमें ब्रिटिश राज्यके मजदूरोंकी हालत देखकर बड़ा तरस आता है । वास्तवमें यदि हम केवल उनकी आर्थिक दशाका ही ख्याल करें तो भी हम उसे सन्तोष-जनक नहीं मान सकते । किन्तु आर्थिक कठिनाइयोंके अतिरिक्त उन्हें और भी कष्टोंका सामना करना पड़ता है । एक तो आसामकी आब-हवा स्वास्थ्यके लिये हानिकर है, दूसरे कई बार बीमार रहनेपर भी उन्हें चायके खेतोंपर काम करनेके लिये जाना पड़ता है । चायके खेतोंके मालिक गोरे साहबोंकी सहानुभूति इनकाले मजदूरोंके प्रति भला कैसे हो सकती है ? चाहे किसीका स्वास्थ्य अच्छा हो और चाहे खराब, उनके काममें बाधा न पड़नी चाहिये । इन अत्याचारोंका थोड़ा बहुत उल्लेख गतवर्षके मई-जूनके "सर्वेंट" इत्यादि पत्रोंमें

प्रकाशित हुआ था। इसीसे हम कहते हैं कि इन लोगोंकी दशा किसी अंशमें भी सन्तोष दायक नहीं कही जा सकती। आर्थिक तथा नैतिक दृष्टिसे उनकी अवस्था ब्रिटिश राज्यके लिये लज्जा और कलंककी बात है।

जेनेवाके अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलनमें भारतकी ओरसे भी एक प्रतिनिधि रहेगा। भारत सरकार इस कार्यके लिये किसी सरकारी कर्मचारीको नियुक्त करनेका विचार कर रही है। हम नहीं समझ सकते कि इससे भारतका क्या हित होगा। यहांके श्रमजीवियोंकी अवस्थाका वास्तविक दिग्दर्शन कराना किसी सरकारी कर्मचारीके लिये असंभवप्राय है। इस कार्यके लिये तो श्रमजीवियोंके द्वारा ही चुने गये अथवा किसी अन्य ऐसे गैरसरकारी सदस्यको नियुक्त करना उचित होगा जो यहांके मजदूरोंके कष्टों और उनकी आवश्यकताओंका पर्याप्त परिचय प्राप्त कर चुका हो। यदि ऐसा न किया गया तो यहांके श्रमजीवियोंको सरकार द्वारा नियुक्त प्रतिनिधिपर कोई विश्वास न होगा और न देशको उससे विशेष लाभ ही होनेकी आशा हो सकती है।

* *

*

दक्षिण आफ्रिकामें भारतीय।

दक्षिण आफ्रिकामें भारतीयोंके साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता है उसकी ओर भारत सरकार, ब्रिटिश सरकार, और आफ्रिकाकी 'यूनियन सरकार' का भी ध्यान बारम्बार आकर्षित किया गया है, किन्तु अभी तक वहाँके भारतीयोंकी शिकायतें दूर नहीं की गयीं। संसारको सभ्यताका पाठ पढ़ानेका दम भरनेवाले गौरांग यूरोपियनोंके ही भाई बंधु आफ्रिकामें भारतीयोंके साथ ऐसा कुत्सित बर्त्ताव करते हैं कि जिसके श्रवण मात्रसे उनकी "समुन्नत सभ्यता" में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इनके अत्याचारोंके कारण ही महात्मा गांधीको दक्षिण आफ्रिकामें सर्वप्रथम पवित्र सत्याग्रह आन्दोलनकी आयोजना करनी पड़ी थी। भारतीयोंको मानवोचित अधिकार दिलानेके लिये तथा उनके साथ किये गये उद्दण्ड, अमानुषिक और अन्यायपूर्ण दुर्व्यवहारको दूर करानेके लिये उन्होंने जो अनवरत परिश्रम किया था, उसका संक्षिप्त हाल संभवतः आज किसी शिक्षित भारतवासीको अविदित न होगा। इसमें सन्देह नहीं कि महात्माजीके घोर प्रयत्नके कारण वहाँके भारतीयोंकी बहुतेरी शिकायतें दूर हो गयी थीं अथवा उनके दूर होनेकी आशा हो गयी थी। इधर भारतमें भी नेताओंके प्रयत्नसे एवं सार्वजनिक उत्तेजनासे प्रभावित होकर बड़े लाट श्रीहार्डिंग महोदयने भी भारतीयोंके पक्षका समर्थन किया और कुली प्रथा बन्द करादेनेमें उन्होंने सहायता दी। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इन लोगोंके प्रयत्नसे आफ्रिकाके भारतीयोंकी शिकायतें बहुत कुछ दूरहो गयी थीं, पर न तो उनके कारण सर्वथा नष्ट ही हुए थे और न ये लोग वहाँके गौरांग निवासियोंकी मनोवृत्ति बदलनेमें ही समर्थ

हुए थे। यही कारण है कि दक्षिण आफ्रिकाकी समस्या आज भी प्रायः उसी रूपमें वर्त्तमान है जिस रूपमें उस समय थी। अभी उस दिन औपनिवेशिक मंत्री श्री चर्चिलके भाषणके कारण बड़ी व्यवस्थापक सभामें बड़ा असन्तोष प्रकट किया गया था और इसकी सूचनाका तार ब्रिटिश सरकारके पास भी भेजा गया था।

इसी प्रश्नके संबन्धमें अभी ८ चैत्र(गत २२ मार्च) को एक भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल भी लार्ड रेडिंगसे मिला था। प्रतिनिधियोंके वक्तव्यसे प्रकट होता है कि यद्यपि "केप" प्रान्तमें भारतीयोंकी परिस्थिति प्रायः सन्तोषजनक है तो भी नेटाल, ट्रांसवाल तथा आरेंज फ्री स्टेटमें ऐसी बात नहीं है। नेटालमें भारतीयोंको राजनीतिक निर्वाचनाधिकार प्राप्त नहीं है। म्यूनिसिपालटीके निर्वाचनाधिकार उन्हें अवश्य प्राप्त हैं, पर आज तक म्यूनिसिपालटीमें कोई हिन्दू सदस्य नहीं चुना गया, यद्यपि उक्त प्रान्तमें भारतीयोंकी संख्या लगभग सवा लाख है। राजनीतिक अधिकार प्राप्त न होनेके कारण भारतीयोंके विरुद्ध जो बहुतसी रुकावटें डाल दी गयी हैं, उन्हें दूर करानेमें वे लोग असमर्थ हैं। नेटालमें यह भी भय है कि म्यूनिसिपल सदस्यके निर्वाचनका अधिकार भी भारतीयोंके हाथसे छिन जाय। ट्रांसवालकी हालत और भी खराब है। वहांके भारतीयोंको यह अधिकार भी प्राप्त नहीं है। ज़मीन रखनेका भी अधिकार अब छिन गया है। आरेंज फ्री स्टेटमें तो भारतीयोंको कोई अधिकार ही प्राप्त नहीं है। वे वहां घरू नौकरकी तरह ही रह सकते हैं, अन्य किसी रूपमें नहीं।

वाइसराय महोदयने प्रतिनिधिमण्डलके प्रति बड़ी सहानुभूति दिखायी। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आपने नेटाल, ट्रांसवाल तथा आरेंज फ्री स्टेटके भारतीयोंकी उक्त परिस्थितिकी सत्यता स्वीकार करली है। आपने कहा कि हम इस सम्बन्धमें लिखा पढ़ी कर रहे हैं, पर एक बात है, हमें आफ्रिकन सरकारकी घरू बातोंमें हस्तक्षेप न करनेका सिद्धान्त मानना पड़ेगा। यह मामला कहां तक "घरू" समझा जा सकता है, इसकी भी कोई सीमा है। खैर, इस सम्बन्धमें हम कुछ नहीं कहना चाहते। हम तो यही जानते हैं कि एक जाति दूसरी जातिके प्रति ऐसा बर्त्ताव तभी कर सकती है जब तक वह उसे शक्तिहीन देखती है। यदि भारत सरकार इस सम्बन्धमें जरा भी दृढ़ता दिखलावे तो संभव नहीं कि 'यूनियन सरकार' उसकी उपेक्षा इस निर्भीकताके साथ कर सके। किन्तु पराधीन भारतीयोंके निमित्त भारत सरकारसे दृढ़ताकी आशा दुराशामात्र है। यदि भारत सरकार ब्रिटिश साम्राज्यके भीतर भारतवासियोंकी ही रक्षा करानेमें एवं उन्हें साधारण नागरिकके अधिकार दिलानेमें असमर्थ हो तो ऐसी शक्तिहीन एवं निष्क्रिय सरकार अपनी प्रजाके हित-साधनमें कहां तक सचेष्ट हो सकती है, भगवान् जाने।

ज्ञातव्य विषय तथा अंक।

आसाममें चायके कुलियोंका मासिक वेतन।

संवत्	पुरुषोंका	स्त्रियोंका	लड़कोंका
१९६८	५।॥≡)११	४।≡)१	२॥≡)
१९६९	५।॥≡)	४॥-)५	२।॥-)१
१९७०	६-)३	४॥≡)५	२।॥-)७
१९७१	६)५	४॥≡)३	२।॥-)७
१९७२	६)४	५≡)६	२।॥≡)५
१९७३	६-)	५≡)८	३)७
१९७४	६।)३	५-)२	२।॥-)५
१९७५	६।-)१	५-)५	३-)४
१९७६	६।॥)१०	५॥≡)३	३।≡)७
१९७७	७)१	५।॥)७	३।≡)१०

[बम्बईके 'लेबर गज़टसे']

ओ३म् वन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३
खण्ड १

ज्येष्ठ १९७९

अङ्क २
पूर्णाङ्क २६

व्यावसायिक अधःपात ।

अर्थ शास्त्रमें उत्पत्तिके तीन साधन माने गये हैं—भूमि, श्रम, और पूंजी। इनमें से पूंजीके विषयमें कहा गया है कि यह संचित श्रम है। इस लिये वास्तवमें उत्पत्तिके दो ही साधन हैं भूमि और श्रम। सम्पत्ति इन्हींके द्वारा पैदा होती है और इन्हींमें बंट जाती है। सम्पत्तिके सम विभागके लिए यह जरूरी है कि सम्पत्तिकी उत्पत्तिके दोनों साधनों-को समान भाग मिले अथवा प्रत्येकको अपने अपने कामके अनुसार प्रतिफल मिले। यदि कोई ऐसा कारण उपस्थित हो जाय जो इन दोनों साधनोंको सहयोग पूर्वक कार्य करनेसे रोकता हो तो उसीको व्यावसायिक अधःपातका कारण समझना चाहिये।

आजकल भौतिक उन्नतिका जमाना है। सब लोग मशीनोंसे उत्पत्ति करना चाहते हैं। वे समझते हैं कि इससे उनके श्रमकी बचत होती है। मशीनोंके कारण श्रमकी उत्पादक शक्ति बढ़ जानेसे अल्पतम श्रमद्वारा अधिकतम उत्पत्ति होती है। फल इसका यह होता है कि श्रम खाली बचने लगता है और भूमिकी मांग बढ़ जाती है। भूमिकी मांग बढ़नेसे यह जरूरी बात है कि उसकी कीमत (अथवा लगान) बढ़ जाय और श्रमकी कीमत (भृतियां) कम हो जायं। इस प्रकार ज्यों ज्यों भौतिक उन्नति अधिक होती है त्यों त्यों भूमि और श्रम एक दूसरेसे दूर भागने लगते हैं। यह कहना सर्वथा असत्य है कि प्राकृतिक उन्नतिसे पूंजीपति अमीर होते हैं। पूंजीका बदला तो सूद है। यदि सूद बढ़ता तो यह कल्पना हो सकती थी कि पूंजीका बदला बढ़ रहा है। परन्तु सूद तो भृतियोंके समान ही लगातार कम हो रहा है।

हमारा तात्पर्य यह नहीं कि व्यावसायिक अधःपातका अन्य कोई कारण ही नहीं। हैं, और बहुतसे हैं। मशीनोंकी पेचीदगी और इतरेतराश्रय भावसे एक व्यवसायकी दुर्घटनाएँ सब व्यवसायों पर प्रभाव डालती हैं। कितनी ही बार मुद्राकी कीमतमें स्थिरता और विनिमयके मुख्य साधन कागज़ी सिक्के या हुण्डियां भी घट बढ़ कर व्यापार-व्यवसाय-को हानि पहुंचाती हैं। व्यवस्था और 'शान्ति' के नाम पर बने हुए स्वेच्छाचारी शासकोंके नियम तो गरीबोंको उठनेसे पहले ही दबा देते हैं। इनके राज्योंमें यदि लोग प्रति स्पर्द्धामें विदेशी व्यापारियोंको भी परास्त करने लगें तो घरेलू व्यापार पर भी कर लगने लगता है। यह सब कुछ है। परन्तु इन सबके मूलमें, मुख्य सिद्धान्त रूपमें काम करने वाला व्यावसायिक अधःपातका कारण यही भूमियोंकी कीमतका बढ़ना है।

भूमिकी मांग बढ़नेसे अल्पसे अल्प उपजाऊ भूमिसे उत्पत्ति होने लगती है। इससे लगान बढ़ता है और श्रम तथा पूंजीका भाग कम होता जाता है। यदि भूमिपतियों का बस चले तो वे इनका बदला शून्य तक पहुंचा दें। परन्तु वे ऐसा नहीं कर सकते कि मजदूरोंको जीवनावलम्बन मात्र देनेसे इन्कार कर दें। ऐसी दशामें वे श्रमसे काम ही न ले सकेंगे और कुछ न कुछ श्रम उत्पत्तिके लिये परमावश्यक है। परन्तु यह निश्चित बात है कि प्राकृतिक उन्नतिसे श्रमकी मांग कम होती जाती है और श्रमके अनुपातमें उत्पत्ति कम होने लगती है।

वर्त्तमान व्यवसाय-प्रणालीमें प्रायः सभी व्यवसाय एक दूसरेसे अत्यन्त सम्बद्ध हैं। इसलिए किसी एक व्यवसायमें उत्पत्ति कम होनेसे सब व्यवसायोंकी उत्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है। उत्पत्ति घटनेसे मांग कम होती है और मांग कम होनेसे उत्पत्ति और भी घट जाती है। परिणाम यह होता है कि व्यापार मन्दा हो जाता है।

यह हीन दशा व्यवसायमें तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक (१) भूमियोंके क्रयमें रुपया लगना कम न हो जाय या (२) जनसंख्या-वृद्धि अथवा किसी अन्य सुधारसे श्रमका प्रभाव बढ़कर भूमिकी मांग कम न करदे। अथवा (३) श्रम और पूंजी मिलाकर अल्प मात्रामें उत्पत्ति करने लगें। या उत्पत्तिके तीनों ही साधन मिलकर फिरसे समनु-पातिक रूपमें उत्पत्ति करें और जब फिर लगान बढ़ने लगे और भूमिकी मांग बढ़े तो फिर समनुपातिक रूपमें बढ़ें।

यह बात सर्व-सम्मत है कि हीन दशासे पहले व्यवसायमें बहुत ही उन्नति और स्फूर्ति मालूम होती है। प्रत्येक व्यक्ति भावी लाभकी आशासे रुपया लगानेमें मदान्ध मालूम होता है। व्यवसायकी इस हीनता और स्फूर्ति, तन्द्रा और जागृतिमें सब लोग सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। यदि मतभेद है तो इस बातमें कि जागृतिके बाद तन्द्रा किस प्रकार आती है।

कुछ विद्वानोंका मत है कि अधिक रुपया लगनेके कारण पदार्थोंकी उत्पत्तिमें अति हो जानेसे व्यवसाय मन्दा हो जाता है। वे मालगोदामोंमें भरे हुए मालको दिखाकर

कहते हैं कि मांग कम हो जानेसे इनकी बिक्री रुक गयी है। इसी लिए कारखाने बन्द पड़े हैं, मजदूर बेकार हैं, खानोंका खुदना रुका हुआ है, जहाज लंगर डाले पड़े हैं और रुपया बैंकोंमें अटका हुआ है। इन सब बातोंका कारण यह है कि देशमें पदार्थ बहुत अधिक मात्रामें बन गये हैं। इन विद्वानोंका यह भी कथन है कि लड़ाईके समय सरकारी मांग बढ़ जानेसे व्यवसाय जागृत हो जाता है। उदाहरणार्थ अमरीकामें गृह-कलहके समय और इंग्लैण्डमें वर्तमान महाभारतके समय इसी कारण व्यवसाय जागृत हो गया था।

दूसरे लोग कहते हैं नहीं, व्यवसायमें तन्द्रा आनेका कारण यह नहीं। वास्तवमें अधिक खपतके कारण व्यवसाय मन्दा हो जाता है। वे लोग कारखानोंके बन्द होने, मज़दूरोंको काम न मिलने और बिक्री न होनेका कारण यह बताते हैं कि लोग अपनेको समृद्ध मान कर उचितसे अधिक व्यय कर बैठे हैं। अब उनके लिए ज़रूरी है कि वे अपना खर्च कम करें। और कम पदार्थ खरीदें। ये विद्वान युद्धोंके भारी खर्चों और अनुत्पादक रेल मार्गों पर रुपया फूंकने को अनुचित व्यय कहते हैं। इस अति-व्ययका बुरा प्रभाव उसी प्रकार तत्काल नहीं मालूम होता जिस प्रकार विषयी पुरुषको विषय-भोगमें सर्वस्व लुटानेपर भी उस समय अपना स्वास्थ्य नष्ट होता हुआ नहीं मालूम होता। परन्तु अन्तमें जाकर सबको अपने कियेका फल भोगना ही पड़ता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि जब इतने आदमियोंके भूखके मारे प्राण पखेरू उड़ रहे हैं और वे उसके बदलेमें अपना श्रम देनेको तैयार हैं तो उत्पत्ति अधिक कैसे हो सकती है। दूसरी ओर जब काम करनेकी इच्छा रहते हुए भी मज़दूरोंको बेकार बैठना पड़ता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि व्यावसायिक तन्द्रा अति खपके कारण है। वास्तवमें खरीदनेकी इच्छाके साथ साथ बनानेकी योग्यता और अभिलाषा मौजूद होनेपर व्यावसायिक दुर्घटनाओंका कारण न तो उत्पत्तिकी अधिकता और न खपकी अधिकता ही हो सकती है। असलमें कोई ऐसा कारण मौजूद है जो उत्पत्तिको खपके साथ मिलनेसे रोकता है। किसी कारण उत्पत्ति खपको सन्तुष्ट नहीं कर सकती। यह कारण क्या है? इस बातको दोनों पक्षोंने स्वीकार किया है कि यह कारण लाभकी आशासे रुपया लगाना है परन्तु प्रश्न यह है कि किस वस्तुमें रुपया लगानेसे उत्पत्ति और व्ययमें सम्बन्ध नहीं होने पाता?

कृषि जन्य, शिल्पजन्य और खनिज द्रव्योंमें रुपया लगानेसे ये दुर्घटनाएं नहीं हो सकतीं। इनमें तो पदार्थोंकी मांग घट बढ़कर स्वयं उत्पत्तिकी दरको समतलपर ले आती है। इनमें बहुत अधिक रुपया लग ही नहीं सकता। इस कारण व्यावसायिक दुर्घटनाएं किसी ऐसी वस्तुमें रुपया लगानेका परिणाम होनी चाहिये जो श्रम-साध्य होनेपर भी श्रमसे घट बढ़ न सकती हो, अर्थात् वह निश्चित परिमाणमें मौजूद हो। यह वस्तु भूमि है। भूमिमें अधिक रुपया लगानेसे, उसके अधिक महंगी हो जानेसे, व्यवसायमें दुर्घटनायें होती हैं।

अमेरिकाके इतिहासकी ओर नज़र दौड़ानेसे ही इस बातकी सत्यता आंखोंके सामने आने लगती है कि भूमिमें रुपया लगाना ही व्यवसायको मन्दा करनेका कारण है। जब कभी वहां व्यवसायमें स्फूर्ति मालूम हुई है तभी जमीनकी कीमतें चढ़ गयी हैं। ज्यों ही भावी लाभकी आशासे भूमिमें रुपया लगा है त्यों ही वस्तुओंकी कीमतें बढ़ गयी हैं। इसके साथ ही उत्पत्ति घटी, मांग काम हुई, व्यवसाय मंदा हुआ और दुर्घटनाएं घटित होने लगी। इन दुर्घटनाओंके बाद अनिश्चित दशा उपस्थित होकर फिरसे नया सम्बन्ध स्थापित हुआ है। यही घटनाचक्र यदि हम अन्य देशोंके इतिहासको देखें तो वहां भी अपने-को दोहराता हुआ मिलता है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि व्यवसाय और व्यापारके मन्द होनेका असली कारण यही भूमियोंका महंगा होना है।

यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि वस्तुओंसे वस्तुओंके विनिमयका नाम ही व्यापार है। और कुछ वस्तुओंका व्यापार मन्दा होनेका अर्थ सब वस्तुओंका व्यापार मन्दा होना है। कितनी ही बार यह देखनेमें आता है कि लोगोंको कुछ पदार्थोंकी ज़रूरत है और वे बाज़ारमें मिल भी सकते हैं फिर भी उनका बाज़ार मन्दा ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि उनके बदलेमें दी जानेवाली कुछ वस्तुओंकी उत्पत्ति कम हो गयी है। आम बोल-चालमें यह कह दिया जा सकता है कि बाज़ार इसलिये मन्दा हो रहा है कि खरीददारोंके पास रुपया नहीं है या देशमें रुपया कम हो रहा है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि मुद्रा तो विनिमयका साधनमात्र है। उसका तो यही काम है कि एक वस्तुका दूसरीसे विनिमय करा दे। वास्तवमें खरीददार इसलिये वस्तु खरीदनेमें असमर्थ होता है कि उसके पास मुद्रामें परिवर्तित हो सकनेवाली वस्तुओंकी कमी है। अर्थात् बाज़ार मन्दा होनेका कारण किसी वस्तुकी उत्पत्तिमें कमी होना है।

लोगोंको वस्तुकी ज़रूरत है, कारखानेमें वस्तु बन भी रही है परन्तु वह लोगों की इच्छाको पूर्ण नहीं करपाती। उनके पास किसी ऐसी वस्तुका अभाव है जिसे देकर वे इच्छित वस्तु बाज़ारसे खरीद सकें। उत्पत्तिके मार्गमें कहीं रुकावट आजाती है और यही उत्पत्तिकी कमी अन्य वस्तुओंकी मांगको भी कमकर देती है। एक ही प्रकारकी उत्पत्तिमें कमी होनेसे सम्पूर्ण व्यवसाय तथा विनिमय विक्षुब्ध हो उठता है। यह उत्पत्तिकी कमी किसी ऐसी वस्तुमें होनी चाहिये जिसपर सब वस्तुओंका दारमदार हो। यह वस्तु भूमि अन्य प्राकृतिक पदार्थ हैं। व्यवसायका वृहत् स्तम्भ भूमिकी नींवपर खड़ा है। जिसप्रकार भूकम्प आनेपर भूमिस्थित सम्पूर्ण पदार्थ विक्षुब्ध होकर कांपने लगते हैं उसी प्रकार प्राकृतिक पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कमी होनेसे सब पदार्थोंकी मांग रुक जाती है। प्राकृतिक पदार्थोंकी उत्पत्तिकी यह कमी भूमि और श्रमका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जानेसे होती है। इस सम्बन्ध-विच्छेदका कारण जैसा कि शुरूमें लिखा गया है प्राकृतिक उन्नति और यन्त्रोंका आविष्कार है। इसके कारण श्रमकी मांग कम हो जाती है और भूमिकी मांग अधिक बढ़ने और उसमें अधिक रुपया लगानेसे वह मंहगी हो जाती

है। उसका लगान बढ़ जाता है और श्रमको कम उपजाऊ भूमियोंसे उत्पत्ति करनी पड़ती है।

आज कलके व्यावसायिक जगत्में यह एक विचित्र दृश्य दिखायी देता है कि श्रमी काम करना चाहते हैं परन्तु उन्हें काम नहीं मिलता। इससे मालूम होता है कि उत्पत्तिका दूसरा साधन—भूमि—अन्धा धुन्ध रुपया लगानेके कारण मंहगा हो गया है। जिस श्रमके बिना सृष्टिके आदि कालमें सम्पत्ति बन ही नहीं सकती थी, और जो इसका असली निर्माता है, वह भूखसे मरे। यह कहांका न्याय है। जो आदमी अपना श्रम हाजिर कर खाना मांगता है वह एक वस्तु देकर दूसरीका विनिमय करना चाहता है। यदि बाजारमें रुपया देने पर भी हम इच्छित वस्तु न पा सकें तो हमारा क्या हाल होगा। हम कितने परेशान होंगे, जब हमें यह मालूम है कि बाजारमें होते हुए भी इष्ट वस्तु हमें प्राप्त नहीं हो रही है। यह कहना सर्वथा असत्य है कि श्रमके अधिक मात्रामें उपस्थित हो जानेके कारण उसकी मांग कम हो गयी है। श्रमकी मात्रा सदा समान रहती है। ईश्वर की ओरसे ही एक मुखके साथ दो हाथ पैदा होते हैं। जब एक ओर लोग आवश्यकताओं से तंग हैं, उन्हें खानेको अन्न और पहननेको वस्त्र दरकार है, तो यह कहनेका क्या अर्थ है कि श्रम मांगसे अधिक है। वास्तवमें बात यह है कि संग्रह और मांगके बीचमें कोई ऐसी दीवार खड़ी हो गयी है, कोई ऐसी रुकावट आगयी है जो एकको दूसरेके पास पहुंचनेसे रोकती है।

परन्तु आज कल तो गंगा उल्टी ही बह चली है। श्रमी लोग भर पेट अन्न न पाकर स्वयं भी यह समझने लगे हैं कि हमारी संख्या उचितसे अधिक बढ़ गयी है। परन्तु यह सब स्वार्थी भूमिपतियोंका पढ़ाया पाठ है। यह बात श्रमियोंके दिलोंमें उसी प्रकार बैठा दी गयी है जिस प्रकार भारतीयोंके दिलोंमें यह बैठा दिया गया है कि बिना अंग्रेजी पढ़े वे काठके उल्लू बने रहेंगे। यदि श्रमी लोग अपने ही घरोंमें नज़र दौड़ाकर देखें तो उन्हें इस बातका उत्तर मिल जायगा। उनके घरोंमें उनकी स्त्रियां रातका चूल्हा जलानेको चिन्तित बैठी हैं। भूखसे व्याकुल उनके दुध मुंहे बच्चे सर्दीमें ठिठुर रहे हैं। क्या तब भी उन्हें यही विश्वास बना हुआ है कि दुनियामें श्रमकी मांग कम है। नहीं, श्रमकी मांग कम नहीं और उनके अपने ही हाथमें संकट मोचनकी दिव्यौषधि मौजूद है। इस स्वार्थी दुनियांसे निकाल कर उन्हें किसी अश्रुत पूर्व भयानक घने जंगलमें छोड़ दीजिये। धीरे धीरे उन्हें पता लग जायगा कि उनके दो हाथोंमें क्या शक्ति है। सम्पूर्ण मानव समाजसे जुदा होने पर भी वे अपना और अपने परिवारका पेट पाल लेंगे। आश्चर्य की बात तो यह है कि जंगलमें तो उन्हें खाना मिल सकता है परन्तु जहां उत्पत्ति अपने उच्चतम शिखर पर है वहां वे टुकड़ोंके मुहताज हैं। ऐसा क्यों है? क्या इसका यह कारण नहीं कि पहले स्थानमें वे प्रकृतिसे सहायता ले सकते थे और दूसरेमें ऐसा नहीं कर सकते।

बेकारीका असली कारण यही है कि श्रम प्रकृतिसे आवश्यक वस्तुएं पैदा नहीं कर सकता। संसारकी कोई भी वस्तु भूमिके बिना पैदा नहीं हो सकती। अर्थात् भूमि हो तभी श्रम उसमें उपयोगिता लासकता है। खानि हो तो उसमेंसे खनिज द्रव्य निकाल सकते हैं, खेत हो तो उसमें अनाज बोया जा सकता है। जब श्रम बेकार है, उसे काम नहीं मिलता, तो इसका यही अर्थ है कि श्रमको भूमि पर काम करनेमें रुकावट है।

अब प्रश्न यह है कि श्रम भूमिसे काम क्यों नहीं ले सकता। क्या इसका कारण यह है कि कुल भूमि काममें आ चुकी है?। उदाहरणके लिये हम भारत वर्षको लेते हैं। आज कल यहां बेकारी इतनी अधिक बढ रही है कि इसका कुछ ठिकाना नहीं। हरसाल हजारों मनुष्य भूखकी महाकालीके आगे अपनेको बलिदान करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि यहां जन-संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी है कि यहांकी भूमिके लिये उसका पालना अत्यन्त कठिन है। पहला प्रश्न यह है कि, क्या यहांकी जन संख्या बहुत अधिक है? यद्यपि इस विषयमें बहुत कुछ कहा जा सकता है और बहुतसे प्रामाणिक ऐतिहासिकोंका मत है कि भारत वर्षकी जन-संख्या इससे भी अधिक हो चुकी है तथापि इस बातको हम छोड़ देते हैं। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या यहांकी भूमिसे इतना उपयोग लिया जा चुका है कि उससे अधिक उपयोगके लिये नाकाबिल हो। हमारी सम्मतिमें यहांकी भूमिसे अभी इतना उपयोग नहीं लिया गया। यद्यपि कृषि यहांका मुख्य धंधा है तथापि अविद्या और राज्य नियमोंकी सख्तीके कारण वह अभी अत्यन्त हीनावस्था में है। अभी हमारे किसान न तो बीज और खादकी पहिचान जानते हैं और न उनके पास अच्छी वस्तुएं खरीदनेके लिए धन ही है। प्रायः सभी किसान ऋणके असह्य भारके नीचे दबे हुए हैं। मुकदमे बाजी और जमीदारोंके अत्याचारसे उनके नाकों दम है।

परन्तु केवल कृषि करके ही भूमिसे उपयोग नहीं लिया जा सकता। जंगलों और खानोंसे उपयोग लेना भी भूमिसे उपयोग लेना है। अभी यहां हजारों जंगल और हजारों खाने खाली पड़ी हुई किसी काटने और खोदनेवालेकी बाट जोह रही हैं। यह बात हमही नहीं कह रहे हैं, कितने ही विदेशी लोगोंने भी इसे स्वीकार किया है। हालिवुड महाशय कहते हैं कि 'यहांकी खानोंको देखकर यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि भारतमें व्यवसायका अनन्त मार्ग खुला हुआ है। इस देशपर प्रकृतिकी पर्याप्त कृपा है। इससे न केवल वह अपनी ही जरूरतें पूरी कर सकता है बल्कि अपनी मध्य स्थितिके कारण भारतीय सागरके सम्पूर्ण देशोंसे मुकाबिला कर सकता है।' इसी प्रकार महाशय बाल कहते हैं 'भारतका सम्बन्ध यदि सम्पूर्ण भूमण्डलसे भी विच्छिन्न हो जाय तब भी यह बात निःसंकोच होकर कही जा सकती है कि भारत अपनी ही उपज और खनिज द्रव्योंसे अपनेको सभ्य देशोचित सामग्री दे सकता है। इसकी वस्तुओंको केवल अन्य देशोंकी प्रतिस्पर्धासे बचानेकी जरूरत है"। इसी विषयमें मालेसवर्थ महाशयका इस प्रकार कथन है। 'भारत सम्पत्तिकी खान है। यहां कृषि जन्य, और खनिज पदार्थ इतनी

अधिक मात्रामें पाये जाते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। यहांका कोयला श्रेष्ठतम है। मिट्टीके तेल, लकड़ी और कोयलेकी कमी यहां नहीं। यहांका लोहा इतना शुद्ध है कि उसे देखकर लोहेका व्यवसाय करनेवाले अंग्रेजोंके मुखमें पानी आये बगैर नहीं रह सकता। वह इतनी बहुतायतसे यहांके भूतलपर मिलता है कि कहीं कहीं नाममात्रको श्रम करनेसे प्राप्त हो जाता है। डमिस्ककी तलवारें बनानेवाला लोहा, मांगल, एलूमीनियम, चकमक किसीकी यहां कमी नहीं। सोना, चांदी, सुरमा, टीन, ताम्बा, चूना, हस्सोठ, रत्न, जवाहिरात सब यहां भरे पड़े हैं। क्या फिर भी भारतमें गरीबी है? क्या यह सत्य है कि सोनेसे घिरे माईदासको खानेकी कमी है? हां हां यह सत्य है; भारतके माईदास अनन्त सम्पतिमें गर्क होकर भी भूखसे हैरान हैं'। "तब प्रश्न यह है कि वह कौनसा कारण है जो भारतमें व्यवसायको उन्नत नहीं होने देता? यह वही कारण है जिसके विषयमें हम पहिले पर्याप्त लिख चुके हैं अर्थात् भूमियोंका मंहगा होना। यहांकी एकाधिकारिणी सरकार और जमींनदारोंने स्वार्थ सिद्धि और अनुचित लाभ उठानेके लिए भूमि मंहगी कर रखी है। यहांका श्रम यहांकी भूमिसे उपयोग नहीं ले सकता।

इस प्रकार हम देख सकते है कि व्यावसायिक दुर्घटनाओंका असली कारण लाभकी आशासे भूमियोंमें रुपया लगाना है। ऐसा करने से भूमियां मंहगी हो जाती हैं और श्रम उनसे लाभ नहीं उठा सकता। व्यावसायिक अधःपातको रोकनेके लिये यह आवश्यक है कि कोई ऐसा तरीका निकाला जाय जिससे श्रम और भूमि सहयोग पूर्वक काम कर सकें। भूमिको उसका भाग मिले परन्तु श्रम भी कोरा न रह जाय। भूमिके मालिक खुशीसे जीवन बितावें परन्तु श्रमी भी शान्तिकी गंगामें स्नान कर सकें। तभी व्यावसायिक अधःपातका रुकना संभव है।

सोमदत्त विद्यालंकार

मराठोंकी सैनिक व्यवस्था।

शिवाजी द्वारा स्थापना और उन्नति।

शिवाजीके समय में ही मराठोंकी जल सेनाकी व्यवस्था हो चुकी थी, इस बातका ज्ञान सर्वसाधारणको नहीं है, और भारतकी भौगोलिक स्थितिके विचारसे यह बात कुछ असाधारणसी भी है कि दिल्ली, कर्णाटक, और बीजापुर गोलकुण्डा आदि दक्षिणके बीहड़ दुर्गमोंमें युद्धतत्पर रहने पर भी शिवाजी एक जल-सेना भी स्थापित कर चुके थे तथा उससे वे काम भी लेते थे। एकसे अधिक बार उन्होंने इसकी सहायतासे सूरत पर आक्रमण किया। फिर संभाजी ने गोवापर चढ़ाई की, स्वयं शिवाजीने ही संवत् १७१८ में इस जल सेनाकी स्थापना उस समयकी थी जब जंजीरा पर उन्हें विफल होना पड़ा। जब आर्मेर (आरमेडा ?) तैयार हो गया तो छत्रपति शिवाजीने धीरे धीरे कोंकणके तटके बन्दरों पर अपना अधिकार जमाना आरंभ किया तथा दृढ़ आक्रमण और शस्त्रोपयोगी स्थानोंकी सृष्टि करनेके लिये समुद्र तटका आवेष्टन आरम्भ किया और अनेक जलदुर्ग तैयार कराये। संवत् १७१९-२० में उन्होंने वाड़ीके सांवत पर चढ़ाई करके अनेक स्थान लिये। उस समय रामदलवी और तानाजी इस समुद्र सेनाके अधिकारी थे। उन्हें शिवाजीने इसामका सूबेदार बना दिया। संवत् १७२१ में मालवणका जलदुर्ग तैयार कराया और उस समय वही जलसेनाका केन्द्र स्थान बनाया गया। कुलाबा, सुवर्ण दुर्ग और विजय दुर्गकी दशा सुधार कर वहां जहाज बनानेका प्रबन्ध किया गया। ये सब ही स्थान काल पाकर मरहठोंके नौसंस्थान बन गये थे। शिवाजीके पास संवत् १७२२ तक, जब उन्होंने सम्पूर्ण समुद्रतटको पादाक्रान्त किया था, ८५ ऐसे छोटे जलपोत थे जो ८४० से ५१०० मनके थे और ३ बड़े जहाज थे। यह वृत्तान्त अंग्रेज इतिहासकारोंने लिखा है। संवत् १७२७ तक शिवाजीके पास १६० जहाज हो गये। इसी वर्ष पुर्तगालवालोंसे शिवाजीकी एक समुद्री लड़ाई भी हो गयी जिसमें पुर्तगाल वालोंने शिवाजीके १२ छोटे जहाज पकड़ लिये, बदलेमें शिवाजीने भी पुर्तगाल वालोंका एक बड़ा जहाज छीन लिया। संवत् १७३६ में अपने एडमिरल दौलखानके द्वारा खांडेरी टापू जीता। यह टापू जंजीरा जाते समय मार्गमें पड़ता था और वहां अंग्रेज और पुर्तगीज़ दोनोंने शिवाजीको रोकना चाहा अतः यहां एक प्रकारसे शिवाजीका अंग्रेज और पुर्तगीजोंसे जल-युद्ध हो गया। अंग्रेजोंका १६ तोपों वाला 'रिवेन्ज' (Revenge) जलपोत इस युद्धमें लड़ा था और वह बेकार हो गया। आर्मने लिखा है कि अंग्रेजोंकी अपेक्षा मरहठोंका बेड़ा कहीं अच्छा और मजबूत था। अस्तु। शिवाजीने सम्पूर्ण कोंकणका तट जीत कर अपने अधिकारमें कर लिया। जल

सेनाकी सुविधाओंके विचारसे उस तटपर कुलावा, उंदेरी, अञ्जनवेल आदि १३ जलदुर्ग तैयार किये। परन्तु हेडक्वार्टर सिन्धुदुर्ग ही रहा। इससे शिवाजीका प्रभाव सामुद्रिक प्रदेशोंपर तो बढ़ ही गया, साथ ही साथ किनारेकी ओरसे होने वाले आक्रमणोंसे भी देशकी रक्षाका प्रबन्ध हो गया। अब जल-दुर्गोंकी व्यवस्था इस प्रकारकी गयी। मालवणके निकट वाले पद्मदुर्गमें जहाज बनानेका कारखाना खोला गया, विजयदुर्ग और कोलावा दुर्गपर रण-पोत युद्ध-सामग्रीसे सज्जित किये जाते थे अर्थात् यहां मैगजीन था और समुद्रके किनारे रहने वाली कोली, भण्डारी आदि धीवर जातियोंको जल सैनिकोंमें भरती करके शेष दुर्गोंको भी सज्जित किया। एक अंग्रेजने लिखा है—'शिवाजी स्वयं खलासी नहीं था, वह स्वयं जहाज़रानी नहीं जानता था, परन्तु जिस प्रकार उसकी विजय-दुन्दुभी स्थलपर बजती थी, जलपर भी उसी प्रकार उसकी विजय-पताका लहराती थी। सर्वत्र ही उसका समान आतंक था।' एक और ऐतिहासिकने लिखा है, "तत्कालीन समुद्रपर शासन करने वाली मुग़ल या ईसाई जातियोंकी अपेक्षा भी शिवाजी जलयुद्धके लिये किसी प्रकार उनसे घट कर नहीं था"।

सम्भाजीका प्रोत्साहन और उनके पश्चात्।

सम्भाजीके शासनकालमें भी जलसेना-विभाग अच्छी दशामें रहा। जंजीराके स्वामी शिद्दीने अंग्रेजों और पुर्तगीजोंसे सहायता लेकर ही जंजीराको बचाया परन्तु उसके सहायकोंको कई स्थान देने पड़े। यह विजय 'राजापुर' की जलसेनाने प्राप्त की थी। उस समयके इतिहास-लेखक लिखते हैं कि 'राजापुर' का बेड़ा पुर्तगाल वालोंके बेड़ेकी अपेक्षा अधिक बलवान था। सम्भाजीके कैद होनेके पीछे जब एक बार महाराष्ट्र साम्राज्य ग्रहण-ग्रस्त हो रहा था और मुग़ल उसे दबाये जा रहे थे तब अंग्रेज डच, शिद्दी, फ्रांसीसी आदि अनेक जलसेना वाले राष्ट्र भी मरहठोंको स्थानभ्रष्ट करनेका प्रयत्न कर रहे थे। उस समय आत्मरक्षाके लिये ही इस जलसेनाको अनेक साहसके काम करने पड़े। इन घटनाओंके साथ कान्होंजी आंग्रेका नाम इतिहासमें अमिट रहेगा। कान्होंजीके कौशलसे कोकण किनारेके उपद्वीप उस समय शत्रुओंके लिये किसी प्रकार भी शरण्य नहीं रहे थे किन्तु सर्वत्र मरहठोंका झण्डा लहराता था। सच बात तो यह है कि यदि आंग्रेने उस समय अपने शौर्य, पराक्रम, नैपुण्य और अदम्य साहसके साथ जलयुद्धोंके द्वारा राजारामके शासनमें मरहठोंकी रक्षा न की होती तो समुद्रतटपर मराठोंकी सत्ता कभीकी नष्ट हो गयी होती।

कान्होजी आंग्रे।

आंग्रे वंशवाले संवत् १७४७ से १८१२ तक महाराष्ट्र जल-सेनापति रहे। इन ६६ वर्षोंमें महाराष्ट्रीय जलसेना शिवाजीके समयकी अपेक्षा अधिक दृढ़, सम्पन्न, नियमित और सुसज्जित हो गयी। अनेक बड़े बड़े रण-पोत ही नहीं बनाये गये किन्तु समुद्री सेनाकी संख्या और उनकी शिक्षामें भी अनेक सुधार हुए। इस समय मराठा जल-

सैन्य-विभाग अजेय हो गया था । संवत् १७७६ में अंग्रेज, शिद्दी और मुगलोंने मिलकर महाराष्ट्र बेड़ेको नष्ट करनेके उद्देश्यसे उसपर आक्रमण किया, परन्तु फल कुछ और ही हुआ । शत्रुओंके अनेक स्थान आंग्रेने छीन लिये और अन्ततः शिद्दी और मुगलोंने चौथ देनेका वायदा करके सन्धि की । इस समय हेडक्वार्टर विजय दुर्ग था । बम्बईसे गोवातक एक भी कच्छ, नदी मुख, नौसदन या स्थान ऐसा नहीं था जहां मराठोंके दुर्ग या नाकेबन्दी द्वारा रक्षित स्थान न हों । बड़े बड़े जहाजोंमें दो या तीन भूमिकायें (stories) होती थीं । तीन भूमिवाले जहाज ८४०० मन बोझ ले जानेवाले थे और शेष ४२००.से ५६०० मनसे कम बोझ लेजाने वाला कोई जहाज मराठा बेड़ेमें नहीं था । इन पोतोंपर ३ सेरसे ४॥ सेर तक वजनका गोला फेंकनेवाली तोपें चढ़ायी हुई थीं । संवत् १७७२ में ३२ ऐसी तोपोंवाला १ जहाज, २४ से २२ तोपोंवाले ४ मध्यम जहाज और ५ से १२ तोपोंवाले २० छोटे जहाज अंग्रेजी बेड़ेमें थे । इस बेड़ेकी प्रतिद्वंद्विताम़ें आंग्रेने अपने बेड़ेमें १६ से ३० तोपों वाले १० जहाज और ४ से १० तोपों वाले ५० जहाज तैयार कराये थे । इसी वर्ष इसी बेड़से अंग्रेजी बेड़ेके साथ एक जलयुद्धमें आंग्रेने अंग्रेजोंका 'प्रेसीडेण्ट' जहाज नष्ट कर दिया, अगले वर्ष उनका 'ससेक्स' छीन लिया और पांच वर्ष पीछे जब अंग्रेज और पुर्तगालवाले मिलकर कुलाबापर चढ़ आये तो उन्हें पराजित किया । संवत् १७८० में डचलोगोंने ३० से ५० तोपोंवाले सात जुझाऊ जहाजोंको लेकर विजय दुर्गपर चढ़ाई की और इस युद्धमें भी उसी देशी बेड़ेने इन्हें पराजित किया । संवत् १७८४ में फिर अंग्रेजोंको एक करारी पराजय मिली और उन्होंने विवश होकर सांवलबाड़ीके सरदारकी सहायतासे आंग्रेसे सन्धि की । यह सांवलबाडीके सरदार भी अच्छे जल-योद्धा थे ।

अंग्रेज इतिहास लेखक स्थल-सैनिकोंकी तरह जलसेनाके विषयमें भी ये ही उद्गार प्रकट करते हैं कि आंग्रे एक समुद्री डाकू था । इन आक्षेपों और उनके उत्तरोंको हम आक्षेपक और प्रतिवादीके शब्दोंमें ही नीचे उद्धृत करते हैं ।

बम्बईके गवर्नरका पत्र ।

बम्बईके गवर्नरने उस समय कान्होंजी आंग्रेसे सन्धि-भिक्षा मांगी और आंग्रेने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—'तुम्हारे और हमारे मध्यमें सद्भाव न होनेका कारण केवल तुम्ही हो । तुम जो दूसरोंका माल लेनेकी इच्छा करते हो सो ठीक नहीं । इस प्रकारका दुष्कर्म एक प्रकारकी डाकेजनी है । तुम्हारा इस प्रकारका कार्य अधिक दिन तक चल भी नहीं सकता । तुमने जब प्रथमसे ही व्यापारको उन्नत किया और व्यापारियोंपर कृपा की तो ईश्वरकी कृपासे आज तुम्हारे अधीन बन्दर ऐश्वर्य सम्पन्न हो रहे हैं...... तुम्हारा यह व्यवहार व्यापारकी उन्नति नहीं कर सकता ।" इसके उत्तरमें कान्होंजीने लिखा, "जो कुछ तुमने लिखा वह प्रशंसनीय है । तुमने आज तकके हमारे और अपने सद्भावका कारण मुझे लिखा है, परन्तु यदि तुम्ही दोनों ओरकी बातोंपर विचार करो

तो तुमको सचाई दिख जावेगी। तुम यह भी कहते हो कि मुझे दूसरेका धन अपहरण करनेकी इच्छा है, परन्तु तुम जैसे व्यापारी इस प्रकारकी धन-अपहरणकी महत्वाकांक्षासे निर्लिप्त हो सो मुझे नहीं दिखायी देता। कारण यह है कि संसारका एकसा ढंग है। ईश्वर स्वयं थोड़ा ही देता है। इसकी सम्पत्ति उसे और उसकी इसे, इसी प्रकार चलता रहता है। आप कहते हैं कि हमारा राज्य जुल्म, अत्याचार, अथवा डाकेजनी या लूटमारपर निर्भर है, परन्तु आप व्यापारियोंको यह कहना शोभा नहीं देता। शिवाजी महाराजने चार बादशाहोंसे लड़ाई की थी और तब अपने पराक्रमसे स्वराज्यकी स्थापना उन्होंने की। इस प्रकार हमारी राजसत्ताका आरम्भ होता है, उसी पराक्रमके बल पर हमारा राज्य अब भी स्थित है। यही बात तुम भी जानते हो, तुम्हीं सोचो कि यह कोई नयी बात है ? फिर संसारमें सदा तो कुछ भी किसीका नहीं रहता किन्तु सबके विषयमें जगतका यही क्रम है।"

जलसेनापतिका विद्रोह और शासन।

आंग्रेकी मृत्यु संवत् १७८६ में हुई और उसका पुत्र मानाजी उसका उत्तराधिकारी हुआ। मानाजीने भी अनेक बार अंग्रेज और हब्शी बेड़ोंका विध्वंस किया। फिर सम्भाजीने भी अनेक बार यूरोपियन बेड़ोंका नाश किया। सम्भाजीने ११४०० मन तक बोझ लेजाने वाले जहाज बनाये। उनके पास ऐसे ८ जहाज थे। यह सम्भाजी भी आंग्रेके ही पुत्र थे, परन्तु माना और सम्भाजीमें कुछ वैमनस्य था। सम्भाजीकी मृत्युके पश्चात् तुलाजी स्वर्णदुर्गका पोत-सेनापति हुआ। इसने अंग्रेज व्यापारियोंको सबसे अधिक त्रस्त किया और समुद्रमें प्रलय सी मचा दी। यह प्रधान राजसत्ताका विद्रोही बन गया और पेशवासे उसका युद्ध हुआ जिसमें संवत् १८०२ में सेनापति और जलपोत दोनोंको ही पेशवाकी प्रबल सेनाने नष्ट कर दिया--यादवोंकी लीलाका संवरण उन्हींके द्वारा हो गया। संवत् १८०३ में आंग्रे (तुलाजी) को पेशवाने कैद कर दिया।

पुनरुद्धार।

इस अधःपतनके पश्चात् भी पेशवाने उन जहाजोंसे जो आंग्रेसे उसे मिल गये विजयदुर्गपर अपना बेड़ा खड़ा किया और शीघ्र ही एक बार फिर इसका उत्कर्ष हुआ। विजय दुर्गके बेड़ेमें लड़ाके वीर २।३ हजारके लगभग थे। एक बड़े रण-पोत (फतह जंग) पर २२६ सिपाही, १६ गोलन्दाज, १३२ केवट-इस प्रकार ३७४ मनुष्य होते थे और लड़ाऊ नावोंपर केवल १५। इन युद्धपोतोंपर युद्ध सामग्री अच्छी होती थी। मराठोंके पास जहाजोंकी तोपें २७५ तक हो गयी थी। एक बड़े जहाजका नाम 'फतह जंग' और दूसरेका नाम 'नारायण पाल' था। नारायण पालपर ३२ तोपें रक्खी जाती थीं।

मुख्य सेनापति 'सुभेदार निसवत् सुभा आरमार' (Controling officer of the Armour) कहलाता था। पेशवाई शासनमें जब यह नौसेना विभाग आ गया तो इसका चार्ज आनन्द राव धुलपको दिया गया। संवत् १८४० में अंग्रेजी बेड़ेसे

मराठे बेड़ेका अच्छा शौर्यपूर्ण युद्ध हुआ था। इस युद्धमें अंग्रेजोंकी ओरसे एक घटनावसर-पर दो बड़े रण-पोत, डेढ़ बटालियन सेना और तीन बेड़े जलसेनाकी ८० हजार कमानीदार बन्दूक, चारसौ गोरे गोलन्दाज और सात अफसर (councelar) विलायतसे आये थे। जब मराठे लड़ाईके बड़े जहाजोंको नहीं तोड़ सके तो इन्होंने अपने बड़े रण-पोतसे ही उनका ३ घंटे तक मुकाबिला किया और अंग्रेजी जहाज़ बेकार कर दिये। इस युद्धमें ८ मराठा अफसर काम आये, १५ सौ जख्मी हुए और ६०० मनुष्य शस्त्रधारी तथा वर्कन्दाजोंमेंसे काम आये। अंग्रेजोंके दो हजार सिपाही और एक प्रधान अफसर काम आये तथा ५०० या ६०० जख्मी हुए! शेष सब बेड़ा मय सातों बेड़े अफसरोंके कैद कर लिया गया।" इसीसे पता लग जावेगा कि उस समय मराठा जहाजी बेड़ा कैसा था।

जलसेना विभागका संगठन।

पेशवालोग सूबेदारके अतिरिक्त दीवान, फड़नवीस (रजिस्ट्रार) मुजुमदार, दशमनीस आदि आफिसर भी नियुक्त करते थे। उस समय नये जहाज़ बनानेमें १० से ४० हजार रुपया तक लगता था और मरम्मत करानेमें ५ से दस हजार तक। रत्नागिरी और अंजनवेल सरकारी डौक थे जहां जहाज बनते थे। मराठा नौ-सेनाका खर्च दो डेढ़ लाख रुपया प्रतिवर्ष पड़ता था। इसके व्ययके लिये एक जिला ही सूबेदारको दे दिया गया था। इसके अतिरिक्त राजकोषसे रोकड़ भी मिलता रहता था। दूसरे राष्ट्रोंके व्यापारी जहाजोंपर कर लगता था। जो जहाज माल भर कर देशान्तरको ले जाते थे उनसे भी एक कर लिया जाता था, तब उन्हें व्यापार करनेका लैसन्स मिलता था। परन्तु यह कर अधिक नहीं था, प्रति जहाज़से केवल ४॥) था। जो पर-राष्ट्रीय जहाज़ मराठों-की आज्ञा बिना या उनका राज्यकर बिना दिये ही अथवा अन्य किसी हेतुसे आकर मराठों-के बन्दरोंपर छेड़ छाड़ करते थे वे जब्त कर लिये जाते थे, और यह माल इस नौविभाग-में दाखिल होता था। इस प्रकारकी आय कभी कभी पचास सहस्र प्रतिवर्ष पहुंचती थी। व्यापारी लोगोंमें स्वदेशी प्रायः भाटिया, मुसलमान, हब्शी आदि ही होते थे, और विदेशियोंमें अंग्रेज, पुर्तगीज, अरब आदि।

मराठा जहाजोंमें मत्स्य यन्त्र, बालुका यन्त्र (घड़ी) दूरदर्शक यन्त्र आदि भी रखे जाते थे, परन्तु विद्युत्प्रकाशके स्थानपर चन्द्रप्रकाशका ही उपयोग होता था। भिन्न भिन्न रंगोंके चिन्हों द्वारा जहाजोंपर निशान भी बनाये जाते थे और उनके नाम रखनेकी पद्धति भी प्रचलित थी। उस समय गमनागमनकी सूचना नृसिंहा, कर्णा या शंख अथवा सींगके शब्दोंद्वारा दी जाती थी।

जगनलाल गुप्त।

संसारके व्यवसायका इतिहास

(गतांकसे आगे)

स्पेनके नीदरलैण्डके प्रान्तमें केवल जलशक्ति रखनेवाले राष्ट्रोंको ही स्वतन्त्रता मिल सकी और जो राष्ट्र धार्मिक न्यायालयके फन्देमें फंस गये उनको तो नदियोंकी यात्रा भी रोक देनी पड़ी। अंग्रेज़ी बेड़ा अपनी खाड़ीमें हालैण्डवालोंको परास्तकर सम्पूर्ण समुद्रका अधिपति बन गया, क्योंकि स्वतन्त्रताने बहुत पहले ही उसको राज तिलक दे दिया था। पर तो भी हालैण्डमें वर्त्तमान समयतक व्यवसाय सम्बन्धी जलयात्रा बहुत होती है, किन्तु स्पेन एवं पुर्तगालवालोंकी जलशक्ति तो नाममात्र भी न रह गयी। फ्रांसके प्रजापीड़क शासकोंके समयमें बेड़ा तैयार करनेके लिए सुयोग्य मन्त्रीका सारा परिश्रम भी व्यर्थ ही था; क्योंकि वह फिर सब नष्ट हो गया।

किन्तु वर्त्तमानमें [संवत १९६६ सन १९०९] फ्रांसकी जलशक्ति एवं जलयात्रा इस प्रकार क्यों बढ़ रही है? उत्तरी अमेरिकाके संयुक्त राष्ट्रको स्वतन्त्र होते अभी देर नहीं हुई कि वह अंग्रेजोंकी विशाल जलशक्तिकी प्रतिस्पर्धा करने लगा है। परन्तु मध्य एवं दक्षिणीय अमेरिकाके राष्ट्रोंकी क्या स्थिति है? मानना पड़ेगा कि जब तक उन देशोंका झण्डा भी समुद्रके प्रत्येक भागपर नहीं फहराता तबतक प्रजातन्त्रपर अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता। तो भी इनकी तुलना टेक्सास १४६ प्रान्तोंसे कीजिये जिसमें अभी राजनीतिक जीवन भी जागृत नहीं हुआ पर तो भी वरुणके असीम राज्यमें वह अपने हिस्सेका दावा भी करता है।

किन्तु जलयात्रा राष्ट्रकी शिल्पशक्तिका एक अंश मात्र है जिसकी पुष्टि और वृद्धि दूसरे सहायक अंशोंकी वृद्धिसे ही हो सकती है सभी देशों और कालोंमें देखा जाता है कि जलयात्रा, देशी एवं विदेशी व्यापार और कृषिकी तभी उन्नति हुई है जब शिल्पकी अवस्था बहुत ही उन्नत और समृद्ध हो जाती है। परन्तु यदि जलयात्राकी वृद्धिके लिए स्वतन्त्रताका होना आवश्यक है तो एक सम्पूर्ण राष्ट्रकी शिल्प-शक्ति एवं उत्पादक शक्तिकी उन्नतिके लिये राष्ट्रीय स्वतन्त्रता कितनी अधिक आवश्यक है। इतिहासमें किसी भी ऐसे समृद्ध शिल्पसम्पन्न एवं व्यवसायी देशका उल्लेख नहीं मिलता जहां स्वतन्त्रता देवीका प्रौढ़ विलास न रहा हो।

शिल्पने प्रत्येक स्थानपर व्यवसायमें सुविधा उत्पन्न कर दी है। नदियोंके मार्ग उत्तम हो गये, स्थलीय मार्ग उन्नत हो गये, भाफ़के जहाज़ और भाफ़के ज़ोरसे चलनेवाली रेलगाड़ियां तय्यार हो गयीं, इससे कृषि और सभ्यताकी भी उतनी ही उन्नति हो गयी।

इतिहास बतलाता है कि वाणिज्य और शिल्पकलाका एक नगरसे दूसरे नगरमें तथा एक देशसे दूसरे देशमें प्रचार हुआ था। अपने देशमें राजाकी ओरसे

पीड़ा पाकर कारीगर लोग भागकर अन्य सुरक्षित, स्वतन्त्र एवं सहायक देशमें जा बसते थे। इसी प्रकार ग्रीस और एशियासे इटलीमें, इटलीसे जर्मनी, फ्लैण्डर तथा ब्राबेन्टमें और वहांसे इंग्लैण्ड और हालैण्डतक उनका प्रसार हो गया। प्रत्येक स्थानसे उनके भागनेका कारण वहांके शासकोंके अत्याचार और मूर्खता ही हुई है। वे स्वतन्त्रताके भावसे आकर्षित होकर देशान्तरोंमें जा बसे। यदि महाद्वीपीय राज्योंसे इस तरहकी भूल न हुई होती तो इंग्लैण्डका व्यावसायिक प्रधानता प्राप्त करना कठिन हो जाता। परन्तु क्या हम जर्मन वासियोंको अन्य देशोंकी शासन-कठोरता और उसके कारण भागे हुए कारीगरोंके हमारे देशमें बस जानेकी प्रतीक्षा करनी चाहिये अथवा ऐसे अवसरोंकी प्रतीक्षा न कर विशेष सुविधाएं दिखाकर उनको अपने देशमें बुला लेनेकी चेष्टा करनी चाहिये

यह सच है और अनुभव भी इसका पोषक है कि बीज उड़कर एक भूमिसे दूसरीमें जा गिरता है और वहांके बीयान दलदलोंको जंगल बना देता है किन्तु क्या यह युक्तिसंगत बात होगी कि वनाध्यक्ष सदियोंतक हवासे उड़कर आनेवाले बीजोंकी प्रतीक्षामें बैठा रहे ?

क्या यह विश्वास करना मूर्खतामात्र है कि जोतने बोनेसे केवल दस बीस वर्षमें पूरा लाभ पा सकता है। इतिहास बतलाता है कि वनाध्यक्षको जो करना चाहिये वही कार्य करके बहुतसे राष्ट्रोंको सफलता प्राप्त हुई है। छोटे छोटे स्वतन्त्र नगर और छोटे छोटे राष्ट्र भी जिनकी भूमि और जनसंख्या भी बहुत थोड़ी थी एवं जिनकी सैन्य-शक्ति तथा सम्पति केवल नाम मात्रकी थी, स्वतन्त्रता, उत्तम भौगोलिक स्थिति और सुअवसरकी सहायतासे बड़े बड़े एकतन्त्र राष्ट्रोंके फलने फूलनेके पूर्व ही शिल्प और व्यवसायकी उन्नतिके शिखरपर चढ़गये थे और उन्होंने स्वतन्त्र वाणिज्य विनिमय द्वारा उन बड़े बड़े राष्ट्रोंसे अपनी बनी बनायी वस्तुओंके बदले कच्चामाल लेकर अपनेको स्वतः खूब सशक्त एवं सम्पन्न बना लिया था। हालैण्ड, वेल्जियम, वेनिस तथा हांसा नगर इसी बातके उदाहरण हैं।

जिन बड़े बड़े राष्ट्रोंके साथ ये लोग व्यवसाय करते थे उनके लिये भी स्वतन्त्र वाणिज्य पहले पहल कम लाभकारी न था, क्योंकि उनके कच्चेमालकी अधिकता न थी। अजागृत सामाजिक अवस्थाके विचारसे भी बाहरसे तैयार माल स्वतंत्रता पूर्वक मंगाकर उसके बदले अपनी उपज देनेमें भी उनकी उत्पादक शक्तिकी वृद्धि ही हुई थी। इससे उनकी आलसी प्रजाको व्यवसायकी उत्तेजना मिलती थी। जमीदारों तथा अमीरोंको व्यवसायमें प्रीति उत्पन्न हो गयी थी। वणिकोंमें उद्योग एवं उत्साहका सञ्चार होकर सभ्यता, शक्ति तथा वाणिज्यकी उन्नति हो गयी थी।

इटली, हांसा संघ, बेल्जियम तथा हालैण्डवालोंसे अंग्रेजोंने इन बातोंकी शिक्षा ग्रहण की। किन्तु स्वतन्त्र वाणिज्य द्वारा कुछ उन्नति प्राप्त करनेके उपरान्त बड़े एकतन्त्र

राष्ट्रोंने देखा कि धन-शक्ति तथा सभ्यताको चरमावस्था तक पहुंचनेके लिये शिल्प, व्यवसाय, और कृषिका सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। उन लोगोंने देखा कि यदि स्वतन्त्र वाणिज्यकी प्रथा वर्त्तमान रही तो उनका नवीन शिल्प प्राचीन विदेशी सिद्धहस्त कारीगरों-की बराबरी नहीं करसकता और देशीय मछुआही तथा समुद्रीय व्यवसाय भी (जो उनकी जलशक्तिके मूल थे) बिना विशेष सुविधाओंके उन्नत न हो सकेंगे। उनको यह भी प्रतीत हुआ कि विदेशियोंके मूल धन एवं उत्कृष्ट शिल्प-चातुर्यके सामने वहांके व्यवसायियोंका उद्योग और साहस दबता ही चला जायगा। अतएव उन राष्ट्रोंने विदेशियोंपर प्रतिबन्ध तथा अपने व्यवसायियोंके लिये प्रोत्साहन एवं अन्य सुविधाओंका प्रबन्ध कर विदे-शियोंकी बुद्धि, बल, उद्योग और धनको अपने यहां लानेका उद्योग किया। इस नीतिका जिसने जितना अनुसरण किया उसको उतनी ही सफलता प्राप्त हुई और जिसने जितनी बुद्धि लगायी तथा उस नीतिका समुचित प्रयोग किया उसको उतनी ही सुविधा भी मिली।

इंग्लैण्डमें इस नीतिका पालन सबसे अधिक हुआ था। इसमें कभी कभी शासकोंकी बुद्धिहीनता और संयमके अभाव तथा देशी एवं विदेशी लड़ाइयोंके कारण क्षति हो जाती थी। छठे एडवर्ड, एलिजबेथ, और राज्यक्रान्तिके समयसे इसका पालन दृढ़ता-पूर्वक होने लगा। तीसरे एडवर्डका प्रयत्न भी कब सफल हो सकता था जब अष्टम हेनरी-के समय तक भी इंग्लैण्डका प्रान्तीय अन्न-व्यवसाय नियमविरुद्ध माना जाता था। सप्तम तथा अष्टम हेनरीके समय भी द्रव्य तथा हुण्डीपर ब्याज लगाना सूदखोरी समझा जाता था, ऊनी मालका मूल्य तथा मजदूरीकी दर कम करने लिये राज्यनियम बनाने से ही व्यवसायमें उन्नतिकी आशा की जाती थी, और भेड़ोंका पालन बन्द करने-से ही कृषिकी उन्नतिकी आशा की जाती थी।

यदि अष्टम हेनरीने अनाजकी महंगीको दोष न माना होता, यदि विदेशी मजूरोंको अपने देशसे निकालनेके बदले अपने पूर्वजोंकी भांति अनेक प्रकारकी सुविधा देकर ऊनकी संख्या बढ़ानेका प्रयत्न किया गया होता और यदि सप्तम हेनरी व्यवस्थापक सभाद्वारा निर्धारित समुद्रयात्राके कानूनके प्रस्तावको मान लेता तो इंग्लैण्डके ऊनका शिल्प तथा समुद्रीय वाणिज्य बहुत शीघ्र उन्नत हो गया होता।

केवल एक ही प्रतिभाशाली व्यक्तिकी करनीसे फ्रांस देशमें कला, शिल्प व्यवसाय, समुद्रयात्रा, मछुआही, जलशक्ति आदि, बलिष्ट एवं वैभव-सम्मान राष्ट्रकी सभी सामग्रियां जादूकी मायाके समान थोड़े ही वर्षोंमें इकट्ठी होगयी थीं किन्तु दुष्ट शासन एवं अविवेकके कारण शीघ्र ही सबके सब लुप्त हो गये।

हम देखते हैं कि कठिन प्रतिबन्धोंके सामने स्वतन्त्र वाणिज्य अपनी सफलताके लिये व्यर्थ प्रयास करता रहा। इसीसे हांसा संघका नाश होगया और इंग्लैण्ड और फ्रांसके बीचमें विचारा हालैण्ड व्यर्थ ही पिसकर यातना भुगत रहा है।

व्यापारकी प्रतिबद्ध वाणिज्यनीति भी तभी लाभदायक हो सकती है जब उसको उन्नत सभ्यता एवं स्वतन्त्र संस्थाओंसे पूरी सहायता मिलती है। इसके कितनेही

उदाहरण मिल सकते हैं। वेनिस, स्पेन और पुर्तगालका पतन, नैन्टीजकी आज्ञाके रद्द करनेपर फ्रांसका पुनः पतन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इंग्लैण्डके इतिहाससे भी इसकी पुष्टि होती है, वहांकी स्वतन्त्रता, व्यवसाय-वाणिज्य एवं धनकी सर्वदासे सहगामिनी होती आयी है।

इसके विपरीत कोई राष्ट्र चाहे कितना ही सभ्य क्यों न हो, चाहे उसकी संस्थाएं भी स्वतन्त्र हों या परतन्त्र, उसकी आर्थिक उन्नति दृढ़ रूपसे तबतक नहीं हो सकती जबतक समुचित वाणिज्यनीति निर्धारित न हो जाय। इसके उदाहरण उत्तरीय अमेरिकाके स्वतन्त्र राष्ट्र तथा स्वत: जर्मनी ही है।

अभी आधुनिककालमें ही शक्तिशाली एवं संयुक्त वाणिज्यनीतिके अभावसे जर्मनीने समृद्ध राष्ट्रोंके साथ वाणिज्य-संघर्षमें बहुत हानि उठायी, उधर उन राष्ट्रोंने अपनी प्रतिबन्धक नीतिके बलसे जर्मनीके वाणिज्यको अपने देशसे एक दम निकाल दिया, इधर उनके माल जर्मनीमें बेधड़क आते रहे। इससे लाभकी तो बात ही कौन कहे अपनी निजकी स्थिति भी न सम्भल सकी। अन्ततः जर्मनीको उसी संयुक्त वाणिज्यकी प्रबल नीतिकी शरण लेनी पड़ी।

उत्तरीय अमेरिकाके स्वतन्त्र राष्ट्र सर्वदासे स्वतन्त्रता की ही गोदमें पले हैं। उन्होंने स्वतन्त्र वाणिज्यके सिद्धान्तोंका आदर किया और उनको उसीसे लाभ होनेकी आशा है। वे स्वतन्त्र वाणिज्यके पक्षपाती हैं। किन्तु इंग्लैण्डके साथ दो बार लड़नेके उपरांत उन्हें सब वस्तुएं जो वे अन्य देशोंसे खरीदते थे अपने ही देशमें बनानी पड़ीं और दोनों बार सन्धिके उपरान्त स्वतन्त्र वाणिज्यके कारण विदेशीय संघर्षणसे उनका सर्वनाश सा उपस्थित हो गया था। यहां तक कि उनको भी यही शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी कि संसारकी वर्त्तमान स्थितिमें प्रत्येक बड़े राष्ट्रको अपनी ही शक्ति और सम्पतिके भरोसेपर स्वतन्त्रता एवं ऐश्वर्यकी आशा रखनी चाहिये।

इतिहास इस बातको सिद्ध करता है कि व्यावसायिक प्रतिबन्ध केवल काल्पनिकोंकी कल्पना मात्र ही नहीं है परन्तु भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके विविध उद्देश्यों एवं स्वतंत्रता-प्राप्ति और सर्वातिशायी उन्नतिके निमित्त किये गये प्रयत्नका परिणाम है और इस प्रकार जातीय संघर्ष और युद्धोंका भी यह परिणाम है। इसलिये युद्धोंसे भी तबतक छुटकारा न होगा जबतक राष्ट्रीय स्वार्थोंका परस्पर संघर्ष शान्त न होगा। अर्थात् जबतक राष्ट्रोंका मतभेद हटाकर सबके लिये एक ही साधारण सर्वमान्य कानून न बनाया जाय तबतक प्रतिबन्धक वाणिज्यकी उपयोगिता भी क्षीण न होगी। सब भिन्न भिन्न राष्ट्र एक संयुक्त साम्राज्यमें क्या संगठित होंगे? होंगे तो कैसे होंगे और स्वतन्त्र राष्ट्रोंमें स्वतः उत्पन्न होनेवाले मतभेदों और विरोधोंको मिटानेके लिये शस्त्रबलके स्थानपर कानूनका प्रयोग कैसे किया जायगा। यह समस्या भी तभी हल हो जायगी जब कि यह हल हो जाय कि भिन्न राष्ट्रीय व्यवसायपद्धतियोंके स्थानपर एक अप्रतिबद्ध स्वतन्त्र वाणिज्य किस प्रकार चलाया जाय।

जब किसी राष्ट्रने अपनेसे अधिक धनिक, व्यावसायिक शक्तिशाली तथा प्रतिबन्धक कर-सूची वाले राष्ट्रके साथ स्वतन्त्र वाणिज्य करनेका साहस भी किया, जैसे

पुर्तगालने संवत् १७६० (सन् १७०३) में, फ्रांसने संवत् १८४३ (सन् १७८६) में, उत्तरी अमेरिकाने संवत् १८४३ (सन् १७८६) और संवत् १८७३ (सन् १८१) में रूसने संवत् १८७२ (सन् १८१५) से संवत् १८७८ (सन् १८२१) तकमें तथा जर्मनीने शताब्दियों तक, तब भी यही सिद्ध हुआ कि उन राष्ट्रोंकी सुखसमृद्धिकी बलि चढ़ गयी और अधिक शिल्प एवं व्यवसायवाले राष्ट्रोंको ही सब समृद्धिका लाभ हुआ और सर्व साधारणको इससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। केवल स्विटज़रलैंडका उदाहरण इस कथनका अपवाद है परन्तु उससे भी किसी विशेष शैलीकी न तो पुष्टि ही होती और न किसीका प्रतिवाद ही होता है।

इटलीवालोंने कोलबर्टके नामपर जिस सिद्धान्तको प्रचलित किया है जान पड़ता है कि वह स्वतः उस सिद्धान्तका आविष्कारक नहीं था क्योंकि उसके बहुत पहलेसे ही अंग्रेजोंने इस सिद्धान्तका निरूपण किया था। कोलबर्टने केवल वही मार्ग दिखलाया जिसका फ्रांसको अपनी उन्नतिके लिये कभी न कभी अनुसरण करना ही पड़ता है। यदि कोलबर्ट किसी बातके लिये दोषी ठहराया जाता है तो केवल इसीलिये कि उसने एकतन्त्र कुशासन कालमें वह पद्धति चलानी चाही जो केवल राजनीतिक सुधारोंके उपरान्त ही सफल हो सकती थी।

किन्तु कोलबर्टके पक्षमें भी यह कहा जा सकता है कि यदि बुद्धिमान शासक और सुयोग मन्त्री उसकी शैलीको और चलने देते तो उसके सिद्धान्तोंके अनुसरणसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, कृषि और शिल्पकी उन्नतिके मार्गकी सभी बाधाएं नष्ट हो जातीं और फ्रांसमें किसी भी प्रकारकी राज्यक्रान्ति न हुई होती। प्रत्युत डेढ़ सौ वर्ष पहले हीसे वही फ्रांस शिल्प आन्तरिक व्यापार, वैदेशिक व्यवसाय-वाणिज्य, मछुआही, जलशक्ति और उपनिवेश स्थापनमें भी इंग्लैण्डका प्रतिस्पर्धी बन गया होता।

अन्तमें इतिहासकी यही शिक्षा है कि जिन जातियोंको प्रकृतिने भी सबसे अधिक धन और शक्ति प्राप्त करनेके साधन दिये थे उनको भी अपनी उन्नतिके अनुपातमें अपनी पद्धतियोंका परिवर्त्तन करना पड़ता है और करना चाहिये। सभी देशोंको सबसे पहले अपनी कृषिकी उन्नति एवं सभ्यता प्राप्तिके लिये शिल्पकुशल समृद्ध राष्ट्रोंके साथ स्वतन्त्र वाणिज्य करना चाहिये। इसके अनन्तर स्वदेशीय व्यावसायिक प्रतिबन्धों द्वारा वाणिज्य, शिल्प, जलयात्रा तथा मछुआहीकी वृद्धि करनी आवश्यक है। तत्पश्चात् बल और सम्पत्तिकी चरम सीमा प्राप्त कर लेनेपर प्रतिस्पर्द्धा द्वारा अपने कृषक, शिल्पकार तथा वणिकोंको आलसी होनेसे बचानेके निमित्त शनैः शनैः सर्वत्र स्वच्छन्द वाणिज्यका अवलम्बन करलेना उचित है। स्पेन, इटली और पुर्तगाल नेपल्स अभी उसी पहलीही अवस्थामें पड़े हैं, जर्मनी एवं अमेरिकाका संयुक्त राष्ट्र केवल दूसरी सीढ़ी पर हैं और फ्रांस चरमावस्थाके बहुत कुछ समीप है। किन्तु अकेला इंग्लैण्ड ही अबतक उस अवस्थाको पहुंचा है।

॥ इति ॥

अनुवादक-हरिहरनाथ।

श्रमजीवी।

संसारमें जितने पदार्थ पाये जाते हैं उनका उपभोग बिना श्रमके नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि बहुतसे ऐसे पदार्थ हैं जो मनुष्यकी सहायताके बिनाभी उत्पन्न होते हैं जैसे तेदूं आदि नाना प्रकारके जंगली फल; पर यदि मनुष्य उनके पानेका प्रयत्न न करे तो न वह स्वयं उनको खा सकता है न दूसरे आदमी ही उसे खा सकते हैं। ठीक यही दशा लकड़ीकी है। लकड़ी वनोंमें आपही आप वृक्षके रूपमें उगती है पर मनुष्यकी सहायताके बिना उसका उपभोग नहीं हो सकता। एक धनी पुरुषभी बिना हाथ पैर हिलाये मुंह चलाये, भोजन नहीं कर सकता। दीन पुरुषका कहना ही क्या है उसका तो जीवन ही श्रम पर निर्भर है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मजदूर किसे कहते हैं? संसारमें जब प्रायः सभी मेहनत करते हैं, बिना किसी न किसी प्रकारकी मेहनतके कोई भी जीवित नहीं रह सकता, तब कौनसी बात है जो कुछको मजदूर श्रेणीमें रखती है और शेष मनुष्योंको उस श्रेणीसे पृथक् करती है? इस बातको तय करनेके लिये हमको देखना पड़ता है कि कौन मनुष्य केवल अपने श्रम, अपने हाथ पैरके उपयोगसे अपनी जीविका चलाता है और कौन इनके साथ ही साथ एकत्र की हुई पूंजी अथवा पूंजी पतियोंकी सहायतासे काम चलाता है। उदाहरणार्थ एक वह आदमी है जिसके पास रुपया पैसा कुछ नहीं है, जिसके पास कोई भी हथियार अथवा औजार काम करनेके लिये नहीं है, और वह कारखानोंमें उनके स्वामियोंकी सहायतासे काम चलाता है। वहीं वह हथियार औजार आदि सब आवश्यक वस्तुएं पाता है। दूसरा वह आदमी है जिसके पास सब औजार हैं और वह उनकी सहायतासे काम करता है। ये दोनों अपने हाथ पैरोंको काममें लाते हैं, दोनोंको परिश्रम करना पड़ता है पर पहिला आदमी दूसरेकी अपेक्षा बहुत परतन्त्र रहता है। इनमेंसे पहिले आदमीको जिसके पास केवल श्रम है और जो अपनी पूंजी नहीं लगाता अथवा नहीं लगा सकता हम श्रमजीवी अथवा मजदूर कहते हैं, यद्यपि श्रमसे दोनों जीते हैं।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि मजदूरी क्या है? यूरोपके प्राचीन अर्थशास्त्रियोंका कथन है कि मनुष्य जो कुछ अपने श्रमके पुरस्कारमें पाता है वही मजदूरी कहलाती है पर हम कह चुके हैं कि संसारमें सब मनुष्य श्रम करते हैं। बिना श्रमके वे जीवित नहीं रह सकते। जिमींदार, किसान, कारखानेका मनेजर, वाइसराय, व्यापारी आदि सब श्रम करते हैं और श्रमका पुरस्कार पाते हैं पर क्या वे सब मजदूर हैं? क्या उनका पुरस्कार मजदूरी है? नहीं। फिर क्या बात है कि कुछ श्रमका पुरस्कार मजदूरी कहलाती है और कुछका मजदूरी नहीं कहलाती?

श्रमजीवी ।

अर्थ शास्त्रमें वही पुरस्कार मजदूरी कहलाता है जो ऊपर कहे हुए प्रथम श्रेणी के मनुष्योंको पूंजीपतियों द्वारा दिया जाता है। जो मनुष्य अपने ही लिये उद्योग करते हैं, जिनको दूसरोंकी सहायताका आसरा नहीं देखना पड़ता वे उत्पादक कहलाते हैं, वे मजदूर नहीं कहलाते। किसान, व्यापारी, शिल्पकार आदि अन्य अन्य उत्पादक, चाहे वे बहुतसे मजदूरोंकी अपेक्षा बुरी ही दशामें क्यों न हों, पर उनको हम मजदूर नहीं कह सकते। इसी प्रकार डाक्टर, वकील, मुख्तार आदिको भी हम मजदूर नहीं कह सकते। इसके विरुद्ध क्लर्क, मुंशी, अध्यापक आदि जो केवल शारीरिक अथवा मानसिक श्रमसे ही जीवन व्यतीत करते हैं मजदूरोंकी श्रेणीमें हैं। अब फिर प्रश्न उठता है कि हमारे लाट साहब, डिप्टी कलक्टर, तहसीलदार और अन्य नौकर किस श्रेणीमें हैं।

सरकारी नौकरोंको हम दो भागोंमें विभाजित करते हैं। एक तो वे जिनपर प्रजापालन अथवा राजकाजका भार रहता है और दूसरे वे जो गैर सरकारी कारखानों अथवा व्यापारियोंके नौकरोंकी भांति सरकारी नौकर होते हैं। इनमेंसे प्रथमको हम मजदूर नहीं कह सकते। वे किसी एक व्यक्तिकी नौकरी नहीं करते। निःसन्देह वे देशके नौकर हैं। पर उनका वेतन उन्हें देशसे मिलता है और उनके वेतनका भार करदाताओं पर पड़ता है। वे मजदूर नहीं हैं और न उन्हें हड़ताल करनेका अधिकार प्राप्त है। दूसरों को हम मजदूर कह सकते हैं जैसे सरकारी रेलके नौकर आदि।

घरेलू नौकरोंको हम मजदूर कह सकते हैं। पर बहुधा उनको मजदूरोंसे पृथक श्रेणीमें रक्खा जाता है। पहिलेतो हम उनको धनोपार्जनकी दृष्टिसे नौकर नहीं रखते। वे घरके कामोंमें सहायता देनेके लिये रक्खे जाते हैं। जहां पर वे धनोपार्जनमें सहायता देते हैं वहां हम उन्हें बिना संकोचके मजदूर कह सकते हैं पर जब उनसे धनोपार्जनमें सहायता नहीं मिलती तब हम उन्हें नौकरोंकी श्रेणीमें रखते हैं। वे मजदूरोंकी अपेक्षा अधिक परतन्त्र होते हैं। उनको दिनरात सेवा करनी पड़ती है। यही कारण है कि बिना संघके भी नौकरोंका वेतन बहुत बढ़गया है और नौकर ढूंढे नहीं मिलते।

मजदूरोंकी ऐतिहासिक व्यवस्था।

यूरोप, अमरीका और अन्य अन्य उपयोगी देशोंके देखनेसे पता चलता है कि श्रम जीवियों और पूंजी पतियोंमें कितना मतभेद है। दोनों ही एक दूसरेको अपने अपने हितका विरोधी समझते हैं। पर क्या प्राचीन कालमें भी दोनोंमें ऐसा ही वैमनस्य था?

यह तो प्रत्यक्ष है कि प्राचीनकालमें उद्योग धन्धोंकी यह दशा न थी। उस समय प्रत्येक कुटुम्ब स्वाधीन था। जितने पदार्थोंकी उसको आवश्यकता पड़ती थी वे सब पदार्थ वह बनाता अथवा उगाता था। उस समय न कोई पूंजीपति था और न मजदूर। किसीं किसी देशमें गुलामीकी प्रथा थी। प्रत्येक कुटुम्बका मुखिया कुटुम्बके सदस्योंको उनकी शक्तिके अनुकूल काम बांट देता था। और जितने कठिन काम होते थे उनका भार

गुलामों पर पड़ता था। यदि किसीको अधिक आवश्यकता होती थी तो वह अपने मित्रोंसे काम करनेके लिये गुलाम मांग लिया करता था। पर जिन देशोंमें गुलामीकी प्रथा न थी, जैसे भारतवर्षमें, वहां एक दूसरेकी सहायतासे काम करते थे। यदि किसी कुटुम्बवाले सदस्य किसी ऐसे कामको करनेमें असमर्थ थे जिसको दूसरे कुटुम्ब वाले कर सकते थे तो दोनों कुटुम्ब वाले अपने अपने श्रमका विनिमय कर लेते थे।

धीरे धीरे यह दशा बदलती गयी। ज्यों ज्यों जन-संख्या बढ़ती गयी और प्रत्येक कुटुम्ब अपनी आवश्यकताएँ पूरी करनेमें असमर्थ होता गया त्यों त्यों श्रम विभाग की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी श्रम-विभागने भारतमें वर्णविभागकी नींव डाली। इस समय भी प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र था। वह अपने पिताके कार्यको सीखता था और उसीमें दक्ष होनेकी चेष्टा करता था। यूरोपमें इस प्रणालीको "गिल्ड सिस्टम" कहते थे। हमारे यहां इस वर्णविभागने ऐसा उग्र रूप धारण किया कि इसका हटना अब असम्भव सा प्रतीत होता है पर यूरोपमें यह दशा आधुनिक प्रथाके आते ही लुप्त हो गयी। इस प्रथामें भिन्न भिन्न उद्योगोंके अधिपति कुछ इने गिने युवकोंको शिक्षा देते थे। ये बालक दिन भर कारखानेके मालिकके यहां काम करते थे। और वह इनको कामके लिये कुछ वेतन देता था। पर इन दोनोंका सम्बन्ध आज कलकी अपेक्षा बहुत घनिष्ट होता था। स्वामीको युवकको निकालने और युवकको स्वामीको छोड़नेका अधिकार प्राप्त न था। कभी कभी मालिक युवकको पुत्रवत पालता था। यहांतक युवक बड़े होनेपर कभी कभी मालिककी ही कन्यासे ब्याह कर उसके कारखानेका प्रबन्धकर्ता हो जाता था। पर प्रत्येक युवकको एक न एक दिन स्वतन्त्र स्वामी बननेकी आशा रहती थी। प्रत्येक कारखानेका स्वामी इन युवकों और अपने घरकी स्त्रियों और पुत्रोंकी सहायतासे अपना काम करता था। इस समय अधिक पूंजीकी आवश्यता न थी और प्रत्येक युवक काम सीखकर स्वतन्त्र कार बार करता था। पूंजीपतियों और युवकोंमें वैमनस्य न था, दोनोंके हितमें विरोध न था वरन स्वामी बननेके लिये उम्मेदवारीकी अवस्था अनिवार्य थी।

पर १८ वीं शताब्दी (विक्रमी) के अन्तिम दिनोंमें यूरोपकी दशा बदलने लगी। इससे पहले छोटे छोटे नगर ही औद्योगिक केन्द्र थे। पर व्यापारके केन्द्र बदलने लगे। अबतक गांवों और नगरोंके बीच अथवा एक गांव और दूसरे गांव अथवा एक नगर और दूसरे नगरके बीच कोई सम्बन्ध न था। पर इस समयसे पक्की पक्की सड़कों, नदियों के पुलों और बड़े बड़े जहाजोंके बननेसे एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेमें बड़ी सुविधा होने लगी। इसके पश्चात रेल और भापके एंजिनोंके आविष्कारने इस सुविधाको और भी बढ़ा दिया। इन्हीं दिनों बड़े बड़े आविष्कारोंके उद्योगसे कलें भी भापसे चलने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि उपज पहिलेकी अपेक्षा कई गुनी अधिक बढ़ गयी। जो इंग्लैण्ड कठिनतासे अपने ही देशके लिये सूती कपड़े पैदा करता था वह अब सारे संसारको अपने वस्त्रोंसे ढकनेके लिये तैयार हो गया। इन कलोंके आविष्कारोंने श्रम विभागको और

भी सूक्ष्म कर दिया। अब न केवल एक मनुष्य एक काम करता था वरन एक कामका एक अंश वह करने लगा।

पर इन आविष्कारोंका सबसे अधिक प्रभाव श्रमजीवियोंपर पड़ा। हम देख चुके हैं कि अबतक कोई श्रेणी ऐसी न थी जिसे हम मजदूरश्रेणी कह सकते। पर इन आविष्कारोंने पूंजीकी आवश्यकता इतनी बढ़ा दी कि बेचारे श्रमजीवी अपने जन्म भरमें उतनी पूंजी एकत्र करनेमें असमर्थ होने लगे। इस समयतक जो मनुष्य पूंजी लगाता था वही अपने स्त्री-पुत्रोंकी सहायतासे पदार्थोंका उत्पादन करता था। पर इस समयसे यह स्थिति बदल गयी। अब बड़ी बड़ी कलों और बड़े बड़े कारखानोंके बननेसे पूंजीपतिओंका महत्व बढ़ गया। उन्हें अब अपने हाथसे स्वयं काम करनेकी आवश्यकता नहीं रही। उनके लिये इतनाही काफी था कि वे अपने कारखानोंकी निगरानी करें और अपने मजदूरों से काम लें। इसके विरुद्ध मजदूरोंकी स्थिति पहिलेसे बुरी हो गयी। वे अब बिलकुल परतन्त्र हो गये। कहनेको तो मजदूर स्वतन्त्र हैं, उन्हें अधिकार है कि वे जहां चाहें वहां मजदूरी करें, और जिस स्थानपर उन्हें सबसे अधिक वेतन-प्राप्ति और सुभीता हो वहां चले जावें पर पूंजीपति उनसे भी अधिक स्वतन्त्र हैं। वे जिसे चाहें नौकर रक्खें जिसे चाहें न रक्खें। वे उन्हीको रखते हैं जो वेतन कम लेते हैं और काम अधिक करते हैं। और मजदूर वहां रहना चाहते हैं जहां काम कम समयतक करना पड़ता है और वेतन अधिक मिलता है। इस प्रकार दोनोंके हितोंमें विरोध होने लगा। ज्यों ज्यों हितमें विरोध होने लगा दोनोंमें वैमनस्य भी बढ़ता गया। इस वैमनस्यने कितना भयंकर रूप धारण किया है, दोनोंने अपने अपने अधिकारोंको सुरक्षित रखनेके क्या क्या उपाय किये हैं और सभ्य सरकारोंने इसमें कहांतक हस्तक्षेप किया है यह आगे बतलावेंगे।

श्रमजीवि-संघ।

हम पहिले ही बतला चुके हैं कि औद्योगिक युगके पहिले श्रमजीवियोंकी दशा इतनी कठिन न थी जितनी अब है। वे स्वतन्त्र थे और उन्हें दूसरोंका मुंह न ताकना पड़ता था। पर कलों और मशीनोंके आविष्कारोंने उनका रोजगार छीन लिया। उनके पास इतनी पूंजी नहीं होती है कि हर एक श्रमजीवी कलें मोल लेकर अपना अपना कारखाना खोल सके। इस दशामें वे पूर्णतया परतन्त्र हो जाते हैं। उन्हें अपना स्थान छोड़कर अपने स्वामीके स्थानपर रहना पड़ता है और वहीं काम करना पड़ता है। संघके पहिले उनकी दशा इतनी शोचनीय हो गयी थी कि कारखानेके मालिक उनको पशु समझते थे। उनको मालिकोंकी सब शर्तें माननी पड़ती थीं। उनके रहनेका स्थान गंदा और दुर्गंधयुक्त होता था और उनमें हवाकी पूरी गुंजायश न रहती थी। प्रातःकाल ४ बजेसे उठकर सन्ध्याको ७-८ बजे तक वे काम करते थे। यूरोपमें ऐसे कई उदाहरण पाये गये हैं कि १०-१२ वर्षका पुत्र अपने पिताको बिलकुल न पहचानता था, यद्यपि पिता

उसके साथ रहता था। कारण यह था कि बालकोंने जागते समय पिताको कभी नहीं देखा। बहुतोंको रविवारके दिन तक कार्य करना पड़ता था। अब प्रश्न यह उठता है कि औद्योगिक युगमें श्रमजीवियोंकी दशा ऐसी क्यों हो गयी? और उन्होंने इन आपत्तियोंका कैसे सामना किया?

सच तो यह है कि श्रमजीवियों और कारखानेवालोंकी स्थितिमें बड़ा भेद है। पहिली बात तो यह है कि एक कारखानेमें हजारों श्रमजीवी काम करते हैं और उनमें प्रतियोगिता होती है। इसका परिणाम यह होता है कि सहस्रों श्रमजीवी एक स्वामीके चंगुलमें फंसे रहते हैं। इसके अलावा पूंजीवालोंको अपनी पूंजी लगानेकी इतनी जल्दी नहीं रहती जितनी जल्दी काम करनेवालोंकी रहती है। जिस समय श्रमजीवी कारखानेके मालिककी शर्तोंपर काम करनेके लिये तैयार नहीं होते उस समय उनको वहांसे काम छोड़ देना पड़ता है। पर काम छोड़कर कितने दिन तक घर बैठ सकते हैं? उनके पास पूंजी नहीं कि वे कोई कारखाना खोल सकें; उनके पास धन नहीं कि घर बैठे खा सकें, उन्हें लाचार होकर फिर स्वामीकी शर्तोंपर काम करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। गत रेलवे स्ट्राइक (हड़ताल) में हड़तालियोंकी यही दशा हुई। उन्होंने हड़ताल कर दी पर हड़ताल जारी रखनेकी सामर्थ्य उनमें न थी। फिर सबोंने हड़तालभी न की थी। इतना ही नहीं, रेलवेको काम करनेवाले भी मिल गये। इधर रेलवेको घाटा तो बहुत हो रहा था पर हड़तालियोंकी शर्तें मंजूर करना उनकी समझमें और भी अधिक हानिकारक था। इसके अलावा श्रमजीवियोंका कोई संघ न था जिसकी सहायतासे वे तीन चार मास भी रुक सकते। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि हड़ताल टूट गयी और हड़तालियोंकी बुरी दशा हुई।

दूसरी बात यह भी है कारखानोंके स्वामियोंकी संख्या इनी गिनी होती है, अतः उनमें एका होना बहुत संभव है और वे बहुत जल्द एका कर लेते हैं। पर श्रमजीवियों की संख्या अधिक होनेसे उनमें एका होना बहुत कठिन हो जाता है।

तीसरे, किसी भी विशेष श्रमजीवीके बिना स्वामीका काम चल सकता है। स्वामी इस श्रमजीवीके स्थानपर दूसरा श्रमजीवी काममें लगा सकता है और आवश्यकता पड़नेपर विदेशोंसे भी श्रमजीवियोंको बुला सकता है। पर इसके विरुद्ध श्रमजीवी किसी भी स्वामीके विना काम नहीं कर सकते। यदि एक भी स्वामी अपना कारखाना तोड़दे तो सहस्रों मजदूर वेकार हो जावें। यही नहीं श्रमजीवियोंके स्थानपर हम बहुधा कलोंका प्रयोग कर सकते हैं और इस प्रकार उनकी आवश्यकता घटा सकते हैं। पर संसारकी कोई भी कल कारखानोंके स्वामियोंका कार्य नहीं कर सकती, न उनकी कमी पूरी कर सकती है।

चौथे, स्वामीको व्यापारकी सब बातोंका पूरा पूरा पता रहता है। वह जानता है कि अमुक समयमें पदार्थों और मजदूरोंकी क्या दशा है। वह इससे लाभ उठाता है। पर मजदूर बहुधा अशिक्षित होते हैं। वे अधिकसे अधिक अपने नगरकी स्थितिसे परिचित

होते हैं। यदि वे जानते भी हैं कि किसी स्थान पर उनकी मांग अधिक है तो भी घर बार छोड़ कर वहां जानेमें असमर्थ होते हैं। पर स्वामी विज्ञापनों द्वारा अथवा अन्य उपायोंसे बाहरसे श्रमजीवी बुला लेते हैं अथवा उन स्थानों पर कारखाने खोलते हैं जहां पर श्रमजीवियोंकी संख्या अधिक होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि श्रम जीवियोंने स्वामियोंसे अपनी रक्षा कैसे की? जब श्रमजीवियोंने अपनेको बिल्कुल स्वामियोंके आधीन पाया, जब उन्होंने देखा कि उनके स्वामी उनसे जितनी देर और जिस स्थान पर चाहें काम करा सकते हैं और जितना चाहे वेतन दें और जब चाहे तब निकाल दें तब उन्होंने इस पराधीन अवस्थासे छूटनेका उपाय सोचना प्रारम्भ किया। पर एकताको छोड़ कर कोई दूसरा उपाय उन्हें न दिखलायी दिया। जब उन्होंने देखा कि सब मिलकर वे स्वामियोंके अत्याचारोंको रोक सकते हैं काम करनेका समय घटवा सकते हैं और वेतन बढ़वा सकते हैं, तब उन्होंने संघकी नीव डालना प्रारम्भ किया। आरम्भमें इस कार्यमें उनको बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ीं। जिस समय यूरोपमें पहिले पहिल संघकी ओर बड़े और विचारशील मजदूरों और अन्य अन्य महान पुरुषोंका ध्यान गया, उस समय मजदूर बिल्कुल अशिक्षित थे। उसके पहिले किसी संघकी स्थापना न हुई थी। यही नहीं प्रत्येक देशकी सरकार संघको न्यायके विरुद्ध समझती थी। उस समय प्रत्येक देशमें धनी पुरुषोंका राजकाज पर बहुत प्रभाव पड़ता था। कहीं कहीं तो देशकी बागडोर उन्हींके हाथमें थी। फिर भला संघको वे न्याय-विरुद्ध क्यों न ठहराते? इस नियमके विरुद्ध श्रमजीवियों और उनके शुभ चिंतकोंको बहुत दिनों तक युद्ध करना पड़ा। अन्तमें संघ न्याययुक्त मान लिया गया।

संघके मुख्य अभिप्राय।

संघके विरुद्ध नियमोंको हटवाने और संघको न्याययुक्त सिद्ध करनेके लिये यह नितान्त आवश्यक था कि संघके सब सभासद शिक्षित हों और वे संघके मन्तव्योंसे परिचित हों। अतः उन्होंने पहिले पहल सभासदोंकी शिक्षाका भार अपने ऊपर लिया। युद्धके पहिले इन संघोंका मुख्य अभिप्राय श्रमजीवियोंकी स्थिति सुधारना था। उन्होंने श्रमजीवियोंका वेतन बढ़वाने, कामका समय घटाने और स्वामियोंके अनुचित बरतावसे बचनेका पहिले पहिल उद्योग किया। आरम्भमें वे हड़ताल आदि हानिकारक कार्योंसे बचते रहे और अपना समय और फन्ड वृद्ध, गर्भवती स्त्रियों, और बीमार सभासदोंकी सहायतामें लगाते रहे। अपने सभासदोंकी उन्नति करना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। वे चाहते थे कि (१) कारखानोंके स्वामी उनके संघको न्याययुक्त मानें और श्रमजीवियोंसे जो पत्र व्यवहार करें वह उनके द्वारा हो (२) कारखानोंके स्वामी कमसे कम वेतनकी संख्या नियत करदें और उससे कम वेतन किसीको न दें। यदि कम दें तो हड़तालका उत्तर-दायित्व स्वामियों पर हो।

यह तो मानी बात थी कि कारखानोंके स्वामी उनकी इन शर्तोंको बिना आपत्ति किये मानने वाले न थे। उन्होंने प्रत्येक प्रकारसे संघोंको तोड़नेकी चेष्टा की। इधर संघ वालोंके लिये भी यह आवश्यक था कि अपनी शर्तोंको मनवानेके लिये उनके पास धन होना चाहिये जिससे समय पड़ने पर वे हड़ताल कर सकें। अतः उन्होंने एक फण्ड (कोष) की स्थापना की। इस फण्डमें प्रत्येक सभासदको अपनी आयका कुछ अंश देना पड़ता है। पहिले तो श्रमजीवी कुछ स्वामीके भयसे और कुछ रुपयेकी लालचसे इसके सभासद न होते थे। पर जब उन पर स्वयं आपत्ति आ पड़ती तो वे संघके कार्यकर्ताओंके पास दौड़े जाते थे। अपने सभासदोंकी संख्या बढ़ाने और उनको शिक्षित करनेके लिये उन्होंने (Labour bureaux) श्रमजीवि-कार्यालयकी स्थापना की। और श्रमजीवियोंको बाध्य किया कि वे ऐसे वेतनको स्वीकार न करें जिससे उनकी साधारण आवश्यकताएं भी पूर्ण नहीं होती।

उन्होंने या तो स्वयं स्कूल खोले अथवा अपने स्वामियोंको बाध्य किया कि वे ऐसे स्कूल खोलें जिनमें श्रमजीवियोंके बालकोंको साधारण और औद्योगिक शिक्षा दीजावे। उन्होंने सभासदोंकी नीरोगता, मनोरंजन और शिक्षाके लिये क्लब, और पुस्तकालय खोले जिससे सभासद शिक्षित और सभ्य बनें और उनकी सन्तान दिन प्रतिदिन उन्नति करती रहे।

गत महा युद्धके पूर्व ही यूरोपके समस्त शिक्षित देशोंमें श्रमजीवियोंके संघोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी। पर हमारे देशमें उनका पूरा अभाव था। इस अभावका एक बड़ा कारण यह था कि हमारे देशकी औद्योगिक स्थिति दूसरे देशोंकी औद्योगिक स्थितिसे बिलकुल भिन्न थी और अब भी बहुत कुछ भिन्न है। हमारा देश कृषि-प्रधान है। अतः क्रमागत-ह्रास-नियमके कारण बहुमात्राकी उपज और अल्प मात्राकी उपजके व्ययमें बहुत कम अन्तर पड़ता है। हमारे मज़दूर अधिकतर कृषिका ही काम करते हैं और इसी कारण अन्य देशके श्रमजीवियोंकी नाईं वे परतन्त्र नहीं हैं। जब कारखानोंके स्वामी उनके साथ अत्याचार करने लगते हैं तब वे कारखानोंको छोड़कर अपने अपने गांवोंमें चले जाते हैं और वहीं खेती करने लगते हैं। इससे कारखानेवालोंकी अवश्य हानि होती है। उन्हें कार्यकुशल श्रमजीवी नहीं मिलते पर इससे समाज और देशको फायदा होता है।

इस अभावका दूसरा कारण यह है कि संवत् १९६३ के स्वदेशी आन्दोलनने भारतमें एक नयी जागृति उत्पन्न कर दी है। हमारे चरखे और करघे जो एक प्रकारसे मृतप्राय हो गये थे फिरसे चलने लगे। हां, इतना जरूर है कि उस समय महात्मा गांधीकी नाईं लोगोंका यह विचार न था कि हमारे देशका भला केवल चर्खेसे होगा। वे देशी मिलोंकी शक्तिपर विश्वास करते थे।

पर इस अभावका एक बड़ा कारण हमारा प्राकृतिक स्वभाव है। यदि हम औसत लगाकर देखें तो हमको पता चलेगा कि हमारे देशके फी सैकड़ा केवल १ अथवा २ मनुष्य नौकरी करते हैं। हम स्वभावसे ही शान्तिप्रिय जाति हैं। बाहरसे विदेशी व्यापारी आकर

हमारी सम्मति और हमारी शारीरिक स्वतन्त्रताका हरण करते हैं पर धार्मिक और मानसिक स्वतन्त्रतापर कोई अधिकार नहीं जमा पाता। हम स्वतन्त्र रहना पसन्द करते हैं यही कारण है कि हमारे श्रमजीवी और हमारे देहाती चाहे ऋणी हों, चाहे कष्ट उठाते हों, पर वे परतन्त्रताके चंगुलमें फंसना नहीं चाहते।

युद्धके समयसे यह स्थिति कुछ कुछ बदल गयी है। बम्बई, कलकत्ता, अहमद नगर, कानपूर आदि नगरोंमें नये नये कारखानोंके खुलनेसे श्रमजीवियोंकी मांग बहुत बढ़ गयी है। अब सैकड़ों हज़ारों मनुष्य इन मिलोंमें नौकर हैं अत: उनके लिये भी अब संघोंकी स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

श्याम बिहारीलाल कपूर।

गरीबी और जनसंख्या सिद्धान्त

मालथूस सिद्धान्तके इतना सर्वप्रिय और सार्वभौम होनेसे हमें इसकी नीव-की मजबूती और सामाजिक प्रश्नोंके हल करनेमें उसका इतना महत्व होनेके कारणोंकी जांच करना उचित जान पड़ता है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह कोई अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। ज्यों ही हम इस सिद्धान्तके अंगोंकी सूक्ष्म परीक्षा करते हैं त्यों ही इसकी असत्यता आंखोंके सामने आने लगती है।

इसे कमजोर प्रमाणित करने वाली सबसे पहिली बात यह है कि इसे सिद्ध करनेके लिए उद्धृतकी हुई घटनायें इसे सिद्ध नहीं करतीं और इसकी सिद्धिके लिए अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जासकते हैं जिनसे यह सिद्धान्त सर्वथा खण्डित होजाता है।

हमने घटनाओंकी पूरी जांच पड़ताल करनेके बाद ही यह परिणाम निकाला है कि इस बातके माननेके लिए कोई युक्ति और प्रमाण नहीं है कि जनसंख्या जीवनोपयोगी पदार्थोंकी अपेक्षा तेजीसे बढ़ती है। इसको सिद्ध करनेके लिए दिये हुए दृष्टान्तोंसे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कम आबादी वाले नये देशोंमें और असम रूपसे विभक्त सम्पति वाले पुराने देशोंमें जहां गरीब लोग प्राकृतिक आवश्यकताओंको पूरा करनेमें असमर्थ हैं वहां कभी कभी जनसंख्या तेजीसे बढ़कर जीवनोपयोगी पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक हो जाती है। परन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि यही बात उन पुराने देशोंमें भी ऐसी ही होगी जहां आबादी पर्याप्त है और संपत्तिके उचित विभागके कारण लोगोंको जीवन मात्रके लिये ही श्रम नहीं करना पड़ता। न इससे यही सिद्ध होता है कि जनसंख्या बढ़कर इस प्रकारकी जातिके अस्तित्वको मिटा देती है। क्योंकि इसका अर्थ तो गोल माल शब्दोंमें उसी साध्यको सिद्ध मान लेना होगा। परन्तु कुछ देरके लिए यह मान भी लिया जाय कि जनसंख्या बढ़कर गरीबी पैदा कर देती है तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वर्तमान गरीबीका कारण यही है। इस बातको सिद्ध करनेके लिए तो यह बात दिखाना जरूरी होगा कि इस गरीबीका अन्य कोई कारण नहीं है। परन्तु यह वर्तमान शासन प्रणालियों, राज्यनियमों, और रीति रिवाजोंके जमानेमें सर्वथा असम्भव है।

ऊपर जो कुछ हमने कहा है वह मालथूसकी पुस्तकसे स्वयं सिद्ध है। इस पुस्तकके पढ़नेसे यह जान कर आश्चर्य होता है कि उसके गुणों और उपयोगिताके विषयमें जितने गीत गाये जाते हैं उनमें सत्यका अंश बहुत कम है। इससे यह बात भी मालूम होती है कि एक ही बातको सिद्ध करने वालोंमें प्रसिद्धि मिलना परि-श्रमकी अपेक्षा अपने सौभाग्यपर अधिक अवलम्बित है। जिस सिद्धान्तका

आविष्कार करनेके लिये मालथूसको इतना यश मिला है उसीको सर जेम्स सिवर्ट और टौन शेरड महाशय पहले ही सिद्ध कर चुके थे। जिन मिस्टर गोडविन की पुस्तकके उत्तरमें मालथूसने अपनी पुस्तक लिखी थी, उन्होंने भी अपनी वृद्धावस्था पर्यन्त मालथूसकी पुस्तकको उत्तर देने योग्य नहीं समझा। मालथूसका पहला सूत्र यह है कि जनसंख्या 'ज्यामितिक अनुपात' में (जियामेट्रिकल रेशियो १, २, ४, ८, १६) बढ़ती है और खाद्य पदार्थ अंकगणितके अनुपात' (अरिथमेटिकल रेशियो १, २, ३, ४,) मे बढ़ते हैं। यह कथन ठीक ऐसा ही है जैसा यह कहना कि जितने समयमें एक कुत्तेकी पूंछ दूनी हो जाती है उतने ही समयमें उसका भार इतने सेर बढ़ता है इस लिए उसकी पूंछ ज्यामितिक अनुपातमें और भार अंकगणितके अनुपातमें बढ़ रहा है। अर्थात् जब कुत्तेका भार ५० सेर होगा तो उसकी पूंछ १ मील लम्बी हो जायगी। पूंछकी लम्बाईको कम करनेके लिए पट्टी इत्यादि बांध कर इसकी वृद्धिको रोकना चाहिये, नहीं तो वह प्राकृतिक नियमसे किसी न किसी तरह कट जायगी। इस प्रकारकी विचित्र बातसे आरम्भ करके मालथूस इस बातपर जोर देता है कि गन्दमका विदेशोंसे आना रोकनेके लिये भारी तटकर लगाना चाहिये और उसे बाहर भेजने वालेको आर्थिक सहायता (बाउगटी) देनी चाहिये। हम समझते हैं कि इस सिद्धान्तकी निरर्थकता इतनी स्पष्ट है कि इसके विषयमें लिखनेकी यहां कोई जरूरत नहीं। पुस्तकके बीच बीचमें ऐसी ऐसी युक्तियां दी गयी हैं जिन्हें पढ़ने वाला उनपर एक बार बिना हंसे नहीं रह सकता। उदाहरणके लिए मालथूस लिखता है कि यदि श्रमियोंकी भृति अठारह या २४ आनेसे ५ रुपये हो जाय तो गेहूं भी चार आने सेरके स्थानपर बारह आने सेर हो जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि भृति बढ़नेसे भी श्रमियोंकी दशा सुधर नहीं सकती। मालथूसका हिसाब ठीक ऐसा ही है जैसा नीचे लिखी कहानी द्वारा तर्क करने वालेका है। एक बार एक आदमी कहने लगा कि अमुक लेखकसे मैं उस समय मिला था जब लेखककी आयु ४० सालकी और मेरी अपनी २० सालकी थी। इस समय मेरी अवस्था ४० की है, इस लिए वह लेखक अवश्य ८० बरसका होगा। ठीक इसी तरहकी युक्तियां मालथूसकी सारी पुस्तकमें भरी हुई हैं। उसकी लिखनेकी शैलीके विषयमें इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिकामें लिखा है कि "मालथूसकी लेखन-शैली सर्वथा क्रमशून्य है। वह विषयको वैज्ञानिक और क्रियात्मक रूपमें नहीं लिख सका।" यदि यह कहा जाय कि मालथूसकी पुस्तक अपने विषयका पोषण करनेके स्थानपर उसका खण्डन अधिक बलपूर्वक करती है तो अनुचित न होगा। जहां जहां उसने उदाहरण देकर प्रकृति द्वारा जनसंख्या-वृद्धिके रोके जानेको दिखानेका यत्न किया है वहां वहां यही सिद्ध होता है कि इसके कुछ और ही कारण थे। मालथूसके सम्पूर्ण दृष्टान्तोंमें जहां बीमारियों आदिसे जनसंख्याकी वृद्धिमें कमी बतलायी गयी है, वहां भी यह सिद्ध नहीं होता कि बीमारियोंका कारण खाना प्राप्त कर सकनेमें मनुष्यकी असमर्थता थी। वास्तवमें जहां भी लोगोंको दुःख और कष्ट झेलने पड़े हैं उनके कारण सरकारों और समाजोंके अत्याचार तथा युद्धकी मारकाट ही रही है।

किसी ऐसे स्थानका उदाहरण जहां भोजनकी कमीके कारण बीमारी या दुःख फैला हो न तो मालथूसने ही दिया है और न उसके पीछे आनेवाला उसका पृष्ठपोषक ही दे सका है। दुनियांका सारा इतिहास छान डालनेपर भी किसी पर्याप्त बड़े देशमें जनसंख्याकी अति वृद्धिके कारण बीमारी और दरिद्रता फैली हुई नहीं दिखती। चाहे जनसंख्या भोजनकी अपेक्षा बढ़ सकती हो अथवा न बढ़ सकती हो परन्तु ऐसा अब तक कहीं नहीं हुआ। यदि जनसंख्याकी वृद्धिका सिद्धान्त सच होता तो क्यों आज हजारों और लाखों वर्षोंके बाद भी भूतल इतना रिक्त और कम आबाद दिखायी देता। क्यों आस्ट्रेलिया और अमरीकाकी तरफसे यूरोपके लोगोंको अपने यहां आबाद होनेके लिए बुलावा जाता। क्यों अब भी इतने जंगल और मैदान बिना कृषिके दिखायी देते और जिनमें पहले कृषि होती थी उनमें भी बीयाबान जंगल पाये जाते।

इन ऊपरकी मोटी मोटी बातोंके अलावा कुछ ऐसी सचाइयां भी हैं जो मालथूसके वृद्धि-नियमको अशुद्ध सिद्ध करती हैं। यदि जनसंख्याकी वृद्धिकी ओर इतनी तेज़ प्रवृत्ति है तो इसका क्या कारण है कि दुःख और भूखके कष्टोंसे कोसों दूर रहनेवाले परिवारोंमें भी सन्तान नहीं होती? इसका क्या कारण है कि बड़े बड़े, पैतृक जमींदार और अमीर व्यक्ति पद, धन, वैभव, और कीर्ति रखते हुए भी निस्संतान रहते हैं। इसका क्या कारण है कि इंग्लैंड जैसे एकतन्त्राभिमानी राष्ट्रको लार्डसभाकी रक्षाके लिए हर साल नये लार्ड बनाने पड़ते हैं।

मालथूसके सिद्धान्तकी सत्यता देखनेके लिए हम एक ऐसे परिवारको लेते हैं जिसका आदिसे अब तक पूरा इतिहास हमको मालूम है। चीनमें कानफूसियस नामका एक परिवार है। इसको इसके जन्म-समयसे ही सब प्रकारके अधिकार, मान और पद प्राप्त हैं। यदि मालथूसका सिद्धान्त सत्य होता तो कानफूसियसकी मृत्युसे २१५० वर्ष बाद इस परिवारमें ८५९,५५६, १९३, १०६,७०६, ६७०, १४८, ७१० ५२८ इतने प्राणी होने चाहिए थे। कारण यह कि उनको किसी प्रकारकी खानेकी कमी तो थी ही नहीं जो उनकी वृद्धिमें कमी होती। उन्हें "ज्यामितिक हिसाब" से बढ़ते जाना चाहिए था। परन्तु हम देखते क्या हैं कि इतनी बड़ी संख्यामें होनेके स्थानपर २१५० वर्ष बाद कांधीके समयमें इस वंशमें केवल ११००० नर या २२००० कुल प्राणी थे। यह जानकर मालथूसको वास्तवमें अत्यन्त आश्चर्य होता कि पुत्र प्राप्तिको आवश्यक माननेवाले इस परिवारमें भी उसके सिद्धान्तानुसार वृद्धि क्यों न हुई।

परन्तु संभव है कि बहुतोंको वृद्धिकी यह गति भी बहुत अधिक जंचे। शायद वे २१५० वर्षमें २२ हजार बच्चोंका एक जोड़ेसे विकसित होना बहुत मानें। इस बातको भी हम देखते हैं।

किसी वंशकी वृद्धिसे यह अर्थ नहीं होता कि एक ही परिवारमें इतनी जनसंख्या बढ़ी है। यह तो तब समझा जाता जब परिवारवालोंके विवाह आदि भी उसी परिवारमें

होते। कल्पना कीजिये कि देवदत्तको उसकी स्त्रीसे एक लड़का और एक लड़की पैदा हुई। अब उसका लड़का किसी दूसरे घरकी लड़की और उसकी लड़की किसी लड़केसे व्याही गयी और प्रत्येकके दो दो बच्चे हुए। इस प्रकारसे देवदत्त और उसकी स्त्रीके चार पोते हो गये। इस प्रकारकी पैदाइशको हम एक ही मा बापकी पैदाइश नहीं कह सकते। इसमें तो ज्यों ज्यों लड़के लड़कियां बढ़ेंगी वे दूसरे घरोंमें विवाह करके अपनी सन्तान बढ़ावेंगी। यह वंशवृद्धि तो अनन्त परिवारोंकी सहायतासे होनेवाली वंशवृद्धि है। वंशवृद्धि ठीक कपड़ेके ताने बाने की तरह फैलती है। एक विन्दुसे आरम्भ होकर वह सैकड़ों अन्य परिवारोंके साथ सम्बद्ध होती जाती है। किसी मनुष्यकी कितनी संतानें हो सकती हैं, यह बतलाना कठिन है। परन्तु इस बातके कहनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं कि वह मा और बाप अर्थात् दो व्यक्तियोंसे पैदा हुआ है। इसी प्रकार इसके बच्चे भी दो व्यक्तियोंसे पैदा होंगे। इस प्रकारसे हम देख सकते हैं कि कानफूसियस वंशके २२ हजार व्यक्ति भी कितने व्यक्तियोंके सम्बन्धसे पैदा हुए होंगे।

अब हमें इन विचारात्मक बातोंसे आगे कुछ वास्तविक सचाइयोंकी ओर आना चाहिये। अब हम यह देखते हैं कि उन उदाहरणोंमें जहां दुःख और रोगोंका कारण अधिक जनसंख्या बतलायी जाती है, उनका असली कारण कुछ और ही है। चीन, हिन्दुस्तान और आयर्लैण्ड इन बातोंके मुख्य उदाहरण माने जाते हैं। इनमेंसे प्रत्येक देशमें हज़ारों ही आदमी भूखसे मृत्युके ग्रास हुए हैं। परन्तु क्या उनकी इस मृत्युका कारण जनसंख्याकी अति वृद्धि है।

कहा जाता है कि हिन्दुस्तान और चीनकी आबादी दुनियांमें सबसे अधिक घनी है। परन्तु जब हम उनकी जनसंख्याको उनके कुल भौमिक क्षेत्रके अनुपातमें देखते हैं तो मालूम होता है कि वहांकी आबादी इतनी घनी नहीं है। महाशय एम. एम. वेहम और वेगनरके हिसाबके अनुसार हिन्दुस्तानमें प्रति वर्ग मीलमें १३२ और चीनमें ११६ मनुष्य रहते हैं। इनके मुकाबलेमें यूरोपमें प्रति वर्ग मील आबादी इस प्रकार है—सेक्सनी ४४२, बेलजियम ४४१, इंग्लैण्ड ४२२, नीदरलैण्ड २६१, इटली २३४, जापान २३३*। इस तरहसे मालूम होता है कि ऊपरके दोनों ही देशोंकी जनसंख्या जमीनके मुकाबलेमें बहुत अधिक नहीं है। उनमें अब भी बहुतसी ज़मीन निरुपयोगी पड़ी है। इसके अलावा वहां उत्पादन अत्यन्त असभ्य विधियोंसे होता है और वहांकी पृथ्वीकी खानों आदिके रूपमें पड़ी हुई गुप्त संपत्तिका कुछ भी उपयोग नहीं किया गया। इस प्रकारकी दीन दशाका कारण उन देशोंके लोगोंकी अपनी बुद्धिमें कमी नहीं। भाषा शास्त्रवेत्ता (फिलालाजिस्ट) भली भांति जानते हैं कि हिन्दुस्तानी और यूरोपियनोंके आदि पुरुष एक ही थे। चीनकी सभ्यताके विषयमें सन्देह करना तो मानो अपनी मूर्खता दिखाना है। जिस समय यूरोपियन लोग असभ्य पशुओंकी तरह विचरा करते थे उस समय भी चीन अत्यन्त सभ्य था।

*इस मासके "ज्ञातव्य विषय तथा अंक" में प्रकाशित सूची देखिये—सं० स्वा०

इन देशोंकी अवनतिके कारण कुछ तो अपने ही सामाजिक अत्याचार हैं और कुछ ईश्वरके प्रतिनिधि बनकर उन्हें सभ्य बनानेके लिये आये हुए विदेशियोंकी कृपाएं हैं।

हिन्दुस्तानमें बहुत प्राचीनकालसे जातिबन्धनके कारण श्रमी लोगोंके साथ अत्यन्त निन्दनीय व्यवहार होता रहा है। सदियोंसे वहांके किसान, यदि इनके पास खाने और बीज बोने मात्रको भी बच जाय तो अपनेको अत्यन्त सौभाग्यशाली समझते रहे हैं। बलवानोंके अत्याचारसे कृषकोंके पास कभी भी पूंजी इकट्ठी नहीं हो पाती। जो कुछ भी सम्पत्ति लोगोंके पास हो सकती थी वह बलवान और अत्याचारी, लुटेरे और विषयी सरदार लोगोंके पास रही है। वे ही उसे अपनी विलास-प्रियता और फजूल खर्चीमें फूंकते रहे हैं। इसके अलावा धर्मके ठेकेदारोंने उनके दिलोंमें इतने वहम भर दिये हैं कि वे अत्याचारी राजाओंकी अपेक्षा भी उनसे अधिक डरते हैं। इन अवस्थाओंमें वहां केवल उसी प्रकारके शिल्पकी उन्नति हो सकती थी जिसे बड़े लोग पसंद करते अथवा जिससे उनकी विलास-प्रियता तृप्त होती। हिन्दुस्तानी राजाओंके हाथी, सोनेके सुन्दुर और विचित्रतम आभूषणोंसे चौंधयाने वाली रोशनी छोड़ते थे, उनके छत्रोंसे मणि मोतियों-की रंगीली किरणें निकल कर दर्शकोंको चकरा देती थीं, परन्तु वहांके किसानोंको हलमें लगानेके लिए लोहा तक भी न मिलता था। वे लकड़ीको ही तेज करके हल चलाते थे। राजाओंके अन्त:पुरों और बादशाहोंके हरमोंकी स्त्रियां ढाकेकी, संसार-प्रसिद्ध साक्षात् वायुके समान सूक्ष्म और दूधसे अधिक उजली मलमल पहिनती थीं परन्तु मजदूरिनोंको मोटा गाढ़ा और एक टुकड़ा रोटी भी मुश्किलसे नसीब होती थी। राजाओंके रथ सोने-के हण्टरोंसे हांके जाते थे परन्तु गरीब श्रमियोंको लोहेके हथियार भी नसीब न होते थे। चोरों लुटेरों और राजाओंके अत्याचारोंके डरसे व्यापार होना असंभव हो गया था।

क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अभागे हिन्दुस्तानके दुःखों और मुसीबतोंका कारण वहांकी जनसंख्याकी वृद्धि नहीं बल्कि बलवानोंका निर्बलोंपर अत्याचार था। बक्कलका अपने 'हिस्ट्री आव सिविलिजेशनमें' यह कहना कि हिन्दुस्तानकी गरीबीका कारण अनन्त राशिमें बढ़ती हुई जन-संख्या है, सर्वथा निःसार है। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके समय हिन्दुस्तानमें धर्म-प्रचार करने वाले ईसाई पादरी विलियम टेनेण्टने संवत् १८५३ (सन् १७९६) में मालथूसकी पुस्तकके छपनेसे दो वर्ष पहले इस प्रकार लिखा था—

"जब हम हिन्दुस्तानकी उपजाऊ शक्तिका ध्यान करते हैं तो हमें यहां इतने दुष्काल होते देखकर आश्चर्य होता है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि यहांके दुर्भिक्षोंका कारण पैदावार-की कमी नहीं है। असलमें इसका कोई न कोई राजनीतिक कारण ही है। यह जानना कुछ कठिन नहीं कि यहांके दुर्भिक्षोंका वास्तविक कारण यहांकी सरकारोंकी धन-तृष्णा और लूट रही है। व्यवसायकी उन्नतिका मुख्य साधन सुरक्षा, लुप्त हो चुका है। इसलिये कोई भी व्यक्ति उतनेसे अधिक नहीं पैदा करता जितना उसे प्राणधारणके लिए परमावश्यक है और एक ही बार ऋतु खराब होनेसे दुर्भिक्षकी नौबत आ जाती है।

गरीबी और जनसंख्या सिद्धान्त ।

मुगलोंके जमानेमें सरदारों और कर्मचारियोंमेंसे किसीका भी जान-माल सुरक्षित नहीं था। किसानोंकी दुर्दशाका तो ठिकाना ही न था। उस समयकी लूट-मार, अत्याचार और अस्थिरताके कारण व्यापार और शिल्प उन्नति न कर सका और कृषि भी किसी निश्चित विधिसे न हो सकी। कृषिके अभावमें कुशासनकी अपेक्षा भी हीनतम विप्लवने अपना सिर ऊँचा किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुसलमानी राज्य बुरा था परन्तु यूरोपियन जातियोंने भी आकर यहांकी दशाको कुछ सुधारा नहीं। मुसलमान सरकार अपने ही दोषोंके कारण अन्तको प्राप्त हुई। उसके बाद सैकड़ों लुटेरे लालची और कुशासक सरदार इधर उधर उठ खड़े हुए। देशी शासकोंके राज्यमें किसानोंसे दो बार कर लिये जाते थे और अब भी जहां जहां वे हैं ऐसे ही कर लिये जाते हैं। कर जमा करनेवाले लोग सेनाओंके रूपमें जाकर किसानोंको गांवोंसे जंगलोंमें भगा देते हैं और उनके भाग जानेपर सब चीजोंको नष्ट भ्रष्ट करते हैं और जितनी चीजें उनके मनमें आती हैं उठा ले जाते हैं। यदि कभी किसान अपनी गारेकी बनी हुई दीवारोंके अन्दरसे जान और मालकी रक्षाका यत्न करते हैं तो उन परोपकारी परन्तु भाग्यहीन जीवोंपर और भी अधिक मार पड़ती है। उन्हें चारो ओरसे घेरकर उनपर बन्दूकों तथा शस्त्रोंसे प्रहार किये जाते हैं और अन्तमें लाचार होकर उन्हें आत्म-समर्पण करना पड़ता है। इसके पीछे इनका सब सामान बेच कर उनके झोपड़ोंको भस्मसात् कर दिया जाता है। यही कारण है कि इन कर जमा करनेवालोंके चले जानेपर जिन किसानोंके दिलोंमें कुछ अधिक साहस होता है वे बची खुची वस्तुओंको इकट्ठा करते हुए मिलते हैं। परन्तु प्राय: यह वस्तुएँ जलती हुई ही मिलती हैं और भयानक और निस्तब्ध गांवोंकी शान्तिको भंग करनेवाला कोई नहीं दिखायी देता। यह घटनाएं केवल मुसलमानी इलाकेमें ही नहीं होतीं, *हिन्दू राजाओंके यहां भी ऐसा ही हाल है।"

इतने भयानक अत्याचार तो अदनके बागमें भी, यदि वहांकी जनसंख्या एक ही होती तो, दुर्भिक्ष और अभाव पैदा कर देते, फिर हिन्दुस्तान बिचारेकी हालत यदि ऐसी करुणाजनक हो गयी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इस अत्याचारपूर्ण शासनके पीछे अंग्रेजोंका इससे भी बढ़कर शासन आरम्भ हुआ। लार्ड मेकाले 'अपने एसे ऑन लार्ड क्लाइव' में लिखते हैं—

"कलकत्तेमें एक ओर शीघ्र ही अनन्त राशिमें सम्पत्ति जोड़ ली गयी और दूसरी ओर लाखों आदमी दुर्दशाकी चरम सीमापर पहुंच गये। वे लोग (हिन्दुस्तानी) अत्याचारके नीचे रहनेके आदी थे परन्तु ऐसा अत्याचार उन्होंने कभी नहीं सहा था। वे कम्पनीकी पतलीसी अंगुलीको सुराजुद्दौलाके शेरोंसे अधिक मानते थे। यह अत्याचारी मनुष्योंका शासन नहीं था, यह भयानक राक्षसोंका राज्य था। कितनी ही बार वे मुसीबतोंको

* Indian Recreations. By Rev. W. M, Tennent London 1804. Vol. I Section XXXIX.

शान्तिसे सहते थे और कितनी बार वे गोरे चमड़ेवालोंसे उसी प्रकार भाग जाते थे जैसे उनके पूर्व पुरुष मराठोंसे दूर भागा करते थे। कितनी ही बार यूरोपियन यात्रियोंकी पालकियां उनके नामसे सुनसान बने हुए गांवोंमेंसे गुजरा करती थीं।''

ऊपरके जिन अत्याचारोंपर मेकालेकी लेखनीसे नाम मात्रका प्रकाश पड़ा है बर्कके भाषणोंसे वे और भी स्पष्ट हो जाते हैं। बर्क बतलाता है कि बीसियों दफा लालची और अत्याचारी यूरोपियनोंने हिन्दुस्तानी गावोंमें जाकर अपनी पापपूर्ण धनकी प्यासको बुझाया। बीसियों दफा उन्होंने गरीब भारतीय किसानोंको अपने मुट्ठीभर अनाजसे भी जुदा किया और आबाद जिलोंको बर्बाद बनाया।

परन्तु कम्पनीके शासनके पीछे इस प्रकारके अत्याचार रुक गये। विक्टोरियाकी छत्रच्छायामें आकर भारतीय किसानोंको सुखकी नींद सोनेका अवसर मिला। न्यायालय स्थापित होने और नियम पुस्तकें बननेसे सबको न्याय करा सकनेका अवसर मिला। नहरें खुदीं, रेल गाड़ियां चलीं, डाक घर बने, परन्तु दुर्भिक्ष कम न हुए और अब भी एकके बाद दूसरा दुर्भिक्ष पड़ कर लाखों प्राणियोंको यमलोक पहुंचा रहा है।

इसका क्या कारण है? क्या यह मालथूसके सिद्धान्तका प्रभाव है। क्या इसका यह कारण है कि उत्पत्तिके बढ़ जानेपर भी जनसंख्याके "ज्यामितिक अनुपात" में बढ़नेसे लोग भूखों मर रहे हैं? क्या मालथूसका यह कथन सत्य है कि प्रकृति, यदि बढ़ती हुई जनसंख्याके आगे बाड़ न लगाने दी जायगी तो, उसे कम करनेके लिए और भी भयानक उपायका अवलम्बन करेगी। नहीं कभी नहीं। यह तो स्वार्थी लोगोंका अपने दोषोंको छिपानेके लिए प्रलाप मात्र है। वास्तवमें हिन्दुस्तानकी गरीबीका जन-संख्याकी वृद्धिके साथ कुछभी सम्बन्ध नहीं है।

*हिन्दुस्तानके निवासियोंने अनेक विजेताओंके सामने सिर झुकाये हैं परन्तु उन्हें दुःखकी ऐसी चक्की लगातार कभी नहीं पीसनी पड़ी जैसी अंग्रेजी राज्यमें वे पीस रहे हैं। इस राज्यके अत्याचार और अभिमानके कारण लाखोंको अपने जीवनसे हाथ धोना पड़ा है। ये अत्याचार दिनपर दिन अधिक अधिक भयानक रूप धारण करते जा रहे हैं। अन्य विजेताओंने चाहे वे कितने ही अत्याचारी क्यों न हों, कुछ समयके बाद हिन्दुस्तानको अपना लिया था और हिन्दुस्तानी भी उन्हें अपना समझने लगे थे। परन्तु आजकल हिन्दुस्तान एक ऐसी जमींदारी है जिसका विदेशी मालिक उससे हजारों मीलोंकी दूरीपर रहता है। यहांकी सेनाओंका खर्च इतना अधिक है कि उसे सहन करनेकी भारतमें शक्ति नहीं। उसका प्रबन्ध करनेवाले मौसमी पक्षियोंकी तरह यहां आते हैं और ताजा मेवा खाकर उड़ जाते हैं। एक ऐसे देशसे जहांके मजदूर दिनमें चार आने कमाकर भी अपनेको धन्य मानते हैं लग भग ३००,००० ००० रुपये पेन्शनों और होम चोर्ज़ज़ आदिके रूपमें प्रति वर्ष इंग्लैण्ड भेजे जाते हैं, हिन्दुस्तानके लोगोंकी आमदनी घटकर १५)

* Henry George,

प्रतिवर्ष रह गयी है* । रेलोंपर किये हुए अनन्त व्ययसे कुछ भी नहीं निकला । नहरोंसे भी खर्चके अनुपातमें लाभ शून्यके ही बराबर हुआ है । हिन्दुस्तानके कुछ भागोंमें अंग्रेजोंने जमींदारोंकी एक विशेष श्रेणी बनाकर कुछ ऐसे लोगोंको कर इकट्ठा करनेका पैतृक अधिकार दे दिया है जो बड़ी क्रूरतासे लगान लेते हैं । अन्य स्थानोंमें जहां सरकार स्वयं लगान लेती है वहां भी यह इतनी अधिक मात्रामें और इतनी सख्तीसे वसूल किया जाता है कि किसानोंको जमींदारोंसे भी भयानक बनियेके पंजेमें उधारके लिए फंस जाना पड़ता है । "हिन्दुस्तान ऐसे वनस्पति प्रधान देशमें नमक सी उपयोगी वस्तु पर बारह सौ प्रतिशतके लग भग कर बैठाया गया है । इस कारणसे बहुतसे कामोंमें लोगोंको नमक खर्च करनेमें असुविधा होती है, वे अपनेको पूर्ण रूपसे स्वस्थ नहीं रख सकते । "× और अब तो कुछ समयसे दियासलाईपर भी कर लगा दिया है । " अंग्रेजी राज्यनियमोंका यदि कोई विशेष प्रभाव भारतमें हुआ है तो वह यही है कि इसके कारण वे गरीब किसान जो पहले अध पेट खाकर ही जीवित रहते थे अब उधार चुकानेकी चिन्ताओंसे दबे रहते हैं । " उन्हें ऐसे क्रूर बनियोंसे अधिकतम सुदपर रुपया उधार लेना पड़ता है जो शेक्सपीयरके 'मर्चेन्ट आव वेनिस' के शैलाक्षसे अधिक क्रूर हैं । †कुमारी नाइटिंगेल बड़े ही दुःखित हृदयसे लिखती हैं "हमें हिन्दुस्तानियोंके विषयमें कुछ नहीं कहना है । सारे पूर्वमें—नहीं नहीं सारी दुनियांमें—यदि कोई अधिकतम करुणा पूर्ण दृश्य है तो वह पूर्वीय किसानोंका है । " आगे चल कर आप दुर्भिक्षोंके कारण बताती हुई कहती हैं कि "इनका एक मात्र बड़ा कारण किसानोंको दास बना देने वाले अधिक कर हैं । "हमारे राज्यनियम संसारके सबसे अधिक उपजाऊ देशमें सुभिक्षके स्थानोंमें भी निरन्तर स्थिर अर्द्ध दुर्भिक्ष " पैदा कर रहे हैं । इसके आगे चल कर नाइटिंगेल महोदया बहुतसे उदाहरण देकर सिद्ध करती हैं कि हमारे न्यायालयोंसे सहायता पाकर हिन्दुस्तानी बनियों तथा छोटे छोटे कर्मचारियोंने किसानोंको दासोंके समान बना दिया है । सर डेविड वेडर वर्न‡ लिखते हैं "हमारे न्यायालय गरीबों पर अत्याचार करनेके अमीरोंके साधन समझे जाते हैं । यही कारण है कि बहुतसे आदमी उनके न्यायसे बचनेके लिये देशी रजवाड़ोंकी शरण लेते हैं । " उक्त दोनों लेखकोंने अपने कथनके समर्थनमें ऐसे प्रबल प्रमाण दिये हैं जिनसे उसकी सत्यतामें जरा भी सन्देह नहीं रहता । एच. एम.‖ हिण्डमन महोदय लिखते हैं " हिन्दुस्तानका सत्यानाश करने वाले दुर्भिक्ष प्रायः आर्थिक ही हैं । मनुष्य और स्त्रियां इस लिए भोजन नहीं कर सकतीं कि उनके पास खरीदनेको मुद्रा नहीं है । फिर भी हम यही कहते हैं कि हम उन लोगोंसे लगान लेनेमें लाचार हैं ।" इसके आगे हिण्डमन साहब

* यद्यपि लार्ड कर्जनकी सम्मतिमें यहांके प्रति मनुष्यकी आमदनी ३०) प्रतिवर्ष है तथापि डिग्बी महाशय और दादा भाई नौरोजी १५) ही मानते हैं ।

× Henry George

† Nineteenth Century for August 1878.

‡ Nineteenth Century for July 1878.

‖ Nineteenth Century for October 1878.

यह दिखाते हैं कि दुर्भिक्षपीड़ित जिलोंसे कर प्राप्त करनेकी इच्छासे अनाज विदेशोंको भेजा जाता है। सम्पूर्ण हिन्दुस्तानसे सम्पति अनन्त राशिमें बाहर निकल रही है। यही सम्पत्तिका निकास और सरकारके असीम खर्च लोगोंको दिन पर दिन अधिकसे अधिक गरीब बना रहे हैं। हिन्दुस्तानसे बाहर जाने वाला माल अधिकतर कच्चा कृषिजन्य ही होता है। श्री हिण्डमन कहते हैं कि इसमेंसे तिहाईका बदला हिन्दुस्तानको कुछ नहीं मिलता। यह प्रायः ऋण चुकाने या पेन्शनें देनेमें स्वाहा हो जाता है। प्रसिद्ध अध्यापक फोसेट* अपने एक लम्बे लेखमें स्पष्ट दिखाते हैं कि किस प्रकार भारत सरकार बहुत ही बेपरवाह होकर फजूल खर्च करती है। आप दिखाते हैं कि गवर्नर जनरल-इन कौन्सिलके प्रत्येक सभ्यको एक बार इंगलैण्ड आने जानेके खर्चके लिए १८०००) और कलकत्ता और बम्बईके पादरियोंको उसी खर्चके लिए ३६७५०) दिये जाते हैं। इसी प्रकार हिण्डमन साहब कहते हैं भारतसे गये हुए कच्चे पदार्थोंके बदलेमें आनेवाला माल या तो सरकारी वस्तु भण्डारोंके लिए अथवा हिन्दुस्थानमें रहनेवाले यूरोपयनोंके उपयोगके वास्ते आता है। आप यह भी दिखाते हैं कि पार्लमेंटके राज्यकालमें खर्च अनन्त सीमा तक बढ़ गया है। अध पेट खाकर जीनेवाले लोग लगानों और करोंके कारण अपने बचे बचाये कृषिके साधनोंसे भी खाली हो रहे हैं। कृषि करनेमें सहायक पशु बैलादिकी संख्या दिनपर दिन कम हो रही है। जब किसानोंके पास जीवनोपयोगी पदार्थ भी नहीं रह जाते तो बाध्य होकर वे† १२ से ६० प्रतिशत सूदपर निर्दय बनियोंसे ऋण लेनेके लिए लाचार होते हैं। हिण्डमन साहब कहते हैं "सत्य बात तो यह है कि समस्त भारतीय समाज इतना गरीब पहले कभी नहीं हुआ जितना वह हमारे राज्यमें हुआ है। यह गरीबी दिनपर दिन और भी तेजीके साथ बढ़ती चली जा रही है।" ये बातें इतनी सत्य हैं कि बहुतसे सरकारी कर्मचारी तक इन्हें स्वीकार कर चुके हैं। यद्यपि पिछले दक्षिणी भारतके दुष्कालमें लगभग ६० लाख आदमी यमलोक सिधारे थे और करोड़ोंपर इसका दुःखदायी प्रभाव पड़ा था तथापि सरकारकी तरफसे लगान माफ नही हुई। इसके विपरीत नमकका कर ४० प्रति शतक बढ़ा दिया गया। इस दुष्कालमें भी ठीक १७७० के वंगीय दुष्कालके समानही बलात् कर वा लगान एकत्र किया गया गया था। श्रीमती फ्लोरेन्स नाइटिंगेल इस सख्तीको दिखाती हुई लिखती हैं कि किसानोंको सौ फी सदी पर तो उधार लेना ही पड़ता है परन्तु तिसपर भी उनकी जान नहीं छूटती।

इन बातोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि भारतकी गरीबी तथा पतनका कारण उसकी बढ़ती हुई जनसंख्या नहीं है। यदि किसानोंको उनकी नाम मात्र पूंजी रखनेका भी सौभाग्य प्राप्त हो सके तो वे व्यवसाय करके और उत्पत्तिके साधनोंको सुधारकर इस

---

* Fawcett on the proposed loans to India.

† We a business people are forcing the cultivators to borrow at 12, 24, 60 per cent to build and pay the interest on the cost of vast public works which have never paid nearly five per cent."

H. M. Hyndman.

समयसे भी अधिक लोगोंका पालन कर सकते हैं। परन्तु वे तो जेलके कैदियोंकी किस्मतको भी अपनेसे अधिक सराहा करते हैं। उन्हें तो कैदियोंके समान भी रूखा सूखा खानेको नहीं मिलता। भारतमें अब भी हज़ारों एकड़ ज़मीन विना कृषिके पड़ी है और हज़ारों खानें किसी उद्योगी व्यवसायकी इन्तजारी कर रही हैं। यह समझना भूल होगी, इसके लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, कि भारतकी जनसंख्या तीस करोड़से अधिक कभी नहीं हुई। हिन्दुस्तानकी गरीबीका कारण प्रकृतिकी कृपणता नहीं बल्कि मनुष्यकी क्रूरता है।

शरच्चन्द्र।

विश्व-व्यापी शान्तिके प्रयत्न !

यद्यपि संसारमें ऐसे लोग भी वर्तमान हैं जिन्हें हम स्वभावसे ही युद्धप्रिय कह सकते हैं, जिन्हें प्रायः अकारण ही युद्ध करना आनन्दमय प्रतीत होता है, फिर भी इन लोगोंकी संख्या बहुत कम है। हां, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि कई बातोंसे प्रेरित होकर युद्धमें भाग लेने वालोंकी संख्या अवश्य ज्यादा है। इनके सम्बन्धमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये युद्धके दुष्परिणामोंसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं और अपने हित-साधनके लिये युद्धको अनिवार्य समझते हैं। परिस्थिति विशेषमें अन्य उपाय न देख कर, अथवा नादानीसे, दूसरोंको युद्धके लिये आमन्त्रित करना आवश्यक समझ बैठना, दूसरी बात है, किन्तु युद्धको परमावश्यक कर्त्तव्य मानकर, सभी झगड़ोंके निपटारेका उसे ही एक मात्र साधन समझ कर सर्वदा उसका आवाहन करते रहना दूसरी बात है।

उपर्युक्त कथन व्यक्तियोंकी तरह व्यक्ति-समूहों तथा राष्ट्रोंके लिये भी ठीक प्रतीत होता है। साधारणतया एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके साथ केवल इसी लिये युद्ध करनेमें तत्पर नहीं हो जाता कि ऐसा करनेसे उसे किसी विशेष आनन्दकी अनुभूति होगी। यदि कोई देश अपने पड़ोसीकी जमीन दबा लेनेकी चेष्टा करे या उसकी प्रजाको अपने यहां आने जानेसे रोके या अन्य किसी भांतिसे तंग करे तो ऐसी अवस्थामें प्रायः युद्ध करना आवश्यक प्रतीत होने लगता है। किन्तु इस समय भी युद्धमें तत्पर होनेवाला राष्ट्र किसी न किसी अंशतक युद्धसे होनेवाले दुष्परिणामोंको अवश्य समझता है। दुःख इतना ही है कि दुष्परिणामोंको समझकर भी उसे युद्धके लिये सन्नद्ध होना पड़ता है।

इतिहासके देखनेसे पता चलता है कि संसारमें अति प्राचीन कालसे ही, जबकि प्रायः सभी लोग आपसमें लड़ा करते थे, शान्तिका प्रयत्न होता चला आया है। युद्ध और अशान्तिका हाल पढ़कर हमें आश्चर्य नहीं होता। आश्चर्य इस बातपर होता है कि अशान्तिकी इतनी अधिक सामग्री मौजूद होते हुए भी एवं समाजके दोषपूर्ण संगठनके कारण पारस्परिक स्वार्थमें टक्कर हो जानेके इतने अधिक अवसर आते हुए भी इतने कम युद्ध हुए। हम यह नहीं कहना चाहते कि संसारमें जितने युद्ध हुए वे किसी प्रकार अल्पसंख्यक कहे जा सकते हैं। हमारा अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि यदि युद्धसे उत्पन्न होनेवाले दुष्परिणामोंकी ओर कोई ध्यान ही न देता और न शान्ति बनाये रखनेका प्रयत्न ही करता तो न जाने और कितने युद्ध इस संसारमें हुए होते।

कई बार ऐसा अवसर आया है कि जिस उद्देशकी प्राप्तिके लिये युद्ध किया गया वह उद्देश प्राप्त न हो सका। व्यर्थ ही हजारों, लाखों मनुष्योंके प्राण गये, सारा देश

आर्थिक संकटोंमें फँस गया, और कई वर्षोंके लिये उसकी व्यापारिक तथा राजनीतिक उन्नति स्थगित सी हो गयी। कई युद्धोंके विषयमें यह कहा जा सकता है कि उनसे लाभ भी हुआ और हानि भी हुई। किन्तु प्रायः यही देखा गया है कि लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। इन्हीं सब बातोंको देखकर चिरकालसे युद्धोंको रोकने और शान्ति बनाये रखनेके निमित्त प्रयत्न होते आये हैं। गत यूरोपीय युद्धके विस्तृत दुष्परिणाम आज भी अमिट बने हुए हैं। सारा संसार आर्थिक तहस-नहससे व्याकुल हो रहा है। युद्ध समाप्त हो गया, पर उससे उत्पन्न अशान्तिकी ज्वाला अभी तक यूरोपही नहीं, संसारके अन्य देशोंमें भी धधक रही है। सभी देश अपनी अपनी आर्थिक समस्याएँ सुलझानेमें व्यग्र हैं, सभी स्थायी शान्तिके इच्छुक हो रहे हैं और यही चाहते हैं कि अब भविष्यमें ऐसा विकराल युद्ध होनेका अवसर न आवे। इसी उद्देशसे राष्ट्रसंघकी स्थापनाकी गयी थीं और वाशिंगटन सम्मेलनका भी यही अभिप्राय था।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इस प्रकारकी व्यापक शान्तिके प्रयत्न बहुत पहिलेसे ही होते आये हैं। बेलजियमके "हेग" नामक नगरमें दो बार आमंत्रित की गयी शान्ति परिषद्की कारवाई, "होली लीग" नामक संस्थाओंके प्रयत्न, शक्ति तुलाकी आयोजना, चतुरता पूर्वक तैयार की गयी संधियां इत्यादि ऐसी अनेक चेष्टाएँ हुई हैं जिनका उद्देश स्थायी शान्ति स्थापित करना ही था।

गत वाशिंगटन सम्मेलनमें जो रण-सामग्री घटानेका प्रस्ताव उपस्थित किया गया था, वह कोई नयी बात न थी। आजसे २९ वर्ष पूर्व संवत् १९५३ में रूसके जार द्वारा आमंत्रित की गयी प्रथम हेग परिषद्में भी ऐसी ही चेष्टा की गयी थी परिषद्का उद्देश था—

"सार्वदेशिक शान्ति स्थापित करना तथा सब राष्ट्रोंको असह्य प्रतीत होनेवाली अत्यधिक रणसामग्रीका घटाया जाना—ये ही उद्देश्य सारे संसारकी वर्त्तमान परिस्थितिमें ऐसे मालूम होते हैं कि जिनकी ओर अग्रसर होनेका प्रयत्न सब राज्योंको करना चाहिये।"

किन्तु उस समय संसार इस प्रश्नको सुरझानेके लिये तैयार न था। जर्मनी संसार-व्यापी सत्ताका भूखा था। उसके सिरपर सबसे अधिक शक्ति शाली बननेका भूत सवार था। इस कारण वह परिषद्की बात क्यों मानने लगा। आखिर इस सम्बन्धमें एक कमिटी बैठायी गयी। उसने निश्चय किया कि "मनुष्य जातिकी भौतिक और नैतिक उन्नतिके ख्यालसे सैनिक व्ययकी सीमा संकुचित करना अभिलषणीय है।" इस नयी बातको ढूंढ निकालनेके निमित्त उक्त कमिटीकी जितनी तारीफ की जाय उतनी थोड़ी है!

इसके पहिले सैनिक शक्ति कम करनेका एक प्रयत्न संवत् १८७४ (सन् १८१७) में भी हुआ था। जर्मनीको अपने बेड़ेकी शक्ति बढ़ाते देखकर ब्रिटेनसे चुप न रहा गया।

उसने भी अपना बेड़ा बढ़ाना शुरू किया। अन्तमें संवत् १९६९ के युद्धके पश्चात् इस प्रति-स्पर्द्धाकी भयंकरता उसकी समझमें आयी। संवत् १८७४ में अमेरिका और ब्रिटेनमें जो समझौता हुआ, उसके अनुसार दोनोंने झीलोंके किनारे अपने अपने जहाजोंकी संख्या कम कर दी। कुछ लड़ाऊ जहाज भी नष्ट कर दिये गये और नये न बनानेके लिये दोनोंने प्रतिज्ञा की। संवत् १९५९ में दक्षिण अमेरिकाके चिली और अर्जण्टाइन नामक देशोंके बीच भी ऐसा ही समझौता हुआ था।

द्वितीय हेग परिषद्‌की बैठक संवत् १९६४ में हुई। इस बार फिर ब्रिटिश, फ्रेंच तथा अमेरिकन प्रतिनिधियोंने देशोंके आंशिक निःशस्त्रीकरणका प्रश्न उठाया। जर्मनीने पुनः इसका विरोध किया। अन्तमें परिषद्‌की बैठकका कोई विशेष परिणाम न हुआ—सर्व-प्रधान समस्याका सन्तोषजनक निपटारा न हो सका।

हेगकी परिषदोंके पूर्व वीना, लयबाक तथा विरोना इत्यादिकी पंचायतों द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करनेका प्रयत्न किया गया था। इधर आस्ट्रिया, जर्मनी और इटलीके त्रिगुटको क्रमशः प्रबल होते देखकर रूस और फ्रांस तथा ब्रिटेनमें भी मैत्री स्थापित हुई। इस प्रकार जर्मनीकी बढ़ती हुई शक्तिका सामना करनेके लिये ही इस नूतन त्रिगुटकी आयोजना की गयी थी। यूरोपके इतिहासमें यह घटना "बल-साम्य" या "शक्ति-तुला" (बैलेन्स आफ पावर) के नामसे विख्यात है।

इन सब उपायोंके होते हुए भी यूरोपमें वास्तविक शान्ति स्थापित न हो सकी। कमजोर राष्ट्रोंको हड़प जानेकी इच्छा तथा पारस्परिक अविश्वासकी प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी। इसी कारण "शान्ति, शान्ति" पुकारते हुए भी सैन्यबल बढ़ानेके प्रयत्न बराबर जारी रखे गये। निदान संवत् १९७१ के १९ श्रावण (४ अगस्त सन् १९१४) को सर्वियाके राजकुमारकी हत्याके बहाने यूरोपमें प्रबल अशान्तिका विस्फोट फट पड़ा। हेगके अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय कागजोंमें ही लिखे रह गये। युद्धोन्मुख राष्ट्रोंने उनकी जरा भी परवाह न की। बेलजियमकी अन्तर्राष्ट्रीय निरपेक्षता पावोंके नीचे कुचल डाली गयी और उच्छृंखल हिंसक जन्तुओंकी तरह लोग एक दूसरेपर टूट पड़े।

उक्त यूरोपीय युद्धसे कितनी बरबादी हुई, इसका उल्लेख करना अनावश्यक है। युद्ध-कालमें जितने मनुष्य हताहत हुए, जितने गृह-विहीन हो गये, जितनी सम्पत्तिका सर्वनाश हुआ और जितने सुन्दर सुन्दर भव्य भवनोंका ध्वंस कर दिया गया, उनकी बात जाने दीजिये। युद्ध-समाप्तिके बाद भी आज तक संसारमें जो आर्थिक हलचल मची हुई है उसीसे उस युद्धकी भयंकरता प्रकट है।

युद्ध समाप्त होते ही विजयी राष्ट्रोंने ऐसी संधिकी आयोजना करनेकी चेष्टा की जिसके कारण जर्मनी फिर शक्तिशाली न होने पावे। इसी उद्देश्यसे वर्सेलसकी संधि की गयी थी, किन्तु जिसे यूरोपकी राजनीतिक तथा आर्थिक स्थितिका जरा भी ज्ञान है, वह समझ सकता है कि यह संधि अपने उद्देश्यमें कहां तक कृतकार्य हुई है या हो सकती

है । युद्धसे थके हुए, विश्वकी शान्ति-रक्षाके लिए समुत्सुक मित्रराष्ट्रोंने जोशमें आकर संधिकी ऐसी शर्तें बना डालीं जिनके अनुसार कार्य करना या तो अत्यन्त दुष्कर हो या फिर घोर असन्तोषका उत्पादक हो ।

जर्मनीकी सेना तथा जंगी बेड़ा यह विचारकर सीमा-बद्ध कर दिया गया कि भविष्यमें अन्य सब राष्ट्रोंका भी सैन्यबल संकुचित किया जा सके । इसी लक्ष्यको सामने रखकर अमेरिकाके तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वुडरो विलसन द्वारा राष्ट्रसंघकी स्थापनाकी गयी । अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंको शान्तिपूर्वक सुलझाना तथा परस्पर-के सहयोग द्वारा शान्तिकी वृद्धि करना, यही प्रधानतया राष्ट्रसंघका कर्त्तव्य माना गया । संघकी आठवीं धारामें कहा गया है कि "संघके सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि शान्ति बनाये रखनेके लिये देशकी रक्षाका ख्याल रखते हुए देशकी रण-सामग्री घटाना आवश्यक है ।" किस देशका सैन्यबल किस हद्द तक घटाया जाय इसका एक मसविदा तैयार करनेका भार राष्ट्रसंघकी उपसमिति (काउंसिल) को सौंपा गया । उपसमितिको आदेश दिया गया कि वह भिन्न भिन्न देशोंकी भौगोलिक परिस्थितिकी जांच कर इस विषयमें अपनी सम्मति दे । तदनन्तर उसकी सिफारिशोंपर सब राज्य मिलकर विचार करें । संवत् १९७६ के अन्तमें (मार्च १९२०) मित्रोंकी सुप्रीम-वार-काउंसिलने भी रणसामग्री घटानेकी आवश्यकता प्रकट की और यह कार्य करनेके लिये उसने भी राष्ट्रसंघको ही आमंत्रित किया । संघकी उपसमितिने इस संबंधमें एक अस्थायी कमीशन बैठाया । संवत् १९७८ के ३० भाद्रपद (१५ सितम्बर १९२१) को इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई । इधर संघकी प्रतिनिधि-सभा (असेम्बली)की ओरसे भी एक कमिटी बैठी । इसकी रिपोर्ट लार्ड रावर्ट संसिलने तैयारकी । आपने लिखा कि "संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी और रूसके सहयोगके बिना सैनिक उपकरण घटानेकी तजवीज समुचित रूपसे कार्यमें परिणत नहीं हो सकती ।" यद्यपि राष्ट्रसंघकी स्थापनामें प्रधान भाग लेने वाले अमेरिकाके भूतपूर्व राष्ट्रपति वुडरो विलसन ही थे, तो भी इधर दो एक ऐसी बातें हो गयीं जिनके कारण स्वयं अमेरिकाने ही संघका सदस्य बनना अस्वीकृत कर दिया । अतः संघका सदस्य न होनेके कारण अमेरिका उसके निर्णयको माननेके लिये बाध्य न था । और जब तक अमेरिका अपना बेड़ा कम न करे तब तक ब्रिटेन, फ्रांस, जापान इत्यादि इस कामके लिये कैसे तैयार हो सकते थे ? उन्हें यह भय लगा हुआ था कि कहीं शक्तिशाली अमेरिका हमें कमज़ोर पाकर निगल न जाय ।

इधर जापानकी काररवाईसे भयभीत और प्रशांत सागरके प्रश्नोंसे चिंतित अमेरिकाने जलसेनाके लिये नूतन वर्षमें ४०० की जगह ५०० डालर (डालर=लगभग ३ रु० २ आने) व्यय मंजूर कराना चाहा । इसका कारण यह बताया गया कि "अमे-रिकाका बेड़ा उतना ही शक्ति शाली होना चाहिये जितना ब्रिटनका और वह जापानसे इतना अधिक बड़ा हो कि वह उसे भयभीत करता रहे !" फिर वही घुड़दौड़ ! जब तक

राष्ट्रोंमें अपनी अपनी रणसामग्री बढ़ानेके लिये आपसमें ऐसी प्रतिस्पर्द्धा जारी रहेगी तब तक विश्व-व्यापी शान्तिकी आशा दुराशामात्र है।

जब अमेरिकाकी प्रतिनिधि सभाने जलसेनाके लिये प्रस्तावित व्यय स्वीकृत न किया तब यही ठीक समझा गया कि चलो भाई, ब्रिटेन और जापानको ही अपने यहां बुलाकर फैसला करलो। इसी उद्देशसे वाशिंगटन सम्मेलन किया गया था। अंग्रेज जापानी संधिके स्थानमें इंग्लैण्ड-जापान-फ्रांस-अमेरिका, इन चार राष्ट्रोंकी संधि हो जानेसे अमेरिकाकी चिन्ता बहुत कुछ दूर हो गयी। प्रशान्त महासागरमें कमसे कम कुछ दिनोंके लिये शान्ति बनाये रखनेमें यह संधि सहायक होगी, इसमें सन्देह नहीं। विश्व-व्यापी शान्तिका दूसरा प्रयत्न जो उक्त सम्मेलनमें किया गया, वह निःशस्त्रीकरणका प्रश्न था। इसमें भी सम्मेलनको आंशिक सफलता प्राप्त हुई है। इन सब बातोंका हाल समाचारपत्र पढ़नेवालोंसे छिपा नहीं है। यही जानकर हमने बहुत संक्षेपमें उनका उल्लेख किया है।

[इस लेखका द्वितीयांश "राष्ट्रसंघकी उपयोगिता" के नामसे अगले मासमें प्रकाशित होगा।]

भारतीय।

सामयिक संग्रह।

भारतका कर-भार।

कुछ दिन हुए सर माइकेल ओडायरने "मार्निंग पोस्ट" नामक समाचारपत्रके एक लेखमें यह प्रकाशित किया था कि संसारके अन्य सारे देशोंकी अपेक्षा भारतकी जनताका कर-भार सबसे हलका है। इसका उत्तर देते हुए डाक्टर चमन लालजी "अभ्युदयमें" लिखते हैं—

किसी देशके कम या अधिक टैक्सके देनेका निर्णय तभी हो सकता है जब उस देशके प्रत्येक व्यक्तिकी औसत आमदनी और उसपर लगाये गये टैक्सका मुकाबला किया जाय।

यदि किसी करोड़पतिसे ५ लाख रुपया टैक्सके रूपमें वसूल किया जाय तो क्या यह कहा जायगा कि उक्त व्यक्ति पर टैक्सका बोझ बहुत अधिक है? एक करोड़पति को ५ लाख देनेमें कुछ भी असुविधा नहीं हो सकती लेकिन जिसे मुशकिलसे भरपेट खानेको मिलता हो, यदि उससे दोचार पाइयां भी टैक्सके नाम पर ली जायं तोभी उसे वे अखर जायँगी क्योंकि उनके देनेमें भी उसे अड़चन हो पड़ेगी। किसी गरीब मनुष्यको दो चार पाइयां ही देने के लिये अपने बालबच्चोंका पेट काटना पड़ेगा और आज भारतमें यही दशा है। मेरा कहना तो यह है कि हमें प्रतिवर्ष प्रति मनुष्य ५) के हिसाबसे औसतन जो टैक्स (आजकल इससे कुछ ज्यादा) देना पड़ता है वह भी अवस्थापर दृष्टि डालनेसे बहुत अधिक है। इङ्गलैण्डमें प्रति मनुष्य प्रतिवर्ष औसतन करीब ३००) रु० टैक्स देना पड़ता है और भारतमें केवल ५ रुपया ही लेकिन इङ्गलैण्डके प्रत्येक नागरिकके ऊपर उतना बोझ नहीं पड़ता, उसे उतना कष्ट नहीं होता जितना कि भारतके एक नागरिक को होता है। आगेके कथनसे यह स्पष्ट होजाता है। १९००–१९१० वाले दश वर्षोंमें एक अङ्गरेज़ नागरिककी वार्षिक आय औसतन ७५०) से ऊपर मानी गयी है। अब उसी समय-के भारतके प्रत्येक नागरिकको औसतन वार्षिक आय लार्ड कर्ज़नके हिसाबसे केवल २५) हो थी। सर विलियम डिगबीने तो लार्ड कर्जन के उक्त कथनको गलत साबित करके यह प्रमाणित किया है कि प्रत्येक भारतीय नागरिककी वार्षिक आय औसतन केवल १६) ही है।

इन्हीं डिगबी साहबने यह भी बतलाया है कि एक भारतीय नागरिकको औसतन इङ्गलेन्डके एक नागरिककी अपेक्षा कहीं अधिक टैक्स देना पड़ता है। आपने सप्रमाण कहा है कि प्रत्येक भारतीय नागरिकको प्रतिवर्ष अपनी आयके हर सात रुपयोंमेंसे एक रुपया टैक्स के रूपमें दे देना पड़ता है।

आज क्या अवस्था है? आज तो दशा पहिलेसे भी कहीं अधिक खराब है। आज तो सरकारी रिपोर्टों से ही यह प्रमाणित होता है कि प्रत्येक भारतीयकी वार्षिक आय केवल २०) है। चाहे कितनी ही खींचा तानी फेरफार क्यों न किया जाय इससे अधिक आय बतलायी ही नहीं जासकती। जो सच बात है उस पर परदा कैसे और कब तक डाला जा सकता है? अब यह ध्यान देनेकी बात है कि इन २०) रुपयेमेंसे हमें ५) टैक्समें देदेने पड़ते हैं। आज तो हमें अपनी आयके ४) रुपयोंमेंसे १) टैक्स देना पड़ता है। दूसरी ओर इंग्लैण्डके प्रत्येक नागरिकको प्रतिबर्ष औसतन करीब ३ हज़ार रुपये आय होती है। इन ३ हज़ारमेंसे उसे करीब ३०० टैक्स देनापड़ता है। इस प्रकार इङ्गलैण्डके प्रत्येक नागरिकको प्रति बर्ष औसतन हर १०) में केवल एक रुपया टैक्स देना पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि क्या भारतको अधिक टैक्स देना पड़ता है या इङ्गलैण्डको? यहां इसका बिचार नहीं किया जा रहा है कि जिस समय हमें केवल २०) ही मिलते हैं उसी समय इङ्गलैण्डवालेको ३ हज़ारके करीब। इस प्रकार यदि शक्तिका विचार किया जाय तो हम तो टैक्स दे ही नहीं सकते। फिर हमारे और इङ्गलैण्डके टैक्सोंमें जो विभिन्नता उसका तो कुछ कहना ही व्यर्थ है।

[६ मईके 'अभ्युदय'से।]

* *
*

जापान और चीनका भविष्य।

इस समय संसारमें तीन बड़े औद्योगिक राष्ट्र हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका, इङ्गलेण्ड और जापान। इन्हें चीनके साथ अपना व्यापार बढ़ानेकी बड़ी आवश्यकता है। आजदिन संयुक्त राज्य अमेरिका-ने संसारमें सबसे ऊँचा आर्थिक महत्व प्राप्त कर लिया है, और उसे अपनी समस्त वस्तुओंकी खपतके सबसे सुगम मार्ग चीनमें ही

मिल सकते हैं। इसी प्रकार वह अपने लाखों निरुद्यमी मनुष्योंको काममें लगा सकता है। चीनमें ही जापान भी अपनी बढ़ती हुई मनुष्य—संख्याके लिये आवश्यक व्यापार—स्थान प्राप्त कर सकता है। इङ्गलैण्डके व्यापार तथा उद्योग पर यूरोपकी आर्थिक उथल पुथलका जो दुष्परिणाम पड़ा है और जिसकी अवस्था दिनपर दिन शोचनीय होती जाती है, उससे छुटकारा पानेके उपाय इङ्गलैण्ड चीनमें ही पा सकनेकी आशा कर सकता है। इन तीनों राष्ट्रोंका विश्वास है कि बीसवीं सदीमें आर्थिक नियम ही समस्त संसारका नियन्त्रण करते हैं।

जिस समय वे कहते हैं कि हम चीनको एक दृढ़ और स्वावलम्बी राज्य बनाना चहते हैं उस समय वे भली भांति जानते हैं कि हमारा आर्थिक स्वार्थ हमें ऐसे उपायोंका सहारा लेनेको बाध्य करेगा जिनके कारण चीनको सबल और स्वतंत्र बननेमें रुकावट होगी। इन उपायोंका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उन लोगोंमें आपसमें ही विरोध उत्पन्न हो जायेगा।

[अप्रैलके 'रिव्यू आफ रिव्यूज' से]

* *

*

यूरोपकी शान्ति

यदि हम आज यूरोपकी तरफ दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि गतयुद्धके प्रधान कारणोंमेंसे कुछ अलग कर दिये गये हैं, किन्तु अब भी अनेक कारण विद्यमान हैं। यद्यपि देशोंकी राष्ट्रीयता स्वच्छन्द है एवं सैनिक साम्राज्योंका पतन हो गया है तो भी नूतन जातियोंमें तथा यूरोपके राज्योंमें पारस्परिक अविश्वास कम नहीं हुआ है। राष्ट्रीयता अथवा राज्यके रूपमें अपनी ही पूजा करनेकी प्रवृत्ति सदाकी तरह आज भी प्रबल बनी हुई है। अभीतक यूरोपके निवासी परस्परकी एकता और भ्रातृभावकी ओर जरा भी अग्रसर नहीं हुए हैं।

फ्रांसमें एक ऐसा बहुसंख्यक दल विद्यमान है जिसका इस समय खूब दबदबा है और जो यूरोपको शान्ति तथा स्थिरता प्रदान करनेके निमित्त विशुद्ध सैनिक उपायों द्वारा, संवत् १९७६ की संधियोंको वैध साधनके रूपमें परिणत करना चाहता है। इसको सम्मतिमें जर्मनीका आर्थिक पुनरुद्धार न होने पावे, इस

ख्यालसे उससे अधिकतम हरजाना वसूल करनेपर ही यूरोपका भविष्य निर्भर है। वर्सेल्सकी संधिके अनुसार उसके निःशस्त्रीकरणका जोरोंसे आग्रह करना और यह कह कर कि जर्मनीने संधिका अक्षरशः पालन नहीं किया है उसके "राइनलेण्ड" प्रदेशपर मित्रोंका कब्जा बनाये रखना भी आवश्यक है। इस कार्य-क्रमका अनुसरण करानेके लिये फ्रांस, जेकोस्लोवेकिया, पोलेण्ड, रूमानिया तथा युगोस्लैवियाके बीच सैनिक मैत्रीकी स्थापना हो—इन देशोंके पास क्रमशः ६ लाख ६० हजार, १ लाख ५० हजार, २ लाख ८५ हजार, १ लाख ६० हजार, तथा १ लाख ६० हजार सेना हो और यह सारी सेना फ्रांसके प्रसिद्ध सेनापति मार्शल फोचकी अधीनतामें रहे। इसका अभिप्राय यह है कि यदि पुराने शत्रुराष्ट्र विरोध या विप्लव करनेकी चेष्टा करें तो यह मित्र-मण्डली तुरन्त उसे दबा डालनेमें समर्थ हो सके। श्री पोयाँकारेका उद्देश ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलसे भी इस यूरोपियन सैनिक मैत्रीकी स्वीकृति ले लेना है। वे चाहते हैं कि इङ्गलैण्ड और फ्रांसके बीच ऐसी संधि हो जाय कि यदि जर्मनी वर्सेल्सकी संधिका उल्लंघन करे तो इङ्गलैण्ड फ्रांसको अपनी सेनासे सहायता पहुंचावे।

[मार्च के 'राउण्ड टेबिल' से]

*　*
*

मिश्र देशकी वर्त्तमान स्थिति।

वर्त्तमान स्थिति यह है कि हमने मिश्रके स्वातंत्र्यकी घोषणा करदी है। हमने फौजी कानून उठा लेनेका वचन दे दिया है एवं यहभी मान लिया है कि मिश्रवासियोंके राजनीतिक अधिकारोंके स्वतंत्र प्रयोगसे एक प्रतिनिधि सभाकी स्थापना की जाय एवं चार संरक्षित विषयों पर नूतन राज्यके साथ परामर्श किया जाय। यदि वास्तवमें यह निश्चय कार्यमें परिणत किया जाय तो वह समझौतेका आधार बन सकता है। किन्तु प्रश्न यह है कि "तीन वर्षतक हमने इस प्रकारका समझौता क्यों न किया? इस विलम्बके कारण हमें कितनी क्षति उठानी पड़ी?"...(पहिले) मिश्रको इस शर्त्तपर स्वाधीनता दी जानेवाली थी कि वह हमारे पास कुछ विशेष अधिकार रहने दे। वर्त्तमान नीति यह है कि मिश्र स्वाधीन इस कारण बनाया जा रहा है कि उसे स्वाधीन होनेका अधिकार है--हित-साधनकी बात अलग कर दी गयी है।

सरकारने तीन भिन्न भिन्न अवसरों पर समझौता करनेका मौक़ा खो दिया।... वर्त्तमान हालत क्या है ? राष्ट्रीयताका पूर्ण प्रसार हो गया है। जनताके विरुद्ध होते हुए भी शासन करना कार्यमें परिणत करने योग्य राजनीति नहीं है। संरक्षित विषयोंपर जिस प्रतिनिधि सभाके साथ परामर्श किया जायगा उसमें जगलुल पाशाके अनुयायियों की अधिक नहीं तो काफी संख्या अवश्य रहेगी। ऐसी हालतमें जगलुल तथा उनके अनुयायियोंके काल्पनिक अपराधोंकी डुग्गी पीटनेसे क्या लाभ होगा? कामन्स सभामें श्री चेम्बरलेनने तथा 'टाइम्स' के संवाददाताने जगलुलपर जो दोषारोपण किया है, उसका निचोड़ केवल इतनाही हैं कि जगलुल अपनी युवावस्थासे ही अपने देश भाइयोंके प्रति सहानुभूति प्रगट करते रहे हैं। अधिकसे अधिक यही कहा जा सकता है कि जिस संगठित दलके वे प्रधान हैं उसमें कुछ दुराचरण व्यक्तिभी शामिल हो गये हैं, किन्तु वास्तवमें यह उस नीतिकी आलोचना है जिसको द्वारा सरकारने परिस्थितिका सामना किया है। हां, आयर्लैण्डके विषयमें जो बात कही जाती थी—कि ये इतने अशान्त और उपद्रवकारी लोग हैं कि जिनका सुधार असम्भव है—वही यदि इन लोगोंके बारेमें कही जाय तो बातही दूसरी है जिन लोगोंने वहांके किसानोंको अपने खेतोंमें धैर्य पूर्वक लगातार परिश्रम करते देखा है उन्हें यह दोषारोपण हास्यास्पद प्रतीत होगा।

यदि राष्ट्रीय दल जगलुलपाशाको वापस बुलानेका आग्रह करे तो क्या सरकार उसका विरोध करना चाहती है? इसका निर्णय मिश्र वासियोंके ही हाथ होना चाहिये, क्योंकि हमने उन्हें अपने राजनीतिक अधिकारोंका स्वेच्छानुसार प्रयोग करनेकी प्रतिज्ञा की है। जगलुलकी उपस्थिति परेशानीका कारण जरूर है, किन्तु उनकी अनुपस्थिति भयावह होगी। यदि मिश्रके राष्ट्रीय दलको हम क्रुद्ध करदें और अपनी ओरसे उसकी सहानुभूति हटा दें तो वह ब्रिटिश जातिके विरुद्ध षडयंत्रोंका क्षेत्र बन सकता है। यदि उनके साथ सद्भावका बर्ताव किया जाय और उनसे समझौता किया जाय तो वे साम्राज्यके सच्चे सहायक बन सकते हैं ... ...

नूतन निश्चयोंका मिश्रपर क्या प्रभाव पड़ेगा यह अभीसे नहीं कहा जा सकता? हम नहीं कह सकते कि समाचार पत्रोंको जनताकी सम्मति प्रगट करनेका अब भी अधिकार है या नहीं। हम इतना अवश्य जानते हैं कि देशी वकीलोंकी संस्था (नेटिव-बार-

काउन्सिल) अपने सदस्योंको मिश्रकी शासन-व्यवस्थाका मसौदा तैयार करनेकी अनुमति नहीं देती। हम यह भी जानते हैं कि मिश्रकी स्वाधीनता सम्बन्धी उत्सवोंमें जनताकी ओरसे कुछ उपद्रव हो गया था। हमें यह भी मालूम है कि एलअजहारमें पलटनें भेजी गयी थीं। सच्ची बात यह है कि मिश्रका भविष्य नूतन निश्चयोंके ब्रिटिश सरकार द्वारा कार्यमें परिणत करनेके ढंगपर अवलम्बित है।

[१५ अप्रैलके 'दी नेशन एन्ड ऐथिनियम'से।]

* *
*

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय।

संसारमें सार्वदेशिक शांति स्थापित करनेके लिये राष्ट्र संघ नामक संस्थाकी आयोजना की गयी। संसारकी अशांतिका एक प्रधान कारण श्रमजीवियोंकी असंतोष जनक स्थिति भी है। अतः राष्ट्रसंघकी ओरसे एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन-कार्यालय भी स्थापित किया गया है। इस संबंधमें अध्यापक गिलबर्ट मर्रे 'मिलगेट मंथली" नामक पत्रमें लिखते हैं—

यह श्रम कार्यालय राष्ट्रसंघकी ओरसे स्थापित हुआ है। संसारकी औद्योगिक कठिनाइयोंको दूर करना और श्रमियोंकी सर्वत्र एकसी हालत उत्पन्न करना—यही काम इसको सौंपा गया है।

इसका प्रबंध एक प्रबंधक समितिके हाथमें है। इस समितिके सदस्योंकी संख्या चौबीस है, जिनमें बारह भिन्न भिन्न राज्योंके, छः पूंजीपतियोंके और छः श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि रहते हैं।

इस अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्थाके विरुद्ध यह आक्षेप किया गया है कि वह अपनी अधिकार-सीमाका उल्लंघन कर रही है, क्योंकि वह समाज-विरुद्ध, राष्ट्र-विरुद्ध, विप्लवकारी समष्टिवादी विचारोंको उत्पन्न करती है। लेखकके मतमें यह दोषारोपण अनुपयुक्त है। जब कि उक्त संस्थाकी प्रबन्ध समितिके आधे सदस्य भिन्न भिन्न सरकारों द्वारा ही मनोनीत किये जाते हैं तो यह कैसे संभव है कि वे विप्लवकारी सिद्धान्तोंका प्रचार होने दें?

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय इस बातको सूचित करता है कि श्रमजीवियोंका प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय है। यदि पड़ोसके देश अपने यहांके श्रमजीवियोंके झगड़ोंका निपटारा बल-प्रयोग से करें अथवा उनपर

विचार करना ही अस्वीकृत कर दें तो किसी भी देशको अपनी श्रम समस्याओंका बुद्धिसंगत और शांतिपूर्ण रूपसे सुलझाना असम्भव है। एक देशका राज्य विप्लव ही अन्य देशोंमें फैलनेकी ओर प्रवृत्त होता है, यह बात नहीं है, एक देशके श्रमजीवियोंकी बुरी हालत भी दूसरे देशोंके श्रमजीवियोंकी दशामें सुधार नहीं होने देती।

श्रम कार्यालयका यह उद्देश्य है कि पतितसे पतित राष्ट्रोंके श्रमजीवियोंकी दशा सर्वोच्च राष्ट्रोंके श्रमजीवियोंकी दशाके बराबर होजाय। यह राज्य-विप्लव करनेका मार्ग नहीं है, प्रत्युत उससे निवारण करनेका मार्ग है।

[मार्चके "वैल्थ आव् इंडिया"से।]

* *
*

समाज संगठनका प्रश्न।

यह प्रश्न इस समय हमारे लिये बड़े महत्त्वका है। यह केवल विद्वत्-परिषद्‌का प्रश्न नहीं है—विद्वानोंके तर्क-वितर्ककी वस्तु नहीं है। हमें अपने व्यावहारिक जीवनमें अति शीघ्र इससे सामना करना है। हमारा समाज अभी तक जाति-प्रथाके ऊपर दण्डायमान है, यद्यपि उसमें अब पूर्व समय जैसी दृढ़ता शेष नहीं रह गई है। यद्यपि क़ानूनकी दृष्टिमें सब कोई बराबर हैं और प्रत्येक व्यक्तिको क़ानून सब काम करनेका अधिकार प्रदान करता है, तथापि हम नहीं कह सकते कि प्रत्येक मनुष्यके सामाजिक अधिकार बराबर हैं और मनुष्यके ऊँची या नीची जातिमें जन्म लेनेके कारण उसे अपने व्यावहारिक जीवनमें कोई लाभ या हानि नहीं होती। नहीं, हमारे हिन्दू ला में भी अभी तक जाति-जनित असमानता स्थल स्थलपर स्पष्ट रूपसे झलक रही है। वर्ण-विभेदको क़ानून भी कहीं कहीं मानता है।

परन्तु पाश्चात्य-स्वतन्त्रताका झोंका भारतवर्षमें भी पहुंच गया है। इस समय भारतमें भी प्रजा-तन्त्रात्मक शासनका भाव जागृत हुआ है। अतएव उसे अपने सामाजिक सङ्गठनको बदलना पड़ेगा।... यदि हम प्रजा-सत्तात्मक शासनकी कामना रखते हैं तो हमें अपने समाजको उसके उपयुक्त बनाना पड़ेगा। इसके बिना प्रजासत्तात्मक स्वराज्यका पदार्पण नहीं हो सकता। हम समाजमें जातिवादी हों

और राजनीतिमें प्रजातन्त्रवादी, यह बात असम्भव है। हम अपने समाजमें तो श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम तथा लघु, लघुतर, और लघुतमका क्रम बनाये रक्खें, परन्तु राजनीतिमें समानताके पक्षपाती हों, यह कैसे सम्भव हो सकता है?

समाजके इन दोषोंको दूर करनेके निमित्त बोलशेवियोंकी तरह मारकाटकी आवश्यकता नहीं है। लेखककी सम्मतिम

भारतके समाज-सुधारकोंको यह बात स्मरण रखनेकी बड़ी आवश्यकता है कि सामाजिक असमानताओं और भेद-भावोंके हटानेका सहज साधन क्रांति नहीं है। यथार्थ काम प्रेमसे होता है, घृणासे कुछ भी नहीं। घृणाकी प्रतिक्रिया घृणा ही होती है और इसका परिणाम होता है विप्लव। जाति-प्रथाकी ही बदौलत किसानों और मज़दूरोंके इतने दरिद्र होनेपर—उन्हें एक ग्राम भर पेट भोजन न मिलनेपर, कुछ जातियोंके अस्पृश्य होनेपर तथा उनके पशुओंसे भी तुच्छ अनुमान किये जानेपर—भारतको अभी तक विप्लव रक्तपात, घृणा और युद्धका सामना नहीं करना पड़ा है। हमें सदा यह देखते रहना चाहिये कि भारतमें पाश्चात्य देशों जैसी अवस्था न उपस्थित हो जाय। इस लिये हमें धैर्यसे काम लेना होगा, हमें धीरे धीरे अपना काम करना होगा। क्रान्तियों और विप्लवोंसे यथार्थ सामाजिक उन्नति नहीं होती।

यदि जाति-प्रथा बुरी वस्तु है तो पाश्चात्य देशोंकी वर्तमान विशृङ्खल स्पर्धा भी आदरकी वस्तु नहीं है। यदि एकका परिणाम हमारे समाजको पिछड जाना और अनुन्नतशील होना है तो दूसरेका परिणाम रक्तपात, घृणा विद्रोह, क्रान्ति और विप्लव है। इन दोनोंमेंसे किसीसे काम न चलेगा। आदर्श समाजमें इन दोनोंके संश्लेषणकी आवश्यकता है। हम यह नहीं कहते कि आवश्यकता पड़नेपर भी हम प्राचीन परिपाटियोंके बदलनेका प्रयत्न न करें और लकीरके फ़क़ीर बने रहें। नहीं, कदापि नहीं। प्राणि-शास्त्रके इस सिद्धान्तकी अवहेलना नहीं की जा सकती कि जीवित रहनेके लिये जीवधारियोंको परिवर्तित परिस्थितिके अनुकूल बनना ही पड़ेगा अन्यथा वे जीवित ही नहीं रह सकते। मैं केवल इतना ही स्मरण करा देना चाहता हूं कि भूत और भविष्यमें अभेद्य सम्बन्ध है और यथार्थ उन्नतिके दुर्गका निर्माण भूतकी ही दीवारोंपर हो सकता है।

[मईकी "सरस्वती" से, लेखक श्री गोवर्द्धनलाल]

—:o:—

सम्पादकीय ।

रेल निर्माणार्थ पूंजकी व्यवस्था।

भारतमें इस समय रेलोंका कुल विस्तार ३६,७३५ मील है। इसमेंसे कुछ रेलोंका प्रबन्ध तो सरकार स्वयं करती है, किन्तु अधिकांश रेलोंका प्रबन्ध देशी राज्यों तथा प्रधानतया विदेशी कम्पनियोंके हाथमें है। इतनी विस्तृत रेल बनानेमें अभी तक कोई पांच अरब अड़तीस करोड़ रुपये खर्च हो चुके हैं। सरकारी आयमेंसे १४ करोड़ रुपये ही खर्च किये गये हैं। रेल बनानेका काम अधिकतर ऋण निकालकर प्राप्त की गयी पूंजी द्वारा ही होता है। इस ऋणका अधिक भाग विलायतके व्यापारियोंसे ही लिया जाता है, अतः इतनी बड़ी रकमपर भारत सरकारको जो सूद देना पड़ता है, वह भी विलायत वालोंको ही मिलता है। इतना ही नहीं, इंग्लैण्डवालोंसे ऋण लेनेके कारण यहांकी रेल कम्पनियोंको उनका बहुत कुछ मुलाहिजा करना पड़ता है। रेलोंके बनानेमें जिन पदार्थोंकी आवश्यकता होती है, वे भारतमें या यूरोपके अन्य किसी ऐसे देशमें जहां कि वे सस्ते भावसे मिल सकें, न खरीदे जाकर इंग्लैण्डमें ही खरीदे जाते हैं। ब्रिटेनमें निकाले गये ऋणकी रकम रेलोंकी सामग्री खरीदनेके लिये वहां ही खर्च की जाय इस सम्बन्धमें रेल कम्पनियों तथा भारत सरकारपर जो प्रभाव डाला जाता है, उसका उल्लेख रेलवे कमिटीके सामने गवाही देते समय सर विलियम मेयरने भी किया था। फिर, इंग्लैण्डमें जो सामान खरीदा जाता है, उसका मूल्य यूरोपके अन्य देशोंमें प्राप्त हो सकने वाले सामानकी अपेक्षा कम हो, सो भी नहीं। उलटे, इंग्लैण्डमें प्राप्त रेल-सामग्रीके लिये दस प्रति सैकड़ा मूल्य अधिक देना पड़ता है अर्थात् जो सामान हमें अन्यत्र १०० पौण्ड या १५०० रुपयोंमें मिल सकता है, उसीके लिये इंग्लैण्डमें ११० पौण्ड या १६५० रुपये देने पड़ते हैं। इस प्रकार करोड़ोंका माल खरीदनेमें व्यर्थ ही न जाने कितनी क्षति उठानी पड़ती होगी। यदि यह ऋण और तज्जनित क्षति रेलवे कम्पनियोंको ही उठानी पड़ती होती तो इस सम्बन्धमें विशेष आपत्ति करनेका हमें कोई अधिकार न था। पर वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। यहां तो रेलोंका सारा व्यय-भार सरकारको कर देने वाली जनतापर ही है। इसी कारण हम कहते हैं कि रेल-निर्माणार्थ पूंजीके लिये जितना ऋण लेनेकी आवश्यकता हो वह यथासंभव भारतमें ही लिया जाय। इसके बाद यदि आवश्यकता हो तो बाहरके उन देशोंसे ऋण लिया जाय जहां व्याज कम देना पड़े एवं जहां अन्य सुविधाएँ भी हों—केवल इंग्लैण्डसे ही ऋण लेनेकी परिपाटी-का परित्याग किया जाना चाहिये। उसी प्रकार रेलोंके लिये जितने सामानकी आवश्यकता हो वह यथासंभव भारतमें ही खरीदा जाना चाहिये। यदि यहां वह काफी मात्रामें प्राप्त

न हो सके तो अन्य देशोंसे जहां वह आसानीसे और कम मूल्यमें प्राप्त किया जा सके मँगाना चाहिये। रेलोंके लिये प्रधानतया लोहा, लकड़ी और कोयला—इन तीन पदार्थोंकी बड़ी आवश्यकता होती है। सौभाग्यसे हमारे देशमें ये तीनों चीजें बहुतायतसे पायी जाती हैं। देशमें ही राशि राशि कोयला मिल सकने पर भी विदेशोंसे कोयला मँगाना व्यर्थका आयास, असुविधा और खर्च उठाना नहीं तो और क्या है? यदि यहां पायी जाने वाली उपयोगी वस्तुओंका समुचित प्रयोग किया जाय एवं यदि रेलोंके निमित्त आवश्यक सामान काफी मात्रामें यहां ही तैयार किया जाने लगे तो रेलोंके चलानेका व्यय भी कम पड़ने लगे और यहांके हजारों-लाखों मनुष्योंको जीविकाका अच्छा साधन भी प्राप्त हो जाय। देशी कोयला विदेशी कोयलेकी अपेक्षा मूल्यमें भी सस्ता है और उपयोगिताके विचारसे भी किसी प्रकार घटिया मेलका नहीं कहा जा सकता। साथ ही यहकि श्रमजीवियोंका पारिश्रमिक इंग्लैण्ड आदि देशोंके श्रमजीवियोंकी अपेक्षा बहुत कम है। अतः किसी वस्तुके बनानेमें जितना खर्च इंग्लैण्ड इत्यादिमें पड़ता है, उचित प्रबन्ध होने पर वही वस्तु हमारे देशमें उससे कहीं कम मूल्यमें तैयार हो सकती है। यह सत्य है कि हमारे यहांके श्रमजीवी उतने शिक्षित और अभ्यस्त नहीं हैं जितने इंग्लैण्ड इत्यादिके समान समुन्नत देशोंमें काम करने वाले हैं, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि भारतीय मजदूर 'शिक्षित और अभ्यस्त' बनाये ही नहीं जा सकते। परमात्माने जिन पांच तत्त्वोंसे अंग्रेज मजदूरोंकी रचनाकी है, भारतीय श्रमजीवियोंका निर्माण करते समय भी उसने उन्हीं पांच तत्त्वोंका प्रयोग किया है। अतः कोई कारण नहीं कि जो काम इंग्लैण्डके मजदूर कर सकते हों वही काम सिखाये जाने पर भारतीय मजदूर भी न कर सकते हों, अस्तु।

यहां ही ऋण निकाल कर अधिकांश सामग्री यहीं खरीदनेसे एक और लाभ होगा। देशका रुपया देशमें ही रह सकेगा और उससे हमारे औद्योगिक विकासमें काफी सहायता मिल सकेगी। अतः जिस उपायके प्रयोगसे रेलोंके निर्माण और उनके चलानेका भी व्यय कम पड़नेकी आशा हो, जो हमारी औद्योगिक उन्नतिमें सहायक हो, जिससे हमारे श्रमजीवी शिक्षा और रोटी साथ साथ प्राप्त कर सकें, एवं जिससे देशकी समृद्धि बढ़नेकी संभावना हो, उसका अवलम्बन क्यों न किया जाय? हमें यह जानकर प्रसन्नता होती है कि अभी उस दिन बड़ी व्यवस्थापक सभामें इस आशयका एक प्रस्ताव भी स्वीकृत किया गया है कि रेलोंके लिये आवश्यक सामान यथासंभव भारतमें ही खरीदा जाय। यदि वास्तवमें इस प्रस्तावको कार्यमें परिणत करनेका प्रयत्न किया जाय तो इससे अवश्य ही बहुत लाभ हो सकता है।

इंग्लैण्डके व्यापारियोंसे ऋण निकालनेका केवल यही परिणाम नहीं होता कि रेलवे कम्पनियोंको अधिकांश सामग्री वहींसे मंगानी पड़ती है, प्रत्युत उसका एक परिणाम यह भी होता है कि कम्पनियोंको रेलके भाड़ेकी दर इस ढँगसे निश्चित करनी पड़ती है कि जिसमें

इंग्लैण्ड इत्यादिके मालको भारतके कोने कोनेमें प्रवेश पानेमें देशी मालकी अपेक्षा किसी प्रकार कम सुविधा न हो। अनुभवसे तो यहां तक प्रकट होता है कि रेलवे कम्पनियोंने विदेशी मालको देशी मालसे भी अधिक सुविधाएँ दे रखी हैं। जैसा कि हम 'माघ' के अंकमें लिख चुके हैं, "संवत् १९७० में यदि बम्बई या करांचीवाले व्यापारी कानपुर, दिल्ली या लाहौरको विदेशी कागज भेजते थे तो उन्हें जो रेल भाड़ा देना पड़ता था, उसकी अपेक्षा कलकत्तेके समीपस्थ किसी मिलको अपना माल उक्त स्थानोंमें पहुंचानेके निमित्त फी मन फी मील ६० प्रति सैकड़ा रेलभाड़ा अधिक देना पड़ता था।" उसी प्रकार देशी सूतपर फी मन उतना ही भाड़ा लगता है जितना विदेशी वस्त्रोंपर लगता है, यद्यपि सूतका मूल्य कपड़ोंकी अपेक्षा बहुत कम रहता है। भिन्न भिन्न रेलवे कम्पनियोंमें प्रचलित भाड़ेके नियमोंके सम्बन्धमें ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि भाड़ेकी दर हमारे औद्योगिक समुत्थानमें बाधक है एवं वह हमारे विदेशी व्यापारमें ही विशेष सहायक है।

यदि यह कहा जाय कि रेलोंके लिये जितनी पूँजीकी आवश्यकता है, उतना ऋण भारतमें नहीं मिल सकता, तो हम इसकी आंशिक सत्यता माननेके लिये तैयार हैं। हम जानते हैं कि भारतमें अधिक मात्राका ऋण निकालनेमें कई कठिनाइयां हैं, पर हमारी समझमें वे अजेय नहीं है और न उनके कारण ऋण लेनेका काम एकदम निष्फल ही हो सकता है। युद्धके समय जिस देशमें अरबोंका ऋण निकाला जा सका था, उसी देशमें रेलोंके समान उत्पादक व्यवसायके निमित्त काफी ऋण न मिल सकेगा, इसमें हमें विश्वास नहीं होता। समुचित प्रयत्न होनेसे अवश्य ही सफलता प्राप्त हो सकती है। विदेशी पूँजीपतियोंके भरोसे बैठे रहनेसे हम अधिकाधिक परावलम्बी होते जायँगे और हमारे देशमें उन लोगोंका स्वार्थ क्रमशः बढ़ता ही जायगा। ऐसी हालतमें उन्हें हमारा स्वायत्तशासन प्राप्त करना कब पसन्द आयगा? अतः यदि हम अपने देशको शीघ्र ही स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं तो हमें उसे विदेशी पूँजीपतियोंके पञ्जेसे छुड़ाना अत्यन्त आवश्यक है।

औद्योतिक असन्तोषका प्रसार।

जिस समय हम यूरोपके अनेक समुन्नत देशों या अमेरिका एवं जापानकी ओर देखते हैं उस समय हमें भारतकी वर्त्तमान औद्योगिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय प्रतीत होने लगती है। उद्योग-धन्धोंके खयालसे उक्त देशोंकी तुलनामें हमारे देशकी स्थिति कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। काफीसे भी ज्यादा कच्चा माल यहां प्राप्य होनेपर भी हम जीवनकी अनेक आवश्यक वस्तुओंके लिये परावलम्बी बने हुए हैं। फिर भी इधर कुछ वर्षोंसे जैसी जागृति देशमें उत्पन्न हो गयी है और होती जा रही है उसके कारण इस पथपर भी उसने पांव बढ़ाया है, इसमें सन्देह नहीं। आज बम्बई, कलकत्ता, आगरा, कानपूर इत्यादि अनेक स्थानोंमें ऐसे सैकड़ों कारखाने चल रहे हैं जिनसे देशकी आवश्यक वस्तुओंकी मांग किसी न किसी अंशमें पूरी हो रही है। अवश्य ही इन कारखानों

और विशेषकर विशुद्ध भारतीय कारखानोंकी संख्या बहुत थोड़ी है। फिर भी वे इस बातके सूचक हैं कि अब हम अपनी आवश्यक वस्तुओंको अपने ही देशमें प्रस्तुत करनेके लिये समुत्सुक हो रहे हैं। अस्तु

इस सम्बन्धमें हमें एक बात स्मरण रखनी चाहिये। प्राचीन समयमें हम सारे संसारके आचार्य भले ही रहे हों, इस समय तो हम पश्चिम वालोंको ही अपना आदर्श मान रहे हैं। हमारे कलकारखाने करीब करीब उसी ढर्रेपर स्थापित किये जाते और उसी ढंगसे चलाये जाते हैं जिस ढंगसे वे पश्चिमी देशोंमें चलाये जाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि गुणोंके साथ साथ हम उनके दोषोंको भी ग्रहण कर रहे हैं। हमारे देशकी स्थिति यूरोपीय देशोंकी स्थितिसे कई बातोंमें भिन्न है, अतः हमें पश्चिमी बातें ग्रहण करते हुए भी उन्हें अपनी स्थितिके अनुकूल परिवर्त्तित और संस्कृत कर लेना चाहिये—उन्हें पूर्वी लिवास पहिना देना चाहिये—तभी वे हमारे लिये विशेष लाभवाली साबित हो सकती हैं।

पश्चिमी ढँगके औद्योगिक विकासमें दो बड़े बड़े दोष हैं—बेकारी और औद्योगिक अशान्ति। यदि हम विचारपूर्वक देखें तो हमें यह बात स्पष्ट झलकने लगती है कि हमारा देश भी उक्त दोनो दोषोंसे बच न सका। चारों ओर बेकारी अपना अस्तित्व प्रकट करने ही लगी है और औद्योगिक झगड़ोंकी वृद्धि तो बड़े अर्थ-शास्त्रियोंकी बुद्धिको भी पानी पिला रही है। पन्द्रह वर्ष पहिले शायद ही कहीं कोई मजदूरोंकी हड़तालका नाम सुनता था। किन्तु इधर चार—छः वर्षोंसे तो गजब हो गया। जिधर देखिये, उधर ही हड़ताल—आज कपड़ेकी मिलमें, तो कल डाक या तार-विभागमें। कभी रेलवाले हड़ताल करते हैं तो कभी ट्रामवाले काम छोड़कर बैठ जाते हैं। अकेले बम्बईमें ही गत दो वर्षोंमें बारह बड़े बड़े औद्योगिक झगड़े हो गये जिनके कारण पूंजीपतियों ही नहीं, स्वयं हड़तालियों तथा जनताको बड़ी हानि उठानी पड़ी। संवत् १९७६ के माघ मास (जनवरी, १९२०) में जो मिलमें काम करनेवालोंकी हड़ताल हुई थी, उसके कारण प्रायः डेढ लाख मनुष्य लगभग एक मास तक बेकार बैठे रहे। फिर संवत् १९७७ के आश्विन (सितम्बर १९२०) में डाकियोंकी हड़ताल हुई। यह पांच मासतक जारी रही। इतने अधिक समयतक बेकार रहनेके कारण हड़तालियोंकी क्या दशा हुई होगी, यह सहज ही समझा जा सकता है। जनताको तो इसके कारण बहुत ही अधिक अड़चन उठानी पड़ी थी। इन्हीं सब हड़तालोंके कारण बम्बई—सरकारका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उसने सर स्टेनली रीडकी अध्यक्षतामें एक "औद्योगिक झगड़ोंकी समिति" (इंडस्ट्रीयल डिस्प्यूट्स कमिटी) स्थापित की। समितिने सिफारिशकी है कि झगड़ेके कारण और घटनावलीकी जांच सार्वजनिक न्यायालय द्वारा की जाय। इस उद्देश्यकी प्राप्तिके निमित्त किसी भी एक दलके कहनेसे, या सरकार स्वयं ही, एक विचारालय स्थापित करेगी। इसमें पुंजीपतियों तथा श्रमियोंके बराबर बराबर

प्रतिनिधि रहेंगे। सरकार जिन नामोंकी सूची दे उनमेंसे किसी एकको सभापति बनाना होगा। कमिटीने सिफारिश की है कि उक्त सार्वजनिक विचारालयको दीवानी अदालतके अधिकार प्राप्त हों ताकि वह ऐसे मनुष्योंको भी गवाही देनेके लिये बाध्य कर सके जिनका विचारालयमें उपस्थित होना आवश्यक होते हुए भी जो ऐसा करना अस्वीकृत कर दें।

आजकल जो हड़तालें हो जाया करती हैं उनका वास्तविक कारण कभी कभी बिलकुल समझमें ही नहीं आता। दोष किस पक्षका है और न्याय किन लोगोंकी ओर है, जब तक यह निश्चित रूपसे विदित न हो जाय तबतक किस पक्षका समर्थन करना और किसका समर्थन न करना, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। इस प्रकारकी खुली जाँच-पड़ताल होनेसे यह काम सरल हो जायगा। हड़तालियोंको भी अपने दुःखके कारण स्पष्ट-रूपसे प्रकट करनेका मौका मिलेगा। पूंजीपति भी अपनी सच्ची सच्ची स्थिति हड़तालियों तथा जनताके सामने रख सकेंगे। ऐसा होनेसे परस्परका भ्रम दूर हो जायगा और दोनों पक्ष एक दूसरेकी कठिनाइयों एवं सदिच्छाओंको समझने लगेंगे। वैमनस्य दूर करनेका यही उपाय है।

इस प्रकारकी खुली जांच बड़ी सावधानीसे किन्तु शीघ्रतापूर्वक की जानी चाहिये। यदि झगड़ेकी उत्पत्तिके कारणोंकी जांच करनेमें ही महीने बीत जायँ तो इस काररवाईसे विशेष लाभकी आशा नहीं की जा सकती। ऐसे मामलोंमें अधिक समय लगनेसे जनताके कष्ट बढ़ जाते हैं, हड़ताली घबड़ा उठते हैं और परिस्थिति अधिक जटिल हो जाती है।

परिस्थितिकी जांच करनेके बाद दोनों पक्षके पञ्च जो कुछ निर्णय करें वह हड़तालियों और पूंजीपतियों, दोनोंको ही ग्राह्य होना चाहिये। यदि कोई पक्ष उक्त निर्णयका अनुसरण न करना चाहे तो पुनः बड़ी कठिनाई उपस्थित होगी। जबरदस्तीसे काम न चलेगा। पश्चिममें भी पञ्चोंके निर्णयको बलपूर्वक पालन करानेकी नीति विशेष सफल नहीं हुई है। भारतमें भी उसकी सफलताकी बहुत कम आशा है। इसे हम न्याय्य भी नहीं समझते। ऐसी हालतमें हठी पक्षको पुनः समझाना ही उचित होगा। असलमें हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि दोनों पक्षोंमें पारस्परिक समझौता करनेका भाव उत्पन्न हो जाय। वे लोग सारी बातें पञ्चोंके ऊपर छोड़ दिया करें और उनका निर्णय भी स्वेच्छापूर्वक मान लिया करें। इससे भी बढ़ कर यह होगा कि औद्योगिक झगड़ोंकी जड़ ही खोद डाली जाय। यह काम अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी दोनों दलोंके प्रतिनिधियों-की संयुक्त चेष्टासे इस कार्यमें भी आशातीत सफलता मिल सकती है। यदि दोनों ओर वाले एक दूसरेके हित और कठिनाइयोंका ख्याल रखा करें तो ऐसे अवसर बहुत कुछ टल सकते हैं। किन्तु मनुष्यका जैसा स्वभाव हम देखते हैं, और समाजका जो संगठन हमारे दृष्टिगोचर होता है, उसके रहते यह कहां तक संभव है, हम नहीं कह सकते।

भारत सरकार तो इन मामलोंमें अभी तक बड़ी उदासीन रहती आयी है। गत वर्ष जब आसामके बागीचोंमें काम करने वाले कुली अपने गोरे "मालिकों"से असन्तुष्ट होकर घर लौट रहे थे, तब उन्हें क्षुधा और महामारीसे आक्रान्त होकर कीड़े-मकोड़ोंकी

नाईं प्राण त्यागते देखकर भी सरकारने यह कहकर उनकी सहायता करनेसे इन्कार कर दिया था कि सरकार इन लोगोंके निजी मामलोंमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहती। जनताकी संरक्षक होनेके नाते अथवा मनुष्यमात्रके नाते भी उसने अपनी उदासीनता भंग करना उचित न समझा।

पहिले सरकार औद्योगिक झगड़ों इत्यादिके सम्बन्धके अंक भी न रखती थी। किन्तु जबसे राष्ट्रसंघकी ओरसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम—संस्थाकी स्थापना हुई है, जिसमें भारतके भी दो प्रतिनिधि उपस्थित थे, तबसे भारत सरकार इस ओर कुछ अधिक सचेष्ट हुई है। अब वह हड़तालोंकी संख्या, कारण, मजूरी, निर्वाह-व्यय इत्यादिके अंक तथा आवश्यक विवरण रखने लगी है। किन्तु औद्योगिक-झगड़ोंमें वह अब भी उदासीन ही रहती है।

औद्योगिक असन्तोषका प्रसार रोकनेके लिये यह आवश्यक है कि श्रमियोंका पारिश्रमिक कमसे कम वर्त्तमान महँगीके अनुरूप ही बढ़ा दिया जाय और कारखानोंके हिस्सेदारोंको मुनाफेकी मोटी मोटी रकमें न देकर उसका कुछ अंश श्रमियोंकी दशा सुधारनेमें खर्च किया जाय। श्रम संघोंकी संख्यामें वृद्धि होनी चाहिये और उन्हें श्रमियोंकी अवस्था सुधारनेका अधिक प्रयत्न करना चाहिये।

जिनोआ सम्मेलन।

यूरोपका आर्थिक ढांचा इस तरह तहस-नहस हो गया है कि युद्ध समाप्त हो जानेके इतने समयके बाद भी उसके दुरुस्त होनेके कोई लक्षण नहीं दिखायी देते। असलमें सारी व्याधियोंकी जड़ तो विजयके आवेगमें स्वार्थान्ध राजनीतिज्ञों द्वारा तैयार की गयी वर्सेल्सकी संधि ही है। जब तक उसकी शर्त्तोंमें काफी परिवर्त्तन न होगा तब तक आर्थिक शान्तिका स्थापित होना दुष्कर है। फ्रांस उक्त संधिमें किञ्चिन्मात्र भी परिवर्त्तनका विरोधी है। इसी कारण जिनोआ सम्मेलनके कार्यक्रममें यह बींग पहले ही लगा दी गयी थी कि संधिमें परिवर्त्तन कराने अथवा हरजानेके सम्बन्धमें सम्मेलनमें कोई विवाद न हो सकेगा। ऐसी अवस्थामें सम्मेलनका असफल होना अनिवार्य था। पर आश्चर्यकी बात तो यह है कि जितने कार्य सम्मेलनके सामने उपस्थित हो सके उनमें भी उसे कोई सफलता न मिली। मिले तो कैसे मिले? हृदयमें अविश्वास और विद्वेष--भाव धारण किये हुए कोरी मौखिक सहानुभूतिसे ही ये काम पूरे नहीं किये जा सकते। यद्यपि इंग्लैण्डके प्रधान सचिव श्री लायडजार्जने इस बातका खण्डन किया है कि फ्रांस और इंग्लैण्डकी मित्रता समाप्त होनेपर है, फिर भी इसके काफी चिन्ह नजर आ रहे हैं। इस सम्मेलनसे यह भी स्पष्ट मालूम होता है कि अब यूरोपका पुनःसंगठन होना अनिवार्य है। यूरोपमें फिर नये नये गुट बनेंगे! कौन राष्ट्र किस गुटमें शामिल होगा, यह कहना कठिन है।

एक मासके बाद बेलजियमके 'हेग' नगरमें पुनः एक सम्मेलन होगा। देखें, उसमें क्या गुल खिलते हैं।

ज्ञातव्य विषय तथा अंक ।

मूल्य-वृद्धिपर नोटोंकी अधिकताका प्रभाव ।

संवत्	अनाजकी मूल्य-सूची		प्रचलित रुपये (करोड़में)	प्रचलित नोट करोड़में
	भारतमें	इंग्लैण्डमें		
१९५०	१००	१११		
१९५१	११४	६३	१२०	२८
१९५७	१९२	७५	१३०	२२
१९६१	११७	७०	१४४	२८
१९६७	१६८	७८	१८६	४०
१९६८	१६१	८०	१८४	४०
१९६९	१८९	८५	१८२	४४
१९७०	१९९	८५	१९१	४७
१९७१	२२२	८५	१८७	५०
१९७२	२१८	१०८	२०४	४४
१९७३	२०१	१३८	२१२	५३
१९७४	२०२	१७५	२२७	६७
१९७५	२७०	१९२	२१९	८४
१९७६	२८९	२०६	२२८	१३४
१९७७	३५८	२५१	२६०	१५४
१९७८	४१०	१३६	२६२	१७२
		१३३ मार्गशीर्ष	...	...

कुछ प्रसिद्ध देशोंकी जनसंख्या प्रति वर्ग मील।

(संयुक्त राज्य अमेरिकाके स्टैटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्टसे)

देश	जनसंख्या प्रति वर्गमील		देश	जनसंख्या प्रमि वर्गमील	
जापान	३९२·५३	,,	भारत	१७४·८३	,,
संयुक्त राज्य (ग्रेट ब्रिटेन, आयर्लैण्ड)	३७९·५३	,,	बृहत् चीन	७५·६९	,,
इटली	३३२·०१	,,	संयुक्तराज्य अमेरिका	३५·५०	,,
जर्मनी	३२०·३५	,,	फारमूजा	२६९·८९	,,
फ्रांस	१९५·०४	,,	कोरिया	२०२·१२	,,
चीन खास (१८ प्रान्त)	१९७·१५	,,	न्यू यार्क (प्रान्त)	२१७·९०	,,

स्टेट्समेन्स ईयर बुक (सन् १९२१) के आधारपर

देश	जनसंख्या प्रति वर्गमील	संवत्
जापान खास	३७५	१९७७
जर्मनी	३३२	१९७६
हालेण्ड	५४२	१९७६
बेलजियम	६५२	१९६७
इंग्लैण्ड ६१८ स्काटलैण्ड १६० आयर्लैण्ड १३५	२८६·६	१९६८
इटली	३२६	१९७२
फ्रांस	१८९·५	१९६८
चीन खास	१९७	
भारत	१७५	,,
—ब्रिटिश भारत	२२३	,,
बंगाल	५७८	,,

"संसारके व्यवसायका इतिहास" का

परिशिष्ट ।

१ रोम. पृ० १.

इटेलीका एक नगर । इसकी स्थापना विक्रम पूर्व ६९६ (७५३ बी० सी०) में हुई थी । जब रोम वालोंका साम्राज्य स्थापित हुआ तो यह नगर उसकी राजधानी बना । यूरोपकी सबसे पुरानी जातियां रोम और ग्रीसकी रहने वाली थीं और इनकी सभ्यता सबसे प्राचीन एवं उन्नत मानी जाती है । रोमका वास्तविक साम्राज्य विक्रम पूर्व २६ (३१ बी० सी०) से लेकर संवत् ५३३ (सन् ४७६ ए० डी०) तक रहा । २३ विक्रम पूर्व (८० बी० सी०) से संवत् ७१ (१४ ए० डी०) तक रोमके साहित्यकी बड़ी उन्नति थी, जिसकी आज दिन तक प्रशंसा होती है और सम्पूर्ण संसारमें जिसको उच्च स्थान दिया जाता है ।

२ धीवर कर्म पृ० १ ।

संसारमें मछलीका जो व्यवसाय होता है, उसके तीन बहुत बड़े केन्द्र हैं । पहला केन्द्र उत्तर सागर (नार्थ सी) है जहांसे केवल इंग्लैण्डमें ही ६½ करोड़ रुपयेसे अधिककी मछली जाती है । दूसरा केन्द्र उत्तर शान्त महासागरका उत्तर-पश्चिमीय भाग है । यहांके "पीले सागर" से चीन और जापान वाले मछली लेते हैं और कहा जाता है कि इसी व्यवसायसे ४ करोड़ चीनी जीवन-निर्वाह करते हैं । तीसरा केन्द्र उत्तर अटलान्टिक महासागरका उत्तर पश्चिमीय भाग है । आज कल मछली पाल कर उनकी सन्तति बढ़ानेका भी यत्न किया जा रहा है । अमरीका इस काममें बहुत सफल हुआ है । धीवर कर्मसे कई लाभ होते हैं । एक तो व्यवसायका काम चलता है, दूसरे इसके द्वारा लोग मल्लाहीका काम भी जान लेते हैं, जिससे ये मनुष्य लड़ाईका काम भी भली भांति कर सकते हैं ।

२ क एशिया कोचक या लघु एशिया पृ० १ ।

इसे अंग्रेजीमें एशिया माइनर कहते हैं । यह एशिया महाद्वीपके पश्चिममें है । भौगोलिक स्थितिके कारण यह प्रदेश इतिहासमें अति प्रसिद्ध है । यह पूर्वीय तथा पश्चिमीय युद्धोंका सदासे मैदान होता आया है । संवत् २७७ विक्रम पूर्व (३३४ बी० सी०) में सिकन्दरने इस पर आक्रमण कर इसे अपने अधीन किया । आज कल यह प्रदेश प्रधानतया रूमके सुल्तानके अधिकारमें है । इसका कुछ भाग स्मरना, थ्रेस इत्यादि ग्रीस-निवासियोंके अधिकारमें चला गया है, उसे पुनः रूसको लौटा देनेका विचार हो रहा है ।

२ ख मिश्र पृ० १

यह प्रदेश आफ्रिकाके उत्तर पूर्वमें स्थित है । इसका महत्त्व केवल नाइल नदीसे

है। यदि यह न होती तो यह प्रदेश भी सहारा मरुस्थल मान लिया गया होता। मिश्र देश संसारके व्यावसायिक मार्गमें पड़ता है। स्वेज नहर बन जानेसे इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। यहां खेतीका प्रचार अधिक है और केवल नाइलके डेल्टोंपर निर्भर है। मछुआहीका काम भी यहां होता है। केवल मैंजाले झीलमें ४००० मनुष्य इस काममें लगे हैं। यहां सर्द भी अधिक होती है पर यह अच्छी नहीं होती।

३ यूनान पृ० १

ग्रीसकी सभ्यता सबसे प्राचीन मानी जाती है। लोगोंका मत है कि ट्रास नामक इसका एक प्रधान नगर संवत् २९४३ विक्रम पूर्व (३००० बी० सी०) से भी पहलेका बसा हुआ है। ग्रीसमें कई छोटे छोटे राज्य थे जिनमें सर्वदा परस्पर लड़ाई होती थी। अन्ततः इनके बलहीन होने पर रोम वालोंने संवत् ८९ विक्रम पूर्व (१४६ बी. सी.) में ग्रीसको अपने अधीन कर लिया। यद्यपि बलमें रोम ग्रीसका अधिपति था तथापि साहित्य, कला कौशल तथा सभ्यता आदिमें रोमको सर्वदा ग्रीसके सामने सिर झुकाना पड़ा था।

४ ओथो पृ० १

यह शार्लमेनके बाद संवत् ९९३-१०३० (सन् ९३६-९७३) में सम्राट् हुआ। इसने इटलीमें भी हस्तक्षेप किया था। संवत् १०१९ में वह रोममें सम्राट् बनाया गया।

५ धर्म युद्ध पृ० १

जेरूसलममें ईसामसीहको प्राणदण्ड दिया गया था जिसके कारण उस नगरको ईसाई लोग तीर्थ-स्थान मानते हैं। इसी नगरको तुर्कियोंके अधिकारसे बचानेके लिये पहले धर्मके नामपर कई युद्ध यात्राएं हुई थीं जिनको "क्रूसेड" कहते हैं। इस युद्धमें यूरोपके अनेक देशोंके नृपतिगण सम्मिलित होते थे, और इसको धर्मका कार्य समझते थे। ऐसे आठ युद्ध हुए थे। अन्ततः इस नगरको तुर्कियोंने ले लिया था जो अब संवत् १९७५ (सन् १९१८) से फिर अंग्रेजोंके अधिकारमें आया है।

३क वेनिस पृ० २।

यह प्रसिद्ध नगर इटलीके उत्तरमें ११७ छोटे टापुओं पर बसा हुआ है। यहां सड़कोंके बजाय नहरों द्वारा ही गमनागमन होता है। कुल १५० नहरें हैं, जिनपर ३७८ पुल बने हुए हैं। यह नगर पूर्व और पश्चिमके बीच होने वाले व्यापारका प्रधान केन्द्र था। संवत् १२६१ (सन् १२०४) में बाइजंटाइन साम्राज्यके विच्छेदके बाद यहांका व्यापार खूब चमक उठा। जिनोआके साथ चिरकाल तक इसे प्रतियोगिता करनी पड़ी। पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तमें यह उन्नति-शिखरपर जा पहुंचा। यहांके निवासी बड़े धनवान थे। उत्तमाशा अन्तरीपका मार्ग खुल जानेसे इसका व्यापार गिर गया।

(शेष फिर)

ओ३म् वन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३ खण्ड २	आषाढ़ १९७९	अङ्क ३ पूर्णाङ्क २७

विदेशी विनिमय ।

विनिमयकी दरकी अस्थिरताके कारण और उसकी अत्यधिक घटा-बढ़ीका व्यापारपर प्रभाव ।

गत लेखमें हम यह बतला चुके हैं कि यदि कागजी रुपयोंका अधिक परिमाणमें प्रचार न किया गया हो और सोना चांदीके भेजने मंगानेमें कोई रोक टोक न हो तो सोनेके स्टैंडर्ड सिक्केका उपयोग करने वाले किसी भी दो देशोंके विनिमयकी दर स्वर्ण आयात तथा निर्यात दरोंसे साधारणतः बाहर नहीं जाती। इस लेखमें यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें विनिमयकी दर किन सीमाओंके अंदर रहती है, उसकी अत्यधिक घटा-बढ़ी किन दशाओंमें होती है और इस घटाबढ़ीका व्यापारपर क्या प्रभाव पड़ता है।

जब किसी देशमें कागजी रुपयोंका आवश्यकतासे अधिक परिमाणमें उपयोग किया जाता है-जैसा कि रूस, जरमनी, इंग्लैंड और फ्रांसमें किया गया है-तब उस देशमें सब वस्तुओंकी कागजी रुपयोंमें कीमत बढ़ जाती है। ऐसी दशामें प्रत्येक वस्तुकी प्रायः दो कीमतें होती हैं, सोनेके सिक्केमें कुछ और तो कागजी रुपयोंमें कुछ और। जरमनीमें कागजी रुपयोंके अधिक प्रचारके कारण कागजी मार्ककी कीमत बहुत गिर गयी है अर्थात् वहांपर वस्तुओंको खरीदनेमें अब अधिक कागजी मार्क देना पड़ता है यां यों कहिये कि सर्व वस्तुओंकी कीमत बढ़ गयी है। मान लीजिये कि जरमनीमें जो वस्तु

मार्क देना पड़ता है अर्थात् २० मार्कके सोनेके सिक्केकी कीमत ८०० कागजी मार्क हो गयी है। अब यदि यह भी मान लें कि इंग्लैंडमें अधिक कागजी रुपयोंका प्रचार नहीं हुआ है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त परिस्थितिमें जरमनीकी इंग्लैंडके साथ विनिमय-दर क्या होगी। जरमनीके विनिमयकी दर मार्कमें बतलायी जाती है इसलिये वह उतने ही फी सैकड़ा बढ़ जावेगी जितनी कि सोनेके मार्ककी कीमत कागजी मार्कमें बढ़ गयी है। वह दर नीचे लिखे अनुसार भी निकाली जा सकती है—

१ पौंड सोनेका सिक्का २०·५३ सोनेके मार्क सिक्कोंके बराबर है।

२० मार्कके सोनेका सिक्का ८०० कागजी मार्कके बराबर है।

इसलिये २०·५३ मार्कके सोनेका सिक्का $\frac{८००\times२०\cdot५३}{२०}$ कागजी मार्कके बराबर है।

अथवा १ पौंड सोनेका सिक्का $\frac{८००\times२०\cdot५३}{२०}$ कागजी मार्कके बराबर है।

यदि इंग्लैंड और जरमनीके बीचमें सोना चांदीका भेजना मंगाना सरकार द्वारा बंद न किया गया हो तो उपर्युक्त परिस्थितिमें विनिमयकी बाजारू दर उक्त दरसे लेन-देन-की विषमताके अनुसार थोड़ी अधिक या कम होगी। परंतु वह दो सीमाओंके अंदर रहेगी और ये सीमाएं एक पौंडके इंग्लैण्डसे जरमनी भेजे जानेके खर्चके अनुसार निर्धारित हो जावेंगी। परंतु इस परिस्थितिमें विनिमयकी दर स्थिर नहीं रह सकती क्योंकि जैसे जैसे सरकार कागजी रुपयोंका प्रचार घटाती बढ़ाती जायगी वैसे वैसे सोनेकी कागजी रुपयोंमें कीमत भी बदलती रहेगी और विनिमयकी दरपर भी उसका उतना ही असर पड़ेगा।

उपर्युक्त उदाहरणमें यदि हम यह भी मान लें कि इंग्लैण्डमें कागजी पौंडोंका प्रचार आवश्यकतासे अधिक परिमाणमें किया गया और सोनेके पौंडकी कीमत कागजी पौंडमें डेढ़ पौंड हो गयी तो जरमनी और इंग्लैण्डके विनिमयकी दर नीचे लिखे अनुसार निकाली जायगी:—

१ कागजी पौंडकी कीमत $\frac{२}{३}$ सोनेके पौंडके बराबर है

१ सोनेका पौंड २०·५३ सोनेके मार्कके बराबर है

$\therefore$ $\frac{२}{३}$ सोनेका पौंड २०·५३×$\frac{२}{३}$ सोनेके मार्कके बराबर है

२० सोनेके मार्क ८०० कागजी मार्कके बराबर हैं

$\therefore$ २०·५३×$\frac{२}{३}$ सोनेके मार्क $\frac{८००\times२०\cdot५३\times२}{३\times२०}$ कागजी मार्कके बराबर हैं

अर्थात् १ कागजी पौंड $\frac{८००\times२०\cdot५३\times२}{३\times२०}$ कागजी मार्कके बराबर है

बाजारू दर लेन देनकी विषमताके अनुसार उपर्युक्त दरसे थोड़ी अधिक या कम होगी और दो खास सीमाओंके अंदर रहेगी। परंतु विनिमयकी दरकी अस्थिरता कुछ

बढ़ जावेगी, क्योंकि दोनों देशोंकी सरकार द्वारा कागजी रुपयोंके परिमाणके घटाये जानेका असर इस दरपर अवश्य पड़ेगा ।

यदि उपर्युक्त परिस्थितियोंमें कोई सरकार जनता द्वारा सोना चांदी मंगाना भेजना बिलकुल बंद कर देती है तो समस्या बहुत ही जटिल रूप धारण कर लेती है । ऐसे देशका विदेशी व्यापार बहुत कम हो जाता है और विनिमयकी दर ऐसी रहती है जिससे कि तत्कालीन लेन-देन बराबर अदा हो जावे । विनिमयकी दरकी अस्थिरता-का तो फिर पूछना ही क्या है ! रूसका यही हाल हुआ है । उसको अन्य देशोंसे माल प्राप्त करनेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है, क्योंकि विदेशी लेन देन चुकानेका वहांके व्यापारियोंके पास कोई स्वतन्त्र साधन न होनेके कारण अन्य देशवाले रूसमें तबतक माल नहीं भेजते जबतक उनको रूससे उतनी ही कीमतका माल नहीं मिलता या रूस-की सरकार उसको चुकानेकी जिम्मेवारी अपने ऊपर नहीं ले लेती । उपर्युक्त विवेचन-से पाठक समझ गये होंगे कि सोनेके स्टैंडर्ड सिक्केका उपयोग करनेवाले देशोंमें विनिमयकी दरकी अस्थिरताका मुख्य कारण है कागजी रुपयोंका अधिक परिमाणमें प्रचार करना और चांदी सोनेके भेजने मंगानेमें सरकार द्वारा रोक टोकका किया जाना । इन देशोंमें विनिमयकी दर स्थिर करनेका सबसे सीधा तरीका है कागजी रुपयोंका उचित परिमाणमें प्रचार करना और चांदी सोनेको स्वतन्त्र रूपसे आने जाने देना ।

यदि एक देशमें सोनेका और दूसरे देशमें चांदीका सिक्का प्रचलित हो और यदि दोनों देशोंमें कागजी रुपयोंका अधिक परिमाणमें प्रचार न हो तो भी उनके विनिमय-की दर स्थिर नहीं रह सकती क्योंकि जैसे जैसे चांदीकी सोनेमें कीमत बदलती रहेगी, वैसे वैसे विनिमयकी दर भी बदलती रहेगी । संवत १९५० (सन् १८९३) के पहिले भारत और इंग्लैण्डके विनिमयकी दरकी यही हालत थी । संवत् १९३० (सन् १८७३) में चांदीकी कीम-तका गिरना आरंभ हुआ और उसके साथ ही साथ भारतके विनिमयकी दर भी गिरती गयी ।

इस अस्थिरताको दूर करनेके लिये यदि भारत सरकार चाहती तो उस समय अन्य देशोंके समान सोनेके स्टैंडर्ड सिक्कोंका तथा कागजी रुपयोंका उचित परिमाणमें प्रचार कर हमेशाके लिये भारतीय विनिमयकी दर स्थिर कर देती । परन्तु सरकारने एक दूसरे ही साधनका अवलम्बन किया । संवत् १९५० (सन् १८९३) के पहिले प्रत्येक मनुष्यको यह अधिकार था कि यदि वह चाहे तो टकसालमें चांदी लेजाकर और उसकी ढलाईका थोड़ा खर्च देकर अपनी चांदीके रुपये ढलवा लेवे । उस वर्ष यह अधिकार जनतासे छीन लिया गया । सरकारने रुपयोंका ढालना अपनी इच्छापर छोड़ रखा । कुछ वर्षोंतक रुपयोंका ढालना बिल-कुल बंद रहा । देशमें रुपयोंकी मांग बराबर बढ़ती गयी परंतु उसकी पूर्ति न होनेके कारण उसकी कीमत बढ़ गयी । उसकी बाजारू कीमत उसकी असली (धात्विक) कीमतसे बढ़ गयी । रुपया टोकन (token) सिक्का होगया । भारत सरकारने रुपयेकी इंग्लैंडके सिक्के -शिलिंग पेंस-में एक कानूनन दर निर्धारित कर दी और इस दरको यथाशक्ति बनाये रखनेका वचन भी दिया । वह कानूनन दर १ रुपया = १ शिलिंग ४ पेंस थी । जब दर १५$\frac{1}{8}$ पेंससे

कम होने लगी तब सरकार भारतमें रिवर्स कौंसिल (भारत सचिवपर की हुई हुंडियां) बेंचकर उसे अधिक गिरनेसे रोकती थी और जब वह १ शि० ४ $\frac{5}{4}$ पेंससे अधिक बढ़ने लगती तो भारतसचिव लन्दनमें कौंसिल बिल (भारत सरकारपर की हुई हुंडियां) बेंचकर उसको अधिक बढ़नेसे रोकते थे। इस प्रकार भारत सरकार संवत् १९७४ (सन् १९१७) तक उस दरको बनाये रखनेमें सफल हुई और विनिमयकी दर १८।२० वर्षों तक स्थिर रही परंतु उस वर्ष (१९७४) से चांदीकी कीमत बराबर बढ़ते जानेके कारण कुछ समयके बाद रुपया स्टैंडर्ड सिक्केके समान होगया और इसी कारण चांदीकी कीमतके साथ साथ विनिमयकी दर भी फिरसे घटने बढ़ने लगी। संवत् १९७६ की करेंसी कमेटीने, जिसकी रिपोर्ट १९७६ के फाल्गुन (फरवरी) महीनेमें प्रकाशित हुई, भारतकी कानूनन दरको १ रुपया=२ शिलिंग तक बढ़ा देनेकी शिफारिश की। उसकी शिफारिशके अनुसार कानूनन निर्धारित दर बढ़ा भी दी गयी, परंतु भारत सरकार संवत् १९७७ में करोड़ो रुपयोंकी उल्टी हुंडियां बेंचकर और देशको व्यर्थ हानि पहुंचाकर भी, दरको बनाये रखनेमें असफल हुई। इस असफलताका परिणाम यह हुआ कि अब भारतके विनिमयकी दर और भी अस्थिर हो गयी है। इस अस्थिरतासे व्यापारको बहुत नुकसान पहुंचता है। आयात और निर्यात दोनों कम होने लगते हैं जिससे देशको बड़ी हानि होती है।

भारतमें इस समय विनिमयकी दर स्थिर करनेके दो साधन हैं, एक तो सोनेके स्टैंडर्ड सिक्कोंका देशमें प्रचार करना और दूसरा कानूनन निर्धारित दरको बदलकर ऐसी कृत्रिम दर नियुक्त करना जिसे सरकार आधुनिक परिस्थितिमें आसानीसे बनाये रख सकती हो। यदि दूसरे साधनका अवलंबन किया गया तो हमारे विनिमयकी दरकी स्थिरता फिरसे सरकारके प्रयत्नोंपर निर्भर रहेगी। और न मालूम ऐसी कौनसी परिस्थिति आजाय जिसमें सरकार फिर असफल हो जाय और व्यापारियोंको विनिमयकी दरकी अस्थिरताके कारण लाखों रुपयोंका घाटा उठाना पड़े। परंतु यदि पहिले साधनका अवलंबन किया गया और भारतमें सोनेके सिक्कोंका स्वतंत्र रूपसे प्रचार किया गया तथा संसारके सब देशोंमें कागजी रुपयोंका उचित परिमाणमें ही उपयोग किया गया तो हमारे विनिमयकी दर कभी भी अस्थिर नहीं हो सकती। इसलिये हम यह चाहते हैं कि भारतमें भी सोनेके स्टैंडर्ड सिक्कोंका स्वतंत्र रूपसे प्रचार हो। इंग्लैंड, अमेरिका, जरमनी इत्यादि देशोंके समान भारत वासियोंको भी यह अधिकार हो कि ढलाईका खर्च देनेपर वे सरकारी टकसालोंमें अपने सोनेको सिक्कोंके रूपमें ढलवा सकें। संवत् १९५५ (सन् १८९८) की कमेटीने भी सोनेके सिक्कोंके प्रचार करनेकी शिफारिश की थी। परंतु भारत-सचिव और इंग्लैंडके बैंकरों और साहूकारोंके विरोधके कारण अभी तक ऐसा न हो सका। कुछ वर्षोंसे भारतमें सोनेके सिक्के ढालने वाली एक टकसाल तो खुलगयी है परन्तु अभी तक सोनेके सिक्कोंका स्वतंत्ररूपसे प्रचार नहीं किया गया है।

गत महायुद्धके आरम्भकालसे संसारके प्रायः सब देशोंके विनिमयकी दर अस्थिर होगयी है। कई देशोंमें अस्थिरताका कारण कागजी रुपयोंका अधिक परिमाणमें

प्रचार और सोना चांदीके मंगाने भेजनेकी रोक टोक है। कहीं कहींपर अस्थिरताका कारण सरकार द्वारा कृत्रिम दर बनाये रखनेकी असफलता है। नीचेके कोष्ठकमें यह बतलाया गया है कि संसारके कुछ देशोंके विनिमयकी दर भिन्न भिन्न तिथियोंपर कितनी थी। उसको देखनेसे मालूम हो जायगा कि विनिमयकी दरोंमें कितनी अधिक घटा-बढ़ी हुई है। घटाबढ़ीके कारण आगे कहीं कहीं बतलानेका प्रयत्न किया जायगा।

लंदनमें दर्शनी हुंडियोंकी कीमत —

तारीख	पेरिसपर की हुई (फ्रैंक)	पेट्रोग्रेडपर की हुई (रुबल)	बर्लिनपर की हुई (मार्क)	न्यूयार्कपर की हुई (डालर)	कलकत्तेपर की हुई शि. पे.
मिंटपार:—	२ . २	६४.५७	२०.४३	४.८७	१. ४
महायुद्धके कुछ दिन पहिले:—	२५.१७	६७.२	२० ५४	४,६३	१. २ $\frac{३१}{३२}$
१ भाद्रपद १९७१ (९ अगस्त १९१४)	२४से२५	१२.५०	२१.००	६.५	१. ३ $\frac{१५}{१६}$
१३ वैसाख १९७३ (२६ अप्रैल १९१६)	२८.८०	१ ५.५५	...	४.७६	१. ४ $\frac{१}{२}$
२७ भाद्रपद १९७६ (१२ सितम्बर १९१९)	३५.५०	...	१०७.००	४.१६	१. १०
५ फाल्गुन १९७६ (१७ फरवरी १९२०)	४८.३	५३०.००	३३७.५०	३.३९	२. ७ $\frac{१}{२}$
१२ माघ १९७७ (२५ जनवरी १९२१)	५२.५०	...	२२५.००	३.७६	१. ५ $\frac{३}{८}$
१७ चैत्र १९७८ (३१ मार्च १९२२)	४८.४५	...	१२५=००	४.३७	१. ३ $\frac{३}{१६}$

उपर्युक्त कोष्ठक देखनेसे मालूम होता है महायुद्धके पहिले एक रूसको छोड़कर प्राय: सब देशोंके विनिमयकी दरें स्वर्ण आयात और निर्यात दरके बीचमें ही थीं। रूसकी दरकी वृद्धिका कारण था युद्धके पहिलेसे ही कागजी रुपयोंका अधिक परिमाणमें प्रचार किया जाना। युद्धके आरंभ होनेके एक दो दिन पहिले (९ अगस्त १९१४) विनिमयकी दरोंमें एकदम अत्यधिक घटा बढ़ी होगयी परतु इसका कारण कागजी रुपयोंका प्रचार नहीं था। इसका कारण यह था कि इंग्लैण्डमें जिन व्यक्तियोंके पास लड़ाईमें शामिल

होनेवाले देशोंपर की हुई हुंडियां थीं उनको उनने तुरंत बेचनेका प्रयत्न किया और उनको बाजारमें जो भाव मिला वही लेलिया क्योंकि उनको भय था कि युद्ध छिड़ जानेपर फिर उनको कुछ भी न मिल सकेगा।

लड़ाई आरंभ होनेके कुछ महीनों बादसे प्रायः सब देशोंमें कागजी रुपयोंका अधिक परिमाणमें प्रचार किया जाने लगा इसलिये उनकी कीमत धीरे धीरे गिरने लगी और विनिमयकी दर क्रमशः बढ़ने लगी। फ्रांसकी दर बढ़ते बढ़ते ५.२५ फ्रैंकतक पहुंच गयी थी परन्तु अब उसका थोड़ा गिरना आरंभ हुआ है। न्यूयार्कपर की हुई हुंडीकी जो दर दी गयी है उससे इंग्लैंडकी स्थितिका पता चलता है क्योंकि आजकल संसारमें न्यूयार्क ही ऐसा शहर है जहांपर सोना चांदी भेजने मँगानेके लिये स्वतंत्रतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। लड़ाईके अंत होनेतक इंग्लैंड-न्यूयार्क दरका भी गिरना आरम्भ हो गया था और संवत् १९७६ के फाल्गुन (फरवरी सन् १९२०) में तो वह दर ३.३९ डालरतक पहुंच गयी थी। परंतु अब इंग्लैंडकी स्थिति कुछ सुधर रही है। अन्य देशोंमें विनिमयकी दरकी सबसे अधिक बढ़ती रूस और जरमनीमें हुई है। रूसके रबलनोटकी कीमत बहुत गिर गयी है और जरमनीके कागजी मार्ककी कीमत गिरनेका तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। पहले १ पौंडके लिये करीब २०.४३ मार्क देने पड़ते थे परन्तु अब १२५८ मार्क देने पड़ते हैं। जबतक इन देशोंमें कागजी रुपयोंका परिमाण कम नहीं किया जाता तबतक उनकी दशा नहीं सुधर सकती।

विनिमयकी दरकी अत्यधिक घटा बढ़ीका व्यापार या भिन्न भिन्न वर्गोंके मनुष्यों-पर क्या प्रभाव पड़ता है इस प्रश्नपर अब विचार करना चाहिये। भारत ऐसे देशमें जिसके विनिमयकी दर अन्य देशोंकी करेंसीमें बतलायी जाती है जब विनिमयकी दर अत्यधिक बढ़ने लगती है अर्थात् किसी भी कारणसे स्वर्ण आयात दरसे बाहर जाने लगती है तो देशमें बाहरसे माल मंगाने वालोंको लाभ होता है और आयातको बहुत उत्तेजना मिलती है। साथ ही साथ देशसे बाहर माल भेजनेवालोंको हानि उठानी पड़ती है और निर्यातका परिमाण कुछ कम होने लगता है। देशके अंदर वस्तुओंकी कीमत कुछ घटने लगती है। उन उद्योगोंको नुकसान पहुंचता है जिनको देशके अंदर विदेशी सस्ते मालका मुकाबला करना पड़ता है उन व्यक्तियोंको जिन्हें विदेशमें विदेशी करेंसीमें कर्ज चुकाना होता है लाभ होता है क्योंकि दरके बढ़ जानेसे उतने ही कर्जके लिये अब कम रुपये देने पड़ते हैं और उन व्यक्तियोंको जिन्हें विदेशियोंसे उनकी करेंसीमें दाम वसूल करना है हानि उठानी पड़ती है।

इस प्रकार जब विनिमयकी दर अत्यधिक गिरने लगती है अर्थात् किसी भी कारणसे स्वर्ण निर्यात दरसे घटने लगती है तो देशसे बाहर माल भेजने वाले व्यापारियों को लाभ होता है और विदेशसे माल मंगाने वाले व्यापारियोंको होती है हानि। देशके अन्दर वस्तुओंकी कीमत कुछ बढ़ने लगती है। उन व्यक्तियोंको जिनने विदेशियोंको उनकी करेंसीमें ऋण दिया है कर्ज वसूल करते समय लाभ होता है और उन कर्जदारोंको नुकसान होता है जिनको विदेशमें विदेशी करेंसीमें कर्ज चुकाना होता है।

इस प्रकार विनिमयकी अत्यधिक घटाबढ़ीसे किसीको लाभ होता है और किसीको हानि होती है। परन्तु किसी भी समय इस बातका पता लगाना जरा मुश्किल रहता है कि विनिमयकी अत्यधिक घटाबढ़ीसे सर्वदेशको लाभ अधिक हुआ या हानि। हां, दोनों दशाओंमें दरकी अस्थिरताके कारण व्यापारकी कुछ कमी अवश्य हो जाती है और सट्टे वालोंको कभी लाभ होता है और कभी हानि उठानी पड़ती है। विनिमयकी अस्थिरताको दूर करना प्रत्येक सभ्य सरकारका कर्तव्य है और उसका एक मात्र सरल साधन है संसारके सब देशोंमें सोनेके स्टैंडर्ड सिक्कोंका प्रचार करना, कागजी रुपयोंका अधिक परिमाणमें न निकाला जाना और सोने चांदीके मंगाने भेजनेमें कोई रोक टोक न होना।

दयाशंकर दुबे।

अमेरिकाकी राष्ट्रीय आमदनी।

अमेरिका वर्तमान कालमें सबसे अधिक समृद्धिशाली देश है। सतरहवीं सदीकी प्रथम पचीसीमें यही विशाल भूमि-खण्ड मुट्ठीभर डच, स्पेनिश, फ्रेञ्च और अंग्रेजोंकी एक साधारण सी बस्ती थी। परन्तु वही आज दस करोड़ मनुष्योंका एक महान और सुन्दर म्यूज़ियम (कौतुकभवन) सा बन गया है। आर्थिक अवस्थाके विषयमें पूछा जाय तो वह देश उस समयके अन्य देशोंके मुकाबलेमें जरा भी नहीं आ सकता था। गन्नेकी खेती और उससे सक्कर तैयार कर भेजना यही उसका निर्यात व्यापार था और आयात व्यापारमें चाय, सीसा और कांच ये मुख्य चीजें थीं। परन्तु उसी देशके कला-कौशल और उद्योग धन्धे आज इतने बढ़े हुए हैं कि वह आज संसारके बड़े बड़े देशोंकी हर तरहकी मांग पूरी करता है। वर्ष प्रतिवर्ष उसकी जन-संख्या बड़ी तेजीसे बढ़ती जा रही है, फिर भी उसके कंगाल होनेकी बात कौन कहे, उसके निवासियोंकी औसत आमदनी सब देशोंकी अपेक्षा बढ़ी हुई है। वहांकी प्रजाहितेच्छुक सरकार तथा साहसी और व्यवसाय-कुशल लोग अपनी बढ़ती हुई आबादीके लिए उदर निर्वाहके नयेसे नये साधन काममें ला रहे हैं। जंगल काटकर खेतीके लिए विस्तृत मैदान तैयार किये जा रहे हैं, जिस ज़मीनकी उत्पादन-शक्ति जाती रही है उसमें रासायनिक पदार्थोंके खादोंका प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार अमेरिकनोंके वैज्ञानिक ज्ञानने ज़मीनकी घटती हुई उत्पादन-शक्तिको भी रोक दिया है। खेतीकिसानीके यन्त्र बिलकुल आधुनिक कालके हैं। कृषि-विद्याकी शिक्षाके लिए जगह जगह कालेज खोले गये हैं जिनमें हजारोंकी तायदादमें बड़ेसे बड़े आरामपसन्द घरके युवक इस कष्टमय धन्धेको सीखने जाते हैं। वहांके किसान सहकारिताके सिद्धान्तको अमलमें लाकर कृषिका काम करते हैं। इस प्रकार इस धन्धेमें भी अधिक मात्रामें अनाज उत्पन्न कर बड़ी आमदनी करना उनके लिए सम्भव हो गया है। हमारे देशके समान उनके खेत थोड़ेसे एकड़के नहीं होते। वहांका एक एक किसान हमारे यहांके जमीनदारके बराबर जमीनका मालिक होता है। फलतः उसकी उपज इतनी अधिक होती है कि वह खुशीसे अपने कुटुम्बके उदर-निर्वाह योग्य सामग्री निकाल कर बाकी बेच सकता है। यहां तो बेचारोंकी उपज इतनी थोड़ी होती है कि वे अपने खानेके लिए पीछेसे निकालते हैं और बेचनेके लिए पहले। बहुतसा अंश कम कीमतपर साहूकार ही अपने कर्जके बदलेमें ले लेता है। अमेरिकाके किसान इस दुःखजनक अवस्थासे बिलकुल परे हैं। उन्हें साहूकारोंके पास कर्ज लेनेके लिए नहीं जाना पड़ता। वे अपने संयुक्त बलसे अनाजका बाजार-भाव हद तक पहुंचा सकते हैं। वहांकी कृषि हरगिज इतनी उन्नत अवस्था तक नहीं पहुंची हुई होती यदि सरकार इस धन्धेको उपेक्षाकी दृष्टिसे देख कर उसकी शिक्षा

देनेके लिए अपनी आयका काफी अंश न खर्च करती । सिर्फ निग्रो लोगोंके लिए जो टस्केगी इन्स्टिट्यूट बनी है उसके साथ कृषि-प्रयोगके लिए कोई ढाई हजार एकड़की जमीन संलग्न है । मक्खन और दूधको ताजा रखने तथा पशुपालनकी कला सिखानेके लिए कई सौ गाय, घोड़े, मुर्गे आदि रखे गये हैं । कृषिके अलावा और भी कई तरहके कला-कौशल और उद्योग-धन्धोंकी शिक्षाके लिए वहांकी सरकार और जनताने प्रबन्ध किया है । बढ़ई, लुहार आदिके काम जिन्हें हमारे देशके लोग नीचोंका पेशा समझकर घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, वहां विद्यालयोंमें सिखाये जाते हैं और इससे उनकी कदर बढ़ गयी है । यहां केवल साहित्य और सैद्धान्तिक विज्ञानकी शिक्षा दी जाती है, जिनका धन कमानेके साथ बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध होता है । जिनसे देशकी साम्पत्तिक अवस्थाकी उन्नतिमें सहायता मिल सकती है उन धन्धोंकी शिक्षाके न सरकारी स्कूल कालिज हैं और न 'कांग्रेस' के ही । राष्ट्रीय कहाने वाले विद्यालय भी नामको छोड़ कर सर्वांशमें सरकारी कालेजोंकी नकल हैं । पहलेसे यदि ठाठ बाटके और शरीर-मस्तिष्क-जर्जर बाबू लोग निकलते आये हैं तो इन नेशनल कालिजोंसे खद्दरधारी और चरखेपर भाषण देने वाले युवक बाहर निकलेंगे । कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि बिना उद्योग-धन्धों और व्यवसायकी शिक्षाका काम हाथमें लिये देशका आर्थिक जीर्णोद्धार होना कठिन है । हमारे देशके समान अमेरिकाके लोग नैसर्गिक सम्पत्तिका लाभ उठानेमें भी पीछे नहीं है । हिन्दुस्तानका और अमेरिकाका नैसर्गिक सम्पत्तिके सम्बन्धमें मुकाबला करनेमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं । दोनों महान सम्पत्तिवान हैं । परन्तु एक वे ही अमेरिकन लोग हैं जिन्होंने प्रकृतिकी कृपाका पूरा पूरा लाभ उठाया और संसारके सबसे धनी लोग बन गये और एक हम हैं जो अपनी सम्पत्तिसे विदेशियोंको लाभ उठाने दे रहे हैं । अमेरिकाके पश्चिम और मध्य प्रदेशमें सोना, चांदी, लोहा और कोयलेकी प्रचुर सम्पत्ति मौजूद है । इन खानोंको ठेकेपर खरीदने और खुदाई करानेके लिए एक पूंजीपति काफी नहीं होता तो वह अन्य साहूकार भाइयोंको साझेमें ले लेता है और इस प्रकार एक संयुक्त पूंजीकी बड़ी भारी 'मायनिंग' कम्पनी खड़ी हो जाती है ! वहांका कच्चा माल जैसे कपास आदि हमारे देशकी तरह बाहर नहीं जाने दिया जाता । वह खुद उसका माल बनाकर अपनी जरूरतें पूरा करता है । बाकी जो बचता है उसे दूसरे देशोंमें भेजकर रुपया कमाता है । उसका यह निर्यात व्यापार बड़ा जबरदस्त है, उससे करोड़ों रुपया अमेरिकाके पास पहुंचता है । गन्धक और आगडिब्बीकी लकड़ी पश्चिमकी पर्वतमालामें सुप्राप्य है । उन वस्तुओंका उपयोग कर अमेरिका भी आगडिब्बीका एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसायी बन गया है । मिट्टीके तेलकी खानें भी अमेरिकामें जगह जगह पायी जाती हैं और उनका निकाला हुआ तेल उत्तमतामें बाकू और बर्माका बड़ी अच्छीतरह मुकाबला कर लेता है । प्रकृतिने अमेरिकाके समान हमारे देशको भी अटूट धन दिया है किन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि हम उस कृपा-दत्त पुरस्कारका लाभ नहीं उठाते । अमेरिकाकी आर्थिक उन्नत्तिकी सम्भावनाएं ढूंढ़ निकालनेमें वहांके निवासी दत्त-चित्त हैं और हमारे देशके लोग अपनी आर्थिक उन्नतिके निसर्गजात

साधनोंको दूसरोंके हाथमें देकर बैठे हैं। ऐसी परिस्थितिमें आश्चर्य नहीं जो हमारे देशकी आर्थिक अवस्था अत्यन्त गिरी हुई हो और अमेरिका संसारके धनिक देशोंका शिरोमणि हो जाय।

ऊपर अमेरिकाकी आर्थिक प्रगतिके कारणोंका हमने संक्षेपमें बयान किया है। अब हम नीचे कुछ अंक देकर यह दिखलानेकी चेष्टा करेंगे कि अमेरिकाके लोगोंकी आय किस प्रकार सतत बढ़ती जा रही है और उसके मुकाबलेमें हालैण्ड, जापान तथा हिन्दुस्तानकी क्या स्थिति है। यहां आमदनीका आशय भी समझ लेना उचित होगा। अर्थशास्त्रमें आमदनीकी व्याख्या तीन प्रकारसे की गयी है। एकके अनुसार किसी नियत अवधिमें मनुष्यको भौतिक वस्तुसे जो सन्तोष प्राप्त होता है वही आमदनी है। दूसरीके अनुसार आमदनी कोई खास मानसिक अवस्था न होकर भौतिक वस्तुएं होती हैं जिन्हें हम देख और परख सकते हैं। तीसरीके अनुसार, मनुष्यके परिश्रमसे जो उसे भौतिक वस्तु मिलती है उसका सिक्केके रूपमें मूल्य है। यह स्पष्ट है कि किसी राष्ट्रका अपने धनसे कितना सन्तोष हुआ यह हम नहीं जान सकते। उसकी आमदनी हम केवल उसकी भौतिक सामग्रीके परिमाण अथवा उसके मूल्यमें ही निकाल सकते हैं।

कपास, ताम्बा, आदिका भौतिक माल निम्नलिखित वर्षोंमें निम्नलिखित परिमाणमें बढ़ा—

संवत् १९४७ (सन् १८९०)	...	३८·४ अरब (बिलियन)
,, १९५२ (,, १८९५)	...	४०·७
,, १९५७ (,, १९००)	...	५४·०
,, १९६२ (,, १९०५)	...	७६·४
,, १९६७ (,, १९१०)	...	१००·०
,, १९७२ (,, १९१५)	...	११०·०

जनसंख्या इस प्रकार बढ़ी—

संवत् १९४७ (सन् १८९०)	...	६ करोड़ ३० लाख
,, १९७२ (,, १९१५)	...	९ ,, ९० लाख

ऊपरके अंकोंसे यह जान पड़ेगा कि बीस वर्षोंकी अवधिमें अमेरिकाका उत्पादन लगभग तिगुना बढ़ा जब कि जनसंख्या उसी अवधिके अन्दर डेढ़ गुणीसे ही कुछ अधिक हुई, अर्थात् जनसंख्याकी अपेक्षा उत्पादन कहीं अधिक बढ़ा। भाफकी शक्तिके उपयोगके कारण ही उत्पादनका परिमाण जनसंख्यासे अधिक बढ़ सका। और यह बात सिर्फ अमेरिकाके सम्बन्धमें ही सत्य नहीं किन्तु उन सभी देशोंके सम्बन्धमें सत्य है जहां हाथकी शक्तिकी जगह भाफकी शक्तिका उपयोग किया जाने लगा है।

अब उपर्युक्त मालकी कीमत देखिये—

संवत् १९४७ (सन् १८९०)	...	२८ १/९	अरब रुपये
,, १९५७ (,, १९००)	...	३१ १/४	,,
,, १९६७ (,, १९१०)	...	६३ ३/४	,,
,, १९७२ (,, १९१५)	...	१०९ ३/९	,,

इस अवधिमें अमेरिकन सिक्केका मूल्य बहुत नहीं घटा अतः कहना चाहिए कि जो चौगुनी मूल्य-वृद्धि हुई वह यथार्थ हुई। अर्थात् संवत् १९७२ में, बीस वर्षके अनन्तर अमेरिकाकी आमदनी चौगुनी होगयी। सबसे अर्वाचीन अंक जो अमेरिकाकी जनसंख्या तथा आमदनीके सम्बन्धमें उपलब्ध हुए हैं वे क्रमशः १० करोड़ और आमदनी २३८ अरब रुपये हैं, अर्थात् औसत एक आदमीकी वार्षिक आमदनी २३७५ रुपये तथा पांच आदमियोंका एक कुटुम्ब मान लिया जाय तो उसकी औसत आमदनी प्रतिवर्ष ११८७५ रुपये होगी। अमेरिकामें प्रति सप्ताह एक कुटुम्बकी औसत आमदनी लगभग २२५ रुपये पड़ेंगे।

अन्य राष्ट्रोंके साथ अमेरिकाकी तुलना इस प्रकार होगी—

संवत् १९६९ (सन् १९१२)

राष्ट्र—	कुल आमदनी रुपयेमें	प्रतिमनुष्यके पीछे
जापान	४ अरब	५७ रु०
फ्रान्स	२१ ,,	५५५ ,,
जर्मनी	३० ,,	४३८ ,,
ब्रिटेन तथा आयरलैण्ड	३३ ,,	७३३ ,,
संयुक्त राज्य	९९ ,,	१००५ ,,

ऊपरके अंकोंसे यह ज्ञात होता है कि महायुद्धके पूर्व आर्थिक दृष्टिसे संयुक्त राज्य अन्य सब राष्ट्रोंसे कहीं अधिक प्रबल था। जर्मनी, हालैण्ड आदि यूरोपीय राष्ट्रोंका परस्परमें युद्ध हो रहा था। अतः उनकी उत्पादन-शक्ति अपने अपने लिए युद्ध सामग्री तैयार करने तथा हर प्रकारसे अपनेको स्वावलम्बी बनानेमें लगी हुई थी। उनका निर्यात व्यापार गिर गया था इस कारण उनकी आमदनी नहीं बढ़ सकी। इतना ही नहीं बल्कि जब उन्हें खाद्य पदार्थ और युद्ध सामग्रीकी कमी हुई तब अमेरिकन राष्ट्र ही ऐसा था जो इतने देशोंकी मांगे पूरी कर सकता था। अतएव युद्धकालमें जब यूरोपके राष्ट्रोंकी आमदनी नष्ट हो रही थी तब अमेरिकाकी बढ़ रही थी। पूर्वीय देशोंका धन भी जापानको छोड़कर मुख्यतः अमेरिकाकी ओर ही बहता रहा। परिणाम यह हुआ कि संवत् १९७४ (सन् १९१७) में, युद्ध समाप्त होनेके दो ही वर्ष पूर्व, जब अमेरिका महासमरमें कूदा तब उसकी राष्ट्रीय आमदनी अन्य देशोंकी अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गयी थी। अब तो आमदनीके लिहाजसे अन्य देश उसके पासंगमें भी नहीं हैं।

आमदनीके द्वार।

संवत् १९७५ (सन् १९१८)

कृषि	०.२१ फी सदी
खनिज द्रव्य	३.३ ,,
मशीनों द्वारा तैयार हुआ ...	२६.५ ,,
ट्रान्सपोर्टेशन अथवा ढुलाईके साधनोंसे...	६.१ ,,
सरकारकी आमदनी ...	८.८ ,,
फुटकर	२५.८ ,,

आमदनीका बटवारा

	वेतन और मजदूरीके रूपमें	सम्पत्ति तथा प्रबन्धके रूपमें
संवत् १९६७ (सन् १९१०)	४६.० फी सदी	५४.० फी सदी
,, १९७२ (,, १९१५)	६८.७	३१.३ ,,
,, १९७६ (,, १९१९)	७७.८	२२.२

संवत् १९७६ में संयुक्त राज्यमें ५ आदमी ऐसे थे जिनकी आमदनी एक करोड़ पचास लाख और उससे ऊपर थी। छः जिनकी आमदनी एक करोड़से एक करोड़ बीस लाख तक थी, सातकी साठ लाख और ऊपर, तेरहकी पैंतालीस लाख और ऊपर, साठकी बाइस लाख और ऊपर। संवत् १९७५ से तुलना की जाय तो इस वर्ष इन्कम टैक्स देने वालोंकी संख्या ६०७,६४६ अधिक पायी गयी। इनकी विशुद्ध आय (नेट इन्कम) अर्थात् खर्चके बाद जो आमदनी बची उसकी रकम लग भग १ खरब १८ अरबके लगभग थी। इस बढ़ी हुई आमदनीसे संवत् १९७६ में अमेरिकाकी सरकारको लगभग ४२ करोड़का अधिक आयकर (इन्कम टैक्स) मिला।

इसी वर्ष फी सदी ५.०३ लोगोंने इन्कम टैक्स दिया। औसत लगानेपर हरएककी विशुद्ध आमदनी लगभग ६ सौके थी और हर एकका आयकर ३४ रु० निकला।

संवत् १९७७ (सन् १९२०) में न्यूयार्क शहरकी जनसंख्या ५,६२०,०४८ थी इसमें १,८३९,६८३ पुरुष और ६६१,७२७ स्त्रियां तथा १० वर्षसे अधिक अवस्थाके ऐसे लड़के थे जो वेतन, मजदूरी आदि किसी न किसी धन्धेसे धन कमाते थे।

मुख्य मुख्य धन्धोंमें कितने स्त्री पुरुष लगे हुए थे उनका ब्योरा इस प्रकार है—

पेशा	पुरुष	स्त्रियां
केशियर और एकौन्टण्ट	४२,४४६	४०,२३४
स्टीनियोग्राफर टाइपराइटर	७,१४६	७२,५६५
दर्जी	४६,६३२	३,२६१
बढ़ई	४२,४७८	३
वकील और न्यायाधीश	११,२४६	२५३

पेशा	पुरुष	स्त्रियां
डाक्टर	६,४४६	५२७
एक्टर	५,०५३	५,०३४

संवत् १९६७ से १९७७ (सन् १९१० से १९२०) के बीच, स्टीनिग्रो ग्राफर, केशियर, दाई, टेलीफोन आपरेटर इन धन्धोंमें स्त्रियोंकी संख्या खूब बढ़ी और सेवा चाकरी आदि कुछ धन्धोंमें भारी घटती हुई।

अब हिन्दुस्तानकी बात लीजिये। श्री ग्लैडस्टनका कथन है कि किसी देशके इन्कम टैक्समें वृद्धि होना उस देशकी बढ़ती हुई समृद्धिकी निशानी है। जब सवत् १९७६ में अमेरिकाका आयकर गत वर्षकी अपेक्षा ४२ करोड़से अधिक बढ़ा, हमारे देशका आयकर दो करोड़से अधिक नहीं बढ़ा। हमारे देशमें कुल इन्कम टैक्स देने वाले ३२०,००० आदमी हैं अर्थात् एक हजारमेंसे एक ही आदमी इन्कम टैक्स देता है जब कि अमेरिकामें ५०·३ लोग देते हैं। हमारे देशकी राष्ट्रीय आमदनी कितनी होती है, यह हमें सरकारी अंकोंसे पता नहीं लगता, सरकार उसका हिसाब प्रगट करनेका कष्ट ही नहीं उठाती। यों तो आयात, निर्यात मालके बड़े बड़े आंकड़ोंसे वह हमारे देशको यह धोखा देनेमें कदापि पीछे नहीं हटती कि हिन्दुस्तानकी तिजारत बढ़ती जा रही है। किन्तु असली अंक जिनसे हमारे देशके प्रत्येक पेशेके स्त्री पुरुषकी आमदनी जानी जा सकती है उनका स्पष्ट और ब्योरेवार हाल वह प्रगट नहीं करती। इसका कारण स्पष्ट है, वह हमें हमारी गरीबीकी अवस्थाका पता लगने देना नहीं चाहती क्योंकि इससे लोग सजग हो कर सरकारकी आर्थिक नीतिके विरुद्ध भारी असन्तोष फैला देंगे और उस हालतमें उसके लिए हमसे उत्तरोतर अधिक रुपया खींचना कठिन हो जायगा। संवत् १९५७ (सन् १९००) में लार्ड कर्जनने स्वार्थ बुद्धिसे यह अवश्य जाननेकी कोशिश की थी कि हमारी औसत् आमदनी क्या है। और उन्हें बड़ी निराशाके साथ हिन्दुस्तानीकी वार्षिक आय तीस रुपयेसे अधिक नहीं मालूम हुई। दादा भाई नौरोजी, श्री टाड इत्यादिने जो हिसाब लगाया है उसमें भी हिन्दुस्तानीकी औसत आय तीस बत्तीस रुपयोंसे अधिक नहीं निकलती। अमेरिकाकी वार्षिक आमदनी प्रति मनुष्य पीछे २३७५ रुपये और हिन्दुस्तानकी केवल ३० रुपये। दोनोंमें कितना अन्तर है। एक अपने देशकी प्रजा हितैषिता और लोगोंकी उद्योग-प्रियताको प्रगट करती है और दूसरी अपने देशकी सरकारकी क्रूर उपेक्षा और लोगोंकी जबर्दस्त काहिली-की द्योतक है।

वृद्धिचन्द्र देव

मराठोंकी राज्य-व्यवस्था।

(१)

साम्पत्तिक अवस्था-राजकीय ऋण।

ग्रांट डफके मतमें राजकीय लेखोंके अनुसार मराठा राज्यकी आय १० करोड़ रुपये थी जिसमें होल्कर, सेंधिया, भोंसले और गायकवाड़की जागीरकी आय, करद राज्योंसे चौथकी आय, नजराना तथा अन्य प्रकारके भूमि-कर आदि सभी सम्मिलित हैं। वास्तविक आयका अन्दाजा ८ करोड़के लगभग होगा जिसमें २॥ या तीन करोड़ प्रधान शासक (पेशवा) के राजकोषमें आता होगा। नाना साहेबकी पेशवाईमें यह आय ३॥ करोड़ तक पहुंची थी। जब अंग्रेजोंसे पेशवाकी प्रथम सन्धि हुई थी तब कंपनी-सरकारकी आयकी अपेक्षा तो पेशवाकी निजी आय कम थी, परन्तु सब मरहठा साम्राज्यकी आय मिल कर अंग्रेजोंसे दुगुनी थी।

पेशवा लोगोंका व्यय बड़ा गड़बड़ था। कोई भी आय व्ययका लेखा तैयार नहीं होता था और न इस बातकी चिन्ता की जाती थी कि आयके अनुसार ही व्यय भी किया जावे, इसी लिये पेशवाई राज्यको कर्जमें फँसना पड़ा। फिर इसका भी कुछ ठीक नहीं था कि कितना व्यय राज्य सम्बन्धी था और कितना निजी। एक प्रकारसे मुगल शासकोंकी तरह ही इन लोगोंके खर्च भी अन्धाधुन्ध थे, परन्तु मुगलोंकी आय इतनी अधिक थी कि सब कमी पूरी हो जाती थी। माधवराव पेशवाके ऊपर इतना ऋण था कि उनकी मृत्यु तक नहीं पटा यद्यपि उनके पास २४ लाखके मूल्यके जवाहर भी थे। इसी प्रकार बाजीराव (द्वितीय) के पास भी अंग्रेजोंके बन्दी होनेके समय लगभग १ करोड़के मूल्यके जवाहर थे, इससे पाठक पेशवाओंके निजी व्ययका अन्दाजा लगालें।

पेशवाओंके पास निजकी जागीर भी होती थी जिसकी आय वे अपने ही काममें लाते थे, अतः सम्भव है कि वे अपनी निजी आयके अतिरिक्त एक निर्दिष्ट भाग अपने व्ययके लिये राजकोषसे भी लेते हों जैसा कि आज कल भी प्रायः रजवाड़ोंमें देखा जाता है। अपनी आयसे जितना अधिक व्यय हो जाता है उसकी कमी राज्यसे पूरी कर दी जाती है और ऐसी रकम निश्चित नहीं होती। निजी व्ययके लिये इस प्रकारकी जागीर प्रायः पर-राज्योंमेंसे मिला करती थी। माधवराव पेशवाकी ऐसी जागीर तीन लाखकी थी। उदयगिरकी लड़ाईके पीछे निजामने सदाशिव भाऊको २ लाख रुपयेकी जागीर देना स्वीकार किया था। इसी प्रकार जब रघुनाथराव परास्त होकर शरणमें आया तब पुरन्धरकी सन्धिके अनुसार उसे १२ लाख रुपयेकी पेंशन दी गयी थी। परन्तु सालबाईकी

सन्धिसे जब उक्त सन्धि रद्द हो गयी तब भी उसे तीन लाख वार्षिककी जागीर दी गयी थी। स्वयं बाजीराव् ही जब अंग्रेजोंके अधीन हुए थे तो उन्हें ८ लाख वार्षिककी जागीर दी गयी थी, अस्तु।

यह कर्ज जो राज्य लेता था राजकीय-व्यय-खातेमें पड़ता था और क्योंकि उस समय राष्ट्र और शासक राजमें मिल जुल रहे थे, अतः राष्ट्रीय ऋणमें ही यह कर्ज भी गिन लिया जाता था। आवश्यकतानुसार राष्ट्रीय कर्ज लेनेकी पद्धति उस समय ऐसी सुकर थी कि प्रजाको और निर्धन लोगोंको उस समय दस दस और पांच पांच रुपयोंके लिये व्यर्थ ही अत्याचारसे पीड़ित नहीं होना पड़ता था और न अहलकारोंके झमेलेमें उस समय उन बेचारोंको भटकना पड़ता था। सूद भी खूब मिलता था। साहूकारोंसे ही उस समय कर्ज लिया जाता था जो प्रायः जगतसेठ या अन्य इसी प्रकारकी उपाधिसे अलंकृत होते थे।

साहूकारोंके पास तत्कालीन चलनके सब प्रकारके सिक्के रहते थे और आवश्यकतानुसार आधीरातको भी उनसे यथेष्ट रुपया सरकारको मिलजाता था क्योंकि सरकारकी साख सदा ही अच्छी समझी जाती है। तिसपर मराठाशाहीमें तो कदापि किसीका कर्ज मारा नहीं जाता था। साहूके रोजनामचेमें लिखा है, 'शिद्दीपर चढ़ाई करनेके लिये बाजीराव गया। उसके व्ययके निमित्त कर्ज लिये रुपये पर ३) प्रति सैकड़ा प्रतिमास सूद ठहराया गया। यदि ठीक समयपर रुपया न लौटाया जावे तो सूद और भी अधिक दिया जावे'। नाना साहेबके रोजनामचेमें २॥) सैकड़ासे ॥=) सैकड़ा तक प्रतिमासके व्याजका उल्लेख है। उनकी यादबहीमें संवत् १७६६ से १७१६ (१८१६ ?) तक राज्यने डेढ़ करोड़ रुपया ऋण भिन्न भिन्न साहूकारोंसे लेनेका और किस सेठका कितना रुपया था इन सब बातोंका जिक्र है। उस लेखेके अनुसार व्याजकी साधारण दर राज्यके लिये १) से १॥) प्रति सैकड़ा प्रति मास प्रायः होती थी। माधवराव पेशवाके समय यह दर १२) प्रति वर्ष प्रति सैकड़ासे किसी प्रकार भी अधिक नहीं पड़ती थी। यह कर्ज प्रायः युद्धादिके समय ही लिया जाता था, इसीलिये शायद कभी कभी व्याजकी दर ३) भी हो जाती होगी। परन्तु बाजीरावके समय (संवत् १८६०) से आगे प्रायः युद्ध आदि पेशवाओंको कम लड़ने पड़े, इसलिये किसी ऋणका उल्लेख उनके रोजनामचेमें नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि सवाई माधवरावके शासनके अन्तमें नानाफड़नवीसने शासन-व्यवस्था सुधार दी थी, अन्तःराजकोष अच्छी दशामें आगया था।

दफ़्तर।

पेशवाई राज्यमें दफ़्तरकी व्यवस्था अच्छी जान पड़ती है। सेना दुर्ग, आर्मेडा (बेड़ा) भूमिकी नाप और सर्वे, जमाबन्दी, तक़र्रुर लगान, माफ़ी, किश्तवारा, तहसीलदार और कलक्टर (मामलेदार और कमाविसदार) के कर्तव्य, सीमा सम्बन्धी झगड़े, आराज़ीकी जरई बनाने और बाग़ात लगानेके लिये प्रोत्साहन, फसलके खराब होजाने पर माफ़ी,

गांवके थाना, जमीनकी बिक्री, लम्बरदारी और ठेकेदारी, गल्लेके बजाय नकद लगान मुकर्रर करना, सीर, दखीलकारी आदि, दीवानी मुकद्दमे, पञ्चायत, फौजदारीके मुकद्दमोंका दण्डविधान, पुलिस, जेल, सरकारी अहलकारों और जागीरदारोंके कर्तव्य, राजद्रोह, परराष्ट्र विभाग, राजदूत, भिन्न भिन्न राष्ट्रोंसे व्यवहार, डाक, अस्पताल टकसाल, बाजारका भाव, मजूरीकी दर, बेगार, सरकारी कर्ज, व्यापार कलाकौशल, धर्म-विभाग, समाजकी स्थिति और सुधार, उत्सवोंका प्रोत्साहन, नगर और ग्रामोंकी जनसंख्या, जलमार्ग द्वारा व्यापार, माप तौलके नियम, सार्वजनिक स्थानोंके नियम, तालाब, बावरी आदिकी मरम्मत और नये बनवानेकी व्यवस्था, बांध (नदी आदिके), खनिज सम्पत्ति, सरकारी व्यापारकी दूकानें आदि आदि अगणित विषयोंके नियमोंकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातोंका वर्णन इन दफ़्तरी लिखावटोंसे मिलता है। एक प्रकारसे यह दफतर मराठाशाहीका अच्छा विस्तृत इतिहास है। डेकन वर्नाक्यूलर ट्रांसलेशन सोसायटीने इस दफतरमेंसे १०।१२ खण्ड पूनासे प्रकाशित किये हैं जिनके आधारपर अनेक ज्ञातव्य बातें ज्ञात होती हैं।

यदि केवल 'शिवदिग्विजय' या शिवाजीकी बखरको देखा जावे (जो बड़ौदासे प्रकाशित हो चुकी है) तो भी शिवाजीके समयकी (और विशेषकर उनकी राजनीति सम्बन्धी) अनेक बातोंका पता लगता है।

राजकीय सम्मान सूचक पदवी आदि।

जिस प्रकार उस समय मुगलोंके दरबारमें बड़े बड़े खिताब और जागीर आदिके लिये सनदें दी जाती थीं उसी प्रकार मराठे शासक भी उपाधियों और जागीर आदिके लिये सनदें देते थे। इन सबकी स्वीकृति स्वयं छत्रपतिके द्वारा होती थी और दफतरके जाबितेके मुआफिक उसकी सूचना उसकी नकल भेजकर उन सब महकमेके अफसरोंके पास भेज दी जाती थी जिनका उससे सम्बन्ध होता था। पदवियोंके साथ अवश्य ही थोड़ी बहुत जागीर भी होती थी। इन पदवियोंके लिये लोगोंको कुछ व्यय नहीं करना पड़ता था बल्कि सरकारकी ओरसे ही पदवी प्राप्त करने वालोंके पदवीके कारण नये उत्पन्न हुए व्ययोंका भी प्रबन्ध कर दिया जाता था। उदाहरणके लिये विठ्ठल शिवदेवको घंटा बजानेका भार दिया गया था और उसे घड़ियालीकी पदवी दी गयी। उक्त नौकरीकी पर्वानगी उसे दे दी गयी तथा पालकीका खर्च और उस विभाग सम्बन्धी सेवकोंका वेतनादि सरकारसे नियत कर दिया गया। इसी प्रकार जिसे निशान लेकर चलनेकी आज्ञा होती थी उसे निशान और लेकर चलनेवाला आदमी भी सरकारसे ही मिलता था। जिसे छत्रवाही, मशाली या चँवरवाहीका पद मिलता था अर्थात् राजकी ओरसे जो इन चीजोंका उपयोग दर्बारमें कर सकता था उसे ये पदार्थ और इनके उठाने वाले आदमी भी मिलते थे तथा उनका खर्च राजकोष देता था।

उस समयके कुछ पदोंके नाम इस प्रकार हैं—धुरन्धर शमशेर बहादुर, फतह

जंग बहादुर, महाराव, रुस्तमराव, वजारत माश्राब, सेनापति सचिव, शमशेर बहादुर, सेनार खेहा, सेनासाहब, सूभे, सेना धुरन्धर, सफे जंग बहादुर, सरलष्कर, सेनाबार हजारी, हिन्दूराव, हिम्मत बहादुर, आदि। इनके अतिरिक्त दो दो सौ, चारसौ, एक हजारी आदि मंसब देनेकी व्यवस्था भी थी तथा किसीको निशान, किसीको छत्र, किसीको नगाड़ा आदि भी मानसूचक चिन्ह दिये जाते थे। जिन्हें कुछ दान दिया जाता था या वृत्ति मिलती थी उन्हें तदधिकार सम्बन्धी सूक्ष्म विवरणके साथ सनद दी जाती थी।

आवकारी।

मराठोंके समयमें भी शराब आदि नशीली वस्तुओंका व्यवहार वैसा ही निषिद्ध था जैसा मुगलशासनमें, क्योंकि मदिरा आदिका सेवन ये स्वयं नहीं करते थे तथा न्याय और कानूनकी व्यवस्था हिन्दू धर्मशास्त्रके अनुकूल थी, इसलिये मदिराको किसी प्रकारका प्रोत्साहन उस समय नहीं दिया जाता था। एक प्रकारसे उस समय यह विभाग नाम मात्रका ही था। कई पेशवाओंने तो इसके विरुद्ध ही कार्य किया था। सवाई माधव रावके समयमें कोंकणमें एक विशेष प्रकारकी शराब जो वहां बहुत बनती थी आगेको बननेसे रोक दी गयी। वहां अंग्रेज और अन्य यूरोपियन लोगोंको शराब बनानेकी स्वतंत्र आज्ञा थी, परन्तु वे अपने ही उपयोगके लिये बना सकते थे, बेचनेके लिए नहीं। दूसरे बाजीरावने महुएके फूलोंपर भी राज्यकर लगा दिया था। राज्यकी ओरसे कदापि शराब नहीं बनायी या बेची जाती थी, परन्तु अफीमकी खेतीके लिये अधिक प्रतिबन्ध भी नहीं था क्योंकि उस समय भी चीन और पूर्वी टापुओंसे उसका व्यापार होता था।

किले।

मराठोंके राज्यमें किले बड़े महत्वकी चीज थे। युद्धके लिये तो वे उपयोगी थे ही, किन्तु नगरोंकी बस्ती भी उस समय प्रायः किलोंमें ही अधिक होती थी और किसी किसी किलेमें तो जल-सरोवर और तड़ाग आदिके द्वारा इतना अच्छा प्रबन्ध हो जाता था कि वहां ही खेती भी होती थी और खाद्य पदार्थ उत्पन्न करके वर्षों शत्रुके साथ युद्ध किया जा सकता था। मराठोंने सदा ही अपने किलोंकी संख्या बढ़ानेका उद्योग किया और साहूके समयमें इनकी संख्या २०० तक पहुंच गयी। भारतमें उस समय ४०० या ४७५ से अधिक किले यूरोपियन यात्रियोंने नहीं गिने थे।

इन किलोंमें सरकारी अफसर किलेदार होता था जो अपने अधीन एक अस्थिर सेना Irregular Soldiery की सहायतासे किलेकी रक्षा करता था। इस सेनामें आस पासके रहने वाले लोग ही भरती हो जाते थे जिन्हें निर्वाहके लिये राज्यकी ओरसे भूमि मिलती थी। कहीं कहीं थोड़ी बहुत अरबी या कवायद दां सिपह भी रखी जाती थी। कुछ पैदल फौज भी इन किलोंमें रहती थी। जिन किलोंपर तोपें चढ़ी थीं वहां गोलन्दाज भी रहते थे। हर किलेमें आवश्यकतानुसार युद्धसामग्री भी रखते थे तथा वहीं घिर जाने

पर तैयार करनेका प्रबन्ध भी होता था। किलेदारको किलेके खर्चका हिसाब नियमित रूपसे रखना पड़ता था जिसे प्रतिवर्ष वह राजधानीमें पेश करता था। कहीं कहीं खर्चके लिये किलेके साथ एक दो गांव लगा देते थे। किलेमें रहने वाले सिपाहियोंका वेतन उनके कुटुम्बका खर्च देख कर नियत होता था। किलेमें हाजिरीका रजिस्टर भी रहता था। किलेकी नौकरीपर छुट्टी जाते समय अपनी जगह किसी औरको कोई भी छोड़कर नहीं जासकता था, किन्तु इसका प्रबन्ध राज्य या किलेदारकी ओरसे होता था। किलेमें बिना सरकारी और महाराजकी मोहरकी चिट्ठीके किसीको नहीं ठहराया जाता था। किलोंमें भी राजधानीकी तरह चौकी पहरा और नौबत आदि रखी जाती थी।

जनताकी रक्षा

गांव गांवमें रक्षाका प्रबन्ध गांव वाले ही मिलकर करते थे, केवल किसी मेले या यात्रा आदिके समय ही राज्य रक्षाका प्रबन्ध करता था। जहां घाटी या दो पहाड़ोंके बीचमें ऐसे स्थान थे जिनमें चोर आदिके उपद्रवका भय होता था वहां बारह मासी चौकी पहरेका प्रबन्ध करनेके लिये सरकारकी ओरसे तहसीलदार या कोई पुलिस अफसर नियत हो जाता था। मुलजिमको पकड़नेपर पकड़नेवालेको इनाम भी दिया जाता था, परन्तु विशेष विशेष अफसरोंपर रक्षा करने वाली पुलिसका व्यय भी गांव वालोंसे वसूल किया जाता था और इस व्यय-करसे ब्राह्मण भी नहीं छूटते थे, परन्तु धनवालोंसे ही इस व्ययका अधिक भाग वसूल किया जाता था क्योंकि शासकोंका विचार था कि चोर धनवानोंका ही माल चुराने आते हैं, अतः उनकी रक्षा आवश्यक होती है, इसी लिये रक्षाका व्यय भी वेही दें। पुलिस सशस्त्र (Armed) होती थी और वह तहसीलदारकी अधीनतामें अनियमित पैदल और घुड़सवार रह कर काम करती थी। इसे ही इस समयकी मिलिट्री पुलिस कह सकते हैं। बड़े बड़े नगरोंमें कोतवाल नियत होते थे। कोतवाल और तहसीलदार दोनोंका ही काम छोटे छोटे स्थानोंपर तहसीलदार कर लेता था अतः तहसीलदारको थोड़े बहुत अधिकार फौजदारीके भी होते थे।

टकसाल और सिक्का

मराठाकालमें निम्नलिखित सिक्के प्रचलित थे।

पैसा, डबल पैसा या ढबू पैसा, तोलमें १८॥ माशेका,
आलमगीरी पैसा, तोलमें १३॥। माशेका,
शिवराई ६। माशेका।
इस समय पैसेका वजन ५॥ माशेके लगभग है।

रुपया—जोधपुरी, चांदवाड़ी, गंजीकोटका, कंधारी, प्रायः सबका वजन एक तोला होता था।

होन—सोनेका एक सिक्का जिसका प्रचार दक्षिणमें प्राचीन समयसे होता है,

यह सिक्का लगभग ३॥ या ४ माशेका होता था। यह ऐलौरी, हैदरी, सनगिरी, हरपनहल्ली, व्यैंकपती, मुहम्मदशाही और नया तथा पुराना धारवाड़ी—इतने प्रकारका चलता था।

मोहर या अशर्फी—दिल्लीकी, अहमदाबादी, चलनी, मालखेड़ा एवं खटवाकी कहलाने वाली अशर्फीका मूल्य उस समय १४॥=) था और सूरती, औरंगाबादी, बनारसी, जहानाबादी, मछली बन्दरी, पाटणी, लाहौरी तथा बुर्हानपुरीका दाम १३॥।) था। वजन सबका वही ८ माशेके लगभग होता था।

जो सिक्का जिस स्थानकी टकसालमें बनता था वह वहींका कहलाता था। मराठोंने कोई राजकीय टकसाल कायम नहीं की थी, किन्तु उनकी ओरसे टकसाल खोलनेका लाइसंस मिलता था। उस लाइसंसमें प्रायः सबही ऐसी बातें लिखी जाती थीं जिनसे सिक्का अच्छा बने, सिक्केकी तोल जोखका विवरण रहे, सरकारका कर और उसकी किश्तका निर्णय हो और यदि आवश्यकता हो तो सुनार, कारीगर आदिका प्रबन्ध तथा उनकी तनख्वाह आदिकी नियुक्ति राज्य ही कर देता था। कुछ टकसालोंमें १० माशेका पैसा भी बनाया गया था, परन्तु खोटे या कम सिक्का बनानेपर कठिन दण्डकी व्यवस्था की जाती थी। धारवाड़के जमीन्दारोंने एक बार संवत् १८१७ में बहुतसी टकसालें खोलकर बहुतसे खोटे सिक्के तैयार किये थे अतः सरकारको उस समय विशेष प्रबन्ध करना पड़ा था। जब सरकारने प्रबन्ध करके यह टकसाल ठीक करदी तो 'हुण' या होन'का सिक्का ३॥ माशेका और रुपया अर्काटी ढंगका बनाया गया। सरकारने नये प्रबन्धके अनुसार कर पहिले वर्ष माफ कर दिया और अगले वर्षसे हजार मोहर तैयार करने पर ६ मोहर और हजार रुपया तैयार करने पर ६ रु० कर लेना स्वीकार किया था। परन्तु इन टकसाल चलाने वालोंको इतनेपर भी यथेष्ठ लाभ होता था। प्रति हजार रुपये पीछे ४५, रुपया नफेमें बच रहता था। इसी लिये पीछेसे जब बहुतसे लोग स्वेच्छानुसार टकसाल खोलने लगे, सरकारको कठिन नियम बनाने पड़े और कठोर आज्ञाएँ देनी पड़ीं—संवत् १७२३ (?) में बड़गांव, रासीन, तलेगांव, दूसरा तले गांव (इन्दौरमें) आदिकी टकसालें जप्तकी गयीं।

नसीराबादकी टकसालमें होनमें सोना २॥। माशे ॥ रत्ती और चांदी ५॥ रत्ती मिलायी जाती थी। सोना दिल्लीकी मोहरका होता था। मोहरका वजन दिल्लीकी मोहरके बराबर ही रक्खा गया था अर्थात् १ तोला, जिसमें १० माशे ७ रत्ती सोना होता था और शेष मिलावट अथवा बिना मिलावटके ही केवल १० माशे ७ रत्ती शुद्ध सोना। रुपयेमें ११। माशे चांदी होती थी। इस टकसालसे केवल वार्षिक २०१) नजराना लिया जाता था। धारवाड़ी और जमखण्डी टकसालोंमें ४ रत्ती चांदी प्रति रुपया मैल या खर्चमें ली जाती थी अधिक लेनेपर टकसाल तोड़ने और अपराधियोंको दण्ड देनेकी व्यवस्था की गयी थी। किन्हीं प्रान्तोंमें एकसे अधिक पुरुषोंको भी टकसालका लाइसंस दिया जाता था और कहीं कहीं किसी एकको ही प्रान्त भरके लिये सिक्का ढालनेका अधिकार दिया जाता था।

मराठोंके समयमें मराठाशाही, निजामी, अंग्रेजी, पुर्तगाली, मुगलशाही, बीजापुरी, गोल कुण्डा आदि भिन्न भिन्न प्रकारके सिक्कोंका चलन था और सबमें माल एक सा नहीं होता था अतः 'विनिमयका झगड़ा उस समय भी चलता था। अंग्रेजोंने अपना सबसे पहला सिक्का संवत् १८६० में ईस्टइण्डिया कम्पनीके नामसे चलाया था, यद्यपि संवत् १८६५ का उक्त कम्पनीका पैसा भी देखनेमें आता है। उस समय अंग्रेज लोग विलायती सिक्का काममें लाते होंगे। इसीलिये इस प्रकारकी अड़चन दूर करनेको उस समय 'दर्शनी कीमत,से अलग 'ऐन कीमत' पर सिक्का पर-राष्ट्रमें चलता था। अब भी यद्यपि अनेक देशी रजवाड़ोंमें टकसालें हैं, परन्तु उनके सिक्कोंको सरकार असली मालके दामोंपर लेती है और अपने सिक्कोंको दर्शनी कीमतपर सब भारतमें चलाती है, इसका कारण अंग्रेजोंका सार्वभौमाधिपति होना है, परन्तु उस समय ऐसा कोई सिक्का नहीं था। इसी अड़चनको दूर रखनेके लिये तत्कालीन सेठ साहूकार अलग अलग तरहके सिक्कोंका बड़ा संग्रह अपने पास रखते थे और विनिमयके द्वारा भी खूब लाभ उठाते थे, क्योंकि परदेशियों और यात्रियोंका काम तो बिना विनिमयके उस समय चलना ही प्रायः असम्भव था।

महकमा माल।

जमींदार और काश्तकारोंके परस्परका बंटवारा और गांवका हिसाब तैयार किया जाता था। लगान वसूल होने पर स्याहा कराना पड़ता था और वार्षिक मालगुजारी तथा लगान किश्तोंमें दिया जाता था। फसल खराब होने या पिछला अधिक बाकी रहजानेपर माफी भी हो जाती थी। इन सब बातोंका उल्लेख शाहूके रोजनामचेमें है। माधवरावके रोजनामचेमें उल्लेख है कि एक ब्राह्मणको जिन्सवारेपर जमीन उठा दी गयी थी और जिन्समें लगान देनेकी उसे आज्ञा नहीं दी गयी अतः जिन्सके स्थानमें नकदी लगान मुकर्रर किया गया। यदि सेना अथवा राजकीय सिपाही किसी फसलको काट लेते या खराब कर देते थे तो उसकी जमाबन्दी माफ कर दी जाती थी। इसी प्रकार यदि युद्धमें शत्रुके द्वारा अपनी प्रजाकी अधिक हानि होती थी तो भी लगान माफ कर दिया जाता था। एक प्रकारसे राजा ही भूमिका मालिक था। जागीरदारोंको छोड़ कर और कोई जमीन्दार उस समय राज्य द्वारा स्वीकार नहीं किये जाते थे। युद्ध आदिके अवसरपर या और किन्हीं कारणोंसे भी जब काश्तकार भाग जाते थे तो नये काश्तकारोंको मुफ्त भूमि देकर बसाया जाता था। बागलाणप्रान्तके लिये यह नियम था कि जो बांध बांध कर बाग लगाते थे उन्हें १० प्रति सैकड़ा बीघेके हिसाबसे भूमि इनाम मिलती थी। बांध बांधने अथवा और किसी सरकारी काममें जिसकी भूमि आजाती थी मुआविजा दिया जाता था। कभी कभी सरकार सहायता देकर तालाब और कूल भी निकालनेका प्रोत्साहन देती थी। माधवरावकी डायरीमें लिखा है कि एक बार तुंगभद्राका बांध टूट जानेपर उसकी दुरुस्तीमें २०० होन व्यय हुए। इसके लिये वहांके रेवेन्यू अफसरको आज्ञा दी गयी कि वह इस रकमको वसूलीमें दे दे। समय समयपर आज्ञाएँ निकलती रहती थीं कि

तहसीलदार और मालके हाकिम जमाबन्दीसे ज्यादा न लें। जिन गांवोंको ठेकेमें उठाया जाता था उनके सम्बन्धमें भी ऐसी ही आज्ञाएँ प्रकाशित की जाती थीं। गांवों और खातोंकी हदबन्दीके झगड़े पञ्चायत अथवा हलफी बयानपर तय किये जानेकी व्यवस्था थी। ऐसी व्यवस्था शाहूजीके समयसे चली आती थी। गांवमें नयी बस्ती बसानेके लिये जो जरई जमीन दी जाती थी वह गांवकी जमाबन्दीमेंसे कम कर दी जाती थी।

गांवके अधिकारियोंके कर्तव्य नियत थे। उन्हें उनके निर्वाहके लिये गांवसे ही व्यय मिलता था। गांव वाले ऐसे २ कर्मचारियोंको देते थे। पटवारीको ये वस्तुएं गांवसे मिलती थीं—पगड़ी १, तेल प्रति दूकानसे नित्य २ तोला, जूता प्रतिवर्ष १ जोड़ा, धीवर पानी भरनेके लिये नित्य बारी बारीसे, इन्धन, स्याही बनानेका तेल और कागजोंके बस्तेके लिये रूमाल प्रति गांवसे अलग अलग, तम्बोलीसे पान, दिवाली दशहरापर गांवके वादित्र द्वारा बाजा, मालीसे माला और गांवके देवालयकी आयमेंसे हिस्सा।

उस समय सरकारसे वेतन न मिलनेके कारण पटवारियोंके ये हक बंधे थे परन्तु अब जब कि उन्हें वेतन मिलता है और सरकार उस वेतनका व्यय प्रजासे लेही लेती है तो प्रजापर द्विगुण कर-भार पड़ गया है क्योंकि पटवारीके उक्त करोंमेंसे कितने ही, तथा उनके अतिरिक्त और कितने ही कर गांवोंमें अब भी बंधे हैं।

मुकद्दम या लम्बरदारको सौ रुपये पीछे एक रुपया मिलता था तथा जिन्समें वसूल होनेपर प्रति मन ॥ सेरके हिसाबसे जिन्स मिलती थी। इसके अतिरिक्त और भी निम्नलिखित कर उसके बंधे थे—जलमार्गसे आने वाली चीजोंपर प्रति खण्डी १२ सेर, नमक प्रति खण्डी १२ सेर, प्रति बैल १ पाई, ग्वालेसे प्रति पशुपर आध सेर, लौनी वार्षिक, तेलीसे फी घान आध सेर तेल प्रति मास, प्रति गांवसे आध सेर लौनी, एक जोड़ा जूता और एक छाता या बर्साती घूघी।

इसी प्रकार देशमुख, देश पाण्डे, नाड गोडा, चौगुला आदि मालके हाकिमोंके अधिकार थे। यदि कभी किसी करपर झगड़ा या मत भेद होता तो गांवके आदमी इकट्ठे होकर उसे तय कर लेते थे।

राज्यका विभाग मौजा, महाल, परगना और सरकारमें किया गया था। सरकार या कमिश्नरीमें कई परगने (जिले) होते थे जिनमें कई महाल (तहसीलें) थे और प्रति महालमें बहुतसे ग्राम या मौजे थे।

जगनलाल गुप्त।

भारतमें मजदूरोंकी दशा।

हम पहिले लेखमें कह चुके हैं कि हमारे देशके श्रमजीवी अधिकतर खेतोंमें ही अपना समय व्यतीत करते हैं। हमारे यहांके दो तिहाई पुरुषों और एक तिहाई स्त्रियोंको अपना और अपनी सन्तानका उदर पालन करना पड़ता है। इन काम करने वालोंमें दो तिहाई ऐसे हैं जो खेतों अथवा उसी प्रकारके कामोंमें अपना समय लगाते हैं। वे या तो स्वयं अपने लिये खेत जोतते और बोते हैं अथवा दूसरेके खेतोंको जोतते, हरवाहीका काम करते और जमीदारोंके जानवरोंकी निगरानी करते हैं। केवल एक तिहाई स्त्री पुरुष मिलों, कारखानों, रेलवे, सरकारी आफिस तथा अन्य अन्य स्थानोंमें नौकरी करते हैं। पर ये भी कुछ दिनों पश्चात् अपने अपने गावोंमें लौट आते हैं और इनके स्थानपर दूसरे युवा और दृढ़ पुरुष काम करते हैं। भारतवर्षका एक तिहाई श्रम बीमारी आदिसे नष्ट हो जाता है। काम करने वालोंमें भी आधे एक प्रकारकी बीमारीसे पीड़ित रहते हैं जिसको अंग्रेजीमें हुकवर्म कहते हैं। इस प्रकारकी बीमारीका कमसे कम यह परिणाम होता है कि श्रमजीवी बहुत जल्द थक जाते हैं। यह बीमारी बरसातमें विशेष कर फैलती है। बालविवाहका भी श्रमजीवियोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

विक्रमकी बीसवीं शताब्दीके द्वितीयार्द्धके आरम्भसे प्लेग, हैजा, इन्फल्यून्जा आदि भयंकर बीमारियों और अकालोंके कारण हमारे श्रमजीवियोंकी संख्या बहुत कम हो गयी यद्यपि १९५८-६९ विक्रमीमें समस्त भारतवर्षकी जनसंख्यामें २ करोड़की वृद्धि हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रमजीवियोंकी मांग बढ़ गयी और उनका वेतन भी साथ ही साथ बढ़ता गया।

गत महायुद्धके पूर्व हमारे देशमें सुकाल था। चारों ओर रेलें और सड़कें खुल गयी थीं, हमारा माल सुगमतापूर्वक बाहर जाता और बाहरसे नगरों और गांवोंमें सुगमतासे पहुंचता था। गवर्नमेन्टके पास धन अधिक था और वह मनमाना व्यय करती थी। रेलका काम बढ़ गया था और उसमें लाखों श्रमजीवी नौकर थे। इधर उधर व्यवसायकी कम्पनियां खुल रही थीं और इस प्रकार श्रमजीवियोंकी मांग दिन प्रति दिन अधिक होती जाती थी। इसी समय विदेशोंमें आवश्यक पदार्थोंका मूल्य बढ़ रहा था। इसका प्रभाव भी हमारे देशपर पड़ा। हमारे किसानोंके पास धन अधिक होता गया और उनके पदार्थोंकी खपत बढ़ती गयी। पदार्थोंके मूल्य बढ़नेसे श्रमजीवियोंने भी अधिक वेतन मांगना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् युद्धका समय आया। युद्ध-क्षेत्रमें मजदूरोंकी आवश्यकता हुई। सरकारने यहांसे मजदूर भेजना प्रारम्भ किया, फिर तो मजदूरोंकी मांग और भी बढ़ गयी। इन्हीं दिनों भारतमें नयी नयी कलें और कारखाने भी खुलने लगे। इन

सबका परिणाम यह हुआ कि मजदूरोंका वेतन अब पहिलेकी अपेक्षा दुगना तिगुना है। पर दुर्भाग्यवश पदार्थोंका मूल्य भी बहुत बढ़गया है। इससे उन्हें जो लाभ मिलना चाहिये वह नहीं मिला। मजदूरोंपर मंहगीका क्या प्रभाव पड़ा है यह हम माघके स्वार्थमें दिखला चुके हैं। आज हम देखेंगे कि भारतके भिन्न भिन्न व्यवासायोंमें मजदूरोंकी क्या दशा हैं।

जूटके कारखानोंमें :—ये कारखाने अधिकतर बंगाल प्रान्तमें हैं। संवत् १९७४ में इन कारखानोंकी संख्या ७१ थी और इनमें २, [illegible]०,१६६ मनुष्य नौकर थे। इन मिलोंसे १०,००,००० टन जूटके बोरे और कपड़े बनाये जाते थे। इन मिलोंमें अधिकतर बिहार, उड़ीसा, युक्तप्रान्त, और उत्तरी मद्रासके मजदूर नौकर हैं। बंगाली लोग इसमें बहुत कम भाग लेते हैं। संवत् १९४३ के पूर्व जूट मिलोंके प्रायः सभी मजदूर बंगाली थे, पर उस समयसे उनकी संख्या घटती गयी और इस समय ९० सेकड़ा मजदूर बाहरी हैं।

मजदूरोंकी भर्तीमें मिलवालोंको सरदारोंसे बड़ी सहायता मिलती है। ये सरदार मजदूरोंके ही वंशज होते हैं और इन्हींके समझाने बुझाने पर ये लोग मिलोंमें काम करते हैं। मिलके स्वामियोंके लिये इन लोगोंका मिलाये रहना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि मजदूर इन्हींके कहने पर चलते हैं और इनकी सहायताके बिना स्वामियोंको मजदूर मिलना कठिन है। यही नहीं, यहांके अधिकांश मजदूर भी सरदारोंकी बस्तियोंमें रहते हैं। ये बस्तियां कच्चे मकानों अथवा झोपड़ियोंकी बनी होती हैं और मजदूर लोग इन्हींमें रहते हैं। ये बहुत गन्दी होती हैं, इनमें दुर्गंध आती है। कुछ दिनोंसे स्वामियोंका ध्यान इस ओर गया है और वे उनके रहनेके लिये अच्छे अच्छे क्वार्टर बना रहे हैं। श्रमजीवी भी इन क्वार्टरोंको झोपड़ियोंसे अधिक पसन्द करते हैं। संवत् १९७५ में जूटकी मिलोंके श्रमजीवियोंका वेतन इस प्रकार था :—

	प्रतिमास
धुनिया	९)
कातनेवाला	१४॥)
रोव्हर	१२)
शिफ्टर	११)
वाइण्डर	१८)
बीमर	२२)
मिस्त्री	३०)
कुली	१३)

१९७५ के पश्चात् इस वेतनमें कुछ और वृद्धि हुई है। पर मिलोंके स्वामियोंका कथन है कि इस वेतनवृद्धिसे मजदूरोंने बहुत कम लाभ उठाया है। जो मजदूर संख्या अथवा परिमाणके हिसाबसे काम करते हैं उन्होंने इस वृद्धिका दुरुपयोग किया है। वे अब

पहिलेकी अपेक्षा कम काम करते हैं। जो मजदूर घंटोंके हिसाबसे काम करते हैं वे थोड़ासा रुपया जमा करके बैठ जाते हैं अथवा काम छोड़ कर अपने गावोंमें चले जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि मजदूर जब अपने कामपरसे रात्रिको लौटते हैं तब उनके मन बहलानेकी कोई भी चीज नहीं होती। उनका निवासस्थान गंदा, दुर्गंधयुक्त और शीतमय होता है। वे अपना शेष समय मदिरा पीने, रात्रिको बाजारमें घूमने और सोनेमें बिताते हैं। इस प्रकार उनका स्वास्थ्य शीघ्र ही बिगड़ जाता है और उन्हें अपने गावोंमें लौट जाना पड़ता है यद्यपि नीरोग होनेपर, बहुतसे फिर मिलोंमें लौट जाते हैं। इसका सबसे बुरा परिणाम यह होता है कि मिलोंको शिक्षित और काम जानने वाले मजदूर नहीं मिलते।

यहांके मजदूर बिल्कुल अशिक्षित हैं। जिन गावोंसे ये लोग काम करने आते हैं वहांपर शिक्षाका पूर्ण अभाव मालूम होता है। मिलमें जो बालक काम करते हैं उनकी शिक्षाका प्रबन्ध भी पूर्ण रीतिसे नहीं किया गया है यद्यपि सज्जन और शिक्षित स्वामी अब इसका प्रबन्ध कर रहे हैं। अतः गवर्नमेन्टका इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

सूती मिलोंमें—सूतकी मिलें भारतमें कई स्थानोंपर खुली हैं। उनमेंसे मुख्य मुख्य स्थान बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, कानपूर और नागपूर हैं।

बम्बई—कलकत्तेके मजदूरोंकी अपेक्षा यहांके मजदूर अधिक चतुर और उद्योगी होते हैं। संवत् १९७५ में यहां ८६ मिलें थी और उनमें १,१८,३०३ मजदूर काम करते थे। यहांके मजदूरोंका वेतन भी और स्थानोंकी अपेक्षा अधिक है। युद्धके समयसे यह वेतन और भी अधिक बढ़ गया है संवत् १९७५ में बोनस आदि मिलाकर उनका वेतन इस प्रकार था।

	प्रतिमास
ड्रापर	२३।=)
रीलर	१७।)
वार्पर	४०॥)
रोवर	२४)
डाफर	१२॥=)
बुननेवाला बीवर	४६॥≡)

यद्यपि बम्बईमें श्रमजीवियोंको और स्थानोंकी अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है पर उनकी दशा और स्थानोंसे अच्छी नहीं है। कलकत्तेमें नदीके दोनों ओर काफी जगह है और श्रमजीवी बस्तियोंमें रहते हैं। यहां प्रत्येक घर एक मंजिलका होता है। कानपूर और अहमदाबादमें काफी जगह है पर बम्बईकी अवस्था अन्य स्थानोंसे भिन्न है यहांपर मजदूरोंको चालोंमें रहना पड़ता है। चालमें दो, तीन, चार मंजिले मकान होते हैं। इन मकानोंमें प्रत्येक मजदूरको एक एक कमरा रहनेके लिये मिलता है जहां वह अपने

परिवारके साथ रहता है। ये कमरे या तो एक दूसरेके पीछे रहते हैं या दो दो तीन तीन फीटके अन्तर पर होते हैं और उनके सामनेसे खुली हुई नाली बहा करती है। ये कमरे, विशेषकर सबसे नीचेके कमरे, अंधेरे होते हैं और इनमें बहुत कम खिड़कियां होती हैं। अशिक्षित मजदूर परदा करनेके लिये इन खिड़कियों और मुखनोंको भी बन्द कर देते हैं। मकानोंके बीचकी गलियां बहुत तंग होती हैं, उनमें धूप और हवा बहुत कम आती है, और इन गलियोंमें दुर्गंध आया करती है। प्रत्येक कमरा १०'×१०' होता है और इसका किराया ३ से ७ रुपया तक होता है। यह कमरा इतना छोटा होता है कि लोग इसमें भेड़ोंकी तरह भरे रहते हैं। तिसपर भी कभी कभी दो परिवार एक ही कमरेमें रहते हैं जिससे उन्हें किराया कम देना पड़े। इस भरिभ्भड़का परिणाम यह होता है कि इन स्थानोंमें प्लेगका बहुत प्रकोप रहता है और सैंकड़ों मजदूर सालाना कालके भक्ष्य होते हैं।

यहांके मजदूर अधिकतर दक्षिण और कोकणके महराष्ट्र, कोकणके मुसलमान, कुछ जुलाहे और मध्यप्रान्तके निवासी होते हैं। इनमेंसे दक्षिणी महाराष्ट्र और कोकणके मुसलमान कृषक होते हैं। अधिक ऋणी होनेके कारण वे अपना स्थान छोड़ कर यहां चले आते हैं, पर उनका स्वभाव नहीं बदलता और वे यहां भी ऋणी हो जाते हैं। मध्यप्रान्तके निवासी और जुलाहे चतुर होते हैं और वे अधिक परिश्रम करते और रुपया बचा ले जाते हैं। जूटकी मिलोंकी तरह यहांपर भी ठेकेदारोंके द्वारा मजदूर भरती किये जाते हैं, और इन ठेकेदारोंको इसके लिये पुरस्कार दिया जाता है पर इन मिलोंके स्वामी ठेकेदारोंपर उतना निर्भर नहीं रहते जितना जूट मिलोंमें निर्भर रहना पड़ता है।

कानपूर—यहांका व्यापार अधिकतर यूरोपियनोंके हाथमें है। कुछको छोड़ कर प्रायः सभी मिलें अंग्रेजोंकी हैं। यह नगर ऐसे स्थानपर है जहां मजदूरोंकी कमी नहीं। अतः यहां ठेकेदारों अथवा सरदारोंकी आवश्यकता नहीं। जगह भी यहां काफी है अतः मजदूरोंके रहनेके लिये यहां उतनी असुविधा नहीं जितनी बम्बईमें है। १९७५ में यहांके श्रमजीवियोंका वेतन इस प्रकार थाः—

	स्ट्रारपर्स	६॥) मासिक
	साइनर्स	१५)
	वारपर्स	२०)
	ड्राअर्स	२०)
बुनने वाले	वीवर्स	१५-२०)

चायके बागीचोंमें:—ये बागीचे विशेष कर आसामके पहाड़ी भागोंमें हैं। युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, और विहार उड़ीसा आदि घने प्रान्तोंसे दूर होनेके कारण यहां मजदूरोंका प्रश्न बड़ा बेढब है। इन बगीचोंके मालिक प्रायः सभी विदेशी हैं और उनका व्यवहार हमारे देशवासियोंके साथ सन्तोषजनक नहीं है। संवत् १९१६ की धारा १२ के अनुसार कुली कुछ समय तक अपने स्वामियोंको छोड़ नहीं सकते। छोड़नेपर

उन्हें नाना प्रकारके दंड दिये जाते हैं। संवत् १६५८ के नियमोंने उसमें कुछ सुधार कर दिये हैं पर इन बगीचोंमें हमारे देशवासियोंको बराबर कष्ट दिया जाता है। गत वर्षकी दशा देखकर हमें कहना पड़ता है कि अपने ही घरमें हम गुलाम हैं।

कोयलेकी खानोंमें—यों तो कोयलेकी खानें आसाम, मध्यदेश हैदराबाद, रीवांराज्य, पंजाब, बेलूचिस्तान, और बीकानेरमें भी पायी जाती हैं पर भारतका अधिकांश कोयला विहार और बंगालके गोन्डवानाके खेतोंसे आता है। रानीगंज, भरिया, और गिरदीके विभाग कोयलेके घर हैं। संवत् १६७५ और १६७६ में कोयलेकी उपज इस प्रकार थी।

प्रान्त	संवत् १६७५	संवत् १६७६
	टन *	टन
आसाम	२,६४,४८४	२,६१,७३४
बेलूचिस्तान	४३,१२५	३४,३२८
बंगाल	५३,०,२,२६५	५७,७७,५३२
विहार-उड़ीसा	१,३६,८०,०३०	१,५१,१६,८१२
ब्रह्मा	......	१५००
मध्यप्रदेश	१,६६,६३५	१,८२,१४१
मध्य प्रान्त	४,८१,४७०	४,६७,०२१
हैदराबाद	६,५६,१२२	६,०२,१६६
पंजाब	५०,४१८	४६,८६३
राजपूताना	११,३३४	१४,७००

उक्त तालिकासे हमें पता चलता है कि बंगाल, विहार और उड़ीसाकी खानें ही मुख्य हैं और हमारे मजदूर अधिकतर यहीं काम करते हैं। इन खानोंमें भी बड़ी बड़ी खानें विदेशियोंके हाथमें हैं। हमारे देशवासियोंके हाथ छोटे छोटे गढ़े हैं जिनमें वे मेशीनके द्वारा काम करते हैं पर जब कोयलेका भाव गिर जाता है तब वे अपना काम बन्द कर देते हैं।

इन खानोंमें काम करनेके लिए दूर दूरसे मजदूर बुलाये जाते हैं पर इनमेंसे अधिकांश छोटानागपुरके कृषक होते हैं। मजदूरोंकी संख्या आवश्यकतासे कम होती है पर पानी बरसने अथवा बीमारीके समय यह संख्या और भी कम हो जाती है। केवल १-२ सैकड़ा मजदूर खानोंके पास घर बनाकर रहते हैं। शेष पानी बरसते ही अपने गावोंको लौट जाते हैं और जब तक खेतोंका काम पूरा नहीं हो जाता तब तक नहीं लौटते। इससे

* एक टन लग भग २८ मनके बराबर है।

खानोंका काम अच्छी तरह नहीं होने पाता । पर अब कुछ स्वामी अपने मजदूरोंके लिये अच्छे अच्छे क्वार्टर बना रहे हैं और आशा की जाती है कि मजदूर अधिक संख्यामें सदैवके लिये वहां रहने लगेंगे और उनकी सन्तान भी इसी काममें शिक्षा पायेगी । मजदूर गावोंकी नाईं अलग अलग झोपड़ियोंमें रहना अधिक पसन्द करते हैं और अपने अपने घरोंके आगे या पीछे एक छोटीसी फुलवारी चाहते हैं । इसमें केवल व्ययका प्रश्न है । यदि यह प्रश्न हल हो गया तो यहांपर खान खोदने वालोंकी एक जाति बन जावेगी ।

इन खानोंमें संवत् १९७३ में १,३५,०६३ मजदूर नौकर थे । संवत् १९७६ में प्रतिमजदूरने १ ५ टन कोयला निकाला और पृथ्वीके ऊपर १५५ टन ! उसी वर्ष इंग्लैण्डमें प्रत्येक मजदूरने ३२३ टन पृथ्वीके नीचे और २५१ टन पृथ्वीके ऊपर निकाला । इससे पता चलता है कि हमारे मजदूर बल और कौशलमें अंग्रेजोंसे कितने कम हैं ।

लोहेके कारखानोंमें—लोहेके दो मुख्य कारखाने हैं । पहिला और पुराना कारखाना बंगाल आइरन और स्टील कम्पनी कुलटीमें है और दूसरा कारखाना, ताता आइरन स्टील कम्पनी साकचीमें है । ये दोनों कारखाने बंगालकी कोयलेकी खानोंके पास हैं । पहिला कारखाना संवत् १९३२ में खोला गया था । इसमें १०,००० टन पक्का लोहा प्रतिमास ढलता है ।

दूसरा कारखाना पहिलेकी अपेक्षा बहुत बड़ा है । यह कारखाना संवत् १९६२ में खोला गया । इसके निर्माता पारसीकुलभूषण जमशेदजी ताता थे । यहां १७००० टन प्रतिमास लोहा ढलता है । इस कम्पनीमें १३००० मजदूर हर वक्त काम करते हैं और इसके ठीकेदारोंके नीचे १०,००० और मजदूर हैं जो इस कारखानेकी उन्नतिमें लगे रहते हैं । जब पहिले पहिल यह कारखाना साकचीमें खुला था तब वह स्थान बिल्कुल बीहड़ था पर अब यहां एक घनी बस्ती हो गयी है जिसकी जन-संख्या ५० सहस्र है और आशा की जाती है कि कारखानेकी उन्नति जब पूर्ण रूपसे हो जायेगी तब यह संख्या द्विगुण हो जायेगी । इसके नीचे १५,००० और मजदूर हैं जो खानोंके खोदनेमें लगे रहते हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर ३८,००० मजदूर इस कारखानेमें काम करते हैं । यहांपर प्रत्येक श्रेणीके मजदूरोंके रहनेके लिये मकान बनवाये गये हैं । नीचसे नीच श्रेणीके कुलियोंके रहनेका भी प्रबन्ध किया गया है । कम्पनीने मजदूरोंके लड़कोंकी शिक्षाका भी प्रबन्ध किया है । यहांपर एक चिकित्सालय है और बालकोंकी आरम्भिक और औद्योगिक शिक्षाका भी प्रबन्ध किया गया है ।

उन्नतिके उपाय ।

यह तो हम पहिले ही देख चुके हैं कि कलों और कारखानोंमें भारतीय मजदूर उतनी योग्यता और कुशलतासे काम नहीं कर सकते जितनी कुशलतासे पश्चिमी मजदूर कर सकते हैं । कोयलेकी खानोंको ही लिजिये । हम मानते हैं कि हमारे देशमें उतनी

अच्छी कलें नहीं हैं जितनी पश्चिममें हैं पर हमारी कलें इतनी खराब नहीं हैं कि पश्चिमके मजदूर भारतीय मजदूरोंसे प्रतिदिन दूना कोयला पृथ्वीसे निकालें। यही दशा और और कारखानोंमें है। यही कारण है कि हमारे यहां विलायतकी अपेक्षा मजदूरी कम होने पर भी किसी वस्तुकी लागत विदेशसे कम नहीं पड़ती।

कहा जाता है कि हम शारीरिक बलमें पश्चिमीय लोगोंसे बहुत कम हैं। गर्म मुल्कमें रहते रहते हमारी शक्ति क्षीण हो गयी है और हम उतना कार्य नहीं कर सकते जितना विलायत वाले कर सकते हैं। सम्भव है कि यह बात ठीक हो। हम पश्चिमीय लोगोंकी नाई बलवान भले ही न हों पर यदि हमको वही सुभीते मिलें जो पश्चिमीय लोगोंको मिलते हैं तो सम्भव नहीं कि हम उनसे कम पैदा कर सकें। यदि बराबर सुभीते मिलने पर भी हम उनके बराबर नहीं काम कर सकते तो फिर पूर्वी और दक्षिणी अफ्रिका वाले अंग्रेज हिन्दुस्तानियोंसे क्यों डरते और रोते हैं। हम मानते हैं कि उष्ण स्थानपर लगातार काम करना ठण्ढे स्थानकी अपेक्षा बहुत कठिन है पर यह अवस्था केवल थोड़े दिनोंके लिये होती है। हमारे देशमें लगातार गरमी नहीं पड़ती। जाड़े और बरसातमें यहां उतना ही काम हो सकता है जितना शीतोष्ण देशोंमें। हां हमारे देशके मजदूरोंको हुकवर्म नामकी बीमारीसे बचाये रखना अत्यन्त आवश्यक है और इस ओर सरकार और कलोंके स्वामियोंका ध्यान आकर्षित करना चाहिये।

हमारे मजदूरोंकी अयोग्यताके कई कारण हैं, पर वे सब कारण ऐसे हैं जिनको हम मिलके स्वामियों और सरकारकी सहायतासे दूर कर सकते हैं, पर कुछ ऐसे कारण हैं जिनको सरकार भी दूर करनेमें असमर्थ है और उन्हें दूर करनेमें हमें समाजकी सहायता मिलनी चाहिये। बाल-विवाह, व्याहके समय व्यर्थ खर्च आदि अनेक प्रकारकी बुराइयां जो हमारे मजदूरोंमें पायी जाती हैं उन्हें रोकना हमारा काम है। शेष कामोंमें हम पूंजीपतियों और सरकारसे सहायताकी आशा करते हैं।

इसमें तो सभी सहमत होंगे कि हमारे मजदूरोंको सुखी बनानेके लिये बहुत कम सामानकी आवश्यकता होती है। युद्धके पहिले वे केवल चार या पांच आना प्रतिदिन कमाते थे और उसीमें अपने घर भरका निर्वाह करते थे। अब भी देहातोंमें जा कर देखिये। दिन भर काम करनेके बाद केवल सत्तू खाकर अथवा गुड़ खाकर ही वे अपना निर्वाह करते हैं। इससे वे सन्तोषी तो प्रगट होते हैं पर उनके शारीरिक बल पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। उनके कार्य करनेकी शक्ति क्षीण होती जाती है। सबसे बुरी बात यह होती है कि यह क्षीणता बढ़ती जाती है और इसका प्रभाव उनकी सन्तानपर पड़ता है। उनकी सन्तान निर्बल और कमजोर होती हैं। इतना ही नहीं ये लोग कभी भी अपने वेतन बढ़ानेकी चेष्टा नहीं करते और यदि चेष्टा भी करते हैं तो बढ़े हुये वेतनका उपयोग नहीं करते। इन्डस्ट्रियल कमीशनके सामने गवाही देते हुए कई स्वामियोंने कहा कि संवत् १९७४ में मजदूरोंके वेतन बढ़नेसे उन्होंने उपजमें कमी कर दी। हमारे

मजदूर अधिकसे अधिक कमाकर अपने जीवनके सुखकी सामग्रीका उपार्जन करना अपना कर्तव्य नहीं समझते। वे केवल अपनी बाह्य आवश्यकताओंको पूरा करना ही उचित समझते हैं। एक पश्चिमी मजदूर जितना ही अधिक वेतन मिल सके उतना ही अधिक पाने की चेष्टा करता है और इस वेतनको अच्छेसे अच्छे भोजन, वस्त्र निवासस्थान, अपने संतानकी पढ़ाई आदि आदि अच्छे कामोंमें लगाता है और यदि सम्भव है तो कुछ रुपया अपनी वृद्धावस्थाके लिये बचा लेता है। पर हमारे मजदूर अब तक उस अवस्थामें नहीं पहुंचे हैं। ज्योंही उनका पेट भर जाता है त्योंही वे शिथिल पड़जाते हैं और जबतक भूख नहीं लगती तबतक अपना समय आलस्यमें बिताते हैं। यह एक इतना बड़ा अवगुण है कि इससे छुटकारा पाये विना हम उन्नतिकी आशा नहीं कर सकते। इससे छुटकारा पानेके कई उपाय हैं। सबसे बड़ा उपाय मजदूरों और उनकी सन्तानोंको शिक्षित बनाना है।

मजदूरोंके बालकोंकी शिक्षाकी ओर सरकारका ध्यान कुछ दिनोंसे आकर्षित हो रहा है। संवत् १९७४ में बम्बई सरकारने मिलोंके स्वामियोंसे परामर्श करके एक ऐसा नियम निकालनेकी चेष्टाकी जिससे कि ९ से १४ वर्षके बालकोंको लगातार ६ घंटा काम न करना पड़े। सरकार चाहती थी कि ६ घंटाका कार्य दो भागोंमें विभाजित कर दिया जाय। बालक तीन घंटे तक मिलोंमें काम करें। फिर तीन घंटे तक उनके पढ़नेका प्रबन्ध हो। उसके पश्चात् तीन घंटे वे फिर काम करें। इसपर लोगोंने बड़ा आक्षेप किया। उन्होंने कहा कि ऐसा करनेसे बालक पढ़नेके तीन घंटे माता पिताके कहनेसे या तो फैक्टरीके कामोंमें व्यय करेंगे या अन्य प्रकारके कामोंमें लगावेंगे और जिस कामके लिये उन्हें छुट्टी मिलती है वह काम पूरा न होगा। निरीक्षक लोग जो इस कामपर नियत किये जायेंगे वे इन बालकोंको नियम तोड़नेपर पकड़ भी न सकेंगे। कुछ लोगोंने यह भी कहा कि मिलोंमें ६ घंटा बालकोंका ठहराना ही अनुचित होगा। मद्रासकी कर्नाटक और बकिंघम मिलोंमें बालकोंसे ६ घंटा लगातार काम लिया जाता है। वहीं लड़कोंके पढ़नेका भी प्रबन्ध किया गया है। जो बालक काम करनेके पहिले और पीछे पढ़ना चाहते हैं वे पढ़ते हैं। इसमें उनको बहुत सफलता हुई है। मजदूर बालकोंकी अधिक संख्या शिक्षा पाती है। पर इन मिलोंको मद्रासमें जो सफलता हुई है उसका एक बड़ा कारण यह है वहां और दूसरी मिलें नहीं हैं। अतः उन्हें ठेकेदारोंकी सहायतापर निर्भर नहीं रहना पड़ता और मजदूरोंपर स्वामियोंका दबाव रहता है। स्वामी भी मजदूर बालकोंकी सुविधाका ध्यान रखते हैं। पर बम्बई ऐसे स्थानोंमें जहां सैकड़ों मिलें पास ही पास हैं इस काममें बड़ी अड़चनें पड़ती हैं। बालक एक मिलसे छुट्टी पाते ही दूसरी मिलोंमें काम करने लगते हैं और उनको पकड़ना बहुत कठिन होता है। श्रमके घंटोंको विभाजित करनेसे हमारा लक्ष्य पूरा नहीं होगा। इसका एक मात्र उपाय हमें यह दिखलायी पड़ता है कि जिस स्थानके मजदूर बालकोंकी शिक्षाका हम प्रबन्ध करना चाहते हैं वहां हमें पहिले अनिवार्य शिक्षाका प्रबन्ध करें जिसमें कोई भी बालक घरमें न रह सके। और

निरीक्षकोंके सपुर्द यह काम सौंपा जावे कि वे इस बातका निर्णय करें कि अमुक बालकके मजदूरी करनेसे उसकी शिक्षामें कोई बाधा तो नहीं पड़ती है। यदि बाधा पड़ती हो तो उसे कुछ अवस्था तक मजदूरी न करने दिया जावे। संवत् १९७४ में बम्बई कौंसिलमें इसी प्रकारका एक प्रस्ताव पास हो गया है जिससे ६ से ११ वर्षके बालकको अनिवार्य शिक्षा मिलती है।

मजदूरोंकी उन्नतिका दूसरा उपाय उनके कामके घंटोंका घटाना और बचे हुये समयको भली प्रकार काममें लाना है।

मिलके स्वामियोंका कथन है कि काम करनेके समय भी मजदूर इधर उधर घूमनेमें अपना बहुत समय व्यर्थ नष्ट करते हैं। १२ घंटेमें मुश्किलसे ८ घंटे लगातार काम करते हैं। उनका यह भी कथन है कि यदि काम करनेका समय कम किया गया तो मजदूर काम कम करेंगे और इसका उपजपर बुरा प्रभाव पड़ेगा। उस दशामें वे विलायत वालोंके साथ प्रतियोगिता न कर सकेंगे और उन्हें मिलें बन्द कर देनी पड़ेंगी। मजदूरोंके गुणों और उनके कामोंको देखकर स्वामियोंका कथन सत्य प्रतीत होता है। पर अमेरिका और जिनोआकी कान्फरेन्सोंने यूरोपके लिये ८ घंटे और एशियायी मजदूरोंके लिये १० घंटे कामका प्रस्ताव पास किया जो प्रत्येक प्रकारसे उचित प्रतीत होता है। यदि यूरोपके मजदूर कम समय तक काम करके भी उतना ही पैदा कर सकते हैं जितना वे पहिले १० घंटे काम करके पैदा करते थे तो यह असम्भव नहीं कि एशियायी मजदूर भी ऐसा ही कर सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि उनमें लगातार काम करनेकी बान डाली जाय और उन्हें इस बातकी शिक्षा मिले कि वे बचे हुये समयको शारीरिक और मानसिक शक्तियां बढ़ानेके काममें लावें। यूरोपमें पूंजीपतियोंने कामके घंटे कम कर दिये हैं पर साथ ही उन्होंने काम करनेका समय भी विभाजित कर दिया है। कुछ मनुष्य ६ बजे प्रातःसे २ बजे तक काम करते हैं और कुछ २ से १० तक, शेष १० से ६ तक। इस प्रकार प्रत्येक समय मशीन काममें लायी जाती है। इससे मशीनके पुरजे तो अधिक घिसते हैं पर व्याजकी बचत होती है। हमारे देशमें भी इस प्रकार समय-विभाग हो सकता है। केवल इतना अन्तर होगा कि जहां यूरोप वालोंने तीन विभाग किये हैं हमारे देशमें दो विभाग हो सकते हैं।

उनकी उन्नतिका तीसरा उपाय उनके रहनेके लिये उचित प्रबन्ध करना है। उन स्थानोंमें जहांपर मिलें नगरके बाहर हैं मजदूरोंके रहनेका प्रबन्ध करना कठिन नहीं है। वहां मजदूर उसी प्रकार रह सकते हैं जैसे वे अपने गावोंमें रहते हैं। भूमि काफी होनेसे एक मंजिले अथवा फूस और खपड़ेके मकान बनवाये जा सकते हैं। यहां उनकी स्थिति और उनका रहन सहन बिल्कुल गांव वालोंकी तरह होता है और अधिपतियोंको केवल थोड़ेसे नियम बनाने पड़ते हैं जिसमें उन्हें काफी मजदूर मिल सकें और केवल वही मजदूर उनके बनाये हुये मकानोंमें रहें जो उनके यहां नौकर हों और उनके नियमों पर चलें।

मद्रास कानपुर, नागपुर और अहमदाबादके नगरोंके बाहर इसी प्रकारके एक मंजिले मकान बने हैं। ये मकान मिलोंके स्वामियोंके नहीं हैं, पर मजदूरोंको सस्ते किराये-पर मिल जाते हैं। रगूंनमें बड़े बड़े बैरक हैं। एक एक बैरकमें १०-२०-२५-३० आदमी रहते हैं। इनमें मजदूरोंको इतना सुभीता नहीं होता जितना उन्हें एक मंजिले मकानोंमें होता है। यहां मजदूरोंका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। यह देख कर मिलके अधिपतियों-ने अपने मजदूरोंके लिये मकान बनवाना प्रारंभ किया है। वे यद्यपि जानते हैं कि किरायेसे मकानकी लागत वसूल नहीं होती फिर भी अच्छे और चतुर मजदूर पानेके लिये उन्हें मकान बनवाना ही पड़ता है। कानपुर, बम्बई, कलकत्ता आदि नगरोंमें भी बड़े बड़े अधिपतियोंने इसी नीतिका अनुसरण किया है। कलकत्तेके अधिकतर मजदूर अपने स्वामियोंके बनाये हुये एक मंजिले मकानमें रहते हैं। अहमदाबादके पूंजीपति भी अपने मजदूरोंके लिये मकान बना रहे हैं।

पर ये सब काम सरकारकी सहायताके बिना पूरे नहीं हो सकते। हमारा विचार है कि सरकार पूंजीपतियोंको उस भूमिको पानेमें सहायता दे जो फैक्टरीके निकट हो पर शर्त यह है कि पूंजीपति उसे दूसरे कामोंमें न लगा सकें। यदि उन्हें दूसरे कामोंमें लगाना हो तो पहिले सरकारकी मंजूरी लेलें, इतना ही नहीं बल्कि मजदूरोंके रहनेके जो मकान बनें वे भी सरकारकी आज्ञा बिना न बनें और सरकारी निरीक्षक उन मकानोंका प्लैन देख लें। इसमें खर्चेका प्रश्न होगा अतः एक उपाय और है जिससे आबादी बहुत घनी न होने पावे और उसके पहिले ही सरकार मजदूरोंके रहनेका प्रबन्ध करदे। सरकार भूमिको स्वयं लेकर अधिपतियोंको कुछ नियमित समयके लिये पट्टे पर दे दे अथवा उन्हें इस प्रकार दे दे कि वे किस्तों द्वारा रुपया अदा कर दें और कुछ वर्षके पश्चात् वह भूमि उनकी हो जाय।

इसके अलावा प्रान्तिक सरकारोंको उचित है कि वे कुछ नियमित नियमोंके अनुसार मजदूरोंकी बस्तियां बनानेकी आज्ञा दें। इससे एक बड़ा भारी लाभ यह होगा कि ये बस्तियां प्लेग आदि बीमारियोंसे बची रहेंगी। आज कल बहुतसे पूंजीपति अपने मज-दूरोंके लिये स्वास्थ्यप्रद बस्तियां इस लिये नहीं बनवाते कि उन्हें पासकी गंदी बस्तियोंसे बीमारी आदिका भय होता है। अतः नागरिक सरकार अथवा म्यूनिसिपलिटीको यह भी अधिकार मिलना चाहिये कि वह जिस विभागमें चाहे फैक्टरियां बनने दे और जिसमें चाहे न बनने दे।

हम पहिले ही दिखला चुके हैं कि बहुतसे मजदूरोंमें ऋण लेनेकी आदत बहुत होती है। वे वेतन मिलनेके पहिले ही महाजनों और बनियोंसे उधार लेकर अपनी आव-श्यकताओंकी पूर्ति करते हैं और ये बनिये और महाजन इसका लाभ उठाते हैं। यही कारण है कि ३०) ४०) प्रतिमास पाने पर भी बहुतसे मजदूर जब घर लौटते हैं तब उनके पास घर पहुंचने तककी सामग्री नहीं होती। अधिपतियोंको चाहिये कि वे अपने

श्रमजीवियोंकी इन सूदखोरोंसे रक्षा करें। उनके लिये, यदि सम्भव हो, तो सस्ते अनाजकी दूकानें खुलवा दें। यदि यह सम्भव न हो तो कुछ बनियोंको ठेका दे दें जो अधिपतियों या उनके मुनीमोंके हस्ताक्षर देख कर मजदूरोंको दे दिया करें और ये मुनीम वेतन देते समय बनियोंका हिसाब चुकवा दें। यह काम तो अवश्य बहुत कठिन है पर अधिपतियोंको उनकी भलाईका कुछ न कुछ उपाय करना ही पड़ेगा। जनता और शिक्षित पुरुष भी सहयोग समितियां आदि खोल कर उनका बड़ा उपकार कर सकते हैं। सरवेन्ट आफ इन्डिया सोसइटी बम्बईमें इस प्रकारका काम कर रही है।

मजदूरोंके दिल बहलाव और आरोग्यताके लिये खुली हवाके खेलोंका प्रबन्ध करना भी अधिपतियोंका कर्तव्य है। सिनेमा, नाटक आदि खेलोंसे उनका चित्त बहल सकता है पर ये खेल शिक्षाप्रद होने चाहियें। बहुतसे मजदूर मदिराके भक्त हो जाते हैं। उन्हें इससे बचानेके लिये यह परमावश्यक है कि मदिराकी दूकानोंको फैक्टरियोंके पास खुलनेकी आज्ञा न दी जाय। जो समय वे मदिरा पीने और घूमनेमें लगाते हैं उनका वह समय पुस्तकालयों और वाचनालयोंमें लगाया जाय तो उन्हें बहुत लाभ हो। अतः समाजसेवकों और अधिपतियोंका इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

हमारे देशमें पश्चिमीय देशोंकी नाईं मजदूरोंकी संख्या बढ़ रही है। हम इसे चाहे बुरा समझें चाहे अच्छा, पर हम इसे टाल नहीं सकते। हमारे महात्मा गांधी पूंजीपतियोंकी नाईं हमारे मजदूरोंको भी स्वतन्त्र देखना चाहते हैं। यही कारण है कि वे पश्चिमीय कलों और यन्त्रोंपर आक्षेप करते हैं। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि इन कलों और यन्त्रोंने हमारी स्वाधीनता छीन ली है और हमको एक मुट्ठीभर पूंजीपतियोंका गुलाम बना दिया है, पर इन बुराइयोंकी जड़ दृढ़ हो गयी है। जहां ये बुराइयां मनुष्यको पशु बना देती हैं, उसकी स्वधीनताका अपहरण करती हैं और गार्हस्थ्य जीवनको दुखमय बना देती हैं वहां ये उपजको इतना बढ़ा देती हैं कि मनुष्य उनके जालमें फंस जाता है। इस समय संसारके सब बड़े बड़े नेता यन्त्रों और कलाओंका विरोध कर रहे हैं। लेनिन और टालस्टायकी शिक्षा रूसको नया जन्म दे रही है पर फिर भी संसारमें यन्त्रों और कलोंके आविष्कार हो रहे हैं। अतः इन मजदूरोंकी रक्षा करना, उन्हें स्वतन्त्र बनाये रखना, उनकी आत्माको पतित न होने देना आवश्यक है और हम सबका कर्त्तव्य है कि मजदूरोंकी उन्नतिमें बाधक न बन कर साधक बनें।

श्यामबिहारीलाल कपूर।

भारतमें कृषिका व्यवसाय

भारत कृषिप्रधान देश कहा जाता है। यहांके विस्तृत खेत, प्राकृतिक बनावट, जलवायु, बड़ी बड़ी नदियां, जाड़ा, गरमी, तथा बरसात सब ही खेतीके पक्षमें हैं। आजकल यहां ८५ प्रतिशत कृषक बताये जाते हैं किन्तु पहले यह संख्या इतनी नहीं थी। पिछले वर्षोंकी जनसंख्याके अवलोकनसे पता चलता है कि यहां कृषिसे सम्बन्ध रखने वालों तथा उसपर निर्भर रहने वालोंकी संख्या दिनों दिन बढ़ती जाती है। जनताकी संख्याके साथ साथ खेती बारी भी बढ़ी है परन्तु जितनी बढ़ी है उतनी काफी नहीं है।

कृषिकी प्रधानता

अंग्रेज वणिकों (ईस्ट इंडिया कंपनी) के आनेके बाद भारतका व्यवसाय नष्ट किया गया, उद्योग धन्धे, शिल्प, कलाकौशल तथा कारीगरीपर अनुचित प्रहार किये गये, अनुचित प्रकारसे व्यापारका गला घोंटा गया, कई प्रकारकी कूट नीतियों और अत्याचारोंसे देशी शिल्प तथा व्यवसायकी जड़ काटी गयी। तात्पर्य यह कि विदेशी व्यापारियोंने अपनी धींगाधींगीसे भारतके व्यवसायको मिट्टीमें मिला दिया। परिणाम यह हुआ कि पेट-पालनका कोई उपाय न रहनेसे कारीगर और व्यवसायी लोग सब अपने अपने धन्धे छोड़ कर कृषि-कार्यकी ओर झुक पड़े, 'उत्तम खेती मध्यम बान निकृष्ट सेवा भीख निदान' का ही राग अलापने लगे। इससे जहां भारतीय लोग दरिद्रताकी दलदलमें फंसते गये वहां व्यापारके कारण यूरोपके लोग मालामाल होते गये। जनसंख्या विवरणमें लिखा है कि—संवत् १९२८ से १९६८ (१८७१ से १९११ ई०) तक ४० वर्षोंमें संयुक्त प्रान्तमें १७, अवधमें २३, पंजाबमें ५, मध्य प्रान्तमें ४१, बरारमें १७, मैसूरमें ५३, कुर्गमें ७०, ब्रिटिश वर्मामें ४३ और बम्बईमें ४१ प्रतिशत कृषक बढ़े। संवत् १९४८ से १९५८ (१८९१ से १९०१ ई०) तक १० वर्षोंमें ६ लाख १२ हजार ७४० व्यापारी घट गये। सारांश यह है कि हमारे शासकोंने भारतको धन कमानेका स्थान ही बना रखा है। संसारकी सब सभ्य जातियोंको आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त है। अपने आय व्यय तथा बजटको पास करना, न करना और अपने व्यापारकी रक्षा करना सब उनके अपने हाथमें है परन्तु पराधीन भारतको इन मामलोंमें बोलनेका कोई वास्तविक अधिकार नहीं है।

उपजकी मात्रा

इस प्रकार विवश हो खेतीको ही उत्तम समझ बिना सोचे समझे सारा देश कृषिकी ओर झुक गया, यहांतक कि संवत् १९७७ (१९२०-२१) में २१ करोड़ २३ लाख

५

२२ हजार एकड़ जमीन काश्त की गयी। संवत् १९७३ (सन् १९१६-१७) में इससे भी अधिक काश्त हुई अर्थात् २२ करोड़ ९६ लाख २० हजार एकड़। अन्नकी उपज भी यहां बहुत होती है। सारा संसार जितना चावल पैदा करता है उसका लग भग आधा अकेला भारत पैदा करता है। अन्य सब अन्न मिलाकर यहां इतनी उपज होती है कि विदेशी राष्ट्रोंके करोड़ों मनुष्योंका पालन यहांके अन्नसे होता है। किसी विद्वान्का कहना है कि भारतवर्षमें केवल संवत् १९७४ (सन् १९१७-१८) में २५ करोड़ १६ लाख ६४ हजार मन चावल, २७ करोड़ ४१ लाख ७४ हजार मन गेहूं, दो करोड़ १७ लाख मन रूई, ४ करोड़ ४३ लाख २३ हजार मन जूट, ४६ लाख ५५ हजार ७०० मन चाय, और १ करोड़ ३६ लाख ८९ हजार मन अलसी, अन्य कई प्रकारकी वस्तुओंके अतिरिक्त, उत्पन्न हुई।

कृषकोंकी दुर्दशा।

इतनी उपज होते हुए भी भारतके लोगोंको पेट भर अन्न दुष्प्राप्य रहता है। साधारणतः भारत देशकी, और विशेषतः संसारके अन्नदाता भारतीय किसानोंकी, जो दुर्दशा है वह किसीसे छिपी नहीं है। सर जानके शब्दोंमें वे किसान, जो बड़े बड़े भूमि-खंडोंके स्वामी थे, दीन हीन दशामें मिट्टीकी झोपड़ीमें कुछ बर्तनोंको लिये हुए अपने दिन काट रहे हैं। श्री सी० एस० इलियेटके कथनानुसार भारतके आधे किसान वर्षके आरंभ-से अन्त तक यह नहीं जानते कि भरपेट खाना किसे कहते हैं। एक सिविलियनकी राय है कि किसानोंमेंसे प्रायः ७५ प्रतिशतके घरोंमें कम्बल और बिस्तरा नहीं हैं। आध पेट भोजन करने वालोंकी संख्या ५२·७ प्रतिशत है। गरमीकी धूपमें दिनभर काम करनेपर भी विचारोंको पेट भर रूखा सूखा भोजन नहीं मिलता। पन्द्रह पन्द्रह वर्षके पुराने सड़े हुए और महादुर्गन्धयुक्त ज्वारकी रोटियोंसे पापी पेटकी ज्वाला शान्त करते हैं। शीतसे बचने-के लिये कपड़ेतक नहीं मिलते। कुर्ते और धोतीमें बीसों पेवन्द लगे रहते हैं। ऐसी दीन हीन अवस्थामें रहते हुए भी वे कर्ज़से दबे रहते हैं। अधिक परिमाणमें अन्न उत्पन्न करके भी उसे दूसरोंको सौंप कर स्वयं मृत्युके स्वप्न देखते हैं। बड़े खेदकी बात है कि कई करोड़ भारतवासी चोटीसे एड़ी तक पसीना बहा कर भी इतना अन्न नहीं पा सकते जितना जेल-खानेके कैदी पाजाते हैं। क्या भारत सरकारके लिये यह शर्मकी बात नहीं है?

श्री विलियम डिगबीके कथनानुसार संवत् १८५४ से १९५७ (१७९७ से १९००) तक अर्थात् १०३ वर्षोंमें जितने युद्ध हुए हैं उनमें सब मिलाकर भी ५७ लाख मनुष्य नहीं मरे किन्तु इतने ही कालमें अन्नके बिना ३ करोड़ २५ लाख भारतीयोंने तड़प तड़प कर शरीर त्याग किया। संवत् १८५७ से १८८२ (१८०० से १८२५) तक १० लाख, संवत् १८८२ से १९०७ (१८२५ से १८५०) तक ५ लाख और १९०७ से १९३२ (१८५० से १८७५) तक ५० लाख मनुष्य अन्नके बिना कालकवलित हुए अर्थात् १९ वीं शताब्दीमें करोड़ों भारतीय उदर-ज्वालासे भस्मीभूत हुए। श्री रसेलका कथन है कि १५० वर्षोंमें अकाल-से २ करोड़ ८० हजार मनुष्य मरे। इसका प्रधान कारण भूमिका लगान और जमीनके

पट्टेकी प्रणाली है जो सबसे निर्धन लोगोंपर भारी बोझ डालती है। दुर्भिक्षोंका निकटस्थ कारण अनावृष्टि है किन्तु उसका आरंभिक और मूल कारण लगान और टैक्स है। भारतीय किसानोंको संसारमें सबसे अधिक अर्थात् अपनी आयपर प्रतिशत ५५) टैक्स देना पड़ता है।

जो भारत इस गिरी अवस्थामें भी संसारके आधेसे अधिक भागको अपने उपजाये अन्नसे भर देता है उसकी सन्तान इस प्रकार भुखों मर रह कितने दुःख और आश्चर्यकी बात है। यूरोपमें खेतीके योग्य बहुत कम भूमि है। वहांका उपजाया हुआ अन्न वहांके लोगोंको सालमें केवल ९० दिनके लिये खानेको काफी हो सकता है परन्तु भारतमें इतनी भूमि है और उसकी उर्वराशक्ति ऐसी है कि यदि सुप्रबन्ध हो तो यहां अकाल कभी फटक भी नहीं सकता। यहांका भौतिक संगठन ऐसा ठिकानेका है कि समस्त देशमें एक साथ अकाल कभी नहीं पड सकता, तो भी यहांसे ७ समुद्र पारवाले तो अन्न मंगाकर भोजन करें और राशि राशि अन्न उत्पन्न करनेपर भी हम भूखों मरें यह अवश्य ही हमारे शासकोंके लिये शर्मकी बात है।

दुर्दशाके कारण।

कृषकोंकी इस दुर्दशाका मुख्य कारण उन्हें पीस डालनेवाला बढ़ा चढ़ा लगान है। इसके कारण किसान इतने निर्धन बन जाते हैं कि जब फसल बोनेका समय आता है तब उनके पास न तो जोतनेको बैल होते हैं और न बोनेको अन्न। फसल तैयार होनेपर निंदाईके लिये मजदूरोंको देनेके लिये पैसे भी नहीं होते। निदान बिचारे किसानको कहींसे भाड़ेके बैल लाकर जल्दीमें जैसे तैसे खेत जोत डालना पड़ता है और उधार लेकर जैसा बुरा भला बीज मिलता है, लेकर डाल देना पड़ता है। निंदाई आदिके लिये भी ऋण बढ़ जाता है। खेतकी जुताई, बीज तथा निंदाई अच्छी न होनेके कारण उपज कम होती है। इधर ब्याज महाराज कर्जको पांचगुणा कर देते हैं जिससे सारा अन्न साहूकारके गोदाममें चला जाता है और लगानका तकाजा सिरपर बाकी ही रह जाता है। ईस्ट इंडिया कम्पनीने जमीनपर लगान बढ़ा बढ़ाकर किसानोंको बिना पंखके पखेरू बनाकर बिल्कुल मटियामेट कर दिया था। कम्पनीने जितना लगान लगाया और वसूल करनेमें जो अत्याचार किये उनका वर्णन नहीं हो सकता। अब भी भारतके किसान संसार भरके किसानोंसे अधिक लगान देते हैं। जहां अन्य देशोंवाले किसान लगभग ३) सैकड़ा लगान देते हैं वहां आजकल भी भारतके किसानोंको २०) सैकड़ा तक देना पड़ता है। संवत् १९६१ (सन् १९०४) में सर बिपिन कृष्णबसुने कहा था कि पिछले दस वर्षोंमें लगान सैकड़े पीछे १०२) तथा १०५) के हिसाबसे बढ़ गया। किन्तु लगानकी बात तो दयालु सरकारके हाथ है और उसने इसे बढ़ानेके सिवाय घटाना सीखा ही नहीं है अतः इससे तो किसान पिसते ही रहेंगे। खेतीके काममें और बहुतसी त्रुटियां हैं, वे यदि दूर हो जायं तो भी दशा कुछ सुधर सकती है। अब कृषि ही भारतका प्रधान व्यवसाय हो गयी है और आगे भी रहेगी परन्तु घरके सब ही लोगोंको इसमें न लगकर और और धन्धे भी देखने

चाहिये। कृषकोंके पास जमीन भी काफी है। यदि एक आदमीके पास २० बीघा जमीन है तो उसके मरनेपर वह उसके चार बेटोंमें बँट जाती है। फिर भी वे लोग खेतीमें ही लगे रहते हैं, दूसरा रोजगार नहीं करते इससे दरिद्रता बढ़ती जाती है। अभी भारतमें ८ करोड़ ८१ लाख ६२ हजार एकड़ जमीन जंगलोंने घेर रखी है। इसमें सन्देह नहीं कि जंगलोंसे भी बड़ा लाभ होता है परन्तु यदि इनको साफकर सारी भूमि जोती जाय तो उपजमें बेहद वृद्धि हो सकती है। एक और भूलकी बात यह है कि आजकल अखाद्य द्रव्योंकी खेतीका परिमाण बढ़ता जा रहा है। कहीं धानकी जगह जूट बोया जाता है और कहीं धान या गेहूंकी बढ़िया जमीन छीनकर उसमें कपास या जूट बो दिया जाता है और धान तथा गेहूंके लिये खराब जमीन छोड़ दी जाती है। इससे खानेका अन्न काफी नहीं उपजता। इतने पर भी इस अपर्याप्त खाद्य पदार्थमेंसे बहुत कुछ देशके बाहर चला जाता है।

इन सब बातोंके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि हमारी उपज दिनों दिन घटती जारही है। खेतोंकी उर्वरा शक्ति दिनों दिन कम हो रही है। हमारी फसल ओले, पाले, कीड़ोंसे खराब हो जाती है। अनावृष्टि अथवा न्यूनाधिक तथा कुसमयपर वृष्टि होनेसे फसल नुकसान हो जाती है। हम भारतीय पुरानी प्रथाको छोड़ना नहीं चाहते। हमारा शिक्षित समुदाय कृषिको निन्द्य और गंवारू धन्धा समझ कर उस ओर ध्यान नहीं देता। विचारे अपढ़ किसान बराबर जमीनको जोतते रहते हैं, इससे उसकी उर्वरा शक्ति कम हो जाती है। कमजोर भूमि हो जानेसे उसमें उर्वरा शक्ति बिलकुल नहीं रहती अतः उसमें उपज नाममात्रको ही होती है। अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतमें प्रति एकड़ उपज बहुत ही कम है। गेहूं भारतमें १६ मन, बेलजियममें ३६ मन, डेनमार्क में ३२ मन और स्विटजरलैंड जैसे पहाड़ी देशमें भी २३ मन प्रति एकड़ उपजता है। जौ भारतमें १६ मन, बेलजियममें ३७ मन, डेनमार्कमें ३१ मन तथा स्विटजरलैंडमें २७ मन प्रति एकड़ होता है। इसी प्रकार मक्का भारतमें १७ मन, केनेडामें ४४ मन, न्यूजीलैंडमें ४० मन तथा स्विटजरलैंडमें २७ मन प्रति एकड़ उपजता है। जापानकी अपेक्षा भारतमें चावलकी उपज प्रति एकड़ आधी है। कारण यह है कि उत्तम खाद देकर भूमिको बलवान बनाना हमारे किसानोंको आता ही नहीं और यदि आता भी है तो दरिद्रताके कारण उनके पास साधन नहीं हैं। वे आधुनिक कृषि विद्यासे बिलकुल अनभिज्ञ हैं। अपने पुराने हल और मरणासन्न बैलोंसे सड़ा हुआ खराब बीज चार अंगुल गहरी भूमि फाड़ कर डालना ही वे जानते हैं।

अमरीकामें कृषि।

अमरीका भी कृषिप्रधान देश है पर वहांपर कृषिकी पैदावार बढ़ रही है और कृषकोंकी संख्या घट रही है। कारण यह है कि वहां कुशलतासे कृषि कार्य किया जा रहा है। वहां नित्य नये नये परिवर्तन और सुधार किये जा रहे हैं। कृषि संबन्धी औजारोंमें उन्होंने बहुत कुछ सुधार किया है। भारतकी भांति वे परदादाके समयके हलको चलाना ही अपना

कर्त्तव्य नहीं समझते। यदि उन्हें खेतमें पानी देनेकी आवश्यकता होती है तो भारतीयोंकी भांति दिन भर चरस, रहट या ढकलीसे सिर नहीं फोड़ते। उनके एक बटन दबाने मात्रसे बिजली द्वारा यथेष्ट जल खेतोंमें पहुंच जाता है। फसल काटनेके लिये एक दो मनुष्योंसे चलायी जाने वाली मशीन हजारों मनुष्योंकी आवश्यकताकी पूर्ति कर देती है। वहां यदि पालेसे खेतकी हानि होनेका भय हो तो उनके पास ऐसे यंत्र हैं जिनकी सहायतासे वे खेतोंमें गरमी पैदा कर उन्हें पालेसे बचा लेते हैं परन्तु भारतीय कृषकोंके सिरपर सदा वर्षा, ओले, पाले, टिड्डी, तथा कीड़े आदिका भय सवार रहता है।

खाद।

कृषि-कार्यकी मुख्य वस्तु है खाद। उसका बनाना तथा उसका अधिक उपयोग करना भारतीयोंको बिलकुल नहीं आता। अपने आलस्य और अज्ञानके कारण ऐसी वस्तुओंको—जिनसे करोड़ों रुपयोंकी खाद बन सकती है—फेंक देते हैं। गोबरकी खादमें पौधोंके आहारका प्रत्येक अंश अर्थात् आक्सिजन, कारबन, हाइड्रोजन, कोलोशियम, मेगनेशियम, लोहा, गन्धक, नाइट्रोन, और फासफोरस विद्यमान है परन्तु अपनी भूलसे (जो बहुधा दरिद्रता-जन्य होती है) हम उसके कंडे बना, जला कर राख कर डालते हैं। इसमें कृषकोंका कुछ दोष नहीं है। दरिद्रता ही उनसे ऐसी मूर्खता कराती है। यदि भूमिके भीतर पौधोंका आहार उपस्थित न हो तो वे उसी भांति मर जाते हैं जिस भांति दुर्भिक्षमें मनुष्य। आजकल भारतमें लग भग ४ करोड़ पशुसंख्या होगी। वर्ष भरमें यदि प्रति पशु ६० मन खाद तैयार हो सके और १० मन खादका दाम १ रुपया हो तो कुल २४ करोड़ रुपयेकी खाद हुई। हम प्रति वर्ष इतना रुपया जला कर खाक कर देते हैं। इसी प्रकार लाखों रुपयेका पशुओंका मूत्र भी—जो कि खेतोंकी उर्वरा शक्ति बढानेमें बड़ा उपयोगी होता है—व्यर्थ चला जाता है।

हड्डीकी खाद इससे भी उत्तम होती है परन्तु भारतके किसानोंको स्वप्नमें भी इसका ध्यान नहीं आता। पहले गांवके आस पास पशुओंकी हड्डियां बहुतायतसे पड़ी रहती थीं परन्तु आजकल एक भी देखनेमें नहीं आतीं। कारण यह है कि यूरोपके कृषक जो हड्डियोंकी खादके लाभसे भलीभांति परिचित हैं, भारतसे हड्डियां मंगाकर उनसे बहुत ही लाभदायक खाद बनाकर अपने खेतोंको उपजाऊ बनाते रहे हैं। अपनी मूर्खताके कारण हम हड्डी जैसी लाभकारी वस्तु जो कृषि और कृषकोंका प्राण है, कौड़ियोंके मोल विदेशी दलालोंके हाथ बेच देते हैं। लगभग ७० हजार टन हड्डियां प्रतिवर्ष भारतसे बाहर जाती हैं। यदि भारतीय कृषक हड्डियोंको काममें लावें तो भारतमें दुर्भिक्ष क्यों पड़े? थोड़ा ध्यान देनेपर यहां हड्डियोंके पहाड़ लग सकते हैं। यूरोपके देशोंमें हड्डियोंकी खादका मूल्य ३०) प्रतिमन बताया जाता है। यह इतनी महंगी खाद भारतमें ५) मनमें तैयार हो सकती है।

हड्डीके अतिरिक्त विष्टाकी भी खाद होती है। लोग अपवित्र समझकर इससे घृणा करते हैं। जापानमें इसका खूब प्रयोग किया जाता है। घर घरसे मैला मोल ले लिया जाता है और उसकी खाद बनायी जाती है। लण्डनके कृषि-विज्ञोंका अनुमान है कि

लण्डनके मैलेसे ३१ करोड़ ५० लाख रुपयेकी खाद तैयार हो सकती है। मल-मूत्रकी खादका दाम प्रति मनुष्य ५) वार्षिक रखा गया है। बेलजियममें १०) प्रति मनुष्य वार्षिक रखा गया है। भारतमें यदि कमसे कम ५) रु० वार्षिक प्रति मनुष्य रखा जाय तो एक अरब साठ करोड़ रुपये वार्षिक होते हैं। यह सब खेतोंमें न पहुंचाकर नदियोंमें बहा दिया जाता है जिससे उलटी हानि होती है। भारतकी म्यूनिसिपलटियां कठिनतासे एक करोड़ रुपया वर्ष भरमें पैदा करती होंगी। यदि वे मलमूत्रकी खाद बनानेका यथोचित प्रबन्ध कर दें तो ४ करोड़ ५६ लाख २५ हजार एकड़ भूमिको उपजाऊ बना सकती हैं।

मुख्य बात यह है कि भारतीय कृषक खेतोंमें खाद डालना जानते ही नहीं। गढा खोदकर उसमें क्रिया पूर्वक खाद तैयार की जाय और उसपर छप्पर आदि डालकर उसकी रक्षाकी जाय तो उपजमें बहुत कुछ वृद्धि हो सकती है परन्तु हमारे कृषक अशिक्षित हैं। नये नये आविष्कारोंसे लाभ नहीं उठा सकते। आवश्यकता इस बातकी है कि वे शिक्षित बनाये जायँ। नये नये औजारों द्वारा नयी पद्धतिके अनुसार नयी जिन्सोंकी खेती करना उन्हें सिखाया जाय। परन्तु यह सब करे कौन? जिसके सिरपर हमारी रक्षा-शिक्षाका भार है, जो हमारे पीछे गुलछर्रे उड़ाती है वह सरकार तो इधर ध्यान ही नहीं देती। उदार सरकार शिक्षा प्रचारके लिये इतना कम व्यय स्वीकार करती है कि वह नागरिकोंके लिये भी पर्याप्त नहीं है। फिर भला जंगलों और छोटे छोटे गांवमें रहनेवाले कृषकोंके बालक कैसे शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं? कृषि-कला सम्बन्धी विद्या विशेषके प्रचारकी इतनी कमी है कि इतने बड़े और कृषिप्रधान देशमें सरकारने शायद अभी तक २० कृषि शिक्षालय खोले हैं। उनमें ९ तो ऐसे हैं जिनमें देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा दी जाती है। ४ अंग्रेजी स्कूल हैं, ६ कालिज हैं और एक महाविद्यालय पूसामें है। कुल भारतमें १५२ कृषि-संस्थाएं हैं जहां कृषि विद्या कार्यान्वित करके देखी जाती है। भारत जैसे विस्तृत देशके लिये यह बिल्कुल थोड़ा है। उपजको बढ़ाने तथा परिश्रमको कम करनेके वास्ते हल चलाने, निंदाई करने, फसल काटने, भूसेसे अन्न अलग करने इत्यादि सब कार्योंके लिये उन्नतिशील बड़े बड़े औजारोंके आविष्कारकी आवश्यकता है। खेतीकी उर्वरा शक्तिको कृत्रिम उपायों द्वारा बढ़ाना चाहिये। भिन्न भिन्न प्रकारके अन्न किस प्रकारकी खुराक चाहते हैं यह मालूम करके वैसी जमीन तैयार करनी चाहिये। पौधोंको क्या क्या बीमारियां होती हैं यह मालूम करके खेतमें ऐसी औषधियोंसे मिश्रित खाद डालनी चाहिये जिससे पौधोंकी रक्षा हो सके। कीड़े आदि जो पौधोंको खराब कर देते हैं उसका भी प्रतिकार किया जाना आवश्यक है। इस प्रकार यदि इन सब बातोंका ध्यान रखकर खेती की जाय तो अवश्य ही उपजमें वृद्धि हो सकती है परन्तु इन सब बातोंके लिये आवश्यकता है विद्या और धनकी। दोनोंका ही अभाव ठहरा। फिर उन्नति हो तो कैसे और किसानों एवं भारतकी दशा सुधरे तो कैसे?

रामनारायण शर्म्मा।

:0:

मुद्रित धन ।

मनुष्य अपनी आवश्यकताकी सभी वस्तुएं स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता' उसे दूसरोंका सहारा लेना ही पड़ता है । एक मनुष्य यदि चावलकी खेती करता है तो प्राय: उसकी वर्ष भरकी उपज उसकी आवश्यकतासे अधिक होती है । इस अधिकांशको वह दूसरोंको कपड़े इत्यादि जरूरी चीजोंके बदले दे देता है । सुभीता इसीमें है कि प्रत्येक मनुष्य कोई खास चीज पैदा करे और फिर उसके बदलेमें दूसरेसे और और आवश्यक वस्तुएं ले ले । यदि मनुष्य अपने उपयोगकी सभी वस्तुएँ स्वयं पैदा करने लगे तो संसारमें सभ्यताकी उन्नति शायद ही हो सके । मनुष्यका सारा समय केवल पेट भरनेमें ही बीत जायगा । अन्तु, सुगमता देख मनुष्यने वस्तु-विनिमयकी प्रथा निकाली । इस तरहके वस्तु-विनिमयको—जब एक चीज दूसरेके लिये दे दी जाती है—हम 'बदला' (Barter) कह सकते हैं । यह प्रथा पहिले प्रचलित थी । किन्तु इसका अवलम्बन करनेमें बड़ी अड़चन हुआ करती थी ।

'बदलेमें' में इच्छित वस्तु पानेमें क्या क्या कठिनाइयां हुआ करती थीं उन्हें गिनाने की आवश्यकता नहीं । सहजमें ही उनका अनुमान किया जा सकता है । एक मनुष्य चावल लिये कपड़ेकी तलाशमें जाता है । कपड़े वालेको चांवलकी जरूरत नहीं है । उसे चन्दनकी लकड़ी चाहिये । अब बेचारा या तो चंदनकी लकड़ी तलाशे या किसी दूसरे कपड़े वालेके हाथ पैर जोड़े । फिर, जरूरतके सबबसे उसे अपना चावल माटीके मोल बदलना पड़ेगा । ऐसा व्यक्ति, जिसके पास वही वस्तु है जो हम चाहते हैं तथा जिसे उसी चीजकी जरूरत है जो हम दे सकते हैं, मिल जाना बड़े सौभाग्यकी बात है । फिर कई वस्तुएं ऐसी हैं जो बांटी नहीं जा सकतीं । जिसके पास एक घोड़ा बदलनेके लिये है वह दे तो पूरा घोड़ा दे या बिल्कुल नहीं । इसके सिवाय घोड़ेको उस जगह हांक ले जानेकी भी जरूरत है जहां इच्छित वस्तु प्राप्य है । एक किसान अपने बैलोंको लेकर घर घर घूमे तो शायद उसे कुछ मिल सके । इतना सब होने पर भी जितने बार वस्तुएँ बदली जावेंगी उतने ही भाव होंगे । प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक दूसरी वस्तुके लिये भिन्न भिन्न मनुष्योंके लिये भिन्न भिन्न समय पर अलग अलग भाव होंगे ! सट्टे तथा भविष्यके विषयमें तो बात ही नहीं हो सकती । ऐसी दशामें व्यापारकी उन्नति कहां तक हो सकती थी यह विचारणीय है ।

परन्तु संसार उन्नतिशील है । इन्हीं सब कठिनाइयोंको दूर करनेके लिये एक ऐसी वस्तुकी आवश्यकता हुई जो अन्य सब वस्तुओंसे बदली जा सके और उसे लेनेमें कोई आनाकानी न करे । समय समय पर अनेकों वस्तुएं विनिमय सुगम करनेके लिये सोची गयीं । बैल, तम्बाकू, पशुओंकी खाल, कौड़ियां, बन्दूककी गोलियां, खीले, मिट्टीके तेलसे भरी शीशियां, औरभी न जाने कितने प्रकारकी विचित्र वस्तुएं विनिमयके साधन

बनायी गयीं। अंतमें सोने चांदीको ही विजय प्राप्त हुई और सब एक एक करके अदृष्ट हो गयीं। आजकल प्रायः सभी सभ्य देशोंका व्यापार सोनेसे ही चलता है। यही धातुएं क्यों इस कार्यके लिये उपयुक्त समझी गयीं यह बात विचारणीय है।

सुवर्ण प्रभृति धातुएं अलंकार-आभूषण बनानेके काममें आती हैं अतः सभी इनके अधिकारी होनेके अभिलाषी रहते हैं। सोना अधिक समय बीतने पर भी नष्ट नहीं होता। जो सोनेकी डली आज हमारे पास है, हमें पूर्ण विश्वास है भविष्यमें भी वह वैसी ही रहेगी। उसके हम टुकड़े टुकड़े कर सकते हैं और उन्हें फिर जोड़कर पूर्ववत् बना दे सकते हैं, इससे उसके मूल्य तथा उपयोगितामें कुछभी अन्तर न पड़ेगा। सोना सर्वत्र और सदा प्रायः एकसा निकलता है। आस्ट्रेलिया और आफ्रिकाके सोनेमें विशेष अन्तर नहीं है। जैसा सोना हजार वर्ष पहिले निकलता था वैसा अब भी निकलता है। सोने चांदीको हम शीघ्रही बिना प्रयासके पहिचान सकते हैं। किसी कृत्रिम क्रियासे उन्हें बना लेना प्रायः असम्भव है। मूल्यवान होनेके कारण इन्हें एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जानेमें अधिक कठिनाई नहीं होती। खर्चभी कम लगता है।

परन्तु सबसे बड़ी बात सोने-चांदीके मूल्यकी स्थिरता है। कहनेका अर्थ यह नहीं कि इनके भावमें तेजी मन्दी होती ही नहीं, दूसरी वस्तुओंके समान इनका मूल्य भी घटता बढ़ता है पर सबकी अपेक्षा बहुत कम। सोना एक ऐसी वस्तु है जिसका बाजार तमाम संसार है। हर जगह इसके खरीददार हैं। मार्गव्यय अधिक न होनेके कारण इसका भाव सारे संसारमें प्रायः एकसा रहता है। यदि ब्राजीलमें सोनेकी खदान निकले और भारतवर्षमें सोना महँगा हो तो ब्राजीलसे यहां सोना भेजा जाने लगेगा और तब तक भेजा जायगा जब तक दोनों जगह भाव एकसा न हो जाय। भावकी स्थिरताका मुख्य कारण यह है कि सोना खर्च नहीं हो जाता। यदि सोना काफी महँगा हो जाय तो जितने अलंकार आदि बने हैं प्रायः बाजारमें बिकने आ जायँगे और भाव अधिक चढ़ने न पायगा। संसारमें इतना सोना है कि प्रत्येक वर्ष जितना खदानोंसे निकाला जाता है उसका कुछ विशेष असर सोनेके मूल्य पर नहीं पड़ता। कहीं यदि कोई बड़ी भारी खानि निकल आवे तो सोनेका भाव इकदम उतर न जायगा। सारे संसारमें वह थोड़ा थोड़ा बैठ जावेगा। सोनेका भाव यदि चढ़ता उतरता भी है तो बहुत धीरे धीरे। भविष्यमें उसका क्या मूल्य होगा इस बातका लगभग ठीक ठीक अन्दाजा लगाया जा सकता है, इसी कारण सोना सारे संसारकी साखकी नींव है। और किसी वस्तुमें यह गुण नहीं है। एक देशमें जब तंबाकूके बंडल विनिमयके साधन बना दिये गये थे तो लोग इतनी तंबाकू पैदा करने लगे कि तम्बाकूका भाव इकदम बीस गुनेसे भी अधिक उतर गया। भाव ठीक करनेके लिये राजाज्ञासे तम्बाकूके कई खेत नष्ट कर दिये गये। परन्तु फिर भी भाव गड़बड़ ही रहा। अनाजका भाव फसल पर ही निर्भर रहता है। एक सालकी फसल दूसरे सालको नहीं रहती, फिर मूल्य कैसे स्थिर रह सकता है? यही देख

कर धीरे धीरे सब लोगोंने यह बात मान ली कि सोने चांदीके सिवाय और कोई दूसरी वस्तु विनिमय-साधक होने योग्य नहीं है।

पहिले लोग सोनेकी डली ही से काम लिया करते थे। बारम्बार उसे तौलना पड़ता था। इसलिये उन्हें जेबमें एक छोटासा तराज़ू और कुछ बांट रखने पड़ते थे। धीरे धीरे इस कष्टको दूर करनेके लिये लोगोंको सिक्के बनानेकी सूझी। कई बड़े बड़े व्यापारी एवं प्रतिष्ठित पुरुष मिलकर इस कार्यको करने लगे। सोनेके चौखूटे तथा और कई आकारके टुकड़े काट कर उसका वजन ये लोग उसपर लिख दिया करते थे। परन्तु इससे पूरी सफलता प्राप्त न हुई। बदमाश तथा चालाक लोग हजार हिकमतोंसे इसमेंसे सोना चुरा लिया करते थे। लोगोंको सिक्केके वजन तथा मूल्यका भरोसा न रहता था। तराज़ूका पीछा न छूटा। धीरे धीरे यह कार्य राजाओंने अपने हाथमें ले लिया। सिक्केके रूपमें कई प्रकारका परिवर्त्तन हुआ। अंतमें उसने आधुनिक रूप धारण किया। चालाकोंसे सिक्केकी रक्षा करनेके लिये ही उसे गोल बनाते हैं; उसके एक ओर छाप तथा दूसरी ओर कुछ लिख कर बेल बूटे बना देते हैं तथा उसके किनारोंको एक विशेष प्रकारसे काट देते हैं।

प्रचलित सिक्के तीन प्रकारके हैं—(१) असली या मूल सिक्का (२) नकली सिक्के (टोकन मनी) (३) कागजी मुद्रा या नोट।

मूल सिक्केकी कीमत उस पर ठीक उतनी ही लिखी रहती है जितने मूल्यकी उसमें धातु रहती है। ये सिक्के चाहे जितनी संख्यामें बनाये जा सकते हैं। कोई भी व्यक्ति सोना लेकर टकसालको चला जाय ठीक उसी तौलके सिक्के उसे दे दिये जायँगे अंग्रेजी सिक्का 'सावरेन या पौंड' इसी प्रकारका सिक्का है। पौंडको हम चाहे सिक्केके समान चलावें या उसे धातुके भाव बेचदें, एक ही बात है। (हमारे यहां यह बात नहीं हैं। सरकारने जनसाधारणसे चांदी लेकर सिक्के बना देनेकी नीति त्याग दी है एवं सिक्कोंका गलाना भी गैरकानूनी ठहरा रखा है।) ऐसा होनेसे एक बड़ा भारी लाभ है—देशमें आवश्यकतासे अधिक सिक्के नहीं रह सकते। यदि किसी कारणसे सिक्कोंकी संख्या बढ़ जाय तो प्राय: सभी वस्तुओंका मूल्य एक साथ बढ़ जायगा। वस्तुओंकी संख्या परिमित होनेके कारण फ़ी वस्तु अधिक सिक्के पड़ने लगेंगे। अस्तु, सभी वस्तुओंके साथ सोनेका भी मूल्य बढ़ जायगा। फल यह होगा कि पौंडकी कीमत सिक्केकी भांति कम और सोनेकी भांति अधिक हो जायगी। बुद्धिमान लोग इस अवसर पर लाभ उठानेमें न चूकेंगे। वे सिक्के पिघला कर सुवर्णकी भांति बेचने लगेंगे। बस सिक्कोंकी संख्या घट कर आवश्यक सीमा पर पहुँच जावेगी। यदि किसी कारणसे सिक्के कम गये तो सभी वस्तुओंके साथ सोनेका भी मूल्य घट जानेके कारण, सोनेके रूपमें उन्हें परिणत कर डालनेमें लाभ होगा। फलत: सिक्कोंकी संख्या ज्योंकी त्यों हो जायगी। ऐसा एक मूल सिक्का होनेसे जो अपरिमित संख्यामें ढाला जा सके और जो इच्छानुसार पिघलाया जा सके, वस्तुओंके मूल्य पेर सिक्कोंकी संख्याका विशेष असर नहीं पड़ता।

भारतवर्षमें ऐसा कोई मूल सिक्का नहीं है अत: सभी वस्तुओंका एक साथ मूल्य

बढ़ जानेका, यहांके मुद्रितधनका अधिक हो जाना भी, एक मुख्य कारण कहा जा सकता है। रुपयेमें जो चांदी है उसका वास्तविक मूल्य एक रुपया नहीं है—रह भी नहीं सकता जब तक कि रुपया पूर्वोक्त प्रकारका मूल सिक्का न हो जाय। रुपयोंकी संख्या मूल सिक्कोंकी भांति अपरिमित न होकर निश्चित है। सरकार स्वेच्छानुसार रुपये ढाला करती है। यहांका मुद्राविधान विचित्र प्रकारका है। इसे अंग्रेजीमें Gold exchange standard कहते हैं। हिन्दीमें इसे 'सुवर्ण बिनिमय माध्यम' कह सकते हैं। दूसरे देशसे व्यापार करते समय रुपयोंके पहिले पौंडमें बदलना पड़ता है फिर वे दूसरे सिक्कोंमें बदले जा सकते हैं। दूसरे देश रुपयेसे सरोकार नहीं रखते। हमारी सभी बातोंके समान हमारा व्यापार भी स्वावलम्बी नहीं है। हो भी नहीं सकता। सब जगह तो सोनेके सिक्के चलते हैं। अतः जबतक चाँदी सोनेमें न बदली जाय व्यापार कैसे हो? इस सोने चांदीकी झञ्झटके कारण कभी कभी भारतीय व्यापारमें बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। भारतसरकारको कभी कभी बड़ी हानि उठानी पड़ती है और कभी कभी भाग्यवशात् थोड़ासा लाभभी होजाता है।

दूसरे प्रकारके सिक्के नकली हैं। ये बहुधा बहुत कम मूल्यके होते हैं जैसे इकन्नी दुअन्नी आदि। किसी भी सस्ती सी धातुका सिक्का बनाकर उसपर उसका कल्पित मूल्य लिख दिया जाता है और फिर ये इसी मूल्यसे चलने लगते हैं। छोटे छोटे सिक्के बहुमूल्य धातुके बनाना सचमुच निरर्थक है। पहिले तो ये पुरानी दुअन्नीके समान इतने छोटे होते हैं कि इन्हें सुगमताके साथ उपयोगमें नहीं ला सकते—इनके गुम हो जानेका विशेष भय रहता है। फिर इनमें बहुमूल्य धातु ख़र्च करनेसे लाभ भी कुछ नहीं है। न तो कोई दुअन्नी चुअन्नी इकट्ठी करता है और न कोई भारी ऋण चुकानेके लिये दुअन्नियोंका बोरा ही ले जाता है—फिर सोने चांदीकी दुअन्नी बनानेकी क्या जरूरत? इस प्रकारके सिक्के एक परिमित संख्यासे अधिक क़ानूनन ग्राह्य (लीगल टेण्डर) नहीं है। किसी भारी ऋणके बदले ऐसे बहुतसे नकली सिक्के लेनेके लिये कोई हमें बाध्य नहीं कर सकता।

इस प्रकारके सिक्के सरकार मनमाने नहीं चला सकतीं, नहीं तो यह खासा रोजगार हो जाता। यह एक साधारण बात है कि जब दो भिन्न भिन्न वास्तविक मूल्यके सिक्के ऋण पटानेके लिये दिये जा सकते हैं तो स्वभावतः ऋणी कम कीमत वाले सिक्के देना चाहेगा। बहुमूल्य सिक्के वह किसी दूसरे कार्यके लिये संभवतः पिघला कर उसे धातुकी भांति बेचनेके लिये। रख छोड़ेगा। यह ग्रेशम साहबका नियम कहलाता है जिसे उक्त साहबने रानी एलिजबेथके जमानेमें बड़ी मेहनतसे ढूंढ निकाला था। उनका कहना है कि जब दो प्रकारके सिक्के कानूनन ग्राह्य हों तो बुरे और कम कीमती सिक्के अच्छों-का स्थान ले लेंगे और कुछ दिनोंमें देशभरमें हीन सिक्के ही दिखायी देंगे। सरकार यदि मनमाने सिक्के चलाने लगे तो देशमें ये ही दिखायी दें, मूल सिक्के सभी अन्तर्धान हो जायं। इसी डरसे सरकारको ऐसे सिक्कोंकी संख्या परिमित रखनी पड़ती है। नकली सिक्के जरूरतसे अधिक बढ़ नहीं पाते!

तीसरे प्रकारका सिक्का कागजी नोट है। शिक्षित मनुष्य इस बातको समझते

हैं कि प्रचलित सिक्कोंका कार्य विनिमयसाध्य करनेके सिवाय और कुछ नहीं है। यह देखकर कि प्रतिदिन बहुमूल्य धातुओंका कितना अंश घिसा जा रहा है कई अर्थशास्त्रज्ञोंको बड़ा कष्ट होता है, फिर बहुतसे सोनेके सिक्के साथ ले जानेमें असुविधा होती है। यही सोचकर चतुरोंने कागजके सिक्के चलाये हैं। इनका सर्वग्राह्य होना चलाने वालेकी साख-पर निर्भर है। यह समझा जाता है कि नोट चाहे जब सोनेके सिक्कोंमें बदला जा सकता है। यही कारण है कि नोट सोनेके समान स्वच्छंदतासे व्यवहारमें लाये जा सकते हैं। सरकार मनमाने नोट नहीं चला सकती। समयपर नोटके बदले रुपये दे सकना, अपनी साख पूरी तौरसे कायम रखना और फिर ग्रेशम साहबके नियमकी ओर ध्यान रखना—ये बातें सरकारको ऐसा करनेसे रोके रहती हैं। कागजी मुद्राका विषय स्वयं बड़ा विस्तीर्ण और क्लिष्ट है। अस्तु, उसके विषयमें यहां विशेष कुछ कहना अनुचित होगा।

अब हमें एक बातपर और विचार करना है। हम देखते हैं कि प्रचलित सिक्के सोना, चांदी, निकल तांबा आदि कई धातुओंके हैं परंतु सभी कानूनन ग्राह्य (legal tender) नहीं हैं। अब प्रश्न यह है कि केवल एकही धातुके सिक्के कानूनन ग्राह्य होने चाहिये या अधिक धातुओंके ?

प्रत्येक वस्तुकी क़ीमत आजकल सिक्केसे देखी जाती है। कहना नहीं होगा कि धातुकी तेजी-मन्दीके साथ प्रायः सभी चीजोंका भाव चढ़ेगा या उतरेगा। यदि दो धातुएं क़ानूनन ग्राह्य होंगी तो यह चढ़ा उतरी एकाएक नहीं हो सकती। यदि किसी कारणसे एक धातुका भाव गड़बड़ हो जाय तो दूसरी धातुके कारण हाटमें स्थिरता बनी रहेगी। यदि एक ही धातुके सिक्के होंगे तो सब भाव एक ही धातुपर निर्भर रहेंगे। फलतः भावमें गड़बड़ होनेकी अधिक सम्भावना है। भावके धीरे धीरे घटने बढ़नेमें कोई विशेष हानि नहीं है परन्तु अचानक बारबार परिवर्तन होनेसे बाजारमें अस्थिरता आजाती है और व्यापारकी उन्नति नहीं हो सकती। स्थिरता रखनेके लिये द्विधातुमुद्रा (Bimetallism) ही वाञ्छनीय है।

परंतु एक धातुके सिक्के क़ानूनन ग्राह्य रखना सीधा और सरल है। सिवा इसके दोनों धातुओंको साथ साथ एक सा प्रचलित रख लेना भी टेढ़ी खीर है। जहां जहां द्विधातु नीतिका अवलम्बन किया गया कुछ ही दिनोंमें एक ही धातुके सिक्के रह गये। दूसरी धातु आपही आप अदृष्ट होगयी। संयुक्त राज्य (अमेरिका) तथा फ्रांसादिके इतिहाससे यह बात भलीभांति प्रमाणित है। मन्त्रियोंके हज़ार कोशिश करने पर भी देशमें कभी केवल चांदी और कभी केवल सोनेके सिक्के दिखायी देते थे।

कारण स्पष्ट है। मान लीजिये कोई देश इस विधानकी परीक्षा कर रहा है। दूसरे देशोंसे माल यहां स्वच्छन्दतापूर्वक आ सकता है। टकसालसे दोनों, सोने चांदी, के सिक्के निकले। सोने चांदीका अनुपात १६:१ है। दोनों प्रकारके सिक्के कानूनन ग्राह्य हैं तथा उनकी संख्या परिमित नहीं है। चाहे जितनी धातु लेकर चले जाइये उतनी ही तौलके और उसी धातुके सिक्के आपको दे दिये जायँगे। अब समझ लीजिये कि निकटके किसी देशमें चांदीका भाव उतर गया। अर्थात् एक तोले सोनेमें जितनी

चांदी मिलती थी उससे अधिक मिलने लगी। ग्रेशम साहबके नियमानुसार लोग सोनेके सिक्के पिघला पिघला ऐसे देशोंमें भेजने लगेंगे और बदलेमें सस्ती चांदी मँगा टकसालसे सिक्के बनवा लाभ उठाने लगेंगे। परिणाम यह होगा कुछ ही दिनोंमें केवल चांदीके सिक्कोंका चलन रह जायगा, सभी सोना बाहर चला जायगा। अमेरिकामें यही हाल हुआ था। कहनेको अबभी वहां यही विधान प्रचलित है परंतु सुवर्ण ही मुख्य धातु रह गया है। चांदी तो नाममात्रको कानूनन ग्राह्य है।

द्विधातु मुद्राविधानमें सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जब संसारके कई-प्रायः सभी सभ्य देश-मिलकर इसे अपनावें। इस दशामें यदि बाजारू अनुपातमें कुछ गड़बड़ हुई तो थोड़ा सा सोना या चांदी इधर उधर जाकर पुनः पहिलेके समान हो जायगा। यदि किसी देशमें चांदीकी खानि निकल आयी तो वहां चांदी सस्ती हो जायगी पर केवल थोड़े समयके लिए। दूसरे देशोंसे लोग सोना भेजकर यहांसे सस्ती चांदी मगाने लगेंगे। सोनेकी वृद्धि और चांदीकी कमीके कारण चांदी और सोनेका परस्पर भाव ज्योंका त्यों हो जायगा। कई देश इकट्ठे रहनेसे सोना चांदी कहीं दूसरे बाहरी बाजारमें न जा कर उन्हीं देशोंमेंसे एक दूसरेमें आती जाती रहती है और यह क्रिया तब तक होती रहती है जब तक सोने चांदीका परस्पर भाव सब जगह एकसा न हो जाय। संवत् १९२२ (सन् १८६५) में लेटिन यूनियन (बेल्जियम, फ्रांस, इटली तथा स्विटजरलेंड) ने इसकी परीक्षा की थी। कुछ साल तक ये लोग सफल भी हुए परंतु अन्तमें गड़बड़ होने लगी। कुछ तो सम्मिलित राष्ट्रोंकी स्वार्थपरताके कारण और कुछ संसारमें सोने चांदीके व्यापार पर अधिकार जमा सकने योग्य पर्याप्त संख्यामें न होनेके कारण ये लोग नियमित अनुपात कायम न रख सके। अब सनदके अनुसार ये लोग द्विधातुविधान काममें लाते हैं पर अब लेटिन यूनियनका केवल नाम ही रह गया है। वास्तवमें ये लोग सुवर्णका ही प्रयोग करते हैं।

दो धातुएं कानूनन ग्राह्य रखनेसे कितनी गड़बड़ मचजाती है यह देख दुनियांके सभी राष्ट्रोंने एक एक करके एक धातुवाली सीधी रीतिका अनुसरण किया है। सब राष्ट्रोंसे पहिले अंग्रेज़ोंने संवत् १८७३ (सन् १८१६) में ही सुवर्णको प्रधानता देदी थी। फिर पोर्तगाल, जर्मनी, नार्वे-स्वीडन, डेनमार्क, आस्ट्रिया, रूस और जापान आदि सभीने इसका अवलम्बन करनेमें अपना भला देखा। चीन और मेक्सिकोमें चांदीकी प्रधानता है। संयुक्तराज्य अमेरिका और लेटिन यूनियन वाले देशोंमें अब भी द्विधातु विधानका नाम है परंतु वहां सुवर्णका ही चलन है। यद्यपि ये लोग चाहते हैं कि संसारभरमें उनके ही समान मुद्राविधान हो जाय परन्तु अब ऐसा होना संभव प्रतीत नहीं होता। यह प्रथा आजकल अर्थशास्त्रज्ञोंके वादविवादके लिये ही रह गयी है। इसके पुनर्जीवनकी आशा दुराशामात्र है।

ताराचंद श्रीवास्तव।

सामयिक संग्रह ।

खादी एकमात्र परिधान ।

विज्ञानाचार्य श्रीप्रफुल्लचन्द्र रायने खादीपर अपने जो विचार प्रकट किये हैं वे बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने प्रत्येक भारतीयके लिए खादी आवश्यक परिधान बतलाया है क्योंकि इसके धारणसे क्षुधापीड़ित व्यक्तियोंको कुछ सहायता मिल जायगी। कुछ लोगोंकी शिकायत है कि यह बहुत भारी और मोटा कपड़ा है। इसका खण्डन करते हुए आप कहते हैं—

"खादी भारी है या मोटा कपड़ा है यह केवल रुचिका प्रश्न है। इसका असली आराम अथवा असुविधासे कुछ सम्बन्ध नहीं है। जो लोग कुछ अच्छी अवस्थामें होते हैं जूतियां पहनते हैं। यदि आप जूतीके एक जोड़ेका वजन करेंगे तो आपको मालूम होगा कि वह कितना होता है। पर सबसे कमजोर व्यक्ति भी जूतियोंके पहननेमें आपत्ति नहीं करता......। फिर ओवर कोट और चेष्टरफील्डोंके वजनको भी देखिये......। हमारी स्त्रियां गहने तथा अन्य चीजोंसे लदकर कितना अनावश्यक भार वहन करती हैं।...... यदि खादी देशावरसे आये हुए अथवा मिलके कपड़ेसे कुछ वजनमें भारी है तो इसके साथ ही वह अधिक दिनोंतक ठहरती है।"

राष्ट्रीयता तथा आर्थिक दृष्टिसे आप कहते हैं—**"प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्रको यह कहना उचित है कि हम केवल वही वस्त्र पहिनेंगे जिसे हम कात सकते हैं और बुन सकते हैं। बाहरसे आये हुए वस्त्रको या बाहरके सूतके बने वस्त्रको पहनना पाप है क्योंकि इससे क्षुधापीड़ित जनताको और अधिक दरिद्र बनानेमें सहायता मिलती है। ......हमें वस्त्राभावसे पीड़ित माता तथा बहिनों द्वारा काती हुई तथा खाद्याभावसे जर्जरित भाइयों द्वारा बुनी हुई खादी पहननी चाहिये।"**

(कलकत्ता समाचारसे)

*

* *

देशी रंग ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीयोंको रंग बनानेकी कला भली भांति ज्ञात थी, जिसका परिचय आज भी कई प्राचीन स्थानोंमें मिल ही जाया करता है। पर विदेशी रंगोंकी चकाचौंधने प्राचीन रंगोंके महत्त्वको अंधकारमें डाल दिया है। साथ ही साथ हमारी रुचि भी परिवर्त्तित हो गयी है जो देशकी दरिद्रताके

प्रधान कारणोंमें एक है। विज्ञानाचार्य श्री प्रफुल्लचन्द्र रायने विदेशी रंगोंके दुर्गण दिखाते हुए कहा है—

अब तो देखनेमें यह आता है कि हमारे देशमें सभी सूती और ऊनी वस्त्र उन कृत्रिम विदेशी रंगोंसे रंगे जाते हैं जो चमकीले भड़कीले होते हैं पर देरतक ठहरते नहीं। भारतवर्षके प्रत्येक प्रान्तमें लाखों रुपयेके विदेशी रंग व्यवहारमें आते हैं। देशभरमें चमकीले भड़कीले रंगोंका व्यवहार यहांतक बढ़ गया है। ......यह तो कहनेकी आवश्यकता नहीं कि विदेशी रंग मंगानेके कारण देशका अपरिमित धन नष्ट हो रहा है। ऐसे कच्चे रंग भी जो हम आसानीसे अपने घरपर तैयार कर सकते हैं हम इस समय बाहरसे ही मंगा रहे हैं। पश्चिमके पूंजीपतियोंको अपने रंगके कारखाने चालू रखनेके लिए पूरबके बाजारोंमें अपना माल बेचना जरूरी है। सो यह विस्तृत अज्ञानान्ध देश जो कोई भी विदेशी वस्तु निगल जानेको बराबर तैयार रहता है इस समय उनके लिए बड़े कामकी जगह बन रहा है। ...... देशमें उपजनेवाले हर्रे और मजीठकी जगह हम विदेशी रंगकी चीजोंको काममें लाते हैं। अवश्य ही हर बातमें हमारा पाश्चात्य प्रेम हमारे विनाशकी राह बता रहा है।

('स्वतंत्र'से)

*

* *

कपासकी खेती

कपासकी खेतीका महत्त्व बतलाते हुए "आज" ने ये विचार प्रकट किये हैं—

सरकारका कहना है कि हम शुद्ध स्वदेशी प्रचारके पक्षमें हैं। नरम दलवाले भी यही कहते हैं। असहयोगी भी यही चाहते हैं। तब मानना पड़ेगा कि सरकार, सहयोगी, असहयोगी सभी इस देशमें देशी वस्त्रोंका प्रचार देखकर प्रसन्न होंगे। ...कपास बोनेका मौसम सरपर है इसलिए इस सम्बन्धमें स्वदेशी प्रेमियोंको सतर्क हो जाना चाहिये। ...स्थान स्थानकी कांग्रेस कमिटियोंको अपने इलाकेके किसानोंमें कपासकी खेती करनेका प्रोत्साहन देना चाहिये। जो भाई कौंसिलके द्वारा ही भारतका हित कराना चाहते हैं वे सरकारके एक ही प्रस्ताव द्वारा इस सम्बन्धमें उसकी नीति घोषित कराकर कपासकी खेती करनेसे डरनेवालोंको भी इसकी कृषिमें प्रवृत्त करा

सकते हैं। ......धनवान लोग धन और बीज आदिसे, जमींदार लोग रियायाको उत्साह दिलकर, सहयोगी लोग अन्य उपायोंके अतिरिक्त इस मामलेमें सरकारके नाराज होनेका भय छुड़ाकर समाचार पत्र इस सम्बन्धके उपयोगी लेख लिखकर तथा प्रचारमें सहायता पहुंचाकर कपासकी खेतीके मार्गको बहुत कुछ प्रशस्त कर सकते हैं।

* * ("आज" से)

*

हिन्दुस्तानी चीनी ।

पूसाके चीनी विभागके मंत्रीने हिन्दुस्तानी चीनीके सम्बन्धमें 'इंडियन ट्रेड जरनल' में एक महत्त्वपूर्ण विवरण प्रकाशित कराया है, उसका सारांश निम्न लिखित है—

भारतमें राब या गुड़से चीनी बनानेवाली १८ कोठियां हैं। चार बिहारमें, ८ पश्चिमोत्तरप्रदेशमें, ३ मद्रासमें, १ मैसूरमें और एक बंगालमें। सन् १९२० में तीन और २१ में एकको छोड़ सभी कोठियोंने अपनी रिपोर्ट भेजी हैं जिससे निम्न लिखित अंक प्राप्त हुए हैं:—

	सन् १९२० (मनोंमें)	सन् १९२१ (मनोंमें)
गुड़ और खांड़	२२, १२, ८१७	२४, ७१, ०२६
चीनी	१२, ११, २३४	१३, २४, ६४६
जूसी	७, २३, ६६५	८, ७०, ७०४

सन् १९२१ के अंकोंमें कुछ वृद्धि देख पड़ती है जिसका कारण यह है कि दो कोठियोंने चीनी बनाना अभी प्रारम्भ किया है और १९२० में तीन कोठियोंने अपनी रिपोर्ट नहीं दी थी।

भिन्न भिन्न कोठियोंकी रिपोर्टोंपर दृष्टिपात करनेसे यह विदित होता है कि उत्तरी भारतमें कच्चामाल अच्छा न होनेके कारण प्राप्त चीनीकी मात्रा ३५ से ४५ प्रति शतक पहुंचती है। किन्तु दक्षिण भारतका कच्चा माल अच्छा होनेसे चीनी अधिक मात्रामें प्राप्त होती है।

पश्चिमोत्तर प्रदेशकी आठों कोठियोंने १९२० और २१ में क्रमशः ३,५०, ३२० और ४,५८,४१७ मन चीनी तैयारकी पर मद्रास प्रदेशकी केवल चार कोठियोंने इन्हीं वर्षोंमें क्रमशः ४,१०, १०६ और ४,२१,४४८ मन चीनी निकाली।

ऊखसे ही चीनी बनाने वाली कोठियोंने निम्नलिखित मात्रामें चीनी तथा जूसी निकाली।

	चीनी	जूसी
सन् १९२०—२१	६,६६, २९१ मन	४,०४,७१२ मन
सन् १९१९—२०	६,२८, ९२० ,,	३,७०,९५३ ,,

यदि दोनों प्रकारकी चीनियोंका परिमाण सम्मिलित कर दिया जाय तो १९२०-२१ का परिमाण १९,९३,९३७ मन तथा विगत

वर्षका परिमाण १८,४०,१६४ मन होता है जिससे स्पष्टतः विदित होता है कि हिन्दुस्तानी चीनी प्रतिवर्ष अधिकतर मात्रामें तय्यार होने लगी है।

* *

*

भारतकी अव्यक्त सम्पत्ति।

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि रत्नगर्भा भारत-वसुन्धराकी सन्तान आज कंगाल हो रही है पर यदि वह आलस्य छोड़कर नये २ साधनोंका उपयोग करे, जी जानसे परिश्रम करे तो फिर भी समृद्धिशाली बन जाना उसके बाएं हाथका खेल है। इसी विषयको लेकर एक महाशयने "कैपिटल"के ४ मईके अंकमें एक गम्भीर लेख लिखा है। लेखका सारांश यह है—

प्रायः यह कहा जाता है कि भारतके ४० लाख अधिवासियोंको भर पेट भोजन नहीं मिलता और दुर्भिक्ष सर्वदा अपना अड्डा जमाये ही रहता है पर भारत-भूमि दरिद्र नहीं कही जा सकती। प्रकृतिने अन्य देशोंकी तरह भारतको भी शक्ति प्रदानकी है पर इसकी शक्ति इस समय अविकसित रूपमें पड़ी हुई है। अंग्रेजी साम्राज्य इतना विस्तृत है कि उसकी पूंजी केवल व्यवसायमें ही खप जाती है। उसे उत्पादन शक्ति बढ़ानेका अवसर ही नहीं मिलता।

कोयला और लोहा ये वस्तुएं वर्तमान सभ्यतामें बड़ी महत्त्व-पूर्ण समझी गयी हैं। भारतमें इन दोनों धातुओंकी खानें मौजूद हैं। भारतमें इस समय १ अरब ८० करोड़ मन लोहा मौजूद है। ७ अरब मन लोहा बल्कि इससे अधिक ही कहीं और मिलनेकी सम्भावना है। सारांश यह कि भारत भूमिके गर्भमें लोहा प्रचुर परिमाणमें पड़ा हुआ है और इसका मार्ग आस्ट्रेलिया, ओसिनिया, जापान, आस्ट्रिया, हंगरी और कुछ अन्य मुल्कों (सम्मिलित) की अपेक्षा अधिक प्रशस्त है। कोयलेकी भी हालत यही है। भारतमें २,२१२ अरब मन कोयला मौजूद है। यह परिमाण अफ्रीका और दक्षिण अमेरिकाके सम्मिलित परिमाणसे बढ़ा हुआ है।

सोना, चांदी, सीसा प्रभृति धातुएं भी भारतकी खानोंसे अल्प परिमाणमें निकाली जा रही हैं। और और अच्छे तरीके तथा यंत्रोंका प्रयोग किया जाय तो परिमाण बहुत बढ़ सकता है। हालमें ही 'हालनेडाइट' नामक एक नयी धातुका आविष्कार हुआ है पर इसके प्रयोगोंसे सभ्य संसार अभी अपरिचित है। बहुमूल्य पत्थरोंकी गणना इनके अलावे है। केवल खनिज द्रव्य ही भारतकी अव्यक्त सम्पत्ति प्रमाणित करनेके लिए काफी हैं। पर इसका बाह्य भाग भी निम्न तलकी अपेक्षा कुछ कम सम्पत्तिवान् नहीं है।

सरकारी कागजातोंसे विदित होता है कि अभी ८८६८३००० एकड़ जमीन परती पड़ी हुई है। यदि नयी भूमिका प्रश्न छोड़कर पुरानी जमीनमें भी नयी वैज्ञानिक रीतियोंका प्रयोग किया जाय तो उपज ५० प्रतिशतक बढ़ सकती है। यदि जमीन अच्छी और गहरी जोती जाय, पर्याप्त खाद दिया जाय, अच्छे बीज डाले जायं और आबपाशीका समुचित प्रबन्ध किया जाय तो केवल उपज ही न बढ़े प्रत्युत और २ किसमोंकी अच्छी फसलें भी पैदा हो सकती हैं। इसका परिणाम यह होगा कि खाद्य पदार्थोंकी अधिकतासे जाति बली, पुरुषार्थी बनेगी और आगे निकलनेके लिए अधीर हो उठेगी। हमारे यहां फल भी काफी हैं पर इनकी उन्नतिकी ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता। अमेरिका और आस्ट्रेलियाकी तरह हमारे यहां फलके व्यवसायकी उन्नतिकी ओर अभी किसीका ध्यान नहीं आकर्षित हुआ है। ८८००० वर्गमील तक विस्तृत जंगलोंसे भी उचित लाभ नहीं उठाया गया है।

भारतमें पशुओंकी संख्या भी प्रायः अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक ही है। किसी समय भारत ही सारे राष्ट्रोंकी चमड़ेकी आवश्यकता पूर्ण करता था। इन पशुओंकी संख्या तथा नस्लमें तरक्की करनेका कोई प्रयत्न अभीतक नहीं किया गया है। यदि इनकी ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाय ता भारतको साम्पत्तिक उन्नति होनेमें कोई सन्देहकी गुंजाइश नहीं है।

भारतमें उदरपूर्तिके अभी बहुत साधन हैं। अभी भारतमें काफी गरीबी नहीं है। जब दान देना अपराध समझा जायगा, फलोंकी प्राप्ति आसानीसे न हो सकेगी और लोग भूखकी ज्वालासे बेचैन होने लगेंगे तब भारतका अभ्युत्थान होगा।......आवश्यकता केवल आविष्कारकी ही जननी नहीं है बल्कि यह परिश्रम, उत्पादन, मितव्यय, शक्ति और उन्नतिकी भी जननी है।...अमेरिकन राज्यकीय युद्धके अपरिमित व्यय और तबाहीसे व्यवसायोंका नाश नहीं हुआ बल्कि उनकी और तरक्की ही हुई। कर भी इस कार्यमें कुछ कम सहायक नहीं होता। जब तक भारत इससे भी अधिक दरिद्रताके कष्टको नहीं झेलेगा तब तक वह आर्थिक या व्यावसायिक उन्नति नहीं कर सकेगा। व्यवसायोंकी उन्नतिके लिये सरकारसे प्रार्थना करना मूर्खता है। इन विषयोंकी ओर ध्यान देना जनताका काम है क्योंकि इसमें उसीका लाभ है।

("कैपिटल" से)

* *
*

भारतीय रेलें।

इस देशका मानचित्र उठाकर देखिये तो मालूम होगा कि सभी प्रान्तोंमें रेलोंकी लाइनें गयी हैं और बड़े बड़े व्यवसायके केन्द्र तो कई लाइनोंसे सम्बद्ध हैं। ऐसे स्थान जहां सरकारको अपने शासनके सम्बन्धमें फौजकी चीजें पहुंचानेकी आवश्यकता पड़ती है वहां विशेष

रूपसे रेलकी लाइनें बनी हैं और रोज बनती ही जाती हैं। गत १९११ में ३२,८३८ मील तक रेलोंका जाल फैल चुका था और अब तो और भी बढ़ गया है। उक्त संख्यामें ६,८७४ मील तक सरकारी रेल है जिसका सम्पूर्ण प्रबन्ध सरकार करती है, १८,०२४ मील तक ऐसी रेल है जिसका प्रबन्ध कंपनियां करती हैं, किन्तु मालिक सरकार ही है, ३३६३ मील तककी लाइनें ऐसी कंपनियोंकी हैं जिनको सरकार सहायता देती है...२४७५ मील तककी लाइनोंकी मालिक देशी रियासतें हैं रेलें बराबर बढ़ती ही जाती हैं। सन् १९१७-१८ में ३६, ३३३ मील तक रेलें फैल गयीं थीं। इस विवरणको देखनेसे मालूम होता है कि किसी न किसी की सहायतासे ही रेलोंका भारतवर्षमें चलना सम्भव हुआ है। इन सहायकोंमें सबसे पहला पद भारतीय सरकारका है। हमारे सर्वमान्य नेता स्वर्गवासी गोपालकृष्ण गोखलेने वेल्वी कमीशनके सामने यह स्पष्ट रूपसे कहा था कि सरकारने केवल अपने शासन-सम्बन्धी स्वार्थ तथा यूरोपीय व्यवसायियोंके ही लाभके लिए इन रेलोंको बनवाया और इन्हीं कारणोंसे अधिकाधिक कर्ज़ लेकर उनको बढ़ाती ही जाती है। उक्त गणना-पत्रसे यह भी सिद्ध होता है कि अबतक कम्पनियोंकी रुचि स्वतन्त्र रूपसे रेलोंके बनानेकी ओर नहीं है। इन्हीं कारणोंसे हमारे नेताओंकी यह सम्मति है कि यद्यपि अब सरकारने रेलोंका प्रबन्ध बहुत कुछ व्यावसायिक सिद्धान्तपर कर दिया है, तथापि उसको यह न चाहिए कि असंख्य धन रेल बनवानेमें ही झोंकती चले, क्योंकि ऐसा करनेसे वह शिक्षा, स्वास्थ्यरक्षा आदिके लिये अधिक व्यय करनेमें असमर्थ हो जाती है।

रेलसे लाभ।

स्थूल रूपसे कहा जा सकता है कि रेल द्वारा पर्यटन, तीर्थ—यात्रा आदि जो धर्मार्थ साधन हो सकते हैं सुगमतापूर्वक एवं कम व्यय और समयमें किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त लोगोंको इस बातकी बड़ी सुविधा हो गई है कि अपने स्वास्थ्य, जीवन-निर्वाह अथवा रुचिके अनुकूल स्थानोंमें शीघ्र पहुंच सकते हैं। यदि आज रेलें न होतीं तो जल-वायु बदलनेकी बात इतनी अधिक न सुनाई पड़ती और न कुत्ता काटनेपर कसौली या यक्षमा होनेपर भवाली जानेका साहस किया जाता, और अर्थ-प्राप्तिके लिए अनपढ़ देहाती मज़दूर तक कलकत्ते-बम्बईकी सफर करनेके लिये तैयार न दिखाई देते। रेलोंके यह गुण तो साधारण लोगोंकी समझमें भी आजाते हैं। किन्तु इसके और भी गुण हैं जो छिपे प्रकारसे हमारे जीवनके लिये उपयोगी हैं। वे हैं रेलोंके व्यवसाय—सम्बन्धी उपयोग। जो माल पहले नावों या बैल-गाड़ियोंपर अनेक कठिनाइयां सहनकर भेजा जाता था वह आज रेलों द्वारा सहजमें एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाता है। रेलके लिए न

तो धारा और हवा बाधक हैं और न आंधी-पानी ही उसको हानि पहुंचा सकते हैं। फल यह है कि व्यवसायकी सामग्री सुगमता, शीघ्रता एवं कम व्ययसे देशके सभी भागोंमें पहुंच सकती है। इसी प्रकार अनाज भी देशके एक भागसे दूसरे भागमें आता जाता है जिसका एक स्पष्ट परिणाम यह होता है कि कहीं भी किसी अन्नका सर्वथा अभाव नहीं होने पाता और एक प्रकारसे अकालके प्रभावका अवरोध हो जाता है। रेलोंका सबसे बड़ा उपयोग यह है कि इसके कारण कहीं भी किसी वस्तुके मूल्यमें बड़ा अन्तर नहीं हो सकता। यदि पंजाबमें इतना गेहूं हुआ कि उस प्रान्तवाले उसको रुपयेका एक मन भी बेच सकें तो रेल उसका उतना अंश किसी दूसरे प्रान्तमें पहुंचा देगी कि दोनों प्रान्तोंमें गेहूंका भाव अब बराबर ही हो जायगा। इससे यह तो अवश्य होता है कि पंजाबियोंका भोजन छीनकर बंगाली वा मद्रासी को दे दिया जाता है, किन्तु सोचनेकी बात यह है कि यदि रेल-द्वारा किसी ऐसे स्थानपर गेहूं न पहुंचता जहां उसकी कमी है तो वहांके रहनेवालोंको कदाचित् दस रुपयेमें भी सेर भर गेहूं न मिलता जबकि पंजाबी अपने यहां एक रुपयेका मन भर गेहूं बेचते। अतएव यह श्रेय रेलोंको ही है कि देश भरमें सभीको सब प्रकारकी चीज़ें प्राप्त हो सकती हैं, उनका भाव प्रायः सभी जगह बराबर ही रहता है और व्यवसायियोंको अल्प समय तथा अल्प व्ययसे वस्तुओंका हेर फेर करनेसे अधिक लाभ होता है।

रेलसे हानि।

साथ ही, रेलोंके कारण इस देशकी बहुत हानि भी हुई है। हमारे पूज्य नेता स्वर्गवासी महादेव गोविन्द राणाडेने लिखा है कि रेलोंने हमारे शिल्पको बड़ी हानि पहुंचाई है। उनका कहना है कि जहां छोटे छोटे शिल्पकार थोड़ी पूंजी और थोड़े विस्तारसे दस पांच चीजें तैयार करके लाभ उठाते थे वहां आज बड़े बडे कारखानोंकी चीजें पहुंचकर उनसे सस्ती बिकती हैं और उन शिल्पकारोंकी चीजें महंगी पड़ने लगती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनको अपना कारबार बन्द करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि सर दिनशा इदुलजी वाचा आदिने लिखा और कहा है, इन रेलोंने सरकारको दिवालिया बना रखा है। सन् १९१४ में सरकारी ऋण २७४० लाखसे अधिक था जिसमेंसे केवल रेलोंके लिये २२२० लाख रुपये लेने पड़े थे। सबसे बड़ी बात यह है कि सन् १९१० तक सरकारको रेलोंके हिसाबमें ४१ करोड़ रुपया देना पड़ा। यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि इस रेलके व्यय और घाटेके कारण शिक्षा आदि आवश्यक कार्योंके लिए सरकार पर्याप्त धन देनेमें असमर्थ होती है और फलतः देशकी उन्नतिमें बाधा पड़ती है।

("श्री शारदासे"।)

सम्पादकीय।

विदेशी पूंजी और संरक्षित व्यापार।

यद्यपि अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे संरक्षित व्यापारकी अपेक्षा स्वतंत्र वाणिज्य ही श्रेयस्कर है, फिर भी राजनीतिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय कारणोंसे हम वर्त्तमान परिस्थितिमें भारतके लिये संरक्षक नीतिको ही हितकर समझते हैं। जिस दिन हम अपने देशका शासन स्वयं करने लगेंगे, जिस समय हम देशके औद्योगिक विकासका पूर्ण और स्वच्छन्द प्रयत्न कर सकेंगे, एवं जिस समय हम राज्यकी ओरसे ऐसे उद्योगोंको उत्तेजना और व्यापारिक सहायता दे सकेंगे जो देशके लिये उपयोगी होते हुए भी गिरती हुई हालतमें हों—तात्पर्य यह कि जिस समय हमारी औद्योगिक स्थिति इतनी सुदृढ़ हो जायगी कि हमें विदेशियोंकी प्रतिस्पर्द्धाका उतना भय न रह जायगा जितना आज है, उस समय हम स्वतंत्र-वाणिज्य-नीतिसे अवश्य लाभ उठा सकेंगे।

संरक्षक व्यापारकी नीतिके विरुद्ध जितने तर्क उपस्थित किये जाते हैं उनमेंसे एक यह भी है कि भारतमें उद्योगोंका संरक्षण आरम्भ होते ही लैंकेशायरके कई कारखाने उठकर भारत चले आवेंगे अथवा विदेशी पूंजीकी सहायतासे भारतमें ही नये नये कारखाने खुलने लगेंगे। यदि ऐसा हुआ तो विदेशियों द्वारा देशकी आर्थिक लूट संरक्षित व्यापारके रहते हुए भी बन्द न हो सकेगी और न विशुद्ध भारतीय उद्योगोंका विकास ही हो सकेगा। ऐसी दशामें संरक्षक नीतिसे क्या लाभ होगा?

ऊपर जो आपत्तिकी गयी है उसके तीन उत्तर दिये जा सकते हैं। प्रथम तो यह कि जिस समय हम विदेशी पूंजीपतियोंको अपने कारखाने भारतमें स्थानान्तरित करते हुए अथवा अपनी पूंजीसे यहां नये नये कारखाने खोलते हुए देखेंगे, उस समय हम कानून बनाकर उनकी प्रगति रोक सकेंगे। यह सत्य है कि वर्त्तमान शासन-पद्धतिके रहते इस प्रकारके कानून बनवानेमें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। यह भी संभव है कि हमें वाञ्छित सफलता प्राप्त ही न हो सके। फिर भी किसी अंश तक हम अवश्य कृतकार्य्य हो सकते हैं। हम क़ानून द्वारा विदेशी कारखानोंका भारतमें उठा लाया जाना रोक सकते हैं। उसी प्रकार विदेशी पूंजीपतियों द्वारा भारतमें नये कारखानोंका खोला जाना भी रोकनेके लिये ऐसा कोई क़ानून बनाया जा सकता है कि 'जिस पूंजीमें कमसे कम अर्द्धांश भारतीयोंका न हो उसकी सहायतासे कोई कारखाना न खोला जा सकेगा'। इस प्रकार देशी पूंजीकी सहायताके विना, केवल विशुद्ध विदेशी पूंजीकी लागतसे, कोई कारखाना न खुल सकेगा। अतः संरक्षण नीतिके कारण भारतीय उद्योगोंपर विदेशी पूंजीके आक्रमणोंकी विशेष संभावना न रह जायगी।

दूसरी बात यह है कि विदेशी पूंजीपतियों द्वारा खोले गये उद्योगोंसे भी हमें थोड़ा बहुत लाभ होगा ही । यद्यपि यह सत्य है कि मुनाफेका एक विशेष भाग भारतमें न रह कर विलायत ही चला जायगा एवं कारखानेकी बहुत सी आवश्यक सामग्री भारतमें न खरीदी जाकर या भारतमें तैयार न की जाकर विलायतसे ही मँगायी जायगी, तो भी उसके कारण कमसे कम हमारे देशके बहुतसे श्रमजीवियोंकी जीविकाका निर्वाह तो हो जायगा एवं पारिश्रमकके रूपमें उन्हें जो रकम मिलेगी वह, चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हो, भारतमें रह सकेगी । साथही उक्त कारखानेमें काम करनेसे हमारे देश भाइयोंको सभ्य जगत्‌के वर्तमान उद्योग-धन्धोंका थोड़ा-बहुत अनुभव भी प्राप्त होता रहेगा ।

तीसरी बातका सम्बन्ध अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंके साथ है । अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे किसी वस्तुकी उत्पत्ति चार बातोंका परिणाम समझी जाती है—भूमि, श्रम, पूँजी एवं प्रबन्ध । वस्तुओंका मूल्य इन्हीं चार बातोंको देखकर निर्धारित किया जाता है । अभी हमारे देशके श्रमजीवी अज्ञान हैं । वे बहुत सादगीसे रहते हैं । यही कारण है कि अनेक स्वार्थी पूँजीपति उन्हें उतना पारिश्रमिक नहीं देते जितना देना चाहिये । इस प्रकार श्रमके कारण जितनी रकम उन्हें खर्च करनी चाहिये, उतनी न देकर वे उसका एक बड़ा भाग बचा लिया करते हैं और उसकी सहायतासे बड़ी बड़ी तनखाहोंपर विलायत वालोंको प्रबन्धक इत्यादिके पदोंपर नियुक्त कर लेते हैं एवं स्वयं भी खूब मुनाफा उठाते हैं । किन्तु अब देशके श्रमजीवि-दलमें जो जागृति उत्पन्न हो गयी है उसके कारण यह परिस्थिति अधिक दिनोंतक नहीं चल सकती । देशमें श्रमजीवि-संस्थाओंकी संख्या काफी होते ही पूँजी-पतियोंकी यह अंधाधुंधी विलुप्त हो जायगी । तब वे बड़ी बड़ी तनखाहें देकर, प्रबन्धक इत्यादिके पदोंपर विदेशियोंको नियुक्त न कर सकेंगे । उन्हें विवश होकर ऐसे भारतीयोंको ढूंढ़ना पड़ेगा जो कम वेतन लेकर भी उसी योग्यतासे काम कर सकें । अभी रुपया बहुत बचता है, अतः कारखानोंके विदेशी मालिक बड़े बड़े पदोंपर अपने ही देशभाइयोंको भर लेते हैं । किन्तु "ट्रेड यूनियन्स" (व्यापारिक संस्थाओं) का अधिक प्रसार होते ही ऐसा न हो सकेगा । उन्हें विवश होकर भारतीयोंको काम सिखलाना होगा एवं भारतीयोंको ही विश्वसनीय पदों पर नियुक्त करना होगा । जब अपने काममें दक्ष भारतीय अपेक्षा-कृत कम वेतनपर मिल सकेंगे तो विदेशी पूंजीपतियोंको अपने ही स्वार्थवश उन्हें ही रखना पड़ेगा । अन्यथा बड़े बड़े वेतनोंके कारण लागत व्यय बढ़ जानेसे उत्पन्न वस्तुएँ महँगी पड़ेंगी और उद्योग विफल होने लगेगा । इस प्रकार विदेशी पूँजीकी लागतसे खोले गये कारखाने भी प्रधानतया भारतीयों द्वारा ही चलाये जा सकेंगे । ऐसी अवस्थामें विदेशी पूँजी भी किसी अंशतक देशके औद्योगिक विकासमें सहायक हो सकेगी ।

* *
*

व्यय-भार-हरण-समिति ।

भारत सरकारकी अर्थनीति कितनी डांवाडोल हो गयी है, यह बात गत तीन

चार वर्षोंके आय-व्यय-अनुमान-पत्रपर दृष्टिपात करनेसे ही स्पष्ट हो जाती है। इस वर्षकी असह्य घटी देखकर बड़ी व्यवस्थापक सभाके सदस्योंसे न रहा गया। उन्होंने सरकारसे व्यय संकोचका बड़ा आग्रह किया। सरकारने भी उनके आग्रहका ख्याल कर एक व्यय-भार-हरण-समिति (रिट्रेन्चमेण्ट कमिटी) स्थापित करदी। इंग्लैण्डके लार्ड इञ्चकेप इस समितिके अध्यक्ष बनाये गये हैं। आप भारतवर्षमें रह चुके हैं। कलकत्तेमें आपका व्यापारिक जीवन शुरू हुआ था। आप बंगालकी व्यापारिक संस्थाके सभापति थे। बड़े लाटकी व्यवस्थापक सभामें भी आप व्यापारिक प्रतिनिधिके रूपमें रह चुके हैं। इसके सिवाय आप विलायतकी सुप्रसिद्ध व्यय-भार-हरण-समिति "गेडीज़ कमिटी"के एक प्रधान सदस्य थे। अतः हमें यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि आप अपने विषयसे वाक़िफ़ हैं एवं भारतकी आर्थिक नीतिकी भी थोड़ी-बहुत जानकारी आपको है। हमें सन्देह केवल इतना ही है कि इंग्लैण्डकी व्यय-संकोच-समितिमें जो कार्य आपने किया है वह कदाचित् भारतके निमित्त आप न करें। फिर कौन जाने भारत सरकार आपकी सिफारिशोंको मंजूर करती है या नहीं। सरकारी नौकरियोंमें व्यय-संकोचकी चेष्टा देखकर आशा तो होती है कि सरकार उक्त समितिके निश्चयोंकी उपेक्षा न करेगी, अस्तु।

हमें यह जानकर प्रसन्नता होती है कि लार्ड इञ्चकेपकी समिति भारतसरकारके आय-व्ययकी ही जांच न करेगी, प्रत्युत उसकी आर्थिक नीतिकी भी आलोचना करेगी। जो जो नीति (पालिसी) भारत सरकारके असाधारण व्ययके लिये उत्तरदायी है, उसका विचार समितिके सामने किया जायगा, किन्तु नीतिमें परिवर्त्तन करानेपर कहां तक जोर देनेका अधिकार समितिको है, यह स्पष्ट समझमें नहीं आता। यदि समिति सरकारी नीतिमें परिवर्त्तन न करा सकी तो केवल उसकी आलोचना करनेसे क्या लाभ?

समितिको प्रधानतया तीन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये। पहिलेतो उसे भारत सरकारका सैनिक व्यय घटानेकी चेष्टा करनी चाहिये। साथ ही सरकारकी सैनिक नीति भी बदलवानेका प्रयत्न होना चाहिये। अन्य अन्य विभागोंमें भी यथावसर व्यय-संकोच होना चाहिये। दूसरे, अर्थ-सचिवका पद बहुत ही योग्य और सुनिपुण मनुष्यको ही दिया जाय, ऐसा प्रबंध होना चाहिये। सर मैलकम हेलीकी योग्यता तो उनकी अर्थ-नीति और साल व साल बढ़ते हुए व्ययसे ही स्पष्ट है। आप लार्ड चेल्म्सफोर्डकी कृपासे ही उक्त पदपर बैठाये गये थे। आपकी चलायी विनिमय-नीति, 'डिचर' के शब्दोंमें, साधारण बैंकके खजानचीको भी लज्जा-जनक है। तीसरी बात सरकारका मुद्रा-बाहुल्य है। संवत् १९७० के अन्तमें कुल ६६-१२ करोड़के नोट चलते थे, किन्तु १९७८ के अन्तमें उनकी संख्या १७४·७५ करोड़ पर जा पहुंची। यदि रुपयेकी क्रय-शक्ति बढ़ानी हो तो नोटोंका बनाना कुछ कम होना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब आमदनीके अनुसार ही व्ययकी मात्रा निश्चित की जाय।

भारतकी औद्योगिक स्थिति ।

संवत् १९७६ के अन्तमें भारतके प्रधान प्रधान कारखानोंमें काम करनेवालोंका जो विवरण सरकारी गणना-विभाग द्वारा प्रकाशित हुआ है, उससे बहुतसी बातोंका पता लगता है ।

संवत् १९७६ में कुल ५,३१२ कारखाने थे जिनमें औसत १३ लाख ६७ हजार १३६ मनुष्य काम करते थे । इनमेंसे एक हजार कारखाने तो अकेले बंगालमें ही थे, जिनमें ४ लाख ३२३ हजार मनुष्य काम करते थे । दूसरा स्थान बम्बईको प्राप्त था । सूत कातने और कपड़ा बुननेके कारखानोंमें सबसे अधिक मनुष्य लगे हुए थे । देशमें रूईके कुल २८२ पुतलीघर थे । इनमेंसे १८२ सिर्फ बम्बई प्रान्तमें ही थे, जिनमें काम करनेवालोंकी संख्या दो लाखसे ऊपर थी ।

इञ्जीनियरीके सबसे अधिक कारखाने बंगालमें थे । इसके अतिरिक्त जूट, रेशम, तथा खपरों और ईंटोंके कारखानोंमें भी बंगाल सब प्रान्तोंकी अपेक्षा चढ़ा-बढ़ा था । जूटके कुल २११ कारखानोंमें अकेले बंगालमें ही १७३ कारखाने थे ।

ब्रह्म देशमें चावल खूब होता है । साथ ही मिट्टीके तेल तथा भिन्न भिन्न इमारती लकड़ीका भी वह केन्द्र है । अतः चावलके कारखाने, मिट्टीके तेलके कारखाने, एवं लकड़ी चीरनेके कारखाने प्रधानतया ब्रह्मदेशमें ही हैं । आसाममें भी मिट्टीका तेल निकलता है, अतः वहां भी इसके कारखाने हैं । उसी प्रकार आसाम, बम्बई तथा मद्रास, इन प्रान्तोंमें भी लकड़ीकी उत्पत्ति अधिक होनेके कारण लकड़ी चीरनेके कारखाने यहां भी हैं ।

शक्करके कारखाने प्रधानतया तीन प्रान्तोंमें थे । संवत् १९७` में मद्रासमें ६, विहारमें २१ तथा संयुक्त प्रान्तमें १४ शक्करके कारखाने थे । यद्यपि शक्करके सबसे अधिक कारखाने विहार प्रान्तमें थे, तो भी वहां उक्त कारखानोंमें केवल ३१४१ मनुष्य काम करते थे, जब कि मद्रासमें ३६१० मनुष्य इसी उद्योगमें लगे हुए थे ।

ऊनकी मिलें संयुक्त प्रान्तमें ५, पंजाबमें ८, तथा काश्मीर राज्यमें ९ थीं । कागजके कारखाने प्रधानतया बंगाल तथा बम्बईमें थे (बम्बईमें २, बंगालमें ३) । इनके अतिरिक्त ताले और चाकू इत्यादि बनानेके कारखाने, कांचके कारखाने, रंगके कारखाने, इत्यादि अनेक छोटे मोटे कारखाने थे । इन सबोंका उल्लेख करना अनावश्यक है ।

[स्थानाभावके कारण यह नोट गत मासमें प्रकाशित न हो सका था, सं० स्वा० ।]

ज्ञातव्यविषय तथा अंक।

भारतमें लोहेका आयात व्यापार।

देश	सं० १९७० टन	सं० १९७७ टन *	सं० १९७६ टन
ब्रिटन	६११३००	७६९००	२६९३००
अमरीका	२२०००	७६१००	१३४५००
जर्मनी	२००१००	...	९००
जापान	...	१५३००	२२००
बेलजियम	१७१०००	...	१३२००
अन्यान्य	१३८००	१३१००	६८००
योग	१०१८२००	१८१४००	४२९९००

संवत् १९७७ में कुल ५८२७०० पौण्डका लोहा भारतसें आया जिसमें ब्रिटनका ४००००० पौण्डका, अमेरिकाका ८९४०० पौण्डका तथा बेलजियमका ८३०० पौण्डका माल था।

भारतमें चीनीका आयात व्यापार।

संवत्	आयात (टन)	निर्यात (टन)	शेष (आयात)	
			(टन)	मूल्य
१९७८	७१७६१२	३२६२१	६८४९९१	२५०७४४०३२)
१९७७	२३६९०८	७२५७७	१६४३३१	१०८१८६३३०)
१९७६	४०८७२३	६८२१२	३४०५११	१८२८७२००६)

* १ टन लगभग २८ मनके बराबर होता है।

ओ३म् वन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३ खण्ड २ {९} श्रावण १९७९ { अङ्क ४ पूर्णाङ्क ३८

राजनीतिक दल।

प्रायः सम्पूर्ण प्रजातन्त्र राष्ट्रोंमें शासनचक्रका संचालन राजनीतिक दलोंके हाथमें रहता है। जो दल औरोंकी अपेक्षा अधिक बलवान होता है राष्ट्रकी बागडोर उसीके हाथमें रहा करती है। किसी दलका बलवान होना उसके सदस्योंकी संख्यापर निर्भर है। जितने ही अधिक निर्वाचनाधिकारप्राप्त नागरिक उसके अन्तर्गत होंगे उतना ही अधिक उसका प्रभाव बढ़ेगा और उतना ही वह छोटे छोटे दलोंको दबा कर देशमें अपने विचारोंके अनुसार कार्य करानेके योग्य होगा। जिस दलमें निर्वाचकगण अधिक संख्यामें सम्मिलित होंगे उसीके अधिक सदस्य व्यवस्थापक एवं कार्यकारिणी सभामें निर्वाचित होंगे और उन्हींका प्रधान नेता राष्ट्रसचिवके पदपर आसीन होगा। आधुनिक राष्ट्रोंमें यह प्रथा चल पड़ी है कि जिस दलका सचिव होता है उसी दलके नेतागण प्रत्येक शासन-विभागके अधिकारी नियुक्त होते हैं। परिणाम यह होता है कि राष्ट्र भरमें ऊपरसे नीचे तक बलवान दलका ही बोल-बाला रहता है और उसी दलकी नीति राष्ट्रकी नीति बन जाती है।

यह दलबन्दी व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार नहीं होती। प्रत्येक दलका संघटन कुछ सिद्धान्तोंके अनुसार होता है। यही कारण है कि दलबन्दी मत भेदके समय ही हो जाती है। उदाहरणके लिए इंग्लैण्डके दलोंका इतिहास देखना चाहिये। साम्राज्ञी एलिजबेथके समयसे इंग्लैण्डमें दलबन्दीका आरम्भ हुआ था। उस समय पिउरिटन मतावलम्बियोंके विरुद्ध बहुतसे काम किये गये जिससे बड़ा मतभेद उपस्थित हुआ था

और कुछ लोग उन कामोंके समर्थक तथा कुछ विरोधी हो गये थे। समर्थक लोग शासक-के पक्षमें थे और विरोधी उसके विपक्षमें। आगे चल कर जब पिउरिटनोंका प्रश्न उतना जटिल न रहा तो दोनों दलोंने अपने विचारोंका संकोच हटा कर अपने अपने सिद्धान्तोंका निश्चय कर लिया। एकने राजाकी शक्तिका घटाना अपना मूल उद्देश्य रखा और दूसरेने उसका उलटा अपना सिद्धान्त बना लिया। एक राजाके अधिकारोंका समर्थक और दूसरा जनताके अधिकारोंका प्रतिपादक बन गया। किन्तु कुछ समय बाद जब राजाके प्रायः सम्पूर्ण अधिकार छिन गये और वह केवल शक्तिहीन मूर्ति बन गया तो दोनों दलोंके सिद्धान्त अनुपयुक्त एवं नहींसे हो गये। ऐसी अवस्था होने पर उक्त दलोंके नेताओंने अपने सिद्धान्तोंकी रचना नये ढंगसे कर डाली। एकने तो स्थिर किया कि हमलोग उन्नतिशील परिवर्तनका समर्थन करेंगे और दूसरेने निश्चय किया कि हमलोग प्राचीन पद्धतिको ही रखनेका प्रयत्न करेंगे तथा बहुत सोच समझकर ही किसी नयी बातको होने देंगे। तबसे एकका नाम "लिबरल" (उदारदल) और दूसरेका कन्सर्वेटिव (अनुदारदल) पड़ा। आज तक इंग्लैण्डमें इन्हीं दोनों दलोंकी प्रधानता है और कभी एक और कभी दूसरा प्रभावशाली बन जाता है। ऊपर कहा गया है कि मतभेदसे ही दलबन्दीका आरम्भ होता है। अतएव अब भी इंग्लैण्डमें जब कोई शासन सम्बन्धी बड़ा गहन विषय उपस्थित होता है तो इन दलोंके सदस्योंमें मतभेद हो जाता है। इसी कारण दो चार और दलोंका भी जन्म हो गया है। उनमें से इस समय सबसे प्रधान कोयलीशन (संयुक्त) दल है जिसमें दोनों दलोंके थोड़े थोड़े सदस्य आ मिले हैं। उनका सिद्धान्त दोनों दलों-को मिला कर एक करनेका है। इस समय इंग्लैण्डका शासन इन्हींके हाथमें है और श्रीयुत लायडजार्ज इसी दलके प्रधान नेता हैं।

दलबन्दीका यह इतिहास देखनेसे मालूम होता है कि दलोंका जन्म, मतभेद और जीवनसिद्धान्तोंके भेदपर ही निर्भर है। अधिकांशमें यह सत्य भी है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि आधुनिक दलबन्दीमें अनुचित व्यक्तिगत द्वेषकी कमी है। शासन-कार्यमें जब बलवान दल शासन-चक्र चलानेमें लग जाता है तो विरोधी दलके लिए केवल विरोध करना ही बच जाता है। इस प्रकार चिरकालसे विरोध करते करते यह सम्भव नहीं कि द्वेष उत्पन्न न हो जाय। दूसरे किसी दलका बलवान होना उसके अनु-यायियोंके व्यक्तिगत लाभका भी साधक होता है क्योंकि बिना बलवान हुए किसी दलके सदस्योंको बड़ी बड़ी तनखाहें नहीं मिल सकतीं। अतएव यद्यपि निःस्वार्थ देशसेवकोंपर लोभका बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ता तथापि साधारण सदस्योंके लिये जिनकी संख्या अधिक होती ही है यह बात कुछ कम महत्त्वकी नहीं होती। इन कारणोंसे यूरोपीय दलबन्दी भी द्वेष, लोभ, बेईमानी आदिसे खाली नहीं रहती।

इतने विवरणसे पाठकोंको राजनीतिक दलोंके साधारण रूपका अनुमान अवश्य हो गया होगा। अब उनके सम्बन्धमें कुछ सूक्ष्म बातोंका विचार किया जा सकता है। किसी दलका संघटन जनसमूहके विचारोंकी एकतापर ही निर्भर होता है क्योंकि राज-

नीतिक दलका होना ही इस बातको प्रगट करता है कि एक विशेष जनसमूह अमुक अमुक राजनीतिक विषयोंके सम्बन्धमें अमुक निश्चित विचार रखता है । किन्तु यह एक प्राकृतिक नियम है कि भिन्न भिन्न मनुष्योंके विचार भिन्न भिन्न हुआ करते हैं और यह कदाचित ही देखा जाता है कि सभी बातोंमें बहुतसे मनुष्योंके विचार एकसे होते हों । ऐसा स्वाभाविक होते हुए भी विचित्रता यह है कि किसी प्रश्नपर दलभरके व्यक्ति एक ही सम्मति प्रगट करते हैं । अतएव मानना पड़ेगा कि दलबन्दी स्वाभाविक रीतिके अनुकूल नहीं है । अस्तु, विचारणीय यह है दलका प्रत्येक व्यक्ति किस प्रकारसे अपने विचारोंकी एकता स्थिर करनेमें समर्थ होता है । वास्तवमें इस एकताका साधन आत्माकी हत्यामात्र कही जा सकती है । जब कोई मनुष्य किसी दलका समर्थक होना निश्चित कर लेता है तो वह देखता है कि उसके प्रधान एवं व्यापक सिद्धान्त किस दलके सिद्धान्तोंसे अधिक मिलते जुलते हैं और जिससे वे मिलें उसी दलका वह अनुयायी हो जाता है । कहना न होगा कि दलबन्दीका आधार 'मान मनाव' ही है । प्रत्येक दलके सदस्य कुछ न कुछ अपने विचारोंकी हत्या कर लेते हैं और बीचबिचाव तथा समझौता करके एक सम्मति निश्चित करते हैं जिसको ही वे प्रगट करते हैं और जो उनके लिये मान्य भी होती है । राजनीतिक क्षेत्रमें उनका कार्य भी उसी निश्चित सम्मतिके अनुकूल हुआ करता है । राजनीतिक दलोंके मूल सिद्धान्त तो ऐसे निर्धारित होते ही हैं । साधारण प्रश्नोंके सम्बन्धमें भी यही किया जाता है । जब कभी कोई प्रश्न उठता है तो दलके गण्य-मान्य सभासद एकत्र होकर एक सम्मति निर्धारित कर लेते हैं और उसको प्रगट करते हैं—फिर वह सम्मति दलके सम्पूर्ण सदस्योंके लिए गुरुमन्त्र हो जाती है और कोई भी उस सम्बन्धमें टससे मस नहीं कर सकता । यही कारण है कि कभी कभी कुछ लोग एक दलको छोड़ दूसरेमें चले जाते हैं अथवा प्रचलित दलोंके सिद्धान्तोंसे भिन्न विचार वाले किसी नये दलका संघटन करते हैं । किन्तु ऐसा करना साधारण व्यक्तिका काम नहीं है, क्योंकि इसके लिए बहुत बड़ा नाम, प्रभाव आदि आवश्यक होते हैं ।

इस विवेचनाके उपरांत अब दलबन्दीके गुण-दोषका भी विचार किया जा सकता है । सबसे पहले तो यह कहना अनुचित न होगा कि दलबन्दीके मूलमें ही अपनी मानसिक स्वतन्त्रताकी हत्या स्थित है । दलमें प्रवेश करनेके पहले ही आपको उसके नेताका अनुयायी होनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करनी होगी । *वास्तवमें होता यह है कि प्रारम्भमें ही आप दलाधिपतिकी बात माननेकी कसम खा लेते हैं और यह भविष्यके लिए छोड़ देते हैं कि क्या क्या मानना होगा । इसका परिणाम स्पष्ट है । इससे आप अपनेको दलके प्रवाहमें विवश छोड़ देते हैं और शक्ति रहते हुए भी यथेच्छ दिशाकी ओर हाथ पांव चलानेसे अपनेको वंचित कर देते हैं । इस स्थितिको भली भांति समझनेपर अनुमान किया जा सकता है कि यदि सचमुच आपके विचार दलके नेताके विचारोंसे

*लीकाक महोदयकी सम्मतिके आधारपर ।

पूर्णतया नहीं मिलते—जो प्रायः असंभव नहीं है—तो आप केवल दल रूपी विशाल मशीनके एक छोटे पुर्जे बन जाते हैं जो निर्जीव एवं स्वतन्त्रताशून्य रहती है। इन्हीं कारणोंसे प्राचीन भारतका स्वतन्त्र आत्मगौरवपूर्ण अन्तःकरण दलबन्दीकी ओर कभी न झुका था। प्राचीन राजनीतिक ग्रन्थोंमें भी इसके होनेका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यही कारण है कि आज दिन भी हमारे देशमें राजनीतिक दलोंका यथार्थ संघटन नहीं हो सका है। भारतवर्षमें दलबन्दीका संघटन ठीक न हो सकनेके और भी कई कारण हैं। कोई भी काम उपयोग विना सम्पन्न नहीं होता। और दलबन्दीका वास्तविक उपयोग उत्तरदायित्वपूर्ण शासन रहनेपर ही होता है जो अभी तक भारतवर्षमें स्थापित नहीं हुआ है। फिर यह भी कौन कहे कि भारतवर्षमें इंग्लैण्डकी भांति ही दो चार सुसंघटित दल हो जांयगे। संभव है कि यहांकी दशा भी फ्रांसकी भांति हो जाय। फ्रांसमें दो चार दल नहीं हैं। वहां उनकी संख्या बहुत अधिक है और प्रत्येकके अनुयायी भी कम ही कम हैं। यही कारण है कि वहांका मन्त्रिमण्डल चिरस्थायी नहीं हो सकता। अनुयायियोंकी संख्या कम होनेके कारण कोई एक या दो दल बहुमतका अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव कई दल मिल कर ही किसी समय मन्त्रिमण्डलकी रचना करते हैं और वह मन्त्रिमण्डल तब तक काम कर सकता है जब तक उन दलोंके विचार मिलते रहते हैं। जिस दिन उनमें फूट हुई, मन्त्रिमण्डल टूटा और जब तक फिर कई दल समझौता करके नहीं मिलते दूसरा मन्त्रिमण्डल संघटित नहीं होता। यूरोपीय विचारसे यह अवस्था वांछनीय नहीं मानी जाती क्योंकि इसके कारण शासनकार्यमें अड़चनें पड़ती हैं। किन्तु मानना पड़ेगा कि अन्तःकरणके विचारसे यह अवस्था अधिक स्पृहणीय है।

दूसरी ओर ध्यान देनेसे यह प्रतीत होता है कि प्रातिनिधिक शासनके लिए दलबन्दीकी अनिवार्य आवश्यकता है। जिस शासनमें शासकमण्डल प्रतिनिधियों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं उसमें यह आवश्यक होता है कि प्रतिनिधि सभाके अधिक सदस्य एक ही विचार अथवा दलके हों जिनकी ही अनुमतिसे शासकमण्डलकी रचना हो और उनके ही समर्थनपर विश्वास रखकर वह मण्डल अपना कार्य करता रहे। अन्यथा जब चार चार दिनपर प्रतिनिधि सभाके विचार बदलते रहे तो मन्त्रिमण्डल भी बदलता रहेगा और परिणामतः अव्यवस्थाका डेरा जम जायगा। इस देशमें दलबन्दीका यथेष्ट संघटन न होनेसे ही कदाचित् मान्टेगू प्रभृति नीतिज्ञोंने मन्त्रियोंका पदत्याग प्रान्तीय सभाके बहुमतपर नहीं रखा है। अभी इतने ही दिनोंमें यह बात स्पष्ट हो गयी है। युक्त प्रान्तमें जब वर्तमान मन्त्रियोंकी नियुक्ति हुई तो वास्तवमें प्रान्तीय सभाके प्रायः सभी सदस्य उनके पक्षमें थे किन्तु चार ही छ महीनेमें कई बार ऐसे अवसर हुए कि उन मंत्रियोंको हार माननी पड़ी। यदि यहांकी व्यवस्था भी यूरोपके सदृश होती तो उनको उसी समय पदत्याग कर देना पड़ता। इन्हीं विचारोंसे दलबन्दीका होना आधुनिक प्रजातन्त्रके लिये अनिवार्य माना जाता है।

दलबन्दीके पक्षपातियोंका कहना कुछ और है। उनकी दृष्टिमें दलोंका होना स्वाभाविक है। वे कहते हैं कि स्वभावतः मनुष्यकी प्रवृत्ति चार ही प्रकारकी होती है। एकतो वर्तमान अवस्थाको ही रहने देनेकी, दूसरी वर्तमान अवस्थाको सुधारनेकी, तीसरी वर्तमान अवस्थाको एकदम नष्ट कर देनेकी और चौथी भुत अवस्थाको पुनर्जीवित करनेकी। इन्हीं प्रवृत्तियोंके आधारपर क्रमशः कन्सर्वेटिव, लिबरल, रैडिकल और रिएक्शनरी दलोंका संघटन होता है। यदि राष्ट्रकी व्यवस्था विशेषके कारण इधर रिऐक्शनरी तथा कन्सर्वेटिव दल एवं उधर रैडिकल तथा लिबरल दल आपसमें मिल गये तो इंग्लैण्डके सदृश दो महान् राजनीतिक दलोंका संघटन हो जाता है और उन्हींके हाथमें शासकमण्डल रहा करता है। कुछ भी हो, यह बात सभी मानते हैं कि दलबन्दीके कारण द्वेष, लोभ, शत्रुता आदिकी अधिकता हो जाती है। इनको दूर करनेके उपाय भी बहुत दिनोंसे सोचे जा रहे हैं। अब तक नीतिज्ञोंकी सम्मति यही हुई है कि यह उपाय सम्पूर्ण निर्वाचकोंको पूर्णतया शिक्षित करना ही है। जब तक निर्वाचक राजनीतिक कार्योंको अपना ही न मानेंगे और यह न समझेंगे कि जैसे अपना घर सँभालना हमारा कर्तव्य है उसी प्रकार राष्ट्रको सँभालना भी हमारा ही काम है, तब तक देशकी अवस्थाके अनुसार निष्पक्ष हृदयसे सोच विचार कर प्रतिनिधियोंका निर्वाचन नहीं हो सकता। और जब तक यह न होगा दलबन्दीके दोष दूर नहीं हो सकते।

हरिहर नाथ।

राज्यके कर्त्तव्य।

(१)

भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन।

राजनीति शास्त्रमें सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय राज्यका कर्मक्षेत्र है। क्या राज्यका लक्ष्य सदा अपनी ही भलाई और उन्नतिके प्रति रहता है, अथवा राज्य केवल जनताके उद्देश्योंकी पूर्तिका एक साधन-मार्ग है? प्राचीन-कालके राजनीतिज्ञ राज्यको मनुष्यका सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य मानते थे और राज्यका अन्त राज्यकी भलाईमें ही समझते थे। हमारे भारतवर्षमें, जैसा रंग स्वामी ऐयरने अपनी छोटी सी पुस्तकमें लिखा है, राज्यका प्रत्येक काम समाज तथा राज्यकी वृद्धिके अधीन था, प्रजा राजाको 'महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति' के सिद्धान्तके अनुसार मानती थी और राजा 'स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः' इस सिद्धान्तके अनुसार प्रजाकी रक्षाका भार—अपने ऊपर लेता था। ग्रीसके प्रसिद्ध राजनीतिविशारद अरस्तूका कहना है कि मनुष्य एक राजनीतिक जीव है, विना राज्यके उसके किसी भी उद्देश्यका परिपूर्ण होना असम्भव है। इसी सिद्धान्तका अनुसरण करते हुए हीगल और ग्रीन आदि राजनीतिज्ञोंने भी समाज तथा राज्यपर विशेष रूपसे जोर दिया है और कैन्ट, लॉक तथा वेन्थम आदिके व्यक्तिवादका घोर विरोध किया है। उदाहरणार्थ-ग्रीनका कहना है कि विना समाजके किसी व्यक्तिको, नागरिककी दृष्टिसे, कोई अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता। राजनीतिक स्वत्व केवल समाजके सभ्य होनेहीसे मिल सकते हैं अन्यथा नहीं, अतः रूसो आदिका यह विचार कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ था किन्तु वह सर्वत्र बन्धनमें है, अथवा राज्यका निर्माण जनताकी इच्छा तथा सामाजिक बन्धन द्वारा हुआ और राज्यके न रहते मनुष्य बड़े आनन्दमें था, सर्वथा अप्रामाणिक है। ग्रीनका कहना है कि मनुष्य स्वभावसे ही समाजप्रिय है और समाज ही शनैः शनैः राज्यरूपमें परिणत हो गया। ग्रीनकी दार्शनिक विचार-धारा संक्षेपमें प्रकट नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा करनेसे सम्भव है उसकी ठीक ठीक व्याख्या न हो सके, अतः किसी दूसरे समय उसके विचारोंका उल्लेख किया जायगा। हां तो इस विचारके राजनीतिज्ञोंने मनुष्यको राज्यका अनुयायी बनाया, और हाब्स जैसे कुछ विद्वानोंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सार्वजनिक भलाईको राज्यके लिए बलिदान करना स्वीकार किया। इस दलके विरुद्ध एक दूसरे विचारके लेखकोंने, जिनमें अधिकतर अमेरिकन, अंग्रेज और कुछ फ्रेंच हैं, यह सिद्धान्त निकाला कि राज्य केवल एक साधारण संस्था है जो कृत्रिम रूपसे सबसे अधिक जन समूहोंकी सबसे अधिक भलाईके लिए निर्माणकी गयी है। वेन्थम, मिल तथा और अन्य उप-

योगितावादी इस सिद्धान्तके पोषक हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार उन भारोंको न्याय-संगत साबित करना जिन्हें राज्य अपने नागरिकोंके ऊपर भावी सन्ततिकी उन्नति और भलाईके लिए डालता है कठिन हो जायगा। दीन-हीन अनाथोंकी सहायता करना भी राज्यके लिए आवश्यक न समझा जायगा। इसके अतिरिक्त यदि नागरिकोंकी भलाई ही राज्यका मुख्य उद्देश्य समझा जाय तो राज्यकी रक्षाके लिए जीवन तथा माल-जायदादका जो बलिदान मनुष्य करता है वह अनावश्यक तथा निष्फल हो जायगा। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि सारा विवाद व्यक्ति और राज्यमें है। कोई व्यक्तिको प्रधानता देता है और कोई राज्यको। इसलिए यह आवश्यक है कि राज्य और व्यक्तिमें क्या सम्बन्ध है यह संक्षेपमें दर्शाया जाय। यह कहना अनुचित न होगा कि जब जब राज्य अपनी हुकूमत चलाता है तब तब वह उसी परिमाणमें नागरिकोंकी स्वतंत्रताका क्षेत्र सकुचित करता है, अतः राज्यका उचित कर्म-क्षेत्र सामाजिक तथा व्यक्तिगत हितोंको राम करनेसे ही प्राप्त हो सकता है। इस उचित सम्बन्धका निर्धारण करना ही राजनीति-शास्त्रकी सबसे जटिल तथा सबसे प्रथम समस्या है और महाशय विलोबीके अनुसार इस समस्याका समाधान तीन प्रकारसे किया गया है :—

(१) अराजकता।

यह मत, जो कट्टर व्यक्तिवादियोंका है, राज्य-सञ्चालन-यंत्रको अनावश्यक तथा बुरा समझता है। यह राज्यकी सामूहिक सत्ताको उठाकर उसके स्थानमें व्यक्तिगत स्वतंत्रताको जिसके उपयोगका क्षेत्र अपनी इच्छानुसार स्वयं ही बांधा जायगा स्थान देना चाहता है। इसकी यह इच्छा है कि स्वेच्छाप्रणीत सभाएँ, साधारण उन्नति, जीवन तथा जायदादकी रक्षा, न्याय और शक्ति भंग करनेवाले व्यक्तियोंका उचित प्रबन्ध, आदि काम अपने हाथमें लें। इस मतमें दो कठिनाइयां साफ झलकती हैं। जब इस मतका मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतंत्रताके क्षेत्रको विस्तीर्ण करना है तो यह कब उचित होगा कि किसी मनुष्यको कोई काम करनेके लिए बाध्य किया जाय जैसा कि इस मतके अनुयायी उन लोगोंके साथ करनेको कहते हैं जो शान्ति और न्यायके लिए अरुचिकर हैं। फिर एक ऐसी स्वापन्न शक्तिकी आवश्यकता प्रतीत होती है जो इस बातका निर्णय करे कि ये स्वेच्छा-प्रणीत सभाएँ किन किन कामोंको किस सीमा तक करें। हमारा छुटकारा उस शक्तिसे नहीं हो सकता जो सर्वोच्च, सर्वमान्य और अन्तिम प्रभुत्व रखती है। अतः युक्तिसंगत प्रमाणोंपर स्थित न होनेके कारण तथा मनुष्यके कामों और सिद्धान्तोंमें अधिक काम न आनेके कारण, इस मतकी विशेष व्याख्या इस स्थानपर नहीं की जा सकती।

(२) व्यक्तिवाद।

अठारहवीं शताब्दीके पिछले भागोंमें तथा उन्नीसवीं शताब्दीके पहले अर्ध-भागमें

यूरोप महाद्वीपमें इस सिद्धान्तका बड़ा जोर था। इस सिद्धान्तके अनुयायियोंका बहुमत था—वास्तवमें राज्य स्वयं दूष्य है, किन्तु उसकी आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि मनुष्य सर्वगुण-सम्पन्न नहीं है। राज्यका केवल यही कर्त्तव्य है कि वह मनुष्यके जीवन, माल-जायदाद तथा स्वतंत्रताको किसी प्रकारकी क्षति न पहुंचने दे। अतः राज्यका हस्तक्षेप उसी समय न्यायसंगत है जब यह उसका उपयोग दूसरे दुष्ट नागरिकोंके आक्रमणसे अपने नागरिकोंकी रक्षाके लिए करता है। इसके अतिरिक्त और किसी बातमें चाहे वह वास्तवमें उपयोगी भी हो हस्तक्षेप करना राज्यके लिए अन्याय्य है। ये लोग उस आदर्शका स्वप्न देख रहे हैं जब प्रत्येक मनुष्य शान्तिप्रिय, उच्च चरित्र वाला तथा नेक हो जायगा और राज्यकी आवश्यकता ही न पड़ेगी। इसका उपयोग तीन प्रकारसे किया गया (क) नैतिक दृष्टिसे (ख) आर्थिक दृष्टिसे (ग) वैज्ञानिक दृष्टिसे। किन्तु इन तीनों दृष्टियोंसे केवल यही सिद्धान्त निकाला गया कि मनुष्यको स्वेच्छाचारी होना चाहिए।

(क) उन राजनीतिक तत्त्ववेत्ताओंके लेखोंसे, जो ईश्वर-दत्त अधिकारोंमें विश्वास करते थे, यह बात साफ झलकती है कि मनुष्यको अपनी इच्छानुसार काम करने देना चाहिए और हस्तक्षेप करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जर्मनीमें कान्ट, फिक्ट और वान हम्बोल्ड, फ्रान्समें रूसो, इंग्लैण्डमें ह्यूम और लाक, और अमेरिकामें जेफर्सन, मेडीसन और पेन आदि इस सिद्धान्तके उपासक थे। इन्होंने व्यक्तिगत स्वाधीनताका पोषण किया और 'जनता ही वास्तविक शासक है'' इस वाक्यसे समस्त यूरोपको चकित कर दिया। वान हम्बोल्डने राज्यके कर्तव्यकी व्याख्या इस प्रकार की है—''राज्यका लक्ष्य, पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करानेकी ओर प्रत्येक प्रजाकी शक्तियोंकी उन्नति, होना चाहिए, अतः राज्यको वही काम अपने हाथमें लेना चाहिए जो प्रजा नहीं कर सकती, जैसे 'रक्षा'का काम''

ईश्वरदत्त अधिकार सामाजिक बन्धनके सिद्धान्तका फल है। वास्तवमें यदि देखा जाय तो न तो कोई सामाजिक-बन्धन किसी समयमें किया गया और न कोई प्राकृतिक राज्य ही था जिसमें लोग ईश्वरदत्त अधिकारोंके अनुसार आनन्दमें रहते थे।

अधिकार उसी समय अधिकार कहे जा सकते हैं जब कोई ऐसी शक्ति हो जो इस बातका निरीक्षण करे कि एक मनुष्यका अधिकार दूसरे मनुष्य द्वारा छीना तो नहीं जाता। मान लीजिये कि मुझे एक मकान रखनेका अधिकार है। अब यह अधिकार तभी तक रह सकता है जब तक कोई ऐसी शक्ति विद्यमान है जो इस बातका जिम्मा ले कि कोई दूसरा व्यक्ति जो मुझसे बली है मुझे निकाल बाहर न करे। अतः यह कहना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता कि विना समाजके उस प्राकृतिक राज्यमें जिसमें सब लोग स्वेच्छाचारी और स्वतंत्र थे, कोई अधिकार हो सकते हैं। उस समय तो केवल शक्ति रह सकती है और जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत ठीक हो सकती है। इस समाजिक-बन्धन-सिद्धान्तमें और भी बहुतसे दोष हैं जिनका उल्लेख इस छोटेसे लेखमें नहीं हो सकता।

एक समय यह इतना प्रचलित था कि इसकी समालोचना करना कठिन था। इसके अतिरिक्त व्यक्तिवादका प्रयोग यदि अक्षरश: किया जाय तो मेरा विचार है कि समाजका सारा काम बन्द हो जाय । फिर राज्य क्यों बिचारे गरीबों, अनाथों और शिक्षा आदिका प्रबन्ध करेगा ? और यदि वास्तवमें देखा जाय तो व्यक्ति-वादियोंका यह कहना कि राज्यका कर्त्तव्य केवल मनुष्य, प्राण, स्वाधीनता और जायदादकी रक्षा करना है यह सिद्ध करता है कि राज्यका हस्तक्षेप आवश्यक है और यह हस्तक्षेप उपयोगिताके अनुसार होना चाहिए ।

(ख) आर्थिक दृष्टिके अनुसार व्यक्तिवादका कहना है कि अबाधित-स्पर्धा-युक्त व्यापार तथा उद्यम, राज्य द्वारा बाधित वाणिज्य-व्यापारसे कहीं उत्तम है । औद्योगिक-विप्लवके पश्चात् जब बड़ी बड़ी मशीनों द्वारा भारी कम्पनियां खुल रही थीं और व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय आवा गमनकी सुविधाके लिये उत्तम उत्तम जहाज तैयार किये जारहे थे, तब इस सिद्धान्तने व्यापारियों तथा राजनीतिज्ञोंपर अपूर्व प्रभाव डाला । अंग्रेजीके सुयोग्य अर्थशास्त्रवेत्ता श्री ऐडम स्मिथने अपनी पुस्तक 'जातियोंकी सम्पत्ति' (वेल्थ आफ नेशन्स) में इस बात पर विशेष जोर दिया कि यदि प्रत्येक व्यक्तिको अपना स्वार्थ तथा अपनी भलाई स्वयं देखनेकी स्वतंत्रता दी जाय तो सब लोगोंकी भलाई इससे हो सकती है । उनका यह भी कथन था कि पूँजी तथा श्रमके अबाधित उपयोगसे मांग तथा संग्रह द्वारा स्वयं मूल्य-निर्धारणसे, तथा अबाधित व्यापारसे सर्वोत्तम आर्थिक सुधार प्राप्त हो सकता है । यही आर्थिक स्वतंत्रताका सिद्धान्त है । इसने इंग्लैण्डमें क्या क्या उपद्रव किये, यह इंग्लैण्डका आर्थिक इतिहास जानने वाले सभी विद्वान् भली भांति जानते हैं । इसीके प्रभावसे श्रमजीवियोंकी रक्षाके लिए बनाये हुए नियम, तथा व्यापार और वाणिज्यके बाधक नियम सब तोड़ डाले गये । श्रमजीवियोंके नियम टूट जानेसे बड़ी बड़ी कम्पनियोंमें बिचारे दीन हीन श्रमजीवियोंकी क्या दशा हुई, इसका दिग्दर्शन कराते हुए रोंगटे खड़े हो जाते हैं और पश्चिमीय सभ्यताके प्रति घृणा उत्पन्न होती है । इंग्लैण्डके 'पूअर लॉ' और फैक्टरी एक्टोंका इतिहास पढ़नेसे हृदय कांप उठता है । चार चार वर्षके बालकोंको दिन रात कारखानोंमें काम करना पड़ता था, उसपर मार भी पड़ती थी, गर्भिणी स्त्रियोंको बच्चा पैदा होनेके आध घंटा पूर्व तक काम करना पड़ता था, और बच्चे जननेके पश्चात् कठिनतासे उनको दो चार दिनोंकी छुट्टी मिलती थी । जहां श्रमजीवी काम करते वहां हवा बिल्कुल गन्दी मिलती, तिसपर भी उन्हें अठारह अठारह, बीस बीस घण्टे काम करना पड़ता । पूंजीपतियोंका सदा यही ध्यान रहता था कि कितना काम कितने कम खर्चमें इन लोगोंसे लिया जाय जिसमें लाभकी मात्रा द्विगुण हो जाय । राबर्ट ओवन आदि साम्यवादियोंने ऐसे व्यक्तिवादका घोर विरोध किया और अन्तमें पांच सात बारमें "कारखानोंके कानून" (फैक्टरी एक्टस्) पास किये गये और बिचारे श्रमजीवियोंकी सुविधाके लिए काम करनेका समय, स्वच्छ वायुकी प्राप्ति तथा छुट्टी

इत्यादिके सम्बन्धमें अनेक नियम बनाये गये। आज कल तो इंग्लैण्डमें श्रमजीवियोंका एक राजनीतिक दल ही है। इंग्लैण्डकी सी दशा अमेरिकामें भी उपस्थित है। विशाल कम्पनियोंके पूंजीपति जिन्हें ट्रस्टके नामसे सम्बोधन किया जाता है बिचारे दीन-हीन श्रमजीवियोंके आरामका कुछ भी विचार न करके अधिकसे अधिक मुनाफेकी लालसासे उनसे कड़ा काम लेते हैं। देखें इस लक्ष्मी-युगकी सभ्यताका संसारपर क्या असर पड़ता है। अस्तु, राज्यको व्यक्तिवादका विरोध करते हुए व्यापार तथा उद्योग धन्धेमें हस्तक्षेप करना ही पड़ा।

(ग) वैज्ञानिक दृष्टिसे व्यक्तिवादका समर्थन करनेवाले व्यक्तिवादको प्राणि-शास्त्रके विकास-सिद्धान्तका एक अंग मानते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सरके लेखोंमें इस सिद्धान्तकी अच्छी व्याख्या है। उनका कहना है कि जब कि प्राणिशास्त्रके अनुसार 'सबसे योग्यकी जीत होती है' तो फिर राज्यका प्रत्येक काममें हस्तक्षेप करना अदूरदर्शिता नहीं तो क्या है? राज्यकी मशीनको वह समाजका एक अंग मानता है और उसका कर्म-क्षेत्र केवल खास खास कामोंमें ही परिमित कर देता है। बस हर्बर्ट स्पेन्सरने विचारा कि गवर्नमेन्ट वास्तवमें स्वयं दूष्य है और ज्यों ज्यों सभ्यताकी वृद्धि होगी उसके कर्त्तव्यों-की सीमा संकुचित होती जायगी। रिचीने अपनी पुस्तक 'डार्विनवाद तथा राजनीतिशास्त्र, (डार्विनिज्म एण्ड पालिटिक्स) में लिखा है कि लोगोंके द्वारा डार्विनके 'सबसे योग्यकी सफलता' के सिद्धान्तका कैसा दुरुपयोग किया गया है। प्राणिशास्त्रके पटतरको व्यक्तिवादके समर्थनके लिए उपयोगमें लाने वाले इस बातका ध्यान नहीं रखते कि मनुष्य-जाति तथा अधम श्रेणीके जीवोंमें क्या विशेष अन्तर है। अधम श्रेणीके जीव बिलकुल अपनी प्राकृतिक स्थितिके अधीन हैं और उसीके द्वारा उनका विकास होता है, किन्तु मनुष्य अपनी स्थितिको बदल सकता है तथा बना सकता है और इस प्रकारसे उस बड़ी हानिको हटा सकता है जो स्वाभाविक चुनावकी रीतिके कारण होती है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जब 'सबसे योग्यका जीवन सुफल है' का यह अर्थ है कि निर्धा-रित अवस्थाओंमें जो सबसे योग्य ठहरे न कि सब हालतमें सर्वोत्तमकी ही जीत आवश्यक है, तो फिर मनुष्य अपनी अवस्थाकी उन्नति करके, सबसे योग्यको कहीं अधिक वाञ्छनीय बना सकता है। अतः सामूहिक उद्योग एक उपयोगी नियमका बाधक होनेके स्थानपर स्पर्द्धाजनित हानियोंको हटा सकता है, उन्नतिको शीघ्रता प्रदान कर सकता है और एक उच्च कोटिके समाज तथा व्यक्तिकी नवीन सृष्टि कर सकता है। यही संक्षेपमें व्यक्तिवादकी वैज्ञानिक दृष्टि है और सूक्ष्म रीतिसे यही उसकी आलोचना है। हर्बर्ट स्पेन्सरने वैज्ञानिक दृष्टिसे राजनीतिशास्त्रकी बड़ी ही रोचक व्याख्या की है।

आजकल हस्तक्षेप न करनेका मत सिद्धान्त रूपसे प्रिय नहीं है, और न आधु-निक कार्य्यक्रमके अनुसार यह मत राज्यके कर्त्तव्योंके लिए सन्तोषजनक ही है। महाशय लीकाकका कहना है कि 'इसका अक्षरशः प्रयोग मनुष्यकी सर्वोत्तम स्वाभाविक विवेक-

शक्तियोंके विरुद्ध होगा, और इसके कारण राज्यके उन कर्त्तव्योंकी भी अवहेलना होगी जो अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रमाणित हैं। राजनीतिक न्यायके विचारसे यह सिद्धान्त व्यक्तिगत अधिकारोंको सामाजिक अधिकारोंसे भिन्न करना चाहता है। आर्थिक दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह समुद्योग तथा नियमबद्ध उद्योगोंके लाभोंपर दृष्टि नहीं डालता। वैज्ञानिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे यह उचित परीक्षाओंका सामना नहीं कर सकता।" तो क्या व्यक्ति-वादको हम घृणाकी दृष्टिसे देखें? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। यदि राज्यमें व्यक्ति कोई वस्तु ही न समझा जायगा तो वह राज्य रावण-राज्य हो जायगा, राम-राज्य नहीं। इसमें नित्य ही विप्लवका सामना करना पड़ेगा। इसी विचारसे प्रत्येक राज्य समस्त काम पूर्ण रूपसे करनेकी योग्यता रखता हुआ भी अपनी राज्य-शक्तिको परिमित करनेका यत्न करता है और राज्यके हस्तक्षेपके विरुद्ध मनुष्यको किसी न किसी अंशमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान करता है। (अपूर्ण)

नरोत्तमदास खत्री।

यूनानके इतिहासपर भूगोलका प्रभाव।

उन्नीसवीं सदीमें बक्ल नामक अंग्रेज विद्वान्ने अंग्रेजी सभ्यतापर एक पुस्तक लिखी थी जिससे बड़ी हलचल मची थी*। उसके सिद्धान्त बिल्कुल नये नहीं थे—संसारमें सर्वथा मौलिक बातें बहुत कम होती हैं पर उसने उन सिद्धान्तोंपर जैसा जोर दिया वैसा पहिले कभी किसीने न दिया था। एक मुख्य तत्त्व, जिसकी घोषणा उसने की, यह है कि मनुष्यका सारा इतिहास प्राकृतिक घटनाओंपर अवलम्बित है। समुद्र और झील, नदी और पर्वत, जमीन और आबहवाके अनुसार ही मनुष्यका भोजन-वस्त्र होता है। प्रकृति और भोजनसे ही मानसिक प्रवृत्तियां बनती हैं—मानसिक बल या निर्बलता होती है, आशा और प्रफुल्लता या निराशा और उदासीनताकी प्रवृत्ति होती है। प्राकृतिक लक्षण और मानसिक प्रवृत्तियोंका खेल ही समाजका चक्र है। इस सिद्धान्तको बक्लने इतना बढ़ाया कि हिन्दूवर्ण-व्यवस्थाकी जड़ चावलके दानेमें खोद निकाली। आरंभमें बहुधा नये विचार अत्युक्तिके साथ आते हैं। समालोचनाकी प्रचंड अग्नि थोड़ी देरमें अत्युक्तिको भस्म करके शुद्ध सत्यको दिखलाती है। आज सब लोग इस बातमें बक्लके क़ायल हैं कि मनुष्यके समाज-संगठन, राजनीतिक व्यवस्था, उद्योग-व्यापार, जय-पराजय बिल्कुल तो नहीं पर बहुत कुछ भूगोलके अनुसार ही रूप धारण करते हैं। सब देशोंमें और सब समूहोंमें यह सिद्धान्त घटता है पर प्राचीन यूनानके लिए यह सबसे ज्यादा लागू है। आदिसे अन्त तक पग पगपर यूनानके इतिहासपर भूगोलका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ऐसा मालूम होता है कि प्रकृतिने सारी यूनानी राजनीतिका सांचा पहिलेसे ही तय्यार कर दिया था। अगर आप पूर्वी गोलार्द्धके नक़्शेको देखें तो एशिया, यूरोप और अफ्रीकासे लगभग पूरी तौरसे घिरा हुआ 'भूमध्यसागर' नामक समुद्र देख पड़ेगा। उसके पूर्वी भागके किनारोंपर जहां तीनों प्रायद्वीप मिलते हैं वह देश हैं जो आज कल यूनान, मिश्र और रूम (टर्की जिसमें एशिया माइनर या लघु एशिया शामिल है) कहलाते हैं। आज एशिया और यूरोप शब्दोंका प्रयोग करते करते हमारा ऐसा स्वभाव हो गया है कि हम यूनान और लघु एशियामें एक प्रायद्वीपका अन्तर समझते हैं। पर भूगोलकी दृष्टिमें यह बात नहीं ठहर सकती। एशिया माइनर (लघु एशिया) के पश्चिमी तटपर और यूनानके तटोंपर एक सी ही समुद्रकी लहरें टक्कर मारती हैं, एक सी ही हवा चलती है, एकसे ही बन्दरगाह हैं, एक सा ही निर्मल आकाश मनको लुभाता है, एकसा ही, न बहुत गर्म न बहुत सर्द, मौसिम शरीरका बल बढ़ाता है।

बक्लका सिद्धान्त।

---

* बक्लकृत "इंग्लैण्डकी सभ्यताका इतिहास"। History of civilisation in England.

कुस्तुन्तुनियाका विलुप्त गौरव।

अत्यन्त ह्रास हो जानेपर भी आज कुस्तुन्तुनियाका सुलतान दारे दानियालके दोनों ओर अपना झंडा फहराता है। बीसों विप्लव हो जानेपर आज भी यूनानका बादशाह स्मर्णा और निकटवर्ती प्रदेशपर दावा करता है। दो तीन सौ वर्ष पहिले तो यूनान ही नहीं किन्तु सारा बालकन प्रायद्वीप और सारा मिस्र एशियामाइनरकी तरह कुस्तुन्तुनियाके अधीन था। दो तीन हजार बरस पहिले तो राजनीतिक दृष्टिसे यह सब देश एक ही देश थे। वस्तुतः जब रोमन साम्राज्यके दो टुकड़े हो गये तब पूर्वी टुकड़ेमें वर्तमान यूनान, रोमानिया, बल्गेरिया, मिस्र, लघु एशिया, आर्मीनिया आदि सब ही पूर्व भूमध्यसागरवर्ती प्रदेश थे। अस्तु प्राचीन यूरोपीय इतिहासके जिज्ञासुओंको यह बात हृदयपर अंकित कर लेनी चाहिये कि तब दक्षिण पूर्व यूरोप और पश्चिम एशियामें कोई आज कलका सा भेद नहीं माना जाता था। यूनानके इतिहासमें एक प्रकारकी समता और अनोखापन है जिससे वह और इतिहासोंसे निराला मालूम होता है पर तो भी वह इस सारे प्रान्तके इतिहासका एक भाग मात्र है।

एशियासे यूनानका सभ्यता सीखना।

भौगोलिक स्थितिके कारण ही कोई पांच छ हजार या और भी ज्यादा बरस हुए मध्य एशियासे निकली हुई कुछ आर्यजातियां यूनानमें जा बसीं। भौगोलिक स्थितिके कारण ही इन जातियोंसे शीघ्र ही फिनिशिया, मिस्र और लिडियाके परम्परागत सभ्यता-क्षेत्रोंसे सम्पर्क हो गया। उस सम्पर्कके परिणाम यूरोपीय सभ्यतापर सदाके लिये अंकित हैं। पूर्व एशियासे यूरोपके गुरु यूनानने अच्छे जहाज बनाना सीखा, नापना, तोलना सीखा, और सबसे बड़ी बात यह थी कि लिखना पढ़ना सीखा।

यूनान और फारस।

आजकल हम जिस प्रदेशको मेसोपोटामिया (ईराक) कहते हैं उसके पूर्वमें फारस देश है। आज यह देश बड़ी शोचनीय दशामें है, यद्यपि वहां जागृतिके चिन्ह अब दिखायी पड़ने लगे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें उसकी कोई आवाज नहीं, कोई वजन नहीं। दूसरे लोग उसके भाग्यका निपटारा करनेको उद्यत रहते हैं। पर ढाई हजार बरस हुए फारसका झंडा भूमध्यसागरसे लेकर सिन्ध नदी तक फहराता था। लघु एशिया (एशिया माइनर) के तटवर्ती प्रदेशोंके लिये फारसने यूनानियोंसे दो सौ वर्ष संग्राम किया। दो बार फारसने विशाल फौजें यूनान जीतनेके लिये भेजीं। छोटेसे यूनानने ऐसी बहादुरी और हिम्मतसे स्वतन्त्रताकी रक्षा की जैसी केवल भारतके राजपूतोंके इतिहासमें ही मिलती है। फारस-यूनान समरने यूनानी प्रतिभाको ऐसा जागृत किया कि उसके चमत्कारोंसे आज भी संसार दातों तले उंगली दबाता है। उसी समरके कारण एथेन्सने एक राज्यसंघ बनाया और उस राज्यसंघको धीरे धीरे साम्राज्यका रूप दे दिया। उसी साम्राज्यवादने यूनानको उभाड़ दिया और एथेन्सका पतन हुआ।

यूनानके पश्चिमी प्रान्त। यह सब राजविप्लव और सभ्यताके चमत्कार यूनानके पूर्वी प्रान्तोंमें ही हुए क्योंकि वही प्रान्त एशियाके निकट है। पश्चिमी प्रान्त मानों पश्चिमकी ओर मुंह किये हुए हैं और पूर्वीय प्रान्त पूर्वकी ओर। अतएव पश्चिमी प्रदेशोंमें—इलिरिया, एकार्नेनिया, ऐटोलिया, लोक्रिस आदिमें—न व्यापारकी यथेष्ट उन्नति हुई, न सभ्यताका यथेष्ट प्रचार हुआ, न कोई

पिछड़ गये। धुरन्धर तत्त्वशास्त्री या राजनीति शास्त्री ही पैदा हुए और न कोई नाटककार या चित्रकार ही।

एक और कारण था जिससे पश्चिमी प्रान्त सैकड़ों वर्षके लिये पीछे रह गये। अल्बानिया और इलिरिया पहाड़ियों और चट्टानों, दर्रों और घाटियोंके समूहमात्र हैं। खेतीके लिये वहां काफी जमीन नहीं है, व्यापारके लिये अच्छे बन्दरगाह नहीं हैं, उद्योगके लिये सामान नहीं है। न वहां बड़े राज्य बन सकते थे और न बड़े नगर ही। पूर्वी प्रदेशोंकी परिस्थिति इससे कहीं अच्छी थी। वहां एक नहीं, बीसों ऐसे बन्दरगाह हैं जो संसारके किसी भी बन्दरका मुकाबिला कर सकते हैं। वहां भी पहाड़ियां हैं, घाटियां हैं पर बीचमें खेतीके लिये काफी उपजाऊ जमीन है, जानवरोंके चरानेको काफी बनस्पतियां हैं, धातुओंकी खानें हैं। मानों प्रकृतिने कुछ व्यवस्था ही ऐसी की थी कि जब पूर्वी प्रान्त उन्नतिके शिखरपर पहुंच जाय तब भी पश्चिमी प्रान्त जंगली बने रहें।

मकदूनिया और थ्रेस। पूर्वी प्रान्तोंमें भी सब एक से नहीं हैं। मकदूनिया (Macedonia) और थ्रेसका समुद्र-तट सुसभ्य यूनानका सा है पर आन्तरिक प्रदेश अंशतः इलिरियाके से हैं। वहां सभ्यता देरमें पहुंची, वहां सभ्यताकी अधिक उन्नति नहीं हुई। वहां दूसरे तरहकी राज्यव्यवस्था हुई जिससे यूनान और पश्चिम एशियाका इतिहास ही बदल गया।

थेसेली थेसेलीमें कुछ ऊंचे पहाड़ हैं पर बड़े चौड़े मैदान भी हैं। अतएव उसका इतिहास पश्चिमी और दक्षिणी प्रान्तों-दोनोंसे ही निराला है।

बीओशिया बीओशिया (Baeotia) की जमीन भी अच्छी नहीं कही जा सकती। एक ओर समुद्रके किनारे रहते हुए भी वह पहाड़ों, घाटियों और जंगलोंसे ऐसा घिरा है कि अलग प्रदेश सा हो गया है। उसकी घाटियोंमें पानी भरा रहता है और सड़ा करता है। पैदावार अच्छी होती है, बनस्पतियां खूब ही फलती फूलती हैं पर सील और कुहरेके मारे प्राकृतिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

ऐटिका बीओशियासे मिला हुआ ही ऐटिकाका प्रायद्वीप है पर उसकी भूमि और उसकी आबहवा अत्यन्त लुभावनी है। न वहां दलदल है न गन्दे पानीके तालाब हैं। जमीन पथरीली है पर ऊपर ऊपर मिट्टीकी तहें हैं जहां अच्छी पैदावार होती है। आकाश निर्मल रहता है, वायु शुद्ध रहती है, प्रकृतिकी छटा अनिर्वचनीय आनन्द देती है। पहाड़ियों और मैदानोंमें जीविका-उपार्जन करनेके लिये परिश्रम

करना पड़ता है। समुद्र तटके सुन्दर सुन्दर बन्दर व्यापारकी प्रेरणा करते हैं। व्यापार और खेती दोनोंमें ही मनुष्यको सारी शक्तियोंका प्रयोग करना पड़ता है। आलस्यके लिये वहां अवकाश नहीं, काम काजकी आदत सबको डालनी पड़ती है। इसी ऐटिकामें वह एथेन्स नगर है जिसके बराबर संसारके इतिहासपर अन्य किसी नगरका प्रभाव नहीं पड़ा।

पेलोपनीज़ कौरिन्थका बड़ा ही तंग डमरू ऐटिकाको पेलोपनीजके प्रायद्वीपसे मिलाता है। अगर यह छोटा सा डमरू समुद्रके भीतरसे न निकल आता तो पेलोपनीज एक टापू होता और यूनानका इतिहास बहुत कुछ बदल गया होता। पश्चिम तटसे आने वाले जहाज सहजमें ही ऐटिका पहुंच जाते, सारे प्रायद्वीपका चक्कर लगानेकी कोई जरूरत न रहती, सामुद्रिक सम्पर्क बढ़नेसे पश्चिम तटकी सभ्यता कुछ बढ़ जाती, सारे यूनानका उद्योग व्यापार बढ़ जाता। अगर यह डमरू न होता तो शायद कमसे कम प्रारंभमें स्पार्टाको ऐटिकाकी ओर और एथेन्सको पेलोपनीजकी ओर आधिपत्य फैलानेकी कोई प्रबल उत्कंठा न होती। अगर यह डमरू न होता तो पेलोपनीजके उत्तरी प्रान्त एकिया और ईलिस सुसभ्य राज्य होते और कौरिन्थ नगरका प्रभाव इतना न बढ़ता।

आयोनियन समुद्रके टापू। यूनान और एशिया माइनरको भूमध्यसागरका जो हिस्सा अलग करता है उसे आयोनियन सागर कहते हैं। वह टापुओंसे भरा हुआ है। कोई कोई टापू तो प्राचीन यूनानके राज्योंके बराबर हैं। जैसे ऐटिकाके पास यूबिया है, एशिया माइनरके पास लेसबास है; पर बहुतसे टापू नन्हे नन्हे हैं। एकके बाद एक वे सारे समुद्रमें फैले हुए हैं। मानो यूनान और एशिया-माइनरके बीच एक पुल बन गया है। जहाज चलानेमें बड़ी सहायता मिलती है। प्राचीन समयमें भाफसे तो जहाज चलते ही न थे, खेना होता था। भूमध्यसागरमें वैसे भयंकर तूफान नहीं आते जैसे अटलांटिक या हिन्द महासागरमें उठा करते हैं पर कभी कभी आंधी चलती है जो उस समयके छोटे छोटे जहाजोंको डगमगा कर गिरा सकती थी। टापुओंकी बहुतायतसे लाभ यह होता था कि खलासी तुरन्त ही किसी बन्दरमें शरण ले सकते थे।

टापूपुलका एक और महान परिणाम हुआ। बहुत जल्द ही यूनानी लोग टापुओं-पर पैर रखते हुए एशिया माइनरमें, जो भौगोलिक दृष्टिसे यूनानसे बिल्कुल मिलता जुलता है, जा पहुंचे और उपनिवेश बसाने लगे। एशिया माइनरके सारे किनारेपर ही नहीं किन्तु काले समुद्रके तटपर और पश्चिममें दक्षिण इटली और सिसिलीके किनारोंपर यूनानी बस्तियोंकी कतारें बंध गयीं। यहां तक कि अफ्रीकाके उत्तरी किनारेपर भी कई बस्तियां बनीं और फ्रान्सके दक्षिणमें भी मार्शिनिया नामक उपनिवेश स्थापित हुआ जो मार्सेल्सके नामसे आज भी यूरोपके प्रधान बन्दरोंमें गिना जाता है।

जैसे समुद्रके कारण बहुत से छोटे छोटे टापू बन गये हैं वैसे ही पहाड़ोंने

यूनानके छोटे छोटे भाग। यूनानकी जमीनको छोटे छोटे बहुतसे हिस्सोंमें बांट दिया है। अतः यूनान मण्डल छोटे छोटे भागोंका एक समूह हो गया है। प्रत्येक भाग या तो समुद्रके द्वारा या पहाड़ों और घाटियोंके द्वारा अन्य भागोंसे अलग हो गया है। आपसमें सम्पर्क तो होता ही है पर पार्थक्य भी स्पष्ट मालूम पड़ता है। प्राचीन समयमें रेल तार नहीं थे, पहाड़ोंको तोड़ कर सड़क बनानेकी ज्यादा सुविधा भी न थी। अतः प्रत्येक भागके निवासी बाहरके लोगोंसे मिलनेके अवसर कम पाते थे, बहुधा आपसमें ही मिलते जुलते थे, आपसमें ही उनका व्यवहार था, आपसमें ही उनका समाज था। मानों प्रत्येक छोटे भागमें एक प्रकारका व्यक्तित्व था, प्रत्येक भाग स्वतंत्रताकी अभिलाषा करता था, प्रत्येक भागकी प्रवृत्ति यही थी कि वह स्वतंत्र राज्य हो। सारे यूनानी संसारमें बीसों छोटे राज्य बन गये। प्राचीनकालमें यूनान कभी एक संयुक्त राष्ट्र नहीं हुआ, भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि वह हो ही नहीं सकता था। इस प्रकार 'नगर राज्यों' की उत्पत्ति हुई अर्थात् एक नगर और समीपवर्ती भूमिकी ही एक रियासत बन जाती थी। तो भी यूनानके सब निवासियोंमें ऐसा सादृश्य था, भाषा, धर्म, रीति-रिवाजकी ऐसी समता थी, पूर्व भूमध्य सागरवर्ती अन्य जातियोंसे ऐसी विषमता थी कि बहुधा प्रतापशाली नगर जैसे एथेन्स या स्पार्टा अपना प्रभुत्व फैलानेकी चेष्टा किया करते थे। यूनानी राजनीति क्षेत्रमें दो शक्तियां काम करती थीं—एक तो पृथक्करण शक्ति जो सब नगर राज्योंको स्वतंत्रता-रक्षणकी प्रेरणा करती थी, दूसरी एकत्रीकरण शक्ति जो बलशाली राज्योंको पड़ोसी राज्योंको हड़प जानेकी प्रेरणा करती थी। विशेष कर पेलोपनीज़ प्रायद्वीपमें स्पार्टा अपना दबदबा रखनेकी कोशिश करता था।

जलवायु इटली और यूनानकी सी आबहवा संसारके बहुत कम देशोंकी है। न तो स्काटलैण्ड और नार्वे स्वीडनकी सी सर्दी पड़ती है, न भारतवर्षकी सी गर्म लू चलती है। न तो साइबीरियाकी तरह भोजनका अभाव है और न चीनकी तरह ज़रा सी मिहनतसे बहुत सा भोजन प्राप्त होता है। वहां खेती होती है पर खेतीमें बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। व्यापार होता है पर व्यापारके लिये समुद्र पार करना पड़ता है। मनुष्यको अपनी सारी शक्तियोंसे काम लेना पड़ता है। जलवायु कठिन परिश्रमके लिये बाधक नहीं है। अस्तु, यूनान देशके रहने वाले सदासे ही बड़े परिश्रमी थे, सदासे ही दृढ़ हृदय वाले थे, सदासे ही संकट आपदाके अभ्यस्त थे। प्रकृतिने स्वच्छ आकाशके द्वारा, शान्त सुन्दर समुद्रके द्वारा, मनोहर पर्वत मालाके द्वारा, दन दानेदार समुद्रतटके अगणित बन्दरोंके द्वारा यह ऐलान कर रक्खा था कि यहांके निवासी सौन्दर्यप्रिय हों औ जमीनको काट छांट कर यह व्यवस्था करदी थी कि वह शक्तिशाली, और उन्नत हृदयके हों।

बेनीप्रसाद।

जर्मनीमें नवीन राज्य-प्रबन्ध ।

जर्मनीके राजनीतिक नाटकका प्रत्येक अंक महान् युद्ध और घोर अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनसे आरंभ हुआ है । गत शताब्दीके प्रारंभमें नेपोलियनने समस्त यूरोपको उथल पुथल करडाला था । पर उसके हस्तक्षेपका केवल यही परिणाम हुआ कि अनेक छोटी छोटी रियासतोंका विलोप होगया, जनतामें जातीय अभिमानका विकास होने लगा और संवत् १८७२ (१८१५) में जर्मनीकी बची हुई ३९ रियासतोंमें एक प्रकारका परस्पर संबन्ध स्थापित होगया । संवत् १९०५-०६ (१८४८-४९) के विप्लव- प्रवाहसे जर्मनीकी राजनीतिक व्यवस्थामें कोई प्रत्यक्ष परिवर्त्तन नहीं हुआ । तो भी फ्रांकफोर्टकी राष्ट्रीय जर्मन सभाने प्रशियाके शासकको सम्राट् बननेका निमन्त्रण देकर मानों जर्मनीके भावी एक्यका मार्ग निर्दिष्ट करदिया । संवत् १९२३ (१८६६) में प्रशिया और आस्ट्रियामें युद्ध हुआ । फलतः आस्ट्रियाको जर्मनीसे विलकुल हाथ धोना पड़ा और प्रशियाके सभापतित्त्वमें उत्तरीय जर्मन रियासतोंमें एक नया संयोग उत्तरीय जर्मन राष्ट्र-संघ (North German Confederation) के नामसे स्थापित होगया । संवत् १९२७ (१८७०) के फ्रांको जर्मन युद्धका जो नतीजा हुआ उससे सभी परिचित हैं । दक्षिणी रियासतें भी अब विजयी उत्तरीय जर्मन राष्ट्र-संघके साथ मिलगयीं और विस्मार्कका पुराना स्वप्न—जर्मन साम्राज्य—प्रत्यक्ष रूपसे पूर्ण होगया । संवत् १९७१ (१९१४) में इसी जर्मन साम्राज्यने समस्त यूरोपको युद्धका चैलेंज दिया था । पर युद्धकी आग बुझनेपर जब संसारको फिर जर्मनीकी राजनीतिक व्यवस्थापर दृष्टि डालनेका अवसर मिला तो नाटकका एक नया ही अंक आरंभ हो चुका था । साम्राज्य-की जगह राष्ट्र-तन्त्र दिखायी पड़ा और सम्राट्की जगह राष्ट्रपति । परिणाम कारणके अनुसार ही होता है । जिस प्रकार विगत महायुद्ध एक अद्वितीय घटना थी उसी प्रकार जर्मनीके राज्यप्रबन्धमें भी अद्वितीय परिवर्त्तन हुआ है ।

वास्तवमें जर्मनीके लिये उसके नवीन राज्यप्रबन्धको ही महायुद्धका स्थायी परिणाम समझना चाहिये । अन्य आर्थिक और सामाजिक समस्याएं विषम और जटिल होनेपर भी अस्थायी हैं । शेष संसारके लिये भी यदि जर्मनीमें "जंकर" राज्य भय और संशयका विषय था तो इस नये राज्य-प्रबन्धका भी कुछ न कुछ अर्थ अवश्य होगा । यदि जर्मन नौकरशाहीकी ऐश्वर्याकांक्षा गत महायुद्धका प्रधान कारण थी तो वहांके वर्तमान राज्यप्रबन्धपर भी यूरोपकी भावी अवस्था बहुत कुछ निर्भर रहेगी ।

वर्तमान जर्मन राज्य-प्रबन्धको भली भांति समझनेके लिये जर्मन साम्राज्यकी शासन-पद्धतिसे परिचित होना अत्यावश्यक है । अन्यथा हम उसके गुण-दोषोंका ठीक अन्दाजा नहीं कर सकते । कितनी घटनाएं ऐसी पायी जाती हैं जो अन्य देशोंके

राजनीतिक आदर्शोंके विरुद्ध दिखायी पड़ती हैं। कितनी ऐसी हैं जिनका और कहीं उदाहरण नहीं मिलता और अनेक ऐसी भी हैं जो जर्मन जातिके आन्तरिक भावोंका आभास मात्र हैं। इन सबको समझनेके लिये युद्धसे पूर्वके जर्मनीका अध्ययन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी देखना है कि पूर्व साम्राज्यकी अपेक्षा वर्त्तमान प्रजातन्त्र कहां तक विशेष जर्मन प्रकृतिके अनुसार है, क्योंकि इसी बातसे उसके स्थायित्वका कुछ अन्दाजा हो सकता है।

जर्मन साम्राज्यके विषयमें पहली बात यह स्मरण रखनी चाहिये कि वह इंग्लैण्ड और फ्रांसके समान ऐक्यमूलक* (Unitary) राज्य नहीं था। जर्मनीमें सदासे अनेक रियासतें अर्थात् उपराज्य रहे हैं। इनकी संख्या और परस्पर संबन्ध समय समय पर बदलता रहा है। संवत् १९२७ (१८७०) में उपराज्योंकी संख्या केवल २६ (?) रह गयी थी। इस समय जो परस्पर घनिष्ठ संयोग इनमें स्थापित हुआ और संवत् १९७५ (१९१८) के विप्लव तक जर्मन साम्राज्यके नामसे विद्यमान रहा उसीकी राजनीतिक व्यवस्थाको हमें यहां संक्षिप्त रूपसे देखना है।

अन्य संयुक्त राष्ट्रोंके समान जर्मन साम्राज्यमें शासनके दो प्रधान विभाग थे—केन्द्रीय और स्थानीय। पर इन दोनोंमें व्यवस्थापन कार्य† का विभाग अन्य संयुक्त राष्ट्रों (Federal Government) से विभिन्न था। यहां व्यवस्थापन-कार्यका अधिकांश सदा केन्द्रीय सरकारके हाथमें रहा है। पर शासन-कार्यमें केन्द्रीय सरकारका भाग बहुत कम था, क्योंकि प्रायः सबही केन्द्रीय कानूनोंका अनुष्ठान भिन्न भिन्न उपराष्ट्रों द्वारा होता था। यदि कोई उपराज्य किसी केन्द्रीय कानूनका अनुसरण न करे तो उसका उपाय केवल यही था कि बुन्देस्राथ (केन्द्रीय राज्यप्रतिनिधि-सभा) की आज्ञानुसार अन्य एक या अनेक उपराज्य मिलकर इस अपराधी उपराज्यका दमन करें। पर प्रशियाके

---

*शासन-पद्धतिके अनुसार संसारके समस्त राष्ट्रोंके दो विभाग समझे जाते हैं—ऐक्यमूलक और संयुक्त ऐक्यमूलक वे हैं जिनमें सब राज्यकार्य एक ही सरकारके हाथमें होता है। ऐसे देशोंमें जो प्रान्त या प्रदेश होते हैं वे हर बातमें केन्द्रीय सरकारके अधीन रहते हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस इत्यादि इसी प्रकारके राष्ट्र हैं। संयुक्त राष्ट्रोंके प्रान्त प्रायः उपराज्य कहलाते हैं। इनको अनेक स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त होते हैं जिनमें केन्द्रीय सरकार हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकारकी अधिकार-सीमा भी निर्दिष्ट कर दी जाती है। अमेरिका, कैनेडा, जर्मनी, आस्ट्रेलिया इत्यादि इसी प्रकारके राष्ट्र हैं।

†राज्यकार्यके दो विभाग होते हैं—एक कानून बनाना जिसको व्यवस्थापन-कार्य कह सकते हैं और दूसरा इन बने हुए कानूनोंकी पूर्त्ति या अनुष्ठान करना जो शासन-कार्य कहलाता है।

प्राधान्य, अद्वितीय वैभव और शक्तिके कारण इस उपायको काममें लानेकी कभी जरूरत नहीं पड़ती।

संयुक्त राष्ट्रोंमें उपराज्योंको प्रायः समान अधिकार प्राप्त होते हैं; पर जर्मनीमें ऐसा नहीं था। जर्मन उपराज्योंका सम्बन्ध, जैसा कि लावेलने कहा है, एक सिंह, कुछ लोमड़ी और अनेक चूहोंके समान था। बड़े उपराज्योंको सब प्रकारके विशेष अधिकार प्राप्त थे और इन सबमें प्रशियाकी जन-संख्या, वैभव और राजनीतिक प्रभाव इतना अधिक था कि जर्मन साम्राज्य केवल प्रशियाका विस्तृत रूप मात्र समझा जाता था। एक तो प्रशियाका राजा ही सदा जर्मन सम्राट् होता था, दूसरे राज्य-प्रबन्धमें परिवर्त्तन करनेवाले प्रस्तावोंका केवल १४ वोटोंसे निषेध हो सकता था। प्रशियाको बुन्देस्राथमें १७ वोट प्राप्त थे। इस कारण राज्यप्रबन्धमें कोई परिवर्त्तन उसकी संमतिके विना असंभव था इसके अतिरिक्त प्रशियाको सेना, नौसेना (Navy), आयात-निर्यात-कर (Customs), देशी मालपर शुल्क (Excise) इत्यादिके विषयमें विशेष अधिकार प्राप्त थे। प्रशियाको बुन्देस्राथमें निर्णायकारी वोट और स्थायी कमिटियोंके सभापतित्वका अधिकार भी दे दिया गया था। यह सब मानो प्रशियाके कानूनी अधिकार थे। इनके अतिरिक्त उसने अन्य कई उपराज्योंसे संधि और समझौता करके भी अपना प्रभाव बहुत बढ़ा लिया था। अन्य कई उपराज्योंको भी विशेष अधिकार प्राप्त थे। उदाहरणतः ब्रीमन और हैम्बर्ग स्वतन्त्र बन्दरगाह थे और इनके लिये शुल्क सम्बन्धी कानूनोंका अनुसरण आवश्यक नहीं था। पर बादको इन दोनोंने अपना यह विशेष अधिकार त्याग दिया था। बवेरिया, वर्टेम्बर्ग और बाडन ब्रांडी (brandy) और बीअर (beer) के विषयमें केन्द्रीय कानूनोंसे मुक्त थे। ऐसे अधिकारोंको स्थिर करनेके लिये यह निश्चित कर दिया गया था कि सम्बद्ध राज्योंकी अनुमतिके विना इसमें कोई तबदीली न की जावेगी।

उपर्युक्त वर्णनसे विदित होता है कि जर्मन साम्राज्य केवल संवत् १८७२ (१८१५) के जर्मन राष्ट्र संघका एक नया रूप था जिसमें प्रशियाके प्राधान्यमें भिन्न उपराज्योंको उनके विस्तार और जन-संख्याके अनुसार अधिकार प्राप्त थे और जिसमें केन्द्रीय सरकारकी व्यवस्थापक शक्ति पहलेकी अपेक्षा बहुत बढ़ी हुई थी। इस नये साम्राज्यकी प्रधान सभा अब भी वही पुरानी डाइट (Diet) थी जिसका नाम बुन्देस्राथ (Bundesrat) रखदिया गया था। संवत् १६२७ (१८७०) में सम्राट्का पद और बढ़ा दिया गया और जनताके प्रतिधिनियोंके लिये एक साधारण निर्वाचित सभा*

* आजकल प्रायः समस्त सभ्यदेशोंमें व्यवस्थापन-कार्यके लिये दो सभाएं रक्खी गयी हैं—एक साधारण जिसके सदस्य जनताकी ओरसे चुने जाते हैं और दूसरी उच्च जिसके सदस्य या तो सरकारकी ओरसे नियुक्त होते हैं या विभिन्न नियमके अनुसार और विभिन्न समयके लिये चुने जाते हैं। जर्मन राइस्टागको पहली श्रेणीमें समझना चाहिये क्योंकि इसमें जनताके प्रतिनिधि रहते थे और बुन्देस्राथको दूसरीमें क्योंकि इसके सदस्य उपराज्योंके शासकोंकी ओरसे नियुक्त किये जाते थे।

का निर्माण भी किया गया। इसका नाम राइस्टाग (Reichstag) रक्खा गया। राइस्टाग, बुन्देस्राथ और सम्राट् यही केन्द्रीय सरकारके तीन प्रधान अंग थे।

राइस्टागमें ३९७ सदस्य थे जो ५ वर्षके लिये चुने जाते थे। निर्वाचनमें वोट देनेका अधिकार २५ वर्षकी अवस्थावाले सब पुरुषोंको प्राप्त था। प्रत्येक सदस्य एक पृथक् जिलेसे चुना जाता था। प्रारम्भमें हर जिलेकी जन-संख्या एक लाख थी, पर धीरे धीरे व्यवसायी (Industrial) जिलोंकी जन-संख्या बढ़ती गयी और कृषि प्रधान (agricultural) जिलोंकी कम होती गयी। बर्लिनकी जनसंख्या लग भग २० लाख थी पर वहांसे केवल ६ सदस्य राइस्टागमें भेजे जाते थे। इस असमान विभागके सुधारनेकी सरकारको भी चिन्ता नहीं थी क्योंकि व्यवसायी जिलोंसे प्रायः साम्यवादी (socialists)* और अग्रवादी (Radicals)† चुने जाते थे और ये लोग राइस्टागमें जाकर सरकारी प्रस्तावोंका घोर विरोध करते थे। सदस्योंको वेतन बहुत कम मिलता था और चुनाव छुट्टीके दिन न करके ऐसे समय किया जाता था जब सब लोग अपने अपने काममें लगे होते थे।

राइस्टागके अधिकार देखनेमें बहुत विस्तृत जान पड़ते थे। समस्त कानून, सरकारी कर्ज, संधि, समझौते इत्यादि सबमें उसकी संमतिकी जरूरत थी। पर वास्तवमें उसका अधिकार बहुत कम था। बजट अवश्य हरसाल पास होता था पर बहुतसे राजस्व संबन्धी कानून स्थायी थे और बुन्देस्राथकी सम्मतिके विना उनमें कोई तबदीली न हो सकती थी। सेनाके लिये व्यय अवश्य राइस्टाग पास करती थी पर सैनिकोंकी संख्या एक अन्य कानूनके द्वारा निश्चित होती थी और यह एक साथ कई बरसोंके लिये पास होता था। एक और कारण राइस्टाग‡ की दुर्बलताका यह था कि उसके विसर्जनका अधिकार बुन्देस्राथको प्राप्त था और कैसरकी अनुमतिसे हर समय इसका इस्तेमाल हो सकता

---

*—साम्यवादी दलके लोग प्रायः हर जगह पाये जाते हैं। रूस और जर्मनीमें इनका जोर अधिक रहा है। ये चाहते हैं कि सब बातोंमें समानता रहे और किसी विशेष व्यक्ति या वर्गको विशेष अधिकार और शक्ति प्राप्त न हो। ये संपत्तिशाली वर्गका घोर विरोध करते हैं और उसके स्वार्थी आचरणको समस्त आर्थिक और सामाजिक कुप्रथाओंका प्रधान कारण बताते हैं।

†—अग्रवादी उन लोगोंको कहते हैं जो वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाका घोर विरोध करते हैं और उसे तुरन्त उथल पुथल करके अपने मतके अनुसार बनाना चाहते हैं।

‡—व्यवस्थापक सभाओंका चुनाव निर्दिष्ट समयके लिये होता है। यदि समयसे पहले ही किसी सभाका अन्त कर दिया जाय तो उसे विसर्जन (विघटन, डिस्सा-ल्यूशन) कहते हैं।

था। जब कभी अग्रवादियोंका विरोध हद्दसे बढ़ता था तो राइस्टागका तुरन्त विसर्जन करके नये निर्वाचनकी घोषणा करदी जाती थी।

बुन्देस्राथका महत्त्व और अधिकार राइस्टागसे हर बातमें अधिक था। इसमें ५८ मेम्बर थे जिनमें १७ प्रशियाके प्रतिनिधि थे और बाकी असमान रूपसे अन्य उपराज्योंमें विभक्त थे। इन १७ वोटोंके अतिरिक्त प्रशियाने अन्य उपराज्योंसे समझौता करके ३ वोट और ले लिये थे। इस प्रकार बुन्देस्राथमें उसके २० वोट थे और उसे केवल १० वोट और अपने पक्षमें करनेसे समस्त वोटोंका अधिकांश मिल सकता था। फलतः ऐसा बहुत कम हुआ है कि जिस प्रस्तावको प्रशियाने पेश किया वह बुन्देस्राथमें पास न हुआ हो। प्रशियाका यह प्राधान्य हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये क्योंकि यह आजकल नवीन जर्मनीमें भी प्रायः उसी तरह विद्यमान है।

व्यवस्थापन और शासन कार्य दोनोंमें बुन्देस्राथके अधिकार बहुत विस्तृत थे। हर कानूनके लिये उसकी संमतिकी जरूरत थी। केवल यही नहीं, प्रायः सभी कानूनोंके मसौदे बुन्देस्राथमें पास होकर पीछेसे राइस्टागमें भेजे जाते थे। वहां पास होनेके बाद फिर बुन्देस्राथके सामने पेश होते थे और यदि इस बार भी पास हो जायँ तो सम्राट्के द्वारा प्रकाशित कर दिये जाते थे। इस प्रकार व्यवस्थापन कार्यमें बुन्देस्राथहीका प्रधान भाग था। शासन विभाग (Executive department) में भी बुन्देस्राथको विशेष अधिकार प्राप्त था। आय और व्ययके सम्बन्धमें उसकी आज्ञा और अनुमति-पर बहुत कुछ निर्भर था। केन्द्रीय सरकारके अनेक अधिकारी उसीकी इच्छानुसार नियुक्त होते थे और अन्य देशोंकी उच्च सभाओंके समान इससे न्याय सभाका काम भी लिया जाता था।

अब कैसरका महत्त्व और अधिकार देखना चाहिये। प्रशियाके विशेष अधि-कारोंमें एक यह था कि उसका शासक ही सदा समस्त जर्मनीका सम्राट् या कैसर होता था। पर-राष्ट्रीय सब मामले कैसरके अधिकारमें थे अर्थात् उसीको संधि, युद्ध इत्यादि कर-नेका अधिकार था। केन्द्रीय कानूनोंका अनुष्ठान वही करता था। दोनों व्यवस्थापक सभाओंका समाह्वान और विसर्जन उसीकी आज्ञासे होता था। चांसलरको कैसर ही नियुक्त करता था। पर इन सब बातोंमें कैसर बुन्देस्राथका प्रतिनिधि मात्र था और क्योंकि स्वयं बुन्देस्राथकी शासनशक्ति अधिक न थी इसलिये कैसरकी शक्ति भी जितनी दिखायी पड़ती है वास्तवमें उतनी नहीं थी। पर प्रशियाके शासककी हैसियतसे कैसर अपने १७ प्रतिनिधियों द्वारा बुन्देस्राथको जिधर चाहे चला सकता था।

जर्मनीमें इंग्लैण्ड और फ्रांसके समान कोई मन्त्रि-परिषद् नहीं थी। केन्द्रीय सरकारका केवल एक ही प्रधान मन्त्री था जो चांसलर कहलाता था। अन्य सब मन्त्री उसके अधीन होते थे। चांसलरको कैसर नियुक्त करता था और केवल कैसरहीको आज्ञा देने वा उत्तर मांगनेका अधिकार प्राप्त था। यदि राइस्टागमें सरकारके विरुद्ध

कोई प्रस्ताव पास हो जाय तो चांसलरको इस्तीफा देना आवश्यक नहीं था, अर्थात् जर्मनीमें पार्लमेंटरी प्रथा* प्रचलित नहीं थी। बुन्देस्राथमें जो प्रशियाके प्रतिनिधि होते थेउनका प्रधान भी प्रायः चांसलर ही होता था और इस हैसियतसे वह व्यवस्थापन कार्यकी रोक-थाम भली भांतिकर सकता था। चांसलरके पदका महत्त्व और प्राधान्य बहुत कुछ उसके जन्मदाता बिस्मार्ककी व्यक्तिगत प्रवृत्तियोंका नतीजा था।

उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णनसे पुराने जर्मन साम्राज्यका यथोचित ज्ञान संभव नहीं तो भी इससे स्मरण योग्य पांच बातें स्पष्ट होती हैं (१) भिन्न भिन्न उपराज्योंमें अधिकारोंका असमान विभाग। (२) प्रशियाका प्राधान्य। (३) निर्वाचित सभा अर्थात राइस्टागकी दुर्बलता। (४) बुन्देस्राथके द्वारा फौजी और जमींदारी वर्गका प्राधान्य (५) श्रमजीवी और साम्यवादी वर्गोंकी वर्द्धमान संख्यापर राज्यप्रबन्धके विशेष नियमोंके कारण उनकी राजनीतिक दुर्बलता। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर हम संवत् १९७५ (१९१८) के विप्लवका अर्थ अच्छी तरह समझ सकेंगे।

यूरोपीय महायुद्धकी चेतनाके बिना जर्मनीके राज्यप्रबन्धमें एक दम ऐसा घोर परिवर्त्तन होना संभव था या नहीं इस बातका इस समय अन्दाजा लगाना बहुत कठिन है। पर जिस सरलतासे यह विप्लव आरंभ और समाप्त हुआ उससे यह जरूर मालूम होता है कि जनता इस परिवर्त्तनके लिये तैयार थी। साम्यवादियोंका जोर जर्मनीमें खूब बढ़ गया था और इन लोगोंने तत्कालीन प्रथाके दोषोंसे सबको अच्छी तरह परिचित कर दिया था। इसी कारण जब कैसर विल्हमके पदत्यागके पश्चात् नया प्रबन्ध स्थापित हुआ तो जिन लोगोंने विप्लवमें भाग नहीं लिया था उन्होंने भी नयी पद्धतिको होनहार समझ कर स्वीकार कर लिया। यदि युद्धमें आशानुसार तुरन्त और सरल विजय प्राप्त हो गयी होती तो संभव था कि विप्लव कुछ समयके लिये मुलतबी हो जाता पर वहां तो उलटा पराजयोंका अशेष सिलसिला आरंभ हो चुका था। इसके अतिरिक्त मित्रराष्ट्र इस बातपर तुले हुए थे कि "संसारको जनसत्ताके लिये सुरक्षित बनायें"। इस कारण जनसत्ता स्थापित करके ही जर्मनीको संधिमें कुछ रियायत या नर्मीकी आशा हो सकती

---

*साधारण व्यवस्थापक सभाका शासन विभाग अर्थात् मन्त्रि दलके-साथ दो प्रकारका संबन्ध हो सकता है। या तो मन्त्री व्यवस्थापक सभाके बिलकुल अधीन होते हैं। जब कभी सरकारी दलके विरुद्ध कोई प्रस्ताव पास हो जाता है तो उन्हें पद-त्याग करना पड़ता है। इसीको पार्लमेंटरी प्रथा (Parliamentary System) कहते हैं। यह इंग्लैण्ड, फ्रांस और वर्त्तमान जर्मनीमें प्रचलित है। दूसरा संबन्ध यह हो सकता है कि मन्त्री बिलकुल स्वतन्त्र हों और व्यवस्थापक सभाके विरुद्ध भी अपने पदपर बने रहें। इसको प्रेसिडेंशल प्रथा (Presidential System) कहते हैं। यह आजकल विशेषतः अमेरिकामें प्रचलित है और संवत् १९७५ (१९१८) के विप्लवसे पहले जर्मनीमें भी प्रचलित थी।

थी। पर इन बातोंसे बढ़कर यह थी कि संसारने जनसत्ताको अच्छी तरह आजमा लिया था और निरंकुशताका समय निकल चुका था।

२३ कार्तिक संवत् १९७५ (९ नवम्बर १९१८) को कैसरके प्रस्थानके बाद राष्ट्रीय शासनका भार प्रजाके प्रतिनिधियोंकी सभाने अपने सिरपर लिया। उप-राज्योंके मौरूसी शासकोंने हवा बदली देखकर, किसीने अपनी इच्छासे किसीने प्रजाके दबावसे, अपने अपने पद त्याग कर दिये। केन्द्रीय पार्लमेंटकी अन्त्येष्टिक्रिया कर दी गयी और नवीन राष्ट्रीय सभाके चुनावका प्रबन्ध किया गया। संवत् १९७५ के माघवाले (जनवरी १९१९) निर्वाचनमें २० वर्षसे अधिक अवस्थावाले सब स्त्री-पुरुषोंके वोट लिये गये। मेम्बरोंकी कुल संख्या ४२३ थी जिनमें १५६ साम्यवादी दलके अनुयायी थे।

नवीन राज्यप्रबन्ध संवत् १९७६ के १५ श्रावण (३१ जुलाई) को पास होकर ३१ श्रावण (११ अगस्त १९१९) को प्रकाशित किया गया। यह शासन-विधान पत्र (Constitution) बड़े विस्तारसे लिखा गया है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, शिक्षा सम्बन्धी सब ही विषयोंमें कुछ सामान्य नियम या उसूल इसमें पाये जाते हैं। पर कुछ उसूलोंसे विशेषतः इस बातका पता चलता है कि नया विधानपत्र पुरानी पद्धतिके दोषोंको ध्यानमें रखकर तैयार किया गया है। उदाहरणार्थ राज्यके समस्त अधिकार प्रजासे उद्भूत हैं। कानूनकी दृष्टिमें जर्मनीके सब निवासी बराबर हैं। किसीको खिताब, उपाधि देकर विशेष आदर सम्मानका पात्र न बनाया जायगा। छोटी छोटी धार्मिक संस्थाओंको अपने धर्मके अनुसार सरकारी स्कूल स्थापित करानेका अधिकार होगा। सरकारकी ओरसे बड़े कुटुम्बोंकी सहायता की जायगी। उच्च शिक्षा पानेका अधि-कार केवल योग्यताके अनुसार होना चाहिये। जिन मजदूरोंको कहीं काम न मिलता हो उनको सरकारकी ओरसे काम दिया जायगा। मालिकोंको मावजा देकर व्यवसाय सर-कारी बनाये जा सकेंगे—इत्यादि। इनमेंसे हरएक उसूलकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की गयी है और हर एकके तहतमें बहुतसे नियम दिये गये हैं।

व्यवस्थापक सभा अब भी दो रहेंगी—राइस्टाग और राइस्राथ। राइस्टागमें पहलेके समान जनताके प्रतिनिधि रहेंगे। निर्वाचन हर चौथे वर्ष किया जायगा। वोट देनेका अधिकार २० वर्षसे अधिक अवस्थावाले सब स्त्री–पुरुषोंको प्राप्त होगा। मेम्ब-रोंका चुनाव छुट्टीके दिन किया जायगा जिसमें कामकाजी लोगोंको भी वोट देनेका अवसर मिलसके। मेम्बरोंको वेतन भी यथोचित दिया जायगा और इस प्रकार अमीर गरीब हर व्यक्तिके लिये देश सेवाका मार्ग खुल जायगा। राइस्टागको शासन विभाग (एग्ज़ीक्यूटिव) पर भी पूरा अधिकार दिया जायगा। राष्ट्रपति केवल उन्हीं लोगोंको मन्त्रि-परिषद्में स्थान दे सकेगा जिनपर राइस्टागका पूरा विश्वास होगा। यदि कोई महत्त्वपूर्ण कानून शासन विभागके विरुद्ध निर्णीत हो तो मन्त्रियोंको इस्तेफा देना पड़ेगा।

राइस्राथमें बुन्देस्राथके समान भिन्न भिन्न उपराज्योंके प्रतिनिधि रहेंगे। पर

प्रशियाके मेम्बरोंकी संख्या अब कम कर दी गयी है। इसके अतिरिक्त प्रशिया अब १२ प्रान्तोंमें विभक्त है। राइस्राथमें प्रशियाके जितने प्रतिनिधि होंगे उनमेंसे आधे इन प्रान्तोंकी ओरसे चुने जायंगे और आधे प्रशियाकी स्थानीय सरकारकी ओरसे। इससे प्रशियाका प्रभाव पहलेकी अपेक्षा बहुत कम हो जायगा। व्यवस्थापन कार्यमें राइस्राथका अधिकार राइस्टागकी अपेक्षा बहुत कम रहेगा। यद्यपि हर कानूनके लिये राइस्टागमें पेश होनेसे पहले राइस्राथकी मंजूरी आवश्यक है तथापि राइस्राथको अब निषेधका अधिकार न रहेगा। यदि राइस्टागमें कोई कानून पास हो जाय और राइस्राथ उसे पास न करे एवं फिर राइस्टाग राइस्राथके इस निर्णयसे सहमत न होकर दूसरी बार यह कानून ⅔ वोटोंके साथ पास कर दे तो अन्तिम निर्णय केवल जनसंमति* के द्वारा किया जायगा।

राष्ट्रपति सातवर्षके लिये चुना जायगा और उसके निर्वाचनमें समस्त जनताको वोट देनेका अधिकार होगा। एक ही व्यक्ति दो बार राष्ट्रपति न हो सकेगा। यदि राष्ट्रपति अपने पदका दुरुपयोग करे तो वह राइस्टागके प्रस्तावपर अपने पदसे हटाया जा सकेगा। फ्रेंच पद्धतिके समान राष्ट्रपति नाममात्रको ही शासन विभागका प्रधान होगा। वास्तवमें शासन-कार्य चांसलरके हाथमें रहेगा। चांसलरकी सहायताके लिये अन्य मन्त्री आवश्यकतानुसार

---

* जनसत्ताका उद्देश्य राज्यकार्यको जनताके अधीन बनाना है। इसके लिये पहले यही यथेष्ट समझा जाता था कि व्यवस्थापक सभाके सदस्य जनताकी ओरसे चुने जायँ। पर सदस्य सदा अपने निर्वाचकोंकी सम्मपतिपर नहीं चलते। इसके अतिरिक्त उनका चुनाव एक साथ कई वर्षके लिये होता है। इसके बीचमें यदि कोई महत्त्व पूर्ण प्रश्न उठे तो निर्वाचकोको अपनी राय प्रकट करनेका कोई उपाय नहीं था। इसी कमीको पूरा करनेके लिये आजकल तीन उपाय निकाले गये हैं। जनसंमति (Referendum), प्रारंभन (Initiative) और प्रत्यावर्त्तन (Recall) जनसंमतिका अर्थ यह है कि प्रार्थना करनेपर या बिना ही प्रार्थनाके, कुछ विशेष कानून पास होनेसे पहले वोटरों (मतदाताओं) की अनुमतिके लिये प्रकाशित किये जाते हैं। सब वोटरोंके पास कानूनकी छपी हुई प्रतियां भेज दी जाती हैं और निर्दिष्ट समय और स्थानपर वोट द्वारा वे अपनी राय प्रकट करदेते हैं कि हमें यह कानून पसन्द है या नहीं। प्रारम्भनसे वोटरोंकी एक निर्दिष्ट संख्याको व्यवस्थापकके सामने नये कानूनोंके मसौदे पेश करनेका अधिकार दिया जाता है। इनपर विचार करना व्यवस्थापक सभाका कर्त्तव्य है। यदि व्यवस्थापक सभा उचित समझे तो मसौदेको फिर जनताके पास भेज सकती है। अन्तमें जनताकी संमतिके अनुसार ही कानूनका बनना आवश्यक है। प्रत्यावर्त्तनके द्वारा वोटरोंको अधिकार दिया जाता है कि यदि उनमेंसे कुछ फी सैकड़ा प्रार्थना करें तो ऐसे राज्यकर्मचारियोंको या व्यवस्थापक सभाको अथवा व्यवस्थापकके सदस्योंको जो अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं करते उनके पदसे हटा दिया जायगा। ये तीनों उपाय अमेरिका, स्विटजरलैंड और अन्य कई जनसत्तात्मक देशोंमें प्रचलित हैं।

नियुक्त किये जायंगे, और ये सेना, राजस्व, शिक्षा इत्यादि शासन विभागोंके प्रधान अफसर भी रहेंगे। मन्त्रियोंका चुनाव राष्ट्रपतिके हाथमें रहेगा, पर वे अपने पदपर उसी समय तक रह सकेंगे जब तक कि राइस्टागमें वोटोंका अधिकांश उनके पक्षमें रहेगा।

जनसंमति,* प्रारम्भन* और प्रत्यावर्त्तन* का प्रबन्ध भी नये विधानमें रक्खा गया है। प्रत्यावर्त्तनका इस्तेमाल राष्ट्रपतिके विषयमें ऊपर बताया जाचुका है। राइस्टाग और राइस्राथमें मतभेद होनेपर जनसंमतिका प्रयोग आवश्यक रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त यदि १०फी सैकड़ा वोटर प्रार्थना करें तो राजस्व सम्बन्धी कानूनोंको छोड़कर हर कानूनपर जनसंमति द्वारा जनताको अपनी अनुमति प्रकट करनेका अवसर दिया जायगा। प्रारम्भनके लिये यह नियम रक्खा गया है कि यदि १०फी सैकड़ा वोटर किसी बिलका मसौदा पेश करें तो वह बिना कांट-छांट राइस्टागमें पास होनेपर क़ानून समझा जायगा।

आधुनिक राजनीतिक दृष्टिसे जर्मन जाति अपना राज्य-प्रबन्ध सुधारनेमें कहां तक सफल हुई है, इसका उचित उत्तर देना अभी कठिन है। आजकल सामान्यतः जनसत्ताके चार विशेष चिन्ह समझे जाते हैं : (१) वोटका अधिकार प्रायः हर योग्य व्यक्तिको प्राप्त हो और उसके विभागमें किसी विशेष व्यक्ति या वर्गके साथ किसी दूसरे व्यक्ति या वर्गकी अपेक्षा रियायत न की गयी हो। (२) व्यवस्थापन और कर (टैक्सेशन) के ऊपर निर्वाचित सभाका पूरा अधिकार हो। (३) शासन विभाग निर्वाचित सभाके अधीन हो। (४) दूसरी अनिर्वाचित सभाके रहते हुए यदि दोनों सभाओंमें मतभेद हो तो कोई उपाय ऐसा रहना चाहिये जिससे प्रजाके पक्षका समर्थन होसके। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं इनमेंसे प्रत्येक लक्षण जर्मनीके नवीन राज्य प्रबन्धमें मौजूद है। यदि इसी व्याख्याके अनुसार देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि जर्मनी वास्तवमें जनसत्ता स्थापित करनेमें सफल हुआ है।

पर सौभाग्यवश किसी राजनीतिक संस्थाका वास्तविक मूल्य उसके नाम और बाहरी आकार पर निर्भर नहीं होता। निरंकुशतामें जनसत्ताके सारे गुण होने संभव हैं। और कोई जनसत्तात्मक राष्ट्र बिस्मार्कीय आदर्श सामने रखकर उन्नति करना चाहे तो उसमें और निरंकुशता (आटोक्रैसी) में बहुत कम अंतर रह जायगा। असल देखनेकी चीज जनता और प्रभावशाली वर्गोंका राष्ट्रीय भाव है। हर्षकी बात है कि जर्मन जातिका राष्ट्रीय भाव भी उसके राज्य-प्रबन्धके साथ साथ बदला हुआ दिखायी पड़ता है। अबके और युद्धसे पहलेके जर्मनीमें बड़ा अन्तर हो गया है। "जंकर" महाप्रभुओंका राज्य उठ गया। अब वे सड़कों पर एँडते अकड़ते और नेत्रोंसे अग्निमय बाणोंकी वर्षा करते हुए दिखायी नहीं पड़ते। कहा जाता है कि अब क्रिसमस आदि त्यौहारोंपर लोगोंने अपने बच्चोंके लिये टीनके सिपाहीभी खरीदना बन्द कर दिया है। वास्तवमें यहां जर्मनी-

---

*—पिछला नोट देखिये।

की व्यावहारिक प्रवृत्तिने बड़ा काम दिया है। वे इस कठिन अवस्थामेंभी स्वाभाविक उत्साह और दृढ़ताके साथ आत्मोद्धार और देश सेवामें लगे हुए हैं। जान पड़ता है वे अब सैनिक विजयोंका विचार छोड़कर आर्थिक और व्यापारिक विजयों पर तुले हुए हैं।

जर्मनी युद्धके धक्केसे अभी तक नहीं संभला है। वहां तथा अन्य देशोंमें आजकल असाधारण स्थिति प्रचलित है। इससे भविष्यके लिये कोई नतीजा निकालना व्यर्थ होगा। तोभी इतना अवश्य कह सकते हैं कि यदि यूरोपके स्वार्थी देशों विशेष कर फ्रांसने जर्मनीका बिलकुल ही गला न घोंट दिया तो वह शीघ्र ही संसारके जन-सत्तात्मक राष्ट्रोंमें अपना योग्य स्थान प्राप्त कर लेगा।

रघुकुल तिलक

मूल्य ।

संसारमें सभी प्राणियोंको अपने जीवनयापनके निमित्त कुछ न कुछ वस्तुओं-की आवश्यकता पड़ती है । शुरू शुरूमें मनुष्य अपनी आवश्यकताओं-की पूर्त्ति प्रकृतिसे प्राप्त वस्तुओं द्वारा ही कर लेता है, किन्तु सभ्यताके विकासके साथ ही मनुष्यकी आवश्यकताएं भी बढ़ने लगती हैं । इन बढ़ती हुई आवश्यकताओंकी संतुष्टिके लिए वस्तुओंकी संख्या भी बढ़ने लगती है एक समय आता है जब प्रत्येक व्यक्ति अथवा कुटुम्ब अपनी सभी आवश्यकता-ओंको संतुष्ट करनेवाली सभी वस्तुओंको स्वयं संग्रह अथवा उत्पन्न नहीं कर सकता । एक व्यक्ति अथवा कुटुम्बको दूसरे व्यक्ति या कुटुम्बोंकी सहायताकी जरूरत पड़ती है । इस पारस्परिक सहायताके बिना बड़ी कठिनता होने लगती है । इसको दूर करनेके लिए एक व्यक्ति या कुटुम्ब दूसरे व्यक्ति या कुटुम्बसे अपने पासकी कोई वस्तु देकर अपनी आवश्य-कताकी किसी एक वस्तुको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है । इस प्रकार मानव-समाजमें एक नवीन पद्धति चल जाती है । मनुष्य विनिमय द्वारा आवश्यक वस्तुओंको प्राप्त करने लगते हैं ।

विनिमय केवल उन्हीं वस्तुओंका होता है जिनका कुछ मूल्य होता है । स्वेच्छा-पूर्ण शान्तिमय विनिमय द्वारा जो वस्तु अन्य वस्तुओंको प्राप्त करा सकेगी वही मूल्यवान् होगी । स्वेच्छापूर्ण शान्तिमय विनिमय द्वारा वस्तु प्राप्त करनेकी शक्ति ही मूल्य है ।

जिस वस्तुकी आवश्यकता पड़ती है उसीका मूल्य होता है । दूसरे शब्दोंमें यह कहना उचित होगा कि मूल्यके लिए उपयोगिता आवश्यक है , जो वस्तु उपयोगी न होगी उसका मूल्य भी न होगा । मूल्य तभी होगा जब उपयोगिता होगी । किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि केवल उपयोगिता होनेसे ही मूल्य नहीं हो सकता । वायु हमारे जीवनके लिए सबसे अधिक आवश्यक है ! विना वायुके हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते । किन्तु वायुका कुछ भी (आर्थिक) मूल्य नहीं है । वह बेंची नहीं जा सकती । उसके बदलेमें अन्य वस्तुएं स्वेच्छापूर्ण शान्तिमय विनिमय द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकतीं । यह क्यों ?

वायु उपयोगी तो है किन्तु वह इतने प्रचुर परिमाणमें अनायास ही प्राप्त हो सकती है कि किसीको उसे प्राप्त करनेके लिए अन्य किसीसे भी प्रतिस्पर्धा नहीं करनी पड़ती । सबकी आवश्यकताएँ पूर्णरूपसे संतुष्ट हो जानेपर भी वायु वैसेही प्रचुर परि-माणमें उपलब्ध रहती है । इसके विपरीत भोजनके पदार्थ उपयोगी हैं किन्तु वे वायुकी भांति इतने प्रचुर परिमाणमें नहीं मिलते कि उनके लिए किसीको अन्यसे प्रतिस्पर्धा न करनी पड़े । सबकी आवश्यकताकी पूर्णरूपसे तुष्टि करनेपर भी वे वायुकी तरह प्रचुर परि-

मात्रामें बचे नहीं रहते। उनका मूल्य है। वे बेंचे जाते हैं। उनके बदलेमें स्वेच्छा-पूर्ण शान्तिमय विनिमय द्वारा अन्य आवश्यक वस्तुएं प्राप्त की जा सकती हैं। प्रायः देखा जाता है कि किसी स्थान या समय विशेषमें किसी वस्तु विशेषका कुछ भी मूल्य नहीं होता, जब कि उसी वस्तुका अन्य स्थान अथवा अन्य समयमें मूल्य हुआ करता है। इसका कारण उक्त वस्तुका बाहुल्य ही हुआ करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल्यके लिए उपयोगिता तथा अप्रचुरता (या दुर्लभता) ये ही दोनों गुण नितान्त वाञ्छनीय हैं। इन दोनोंके अभावमें मूलयका भी अभाव होगा।

कोई वस्तु अल्प होकर भी दुर्लभ न हो, यह संभव है। इसका कारण यही होगा कि उस वस्तुकी जितने परिमाणकी आवश्यकता हो वह उतनेसे ज्यादा प्राप्य हो, अर्थात् सबकी आवश्यकताओंको पूर्णरूपसे संतुष्ट करनेपर भी वह वस्तु बची रहे और हरएक व्यक्तिको विना प्रयास ही पर्याप्त परिमाणमें विना प्रतिस्पर्धाके ही प्राप्त हो जाय। ऐसी दशामें उक्त वस्तुका मूल्य न होगा क्योंकि उपयोगी तथा अल्प होनेपर भी वह दुर्लभ नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कोई वस्तु दुर्लभ तभी होगी जब वह उपयोगी होनेके साथ ही परिमाणमें केवल उतनी ही हो जिससे सबकी आवश्यकताएं पूर्णरूपेण संतुष्ट न हो सकें।

मूल्य केवल उपयोगिता और दुर्लभतापर ही अवलम्बित है। इन दोनोंके न्यूनाधिक होनेसे मूल्यकी मात्रा भी न्यूनाधिक होगी। यदि किसी वस्तुकी उपयोगिता उतनी ही रहे किन्तु उसके परिमाणमें कुछ वृद्धि हो जाय अर्थात् वह पहिलेसे कुछ सुलभ या कम दुर्लभ हो जाय तो उसका मूल्य कम हो जायगा। इसके विपरीत उपयोगिता पूर्ववत् रहनेपर यदि किसी कारणसे दुर्लभता बढ़ जाय तो मूल्य भी बढ़ जायगा। इसी प्रकार यदि वह पूर्ववत् दुर्लभ ही रहे किन्तु कारण वशात् उसकी उपयोगिता बढ़ जाय तो मूल्य बढ़ जायगा और यदि उपयोगिता न्यून हो जाय तो मूल्य घट जायगा।

किसी वस्तुका मूल्य है, इसका यह आशय है कि उक्त वस्तु अपने स्वामीके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियोंद्वारा भी आवश्यक समझी जाती है और स्वेच्छापूर्ण शान्तिमय विनिमयमें ये व्यक्ति उस वस्तुके स्वामीको अन्य उपयोगी एवं दुर्लभ वस्तुएं देनेको तैयार हैं। किसी वस्तुका मूल्य कम या ज्यादा है इसका अर्थ यह है कि अन्य वस्तुओंके मुकाबलेमें वह कम या ज्यादा उपयोगी एवं दुर्लभ समझी जाती है और स्वेच्छापूर्ण शान्तिमय विनिमयमें उसके निमित्त वे अन्य वस्तुएं कम या ज्यादा दी जा सकेंगी।

हम ऊपर कह चुके हैं कि मूल्य उपयोगिता तथा दुर्लभतापर निर्भर है। उपयोगिता आवश्यकताको संतुष्ट करनेकी शक्ति है। किसी वस्तुका मूल्य तभी होगा जब लोग उसे अपनी आवश्यकताको संतुष्ट करने योग्य समझेंगे तथा वह सबकी आवश्यकताको पूर्णरूपसे संतुष्ट करनेके लिए पर्याप्त परिमाणमें प्राप्त न हो सकेगी। किन्तु कोई भी आवश्यकता सदा ही एक ही मात्रामें नहीं बनी रहती। जैसे २ उसकी संतुष्टि होती जायगी वैसे ही वैसे उसकी मात्रा कम होती जायगी और यदि यही क्रम जारी रक्खा

गया तो उक्त आवश्यकताकी पूर्णरूपसे संतुष्टि हो जायगी अर्थात् कुछ समयके लिए वह आवश्यकता दूर हो जायगी। कोई व्यक्ति कितना ही भूखा क्यों न हो, उसे भोजनकी कितनी ही अधिक आवश्यकता क्यों न हो, यदि वह भोजन करता जायगा तो जैसे २ उसके पेटमें भोजन पहुंचता जायगा, वैसे ही वैसे उसकी क्षुधा दूर होती जायगी और भोजनका यही क्रम यदि जारी रक्खा गया तो एक समय आयगा जब उस समयके लिए भोजनकी तो कोई आवश्यकता प्रतीत न होगी, उसकी क्षुधा शान्त हो जायगी। इस समयके लिए भोजन उसके लिए उपयोगी न रह जायगा, क्योंकि अब उसे भोजनकी आवश्यकता ही न रह गयी। अब कमसे कम उस समयके लिए तो भोजनका उसकी दृष्टिमें मूल्य न रह गया, क्योंकि जब उसे (उस समयके लिए) उसकी आवश्यकता नहीं तो वह उसके बदलेमें अन्य आवश्यक वस्तुएं क्यों देने लगा। इससे यह निष्कर्ष निकला कि आवश्यकताकी संतुष्टि होनेपर किसी समयविशेषमें किसी व्यक्तिविशेषकी दृष्टिमें किसी वस्तुविशेषका मूल्य न रह जायगा, क्योंकि उस समयके लिए उक्त वस्तु उसके लिए उपयोगी न रहेगी। आवश्यकताकी संतुष्टिकी मात्रा जितनी ही कम-ज्यादा होगी, वस्तुका उपयोग भी उसी हिसाबसे ज्यादा या कम होगा। उपयोगिताकी मात्रा जैसे २ कम होती जायगी मूल्य भी वैसे ही वैसे घटता जायगा क्योंकि वह व्यक्ति विनिमयमें अन्य उपयोगी एवं दुर्लभ वस्तुओंकी मात्रा भी उसी हिसाबसे कम करता जायगा और अन्तमें पूर्ण संतुष्ट हो जानेपर मूल्य उस समयके लिए बिलकुल न रह जायगा यानी वह व्यक्ति विनिमयमें अन्य वस्तुएं देना एकदम बन्द कर देगा। इसके विपरीत कुछ समयके बाद जब संतोषकी मात्रा धीरे २ घटने लगेगी तो उपयोगिता बढ़ने लगेगी। अतः विनिमयमें अन्य वस्तुएं उसी हिसाबसे अधिकाधिक परिमाणमें दी जाने लगेंगी और मूल्य बढ़ता जायगा। अन्तमें संतोषका पूर्ण अभाव होनेपर विनिमयमें अन्य वस्तुएं अधिकसे अधिक परिमाणमें दी जा सकेंगी फलतः मूल्य अपने पूर्णरूपमें होगा। इससे यह परिणाम निकला कि आवश्यकता न्यूनाधिक होनेपर मूल्य न्यूनाधिक होता रहता है। ऊपरके उदाहरणोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जो वस्तु कम मात्राकी आवश्यकताको कम मात्रामें संतुष्ट करती है उसका मूल्य कम होगा और जो अधिक मात्राकी आवश्यकताको अथवा किसी आवश्यकताको अधिक मात्रामें संतोष देती है उसका मूल्य अधिक होगा। इसका कारण यही है कि उक्त वस्तुके मुकाबलेमें अन्य वस्तुएं कम या अधिक दी जायंगी।

प्रत्येक व्यक्तिकी किसी एक वस्तुविशेष विषयक आवश्यकताकी मात्रा समान नहीं होती। कुछ व्यक्तियोंको संभव है उक्त वस्तुकी आवश्यकता बिलकुल ही न पड़े। जिन्हें आवश्यकता होगी भी उनमेंसे कोई अधिक आवश्यकता अनुभव करेगा, कोई कम। अब यदि उक्त वस्तुकी पूर्ति या उसका परिमाण परिमित हुआ तो उन्हींको प्राप्त हो सकेगी जिन्हें उसकी आवश्यकता अधिक प्रतीत होगी क्योंकि विनिमयमें ये ही अन्य वस्तुएं सबसे अधिक परिमाणमें देनेको तयार होंगे। यदि किसी कारणसे पूर्ति (परिमाण) में वृद्धि हो

तो मूल्य घट जायगा क्योंकि बढ़ी हुई मात्राको खरीदनेके लिए या तो वे ही पुराने ग्राहक तैयार होंगे अथवा कुछ नवीन जो अभी तक उसे लेनेसे मुंह मोड़े हुए थे। दोनों ही अवस्थाओंमें मूल्य कम मिलेगा। पुराने ग्राहकोंको जितनी वस्तुकी जरूरत थी उसे तो वे पहिले ही खरीद चुके अतः उनकी आवश्यकता पहिलेसे कम हो गयी। इस कम मात्राकी आवश्यकताकी संतुष्टिके लिए वे उसी वस्तुके अवशेष अंशके बदलेमें उतनी अन्य वस्तुएं क्यों देने लगे जितनी कि वे पहिले देते थे। अब तो इन वस्तुओंकी आवश्यकता उस वस्तुकी आवश्यकतासे उतनी ही कम नहीं प्रतीत होती जितनी कि पहिले थी। अब वे इन वस्तुओंको उतने अधिक परिमाणमें देनेके लिए राजी न होंगे। यह मानी हुई बात है कि नये ग्राहककी आवश्यकताकी मात्रा पुराने ग्राहककी पहिलेकी आवश्यकताकी मात्रासे कम ही होगी क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वे पहिले ही उक्त वस्तुको प्राप्त करनेके लिए प्रतिस्पर्धा करते। उनका पहिले ऐसा न करना इस बातका प्रमाण है कि वे उसे इतनी आवश्यक नहीं समझते थे कि अन्य वस्तुएं उतने ही परिमाणमें देते जितने परिमाणमें पुराने ग्राहक देते थे। जब उनकी आवश्यकताकी मात्रा कम है तो वे बदलेमें अन्य वस्तुएं भी कम ही देंगे। इस प्रकार पूर्ति (परिमाण) बढ़ जानेसे मूल्यमें कमी हो जाती है। इसके विपरीत यदि पूर्तिमें कमी हो जायगी, यदि वस्तुका परिमाण किसी कारण घट जायगा तो मूल्य बढ़ जायगा क्योंकि जितने ग्राहक पहिले थे उनकी संख्यामें तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं। पूर्ति कम होने पर वे आपसमें प्रतिस्पर्धा करेंगे। जो पहिलेसे अधिक अन्य वस्तुएं विनिमयमें देनेको तैयार होगा उसीको उक्त वस्तु मिलेगी। जिन्हें उसकी बहुत ही अधिक आवश्यकता प्रतीत होगी वे ही उसे, अन्य वस्तुएं विनिमयमें अधिक देकर ले जायंगे। इस प्रकार अन्य वस्तुओंके पूर्ववत रहते हुए, पूर्तिके घटने बढ़नेपर मूल्य बढ़ेगा या घटेगा।

किन्तु प्रायः अन्य वस्तुएं पूर्ववत् रहती नहीं। उनमें भी परिवर्तन हुआ करता है। मूल्य व्यक्तियोंकी आवश्यकताकी न्यूनाधिक मात्रापर निर्भर है। सभी व्यक्तियोंकी आवश्यकताएं एक सी नहीं रहतीं। उनमें भिन्नता पायी जाती है। साथ ही उन व्यक्तियोंकी संख्या, जिन्हें उक्त वस्तुकी आवश्यकता पड़ती है सदा एक सी नहीं रहती। उसमें भी परिवर्तन हुआ ही करता है। इसके अलावा विनिमयमें दी जाने वाली वस्तुओंका परिमाण भी परिवर्तनशील है। कभी ये वस्तुएं प्रचुर परिमाणमें पायी जाती हैं, कभी न्यून परिमाणमें। इसके साथ ही इन वस्तुओंकी आवश्यकताओंकी मात्रामें भी परिवर्तन हुआ ही करता है। इन सब परिवर्तनोंके कारण मूल्यमें परिवर्तन होना आवश्यक ही है। यदि किसी वस्तुको किसी कारणसे अधिक व्यक्ति आवश्यक समझने लगें अथवा पहिलेसे आवश्यक समझने वाले व्यक्तियोंको वह और भी अधिक आवश्यक जान पड़ने लगे तो अन्य वस्तुओंके पूर्ववत् रहने पर, उसका मूल्य बढ़ जायगा क्योंकि उसके बदलेमें अधिक वस्तुएं प्राप्त होने लगेंगी। इसके विपरीत यदि जितने व्यक्ति उसे आवश्यक

समझते थे उनकी संख्या घट जाय, अथवा संख्या ज्योंकी त्यों रहनेपर भी वे उसे उतनी आवश्यक न समझें जितनी पहिले समझते थे तो अन्य वस्तुओंके पूर्ववत रहनेपर, मूल्य घट जायगा क्योंकि विनिमयमें कम वस्तुएं प्राप्त हो सकेंगी। इसी तरह यदि बदलेमें मिलनेवाली अन्य वस्तुओंकी पूर्तिमें किसी कारणसे वृद्धि हो जाय, अथवा उनकी उपयोगिताकी मात्रामें कमी पड़ जाय तो, अन्य वस्तुएं पूववत् रहनेपर, विनिमयमें ये वस्तुएं पहिलेसे अधिक प्राप्त हो सकेंगी यानी उक्त वस्तु विशेषका मूल्य बढ़ जायगा। इसके विपरीत यदि इन अन्य वस्तुओंकी पूर्ति कम हो जाय, परिमाण घट जाय अथवा वे अधिक आवश्यक समझी जाने लगें (उनकी उपयोगिताकी मात्रा बढ़ जाय) तो, अन्य वस्तुओंके पूर्ववत् रहनेपर उक्त वस्तु विशेषका मूल्य घट जायगा क्योंकि बदलेमें ये अन्य वस्तुएं अब कम प्राप्त हो सकेंगी। इससे यह निष्कर्ष निकला कि मूल्य केवल पूर्तिपर ही निर्भर न रहकर इस बातपर भी अवलंबित है कि उसके बदलेमें अन्य वस्तुएं कितनी प्राप्त हो सकेंगी। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि मूल्य मांगपर भी निर्भर है क्योंकि बदलेमें अन्य वस्तुओंके दिये जानेका परिमाण मांगपर निर्भर है और मांग, उक्त वस्तुको आवश्यक समझनेवाले व्यक्तियोंकी संख्या, उनकी आवश्यकताकी मात्रा, अन्य वस्तुए जो विनिमयमें दी जाती हैं उनके परिमाण तथा उनकी आवश्यकताकी मात्रापर निर्भर है। यदि मांग और पूर्ति एक ही क्रममें घटे बढ़े तो मूल्य पूववंत् ही बना रहेगा। इसके विपरीत यदि मांग और पूर्ति दोनोंमें वृद्धि हो किन्तु मांगकी अपेक्षा पूर्ति अधिक बढ़े तो मूल्य घटेगा और यदि पूर्तिका अपेक्षा मांग अधिक बढ़े तो मूल्य बढ़ेगा।

मांग भी एक प्रकारसे पूर्तिका ही दूसरा रूप है क्योंकि पारिभाषिक शब्दोंमें किसी एक स्थान तथा समय विशेषमें किसी उपयोगी अथच दुर्लभ वस्तुका एक परिमित परिमाणमें प्राप्त होना ही पूर्ति है तथा किसी वस्तुकी आवश्यकता, क्रय करनेकी शक्तिके साथ साथ 'मांग' कहलाती है। यहां सारा दारोमदार 'क्रय करनेकी शक्ति'पर ही है। क्रय करनेकी शक्तिका अर्थ है विनिमयमें अन्य वस्तुओंको देनेकी शक्ति और यह शक्ति तभी होगी जब अन्य वस्तुओंकी पूर्ति उपस्थित होगी अर्थात् क्रय करनेकी शक्ति भी पूर्तिपर निर्भर है। उधर आवश्यकता होनेपर भी जब तक अन्य वस्तुएं पास न होंगी, उसकी संतुष्टिके लिए विनिमय अर्थात क्रय द्वारा उक्त वस्तुको प्राप्त करना असंभव है। इस प्रकार मांग पूर्तिका ही एक विशेष रूप है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि मूल्य पूर्ति (जिसमें मांग सम्मिलित है, यानी मांग जिसका एक रूपान्तर मात्र है) पर ही निर्भर है।

प्रारंभमें कहा जा चुका है कि जिन वस्तुओंका मूल्य होता है प्रायः वे सब मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं क्योंकि प्रकृति उनको उचित रूप, समय अथवा स्थानमें उत्पन्न नहीं करती। उत्पन्न करनेका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य पंचभूतोंको उत्पन्न कर वस्तुओंको जन्म देता है। उत्पन्न किये जानेसे यहां केवल यही अर्थ है कि मनुष्य

अपने प्रयत्नों द्वारा वस्तुओंका रूप गुण बदल कर उन्हें उपयोगी बना लेता है। वस्तुमें उपयोगिताका ला देना ही यहां उत्पन्न किये जानेके नामसे सम्बोधित किया गया है।

मनुष्य वस्तुओंको चार प्रकारसे उत्पन्न करता है अर्थात उनमें चार प्रकारसे उपयोगिता ला देता है। (१) वस्तुका रूप बदल कर जैसे धातुके बर्तन अथवा आटेसे रोटी बना कर। (२) ऐसे समयमें उसकी रक्षाकर जब कि उसका उपयोग न हो या कम उपयोग हो, उस समयके लिए प्रस्तुत करना जब उसका उपयोग हो अथवा अधिक उपयोग हो जैसे जाड़ेके समय छाते एकत्र कर गर्मी या वर्षाके लिए अथवा फसलके समयमें अन्नको अन्य समयके लिए सुरक्षित रख कर (३) स्थानपरिवर्त्तनसे जैसे जंगलसे नगरमें लकड़ी लाना अथवा गावोंसे शहरोंमें अनाज लाना अथवा ऐसे मनुष्यसे जिसके पास उपयोगी न हो या कम उपयोगी हो ऐसे मनुष्यके पास पहुंचाना जिसके पास उपयोगी हो या अधिक उपयोगी हो जैसे जंगली कोल भीलोंके पाससे शहद अथवा जड़ी बूटियां पंसारी, वैद्य अथवा रोगीके पास पहुंचाना (४) किसी उपयोगका ज्ञान कराना जैसे घड़ीका उपयोग बताना। इस प्रकार एक अथवा अधिक प्रकारसे उत्पन्न (उपयोगी) किये जाने पर किसी वस्तुकी पूर्त्ति बढ़ी हुई कही जाती है।

सभी वस्तुओंको उत्पन्न करनेमें मनुष्यको प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु सब वस्तुओंकी बराबर मात्राकी उत्पत्तिमें बराबर ही प्रयत्न नहीं करना पड़ता। एक सेर अन्न उत्पन्न करनेसे एक सेर धातुके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विशेष करना पड़ता है। ऐसी दशामें प्रयत्नके अनुरूप ही यदि मूल्य न हुआ तो उत्पत्तिमें गड़बड़ी पड़ जायगी। यदि मूल्य प्रयत्नसे कम होगा तो वह वस्तु उत्पन्न ही न की जायगी क्योंकि कोई भी व्यर्थमें प्रयत्न करनेके लिए तैयार न होगा। फलतः उसकी पूर्तिमें कमी हो जायगी और मूल्य क्रमशः बढ़ते बढ़ते उत्पादन व्ययके लगभग बराबर ही आजायगा। इसके विपरीत यदि मूल्य उत्पादन व्ययसे अधिक होगा तो उसकी उत्पत्ति अधिकतासे होने लगेगी क्योंकि अधिक लाभके लोभसे पहिलेसे इसके उत्पादनमें लगे हुए व्यक्ति और भी अधिक परिमाणमें उत्पन्न करनेकी चेष्टा करेंगे और कुछ नवीन मनुष्य इसीके उत्पादनमें लग जायंगे। पूर्ति बढ़ जायगी और मूल्य घटते घटते उत्पादन व्ययसे कम हो जायगा। तब फिर कुछ मनुष्य उत्पादनसे हाथ खींच लेंगे और पूर्ति घट जायगी। इस प्रकार पूर्तिके घटने बढ़नेके साथ ही मूल्य भी घटता बढ़ता रहेगा। किन्तु सदा ही उसकी प्रवृत्ति उत्पादन व्ययके लगभग बराबर ही होनेकी होगी। उत्पादन-व्यय तथा मूल्यमें बहुत ही घनिष्ट संबन्ध है।

इससे यह समझना भूल है कि मूल्यका कारण उत्पादन-व्यय है। सरसरी तौर-पर देखनेसे तो यही जान पड़ता है कि उत्पादन व्यय ही मूल्यका कारण होता है क्योंकि उसीके अनुसार मूल्य घटा बढ़ा करता है। लेकिन बात असलमें यह है नहीं। किसी अनुपयोगी अथवा प्रचुर वस्तुके उत्पन्न करनेमें चाहे कितना ही व्यय क्यों न किया जायगा किन्तु उसका मूल्य कुछ भी न होगा। लाखों करोड़ों खर्च कर कुछ वायु बनाने पर

भी उसका कुछ भी मूल्य न होगा क्योंकि प्रचुर होनेके कारण उसके बदलेमें कोई भी अन्य उपयोगी अथवा दुर्लभ वस्तुएं देनेके लिए तैयार न होगा। इसके अलावा एकही बाजारमें एक समयमें आने वाली एक ही वस्तुकी भिन्न भिन्न अदतोंका (यदि वे रूप गुणमें समान हों तो) मूल्य एक ही होगा, उनके उत्पादन व्ययमें भले ही विभिन्नता हो। भिन्न भिन्न अदतोंके उत्पादन व्ययमें प्रायः ही विभिन्नता देख पड़ती है क्योंकि भिन्न भिन्न स्थानोंमें, जहां वस्तु उत्पन्न की जाती है सभी साधन एकसे नहीं रहते। अतः उत्पादन व्ययमें फर्क पड़ जाता है। किन्तु मूल्य वही सबका एक ही रहता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि उत्पादनव्यय मूल्यका कारण नहीं है। हां, यह कहना उचित होगा कि व्यय उन्हीं वस्तुओंके उत्पन्न करनेमें किया जायगा जिनका कुछ मूल्य होगा। इसी प्रकार यह कहना भी भ्रमपूर्ण है कि परिश्रम मूल्यका कारण है। व्ययकी भांति केवल परिश्रमसे ही किसी वस्तुका मूल्य नहीं हो सकता। हां इतना जरूर है कि परिश्रम उसी वस्तुके उत्पादनमें किया जाता है जिसका कुछ मूल्य हो किन्तु परिश्रम स्वयं मूल्यका कारण नहीं है। मूल्यका तो एक मात्र कारण उपयोगिता तथा दुर्लभता ही है।

उत्पत्तिके लिए कुछ साधन, कुछ औजार हथियार नितान्त वांछनीय हैं। पहिले इसके कि एक गज भी कपड़ा तैयार किया जासके उसके पूरे औजार हथियार प्रस्तुत करने पड़ेंगे। एक करघा, उसके साथकी अन्य आवश्यक वस्तुएं आदि लेनी ही पड़ेंगी। सब सामग्री प्रस्तुत होनेपर यदि केवल एक ही गज कपड़ा तैयार किया जायगा तो एक गजके योग्य सूतके मूल्यके अतिरिक्त करघे आदिका सारा व्यय इसी एक गजके ऊपर पड़ेगा। इस प्रकार उत्पादनव्यय बहुत अधिक हो जायगा, असली लागत बहुत ज्यादा बैठेगी, यद्यपि बाजारमें उस गजभर कपड़ेका मूल्य लागतसे कई गुना कम होगा।

किन्तु एकबार समस्त सामग्रीके प्रस्तुत हो जानेपर, करघे आदिके स्थापित किये जानेपर, एकगज ही नहीं वरन इससे कई गुना अधिक वस्त्र तैयार किया जा सकता है। जितना ही अधिक कपड़ा तैयार किया जायगा, औजारों, सामान सामग्रीका व्यय उतने ही न्यून परिमाणमें प्रतिगजके ऊपर पड़ेगा। फलतः इसी दशामें उत्पादन-व्यय तथा मूल्यमें उचित साम्य होगा। यदि मान लिया जाय कि करघे आदिमें कुल मिलाकर ८०) बैठे और उसके चलाने आदिमें १०) ऊपरसे व्यय होते हैं। अब यदि केवल एक ही गज कपड़ा तैयार किया जायगा तो कुल मिलाकर ८० + १०=९०)+ सूतका मूल्य उसका उत्पादन-व्यय होगा। इसके विपरीत यदि १८० गज वस्त्र तैयार किया जाय तो उत्पादनव्यय+ सूतका मूल्य (जो प्रति गज प्रायः पूर्ववत् ही रहेगा) १८० भागोंमें बांटा जायगा अर्थात् प्रतिगज ॥)+ सूतका मूल्य (एक गजका) उत्पादन व्यय होगा। इससे यह तो साबित हुआ ही कि उत्पादनव्यय मूल्यका कारण नहीं है, साथ ही यह भी प्रकट हो जाता है कि उत्पादनव्यय तथा मूल्यमें उचित साम्य स्थापित करनेके निमित्त उत्पत्तिका एक विशेष परिमाणमें होना आवश्यक है। इस परिमाणकी सीमा होती है। उसके इधर उधर होने, उसके कम ज्यादा उत्पन्न किये जानेपर मूल्यमें गड़बड़ पड़ जाती है, साम्य नहीं रहता। (अपूर्ण)

भगवानकृष्ण अवस्थी।

राष्ट्रसंघकी उपयोगिता ।

संसारमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करनेके निमित्त आज तक जो प्रयत्न किये गये हैं, उनका संक्षिप्त विवरण हम ज्येष्ठके अंकमें प्रकाशित "विश्व-व्यापी शान्तिके प्रयत्न" नामक लेखमें दे चुके हैं। जैसा कि हम उक्त लेखमें प्रकट कर चुके हैं, राष्ट्रसंघकी स्थापना भी संसार-व्यापी शान्तिका प्रसार करनेके उद्देशसे ही की गयी थी। उसका लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंको पारस्परिक समझौते द्वारा तय कराना और यथासंभव शान्ति-भंग न होने देना है। संसारमें शान्ति स्थापित करनेके आज तक जो प्रयत्न हुए हैं उनमें और राष्ट्रसंघमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। शक्ति-तुला इत्यादिके समान पहिलेके प्रयत्नों द्वारा शान्ति स्थापित करनेकी चेष्टामें शान्ति-भंगकी आशंका प्रथम ही उपस्थित रहती थी। राष्ट्रसंघके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती। उसे शान्तिपूर्ण प्रयत्नों द्वारा ही शान्ति स्थापित करनेका उपाय समझना चाहिये। शक्ति-तुला इत्यादि पहिलेके प्रयत्न शान्ति-प्रसारक होनेके पूर्व प्रायः अनिवार्यरूपसे युद्धोत्पादक थे, किन्तु राष्ट्र-संघ 'कंटकेनैव कण्टकम्' सिद्धान्तका अनुसरण न कर, अन्तर्राष्ट्रीय युद्धोंका निपटारा युद्ध-द्वारा ही न कर, राष्ट्रोंकी पञ्चायतसे पारस्परिक समझौते द्वारा करनेका मार्ग दिखलाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि संसारके प्रधान प्रधान देश इस अलौकिक उपायका अवलम्बन करना स्वीकार करलें एवं वास्तवमें उसके आदेशानुसार कार्य भी करने लगें तो संसारमें गत यूरोपीय युद्धकी तरह भयंकर विस्फोटकी आशंका बहुत ही कम रह जाय। राष्ट्रसंघके सदस्योंकी बढ़ती हुई संख्या देखकर ऐसी आशा करना दुःसाहसका काम न होगा। संवत् १९७७ के मध्यमें ही संसारके छोटे बड़े कुल ४२ देश राष्ट्रसंघके सदस्य बन चुके थे। संवत् १९७८ में यह संख्या बढ़कर ५१ पर जा पहुंची। इससे सिद्ध होता है कि राष्ट्रसंघ लोगोंकी दृष्टिमें वर्त्तमान सभ्य संसारका कोरा आदर्शवाद ही नहीं है, प्रत्युत वे उसे उपयोगी और कार्य-क्षम भी समझते हैं।

हम यह मानते हैं कि राष्ट्र-संघके सामने अनेक कठिनाइयां हैं एवं उसकी धाराओं और कार्य-प्रणालीमें भी कुछ ऐसे दोष वर्त्तमान हैं जो किसी अंशमें संघकी उद्देश-प्राप्तिमें बाधक कहे जा सकते हैं। फिर भी उक्त कठिनाइयों और दोषोंके होते हुए भी संघने इतने थोड़े समयमें जो कुछ किया है, उसे देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह एकबारगी असफल हुआ है। हमारी धारणा है कि कुछ ही समयमें ज्योंही लोगोंको उसके दोषोंका यथेष्ट ज्ञान हो जायगा, त्यों ही वे उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करेंगे। उसी प्रकार समय पाकर संघकी कठिनाइयां भी दूर होती जायँगी। शान्तिकी ओर मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी संघकी सफलतामें सहायक होगी।

इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्र-संघकी आयोजनाके समय जिन बड़ी बड़ी आशा-

ओंके पुल बांधे गये थे, वे आजतक पूर्ण नहीं हुई—निकट भविष्यमें भी पूर्ण हो सकेंगी या नहीं, यह अनिश्चित है—फिर भी उसने जो थोड़ा बहुत कार्य किया है उसे हम नितान्त उपेक्षणीय एवं निःसत्त्व नहीं कह सकते । उसने दो बार युद्ध होते होते रोक दिया । गत यूरोपीय युद्धके जितने कैदी लापता हो गये थे, संघने उनमेंसे ३ लाख ६० हजार कैदियोंका पता लगाया है । टाइफसके प्रतीकारकी व्यवस्था भी संघ द्वारा की गयी है । इसके अतिरिक्त संघने और भी कई अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंको सुरझानेकी चेष्टा की है । संसारके श्रमजीवियोंकी दशा सुधारनेका जो लक्ष्य संघने अपने सामने रखा है, वह इस प्रकार है—

राष्ट्रसंघके सदस्य

(क) अपने अपने देशोंमें तथा उन देशोंमें जिनके साथ उनका व्यापारिक सम्बन्ध हो, श्रम करनेवाले पुरुषों, स्त्रियों और बालकोंके निमित्त न्यायानुकूल एवं मनुष्योचित परिस्थिति उत्पन्न करनेकी चेष्टा करेंगे ।

(ख) अपने अधीन देशोंके मूल निवासियोंके प्रति न्यायपूर्ण बर्त्ताव करनेका प्रयत्न करेंगे ।

(ग) स्त्रियों और बच्चोंके व्यापार तथा अफीम एवं अन्य विषैली वस्तुओंके व्यापार सम्बन्धी पारस्परिक निश्चयोंका निरीक्षण करनेका अधिकार संघको सौंपते हैं ।

... ...

(च) रोगोंके दमनार्थ अन्तर्राष्ट्रीय उपायोंके अवलम्बनका प्रयत्न करेंगे ।

इस सम्बन्धमें संघने बहुत कुछ सफलता प्राप्त की है । संघकी ओरसे स्विटजरलैण्डके जेनीव्हा नगरमें एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवि-संस्था स्थापित हुई । अभी तक इसकी तीन बैठकें हो चुकी हैं जिनमें श्रमजीवियोंके सम्बन्धमें कई महत्त्वपूर्ण हितकारी बातें स्वीकृत की गयी हैं । अब शीघ्र ही इसका चतुर्थ अधिवेशन होनेवाला है ।

संवत् १९७८ के मध्यमें सर्बियाकी सेनाने अलबेनियापर आक्रमण किया । साठ गांवोंको जलाकर उसने राजधानीपर अधिकार प्राप्त करनेका इरादा किया । सर्बियाका ख्याल था कि राष्ट्र-संघ कुछ हस्तक्षेप न कर सकेगा, क्योंकि वह निःशक्त है; यदि हस्तक्षेप करेगा भी तो बहुत देरके बाद । किन्तु यह उसका निरा भ्रम था । इंग्लैण्डने सर्बियाके विरुद्ध सोलहवीं धाराके* प्रयोगपर विचार करनेके निमित्त शीघ्र ही राष्ट्रसंघकी उपसमिति (काउंसिल) को पेरिसमें एकत्र होनेके लिये आमंत्रित किया । इंग्लैण्डकी इस चेष्टाने जादूकासा असर किया । लन्दनमें सर्बियाको ऋण देना बन्द हो गया । उसकी विनिमय-दर गिरने लगी । तुरन्त ही उसके प्रतिनिधि उपसमितिकी बैठकमें दौड़े आये । वहां पहुँचकर उन्होंने कहा कि हमारी सेना हटायी जा रही है, आप लोग जो सीमा निर्धारित करेंगे, वही हमें मंजूर है । इस प्रकार राष्ट्र-संघके हस्तक्षेपसे यूरोपमें एक और युद्धका सूत्रपात होते होते बच गया ।

---

* यदि राष्ट्रसंघका कोई सदस्य राष्ट्रसंघके आदेशोंको न मानकर युद्धकी घोषणा कर दे तो यह समझा जायगा कि उसने संघके अन्य सारे सदस्योंसे युद्ध ठाना है । ये लोग युद्ध छेड़नेवाले देशके साथ सब व्यापारिक एवं आर्थिक सम्बन्ध त्याग देंगे ।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि सर्बिया संघकी सोलहवीं धारासे भयभीत न होकर अपनी करणीसे बाज न आता तो क्या होता? संघके सदस्य होनेकी हैसियतसे संसारके क़रीब क़रीब आधे देश अपराधी राष्ट्रसे अपना नाता तोड़ देते। न कोई उसका माल खरीदता और न कोई उसके हाथ अपना माल बेचता। न तो युद्ध चलानेके लिये वह कहींसे ऋण ही प्राप्त कर सकता और न उसे किसी अन्य प्रकारकी ही सहायता मिल सकती थी। ऐसी हालतमें उक्त राष्ट्रकी क्या हालत हो जाती, यह समझना बहुत कठिन नहीं है। वर्त्तमान समयमें किसी भी देशके लिये इस प्रकार सभ्य संसारके गण्यमान्यदेशों द्वारा परित्यक्त होना आर्थिक एवं नैतिक मृत्युके बराबर है। यदि वह किसी प्रकार अपने ही सहारे टिके रहनेकी चेष्टा भी करे तो कितने दिनोंतक यह परिस्थिति चल सकती है? अस्तु, कभी न कभी उसे अपनी विपत्तिके सामने सिर झुकाना ही पड़ेगा एवं संघका निर्णय मानकर अपने अस्तित्वकी रक्षा करनी पड़ेगी।

एक और प्रश्न उठ सकता है। जो राष्ट्र अभी तक संघके सदस्य नहीं हुए हैं, वे तो उसका निर्णय माननेके लिये बाध्य नहीं हैं, अतः संभव है वे अपना सम्बन्ध युद्धकी घोषणा करनेवाले देशके साथ अब भी पूर्ववत् ही बनाये रखें। ऐसी अवस्थामें संघकी काररवाईका उक्त राष्ट्रपर क्या असर हो सकता है? यह शंका उचित है। किन्तु संसारके प्रायः तीन चौथाई राष्ट्रोंके संघ द्वारा परित्यक्त होनेपर कोई भी राष्ट्र अधिक समयतक सुस्थिर और समुन्नत नहीं रह सकता। युद्ध करनेसे उक्त राष्ट्रको जितना लाभ होगा, उसकी अपेक्षा सभ्य समाजसे बहिष्कृत होनेपर जो हानि होगी वह गुरुतर है। फिर, संघके सदस्योंकी संख्या जितनी ही अधिक बढ़ती जायगी, युद्धोन्मुख राष्ट्रको सहायता पानेकी उतनी ही कम गुंजाइश रहती जायगी। यही कारण है कि राष्ट्र-संघकी पूर्ण सफलताके निमित संसारके प्रायः सभी, कमसे कम सभी प्रधान, राष्ट्रोंका उसमें सम्मिलित होना परमावश्यक समझा जाता है।

किसी किसीका मत है कि संघकी सोलहवीं धारा अन्याययुक्त है। देशोंकी पारस्परिक स्थिति कभी कभी इतनी तीव्र हो जाती है कि शीघ्रही उसका प्रतिकार करना आवश्यक हो जाता है। यदि युद्ध आदि उपायोंका सहारा तुरन्त न लेकर राष्ट्रसंघके निर्णयकी प्रतीक्षा की जाय तो संभव है इस बीचमें सारा मामला ही बिगड़ जाय। कमसे कम किसी देश-विशेषके लिये ऐसा समझ बैठना स्वाभाविक है। कभी कभी तो ऐसी कठिन परिस्थिति उपस्थित हो जाती है कि उस समय कुछ सोच-विचार करना ही मुश्किल हो जाता है। ऐसी हालतमें यदि कोई देश युद्ध-घोषणा करनेकी भूल कर भी दे तो उसे इतना निष्ठुर दण्ड देना उचित नहीं समझा जा सकता। सारे राष्ट्रोंका परस्पर मिलकर केवल एक राष्ट्रके विरुद्ध, जिसके वक्तव्यको कोई सुननेवाला नहीं, खड़े हो जाना न्याय्य नहीं कहा जा सकता। हमारे विचारसे तो यह व्यवस्था निष्ठुर भले ही हो, पर वह अन्याययुक्त नहीं कही जा सकती। जो देश शान्तिपूर्ण उपायोंसे राष्ट्रोंके पारस्परिक निर्णय द्वारा अपने अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंको तय करानेकी प्रतिज्ञा करके भी उसका पालन

नहीं करता, वह सभ्य संसारमें सम्मानार्ह नहीं हो सकता। उसकी कमजोरियोंका ख्याल करते हुए उसके साथ कुछ रियायत भले ही की जाय, पर वह निर्दोष नहीं समझा जा सकता। यदि वास्तवमें उससे भूल हो गयी है तो उसे इसके लिये हृदयसे पश्चात्ताप करना होगा, संघके सदस्योंसे क्षमा मांगनी होगी। ऐसी हालतमें हो सकता है, उसके साथ अधिक सख्ती न की जाय। किन्तु यदि अपनी उच्छृंखलता और जघन्य स्वार्थ-प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर कोई देश संघकी उपेक्षा करते हुए युद्ध-तत्पर हो जाय तो इस कार्यके लिये उसे दण्ड क्यों न मिलना चाहिये ?

दसवीं धारामें कहा गया है कि "राष्ट्रसंघके सदस्य अन्य सब सदस्योंकी प्रादेशिक अखण्डता या उसकी वर्त्तमान राजनीतिक स्वाधीनताका समादर करना तथा बाहरी आक्रमणों-से उसकी रक्षा करना स्वीकार करते हैं।" यदि वास्तवमें सारे सदस्य इस प्रतिज्ञाकाका अनु-पालन करनेकी ओर निरन्तर लक्ष्य रखा करें तो भयंकर युद्धोंका अवसर ही क्यों आवे ? किन्तु यहांपर "वर्त्तमान राजनीतिक स्वाधीनता" ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। जो देश स्वाधीन नहीं हैं, उनके विषयमें कुछ नहीं कहा गया। उनकी जो स्थिति आजकल है, क्या वही सर्वदा बनी रहेगी ? क्या उन्हें परतन्त्रता-बन्धनसे मुक्त करनेकी कोई चेष्टा न की जायगी ? उक्त धारामें इस विषयका कोई उल्लेख न होना बहुत अखरता है।

राष्ट्रसंघकी धाराओंमें भाषाकी अस्पष्टताके तो कई उदाहरण देख पड़ते हैं। ऊपरकी दसवीं धारा ही लीजिये। उसमें आगे चलकर कहा गया है "यदि किसी सदस्य (देश) पर कोई आक्रमण हो या आक्रमणका भय हो तो संघकी उपसमिति इस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके निमित्त कोई उपाय ढूँढ़कर बतावेगी।" 'कोई उपाय'का क्या आशय होता है, भगवान् ही जाने।

ग्यारहवीं धारामें लिखा है "युद्ध होनेपर या युद्धकी आशंका होनेपर, चाहे उससे किसी सदस्यका सम्बन्ध हो या न हो, संघ **ऐसी कारवाई करेगा जो उचित और असर करनेवाली हो।"** आगे चलकर कहा गया है "राष्ट्रसंघके सदस्य पंचों द्वारा फैसला कराना, स्वीकार करते हैं, जो फैसला होगा उसे वे मानेंगे। यदि न माने तो मनवानेके लिये **किन उपायोंकी आवश्यकता है, यह संघ समझेगा।"** संभव है इन शब्दोंका अर्थ जान बूझकर अस्पष्ट रखा गया हो। ऐसा करनेका यह अभिप्राय हो सकता है कि किस परिस्थितिमें किस उपायका अवलम्बन करना पड़ेगा, यह अभीसे नहीं बताया जा सकता। परिस्थिति देखकर सब राष्ट्रोंकी सलाहसे उचित काररवाई की जायगी। हमारे ख्यालसे इन बातोंपर अधिक प्रकाश न डालते हुए भी यदि इस सम्बन्धमें कुछ इशारा ही कर दिया गया होता तो अच्छा था, उदाह-रणार्थ साधारणतया किस तरहके उपाय या उपायोंका प्रयोग किया जायगा, केवल इतना ही व्यक्तकर दिया जाता। पंचोंका निर्णय न माननेवाले राष्ट्रपर जुर्माना किया जायगा, या उसे युद्धमें परास्तकर निर्णय माननेके लिये विवश किया जायगा, अथवा ऐसे ही अन्य किसी उपायसे काम लिया जायगा, इत्यादि—इस आशयका कुछ इशारा रहनेसे संघकी उक्त धाराओंका अर्थ बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता।

यदि संघका निर्णय माननेके लिये किसी राष्ट्रको बाध्य करते समय उसके विरुद्ध युद्ध करनेकी आवश्यकता हुई तो यह बात संघके उद्देशोंके प्रतिकूल होगी। यदि युद्ध रोकनेके लिये युद्ध करना ही ज़रूरी समझा गया तो फिर राष्ट्र-संघकी स्थापनासे क्या लाभ? जिस लक्ष्यको सामने रखकर राष्ट्रसंघ कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण हुआ है, यदि उसीके विरुद्ध कार्य करना आवश्यक हो तो लक्ष्य प्राप्त ही कैसे हो सकेगा?

निस्सन्देह यह बड़े दुर्भाग्यकी बात है कि विश्व-व्यापी शान्तिके लिये परम उत्सुक राष्ट्रसंघको एक बार भी शान्ति-भंग करनेकी आवश्यकता आ पड़े। हमारी तो धारणा है कि यदि संघके अन्तर्गत प्राय: सभी राष्ट्र सच्चे हृदयसे शान्तिके निमित्त प्रयत्न करना अपना धर्म मानलें तो यह संभव नहीं कि कोई भी राष्ट्र—चाहे वह कितना ही उन्मत्त और स्वार्थी हो—उसके नैतिक प्रभाव और सामुदायिक निर्णयके सामने मस्तक न झुकावे। प्रारंभमें कभी एकाधबार ऐसी कोई नौबत आ भी जाय तो इससे यह न समझना चाहिये कि संघने अपना लक्ष्य त्याग दिया या वह असफल हो गया। उसकी उपयोगिता और सफलताका अनुमान उसके अधिकांश एवं सामान्य कार्योंसे लगाना चाहिये, एक अपवादात्मक असामान्य कार्यसे नहीं। फिर, यदि सच पूछो तो एकाध बार युद्धमें प्रवृत्त होनेके लिये विवश होना भी संघका दोष न समझा जाकर मनुष्यके स्वभावका ही दोष समझा जाना चाहिये। जब तक मनुष्य इतने स्वार्थान्ध बने रहेंगे कि दूसरोंको नुक्सान पहुँचाकर भी अपना क्षणिक हित साधन करना परमधर्म समझेंगे एवं जब तक उनका अन्त:करण इतना निष्ठुर बना रहेगा कि उसपर चार आदमियोंके विनय-अनुनय एवं उपदेशका कुछ भी नैतिक प्रभाव न पड़े तबतक युद्धोंका होना अनिवार्य सा ही प्रतीत होता है। अतः युद्धोंका होना रोकनेके पूर्व मनुष्यके स्वभाव एवं विचारोंमें परिवर्त्तन होना परम आवश्यक है। इस उद्देश्यकी प्राप्तिमें राष्ट्रसंघ बहुत कुछ सहायक बन सकता है। यदि समय समयपर बहुसंख्यक राष्ट्रोंके प्रतिनिधि एक स्थानपर एकत्र होकर स्वस्थचित्तसे परस्परके हिताहितका विचार करें एवं किसी भी प्रकारसे शान्ति-भंग न होने पावे, इस बातकी चेष्टा करें तो भिन्न २ देशोंके अधिकांश कर्णधारोंकी विचारशैलीमें सन्तोष-जनक परिवर्त्तन हो सकता है। संघकी कारखाईको पढ़कर एवं उसके कार्योंको देखकर सामान्य जनताका विचार-प्रवाह भी बदल सकता है। यदि संघकी ओरसे शान्ति वर्द्धक साहित्यका भी प्रचार हो तो यह काम और भी सरल हो सकता है। उसके द्वारा यदि लोगोंके सामने एक ओर युद्धकी कठिनाइयों एवं प्रचुर हानियों तथा दूसरी ओर शान्तिके गुणोंकी विशद चर्चा भिन्न २ विधियोंसे की जाय तो उनकी विचार-शैलीमें बड़ा भारी सुधार हो सकता है। शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंका निपटारा करनेकी प्रवृत्ति इसी प्रकार उत्पन्नकी जा सकती है, अस्तु।

कहा जाता है कि राष्ट्रसंघ किसी सदस्यको अपना निर्णय मनवानेके लिये बाध्य करनेमें असमर्थ है। जब तक वह भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली न होगा एवं जब तक उसके पास अपनी निजकी काफी सेना न होगी तब तक स्वार्थान्ध

राष्ट्र उसकी उपेक्षा करनेमें ज़रा भी न हिचकेंगे। अब यदि यह पूछा जाय कि राष्ट्रसंघ शक्तिशाली कैसे होगा, उसकी सेना अन्य किसी राष्ट्रकी सेनाकी अपेक्षा बड़ी कैसे हो सकती है, तो इसका उत्तर यही है कि जब तक अन्य राष्ट्रोंकी शक्ति एवं सेना घटायी न जायगी तब तक राष्ट्रसंघमें काफी जोर नहीं आ सकता। **"जब तक राष्ट्रसंघ शक्तिशाली न होगा तब तक अन्य राष्ट्र उसका निर्णय न मानेंगे और न अपनी सेना ही घटायँगे एवं जब तक भिन्न भिन्न राष्ट्र उसका निर्णय न मानेंगे तथा अपनी सेना कम न करेंगे तब तक संघ शक्तिशाली न होगा"**—यह बड़ी जटिल समस्या है।

उक्त समस्यामें तथ्यका अंश होते हुए भी वह भ्रमसे रहित नहीं है। राष्ट्रसंघ उन राष्ट्रोंसे जो उसमें शामिल हैं पृथक् या स्वतंत्र संस्था नहीं है। अतः राष्ट्रसंघ जो कुछ निर्णय करेगा, वह उक्त राष्ट्रोंका ही निर्णय होगा। अपने ही द्वारा किये गये निर्णयोंको माननेके लिये भिन्न भिन्न राष्ट्र क्यों न राजी होंगे, यह समझमें नहीं आता। हां, यदि बाह्य हितविरोधके कारण राष्ट्रोंमें कोई पारस्परिक निर्णय ही न हो सके तो यह बात ही दूसरी है। सेना घटानेके प्रश्नको ही लीजिए। यदि राष्ट्रसंघके लिये पृथक् सेना रखना आवश्यक समझा जाय तो सब राष्ट्रोंकी स्वीकृतिसे यह प्रश्न हल हो सकता है। यदि सब राष्ट्र किसी सीमातक अपनी अपनी सेना घटाना मंजूर कर लें एवं संघके लिये रखी गयी सेनाका व्यय भार भी उठाना स्वीकृत कर लें तो पृथक् २ राष्ट्रोंकी सैनिक शक्ति कम हो जानेके साथ साथ उनकी संयुक्त (राष्ट्रसंघ) संस्थाकी शक्ति भी बढ़ जायगी। अन्तर्राष्ट्रीय शक्तिके लिये यही आवश्यक है। किन्तु कार्य जटिल एवं कठिन है इसलिये उसे असंभव समझ लेना भूल है। संघ और पृथक् पृथक् राष्ट्र परस्पराश्रित हैं, अतः दोनों ओरसे प्रयत्न होते रहने पर ही यथासमय वाञ्छनीय परिस्थिति उपस्थित हो जायगी एवं राष्ट्रसंघका उद्देश सफल हो सकेगा।

संघकी सफलताके लिये, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनका सुधार होना अत्यन्त आवश्यक है। सभी राष्ट्रोंको अपने हिताहितका विचार करते समय संकुचित दृष्टिसे काम न लेकर व्यापक दृष्टिसे सब बातों पर विचार करना चाहिये। एक दूसरेसे काफी सावधान रहते हुए भी अत्यधिक अविश्वासको स्थान न देना चाहिये। यह प्रवृत्ति दूर होते ही सेना-विघटनका कार्य सरल हो जायगा। युद्धकी प्रधान-समिति (सुप्रीम काउंसिल) तथा राष्ट्रसंघ, दोनोंने ही राष्ट्रोंके लिये सैनिक सामग्री घटाना आवश्यक समझा। वाशिंगटनका सम्मेलन इसी उद्देश्यसे किया गया। किन्तु जिस समय थल-सेना घटानेका प्रस्ताव उपस्थित हुआ उस समय फ्रांसने कहा कि "मुझे जर्मनीसे भय है। मैं अपनी सेना घटा नहीं सकता।" सभी राष्ट्रोंने उसे समझाया कि यह केवल तुम्हारा भ्रम है। फ्रांसने उत्तर दिया "अच्छा, यदि वास्तवमें मुझपर आक्रमण हुआ तो क्या आप लोग मेरी सहायता करेंगे?" इस प्रश्नका सन्तोषजनक उत्तर किसीने न

दिया। सभी टाल-मटोल करने लगे। फ्रांस समझ गया कि "यदि ये लोग सहायताका वचन नहीं देते तो स्पष्ट है कि मीठी मीठी बातें करते हुए भी ये समझते हैं कि वास्तवमें मैं खतरेमें हूं। अतः जब तक मुझे बाहरी सहायताका पक्का भरोसा न हो जाय तब तक मैं अपनी सेना घटाकर अपने ही पांवों पर कुल्हाड़ी नहीं मारना चाहता।" ऐसी परिस्थितिमें फ्रांस या अन्य किसी राष्ट्रको दोषदेना अनुचित होगा। वर्त्तमान राजनीतिका जब तक परिष्कार न किया जायगा तब तक ऐसी घटनाएँ हुआ ही करेंगी। यह कार्य धैर्यके साथ एकचित्त होकर प्रयत्न करनेसे ही हो सकेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि अतीत घटनाओं तथा वर्त्तमान परिस्थितिको भी देखनेसे ऐसी आशा नहीं होती कि संसारमें शीघ्र शान्ति स्थापित हो सकेगी और अशान्तिका विशेष भय न रह जायगा। इस समय लघुएशिया और आयर्लेगडमें एक प्रकारसे लड़ाई हो ही रही है। ईराक, मिश्र और भारतमें अशान्ति है ही। युरोप आर्थिक संतापके कारण दग्ध हुआ जा रहा है, पर वह जली हुई रस्सीकी तरह, अपनी ऐंठ नहीं छोड़ रहा है। फ्रांस अब भी वर्सेलकी संधिमें ज़रा भी परिवर्त्तन होने देना नहीं चाहता। रूसकी तबाहीके साथ मौखिक सहानुभूति प्रकट करते हुए यूरोपके राष्ट्र उसके उद्धारके प्रयत्नोंमें गोलमाल करते ही जा रहे हैं। इधर चीन और रूसमें एक प्रकारकी अराजकता और सत्यानाशी फैली हुई है। संसारके बड़े बड़े श्रीसम्पन्न राष्ट्र इस विशाल क्षेत्रमें अपना व्यापार फैलानेके लिये समुत्सुक हो रहे हैं। अतः अनुकूल परिस्थिति होने पर इस क्षेत्रमें महत्त्वाकांक्षाओंकी मुठ-भेड़ अवश्य होगी। बड़े बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों अथवा राष्ट्रसंघकी बैठकोंसे भी यह संग्राम रुक सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह है। मौका आते ही आक्रमण कर दिया जायगा। सारे प्रतिज्ञापत्र या अन्य लिखित पत्र एक तरफ पड़े रह जायँगे। जब कोई दोष देने लगेगा तब सदाकी तरह फिर यही उत्तर मिलेगा "क्या करें, दूसरा उपाय ही न था।" फिर भी राष्ट्रसंघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनोंसे लाभ होगा ही। एक दूसरेकी कठिनाइयां समझने और उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करनेसे काफी सफलता मिल सकती है। ऐसा करनेसे पारस्परिक मनमुटाव दूर हो सकता है। सारांश यह कि जहां हम राष्ट्रसंघसे बड़ी बड़ी आशाओंके पुल नहीं बांध सकते वहां उसको नितान्त निरुपयोगी समझकर हमें उसकी दिल्लगी भी न उठानी चाहिये। समय पाकर उसकी इतनी उन्नति हो सकती है कि वह वास्तवमें विश्व-शान्तिका अचूक रक्षक बन जाय।

भारतीय।

सामयिक संग्रह।

कर-वृद्धिसे औद्योगिक हानि।

देशके करोंकी मात्रामें वृद्धि करनेसे औद्योगिक विकासमें रुकावट होती है। साथ ही बढ़े हुए करोंसे सरकारको भी अपने बढ़ते हुए व्ययका सामना करनेकी और भी अधिक सुविधा हो जाती है। किन्तु सार्वजनिक व्ययकी वृद्धिसे, श्री ग्लैडस्टनके शब्दोंमें, 'आर्थिक क्षति ही नहीं होती प्रत्युत उसे बड़ी भारी राष्ट्रीय तथा उससे भी अधिक, नैतिक हानि समझनी चाहिये।" एक बार सार्वजनिक व्यय बढ़ा तो उसे और भी अधिक बढ़ानेकी प्रवृत्ति होती थी। हम देखते हैं कि गत तीन चार वर्षोंमें कर्मचारियोंको मोटी मोटी तनखाहें देकर सार्वजनिक व्ययमें बड़ी वृद्धिकी गयी है। यह सब कर-वृद्धि द्वारा ही सम्भव हुआ है जिसके कारण अनुत्पादक व्ययकी मात्रा बढ़ती है और उद्योगोंके निमित्त रुपया खर्च करनेकी लोगोंकी शक्ति क्षीण होती है। यद्यपि कहनेके लिये करों—विशेष करके आयकर, व्यवसन-करके समान प्रत्यक्ष करों—का भार अधिकतया धनी पुरुषोंपर ही पड़ता है, तो भी रेल-किरायेकी तथा लवणकर एवं पदार्थोंके रेल द्वारा गमनागमनके किरायेकी वृद्धिका भार ग़रीबोंपर पड़ता है। इसके सिवाय अतिरिक्त-कर तथा उद्योगोंपर लगाये गये अन्य करोंसे एवं अधिक कर देनेके कारण धनवानोंकी बचत घट जानेसे उद्योगोंकी प्रत्यक्ष हानि होती है। जो द्रव्य उत्पादक कार्योंमें लगाया जा सकता था, उसकी मात्रा घट जाती है एवं औद्योगिक विकास रुक जानेसे मजदूरोंको काम भी कम मिलता है।

[जुलाईके 'माडर्न रिव्यू'से]

*　　*

*

चरखा-करघा।

चरखों-करघोंके प्रचारसे एक ही वर्षमें आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। गत कई वर्षोंसे भारतमें व्यापारिक लूटकी मात्रा बढ़ती ही जा रही थी। संवत् १९७१ में इसका अनुमान ३२ करोड़ रुपयेका था, किन्तु संवत् १९७७ में वह १०३ करोड़ रुपये हो गया। देशकी आर्थिक स्थितिपर इस व्यापारिक लूटका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। चर-

खेने इसकी वृद्धि रोक दी है। एक वर्षके कार्यसे विदित होता है कि अब इसकी मात्रा आधी रह गयी है अर्थात् लगभग ६० करोड़ रुपये। यह कोई कम सफलता नहीं है। चरखेकी प्रशंसामें दिये गये सैकड़ों व्याख्यानोंकी अपेक्षा ये अंक इतने सत्य हैं कि इनमें कोई दोष नहीं निकाला जा सकता। चरखेकी सफलतामें जिन्हें अब भी कुछ सन्देह रह गया हो, उनका भ्रम उक्त अंकोंसे दूर हो जायगा। करघों द्वारा तैयार किये गये वस्त्रोंका परिमाण, चरखोंके प्रसारके पहिले ही, देशकी कुल खपतका चौथाई भाग था। इसमें सन्देह नहीं कि नया प्रोत्साहन मिलनेसे इस प्रकारके वस्त्रोंकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ गयी है, किन्तु इसके ठीक ठीक अंक पाना सम्भव नहीं है। अब बड़े बड़े सम्मानित घरानेके लोग भी अपने ही घरमें सूत कताकर स्थानीय जुलाहे द्वारा वस्त्र बुनवाना अपनी प्रतिष्ठाके विरुद्ध नहीं समझते। यदि भारतके हजारों क्षुधा-पीड़ित मनुष्योंको किसीने रोटी कमानेका सिलसिला उत्पन्न कर दिया है, साथ ही साथ भारतवर्षको इस सम्बन्धमें स्वावलम्बी बनानेमें सहायता की है तो वह चरखेका आन्दोलन ही है।

[जूनके "कामर्शल इंडिया" से]

* *
*

रूईका निर्यात और वस्त्रोंका आयात।

अभी उस दिन मद्रास प्रान्तके प्राकृतिक-साधनोन्नति-विभागके सचिवने अपने भाषणमें कहा था "(भारतमें) कपास, तिल, नारियलके समान औद्योगिक फसलें अधिक मात्रामें पैदा होती हैं और बाहर भेजी जाती हैं, किन्तु बदलेमें भारतको उतना कपड़ा तथा तेल आ जाता है।" इसकी आलोचना करते हुए "कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज" नामक पत्र लिखता है—

संवत् १९७६ में भारतने कुल ५८·६५ करोड़ रुपयेकी रूई बाहर भेजी, इसमें केवल ४·१६ करोड़की रूई ब्रिटिश साम्राज्यमें भेजी गयी, शेष अन्य देशोंमें।...ब्योरा यह है

देश	भेजी गयी रूईका मूल्य
जापान	४१·२२ करोड़ रुपये
ब्रिटिश संयुक्त राज्य	३·७२ "
इटली	३·५० "
बेलजियम	३·१२ "
चीन	१·६८ "
जर्मनी	१·१६ "
स्पेन	१·०० "

इस प्रकार कुल निर्यातका ७९ फी सैकड़ा भाग जापानको गया और केवल ८ फी सैकड़ा इंग्लैण्डको।... जिन देशोंसे जितने मूल्यके सूती वस्त्र हमारे यहां आये उनका विवरण यह है

देश	मूल्य रुपयोंमें
ब्रिटिश संयुक्त राज्य	५०·८० करोड़
जापान	५·६९
हालैण्ड	·६८
संयुक्त राज्य अमेरिका	·५४
इटली	·२७

यदि सचिव महाशयका कथन सत्य होता तो जापानसे बहुत अधिक माल आना चाहिये था और ब्रिटेन, इटली तथा बेलजियमसे प्रायः बराबर बराबर आना चाहिये था। किन्तु वास्तवमें ८० प्रतिशत वस्त्र केवल ब्रिटेनसे ही आये।... ब्रिटेन बाहरसे जितनी रुई मंगाता है उसका सिर्फ ४ फी सैकड़ा भाग भारतसे जाता है। शेष रुई वह अमेरिका तथा मिश्रसे मंगाता है।... किन्तु ब्रिटेनके कुल निर्यात सूती वस्त्रोंका २५ या ३० फी सैकड़ा भाग भारतमें आता है।... वहां छ करोड़ तकुए चलते हैं, किन्तु भारतमें ६० लाख ही चलते हैं।...

रूईके सम्बन्धमें तो किसी प्रकार यह कहा भी जा सकता है कि हम जितनी रुई बाहर भेजते हैं उसका काफी अंश हमें वस्त्रोंके रूपमें वापस मिल जाता है—यद्यपि साथ ही हमें विदेशी जहाज कम्पनियोंको दोनों ओरका भाड़ा, दलालों, विदेशी पूंजीपतियों तथा श्रमजीवियोंका मुनाफा भी देना पड़ता है—तो भी तिल इत्यादिके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती।

संवत् १९७६ में हमने कुल ९·४३ करोड़ रुपयोंके तेल बाहरसे मंगाये। इसमें ९·२६ करोड़ उन तेलोंका मूल्य है जो खानिसे निकाले जाते हैं। तिल तथा खोपड़े इत्यादिके तेलका मूल्य केवल आठ लाख रुपये था, किन्तु हमने कुल २६ करोड़ रुपयोंके ऐसे पदार्थ बाहर भेजे थे जिनसे तेल निकाला जाता है।... तेल उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंका इतनी अधिक मात्रामें देशके बाहर चला जाना हमारी कृषिके लिये अत्यन्त हानिकारक है, क्योंकि इससे जो खली निकलती यदि वह देश में रहती तो मवेशियोंके खाने तथा खेतमें खाद डालनेके काम आती। किन्तु यह कहना कि ये वस्तुएं बाहर भेजकर हम उन्हें तेलके रूपमें पुनः प्राप्त कर लेते हैं, बिलकुल भिन्न बात है।

['कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज'से]

रंगके व्यापारमें प्रतियोगिता

गत यूरोपीय युद्धके पहिले रंग बनानेके कारखाने प्रधानतया जर्मनीमें ही थे और वहींसे प्राय: सारे संसारकी मांग पूरी की जाती थी। "मैसूर एकानामिक जर्नल" में सर आलफ्रेड चैटरटन महाशय लिखते हैं—

फ्रांस-जर्मन युद्ध और गत यूरोपीय युद्धके बीचके चालीस वर्षोंमें जर्मनीके रासायनिक उद्योगने आश्चर्यजनक उन्नति कर डाली। रंगकी वस्तुओं और सूक्ष्म रासायनिक पदार्थोंके तैयार करनेमें तो एक प्रकारसे संसारभरमें जर्मनीको ही एकाधिकार प्राप्त हो गया था। क्षणमात्रमें सभ्य जगत्के अभिमान सूचक इन पदार्थोंका बनाना छोड़कर जर्मनी राशि-राशि प्राणघातक वायु तैयार करनेमें दत्त-चित्त हो गया। संधि होनेके बादसे जर्मनीकी रसायनशालाएं थोड़े-बहुत नियंत्रणमें काम कर रही हैं और उनमें तैयार की गयी वस्तुएं आंशिक क्षतिपूर्त्तिके रूपमें मित्रोंको दे दी गयी हैं। यह नियंत्रण शीघ्र ही हटा लिया जायगा, तब फिर संसारके बाजारमें वे अपना पूर्वस्थान पा सकेंगी।

यही सोचकर अब ब्रिटेनवालोंको बड़ी चिन्ता हो गयी है। उन्हें भय है कि युद्ध-कालमें रंग इत्यादिके जो कारखाने हमारे देशमें खोले गये थे वे कहीं जर्मन प्रतियोगिताके कारण बन्द न हो जायँ। प्रधानतया इसी उद्देशसे युद्धके बाद "सेफगार्डिंग आफ इंडस्ट्रीज एक्ट" (उद्योग-रक्षण-विधान) नामक क़ानून बनाया गया। स्वतन्त्र वाणिज्यका दम भरनेवाले इंग्लैण्डने भी स्वार्थसे प्रेरित होकर यह रक्षणात्मक क़ानून बनाना आवश्यक समझा। किन्तु जान पड़ता है कि इस कानूनकी मददसे भी इंग्लैण्डवालोंको रंग तैयार करनेवाले कारखानोंकी रक्षाका विश्वास नहीं। सर विलियम राबर्टसनने ब्रिटिश सरकारको और भी कई उपाय सुझाये हैं। इतना ही नहीं भारतवर्षपर भी इन लोगोंकी आंखें लगी हुई हैं। देखिये आलफ्रेड महाशय क्या कहते हैं—

अब यह (रंग तैयार करनेका) उद्योग राष्ट्रीय महत्त्वका प्रश्न हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'उद्योग-संरक्षण-विधान' से रंग तैयार करनेवाले ब्रिटिश व्यापारियोंकी बहुत कुछ रक्षा हो सकेगी, किन्तु इतनेसे ही काम न चलेगा। भारत ऐसा देश है जहां संसारके रंग तैयार करनेवाले व्यापारी अपनी आवश्यकतासे बचा हुआ अंश (सरलतासे) खपा सकते हैं। भारतमें रंगके पदार्थोंकी बड़ी मांग है और उसका व्यापार भी लाभप्रद है। भारतके साथ रंगों और सूक्ष्म रासायनिक पदार्थोंका व्यापार जिसके हाथमें रहेगा वही रासायनिक उद्योगोंमें सबसे बढ़ा-चढ़ा बन सकेगा। भविष्यमें इसके लिये ब्रिटिश

और जर्मन व्यापारियोंमें प्रतियोगिता होगी। ब्रिटिश व्यापारियोंके सामने एक कठिनाई यह है कि उनके प्रतिद्वन्द्वियोंको चालीस वर्षका अनुभव प्राप्त है।

लेखक महाशयने सलाह दी है कि "भारतको जर्मनीके रंगोंका आना अपने यहां बन्द कर देना चाहिये।" आपको आशा है कि 'आर्थिक कमीशन' के फल स्वरूप इस व्यापारमें भी संरक्षण किया जा सकेगा। यदि हम थोड़ी देरके लिये मानलें कि भारतमें संरक्षक नीति शुरू हो जायगी तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रंगोंके व्यापारमें केवल संरक्षण करनेसे ही क्या होगा, जबतक भारतमें उनके तैयार करनेका भी प्रयत्न न किया जावे? फिर यदि बाहरसे रंगोंका आना रोका ही जाय तो जर्मनीके ही रंगोंका आना क्यों रोका जाय?

["मैसूर एकानामिक रिव्यू" से]

* *
*

मुगलशासनमें न्याय वितरण

जिन सूबेदारों के सम्बन्धमें अखबार नवीसों या गुप्त सूचनाओंसे यह पता लगता कि वे अपनी शक्ति तथा अधिकारोंका दुरुपयोग कर रहे हैं, उन्हें शीघ्र बुलाकर बड़ी डांट-डपट की जाती या कड़ी सजा दी जाती थी। ऐसे बहुतसे जुल्म होते होंगे जिनकी खबर शाहनशाहके कानोंतक पहुंचतीही न होगी, पर अकबर और जहांगीर, इन दोनोंमें कोई छोटेसे छोटे जुल्मका भी हिमायती नहीं था। लूटमार तथा किसी निष्ठुर कार्यकी ओर अपने अफसरोंकी प्रवृत्ति देखकर उसका अन्त करने तथा दण्ड देनेकी योजना शीघ्र कर देते थे। जहांगीरने सय्यदखांको पंजाबका सूबेदार नियुक्त किया। नियुक्तिके थोड़ेही दिन बाद उसे स्पष्टरूपसे चेतावनी दी गयी कि अगर तुम्हारे दुष्ट खोजे प्रजापर अत्याचार करेंगे तो मैं इसका सहन न कर सकूंगा क्योंकि न्याय- तुलापर तौलते समय लघुता और महत्ताका विचार नहीं किया जाता। इस चेतावनीके बाद यदि तुम्हारी ओरसे प्रजापर किसी प्रकारका निर्दय व्यवहार हुआ तो बिना किसी पक्षपातके तुम्हें दण्ड दिया जायगा। एक व्यक्तिगत निर्दय कार्यके लिए शाहनशाह ने अपने प्रियपात्र मक़र्रब खांका मनसब घटा कर आधा कर दिया। थाताके सूबेदार मिर्जा रुस्तमको, अत्याचारपूर्ण शासन करनेके कारण पहले तो शाहनशाहने वापस बुलाकर उसकी खूब मरम्मत की। फिर अभियोगकी जांचकर आदर्शरूपसे दण्डित करनेके लिए उसे राज-

नैतिक कारागारके जेलर अनिर रायसिंह दलनके सुपुर्द कर दिया। मिर्जाने अपने कार्योंके लिए पश्चात्ताप प्रकट कर क्षमा चाही। अन्तमें पूर्णत: अपमानित होनेपर ही उसे क्षमा मिली। जौनपुरका जालिम चिन कुलिच खां भी अच्छी तरह दण्डित किया जाता पर दैवयोगसे मार्गमें ही उसका प्राणान्त हो गया। राजा कल्याणसिंहके सम्बन्धमें भी कुछ असन्तोषजनक बातें सुननेमें आयी थी पर जांच होनेपर वह सर्वथा निर्दोष प्रमाणित हुआ। साम्राज्यका प्रसिद्ध सैनिक, शाहजहांका प्रिय पात्र, गुजरातका गवर्नर अब्दुल्लाखां फिरोजजंग भी इसी प्रकार बुलाकर अपमानित किया गया था, माफीके लिए उसे अपने संरक्षकका द्वार खटखटाना पड़ा। अपने अधीन सूरतके सूबेदारको अंग्रेज व्यापारियोंको तंग करने देनेके कारण स्वयं शाहजहांको पूर्ण-शक्तिशाली होनेपर भी बड़ी फटकार खानी पड़ी थी। श्री हाकिन्सके कथनानुसार, सूबेदारोंके अन्यायकी शिकायत शाहनशाहके कानतक पहुंच जानेपर यदि जागीरसे हाथ धोनेपर भी उनका पिण्ड छूट जाता तो इसे ग़नीमत ही समझिये। जहांगीर न्यायपर बहुत ज़ोर दिया करता था। एक प्रभावशाली व्यक्तिको हत्याके अपराधमें उसने प्राण-दण्ड दिया था। उसने लिखा है, "परमेश्वर न करे मुझे ऐसे मामलोंमें राजा-रईसोंके साथ विशेष विचार करना पड़े।"

['जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री'से]

* *
*

अर्जेण्टाइन देशकी आर्थिक स्थिति।

युद्धके कारण सारे संसारमें जो आर्थिक हलचल मच गयी है उसका एक उदाहरण दक्षिण अमेरिकाके 'अर्जेण्टाइन' देशकी स्थिति है।

गत महायुद्धके बाद अर्जेण्टाइनको अपना कच्चा माल तथा खाद्य पदार्थ अपने पूर्व खरीददारोंके हाथ, जो कि हालमें ही युद्धनिरत थे, बेच सकनेकी आशा थी। किन्तु ये देश अपने आर्थिक ह्रास तथा मुद्रा-पतनके कारण विदेशियोंसे माल खरीदनेमें असमर्थ थे। अतः अर्जेण्टाइनमें ऐसा बहुतसा माल इकट्ठा हो गया जिसका न तो वह उपयोग ही कर सकता था और न उसे उद्योगोंमें ही खपा सकता था, क्योंकि वहांकी आबादी बहुत थोड़ी है और उसकी औद्योगिक शक्ति भी पर्याप्त नहीं है। बड़ी कठिन व्यापारिक समस्या उपस्थित हुई।

"ला रेविस्टा एकानामिका इ फिनान्ज़ज़" नामक पत्र कहता है कि संसारकी परिस्थितिने नये प्रकारका औद्योगिक संरक्षण उत्पन्न

कर दिया है; अब आयात-कर इस उद्देश्यसे नहीं लगाये जाते कि उनके कारण किसी वर्गविशेषके लोगोंको लाभ पहुंचे, प्रत्युत इस ख्यालसे लगाये जाते हैं कि उनसे लोगोंको काम मिले और सारे देशका कल्याण होसके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इंग्लैण्डके समान परम्परासे स्वतंत्र वाणिज्यके पक्षपाती देशोंने भी आयात मालपर बड़े बड़े कर लगा दिये हैं। पुरानी व्यापारिक सन्धियां तोड़ दी गयी हैं और कड़ा आयात-कर लगाया गया है। जब ग्राहकोंने पदार्थोंका मूल्य बढ़ जानेकी शिकायत की तो उन्हें उत्तर दिया गया "काम करो, माल उत्पन्न करो और उसे बाहर भेजो।"

...खेतोंकी सब उत्पत्ति बड़ी राशियोंमें एकत्र हो गयी है, क्योंकि उसमें माल तैयार करने, उसे स्थानान्तरित करने एवं बाहर भेजनेके निमित्त देश विदेशी-व्यापारके आश्रित है। मवेशी रखनेवाले और अनाज पैदा करनेवाले ही अर्जण्टाइनकी आर्थिक दृढ़ताके केन्द्र हैं। वे अपना माल बेच सकनेमें असमर्थ हैं। सारे देशपर इसका प्रभाव पड़ रहा है।

...एक और कठिनाई है। व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल होनेके कारण रुपया देशके बाहर भेजना पड़ता है, अतः देशकी क्रय-शक्ति भी घट रही है। राष्ट्रीय उद्योगोंको प्रोत्साहन मिलना चाहिये। पहिला उपाय यह है कि राष्ट्रकी विशेषताओंके अनुरूप विदेशी मालपर आयात-कर लगाया जावे।

जो विदेशी माल लागत मूल्यसे भी कममें बेचा जाता है, उसके विरुद्ध अर्जण्टाइनमें कोई क़ानून नहीं है। परिणाम यह होता है कि जहां अर्जण्टाइनके मालको विदेशोंमें रक्षणात्मक करोंका सामना करना पड़ता है, वहाँ विदेशी सस्ता माल लागत मूल्यसे भी कममें बेचा जाकर, यहाँके प्रारंभिक उद्योगोंका गला घोंट रहा है। इसका प्रतिफल अधिक विस्तृत औद्योगिक संकट, बेकारी एवं सामाजिक उथल-पुथल है।

...इंग्लैण्डमें छ हजारसे अधिक ऐसे पदार्थ हैं—चश्मे इत्यादि, औषधियाँ, काँचका सामान, बिजलीका सामान—जिनपर मूल्यके अनुसार एक तिहाई आयात-कर लगाया गया है। विदेशसे आनेवाले जो पदार्थ लागत मूल्यसे कम मूल्यपर बेचे जाते हैं उनपर फी सैकड़े ३३⅓ कर लगाया गया है।

[अमेरिकन "रिव्यू आफ रिव्यूज़" से]

सम्पादकीय ।

संयुक्त प्रान्तका व्यापार ।

संवत् १९७७ के संयुक्त प्रान्तके व्यापारकी सरकारी रिपोर्ट संवत् १९७९ में प्रकाशित हुई है। ऐसे लोकोपयोगी विवरणोंका इतने विलम्बके बाद प्रकाशित होना अत्यन्त शोचनीय है। संवत् १९७७ में पूर्व वर्षकी अपेक्षा कुल ११५¾ लाख मनका व्यापार अधिक हुआ। मूल्यके लिहाज़से इस वर्ष (१९७७) के व्यापारमें ८७ लाख रुपयेकी वृद्धि हुई। संवत् १९७६ में रेलों द्वारा लगभग ६ करोड़ ६२ लाख मन माल बाहरसे आया था, संवत् १९७७ में लगभग ६ करोड़ ८२½ लाख मन आया अर्थात् इस वर्ष (१९७७) में हमने अन्य प्रान्तोंसे २०½ लाख मन माल अधिक मँगाया। संवत् १९७६ में लगभग ४ करोड़ ४७ लाख मन माल संयुक्त प्रान्तसे बाहर भेजा गया, संवत् १९७७ में इसका परिमाण बढ़कर लगभग ५ करोड़ ४२½ लाख मन हो गया। नौकाओं द्वारा जो माल बाहर भेजा जाता है उसमें संवत् १९७७ में पहिले वर्षकी अपेक्षा वजनमें ३५३ मनकी ओर मूल्यमें लगभग ६६ हजार रुपयोंकी घटी हुई। किन्तु बाहरसे जलमार्ग-द्वारा आने वाले मालमें इस वर्ष (१९७७ में) लगभग ५१½ हजार मनकी वृद्धि हुई जिसका मूल्य १२¾ लाखसे भी अधिक हुआ। चावलको छोड़ अन्य सब खाद्य पदार्थोंका भाव संवत् १९७७ में पूर्व वर्षकी अपेक्षा प्रति तीन माससें उतरता गया।

* *
*

सहायक भारतमंत्रीका भाषण।

गत पहिली आषाढ़को सहायक भारतमंत्री श्री अर्ल विण्टर्टनने अपने विभागका आय-व्यय-पत्र उपस्थित करते हुए जो भाषण किया वह एकदम निःसार होते हुए भी हमारे मतलबका है। उन्होंने भारत सम्बन्धी प्रायः सभी बातों पर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है, किन्तु जब इस विषयमें उनका मस्तिष्क स्वयं ही अन्धकारमय हो तो वे इन बातोंपर कहां तक प्रकाश डाल सकते हैं? श्रीकर्नल वेजवुडके यह कहने पर कि भारतमें राजनीतिक कैदियोंकी संख्या बीस हजारसे अधिक है, आपने उनके अनुमानको गलत बतलाया। १२ दिनके बाद अर्थात् १३ आषाढ़को पार्लमेण्टमें श्री कर्नल वेजवुडके प्रश्न करने पर आपने फिर कहा था कि मेरे विचारसे भारतके राजनीतिक कैदियोंकी संख्या चार हजारसे अधिक न होगी, बीस हजारका अनुमान ग़लत है। इधर इस घटनाके पांच ही दिनके बाद १९ आषाढ़ (३ जुलाई) को बंगालकी व्यवस्थापक सभामें श्री स्टेफेन्सनने कहा कि "१८ नोम्बरसे १० फरवरी तक बंगालमें कुल ९,६०० मनुष्यों-की गिरफ्तारी हुई।" क्या "क्रिमिनल ला एमण्डमेण्ट एक्ट" (फौजदारी कानूनके संशोधन विधान) की सत्रहवीं धाराके अनुसार गिरफ्तार किये गये मनुष्य राजनीतिक

कैदी नहीं समझे गये हैं ? अथवा कुछ समझे गये हैं, कुछ नहीं समझे गये ? चाहे जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनमें से अधिकांश मनुष्य राजनीतिक बातोंके कारण ही गिरफ्तार हुए थे*। उन्होंने कहीं चोरी न की थी और न कहीं डाका डाला था। जब केवल एक प्रान्तकी यह हालत है तो सारे देशमें राजनीतिक कैदियोंकी संख्याका बीस हजार तक पहुँच जाना जरा भी आश्चर्यजनक नहीं है। इसी लिए हम कहते हैं कि सहायक मंत्रीको भारतीय स्थितिकी पूरी पूरी जानकारी नहीं है। जानकारी प्राप्त करनेकी वे कितनी चेष्टा करते हैं, भगवान् जानें, हां, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि वे चमकीले-भड़कीले भाषण देकर ही किसी तरह अपना पिंड छुड़ाना चाहते हैं।

आपकी रायमें भारतकी उन्नतिके लिये रेलोंका फैलाना "अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त आवश्यक" प्रश्न है। आपको भी खूब दूरकी सूझी ! तभी तो आपने लोगोंको शिक्षित बनाना, उन्हें राजनीतिक अधिकार देना, उनकी आर्थिक स्थिति सुधारना, उनके उद्योगोंकी उन्नति करना, यहांका सैनिक व्यय घटाना इत्यादि इन सब बातोंको छोड़ कर रेलोंको ही भारतकी उन्नतिके लिये "अत्यन्त आवश्यक" बतलाया। आपने इस बातपर भी ज़ोर दिया कि हालमें जो नया भारतीय ऋण लिया गया है वह एकमात्र भारतीय रेलोंके निमित्त व्यय किया जायगा। भारत सरकारने रेलोंके लिए जो तीस करोड़ रुपये व्यय करनेकी अनुमति दी है, उसके सम्बन्धमें यह आशा करना तो व्यर्थ ही है कि उसकी सहायतासे मुसाफिरोंकी असुविधाएं दूर करनेकी या रेल किराया घटानेकी चेष्टा की जायगी। हां यह संभव है कि रेलोंकी थोड़ी बहुत वृद्धि कर दी जाय। अच्छा है, रेलोंके बढ़नेसे विलायती मालका प्रसार ज़रूर बढ़ेगा और यही भारतकी सच्ची उन्नति है ! इसीसे हम कहते हैं कि अर्ल महोदयको भी खूब दूरकी सूझी।

घाटेकी पूर्त्तिके लिए भारत सरकार किन उपायोंका प्रयोग करेगी, आपकी दृष्टिमें इस सम्बन्धमें कुछ कहनेका अभी अवसर नहीं आया है। आपने कहा "हो सकता है कि व्यापारके पुनरुद्दीपन एवं देशकी वर्द्धमान शान्तिपूर्ण आन्तरिक अवस्थाके कारण इस वर्ष आमदनीकी आशा बहुत कुछ अच्छी हो जाय।" तो क्या व्यय-संकोच समितिकी सिफारिशोंके कार्यमें परिणत किये जानेकी आशा नहीं है ? आपके कथनसे तो ऐसी ही शंका होती है। विवादका उत्तर देते समय आपने पुनः एक दो बातें ऐसी कहीं जिनसे हमारी यह भावना और भी दृढ़ होती है।

भारत सरकारकी नीतिका उल्लेख करते हुए लार्ड विंटर्टनने कहा कि "सैनिक नीतिके विषयमें मुझे कोई नयी बात नहीं कहनी है। उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है।" सैनिक नीति ही क्यों हमारे ख्यालसे तो आपको अन्य किसी सम्बन्धमें भी कोई नयी बात नहीं कहनी थी और न आपने, वास्तवमें, ऐसी कोई बात कही ही है। सैनिक नीति

* हालमें भी भारत सरकारने एक विज्ञप्तिद्वारा प्रकट किया है कि राजनीतिक कैदियोंकी संख्या ३८१५ है। आश्चर्य !

अभी तक अपरिवर्त्तित है, यह तो हम भी जानते हैं। पर हम पूछते हैं कि क्या भारत सरकारका इतना दिवाला निकलने पर भी वह न बदलेगी? लक्षण तो कुछ कुछ ऐसे ही प्रतीत होते हैं। सदस्योंका विवाद समाप्त होने पर आपने कहा कि "मैं यह नहीं मान सकता कि इस समय भारतके सैनिक संरक्षणका व्यय आवश्यकतासे अधिक (एक्ट्राविगेण्ट) है। सीमा प्रान्तकी रक्षाके कारण सामान्य व्ययकी अपेक्षा सैनिक व्ययका अनुपात अधिक होगा ही।" यह तो हम भी नहीं कहते कि आप सीमा प्रान्तकी रक्षा न करें। आप खुशीसे अपने प्रान्तकी रक्षा कीजिए, पर बार बार आगे बढ़कर छेड़छाड़ करनेकी नीति (फार्वर्ड पालिसी) तो त्याग दीजिए। क्या वह भी परिवर्त्तनके योग्य नहीं? क्या जंगली जातियोंकी हद्दमें घुस जाना ही सीमाप्रान्तकी रक्षा है? वजीरिस्तानमें जो लाखों रुपये खर्च हो रहे हैं उसके सम्बन्धमें आपने केवल इतना ही कहा कि दो वर्ष पहिले जो नीति स्थिरकी गयी थी वह अब भी जारी है। आपने उक्त नीतिके अब भी जारी रखनेकी आवश्यकताके सम्बन्धमें एक शब्द भी नहीं कहा। जब कि सारे देशमें और अन्यत्र भी भारत सरकारकी सैनिक नीतिका इतना घोर विरोध हो रहा है, तब सहायक मंत्रीको इस सम्बन्धमें कुछ तो कहना चाहिये था। कानमें तेल डालकर चुप बैठ रहनेसे काम थोड़े ही चलेगा।

आपने रुईके वस्त्रोंपर लगाये गये आयातकरके सम्बन्धमें इस वर्ष कोई बातचीत करना अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि इस वर्षका आय-व्यय तो स्वीकृत हो ही चुका है। आपने कहा कि भविष्यमें किसी अवसर पर मैं मुख्य मुख्य बातें ब्योरेवार सुननेको तैयार हूँ। इस आश्वासनका क्या अर्थ है, हमारी समझमें नहीं आता। यदि इसका यह आशय हो कि भारत सरकार तथा उसकी व्यवस्थापक सभाके सदस्योंका मतैक्य होते हुए भी आप लैंकेशायर वालोंके अनुरोधसे इस सम्बन्धमें हस्तक्षेप करनेको तैयार हैं, तो फिर आपका यह कहना गलत है कि श्रीमाण्टेगूके हट जानेसे हमारी नीतिमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है। आपके विचारोंसे प्रकट होता है कि यदि आपकी चलती तो आप इसी वर्ष लैंकेशायर वालोंके लिये कुछ कर डालते, पर क्या करें उस समय तो भारतमंत्रीकी गद्दी पर माण्टेगू साहब बैठे हुए थे। मौक़ा निकल गया, इसी लिये आपने भविष्यकी आशा दी है।

विदेशोंमें भारतीयोंकी स्थितिका उल्लेख करते हुए आपने कहा कि "इसमें अनेक कठिनाइयां हैं और मेरा विश्वास है कि समय ही उन्हें दूर करेगा।" समयके भरोसे बैठ रहनेके आपके तुच्छ आशावादकी प्रशंसा करना हमारी शक्तिके बाहर है। साम्राज्य सम्मेलनमें ऊपरसे भारतके प्रति सद्भाव दिखलानेके लिये तो यह प्रस्ताव पास कर लिया गया था कि साम्राज्यके किसी भी भागमें जो भारतीय कानूनन बस गये हों उन्हें नागरिकके पूर्ण अधिकार दिये जायँ, किन्तु वह आजतक कार्यमें परिणत नहीं किया गया। दक्षिण आफ्रिकाके सम्बन्धमें सहायक मंत्रीने भी यह बात स्वीकार की है। जब साम्राज्यके उपनिवेश केनियामें ही इस नीतिका अवलम्बन नहीं किया गया, जिसके

साथ साम्राज्य सरकारका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, तो फिर अन्यत्र क्या आशा की जा सकती है? संभव है इसका कुछ प्रभाव आफ्रिका वालोंपर भी पड़ा हो। फिजीवाले तो प्रतिनिधि शासनकी प्रणाली तक त्याग देनेको तैयार हैं, पर वे भारतीयोंको बराबरीका अधिकार देनेको तैयार नहीं हैं। भारतीयोंके लिये यह प्रश्न राष्ट्रीय महत्त्वका है। इस प्रश्नका सम्बन्ध हमारी राष्ट्रीय मर्यादाके साथ है। श्रीयुत पोलक और श्रीयुत एण्ड्रूज़ महोदय इसके लिये कितना आन्दोलन कर रहे हैं, पर भारत मंत्रीके कानमें शायद ही उनके शब्दोंकी भनक पहुँचती हो! नहीं तो सहायक मंत्री इतने बड़े प्रश्नके विषयमें केवल अपनी संक्षिप्त मौखिक सहानुभूति प्रकट करनेमें ही अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री न समझ लेते।

भारतके उदारदलवालोंके सम्मानकी वस्तु, भूतपूर्व भारतमंत्री श्री माण्टेगूकी प्यारी सुधार-योजनाके सम्बन्धमें सहायकमंत्रीने सम्पूर्णरूपसे वैराग्य तो नहीं धारण किया, फिर भी आप बहुत कुछ उदासीन ही रहे। आपने कहा "यह कहना कि १८ मासके अनुभवने यह स्पष्ट कर दिया है कि सुधार-योजनामें और भी संशोधन होना चाहिये एवं भारतीयोंको अन्य अधिकार मिलनेकी रुकावटें दूर होनी चाहिये, बिलकुल ग़लत है। उसी प्रकार यह कहना भी सत्य नहीं है कि नूतन सुधार असफल हुए अतः वे विनष्ट कर दिये जायँ।" आपकी इस उदासीन सम्मतिसे हमारे दो चार उदारदलके नेता बहुत बिगड़े हैं। पर सहायक मंत्रीको इसकी क्या परवाह है। वे तो यह देखते हैं कि यदि अतिवादियों (डाई हार्ड दल) का कहना मानकर "नूतन सुधार" छुड़ा लेते हैं तो भारतके उदारदलवाले भी कहीं असहयोगी न हो जायँ और यदि उन्हें अधिक स्वत्व दिये देते हैं तो इंग्लैण्डमें अन्य दलके लोग भी कहीं अतिवादियोंका साथ न देने लगें। अतः वे दोनोंओर बल-साम्य बनाये रखना चाहते हैं। आपकी इस चालसे यहांके उदार दलवाले अत्यन्त असन्तुष्ट हैं। उनके एक प्रमुख संवादपत्रने आपके इस भाषणको "भारतके प्रति सहानुभूति, राजनीतिज्ञता और भारतीय परिस्थितिके ज्ञानसे बिलकुल शून्य" बतलाया है।

* *
*

आयर्लैण्डमें गृहयुद्ध।

आयर्लैण्डको जो नूतन स्वराज्य दिया गया है उसका उल्लेख हम पौष मासके अंकमें कर चुके हैं। आयर्लैण्डकी राष्ट्रीय सभा डेल आयरियनके निर्वाचनके बाद आशा हुई थी कि अब वहां शान्ति स्थापित हो जायगी, क्योंकि नूतन शासन-व्यवस्थाको माननेवाले प्रतिनिधि अधिक संख्यामें निर्वाचित हुए थे। किन्तु गत कई आशाओंकी तरह यह आशा भी झूठी ही निकली। देशके दुर्भाग्यसे अब वहां आपसमें ही युद्धकी प्रचण्ड

आग प्रज्वलित हो उठी है। रोमन कैथालिक एवं प्रोटेस्टेगट सम्प्रदायवालोंके झगड़े जाने दीजिये, सिन फीनरों और ब्रिटिश सैनिकोंका हत्याकाण्ड एवं पाशविक दृश्य भी छोड़िये, अब तो सिन फीनरोंमें ही परस्पर मुठभेड़ हो रही है। कुछ सिनफीनर नूतन सन्धिके पक्षपाती हैं और कुछ अब भी प्रजातन्त्रवादी बने हुए हैं। सन्धि चाहनेवालोंके नेता श्री कालिन्स, श्री ग्रिफिथ इत्यादि हैं और प्रजातंत्रवादियोंके नेता श्री डीवेलेरा, श्री कैथलब्रुघा इत्यादि हैं। (श्री कैथलब्रुघा अस्थायी सरकार द्वारा पकड़ लिये गये थे। ३१ आषाढ़को उनका देहान्त हो गया)

इस तीक्ष्ण विस्फोटका प्रथम धड़ाका डबलिन नगरमें ही हुआ। यद्यपि "स्वतंत्र राष्ट्रवादियों" अर्थात् संधिके पक्षवालोंने प्रजातंत्रवादियोंका प्रधानकेन्द्र "फोर कोर्ट्स" नामक स्थान ले लिया, फिर भी शान्ति न हुई। देखते देखते लिमेरिक, कार्क, किलडेरा इत्यादि स्थानोंसे भी यही समाचार आने लगे। आयर्लैण्डके पूरे पूरे समाचार संभवतः हम लोगोंको नहीं मिलते। किन्तु जो कुछ हमें ज्ञात हो रहा है वही वहांकी भीषण अशान्तिका अन्दाज़ा लगानेके लिये काफी हैं।

यद्यपि पहिलेके समाचारोंसे यह नहीं जान पड़ता था कि डीवेलेराने अपने साथियोंको मारपीट करनेके लिये उत्तजित किया था, उन्होंने इस सम्बन्धमें एक विज्ञप्ति भी प्रकाशित की थी, किन्तु बादके समाचारोंसे तो यह स्पष्ट ही प्रतीत हो गया है कि वे विप्लवकारियोंके साथ शामिल हो गये हैं।

श्री डीवेलेराका यह कहना कि श्रीचर्चिलके इशारेसे और "व्हाइटहाल" की इच्छासे ही अस्थायी सरकारने प्रजातंत्रवादियोंसे युद्ध करनेका निश्चय किया, कहां तक सत्य है, नहीं कह सकते। इतना अवश्य है कि श्रीचर्चिलने अपने एक भाषणमें दक्षिण आयर्लैण्डको धमकी दी थी एवं प्रधानसचिव श्री लायड जार्जने भी यह कहा था कि "फोर-कोर्ट"से प्रतातंत्रवादियोंकी सेना हटा देना अस्थायी सरकारकी योग्यता और (संधिमें) दृढ़-विश्वासकी कसौटी होगी। श्रीकालिंसने डीवेलेराके कथनका विरोध किया है। उन्होंने तथा उनके साथियोंने बाहरसे ज़रा भी मदद न लेनेका निश्चय किया है। ईश्वर करे उनका यह निश्चय अन्ततक क़ायम रहे, अन्यथा कौन जाने आयर्लैण्डको फिर बेडियां पहिननी पड़ें। जिस समय संधिकी शर्त्तोंपर आयर्लैण्डकी राष्ट्रीय सभा डेल आयरियनमें विवाद हो रहा था, उस समय डीवेलेरा (और उनके अनुयायियों) ने इस बातकी चेष्टा की थी कि सन्धि अस्वीकृत कर दी जाय, किन्तु जब थोड़ेसे बहुमतके कारण उनकी पराजय हुई तो वे राष्ट्रीय सभासे अलग हो गये थे। फिर भी बादमें डीवेलेराने कालिन्ससे यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि जनता द्वारा राष्ट्रीय सभाके सदस्योंका पुनर्निर्वाचन होनेपर भी संधिके पक्षवाले अधिक संख्यामें चुने जायँ तो ऐसी अवस्थामें मैं भी आपका साथ दूंगा। निर्वाचन समाप्त होनेपर देखा गया तो वास्तवमें संधि चाहनेवालोंकी

ही जीत हुई, किन्तु न जाने क्यों राष्ट्रका यह निर्णय देखकर भी डीवेलेराने कालिन्सका साथ न दिया ।

डी वेलेराका कहना था कि प्रजातंत्रवादियोंकी असफलताका कारण यह नहीं कि जनता वास्तवमें प्रजातंत्र नहीं चाहती, प्रत्युत उसका कारण इंग्लैण्डकी युद्ध विषयक धमकियां हैं। यदि आयरिश जनता इन धमकियोंसे भयभीत न होकर अपनी निष्पक्ष सम्मति देती और वह वास्तवमें सन्धिके पक्षमें होती तो विप्लवकारीदल राष्ट्रके इस निर्णयको अवश्य स्वीकार कर लेता। यह कहांतक सत्य है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि प्रजाने खून खराबीसे डर कर ही संधि स्वीकृत की है। यदि उसे इसका भय न होता तो कदाचित् वह प्रजातन्त्रके पक्षमें ही अपनी राय देती। इंग्लैण्ड आयर्लैण्डके साथ जैसा बर्त्ताव करता आया है, उसे देखकर ताज्जुब नहीं आयर्लैण्डकी अधिकांश जनता वास्तवमें पूर्ण स्वतन्त्रताके लिये लालायित और भूखी हो उठी हो। यदि यह उद्देश शान्तिपूर्वक प्राप्त हो सकनेके लक्षण उसे दिखते तो वह सम्भवतः इंग्लैण्ड द्वारा दिये जानेवाले वर्त्तमान स्वराज्यकी अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनताके लिये ही अपना औत्सुक्य प्रकट करती। किन्तु, जैसा कि 'बंगाली' कहता है, "आयरिश जनताके सामने प्रश्न यह न था कि प्रजातन्त्र स्वीकृत किया जाय या ब्रिटिश सरकार द्वारा दिया जानेवाला होमरूल (स्वराज्य)? प्रश्न यह था कि होमरूल लिया जाय या इंग्लैण्ड और आयर्लैण्डके बीच पुनः दीर्घकालव्यापी युद्धका आवाहन स्वीकृत किया जाय।" अतः युद्ध और मारकाटसे उकताये हुए लोगोंके लिये अपनी इच्छाके विरुद्ध भी सन्धि स्वीकृत कर लेना अस्वाभाविक न था।

इन्हीं बातोंको समझकर प्रजातंत्रवादियोंने अपनी असफलता स्वीकृत न की और अपने उद्देशकी प्राप्तिके अभिलाषी बने रहे। वे इसके लिये शक्तिभर प्रयत्न करनेपर उतारू हैं। अपने देशको स्वाधीन बनानेके निमित्त वे पागलसे हो गये हैं। उनका यह प्रगाढ देश-प्रेम एवं बृहत् आत्म-त्याग देखकर उनकी प्रशंसा किये विना नहीं रहा जाता। किन्तु आयर्लैण्डकी जनता उनका साथ कहांतक देगी, यह अनिश्चित है। शान्तिपूर्वक स्वाधीनता मिल जाती तो बात ही दूसरी थी। उसके लिये इस प्रकार प्राण देने और विविध यंत्रणाएँ सहनेके लिये सभी लोग तैयार न होंगे। वे जो कुछ मिल रहा है उसीसे सन्तोष करेंगे और शेष अधिकारोंके लिये किसी अन्य अवसरकी प्रतीक्षा करेंगे।

इस समय सन्धि चाहनेवालोंके सामने अनेक कठिनाइयां हैं। यदि वे धैर्यपूर्वक इनका सामना कर सके तो इस कठिन अवसरपर वे देशकी अधिक बरबादी रोक सकते हैं एवं अपनी बुद्धिमानीसे जनताको अपने पक्षमें कर सकते हैं। यदि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ धमकियां देते रहें एवं अतिवादीदल अपनी चालसे बाज़ न आवे, साथ ही यदि बेलफास्टमें प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायवाले कैथालिकोंपर अत्याचार करते रहे तो अस्थायी

सरकारकी कठिनाइयाँ घट न सकेंगी। प्रजातंत्रवादियोंको शान्त करना कठिन हो जायगा। यदि अस्थायी सरकार कठोर उपायोंका प्रयोग करे तो वह अपने ही पांवपर कुल्हाड़ी मारेगी। उसकी सेनामें ही प्रजातंत्रवादियोंसे सहानुभूति रखनेवाले लोग हैं। ये तथा जनताका कुछ अंश जो अभी अस्थायी सरकारके पक्षमें है, संभव है इस पक्षसे हटकर प्रजातन्त्रके पक्षमें चला जाय। अतः ज्यादतियोंसे बचना चाहिये। यदि अस्थायी सरकार शान्ति, संयम तथा बुद्धिमत्तासे काम ले तो देशकी अराजकता और मारकाट बन्द हो सकती है, क्योंकि वास्तवमें जनता शान्तिके ही पक्षमें है। यदि दुर्भाग्यसे गृहयुद्ध अधिक दिनोंतक चला तो राष्ट्रकी शक्ति क्षीण हो जायगी। राष्ट्रकी दुर्बलता स्वतंत्रताकी साधक नहीं कही जा सकती।

*   *
*

भारतके साथ जर्मनीका व्यापार

जर्मनी पुनः भारतके साथ अपना व्यापार स्थापित करनेकी कितनी चेष्टा कर रहा है, यह गत पौषके "स्वार्थ" में प्रकाशित अंकोंसे प्रकट हो जायगा। युद्धके पूर्व संवत् १९७० में भारतके साथ जर्मनीके कुल व्यापारका मूल्य ३८ करोड़ ६६ लाख था, संवत् १९७६ में युद्ध-जात परिस्थितिके कारण वह १ करोड़ ४३ लाख ही रह गया। किन्तु संवत् १९७७ में फिर उसने वृद्धिकी। उस वर्ष भारतके साथ जर्मनीके व्यापारका मूल्य १३ करोड़ ५७ लाख अर्थात् युद्धके पूर्वके तृतीयांशतक पहुँच गया। संवत् १९७८ के प्रथमार्द्धके अंक देखनेसे प्रतीत होता है कि उस वर्ष इसकी मात्रा लगभग १९ करोड़ अर्थात् संवत् १९७० के आधे तक पहुँच गयी होगी। यदि जर्मनीने अपने व्यापारको बढ़ानेका यही क्रम जारी रखा तो संभवतः वह वर्षभरके भीतर ही युद्धके पूर्वकी अपनी स्थित प्राप्त कर ले। २ जुलाईके "स्टेट्समैन" में भारतसे बाहर जाने वाले चमड़ेके जो अंक प्रकाशित हुए हैं उनसे प्रकट होता है कि कमसे कम चमड़ेके जो अंक प्रकाशित हुए हैं उनसे प्रकट होता है कि कमसे कम चमड़ेके व्यापारमें तो जर्मनी अपनी पूर्व स्थिति प्रायः प्राप्त कर चुका है। भारतसे जितना चमड़ा बाहर जाता है उसका आधेसे अधिक भाग जर्मनी लेता है। युद्धकालमें भारत सरकारने निश्चय किया था कि विदेशमें जानेवाले सब चमड़ेपर १५ प्रतिशत कर लगाया जाय, किन्तु जो चमड़ा साम्राज्यमें ही रंगा या कमाया जाय उसपर १५ प्रतिशत कमी कर दी जाय" इतना होनेपर भी ब्रिटेन इससे लाभ न उठा सका। चमड़ेका व्यापार प्रधानतया जर्मनीके ही हाथ रहा। रंगके व्यापारकाभी यही हाल है।

—o:—

ज्ञातव्य विषय तथा अंक।

भारतीय पुतलीघरों द्वारा तैयार किया गया माल।

भारतीय पुतलीघरोंमें तैयार किये गये सूत तथा वस्त्रोंका व्योरा नीचे दिया जाता है—

समय (विक्रम)	तैयार किये गये सूतका परिमाण लाख सेरोंमें	तैयार किये गये कपड़ोंका परिमाण लाख सेरोंमें
चैत्र १९७९	२५५·१४५	१७१·३४
वैशाख ”	२७७·१८	१५८·५८५
ज्येष्ठ ”	२७५	१६०

ऊपरके अंक देखनेसे मालूम होता है कि पुतलीघरों द्वारा तैयार किये गये सूत तथा वस्त्रोंके परिमाणमें कोई विशेष वृद्धि नहीं हो रही है। वस्त्रोंका परिमाण तो गिरता हुआ सा नज़र आता है। संवत् १९७८ के ज्येष्ठ मासमें १९० लाखसेर कपड़े तैयार किये गये थे, किन्तु इस वर्ष उसी मासमें १६० लाख सेर वजनके ही वस्त्र बुने गये। खद्दड़के साथ साथ पुतलीघरोंके द्वारा तैयार किये गये कपड़ों एवं सूतकी भी वृद्धि होनी चाहिये, तभी देशकी आवश्यकताएँ यथेष्ठ रूपमें पूरी हो सकेंगी और हमें विदेशियोंका मुँह न ताकना पड़ेगा।

वैशाख १९७९ में भारतीय पुतलीघरोंमें ४ करोड़ ८१ लाख रुपयेके कपड़े तैयार हुए, किन्तु गतवर्ष इसी मासमें ५ करोड़ ७४ लाख रुपयेके हुए थे। गत वर्ष वैशाखमें हमने ४ करोड़ ३५ लाख रुपयेके कपड़े बाहरसे मंगाये, किन्तु इस वर्ष वैशाखमें सिर्फ २ करोड़ ८७ लाखका कपड़ा आया।

* *
*

भारतीयोंकी औसत वार्षिक आमदनी ।

बम्बईकी "भारतीय व्यापारियोंकी संस्था" के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदासने अपने एक भाषणमें भारतीयोंकी औसत वार्षिक आय और उनपर डाले गये कर-भारका जो ब्यौरा उपस्थित किया था, उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है—

वर्ष	प्रत्येक भारतीयकी औसत वार्षिक आय	निर्धारक	कर-भार
संवत् १६२८	२०)	श्री दादाभाई नवरोजी	१॥।-)
" १६३८	२७)	सर डेविड बारबर	२)॥
" १६५८	३०)	लार्ड कर्जन	२।=)॥
" १६६८	५०)	श्री कुक महाशय	२॥≡)॥
" १६७०	...	...	२॥।=)५
" १६७६	...	...	६-)८

[२ जुलाईके "सर्च लाइट" से]

•:◆:•

ओ३म् बन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३ खण्ड १ } भाद्रपद १९७९ { अङ्क ५ पूर्णाङ्क २९

कार्ल मार्क्सके राजसत्तासंबंधी विचार।

राजसत्ताके सम्बन्धमें भिन्न भिन्न तत्वज्ञोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कोई कहता है कि राजसत्ता इसलिये है कि मनुष्य मात्स्यन्यायसे एक दूसरेके सर्वनाशमें प्रवृत्त न रहें। शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहने युधिष्ठिरको यही सिद्धान्त समझाया था। आजकल भी इसके माननेवालोंकी कमी नहीं है। इन लोगोंका यह कहना है कि मनुष्यों, और फलतः समुदायों, की प्रतिस्पर्धा स्वाभाविक और अनिवार्य्य है। यदि कोई प्रबल शक्ति बीचमें न पड़े तो भूमण्डलके कोने कोनेमें सदैव महाभारत मचा रहे। राजसत्ता ही वह प्रबल-शक्ति है जिसके दबावसे सब प्रतिद्वन्द्वियोंको अपना द्वेषभाव कुछ न कुछ संवृत करना पड़ता है।

दूसरा पक्ष कहता है कि मनुष्यके मस्तिष्ककी रचना कुछ ऐसी विचित्र है कि जहां मनुष्य होंगे वहां किसी न किसी प्रकारका समाज स्वतः बन जायगा और धीरे धीरे यह समाज ही राजसत्तामें परिणत हो जायगा। यदि यह मत सत्य है तो जब तक पृथ्वीपर मनुष्य रहेंगे तबतक समाज और राजसत्ताका भी अस्तित्व रहेगा, चाहे उन मनुष्योंकी प्रकृति कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो। इस मतके अनुसार राजसत्ता मनुष्योंके एक स्वाभाविक गुणका स्वाभाविक विकास है।

तीसरा पक्ष यह है कि मनुष्यमें ऐसे बहुतसे सद्गुण हैं जिनका उपयोग तब ही हो सकता है जब मनुष्य समुदाय बनाकर रहें। जलत्व पानीके बूंदमें भी है और महासागरमें भी परन्तु नभः स्पर्शी तरंगे बूंदमें नहीं उठ सकतीं। किसी ऐसी

शक्तिकी आवश्यकता है जो मनुष्योंकी उन सत्प्रवृत्तियोंको संगठित करके काममें लाये जिनसे मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है। इस प्रयत्नके साथ ही उसका यह भी कर्त्तव्य होगा कि इनकी विरोधी प्रवृत्तियोंको दबाये।

चौथा पक्ष कहता है कि राजसत्ता इसलिये है कि संसारमें धर्मका प्रचार हो और लोगोंका जीवन ऐसा बनाया जाय जिससे वह स्वर्गके अधिकारी हों।

इसी प्रकारके और भी कई मत हैं। इनमेंसे कई ऐसे हैं जो किसी न किसी समय न्यूनाधिक रूपसे काममें लाये जा चुके हैं इसलिये लोग उनके गुणदोषोंसे परिचित हैं परन्तु एक सिद्धान्त ऐसा है जिसका महत्त्व आज कल बहुत बढ़ गया है, यद्यपि उसको प्रकट हुए लगभग ७० वर्ष होगये।

कार्ल मार्क्सने संवत् १९०५ (सन् १८४८) में "दि कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो" प्रकाशित किया। इसके ग्यारह वर्ष पीछे "कांट्रिब्यूशंस टु दि क्रिटीक आव पोलिटिकल इकॉनामी" और उन्नीस वर्ष पीछे 'कैपिटल" (प्रथम भाग) प्रकाशित हुए। इन पुस्तकोंमें मार्क्सके वह सिद्धान्त दिये हुए हैं जिनको समुदायवाद (कम्यूनिज़्म) कहते हैं। आजकल समुदायवादके भी कई उपभेद हो गये हैं अतः स्पष्ट करनेके लिये मार्क्सके सिद्धान्तोंको 'मार्क्सिज़्म' भी कहते हैं।

जब किसी तत्वज्ञका प्रभाव बढ़ जाता है तो उसके अनुयायियोंकी संख्यामें एक विलक्षण रीतिसे वृद्धि होने लगती है। बहुतसे लोग उसके नामकी आड़में अपना काम निकालना चाहते हैं। उसके वाक्योंकी ऐसी व्याख्या की जाती है कि जो उसे कभी स्वप्नमें भी न सूझी होगी।

यही गति मार्क्सकी भी हुई है। उसके कथनोंसे कई प्रकारके परस्पर-विरोधी अर्थ निकाले गये हैं। ऐसी अवस्थामें यह कहना कठिन है कि उसका ठीक ठीक तात्पर्य्य क्या था। मूल पुस्तकोंके रहते हुएभी व्याख्याकारोंमें मतभेद है। व्याख्याकारोंमें वह लोग हैं जो मार्क्सके प्रमुख शिष्य या अग्रगण्य अनुगामी कहला सकते हैं। इनको अपने आचार्य्यके मतके विषयमें सम्मति देनेका पूरा पूरा अधिकार है।

इन अनुगामियोंमें इस समय लेनिनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। वह रूसके भाग्य विधाता तो हैं ही। समस्त सभ्य जगत्में उनका भारी प्रभाव है। उन्होंने अपने विचारोंको, जिनको वह मार्क्सके ही विचार कहते हैं, कार्य्यरूपमें परिणत कर दिया, है। उनका कहना है कि 'बाल्शेविज़्म' ही वास्तविक मार्क्सिज़्म है। कोई बाल्शेविकोंको बुरा कहे या भला, उनको सभ्यताका शत्रु बतलाये या मित्र, पर आज सबकी ही आंखें उस अभूतपूर्व प्रयोगकी ओर उठी हुई हैं जो रूसमें दृग्गोचर हो रहा है। हम यहांपर मार्क्सके विचारोंकी उसी व्याख्याको स्वीकार किये लेते हैं जो लेनिनने उपस्थित की है। इसका ज्ञान हमको उनकी 'दि स्टेट ऐण्ड रिवोल्यूशन' नाम्नी पुस्तकसे होता है।

हम फिर उस मतकी ओर ध्यान दिलाते हैं जिसका उल्लेख सबसे पहिले

किया गया है । उसके अनुसार भिन्न भिन्न समुदायोंमें द्वेष और स्पर्धाका होना स्वाभाविक है । वकील, अध्यापक, मज़दूर, ज़मीनदार, व्यापारी, सभी एक दूसरेसे जलते रहते हैं और यदि राज न रोके तो निरन्तर लड़ते रहें । राज इस बातका प्रयत्न करता है कि इनमें यथासम्भव एक प्रकारकी समता बनी रहे अर्थात् झगड़ा कम हो और कोई समुदाय इतना प्रबल न हो जाय कि वह दूसरोंको दबा ले । मार्क्सके मतकी नींव भी यही समुदाय-द्वेष है । उनका कहना है कि अत्यन्त प्राचीनकालमें इस प्रकारकी दलबन्दी न थी पर वर्तमान सभ्यताने समुदायोंको जन्म दिया है और इनका आपसमें लड़ते रहना स्वाभाविकसा हो गया है । यह सैकड़ों वर्षोंसे लड़ते आये हैं और जबतक रहेंगे तबतक लड़ते ही रहेंगे । कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो इनको रोक सके ।

फिर राज किस लिये है ? लेनिन कहते हैं कि मार्क्सके अनुसार ' राज आधिपत्यका साधन है । वह एक समुदाय द्वारा दूसरेपर अत्याचार किये जानेका साधन है ··· वह उस समुदाय विशेषके आधिपत्यका साधन है जो अपने विरोधी सामाजिक समुदायके साथ मिलकर नहीं रह सकता ।*

यह एक बिलकुल नयीसी बात है पर केवल इतनेसे लेनिनका अर्थ नहीं खुलता । उपर्युक्त वाक्य वस्तुस्थितिके वर्णनमें भी प्रयुक्त हो सकते हैं । उस समय इनका अर्थ इस प्रकार लगाया जा सकता है—समुदायोंमें निरन्तर वैरविरोध होते रहनेके कारण कभी एक समुदाय प्रबल हो जाता है कभी दूसरा । जो प्रबल होता है वह दूसरोंको दबाता है और राजकी सारी शक्तियोंका उपयोग अपने विजित प्रतियोगियोंपर अत्याचार करनेमें करता है । यह बात ठीक भी है । पृथ्वीके इतिहासमें देखा गया है कि कभी किसी वर्णविशेष, कभी किसी जातिविशेष, कभी किसी सम्प्रदायविशेष, कभी किसी वंशविशेष, के हाथमें राजका सूत्र आगया है और उसने अपने अधिकारका खूब दुरुपयोग किया है । मार्क्स कहते हैं कि आजकल सारा अधिकार धनिकोंके हाथमें आगया है और वह भी, परम्परानुसार, दूसरोंको सता रहे हैं ।

यह स्यात् ठीक है पर साधारणतः यह कहा जायगा कि ऐसा न होना चाहिये । यह राजकी शक्तियोंका दुरुपयोग है । राज तो इसलिये है कि सब लोग मिल कर रहना सीखें । लेनिन इसको नहीं मानते । वह कहते हैं कि यदि सब समुदायोंमें मेल हो सके तो न तो राज उत्पन्न हों न स्थित रह सकें† ।

---

* The state is the organ of domination, the organ of oppression of one class by another. ......the State is the organ of domination of a definite class which cannot be reconciled to its social antipodes—The State and Revolution, p. p. 11 and 12.

†The State can neither arise nor maintain itself if a reconciliation of classes is possible.

यह इस सिद्धान्तकी एक विशेषता है, अस्तु। इसके आगे इनका कहना है कि आजकल पूँजीपतियोंके हाथमें अधिकार आ गया है पर यह बात अच्छी नहीं है। वस्तुतः एक ही ऐसा समुदाय है जो सर्वाधिकारका भाजन है। उस समुदायका नाम है 'जनता' (proletariat)।

'जनता' या सर्वसाधारणका अर्थ भी असाधारण है। वह समस्त प्रजाके लिये प्रयुक्त नहीं हुआ है। पूँजीपति, सरकारी कर्म्मचारी, अध्यापक, वकील इत्यादि मस्तिष्कके काम करने वाले इसकी परिधिके बाहर हैं। जो लोग पैसेवालोंके यहां नौकरी करते हैं वह परोपजीवी (parasites) गिने जाते हैं। वह भी 'जनता' क्षेत्रमें प्रवेश नहीं कर सकते। चोर, डकैत, भिखमंगे भी इस नामके अधिकारी नहीं है। अब बच रहे कृषक और मजदूर। रूसमें कृषकोंकी भी गिनती जनतामें की गयी है और उनको भी अधिकार दिये गये हैं परन्तु स्वयं मार्क्सका कहना है कि 'जनता' से तात्पर्य्य उन लोगोंसे है जो निर्धन होनेके कारण स्वयं सम्पत्ति उपार्जित नहीं कर सकते प्रत्युत जीवित रहनेके लिये अपनी पारिश्रमिक-शक्ति दूसरोंके हाथ बेचनेके लिये विवश होते हैं।* सीधे सादे शब्दोंमें मजदूर वर्ग ही जनता है और उसीके हाथमें सारा अधिकार होना चाहिये।

अब प्रश्न यह होता है कि मजदूरोंके हाथमें अधिकार जाय कैसे? अभी तकका इतिहास जिन साधनोंकी ओर इशारा करता है वह लेनिनकी दृष्टिमें नहीं जँचते। ऐति-हासिक युगके आरम्भमें क्षत्रियोंने अपने बाहुबलसे आधिपत्य प्राप्त किया। जहां तक प्रतीत होता है उनको और वर्गोंसे लड़ना नहीं पड़ा। उनके शौर्य्य, धृति, ईशित्व आदिका लोहा और समुदायोंने मान लिया। यह उनकी हिंसक पशुओं, जंगली जातियों तथा परराष्ट्रोंसे रक्षा करते थे, इसीलिये सब इनसे दबकर रहना स्वीकार करते थे। धीरे धीरे इनका दुरभिमान बढ़ने लगा। परिणाम यह हुआ कि धर्म्माध्यक्षोंको बीचमें पड़ना पड़ा। ब्राह्मणोंके हाथमें शासनकी डोर आयी परन्तु धीरे धीरे फिर क्षत्रियोंके हाथमें चली गयी। जब व्यापार वाणिज्यकी वृद्धि हुई तो वैश्यों अर्थात् पूँजीपतियोंका ज़ोर बढ़ा। आजकल उन्हींका दौर दौरा है। इस क्रमागत परिवर्तनमें एक दलने दूसरेके विरुद्ध शस्त्रबलसे बहुत कम काम लिया है। षड्यंत्र, कपट, नीति, का अधिक प्रयोग हुआ है। शासन-पद्धतिमें धीरे धीरे 'सुधार' हुआ है†।

मार्क्स इस धीमीचालसे सन्तुष्ट नहीं हैं। इसमें दो दोष हैं। एक तो मज़दूरोंको इस रीतिसे अधिकार प्राप्त करनेमें समय बहुत लगेगा, दूसरे इस प्रकार पूरा पूरा

---

* By proletariat (is meant) the class of modern wage labourers who, having no means of production of their own, are reduced to selling their labour power in order to live—Karl Mark in the Communist manifesto.

† ऊपर हमने क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य शब्दोंका प्रयोग किया है पर जिस क्रमागत वस्तुस्थितिका वर्णन किया गया है वह यूरोपके लिये भी पूर्णतया सत्य है।

अधिकार प्राप्त होता भी नहीं क्योंकि विरोधी दलोंमें भी बहुत कुछ जान बाकी रह जाती है। आज धनिकोंका ज़माना है। परन्तु धर्म्माध्यक्ष और क्षत्रियवर्ग पूर्णतया प्रभाव हीन नहीं हो गये हैं। विजय ऐसी होनी चाहिये जिसमें शत्रु ऐसा कुचल जाय कि फिर सिर न उठा सके। इसका एकही साधन है—बिना उग्र राजक्रान्तिके पददलित समुदायका उद्धार नहीं हो सकता।* लेनिन बार बार 'शस्त्रसज्जित जनसमुदाय' (The armed masses) का जिक्र करते हैं।

अच्छा यह भी मान लीजिये कि भयंकर राजक्रान्ति हुई और मज़दूरदलके हाथमें सारा अधिकार आ गया, जैसा कि इस समय रूसमें है। उस दशामें शासनकी नीति क्या होगी? और दलोंके साथ क्या व्यवहार किया जायगा? इसका उत्तर कुछ तो ऊपर लेनिनके शब्दोंमें दिया जा चुका है, कुछ बाल्शेविक सर्कारके कार्य्यक्रमसे मिल रहा है। लेनिन कह चुके हैं कि राज वह यन्त्र है जिसके द्वारा एक समुदाय दूसरेपर अत्याचार करता है और वह इस अत्याचारको बुरा नहीं समझते। अतः अधिकार प्राप्त करके मज़दूरदल दूसरे दलोंपर पूरा पूरा अत्याचार करेगा। यह अत्याचार स्वार्थबुद्धिसे नहीं प्रत्युत लोकहित-बुद्धिसे होगा। अपने अपने समयमें और दलोंने भी अत्याचार किये हैं पर उनका उद्देश्य था स्वार्थ-साधन। मज़दूरदल जानता है कि जबतक इतरदल कुचल न डाले जायँगे तबतक जगतीतलपर सुखशान्ति न होगी। अतः जिस देशमें मज़दूरोंका वश चलेगा वह इसी नीतिका पालन करेंगे और इस बातका पूरा पूरा प्रयत्न करेंगे कि अन्य सब देशोंमें भी ऐसे ही विचार फैलें ताकि सब देशोंकी साथ साथ उन्नति हो। रूस सर्कार यही कर रही है। ज़मीनदार सबके सब बेदखल कर दिये गये हैं। कलकारखाने सब सेठ साहूकारोंसे छीनकर राजकी सम्पत्ति बना दिये गये हैं। मस्तिष्कसे काम करनेवाले या तो मज़दूर समुदायमें सम्मिलित हो गये हैं या भूखों मर रहे हैं। दूसरे देशोंमें प्रचार करनेका पूरा पूरा प्रयत्न किया जाता है। यदि इन कामोंमें सफलता हुई तो एक दिन केवल मज़दूरदल ही रह जायगा। अध्यापक, कृषक, चित्रकार, गायक, ग्रंथकार, विज्ञानवेत्ता, वैद्य, कर्म्मचारी, सभी मज़दूर कहलायेंगे। न कोई ऊंचा रह जायगा न कोई नीचा। सब बराबर होंगे। उस समय कामका सीधा सिद्धान्त यह होगा जिसमें जितनी योग्यता हो वह उतना काम करे, जिसको जितनी आवश्यकता हो उसको उतनी मज़दूरी दी जाय। (From each according to his capacity, to each according to his needs). सारी सम्पत्ति समुदाय अर्थात् राजकी होगी; जो कुछ आय होगी वह राजकोषमें जायगी; जो कुछ लोगोंको मज़दूरी दी जायगी, जो कुछ शिक्षा, रक्षा, स्वास्थ्य आदिके लिये व्यय होगा, वह सब राजकोषसे जायगा। राज एक प्रकारकी बृहत् कम्पनी हो जायगा जिसमें सारी जनताका भाग होगा।

---

*The liberation of the oppressed class is impossible without a violent revolution—The Revival of Marxism by Nicholson).

अस्तु, उस समय दल विभाग स्वतः नाश हो जायगा। जब केवल एक ही दल रह जायगा उस समय कौन किसपर अत्याचार करेगा? जब अत्याचार अर्थात् साध्य ही नहीं रहा तो राज अर्थात् साधन कैसे रह सकता है? तात्पर्य्य यह है कि उस समय राजसत्ताका विनाश हो जायगा। वह ईंधनहीन अग्निकी तरह आपही उपशमको प्राप्त हो जायगा। लेनिन कहते हैं कि राज 'सूख कर झड़ जायगा' (wither away.) जबतक राज है तबतक शासन चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो मनुष्य कुछ न कुछ परतन्त्र रहता ही है। जब राजसत्ताका लोप हो जायगा, उस समय मनुष्य पूर्णतया स्वतंत्र होगा।*

किसीको यह आशंका हो सकती है कि यदि उन दिनों किसी प्रकारका राज न होगा तो अपराधियोंको दण्ड कौन देगा, क्योंकि यह मानना तो असम्भव है कि उस समय कभी कोई मनुष्य दुराचारी होगा ही नहीं। लेनिन कहते हैं कि इसके लिये राजकी आवश्यकता नहीं है। आजकल यदि किसी सभ्य देशमें कोई दुष्ट किसी स्त्रीको छेड़ना चाहता है तो आस पास जो लोग होते हैं वह उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं। यही अवस्था तब भी रहेगी। यदि जनताका बहुत बड़ा भाग निर्लोभी, सभ्य और सुशिक्षित हो तो अकेले लोकमतसे वह काम निकल सकता है जिसके लिये राजको आजकल इतना विस्तृत आडम्बर रचना पड़ता है।

यदि लेनिनकी व्याख्या ठीक है तो ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसे कार्ल मार्क्सके मतका सूक्ष्म निदर्शन कह सकते हैं। सम्भव है लेनिन भूल करते हैं या उन्होंने जानबूझकर कुछ उलट-फेर की हो, पर इस समय उनकी व्याख्याका महत्त्व सर्वोपरि है क्योंकि अब वह पुस्तकोंसे निकलकर एक बड़े देशकी नीतिका प्रवर्तन कर रही है।

रूसमें जो राजनीतिक प्रयोग हो रहा है वह सफल हो या असफल पर इस मतमें कई त्रुटियां हैं। पहिले तो यह कल्पना कि वैयक्तिक सम्पत्तिका मिटा देना श्रेयस्कर होगा, मनोविज्ञानके विरुद्ध है। यह सम्भव है—और बहुत लोगोंकी सम्मतिमें उचित है—कि जमीनदार बेदखल कर दिये जायँ। यह भी सम्भव है कि बड़े बड़े कल कारखाने राजकी सम्पत्ति बना दिये जायँ। परन्तु वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा नहीं उठायी जा सकती। स्वयं रूसको इस बातका अनुभव हो चुका है। पहिले कृषकोंसे खेतोंकी पैदावारका स्वाम्य ले लिया गया था पर अब उनको फिर लौटाया गया है। मनुष्यका चित्त कुछ ऐसा है कि वह साधारणतः उसी काममें लगता है जिसमें उसका कुछ ममत्व होता है; केवल विधानोंके प्रभाव या शस्त्रबलके दबावसे अहं-त्वका भाव नहीं मिट सकता।

---

*When there are no longer any classes (that is) when there is no difference between the members of society in respect of their social means of production), only then does the State disappear and one can speak of freedom.—The State and Revolution p. 92.

यदि उसे बलात् दबाया जायगा तो वह किसी महाभीषण रूपमें व्यक्त होगा। शिक्षितसे शिक्षित, सभ्यसे सभ्य, मनुष्योंमें यह भाव पाया जाता है अतः समुदायवादको इस सीमा तक लेजाना कि वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा ही उठ जाय, भूल है।

यह कल्पना भी भूल है कि किसी समय दल-विभेद मिट जायगा। सबको मजदूर या किसी दूसरे नामसे पुकारनेमें कोई आपत्ति नहीं है। पर सब मजदूर भी एक ही दलके न होंगे। यह तो पहिले ही कहा जा चुका है कि सबको अपनी अपनी योग्यताके अनुसार काम करना होगा। यह सर्वथा उचित है पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इन मजदूरोंमें भी ममत्व होगा। अध्यापक भी मजदूर हैं, सिगरेट बिड़ी बनानेवाला भी मजदूर हैं। दोनों अपनी अपनी योग्यताके अनुसार काम करेंगे पर अध्यापक सदैव यह मानेगा कि मैं बिड़ी बनानेवालेकी अपेक्षा अधिक उपयोगी काम कर रहा हूं। कामका महत्त्व केवल शारीरिक श्रमसे नहीं होता। महत्त्व मांगपर भी निर्भर नहीं है। एक विज्ञानवेत्ता गणित या ज्योतिषमें कोई आविष्कार करता है। उसके आविष्कारके लिये मांग बहुत थोड़ी होगी पर उसका महत्त्व उन मिट्टीके खिलौनोंसे कहीं अधिक है जिनके लिये सदैव ही मांग रहती है। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि कोई काम अधिक, कोई कम उपयोगी होता है पर यह उपयोगिता भौतिक दृष्टिसे नहीं जांची जा सकती। जो अधिक उपयोगी काम करता है वह अपनेको अवश्य कुछ ऊँचा समझेगा और इस प्रकार दल बन ही जायँगे। फिर, मजदूरी दी जायगी आवश्यकताके अनुसार। सबकी आवश्यकता एकसी तो होगी नहीं—लोहार और वैद्यकी आवश्यकताएँ एकसी हो ही नहीं सकतीं। एकको पुष्ट शरीर चाहिये, दूसरेको तीक्ष्ण बुद्धि—अतः मजदूरी भी भिन्न भिन्न मिलेगी। यह भी असन्तोषका कारण होगा और फिरसे दलबन्दी पैदा कर देगा। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि जब तक मानवस्वभावमें स्पर्धाका भाव वर्तमान है, जब तक सबकी योग्यता एक सी नहीं हो जाती, तब तक दल-विभेद रहेगा। श्रेष्ठ नीतिज्ञ उसकी सत्ताकी ओरसे आंख मूँद लेनेका विफल प्रयत्न नहीं करता, वह ऐसी चेष्टा करता है कि दलोंका पारस्परिक वैर विरोध कम हो और यह यथासंभव मिल कर रहें। वह यह जानता है कि उच्छृंखल स्पर्धा हानिकारक है परन्तु नियंत्रित स्पर्धा उन्नतिकी कुंजी है।

एक और बात सोचनेकी है। लेनिनका कहना है कि जब केवल एक दल रह जायगा उस समय राजसत्ताका लोप हो जायगा। यह भी भूल है। राजसत्ताका अस्तित्व तब भी रहेगा। बहुतसे ऐसे काम हैं जो बिना समुदायके हो ही नहीं सकते। अकेला मनुष्य पुल नहीं बना सकता, रेल तार डाकका प्रबन्ध नहीं कर सकता, रक्षा तक भली भांति नहीं कर सकता। यह काम सबके मिलकर करनेके हैं। जहां बहुतसे मनुष्य मिलकर रहने और काम करने लगेंगे वहां कुछ न कुछ नियम भी बन जायँगे, चाहे यह नियम कहीं लिखे जायँ या न लिखे जायँ। बस राजसत्ताकी नींव पड़ गयी। वह राज कैसा होगा, यह कई बातोंपर—उस सम्मेलनके स्थायी-अस्थायी होनेपर, उन

मनुष्योंकी सभ्यतापर, देश और काल पर—निर्भर है। इसीलिये कहा जाता है कि जब तक मनुष्य है तब तक राज है : चाहे सारी प्रजा ऐसी सात्विक प्रकृतिकी हो जाय कि कभी किसीको दण्ड देनेकी आवश्यकता न पड़े, फिर भी राज रहेगा।

मार्क्सके मतपर और भी कई आक्षेप हो सकते हैं। इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इसके भीतर कई तात्त्विक बातें भी निहित हैं। यूरोप ही नहीं सारे सभ्य जगत्में धनिकोंका अधिकार छाया हुआ है, कृषकों और मज़दूरोंके साथ भयानक अन्याय होता है। जो धनिक है उसके धनकी वृद्धि हो रही है, जो दरिद्र है वह दरिद्रतर होता जाता है। आवश्यकता इस बातकी है कि वर्तमान राजपद्धतिमें समुचित सुधार किया जाय ताकि जो वर्ग आज झूठमूठ हीन समझा जा रहा है वह अपने न्याय्य स्वत्वोंसे वंचित न रहे। यदि ऐसा न हुआ, तो रूस ऐसी दशा सर्वत्र होगी। तब लोगोंकी आंखें खुलेंगी पर कष्टोंके थपेड़े खाकर।

सम्पूर्णानन्द ।

कौटिल्य और उसका 'अर्थशास्त्र'।

कुछ वर्षोंसे हिन्दुस्तानके इतिहासकी खोज बड़े ज़ोरशोरसे हो रही है। दक्षिण तथा बंगालमें इस विषयमें विशेष प्रयत्न हुए हैं और उन्हें सफलता भी काफी मिली है। इन प्रयत्नोंका परिणाम भी बहुत महत्वपूर्ण हुआ है। इन खोजोंमें कौटिल्यकृत 'अर्थशास्त्र' विशेष उल्लेखनीय है। यह लेख हम इस ग्रन्थको ढूंढ़कर मूल तथा अनुवादके रूपमें संसारके सामने रखनेवाले श्रीयुत आर्० शामशास्त्री महाशयकी अंग्रेजी प्रस्तावनाके आधारपर लिखते हैं।

अर्थशास्त्रके रचयिताके विषयमें विश्वसनीय बातें हमें बहुत कम मालूम हैं। ग्रन्थके १५ 'अधिकरण' यानी भाग हैं और प्रत्येक अधिकरणके अन्तमें कौटिल्यका ग्रन्थकर्त्ताके नामसे उल्लेख है—'एतावता कौटिलीयस्यार्थशास्त्रस्य········अधिकरणं समाप्तम्' और पुस्तकके अन्तमें यह श्लोक है—

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

इससे यह स्पष्ट है कि जिस कौटिल्यने नन्दोंका नाश किया उसीने इस ग्रन्थको रचा। कौटिल्यको कभी कभी विष्णुगुप्त भी कहते हैं और यह नाम पुस्तकके अन्तिम श्लोकमें आया है—

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥

अर्वाचीनकालके लेखकोंने इसी ग्रंथकारको चाणक्य कहा है और आजकल चाणक्य नाम ही विशेष प्रसिद्ध है।

कौटिल्यद्वारा नंदोंके नाश होनेकी तथा चंद्रगुप्तके राज्यासनपर बैठनेकी बात सत्य मालूम होती है क्योंकि इसका उल्लेख विष्णुपुराणमें भी है—

"महापद्मः। तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति नवैव। तान्नन्दान्कौटिल्यो ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति। तस्यापि पुत्रो बिन्दुसारो भविष्यति। तस्याप्यशोकवर्धनः।

"पहला महापद्म। फिर उसके नव पुत्र एक सौ वर्ष तक पृथ्वीपति होंगे। उन नन्दोंको कौटिल्य नामक ब्राह्मण मारेगा। उनके बाद पृथ्वीके राजा मौर्य होंगे। खुद कौटिल्य चन्द्रगुप्तको राज्यासनपर बिठलावेगा। उसका पुत्र बिन्दुसार होगा और उसका पुत्र अशोकवर्धन।"

शिला-लेखादिसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है कि ईसाके ३२१ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त राजा हुआ और ईसाके २६६ वर्ष पूर्व अशोकवर्धन राजगद्दीपर बैठा। इससे सिद्ध

होता है कि ईसाके ३२१ और ३०० वर्ष पूर्वके कालमें कौटिल्य रहा और उसने अपना ग्रंथ लिखा।

ऊपर जो बातें लिखी हैं उनका समर्थन कामन्दकके नीतिसारके प्रस्तावना-भागमें अच्छी तरह होता है। उसने लिखा है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः ।
पपात मूलतश्श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥ ४ ॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यश्शक्त्या शक्तिधरोपमः ।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥ ५ ॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्र महोदधेः ।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ ६ ॥
दर्शनात्तस्य सुदृशो विद्यानां पारदृश्वनः ।
यत्किञ्चिदुपदेक्ष्यामः राजविद्याविदां मतम् ॥ ७ ॥

दण्डी नामक प्रसिद्ध कविने भी विष्णुगुप्तको ही अर्थशास्त्रका लेखक कहा है। इतना ही नहीं दशकुमारचरितके काल्पनिक राजदरबारके स्त्री—समाजको हँसानेके लिये उसने अर्थशास्त्रसे अनेक वाक्य भी उद्धृत किये हैं। उसने लिखा है—

'अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिश्श्लोक सहस्रैस्संक्षिप्ता सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकार्यक्षमेति॥"

"तब दण्डनीति पढ़ो। इसे आचार्य विष्णुगुप्तने मौर्यके लिये छः हजार श्लोकोंमें संक्षिप्त कर डाला है ताकि उसे पढ़ने और उसके अनुसार चलनेपर उचित कार्यक्षमता उत्पन्न हो जावे"

कौटिल्यने अपना ग्रंथ किसी राजाके लिये (संभवतः चन्द्रगुप्तके लिये) लिखा यह बात उसीके ग्रन्थसे सिद्ध होती है। उसने अपने ग्रन्थके दूसरे अधिकरणके दसवें अध्यायके अन्तमें कहा है—

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च ।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥

अर्थशास्त्र जैसा कुछ है, वही सच्चा अर्थशास्त्र है इस विषयका दण्डीके ऊपर दिये उल्लेखसे समर्थन होता है। दण्डीने कहा है कि उसमें छः हजार श्लोक हैं और खुद ग्रन्थकारने पहले अध्यायके अन्तमें यही बात कही है—" पञ्चदशाधिकरणानि सपञ्चाशद्ध्यायशतं साशीतिप्रकरणशतं षट्श्लोकसहस्राणीति ॥"

"(इसमें) पन्द्रह अधिकरण, एकसौ पचास अध्याय, एकसौ अस्सी प्रकरण और छः हजार श्लोक (हैं)।"

इसी प्रकार, बाण नामक कविने अपनी 'कादम्बरी' में और पञ्चतन्त्रके लेखकने भी कौटिल्य तथा चाणक्यको अर्थशास्त्रका लेखक कहा है। वात्स्यायनने अपने कामसूत्रकी रचना अर्थशास्त्रके अनुसार ही की है, ऐसा जान पड़ता है। इसके उसके बहुतसे वाक्य और पद

मिलते जुलते हैं, परन्तु विस्तारभयके कारण उन्हें हम यहां नहीं दे सकते । रघुवंश और कुमारसंभवकी टीकामें कुछ शब्दोंके अर्थोंके स्पष्टीकरणके लिये मल्लिनाथ सूरिने अर्थशास्त्रके अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं । श्रीयुत शामशास्त्रीने अनेक शब्दों और वाक्योंकी समानता तथा अर्थोंकी तुलना करके यह दिखलाया है कि याज्ञवल्क्यपर कौटिल्यका बहुतसा ऋण है और यह कहा है कि याज्ञवल्क्य कौटिल्यके बाद हुआ । इसी प्रकार आपने यह कहा है कि मनुस्मृति भी अर्थशास्त्रके बाद बनी । इसके लिये दोनों ग्रंथोंकी रीतियों और नियमोंकी सारांशमें आपने तुलना की है । बनेगा तो इस विषयपर हम स्वतंत्र लेख लिखेंगे, इसलिये यहांपर इस विषयमें अधिक लिखनेकी और श्रीयुत शामशास्त्रीके कथनकी सत्यताके परीक्षण करनेकी आवश्यकता नहीं । याज्ञवल्क्यके बाद जिस ग्रंथकारने विष्णुगुप्तका उल्लेख किया है वह वराहमिहिर है । पर इस उल्लेखका विष्णुगुप्त 'अर्थशास्त्र'का कर्त्ता विष्णुगुप्त है या नहीं इसके विषयमें यथेष्ट शंका है । जैनग्रंथकारोंने भी अर्थशास्त्रका उल्लेख किया है । सोमदेव सूरि राजा यशोधरके दरबारमें था । अपने ग्रंथ नीतिवाक्यामृतके अंतमें कौटिल्यके अर्थशास्त्रका उल्लेख कर उसने कहा है कि मैंने अपना ग्रंथ कौटिल्यके ग्रंथके आधारपर बनाया । उसने यह भी कहा है—'श्रूयतेहि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगैरेकं नन्दं जघानेति । इससे भी यह सिद्ध होता है कि कौटिल्य, विष्णुगुप्त और चाणक्य एक ही पुरुष हैं और उसीने नन्दोंको मारा । सोमदेव सूरिके ग्रंथमें अर्थशास्त्रके वाक्योंसे मिलते जुलते अनेक वाक्य हैं ।

मैगेस्थिनीज नामक एक ग्रीक दूत चन्द्रगुप्तके दरबारमें था । उसने अपनी आंखों देखा यहांका बहुतसा वर्णन लिखा है । अर्थशास्त्रमें दिये बहुतसे नियम उसके लेखमें पाये जाते हैं ।

अब हम 'अर्थशास्त्र' की लेखनशैलीके विषयमें कहेंगे । इस लेखककी शैली आपस्तम्ब, बौधायन और दूसरे सूत्रकारों जैसी ही है । ग्रंथके अन्तिम श्लोकका उल्लेख ऊपर हम कर चुके हैं । उसमें उसने कहा है कि मैंने खुद अपने सूत्र और अपनी टीका दोनों बनाये । १५० अध्यायोंके प्रत्येकके प्रारम्भमें उसने बहुत ही अर्थपूर्ण शब्दावली रखी है । इन्हींको कदाचित् कौटिल्यने सूत्र कहा है और बाकी अध्यायको उसकी टीका कही है । टीका और सूत्रोंकी शैलीमें बहुधा बहुत भेद नहीं है । बहुत बार तो शैली उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रंथोंसे मिलती जुलती है । 'अर्थशास्त्रके-बहुतसे शब्द अब व्यवहारमें नहीं आते । पाणिनिके नियमोंका भी उसने कई बार उल्लंघन किया है । कुछ शब्द उदाहरणके लिये नीचे दिये जाते हैं:—

(शब्द)	(अर्थ)
युक्त	सरकारी अधिकारी
उपयुक्त	दुय्यम अधिकारी
तत्पुरुष	नौकर
परिघ	कर

(शब्द)	(अर्थ)
व्याजि	कर या महसूल
रूपिक	कर या महसूल
पारीक्षिक	सिक्कोंपर एक तरहका महसूल
परोक्त	अपराध
निवेशकाल	पुनर्विवाहका काल
उच्छुल्क	निःशुल्क
औपनिषदिक	औपनिषत्क
सर्वज्ञख्यापन	सर्वज्ञत्वख्यापन
रोचयन्ते	रोचन्ते

इससे एक प्रश्न होता है कि क्या कौटिल्यको पाणिनिके सूत्र मालूम न थे? कौटिल्यको सूत्रकार तथा निजका टीकाकार मान भी लें तो एक प्रश्न रह जाता है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें और किसी किसीके बीचमें भी श्लोक दिये हैं। ये किसके बनाये हैं? क्या वे कौटिल्यके बनाये हैं अथवा अन्य किसीके? उनका छन्द बहुधा अनुष्टुप् है। कहीं कहींपर इन्द्रवज्रा और उपजाति भी हैं, पर ये इनेगिने ही हैं। इस ग्रन्थके कुछ श्लोक पञ्चतन्त्र, भासके नाटक और महाभारतमें मिलते हैं। कह नहीं सकते कि इन्हें किसने किससे लिया। परन्तु एक बात सिद्ध होती है कि 'अर्थशास्त्र' जैसा वह छपा है, करीव करीब वैसा ही बना था और कौटिल्य ही उसका रचयिता है। कुछ विद्वानोंने मूल लेखकके विषयमें शंकायें उपस्थित की हैं। वे कहते हैं कि प्रतिकूल मतोंका खण्डन करनेके लिये जब कभी कौटिल्यका मत आया है तब तब इस शब्दका तृतीय पुरुषमें उल्लेख हुआ है; उदाहरणार्थ 'यथापराधं इति कौटिल्यः'— 'कौटिल्यका मत है कि जैसा अपराध हो वैसा दण्ड दिया जाय।' परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि भारतके प्राचीन ग्रंथकार अपना उल्लेख इसी प्रकार किया करते थे।

इस अत्यन्त कठिन ग्रन्थको मूल तथा अनुवादके रूपमें छापकर शाम शास्त्रीने इतिहास प्रेमियोंपर, और विशेषकर, हिन्दुस्थानपर बहुत उपकार किये हैं। हमें उनका अत्यन्त कृतज्ञ होना चाहिये। मेरी इच्छा है कि इस ग्रन्थके उपयुक्त भागोंका हिन्दीमें तुलनात्मक विवेचन करूं। कभी यह तुलना पाश्चात्य ग्रन्थकारोंसे होगी तो कभी भारतीय ग्रन्थकारोंसे। यह सत्य है कि ग्रीसमें अरस्तू बड़ाभारी विद्वान् लेखक हुआ और राज्यके विषयमें सबसे प्राचीन तथा साथ ही वैज्ञानिक ग्रन्थ संसारमें अबतक उसीका है, तथापि 'अर्थशास्त्र' के उद्धारसे हम कह सकते हैं कि भारतीय लोग भी राज्यके अनेक अंगों और उपांगोंका विचार करते थे।

गोपाल दामोदर तामस्कर।

——o::——

राज्यके कर्त्तव्य ।

(२)

(३) साम्यवाद ।

साम्यवादकी व्याख्या प्रथम तो एक लेखमें ही करना कठिन है, फिर किसी लेखके मध्यमें करना तो मानो ऊँटके मुहमें जीरा देना है । एच-जी-हेग महाशयने अपनी पुस्तक 'New worlds for the old' में लिखा है कि "साम्यवाद क्या है, यह पूछना मानो यह प्रश्न करना है कि, ईसाई धर्म क्या है, अथवा वायुमंडलको दिखलानेकी प्रार्थना करना है । इस प्रश्नका उत्तर सूत्र रूपमें नहीं दिया जा सकता...अत: साम्यवाद एक अपूर्व मानसिक बुद्धिकी प्रणाली है, विचारों और कामनाओंका उदय है, जो एक तजवीज़के रूपमें मनुष्यके समाजको एक नवीन ढंगपर चलानेके लिये परिणत हो जाता है ।"

साम्यवादकी चर्चा उन्नीसवीं शताब्दिके पूर्वार्द्ध भागसे आरम्भ हुई । उस समयके साम्यवादी कुछ तो फ्रान्समें थे और कुछ इंग्लैण्डमें । फ्रान्समें साम्यवादकी नींव फ्रन्च-राजविद्रोहके समय पड़ी । केवट लूईव्लेन्क आदिने पूंजीपतियों तथा भूमिपतियोंके प्रति घोर आन्दोलन उठाया । इंग्लैण्डमें रावर्टओवन आदिने व्यक्तिवादके दुरुपयोग तथा फैक्टरियोंमें श्रमजीवियोंकी दुर्दशाको देखकर व्यक्तिवादका घोर विरोध किया । उस समयके साम्यवादी अधिकतर आदर्श तथा अनहोनी कल्पनाओंका वर्णन करते थे । महाशय मूर (Moore) की पुस्तक 'यूटोपिया' में वर्णित आदर्श देशकी तरह ये साम्यवादी भी निज देशोन्नति चाहते थे । वे लोग आदर्श सिद्धान्तोंके अनुसार मनुष्यका पुनर्जीवन आदर्श समाजोंमें शिक्षा तथा भ्रातृ-प्रेम द्वारा चाहते थे । वर्तमान साम्यवादियोंके विरुद्ध साम्यवादयुक्त राज्य स्थापित करनेके लिए वे लोग विप्लव नहीं चाहते थे, किन्तु वे लोग उन प्रभावशाली दर्जेके व्यक्तियोंसे यह प्रार्थना करते थे कि आप लोग हमारी सामाजिक कार्य्यप्रणालीका प्रयोग करें । औरोंकी बनिस्बत ब्लैंक उतना आदर्शप्रिय नहीं था, और वास्तवमें वही उस समयके साम्यवाद तथा भविष्यके वैज्ञानिक साम्यवादके मध्यमें हुआ था । इसके पश्चात् वैज्ञानिक साम्यवाद आरम्भ हुआ और वर्तमान राष्ट्रीय साम्यवाद उसीकी एक शाखा है । वैज्ञानिक साम्यवादके अनुयायी राउर्टस तथा लासैल आदि हैं । इन लोगोंका यह सिद्धान्त था कि आधुनिक धनके बटवारेकी प्रथा अन्यायसे भरी है, धन तो श्रमजीवी विचारे अपना पसीना बहाकर पैदा करें और पूंजीपति उसका अपहरण कर लें । इनका यह कहना था कि केवल श्रम ही पैदावारका कारण है । ये लोग मानते थे कि श्रम-भृत्ति लोहेके समान दृढ़ नियम (आयर्न ला आफ वेजेज़) के अनुसार,

श्रमजीवियोंको खाने पहरने आदि प्राणरक्षाकी आवश्यकताओंके अनुसार ही दी जाती है अतः दिन प्रति दिन श्रम-भृत्ति घटती ही जायगी। अर्थशास्त्रमें राडवर्टसने जो सबसे बड़ा काम किया वह यह है कि उसने धनके बटवारेके अन्यायको खूब सफाईसे दर्शाया। राडवर्टस सामाजिक विप्लव नहीं चाहता किन्तु वह जातीयता द्वारा समाजका उद्धार करना चाहता है।

इसके पश्चात् कार्ल मार्क्स जर्मनीमें पैदा हुआ। वर्त्तमान साम्यवादी इसीके सिद्धान्तको परिमित करके मानते हैं। राडवर्टसके जातीय साम्यवादके विरुद्ध कार्ल मार्क्सका साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। कार्ल मार्क्सका साम्यवाद विप्लवकारी कहा जा सकता है। कार्ल मार्क्स साम्यवादके इतिहासमें एक प्रसिद्ध व्यक्ति है और इसकी पुस्तक 'डास कैपिटल' (अर्थात् 'पूंजी') साम्यवादियोंकी बाइबिल कही जा सकती है। यों तो इस पुस्तकमें पूंजीकी व्याख्या तथा उसकी घोर समालोचना की गयी है, किन्तु साथ ही साथ इसमें साम्यवादके सिद्धान्तोंका प्रभावशाली वर्णन है। मार्क्सके सिद्धान्तका तत्व यही है कि पूंजी-पति विना परिश्रमके अतुल सम्पत्तिके भागी होते हैं, और विचारे श्रमजीवी जो वस्तु-निर्माता हैं पूंजी-पतिकी आयका अत्यन्त सूक्ष्म भाग पाते हैं। इनके सिद्धान्तकी कड़ी आलोचना की गयी जिसको दर्शानेकी इस लेखमें आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहां प्रसंग दूसरा है। वर्तमानकालके साम्यवादी मार्क्सके कुछ सिद्धान्तोंको काट छांटकर स्वीकार करते हैं। ये लोग मार्क्सके मूल्य-निर्धारण सिद्धान्तपर विश्वास नहीं करते, किन्तु उसके जातीय युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीयवाद तथा उत्पत्तिके समस्त साधनोंको समाजाधीन करने आदिको मानते हैं। वर्तमान साम्यवादियोंमें वर्नस्टेन जर्मनीमें, जोरेस फ्रान्समें तथा सिडनी वेब इंग्लैण्डमें उल्लेखनीय हैं। अब यह देखना चाहिए कि ये साम्यवादी मनुष्य समाजमें राज्यका क्या कर्त्तव्य समझते हैं। साम्यवाद, जो राज्यके उद्देश्योंका सबसे मौलिक आदर्श है, भूमि तथा उत्पत्तिके समस्त साधनोंको राज्यके हस्तगत करना चाहता है और व्यक्तिगत ज़ायदादकी सीमा केवल खपवाले मालों तक बांधना चाहता है। इस प्रकार राज्य समस्त औद्योगिक उत्साहोंका प्रबन्ध करेगा और व्यक्तिगत चेष्टा और प्रतियोगिताके स्थानपर अपने नियत किये हुए संचालकों तथा श्रमजीवियोंको जो सरकारी विभागों द्वारा मासिक वेतन पाते हुए काम करेंगे, नियुक्त करेगा। विप्लवकारी साम्यवादी उस समयका स्वप्न देखते हैं जब जनता वर्त्तमान राज्य-प्रणालीका विध्वंस करके अथवा उसपर पूर्ण स्वत्व प्राप्त करके विशेष विशेष प्राणियोंकी हस्तगत ज़ायदादको जब्त करके एक साम्यवादीराज्य स्थापित करनेके लिए कटिबद्ध होगी। इनसे नरमदलवाले साम्यवादियोंका यह विश्वास है कि ऐसा विप्लव स्वयं ही होगा और सब लोग इसका समर्थन इसलिए करेंगे कि वर्तमान प्रणाली दोषोंसे परिपूर्ण है। बुद्धिमान् साम्यवादियोंमेंसे अधिकतर साम्यवादको एक आदर्शकी दृष्टिसे देखते हैं जिसकी स्थापना तभी हो सकती है जब राज्य क्रमशः अपने कर्मक्षेत्रको बढ़ावे और बड़े बड़े व्यावसायिक संघोंपर जनताका अधिकार हो जाय।

इस प्रस्तावित संगठनके विषयमें साम्यवादियोंमें विवाद है, विशेषकर आयको साम्यवादी राज्यके सदस्योंमें विभक्त करनेके सम्बन्धमें तो मतभेदोंकी भरमार है। कई लोगोंका यह मत है कि साम्यवाद-जनित किफायतों और उन्नत पैदावारके कारण धनके बटवारेका झगड़ा उपस्थित ही न होगा, क्योंकि ऐसी अवस्थामें धनकी प्रचुरताके कारण, सम्पत्ति आवश्यकतासे भी अधिक होगी। कुछ लोगोंका यह मत है कि सब वस्तुओं-पर सर्वाधिकार हो, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तिके अनुसार पैदा करता हुआ, निज आवश्यकतानुसार ले। कुछ दूसरे सज्जन मजूरीको (कभी कभी इस शर्तपर कि सब लोगोंका परिश्रम समान है), श्रम-समयके अनुसार, जो किसी विशेष कामके आकर्षण अथवा उपेक्षापर निर्भर होगा, सम करना चाहते हैं। बहुमतसे साम्यवादी श्रम-वेत-नका निर्धारण उचित योग्यता (एफीशियेन्सी) पर करते हैं। उत्पत्ति, राज्यके एक विशेष विभागकी हैसियतसे, कुछ चुने हुए सरकारी अधिकारियों द्वारा नियंत्रित की जायगी, और उसके काम व्यापारका उचित प्रबन्ध करना, श्रम-जीवियोंको उनके योग्य कामोंपर नियत करना, तथा मजूरी और उसकी वृद्धिका प्रबन्ध करना आदि होंगे।

साम्यवादके लाभोंका उल्लेख करते हुए कार्ल मार्क्स आदि सज्जनोंका विचार है कि इसके द्वारा ऊंच, नीच श्रेणीका अन्याय, अनावश्यक हानि, तथा वर्त्तमान उद्योग-धन्धोंमें मन माने व्यवहारोंका नाश होकर उनके स्थानमें मानव कर्मोंमें सामाजिक उपयो-गितावादकी स्वच्छ सुगन्धिका आविर्भाव होगा। साम्यवादियोंका कहना है कि भूमिमें व्यक्तिगत आधिपत्य होनेके कारण तथा यंत्रोंका अधिकाधिक उपयोग होने और पूंजीके शीघ्र मिश्रणके कारण श्रमजीवी भूस्वामियों और पूंजीपतियोंसे सौदा करनेके लिये बाध्य हो जाता है क्योंकि वह निस्सहाय रूपसे उत्पत्तिका साधक होनेमें असमर्थ है, और ऐसी अवस्थामें श्रमजीवी अपने उत्पादनसे कहीं कम पाता है जब कि भूमिपति और पूंजीपति लगान और मुनाफेके रूपमें प्रचुर धन प्राप्त करते हैं और ज्यों ज्यों जन-संख्या बढ़ती जायगी और व्यावहारिक तथा औद्योगिक प्रणालियोंमें उन्नति होती जायगी पूंजीपतियों और श्रमजीवियोंका मनोमालिन्य बढ़ता जायगा जिसका फल यह होगा कि वर्त्तमान प्रणालीका विध्वंस होकर साम्यवादी राज्यकी स्थापना होगी। कार्ल मार्क्सकी संक्षेप भविष्यवाणी यही है।

सीगर अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र प्रवेशिका' में साम्यवादका आर्थिक गुणानुवाद करते हुए दर्शाता है कि 'समाजकी आर्थिक आवश्यकताओंका ठीक ठीक अन्दाजा हो सकेगा और प्राप्य भूमि, श्रम, तथा पूंजीका उचित विभाग होगा जिसमें प्रत्येक वस्तु उतनी ही पैदा की जायगी जितनी आवश्यक होगी। उत्पत्तिके साधनोंके प्रतिरूपण तथा किसी विशेष मालके अपरिमित उत्पादनका जिसकी आजकल धूम है, ह्रास होगा, विज्ञापनबाजी तथा प्रतियोगिता-प्रेरित बिक्री द्वारा व्ययकी अधिकता, और अन्तमें उन वस्तुओंका निर्माण जो उनके उपयोग करने वालोंके लिए लाभदायक होनेके विपरीत हानिकारक हैं एक दम बन्द हो जायगा। ......नीति विज्ञानकी दृष्टिसे साम्यवाद केवल

स्वार्थको ही औद्योगिक कर्मक्षेत्रमें प्रधानता न देकर, कर्मका अन्त कर्ममें ही मानता है और सर्वसाधारणकी भलाईमें भाग लेनेकी अभिलाषा, स्वेच्छाजनित कामोंमें कर्त्तव्यपरायण होनेकी उत्सुकता, और असाधारण सामाजिक सेवा द्वारा सामाजिक मान तथा सामाजिक गौरवका पात्र बनना आदि कर्म्म करनेके उद्देश्य होंगे।"

साम्यवादियोंका यही सुख-शान्तिमय स्वप्न है और इसको प्रमाणित करनेमें साम्यवादियोंने कल्पनाओंकी भरमार कर दी है। अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो साम्यवादी धनके बटवारेमें श्रमको सबसे अधिक भाग देते हैं, और श्रम-वेतनका एक त्रुटिपूर्ण सिद्धान्त उपस्थित करते हैं। उनका यह विचार कि श्रम ही उत्पत्तिका मुख्य कारण है, और बाकी सब गौण कारण हैं, निर्मूल प्रतीत होता है, क्योंकि, जैसा महाशय मार्शलने कहा है भूमि, पूंजी, श्रम तथा संगठन ये चारो समान भावसे उत्पत्तिके साधक हैं, निस्सहाय व्यक्ति अथवा श्रम कुछ नहीं कर सकता, अतः समाजके लिए पुंजीपतियों, भूमि-पतियों, श्रमजीवियों तथा संगठन कर्ताओं सभीकी आवश्यकता है। हां ध्यान इस बातका रखना चाहिए कि इनमेंसे किसी एकका दूसरेपर अनुचित प्रभुत्व न होने पावे, और एक दूसरेपर अन्याय करके सामाजिक शान्तिको भंग न करने पावे। अब हमें साम्यवादकी कुछ व्यावहारिक कठिनाइयोंका भी उल्लेख करना आवश्यक है—सबसे प्रथम तो प्रबन्धकी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। उद्योगके भिन्न भिन्न विभागोंमें श्रमजीवियोंको लगाने, श्रम तथा उत्पादित वस्तुओंका मूल्य निश्चित करने, उत्पन्न की जाने वाली वस्तुकी मात्राका अनुमान करने, तथा आयका बटवारा करने आदिके प्रश्न जो इस समय भाग तथा संग्रहके सिद्धान्त द्वारा निर्णीत होते हैं साम्यवाद-राज्यमें जटिल हो जायँगे और इनके कृत्रिम प्रबन्धके लिए सर्वोच्च शासन-योग्यताकी आवश्यता पड़ेगी।

अत्याचार, अन्याय और पारस्परिक द्वेषके अवकाशोंके कारण भयंकर हानिकी सम्भावना होगी। व्यापार तथा राजनीतिमें जो आजकल सम्बन्ध देख पड़ता है वह वास्तवमें राज्यकी अनेक बुराइयोंकी जड़ है, और इस सम्बन्धको अधिकाधिक घनिष्ठ करनेसे यहां तक कि ये दोनों अन्तमें एक रूप हो जायं, वत्तमान स्थितिके विचारसे विशेष उन्नतिकर न होगा।

कितनोंका यह कहना है कि साम्यवाद उन्नतिके विपरीत पड़ता है। यदि प्रतियोगिताकी प्रेरणा, और पुरस्कार प्राप्तिकी आशा दोनों हटा दी जायं, तो प्रयोगों तथा उन्नतियोंका क्रमागत ह्रास हो जायगा, व्यक्तिगत-चेष्टा कम हो जायगी और असमताके दूर करनेके यत्नमें जीवनके नीरस, एक रूप तथा अनुद्योगी होनेका भय होगा।

मनोवृत्तियों जनित बाधाओंपर कुछ ध्यान न देकर साम्यवादी आवश्यकतासे कहीं ज्यादा भविष्य सत्ययुगका स्वप्न देखते हैं। औसत दर्जेका व्यक्ति न तो श्रम करनेका इतना अभिलाषी ही है और न सबकी भलाईके लिए इतना उत्सुक ही है जितना साम्यवाद चाहता है। न तो कर्त्तव्यपरायणताका काफी ख्याल ही मानव जातिमें प्रविष्ट हुआ है और न जन-सम्मति ही, जिसपर सामाजिक मानका भार है, पूर्णरूपसे विवेकी हो

गयी है कि बाध्य करनेकी आवश्यकता न पड़े । जब मानव-जाति साम्यवादकी आवश्यकताके अनुसार आचार-व्यवहारमें समुन्नत हो जायगी, इस बातसे कोई हानि न होगी कि जनता किस प्रकारका संगठन स्वीकार करती है ।

साम्यवादके विरोधियोंके येही प्रतिवाद हैं। किन्तु साम्यवाद चाहे कितना भी काल्पनिक क्यों न हो सभ्य संसारमें आज भी इसके अनुयायी बहुत हैं और प्रतिदिन बढ़ते ही जाते हैं। रूसमें तो साम्यवादने बाल्शेविक रूपमें घोर विप्लवद्वारा राजसत्तात्मक राज्यका विध्वंस कर ही दिया और अब भी जेनोआकी सभामें श्रम-जीवियों तथा भूमिपतियोंकी समताका प्रश्न उठाया था किन्तु जेनोआ सभा भी समाप्त हो गयी पर कोई विशेष निश्चय नहीं हुआ । चाहे साम्यवाद द्वारा, चाहे श्रम जीवियोंकी आक्रान्तिद्वारा पूंजीपतियोंके अन्यायका अन्त अब शीघ्र ही होगा ! साम्यवादका प्रभाव आधुनिक नियम-निर्माण तथा शासनमें अधिकाधिक बढ़ता जाता है, इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी तथा फ्रान्स आदि देशोंमें तो इसका दल ही अलग है । इंग्लैण्डमें सामाजिक प्रजासत्तात्मक सभा (सोशल डिमोक्रैटिक फेडरेशन) जिसकी स्थापना १८८१ में हुई थी साम्यवादकी प्रत्यक्ष शाखा है। फेवियन समितिने जो सन् १८८३ में स्थापित हुई थी साम्यवादके शिक्षा-प्रचारके कार्य्यक्रमका पोषण करती हुई बहुतसे स्थानीय सुधार प्राप्त किये हैं ! स्वतंत्र मजदूर दल (इंडिपेंडेण्ट लेबर पार्टी) जिसकी स्थापना सन् १८९३ में हुई थी आजकल बड़े जोरों पर है और इसका ध्यान अधिकतर साम्यवादके राजनीतिक विचारोंके प्रति विशेष रूपसे हैं। ये सब समितियां मिलकर 'लेबर पार्टी' के नामसे आजकल विख्यात हैं और इसके वोटरोंकी संख्या प्रायः तीन लाखसे भी अधिक है ।

अमेरिकामें साम्यवादने प्रथम काल्पनिक आदर्शका रूप धारण किया, तत्पश्चात् सन् १८६२ में बहुतसे स्थानीय सामाजिक संगठन स्थापित हुए किन्तु १८७३ के अकालके पश्चात् उन सभोंका क्रमशः नाश हो गया । प्रथम जातीय सामाजिक दलका संगठन सन् १८७४ में हुआ था जो अन्तमें 'उत्तरीय अमेरिकाका साम्यवादी लेबर दल'के नामसे सन् १८९२ में विख्यात हुआ । सन् १९१० में साम्यवादी दलके ३२०० स्थानीय संगठन थे जिनके कार्य्यकर्ता सभ्योंकी संख्या प्रायः पचास हजार थी । आजकल भी अमेरिकामें साम्यवादी दलका बड़ा प्रभाव है । इसी तरह जर्मनीमें तथा फ्रान्समें भी इस दलके अनुयायियोंकी संख्या बहुत है ।

साम्यवादियोंके प्रभावके विषयमें प्रो० हेनेने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्रके विचारका इतिहास' में इस प्रकार संक्षेपमें लिखा है :—(अ) वैज्ञानिक साम्यवादी-विशेषतः कार्लमार्क्स-इस बातको पुष्ट करते हैं कि सामाजिक संस्थाएं ऐतिहासिक विकास द्वारा उत्पन्न की गयी हैं और अपनी स्थितिपर निर्भर हैं ।

(आ) साम्यवाद व्यक्तिवादकी दृष्टिकी अपेक्षा सामाजिक दृष्टिपर विशेष ध्यान देता है । साम्यवाद इस बातपर जोर देता है कि आधुनिक उत्पत्तिकी प्रथाके अनुसार उत्पादित वस्तु सामाजिक है ।

(इ) साम्यवादी आलोचनाके कारण लोगोंमें राज्यके कर्त्तव्योंपर कड़ी दृष्टि रखनेकी आदत पड़ गयी है।

(ई) साम्यवादने धनके बटवारेके प्रश्नको उत्पत्तिके प्रश्नसे सर्वथा भिन्न कर दिया है, और हम लोगोंकी आत्माओंपर धनके बटवारेमें न्याय करनेका प्रभाव डाल दिया है।

(उ) बिना परिश्रमके उपार्जित धनके प्रश्नको भी इसने प्रत्यक्षरूपसे दर्शाया है।

(ऊ) साम्यवादी आन्दोलनके कारण पूंजी तथा मुनाफेके रूपका साफ साफ दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

(ए) साम्यवादने अर्थशास्त्रके लेखकोंमें एक विचित्र परिवर्तन कर दिया है। इसका उदाहरण क्लार्क महाशयकी पुस्तकों तथा आस्ट्रियन स्कूलके लेखकोंमें पाया जाता है, आदि...।

आजकल राजनीतिक क्षेत्रमें जितने सुधार सामाजिक कानून द्वारा होते हैं वे या तो साम्यवादके प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा ही होते हैं। मजदूरोंका बीमा, फैक्टरी कानून, औद्योगिक न्यायालय, कर सुधार, सार्वजनिक मतका आन्दोलन (युनिवर्सल सफ्रेज)—ये सब सुधार जो आर्थिक तथा राजनीतिक उन्नतिके लिए किये गये हैं साम्यवादियोंके परिश्रम ही द्वारा हुए हैं। यूरोपके समुन्नत देशों तथा अमेरिकामें साम्यवादियोंने अपने शासन-सिद्धान्तको कार्य्यरूपमें परिणत करना भी आरम्भ कर दिया है-जैसे गरीबोंके प्रति सहानुभूति (विशेषत: बालकोंके प्रति) शिक्षाकी वृद्धि, सफाईका प्रबन्ध, जनताके मनोविनोदके लिए नाटक, नाच इत्यादिका प्रबन्ध और म्युनिसिपेलिटीपर अधिकार प्राप्त करके पानी, गेस, गाड़ी तथा और जनताके फायदेके कामोंका प्रबन्ध करना आदि ...। यही संक्षेपमें साम्यवाद और उसका प्रभाव है। अब राज्यके कर्त्तव्यकी आधुनिक दृष्टिका कुछ उल्लेख करके इस लेखको समाप्त करूंगा।

(४) जन समुदायकी भलाईका सिद्धान्त।

आजकल जब कभी राज्य हस्तक्षेप करता है अथवा चुपचाप बैठा रहता है तो इसी सिद्धान्तके प्रभावसे। इस दृष्टिसे राज्य एक संगठित समाज है जिसका कर्त्तव्य केवल अपना अस्तित्व कायम रखना ही और प्रत्येक प्रजाके जानमाल और स्वतंत्रताकी रक्षा करना ही नहीं है किन्तु ऐसे ऐसे कामोंको करनेका भी है जो जनताकी भलाईके लिए हों। यह सिद्धान्त इस बातको मानता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रताका क्षेत्र विस्तीर्ण होना चाहिए और जहां तक सम्भव हो हस्तक्षेप कम करना चाहिए। अतः इसका मूल व्यक्तिवाद है, किन्तु उपयोगितावाद और अवसरवादके प्रभावसे इसकी कठोरता अत्यन्त सूक्ष्म कर दी गयी है यहां तक कि वास्तविक राजनीति क्षेत्रमें राज्य यदि चाहे तो व्यक्तिवादका घोर विरोध कर साम्यवादके सिद्धान्तके अनुसार प्रजाके हितके लिए बात बातपर हस्तक्षेप कर सकता है। जिस समय प्रजाके हितके लिए जो उपयोगी समझा जाय वही किया जाय, यही आजकलके सिद्धान्तका निचोड़ है अतः जैसा ऊपर कहा गया है, अवसरवाद आजकल प्रधान है। उन कर्त्तव्योंका वर्णन जिन्हें आजकलके राष्ट्र परमावश्यक समझते हैं दूसरे लेखमें किया जायगा।

नरोत्तमदास खत्री।

स्विट्ज़रलैंडके स्वराज्यका दिग्दर्शन

पाश्चात्य देशोंमें प्रजातन्त्रशासन तो कई राष्ट्रोंमें है, पर जो एक छोटेसे देश स्विट्ज़रलैण्डमें प्रजाधीन-शासन शैली है वह वस्तुत: सबसे उत्तम है । उस देशके शासनको यदि " आदर्श प्रजातन्त्र शासन " कहें तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। वहांका शासन यथार्थरूपसे प्रजाके अधीन है। किन किन संस्थाओंके कारण स्विस-प्रजाने राष्ट्रीय शासनको स्वायत्त कर लिया है इसका निरूपण हम आगे चलकर करेंगे, किन्तु पहले यह समझ लेनेकी आवश्यकता है कि स्विट्ज़रलैण्डका प्रजातन्त्रशासन दूसरे राष्ट्रोंके लोक-शासनसे विभिन्न रीतिका है। आधुनिक प्रजातन्त्रशासन दो प्रकारका है-एक प्रतिनिधि-सत्तात्मक और दूसरा प्रजाधीन । इंग्लैंण्ड, फ्रान्स, अमेरिका आदि राष्ट्रोंमें प्रजा अपना शासनाधिकार निर्वाचित प्रतिनिधियोंको सौंप देती है । अतएव वहांका शासन प्रातिनिधिक शासन (रिप्रेजण्टेटिव गवर्नमेण्ट) कहलाता है, किन्तु स्विट्ज़रलैण्डके शासनमें निर्वाचित प्रतिनिधि प्रजाके वशंवद सेवक हुआ करते हैं। यह बात अन्यत्र नहीं होती, क्योंकि पूर्वोक्त राष्ट्रोंमें प्रतिनिधि अपनी नियत अवधि तक मनमाना कार्य्य कर सकते हैं। वे लोक-मतके विपरीत, यदि चलना चाहें, तो चल सकते हैं, क्योंकि प्रजाको उनके कार्य्योंमें हस्तक्षेप करनेका कोई वैध अधिकार प्राप्त नहीं। प्रातिनिधिक शासन तो, सच पूछिये, प्रजातन्त्रशासन ही नहीं, इसमें तो देशके अग्रणी विद्वान्, धनाढ्य और चतुर मनुष्य इकट्ठे होकर राज-सत्ता प्रजासे लेकर अपना आधिपत्य राष्ट्रमें जमा देते हैं। यह बात स्विट्ज़रलैण्डके शासनमें संभव नहीं ।

जिन राजनीतिक संस्थाओंका स्विस जातिको सच्चा अभिमान है वे "रेफरेण्डम" और " इनिशियेटिव " कहलाती हैं । व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकृत किये हुए प्रस्तावका लोकमतकी अनुमति या प्रतिषेधके लिये पेश करना रेफरेण्डमकी विधि है। लोक-मत द्वारा किसी क़ानूनकी रचनाके प्रस्ताव करनेका जो अधिकार नियत संख्यक नागरिकोंको प्राप्त होता है वह इनिशियेटिव कहा जाता है। इन दोनों विधियोंके कारण स्विस प्रतिनिधि लोकमतके बिल्कुल अधीन बन जाया करते हैं, उन्हें अन्य देशोंके प्रतिनिनिधियोंकी तरह स्वेच्छाचारिताका लेशमात्र भी अवकाश नहीं मिल सकता। इन दोनों विलक्षण संस्थाओंके कार्य्यका यूरोप और अमेरिकाके नीतिनिष्णात लोग बड़ी ही दिलचस्पीसे अवलोकन करते हैं, क्योंकि प्रतिनिधिमूलक स्वराजकी अपेक्षा स्विट्ज़र-लैण्डका स्वराज वस्तुतः प्रजाके ही हाथमें है। यूनानके प्राचीन स्वराजमें शासन-कार्य्यके लिये सभी नागरिक एकत्र हो जाया करते थे, क्योंकि उन्हें अपने छोटेसे नगर मात्रका ही शासन करना पड़ता था, किन्तु वर्तमान युगके विशाल राष्ट्रोंमें वह पुरानी स्वराज-

प्रक्रिया कार्य्यमें परिणत नहीं की जा सकती है। इसलिये प्रतिनिधि-सिद्धान्तका आश्रय लेना अनिवार्य है। एक विशाल राष्ट्रके समस्त नागरिक शासनके छोटे बड़े कार्य्यके लिये प्रतिदिन एकत्र नहीं हो सकते। अतएव प्रजा अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रका शासन करती है, अर्थात् देशका शासन गिने चुने प्रतिनिधियोंके हाथमें आजाता है। इस प्रकार प्रतिनिधिमूलक स्वराजका उदय हुआ, परन्तु स्विट्ज़रलैण्डकी शासन-पद्धतिमें प्रतिनिधिमूलक और प्रजातन्त्र-दोनों प्रकारके स्वराजका समावेश विलक्षण रीतिसे हुआ है। वहां प्रतिनिधि और लोकमतमें वैषम्य होनेकी कोई संभावना नहीं। यदि प्रतिनिधि लोग लोकमतके विरुद्ध कोई क़ानून रचें तो उन्हें विवश होकर उस प्रस्तावको लोककी अनुमति वा प्रतिषेधके लिये उपस्थित करना पड़ता है। प्रजा भी स्वयं अमुक रीतिका क़ानून बनानेके लिये प्रस्ताव पेश कर सकती है जो अन्य प्रजातन्त्र देशोंमें केवल प्रतिनिधि लोग ही कर सकते हैं।

स्विट्ज़रलैण्डके शासनके दो मुख्य विभाग हैं। पहला भाग संयुक्त राजमण्डलसे (कानफेडरेशन) सम्बन्ध रखता है, दूसरा प्रान्तीय व्यवस्थासे। इन दोनों ही प्रकारके प्रान्तीय और माण्डलिक शासनमें लोकमत प्रकाशक संस्थाएँ जिन्हें रेफरेण्डम और इनिशियेटिव कहते हैं, अपना अपना कार्य्य करती हैं। मण्डलकी अधिकार-सीमा बहुत विस्तृत होनेसे प्रजाके समक्ष बहुतसे शासन सम्बन्धी प्रश्न बार बार विचारार्थ पेश नहीं किये जा सकते, क्योंकि ऐसा करनेमें बहुत असुविधाएँ होती हैं। लोकमताभिव्यञ्जक विधियां माण्डलिक शासनमें तीन उद्देश्योंके लिये काममें लायी जाती हैं—

(१) सभा द्वारा प्रस्ताव किये हुए राष्ट्रीयव्यवस्थामें सुधार या रद्दोबदलके लिये।

(२) इनिशियेटिवका आश्रय लेकर ५०,००० नागरिकों द्वारा प्रस्ताव किये हुए व्यवस्थामें सुधार या रद्दोबदलके लिये।

(३) साधारण कानूनोंके लिये जब कि तीस हज़ार नागरिक या आठ प्रान्त (कैण्टन्स) रेफरेण्डमका आश्रय लेकर अमुक कानून रचे जायं, यह चाहते हैं।

माण्डलिक शासनमें अनेक कठिनाइयों और असुविधाओंके कारण लोकमत-विधियों का अधिक उपयोग नहीं होता किन्तु, प्रान्तोंमें इन विधियोंका विशेष उपयोग किया जाता है क्योंकि इनका कार्य्यक्षेत्र मण्डलकी अपेक्षा बहुत संकीर्ण होता है, अर्थात् प्रान्तीय शासनपर लोकमतका प्रबल प्रभाव पड़ता है। विना किसी बाधाके प्रजा अपने अपने प्रान्तके शासनमें भाग लेती है। पूर्वोक्त विधियोंका उपयोग निम्नलिखित उद्देश्योंसे किया जाता है—

(१) प्रान्तीय सभाके द्वारा प्रजाके सामने प्रस्तावरूपसे रखे हुए व्यवस्था सम्बन्धी सुधारोंके लिये।

(२) उन व्यवस्था सम्बन्धी रद्दोबदलके लिये जिनका प्रस्ताव इनिशियेटिवके आधारपर नागरिकोंकी विहित संख्या करती है।

(३) बहुतसे प्रान्तोंमें साधारण कानूनोंकी रचनामें दोनों ही विधियां अपना अपना काम करती हैं।

प्रान्त और मण्डल संबन्धी लोकमतनिर्णायक विधियोंमें यह भेद है कि मण्डलकी शासनविधियोंमें संशोधन या फेरफार करनेका प्रजाका अधिकार विशेषरूपसे नियमबद्ध है किन्तु अपने प्रान्तीय शासनमें प्रजावर्ग साधारण कानूनोंका संशोधन बिना किसी बाधाके कर सकता है।

'रेफरेण्डम,' जो दूसरी लोकमतनिर्णायक विधि है, निम्नरीतिसे कार्य्यमें परिणत किया जाता है। हरेक पास किया हुआ कानून प्रकाशित किया जाकर प्रान्तोंमें विज्ञप्तिरूपसे भेजा जाता है। ९० दिवस तक वह कानून कार्य्यमें परिणत नहीं किया जा सकता, इस अरसेमें आठ प्रान्त या ३०,००० नागरिक उस कानूनकी स्वीकृतिके लिये लोकसे अनुरोध कर सकते हैं। जो उस मस्विदेके विरुद्ध होते हैं वे लोगोंके हस्ताक्षर लेना शुरू करते हैं। सरांश यह कि यदि नागरिकोंकी नियमित संख्या या आठ प्रान्त किसी कानूनको पसन्द न करें तो वह कार्य्यमें परिणत नहीं किया जासकता।

'रेफरेण्डम' का यही अभिप्राय है कि जो कानून व्यवस्थापक सभाद्वारा बनाया जाय वह लोकमतके स्वीकार या अस्वीकार करनेके लिये पेश किया जाना चाहिये*

मण्डल और प्रान्त सबन्धी शासनोंमें इस लोकमतनिर्णायक प्रक्रियाको काममें लाया जा सकता है। मण्डलमें इसका उपयोग बड़े ही महत्त्वके अवसरपर किया जाता है किन्तु प्रान्तीय शासनमें इसका बहुत प्रयोग किया जा सकता है†

दी इनिशियेटिव (The Initiative)

रेफरेण्डममें व्यवस्थापक सभा अपना कानून लोकके समक्ष पेश करती है, किन्तु इनिशियेटिवमें नागरिकोंकी विहित संख्याका यह अधिकार है कि वे किसी भी कानूनके लोकमतद्वारा बनानेका प्रस्ताव स्वयं कर सकते हैं‡ मण्डल और प्रान्तकी शासन व्यवस्थाओंमें यह विधि काममें लायी जाती है।

इन दोनों विधियोंके प्रयोगका परिणाम यह है कि प्रजाके मतके प्रतिकूल कदापि कोई शासन-व्यवस्था बन नहीं सकती। यही स्विस जातिके प्रजातन्त्रशासनकी विशेषता है। शासनकी बागडोर प्रजाके हाथमें रहती है। प्रजाके निर्वाचित प्रतिनिधिगण मनमाना काम नहीं कर सकते। स्विस देश स्वतन्त्रताका मन्दिर है। वहांके लोग स्वाधीनताके सच्चे प्रेमी हैं, वे बड़े देशभक्त हैं, और राष्ट्रीयकर्तव्यके लिये सदा

---

*The submission to Popular Vote, for approval or rejecton, of a measure passed by the legislature.

† "The Confederation submits laws to popular vote only where. 30000 citizens or eight Cantons ask for the submission, where all cantons but seven require either all laws or all laws of a prescribed character to be so submitted."

BRYCE.

‡The right of a prescribed number of the citizens to propose the passing of an enactment by populor vote

कटिबद्ध रहते हैं । उनके स्वायत्तशासनका कुछ अपूर्व रूप है, उन्हें आदर्श स्वराज्य प्राप्त है । इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी अद्भुत राजनीतिसे मानवजातिका बड़ा ही उपकार किया है —" To have established and worked such a government, even if not perfectly, is to have rendered a real service to mankind " Bryce, 505.

स्विस जातिकी निराली शासन-प्रणालीके कार्य्यको देख राजनीतिज्ञ लोग अचम्भेमें पड़ जाते हैं, इस अद्भुत आविष्कारपर वे मुग्ध हैं । राजनीतिके पारदर्शी पण्डित जेम्स ब्राइस महोदयने इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है और इस शासनके कृतकार्य्य होनेके ये कारण निर्धारित किये हैं कि स्विस जातिमें राष्ट्रीय धर्मका भाव और देशभक्ति बड़ी प्रबल और व्यापक है, उनके समाजमें भेद-भावोंका कोई स्थान नहीं, सभीको समान अधिकार प्राप्त हैं, और सबसे बड़ी बात यह है कि स्वराजका उपयोग वे बहुत कालसे अपने छोटे छोटे प्रान्तोंमें करते चले आये ।* अपने गांव और नगरोंके शासन द्वारा उन्होंने स्वराज्यकी दीक्षा प्राप्त की और उस दीक्षाको लेकर उन्होंने अपने समस्त राष्ट्रके शासनका संगठन किया ।

गंगाप्रसाद मेहता ।

---

*"Such Success as has been attained in Switzerland by the method of direct popular legislation is due to the long practice of Self-government in small Communities, to social equality, and the pervading spirit of patriotism and sense of public duty."

JAMES BRYCE.

भारतीय व्यवसाय।

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है। यहां शिल्प एवं उद्योगधन्धोंकी वैसी उन्नति नहीं हो सकती जैसी यूरोपके किसी ऐसे देशमें होती है जहांकी प्रजाका जीवन कृषिपर ही निर्भर होता है। भारतवर्षके लिये यही श्रेयस्कर होगा कि वह कृषिकी भी यथासाध्य उन्नति करता जाय और साथही साथ यथासंभव शिल्प एवं उद्योगधन्धोंकी भी उन्नति करे। कृषिकी ओर कम ध्यान देना बहुत ही हानिकर होगा, प्रत्युत यह कहना अनुचित न होगा कि कृषिको छोड़ शिल्पकी ओर दौड़ना 'मूल छोड़ शाखा पकड़नेसे' किसी प्रकार कम नहीं है।

किन्तु कृषिप्रधान देशकी अवस्था शिल्प प्रधानदेशकी अपेक्षा किन्हीं अंशोंमें बड़ी भयानक हुआ करती है। इसके निम्नलिखित कारण हैं:—

१—यदि कृषिप्रधान देशमें प्रजाकी अधिक वृद्धि हुई तो देशके सभी निवासियोंके लिये पर्याप्त अन्न न हो सकेगा। कारण यह कि प्राकृतिक नियमोंके अनुसार पृथ्वीकी "सय" धीरे धीरे घटती जाती है और अन्न दिनों दिन कम उत्पन्न होने लगता है। यह नियम प्राकृतिक एवं अनिवार्य है। कुछ अर्थशास्त्रियोंका विचार है कि भारतवर्षपर यह नियम लगता नहीं देख पड़ता और कदाचित लगेगा भी नहीं। किन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। भारतवर्षमें अबतक अन्नकी कमी नहीं हुई है इसका कारण यह है कि यहां अब तक बहुत सी भूमि बोने जोतनेको पड़ी है और क्रमशः लोग उसको जोतने बोने लगे हैं। अतएव पहलेके खेतोंकी "सय" घटनेसे जो कमी होती है वह नयी भूमिकी उपजसे पूरी होती जाती है। इसके अतिरिक्त नहरोंके बनने तथा अन्य कृषि-उपयोगी उपायोंसे भूमिकी सय कुछ न कुछ बढ़ी है। इन्हीं बातोंसे उक्त अर्थशास्त्रियोंको भ्रम हुआ है। नहीं तो यह कभी संभव नहीं कि किसी प्राकृतिक नियमका प्रयोग एक देशमें हो और दूसरेमें न हो। इतना ही नहीं, बहुत सी ऐसी बातें भी हैं जिनसे यह नियम अपना प्रभाव शीघ्र दिखलाने लगता है। ऐसा तब होता है जब कृषिप्रधान देशकी उपज विदेश भेजी जाती है। दुर्भाग्यवश भारतवर्षमें ऐसा ही होता है। गणनापत्रोंको देखनेसे मालूम होता है कि संवत् १८९७ (सन् १८४०) में ८ करोड़ रुपयेकी भारतीय वस्तुएं बाहर भेजी गयी थीं और संवत् १९६८ (सन् १९११) में २१७ करोड़की जिनमें ८० प्रतिशत भूमिकी उपज थी।

२—कृषिप्रधान देशमें अर्थके साधन उतने अच्छे नहीं होते जितने शिल्पप्रधान देशके होते हैं। वहांके मजूर शिक्षित एवं कार्यकुशल नहीं होते, वहांके लोग न तो अधिक मूल धन लगा ही सकते और न लगानेका साहस करते हैं। ऊपरसे ऐसे देशमें औरोंकी अपेक्षा अधिक भूमिकी भी आवश्यकता होती है।

३—कृषिप्रधान देशकी उदरपूर्त्ति पानी बरसनेपर ही निर्भर होती है ।

४—कृषिजन्य वस्तुएँ भारी और अधिक स्थान घेरने वाली होती हैं । अतएव यदि एकसौ रुपयेकी ऐसी वस्तु एक जहाज भर होगी तो शिल्पजन्य वस्तु एकही जहाजमें दो सौ की आसकेगी । इस कारण कृषिप्रधान देशको गाड़ी या जहाज़का भाड़ा बहुत अधिक देना पड़ता है । इत्यादि ।

इसी प्रकार उद्योगप्रधान देश भी भयसे शून्य नहीं होता । क्योंकि उसे न केवल अपने भोजनके ही लिये दूसरे देशका आश्रय लेना होता है वरन् अपनी उद्योग जन्य वस्तुओंकी खपतके लिये भी विदेशका ही मुंह देखना पड़ता है । इतना ही नहीं, इसमें अनेक प्रकारकी बाधाएं भी हो सकती हैं । लड़ाईके समय चीजोंका आना जाना रुक जाना, आधुनिक समयमें सभीकी रुचि शिल्पकी ओर होनेसे संसार भरमें खाद्य पदार्थकी साधारणतः कमी होनी एवं चढ़ाऊपरीके पीछे सर्वदा धक्का खाते रहना आदि बातें उद्योगप्रधान देशके लिये बड़ी भयानक हैं ।

बड़े सौभाग्यकी बात है कि भारतवर्षकी स्थिति कृषि एवं शिल्प दोनोंके ही लिये बहुत अनुकूल है । न तो उसे लड़ाईका भय है और न किसी देशकी प्रसन्नता या अप्रसन्नताका । किसी भी अवस्थामें भारतवासियोंके लिये परमात्माने अन्नकी कमी नहीं की है । शिल्पके लिये भी इस देशमें पर्याप्त साधन उपस्थित हैं । कच्चे माल यहां इतने हैं कि अपने कामके लिये काफी चीज़ें तैयार कर लेनेपर भी बच सकते हैं । इसी प्रकार धन एवं जनकी भी कमी नहीं है । हां यह बात अवश्य है कि अभी हम लोग मूलधन लगाने तथा शिल्प-प्रेमी होनेसे बहुत दूर हैं । किन्तु यह समय एवं प्रयत्नका प्रश्न है, किसी प्रकारकी स्वाभाविक अयोग्यताका नहीं । इन बातोंसे सिद्ध होता है कि भारतवर्षका भविष्य अत्यन्त विशाल एवं उज्ज्वल है और जिस दिन भारतवासियोंके हाथपैर बन्धनसे मुक्त हो जायंगे संसारमें कोई उनका सामना करनेवाला न रहेगा । रानाडे महोदयने कहा है कि हमारी नैसर्गिक योग्यता, अनन्त प्राकृतिक साधन, शान्ति एवं व्यवस्था, तथा हमारी विचित्र स्थिति—ये सब अमूल्य बातें सफलताकी सूचक हैं, केवल हमको यत्नशील होनेकी आवश्यकता है ।

अर्थके तीन प्रधान साधन हैं और चौथा साधन उनकी समुचित व्यवस्था है । ये साधन हैं भूमि, मजूर और मूलधन । **भूमिमें** भारतवर्षका दरजा बहुत ऊंचा है । खेत, खान, जंगल, मछलियां, ये सब इस देशमें पर्याप्त हैं केवल खाद और वर्षाकी अपेक्षा है । **मजूरोंके** सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है । यह तो सर्वमान्य है कि भारतीय मजूर अनपढ़ तथा अकुशल हैं, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि मजूर वस्तुतः कम हैं । उनके कम प्रतीत होनेके दो कारण हैं । एक तो उनसे अधिक घण्टों तक काम लिया जाता है और अकुशल होनेके कारण कम काम कर सकते हैं । कहा जाता है कि एक अंग्रेजी मजूर पांच या छः भारतीय मजूरोंके बराबर काम कर सकता है और इतने अधिक मजूरोंके रहते हुए भी भारतीय मिलोंमें अंग्रेजी मिलोंकी अपेक्षा ३४

पर ३५ प्रतिशत कम काम हो सकता है। अनपढ़ होना बहुत बड़ा अवगुण है। अर्थ-शास्त्रियोंकी सम्मति है कि भारतीयोंमें जितने दोष हैं, जैसे बेपरवाही, अनुत्तरदायित्व बोदापन, आदि वे सब शिक्षासे दूर हो सकते हैं। मजूरोंकी अकुशलताका कारण मालिकोंका दुर्व्यवहार भी है। जिस दशामें मजूरोंको रहना पड़ता है और जिस प्रकार उन्हें गन्दगी, महंगी रोग आदिका सामना करना पड़ता है उसका विचार करनेसे यही मालूम होता है कि उनका जीवित रहना ही बहुत है। इस अकुशलताके कारण यद्यपि भारतीय मजूरोंको यूरोपकी अपेक्षा कम पारिश्रमिक देना पड़ता है तथापि वह बहुत अखरता है। भारतवर्षमें मजूरोंकी कमी प्रतीत होनेके और भी कुछ कारण हैं। हमारे मजूर अपना घर छोड़कर बाहर जानेसे भागते हैं। यदि अपने घर उन्हें आधा पेट भी भोजन मिले तो वे भरपेट भोजनके लिये घर छोड़ना अच्छा न समझेंगे। यदि वे ही मजूर कार्यकुशल हो जायं तो जैसा ऊपर लिखा गया है एक ही व्यक्ति ४ या ५ का काम अकेला कर सकेगा। इसके अतिरिक्त इस देशमें बहुतसे लोग भिखमंगे, साधु, फकीर आदिके रूपमें व्यर्थ हमारा धन चूसते हैं। यदि ये लोग काम करते तो मजूरोंकी संख्याकी बहुत बड़ी वृद्धि हो जाती। भारतवर्षमें **मूलधन**की बहुत ही कमी है। इसके दो प्रधान कारण हैं-एक तो गहने, कपड़े तथा सामाजिक कुरीतियोंके कारण अधिक व्यय हो जाना और दूसरे सरकारी कर्ज सदृश प्रामाणिक मार्गोंके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यावसायिक मार्गमें रुपया लगानेका साहस न होना। भारतवर्षमें प्राचीनकालसे ही व्यवसायकी दृष्टिसे केवल सूदपर रुपया देनेके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता था। किन्तु हर्षका विषय है कि अब लोगोंका ध्यान इस ओर जा रहा है। सच तो यह है कि यहां वास्तविक व्यवसायी हैं ही नहीं। व्यावसायिक शिक्षाका अभाव, मालिकोंका गहन स्वार्थ, परस्पर विश्वासकी कमी, व्यवसायका साहस न होना आदि हमारे व्यवसायियोंके साधारण अवगुण हैं। व्यवसायकी ओर भारतवासियोंकी कितनी रुचि है इसका अनुमान विश्वविद्यालयोंके उपाधिप्राप्त व्यक्तियोंसे ही हो सकता है। संवत् १९६२ (सन् १९११) में ६१९० विद्यार्थियोंने उपाधि प्राप्त की। किन्तु उसमेंसे ७४७ ने साहित्य और १६३३ ने विज्ञान तथा शेषमेंसे केवल ६५९, १२६ और २२ ने क्रमशः डाक्टरी, इंजीनियरी और कृषिमें उपाधि प्राप्त की।

हरिहरनाथ।

मराठोंकी राज्य-व्यवस्था ।

(२)

न्याय विभाग ।

महाराज शिवाजी ही अपने अभिषेकके साथ साथ अष्ट प्रधानोंकी स्थापना कर गये थे जिनमें न्यायशास्त्री तथा न्यायाधीश, दो पद न्याय-विभागके लिये नियत थे। जब पेशवा लोग पूनामें राजधानी ले आये तो सतारेके न्यायालयका महत्त्व कुछ कम हो गया। पूनाके न्यायालयका महत्त्व इसलिये और भी अधिक था कि वह राजधानीमें था। न्यायाधीशका पद विशेष कर निष्पक्ष, विद्वान्, निर्लोभी और शास्त्रज्ञोंको दिया जाता था; छोटे मोटे मामले तहसीलदार और कलक्टर ही करते थे और दीवानी तथा फौजदारी दोनों प्रकारके मामले ही निबटाते थे, परन्तु मुफस्सिलमें न्यायका मुख्य भार न्याय मनसूबाके ऊपर था। प्रथम तो आपसकी पञ्चायत, कसमाधर्मी और अग्नि, जल, विषयादि दिव्य उपायोंसे ही झगड़े तय करनेका यत्न किया जाता था; यदि कोई किसीका देय पदार्थ इन उपायोंसे न देता था तभी अदालतमें जाना पड़ता था। ऐसा प्रायः उसी दशामें होता था जब ऋणी साहुकारकी अपेक्षा बलवान होता था या वह राज्याधिकारी होता था। नालिश करनेपर पञ्च चुने जाते थे और मामला तय हो जाता था। अगर इस जूरीका फैसला मान्य नहीं होता था तो न्यायाधीश मामलेको अपीलके ढंगपर स्वयं सुनते थे। गवाह आदि लेनेका काम प्रायः न्यायाधीशके सामने करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी किन्तु यह कार्य पञ्चायतमें ही हो लेता था, न्यायाधीशके सामने कानूनी बहस रह जाती थी। कोर्टफीसकी रकम उस समय २५) प्रति सैकड़ा थी। मुख्य कानून धर्मशास्त्र या स्मृति ग्रन्थ थे, परन्तु कुलाचार, ग्रामाचार एवं देशके रीतिरिवाज़ोंकी भी पूरी पाबन्दी होती थी-ये बातें भी सब प्रकारसे नज़ीरोंका काम देती थीं। अतः प्रायः पञ्च फैसले ही अधिक सम्मत रहते थे। उस समय नदीस्नान, शपथ, दिव्यविधि आदि उपायोंके प्रचलित होनेके कारण वकीलोंकी सैना इस प्रकार नहीं बढ़ी चढ़ी थी जैसी आज, अर्थात् प्रथम तो मुकद्दमे बाज़ी थी ही कम, तिसपर अधिकतर असालतन ही होती थी और न्यायाधीश ही वकीलका काम कर लेते थे। कभी कभी दो बार भी एक मामलेको तय करनेके लिये पञ्चायत नियत की जाती थी अर्थात् एक पञ्चायतका फैसला संशयास्पद होनेपर दूसरी पञ्चायत नियत की जाती थी। बड़े बड़े मामले पेशवाओं तक पहुंचते थे और प्रथम बार उन्हींके सन्मुख पेश होते थे। छोटे मोटे मामलेमें भी पेशवा लोग पञ्चों या वादी प्रतिवादियोंके पक्षदारोंसे मामले सुन कर तै कर देते थे।

डिक्री या हुक्मकी तामील तहसीलदार कठोरताके साथ कराते थे। फौजदारी मुकदमोंमें प्राणदण्डकी शिक्षा मराठा राज्यमें भी बहुत कम दी जाती थी। राजद्रोहका दण्ड हाथीके पांव तले रुंदवाना या फांसी अथवा गलेमें मेख ठोककर प्राण लेना था। बदला लेनेकी बुद्धिसे जो अपराध किया जाता था उसका दण्ड अधिक कठोर नहीं होता था क्योंकि वह एक प्रकारसे उत्तेजित होनेके कारण होता था। शस्त्र लेकर डाका डालने वाले और अताई तथा साहस कर्म करनेवालोंको कठिन दण्ड दिया जाता था। यदि कोई अपराध करके भाग जाता था तो उसके पुत्र पौत्रादिको पता लगाने तक कैदमें डालनेकी व्यवस्था थी। यह शासन-प्रथा शिवाजीके पिता शाहजी बीजापुरमें प्रचलित कर चुके थे। न्यायमूर्ति रानाडे महोदयने अपने 'मराठोंका उत्कर्ष' नामक ग्रंथमें लिखा है—"नाना फड़नवीसके शासन-समयकी बात छोड़ कर कानूनकी पाबन्दी निर्दयता या बदला लेनेके भावसे नहीं होती थी किन्तु उसका उपयोग सौम्यतायुक्त और दयामय होता था। दण्ड केवल इतना और इसी विचारसे दिया जाता था जिससे अपराधीका सुधार हो और वह दण्ड शिक्षा हो जाय, दण्ड देनेमें अधिक कठोरता नहीं की जाती थी।"

जेलखाने।

जेलखानेमें कैदियोंके बेड़ी डाली जाती थी, परन्तु प्रतिष्ठित और संभ्रान्त कैदियोंको स्वतंत्र ही जेलखानोंमें छोड़ दिया जाता था। यदि कैदी स्वयंपाकी या उच्चकुलका होता तो उसे सींधा (आटा दाल आदि) भोजनके लिये दिया जाता था अथवा भुना चबेना देनेकी व्यवस्था कर दी जाती थी, परन्तु किसी दशामें भी कैदीके धर्मविश्वास या आत्मसम्मानके विरुद्ध कोई कार्य या बर्ताव नहीं किया जाता था। उन्हें जलील या बेइज्जत नहीं करते थे। स्वतन्त्र रहनेवाले कैदियोंकी व्यवस्था ऐसी की जाती थी जिससे वे भाग न जावें, या विषादिसे आत्मघात न कर लें अथवा कोई अताईका काम न कर बैठें। भोजनके समय बेड़ी उतार दी जाती थी। परन्तु बेत या काठोंका दण्ड कैदियोंको अथवा अपराधियोंको दिया जाता था या नहीं इसका पता नहीं चलता। हां स्त्रियोंको भी कैदकी सजा दी जाती थी। जिन्हें नजरकैदका दण्ड मिलता था वे अपने ही घरपर स्वतंत्रतापूर्वक रहते थे, केवल उनके घर पर पहरा बैठाया जाता था।

नगर-स्थापना, व्यापार और तत्सम्बन्धी कर।

विदेशी लोगोंको सुविधाएँ देकर व्यापार और नवीन बसाये नगरोंकी समृद्धिको उत्तेजना देनेका कार्य शिवाजीके समयसे ही मराठोंके इतिहासमें दृष्टव्य घटना है। शिवाजीके समयसे ही अरब लोग पश्चिमी तटपर व्यापार करते थे। जब अंग्रेजोंने इन अरबोंके व्यापारको अरबी व्यापारियोंके उपद्रवोंके कारण बन्द कर दिया तो शाहूजीने एक

व्यापारिक सन्धि मस्कतके अमीरसे की और राजापुरका बन्दर अरबोंके लिये खोल दिया। नाना साहेबने विट्ठोजी कामत नामके व्यापारीको बसई टापूसे व्यापार करनेके लिये उसकी जकात ही माफ नहीं कर दी किन्तु उसे पालकी, वस्त्र और रहनेके लिये कोठी भी दी। यह संवत् १८०० की बात है। इसी प्रकार ८ वर्ष पीछे बसई और साल्सटमें तीन वैश्य साहूकारोंको बसाकर घर, जमीन और कोठी दी तथा राजकर ५० प्रति सैकड़ा कम कर दिया। अहमदाबादका व्यापार बढ़ानेके लिये उम्दतुत्तजार मुल्ला फक़रउद्दीनको प्रति वर्ष १००००० रुपया तकके मालकी जकात माफ की जाती थी। जलमार्ग और स्थल मार्गोंपर व्यापारियोंकी रक्षाका प्रबन्ध भी किया जाता था। जो जहाज तूफान आदिसे बहकर सरकारी बन्दरोंमें आ जाते थे उनकी सम्पत्ति तो राजमें जमा हो जाती थी, किन्तु खाली जहाज मालिकोंको तुरन्त लौटा दिये जाते थे। उत्तर-कोंकणके पार्सी व्यापारी डच जहाजोंका झंडा अपने जहाजोंपर लगाकर व्यापार करते थे और उनका व्यापार उच्च लोगोंसे अधिक था, परन्तु उन्हें भी येही सब सुविधाएँ दी जाती थीं।

अनेक स्थानोंपर सरकारने भी खास खास व्यापारकी वस्तुओंकी दूकान खुलवा दी थीं जिससे उस चीज़के व्यापारको सुविधा मिलती थी। खनिज पदार्थोंका व्यापार भी सरकारकी मार्फत ही होता था जिसमें हीरा, मोती, जवाहिर आदि भी सम्मिलित हैं। सरकारी दूकानोंसे माल उधार भी दे दिया जाता था। कागज कपड़ा आदिकी कलाको उत्तेजना देनेके लिये कारखानेवालोंको ठेका देकर अगाऊ रुपया भी दिया जाता था जिससे वे नमूनेके अनुसार माल बनाकर सरकारको दें। अवश्य ही सरकारी कामको पहिले कर देनेके लिये सरकारी पहरा भी उन कारखानोंपर बिठाया जाता था।

नये बाजार और बस्ती आदि बसानेके लिये अनेक प्रकारसे उत्तेजना दी जाती थी। जगह बिना किराये उठायी जाती थी। बसानेवालोंको जगह और गांव, थानेका परवाना, उस नई बसावतके कर वसूल करनेका हक अथवा पटवारगिरी आदिके अधिकार आदि दे दिये जाते थे। कभी कभी सरकार अपना कर उगाहनेके लिये भी ठेका दे देती थी। जो भूमि सरकार अपने कामके लिये या मार्ग बनानेको लेती थी उसका मूल्य या उसके बराबर ही भूमि उस भूमिके मालिकको दी जाती थी।

भूकरके अतिरिक्त और भी बहुतसे कर थे, ऐसा तत्कालीन लेखोंसे जान पड़ता है। भिन्न भिन्न व्यापारके लिये लाइसंस दिये जाते थे। परन्तु सर्वोपयोगी धन्धे इन करोंसे मुक्त थे। ये कर कठोरतापूर्वक लिये जाते थे। चुंगीका महसूल इतनी कठोरतासे वसूल किया जाता था कि स्वयं पेशवाके लिये आये मालपर भी महसूल उसी समय माफ होता था जब एक विशेष पर्वाना इस अर्थके लिये दिया गया हो।

भेंट-बेगार और गुलामी।

भेंट बेगारकी प्रथा मुगलों और मराठोंमें उस समय खूब फैल रही थी। परन्तु उस समय भेंट बेगार देनेवाले मनुष्यको भोजन पेटभरकर दिया जाता था या उसके मूल्यके

बराबर नक़दी दी जाती थी और साथ ही काम भी कठोरतासे कराया जाता था। नीच जातिके स्त्री-पुरुषोंका व्यापार भी होता था। ये खरीदे हुये गुलाम कहे जाते थे। परन्तु इनसे निर्दयताका व्यवहार नहीं किया जाता था। वे केवल इतने ही अंशमें गुलाम कहे जा सकते थे कि अपनी इच्छासे वे स्वतंत्रतासे नौकरी छोड़ कर अन्यत्र नहीं कर सकते थे। यदि ये लोग ईमानदारी और मिहनतसे मालिकको प्रसन्न कर लेते थे तो इन्हें स्वतंत्र करके निर्वाहके लिये भूमि आदि भी दी जाती थी। उस समयके गुलाम इस समयके शर्त्तबन्द कुलियोंसे कई बातोंमें अच्छे थे, परन्तु उनकी स्वतंत्रता अमितकालके लिये अपहृत थी। यदि कोई गुलाम भाग कर अन्यत्र चला जाता था तो राजकी सहायतासे उसका स्वामी पुन: उस पर अधिकार जमा लेता था।

डाक और यात्राकी सुविधाएँ

किसी राज्य अथवा सुशासनकी व्यवस्थाका एक मुख्य प्रमाण और परिणाम यह होता है कि व्यापारी संघ और यात्री लोग सुगमता और निर्भयतासे दूर देशोंकी यात्रा कर सकें तथा मार्गमें चोर डाकुओंका भय न रहे, लुटेरे छिप जावें एवं दस्युओंको राजाका कालदण्ड प्रत्यक्ष हो कर इतना डरा दे कि वे अपने दुष्कर्मोंको छोड़ दें तथा अपनी वृत्ति सुधार लें। अवश्य ही सुशासनके कारण अपराधी कम हो जाते हैं और प्रजाकी सामाजिक तथा मानसिक और आत्मिक उन्नतिका विकास उस समय यथेष्ट होता है जिससे कला कौशलकी उन्नतिको भी प्रोत्साहन मिलता है और प्रजाकी समृद्धि भी होती है। शेष पंक्तियोंमें इसी प्रमाणदण्डसे मराठाशाहीका विचार किया जावेगा।

एक मराठा इतिहासकारने (बखरकार) लिखा है, "व्यापारी लोग पूनासे दिल्ली तक लाखों रुपयेका माल, सोना चांदी, रुपया मणिमाणिक आदि लेकर जाते थे और उन्हें मार्गमें कुछ भी भय नहीं था। इस प्रकारकी सुव्यवस्था और उत्तम स्थिति उक्त माधवरावने अपने प्रबंधसे उत्पन्न कर दी थी।" इस उद्धरणसे उस समयकी यात्राओं और व्यापारियोंके विषयमें कुछ न कुछ अनुमान किया जा सकता है। अवश्य ही उस समय तार या रेलगाड़ी अथवा मोटरकी सुविधाजनक जैसी बातें नहीं थीं और वे उस समय असम्भव भी थीं।

व्यापारियोंको भी समय समयपर सन्देशे भेजने और हुण्डी पर्चा पहुँचाने आदिके लिये डाककी आवश्यकता पड़ती है और राजप्रबन्धकी सुव्यवस्थाके लिये भी विना डाकके निर्वाह नहीं हो सकता अत: प्रत्येक समयमें डाककी कुछ न कुछ व्यवस्था करनी ही पड़ती थी। डाक, व्यापार और सबसे अधिक सैन्य-सञ्चालन एवं राज्यकार्यके लिये थी उस समय प्रधान प्रधान राजमार्ग ठीक रखे जाते थे। परन्तु मुसलमानी समयके उपद्रवोंको देखकर हिन्दू व्यवस्थाकारोंने अटकसे बाहर, स्थल-यात्रा समुद्रयात्रा आदि लम्बी यात्राएँ निषिद्ध कर दी थीं अत: केवल यात्रियोंके सुभीतेके लिये मराठोंने कोई भी विशेष उपकार का काम नहीं किया था, हां, जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका, मथुरा, बनारस आदि विहित

और मान्य तीर्थोंकी यात्रा उस समय सफलतापूर्वक हो जाती थी। इस विषयमें एक बात याद रखनेकी यह है कि ऐसी ऐसी बातें सु-राज्य स्थापनाके पीछे ही सम्भव हैं और महाराज शिवाजीके पीछे संवत् १७६४ तक तो स्वयं औरंगजेब ही दक्षिणमें रहकर मराठोंसे युद्ध करता रहा। उसकी मृत्युके पीछे ही मराठोंको इन सुधारोंके करनेका अवसर मिला था और उस बीचमें जो भी उन्होंने किया जिसके विषयमें हम ऊपर लिख आये हैं। वह विशेष कर उस समयके लिये यथेष्ट था जब कि ऐशियाके अन्यराष्ट्र भी उस समय ऐसी ही दशामें थे, अस्तु।

डाक ले जानेका प्रबन्ध सरकारकी ओरसे भी होता था और लोग निजी रूपसे भी करते थे जिसमें सरकारसे सहायता मिलती थी। ऊँट, सांडिनी अथवा अन्य सवारीके द्वारा एवं कभी कभी पैदलोंसे ही चिट्ठी पत्री भेजी जाती थी। जासूस, कासिद और हरकारा इस प्रकार तीन प्रकारके मनुष्य डाक लेजानेका काम करते थे। ये लोग इस कामको परम्परागत करते थे और उनकी उस समय एक जाति ही अलग बन गयी थी क्योंकि उस समय ये हज़ारोंकी संख्यामें और सर्वत्र सरलतासे मिल जाते थे। साधारणतया एक ही मनुष्य डाक लेकर जाता था, परन्तु कभी कभी दो या तीन भी साथ जाते थे। जब कागज़ अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक होते थे तो बीमारी, विश्वासघात अथवा शत्रुके भयसे ऐसा किया जाता था कि एक मनुष्यके व्यर्थ सिद्ध होनेपर दूसरा या तीसरा मनुष्य काम कर सके। यों तो सर्वसाधारणके लिये उस समय डाकका कुछ भी प्रबन्ध नहीं था, किंतु जहां जहांसे सरकारी डाक भेजी जाती थी वहां वहांसे सर्वसाधारण भी हरकारोंसे निजी तौरपर अपना काम ले लेते थे और ऐसा प्रायः सर्वत्र होता था क्योंकि सरकारी कचहरियां सब ही जगह होती थीं। सरकारी डाक लेजाने वाले हरकारे अधिक शीघ्र जाते थे क्योंकि उनके पास सरकारी डाक थोड़ी होती थी, परन्तु निजी रूपसे जो ऐसा काम करते थे वे भी नित्य ३०।३५ या इससे अधिक मील की यात्राकर लेते थे। पूनासे काशी तक डाक २५ दिनमें पहुंचती थी हरकारेको इसके लिये अर्थात् आने जानेके लिये २५) रुपया और २५ सेर अन्न देना पड़ता था। इससे जाना जाता है कि ।।) दैनिक और सेर भर अन्न पर क़ासिद या हरकारे मिल जाते थे। कलकत्तेसे दिल्ली १५ दिनमें डाक पहुंच जाया करती थी। साधारण रीतिसे प्रत्येक राज़कीय कचहरी और व्यापारकेन्द्रोंसे (गञ्ज) तथा उन स्थानोंको अन्य ऐसे ही स्थानोंसे डाक भेजने और लेजानेका प्रबन्ध हरकारा द्वारा होता था जो नित्य इस धन्धेको करते थे। जहां जितने दिनोंमें डाक पहुंच सकती थी वहां उस संख्यासे दूने मनुष्य इसी कामको रखनेसे नित्य नियमित रूपसे डाक आ जा सकती थी। प्रत्येक डाक भेजने और पहुँचनेके स्थानपर डाकका रजिस्टर भी रहता था जिसमें डाकका विवरण रखा जाता था और जिन स्थानोंमें डाकका ठीक ठीक भेजने और मंगानेका प्रबन्ध था वहां वहां ये लोग मासिक वेतनपर रखे जाते थे। कहीं कहीं ऐसा प्रबन्ध भी होता था कि एक स्थानपर पहुँचनेपर तुरन्त दूसरा नया आदमी जो उसी

स्थानमें पहिलेसे इसी लिये तैयार रहता था डाक लेकर आगे चल देता था। परन्तु ऐसा प्रबन्ध सरकारी डाकके विषयमें ही होता था क्योंकि यह अधिक व्ययसाध्य है। यह काम सरकारकी ओरसे प्रत्येक ग्राममें गांवकामगार करते थे और यदि वे इसमें भूल करते तो उन्हें सख्त सज़ा दी जाती थी। सरकारी डाकियेको सरकारसे जूता और लाठी दी जाती थी। लाठीमें घुंघुरू जड़े होते थे जो चलते समय बजते जाते थे। इन घुंघुरुओंकी आवाजसे कई काम निकलते थे—प्रथम तो हरकारेकी चालके साथ साथ उनकी मधुर ध्वनि निकलती थी जिससे उसका श्रम कम होता था और यात्रा सरल बन जाती थी, दूसरे जंगलोंमें होकर जाते समय छोटे मोटे हिंसक जन्तु डरकर भाग जाते थे, तीसरे जाननेवाले जान जाते थे कि यह सरकारी हरकारा है, इसे रोको मत क्योंकि सरकारी डाक रोकने वालेको अत्यन्त कठिन दण्ड दिया जाता था। चौथे आगेके स्टेशनवाले इसका शब्द दूरसे ही सुनकर पहिलेसे तैयार हो जाते थे जिससे व्यर्थ समय नष्ट नहीं होता था। नदियोंपर सरकारी डाकियेको तुरन्त नाव या डोंगी देनेकी आज्ञा होती थी अतः केवट आदि भी तैयार हो बैठते थे। सरकारकी तरफसे गांववालोंको सख्त ताकीद थी कि यदि गांवसे आने जानेका रास्ता जंगल या बनमें होकर जाता हो तो कामगार रोशनी और साथके लिये आदमीका प्रबन्ध कर दे।

जो लोग सर्वसाधारणकी डाक लेकर लाठीपर लटकाकर कन्धेपर रखे ले जाते थे उनकी अपेक्षा हरकारे अधिक शीघ्र जाते थे और हरकारोंसे भी शीघ्र कासिद डाक ले जाते थे। ये पिछले दो मनुष्य प्रायः राजकीय ही होते थे। परन्तु जासूसोंका काम केवल सरकारी और गुप्त होता था। ये लोग एक प्रकारसे उस समयकी खुफिया पुलिसके आदमी थे। सरकारी गुप्त समाचारों और सन्देशोंको ये लोग ले जाते थे। सरकारी डाक-विभागमें मुख्य चीज़ उस समयके लिखे हुए सरकारी अखबारनवीसोंके लिखे अखबार होते थे जो हफतेवार दर्बारमें पहुंचते रहते थे और दर्बारसे भिन्न भिन्न सूबेदारों तथा अधिकारियोंके पास यथासमय आज्ञाएं भेजी जाती थीं। इनके अतिरिक्त खुफियानवीस भी अपनी कारगुज़ारी इन्हींकी मार्फत भेजते थे।

शिक्षण और सामाजिक सुधार।

जैसा कि ऊपर कहा गया है सु-राज्यका फल सु-प्रजा है। माता-पिताके कर्मानुसार जैसे सन्तान बुरी भली हो जाती है एवं बाल्यकालमें उनके चरित्रोंका अनुकरण करके बुरी या भली बनती है उसी प्रकार प्रजाभी राजाका अनुकरण करती है। "यथा राजा तथा प्रजा" का यही भावार्थ है। मराठोंके शासनमें प्रजा भी वैसी हो गयी थी और समाजकी दशा भी राजाके अनुकरणपर थी। गो, ब्राह्मण और वेदकी रक्षाके लिये ही शिवाजीने स्वराज्य-स्थापना की थी। उनके 'श्री दिग्विजय' इतिहासमें उनके चिटणवीसके पुत्र खगडोवल्लालने लिखा है, महाराज शिवाजीने यवनोंको रोका जो गो, ब्राह्मणके लिये दुःख रूप हो रहे थे और उसी कारणको नाश करनेके लिये उन्होंने धर्म-संस्थापक

बनकर साधुओंका प्रतिपालन किया तथा वर्णाश्रमकी स्थापना पुनः की । इस वर्णाश्रमधर्मके पुनरुद्धारका अभिप्राय यही है कि पुरानी आर्यसभ्यता और संस्कृत साहित्यका पुनरुद्धार करना । स्वयं शिवाजीने और उनके वंशजोंने भी काशी आदि संस्कृतविद्याके केन्द्रस्थानोंसे विद्वान् शास्त्री और वेदाचार्योंको बुलाकर आश्रय दिया । अपने राज्याभिषेकके अवसरपर भी उन्होंने वेदोक्तकर्म करनेकी इच्छासे और मौञ्जीबन्धन आदि संस्कारोंके अतिरिक्त व्रत भी किये । इस सम्बन्धमें उक्त इतिहासमें विस्तृत विवरण दिया है । इस ब्राह्मणोत्कर्षका एक फल यह भी हुआ कि तत्कालीन शिक्षा और सभ्यता आदिके विचारसे समाज भी वैसा ही हो गया । भौतिक और विज्ञान सम्बन्धी शिक्षाका ऐसा प्रसार यहां उस समय इसी लिये न हो सका जैसा यूरोपके देशोंमें हो रहा था । उन्हें प्रतिद्वन्द्वता भी आरम्भमें धर्मान्ध लोगोंकी ही करनी पड़ी थी अतः आदिस्रोतकी गति अन्त तक न बदल सकी । जिस समय यूरोप भापके द्वारा कलाकौशलकी उन्नतिमें लग रहा था, शस्त्रास्त्रकी उन्नति कर रहा था, व्यापार-जाल बुन रहा था, तार और रेल चला रहा था उस समय महाराष्ट्रीयवीर तोप और बारूदके लिये ही नहीं किन्तु तलवार बन्दूक, दूर्बीन आदि पदार्थोंके लिए भी अपने शत्रुओंके आश्रित होते जाते थे । भूगोल और ऐतिहासिक ज्ञानकी वृद्धिको धर्मसरिताने इस प्रकार प्लावित कर दिया था कि उन्हें अपने महाराष्ट्रको छोड़कर (अधिकसे अधिक भारतवर्षको छोड़कर) कहींका कुछ भी पता न था । अन्य राष्ट्रोंकी राजनीतिक प्रगतिसे ये लोग बिल्कुल अनभिज्ञ थे । हैदर और टीपू अपने दूत ईरानमें भेज सकते थे, नैपोलियनसे बात चीत कर सकते थे परन्तु मराठोंकी गति इतनी भी नहीं थी । राजकी ओरसे वर्तमान ढंगके स्कूल, पाठशाला, विद्यापीठ, अद्भुतालय, शोधसभा, पृथिवीपर्यटन आदि संस्थाओंका उस समय मराठोंको स्वप्न भी न आता था, किन्तु धर्ममें उनकी भक्ति बढ़ रही थी, समाजमें सचाई और वीरता आ रही थी । शासक जातिमें जो गुण चाहिये वे बराबर विकसित हो रहे थे, व्यापार भी उन्नति कर रहा था । यद्यपि राज्य सर्वसाधारणकी शिक्षाका कुछ प्रबन्ध नहीं करता था, परन्तु कामके लायक शिक्षा देने वाली ऐसी अनेक चटशालाएँ, पाठशालाएँ और गुरुकुल थे जहां विद्यार्थी बिना फीस पढ़ते थे और सम्पन्न गुरुओंके यहां तो वे भोजन भी प्राप्त करते थे । विद्याका दान होता था, बिक्री नहीं । तत्काल सर्वसाधारणकी शिक्षाके विषयम मिर्डीकीरहाने अपनी पुस्तक ' इण्डिया ' में लिखा है कि पहिले बंगालमें ८०००० स्कूल थे अर्थात् ४०० मनुष्य पीछे एक पाठशाला थी । लिडलाने अपने इतिहास 'ब्रिटिश इंडिया'में इस विषयपर अच्छी विवेचना की है । उनका कहना है कि प्रत्येक हिन्दू गांवमें लड़के साधारणतः लिखना पढ़ना और हिसाब जानते हैं । सर टामस मनरोंने बताया है कि प्रत्येक गांव पीछे लिखना पढ़ना और हिसाब सिखानेके लिये एक पाठशाला होती थी । संवत् १८८० में अर्थात् मराठाशाहीकी समाप्तिके थोड़े दिन पीछे ही बेलारीके कलक्टर मि० ए० डी० केम्बेलने भारतवासियोंकी शिक्षाके विषयमें लिखा था-"कई

गावोंमें जिनमें पहिले स्कूल थे अब नहीं हैं, और जिन गांवोंमें पहिले बड़े २ स्कूल थे अब वहां केवल धनी लोगोंके कुछ लड़के पढ़ते हैं, और बाकी लड़के दरिद्रता या फीस न दे सकनेके कारण स्कूलोंमें नहीं जा सकते।" देशी चटशालाओंमें अधिकसे अधिक फीस मासमें दो बार सीधा मात्र होती थी। यहांके प्राचीन शिक्षाप्रचारके विषयमें एक लेख द्वारा विद्यार्थियोंके त्रैमासिकपत्र स्टुडेराटस ब्रदरहुडमें मि० डी० जी डल्वी एम० ए० ने स्पष्टतया समझाया है कि प्राचीन कालमें शिक्षा अनिवार्य और मुफ्त थी। राजा उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता था, वह केवल कर इकट्ठा करता था किन्तु सर्व साधारणकी शिक्षाके प्रबन्धसे अलग रहता था। शिक्षाका सञ्चालन स्वतंत्र विश्वविद्यालयोंके हाथमें रहता था जिनके अधिकारी विद्वान् और निस्पृह गुरु ब्राह्मण होते थे। इन शिक्षणालय तथा विद्यालयोंका प्रबन्ध राजाकी सहायता तथा विद्यार्थियोंकी शिक्षा से होता था। वास्तवमें यह काम समाजके स्वतंत्र हाथोंमें था—पूर्ण हस्तान्तरित स्वराज्य (ट्रैंस्फर्ड सबजेक्टस्) का अंग उन दिनों शिक्षा थी क्योंकि राजा शिक्षाके द्वारा समाजको अमुक सांचेमें ढालना नहीं चाहता था और उधर समाजका उद्देश भी शिक्षासे आत्माकी संस्कृति करना था, नौकरी नहीं। अस्तु। उस समय विद्वान् राजासे बड़ा था।

कला-कौशलकी उन्नतिकी ओर उस समय मराठोंने, जान पड़ता है इस लिये भी ध्यान नहीं दिया कि प्रथम तो देशमें सार्वभौम शान्ति नहीं थी, दूसरे मराठोंका प्रधान उद्देश अभी राज्य-स्थापना और विजय ही बना हुआ था कि अंग्रेज़ोंके कूटपाशोंमें उन्हें फंसना पड़ा।

समाजका शासनदराड उस समय कठोर था। राज्य अधिकारी भी समाजके कोपसे नहीं बच सकते थे। विशेष क्या शिवाजीने भी अपने पुत्र सम्भाजीको उसके अत्याचारोंके कारण दराड दिया। इसका कारण समाजकी सुव्यवस्था ही थी।*

जगनलाल गुप्त।

*यह लेख-माला प्रधानतया श्री नृसिंह चिन्तामणि केलकरकी मराठी पुस्तक "मराठे व इंग्रेज़" के आधारपर लिखी गयी है।

सैनिक-व्यय।

संसारमें चारोंओर सुधार और मितव्ययिताकी आवाज उठ रही है। स्थान स्थानपर व्ययको कम करनेके लिये कमेटियां बन रही हैं। इंग्लैण्डकी गेडीज़ कमेटीने वहांके व्ययमें बहुत उथल पुथल कर दिया। वहां सभी कामोंमें, जिनमें व्ययके कम करनेकी सम्भावना थी, कमी की गयी। पर हमारे देशका कुछ विलक्षण ही हाल है। गत मार्च मासके बजटको देखनेसे पता चलता है कि हमारे अर्थ और सैनिक सचिव हमारे देशको आर्थिक दशाको बिगाड़नेपर तुले हैं। जब अर्थसचिवकी यह दशा है तब अन्य नौकरोंका क्या कहना है? जिस देशकी वार्षिक आय अनुमान १३२ करोड़ और व्यय १४१ करोड़ हो उस देशकी गरीबीका क्या ठिकाना? तिसपर भी तुर्रा यह है कि सैनिक-व्यय दो चार करोड़ प्रतिवर्ष बढ़ता ही जाता है। यदि उसे घटानेके लिये कहा जावे तो हम सरकार और देशके शत्रु कहे जाते हैं।

दक्षिणी सभाके सामने सैनिक-व्ययपर व्याख्यान करते हुए मिस्टर डी० ई० वाचाने कहा था कि "शान्तिके समय भी युद्धकी तैयारी किये रहना कदापि बुद्धिमत्ताका काम नहीं। इससे हमारे देशको बहुत आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है। भारतवर्ष बहुत ही दीन देश है। वह उस बोझेको कदापि सहन नहीं कर सकता जो न केवल उसकी शक्तिके बाहर है वरन् जिससे देशको हानिके बदले लाभ कुछ भी नहीं होता। इससे हमारी मानसिक और औद्योगिक उन्नतिमें बाधा पड़ती है।"

हमारे सैनिक-व्ययकी बढ़तीका इतिहास पहले पहल संवत् १९४२ से प्रारम्भ होता है। इसके पहले लार्ड लारेन्स, लार्ड मेओ, लार्ड नार्थब्रुक और लार्ड रिपनकी तीव्र दृष्टिके कारण देशकी आर्थिक दशा बहुत अच्छी थी। सैनिक-व्यय देशकी आवश्यकताके अनुकूल था। संवत् १९२८ से लेकर संवत् १९३४ तक सेनाका वार्षिक व्यय १४॥ करोड़से लेकर १५ करोड़ तक था। इसके बाद ही अफ़गानिस्तानके साथ भारतसरकारको लड़ना पड़ा। संवत् १९३७ में सैनिक-व्यय २१ करोड़ हो गया। संवत् १९३९-में सैनिक-व्यय जब बहुत बढ़ गया तब ग्लैडस्टनकी गवर्मेन्टने व्ययका भार कुछ अपने ऊपर लेकर भारतसरकारका बोझा हलका किया। लार्ड रिपनने इस कामको कम करनेकी पुनः चेष्टा की। और शीघ्र ही यह व्यय घटकर १६३ करोड़ रह गया। पर १९४१ से यह व्यय फिर बढ़ने लगा। उस समयसे इस समय तकके व्ययका ब्योरा इस प्रकार है--

संवत्	करोड़ रुपया	संवत्	करोड़ रुपया
१९४१	१७'०५	१९४७	२१'०९
१९४२	२०'०६	१९४८	२२'६६

सैनिक-व्यय ।

संवत	करोड़ रुपया	संवत्	करोड़ रुपया
१९५०	२३·५३	१९६२	२[illegible]·५
१९५१	२४·[illegible]१	१९६३	३[illegible]·२५
१९५५	२३·०५	१९६४	२८·८६
१९५६	२६·४४	१९६५	[illegible]९·४०
१९५७	२३·२०	१९६६	२८·६६
१९५८	२४·२४	१९७४	३१·६३
१९५९	२६·४४	१९७५	५५·२४
१९६०	२७·२१	१९७६	६८·६९
१९६१	३[illegible]·०३	१९७७	६४·७५
* १९७८		(बजट)	६२·२०

उक्त तालिकासे पता चलता है कि संवत् १९४१ तक सैनिक-व्यय देशकी आवश्यकता और शक्तिके अनुकूल था। पर उस वर्षके पश्चात्से अब तक प्रतिवर्ष यह व्यय बढ़ता ही जाता है। २२ वर्ष पश्चात् यह व्यय बढ़ कर दूना हो गया और ३५ वर्ष हीमें अब चौगुनेपर नौबत पहुंच गयी है। इसी प्रकार यदि बढ़ती होती गयी तो भय है कि आगामी ३५ वर्षोंमें भारतके सब लोग भूखों मरने लगेंगे।

अब प्रश्न यह है कि सैनिक-व्ययके बढ़नेके कारण क्या हैं? अर्थसचिवोंका कथन है कि सैनिक-व्यय बहुत ही उचित है। भारतका सीमान्त देश लड़ाकू जातियोंसे बसा है, उनके धावोंसे वहांके निकट रहने वाली भारतीय प्रजाकी रक्षा करना भारतसरकारका मुख्य कर्तव्य है। पर सच तो यह है कि भारत सरकारने १९१६ (संवत्) की सीमासे आगे बढानेकी चेष्टा करनेमें भारी भूल की है। उससे हानिके सिवा उसे लाभ कुछ भी नहीं हुआ है। वजीरिस्तानमें भारत सरकारको प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये व्यय करने पड़ते हैं पर उससे हमें लाभ कुछ भी नहीं होता। गत वर्ष ही वहां सरकारको ३ करोड़ व्यय करना पड़ा। सीमान्तकी तथा अफगानी जातियोंसे युद्ध करनेसे हमें लाभकी अपेक्षा हानि ही उठानी पड़ती है। युद्धमें व्यय तो बहुत होता है पर वहां हमें कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं मिलता जिससे हमारा व्यय पूरा हो सके। वहांकी भूमि भी ऐसी उपजाऊ नहीं है जिससे धीरे धीरे हमारा व्यय पूरा पट जाय। इतना ही नहीं, अफगानी जातियां हमें रूस निवासी बोलशेविकोंके आक्रमणोंसे बचाती हैं। वे उन्हें अपने राज्यसे होकर भारतवर्षकी ओर बढ़नेसे रोकती हैं।

व्यय बढ़नेके कारण।

(१) गदरके पहिले इस देशमें अंग्रेजी सिपाहियोंकी कुल संख्या ३९ सहस्र और

---

* इतना हमें भारतवर्षमें देना पड़ता है। इसको effective charges कहते हैं। इसके अलावा इंग्लैंडको हमें और देना पड़ता है।

देशी सिपाहियोंकी २३९ सहस्र थी, पर गदरके पश्चात् अंग्रेजी सरकारने यह तय किया कि प्रति दो देशी सिपाहियोंके पीछे एक अंग्रेज सिपाही रक्खा जावे और भारतीय सेनाका प्रबन्ध इंग्लैण्डके युद्ध-विभाग (वार आफिस)से हो। उस समयसे युद्ध-विभाग सेना विभागमें जो कुछ परिवर्तन करता है उसे भारतसरकारको विना कुछ कहे मानना पड़ता है। भारतीय जनता और भारत सरकारने इस नियमका कई बार विरोध किया। संवत् १९२२ में अर्थसचिव, सर चार्ल्स ट्रेवलियनने कहा था "नियम सत्यानाशी और अल्पव्ययका शत्रु है"। उसके कुछ दिनों बाद मिस्टर फासेटने कहा "इस नियमने भारतको बहुव्ययी बना दिया है। अपनी इच्छाके प्रतिकूल ही भारतवर्षको इंग्लैण्डके बतलाये हुए व्ययका भार अपने ऊपर लेना पड़ता है। इंग्लैण्ड धनी है, वह अपनी सेनाको ऊंची ऊंची तनख्वाहें दे सकता है, पर भारत दीन है, वह इतना उच्च वेतन देनेमें असमर्थ है। उसके ऊपर बलपूर्वक उच्च वेतनका भार डाला जाता है। एक लखपती धनी पुरुष ५ सौ रुपया प्रतिमासका नौकर रख सकता है पर एक सहस्र प्रतिमास पाने वाला यदि ५ सौका नौकर रक्खे तो दूसरे ही दिन उसे भूखों मरना पड़े। ठीक यही दशा भारतकी है।" इतना ही नहीं, लार्ड लिटन और लार्ड रिपन आदि गवर्नर जनरलोंने भी इस नीतिका प्रतिरोध किया। कांग्रेस भी अपने जन्म-दिनसे इसका विरोध करती रही, पर ब्रिटिश सरकारने इसकी कुछ भी परवा न की।

संवत् १९५२ में भारत सरकारने ब्रिटिश सरकारके पास सैनिक-व्ययको घटानेके लिये एक प्रार्थनापत्र भेजा और उसमें इसके चार उपाय दिखाये। पर अन्तमें उसे (भारत सरकारको) कहना ही पड़ा कि इस दशामें व्ययका कम करना बिलकुल असम्भव है। भारत सरकारका कथन है कि "अंग्रेजी सेनाका वेतन इंग्लैण्डमें, पौंडमें निश्चित किया जाता है। भारत सरकारको उसमें हस्तक्षेप करनेका कुछ भी अधिकार नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि जब कभी रुपयेका मूल्य कम हो जाता है तब भारत सरकारको अधिक संख्यामें रुपये इंग्लैण्ड भेजने पड़ते हैं।

अब यदि हम एक अंग्रेजी और एक देशी सैनिकके वेतनकी तुलना करें तो हमको पता चलेगा कि एक ही पदपर एक ही काम करते हुए एक अंग्रेजी सैनिक देशी सैनिकसे सब मिला कर प्रायः १० गुना अधिक वेतन पाता है। इसके अलावा विलायतसे आने जाने और उसकी पेन्शन आदिका व्यय भी भारत सरकारको सहन करना पड़ता है। यह तो रही सिपाहियोंकी बात। अब यदि अफसरोंके वेतनपर ध्यान दिया जाय तो हमको पता चलेगा कि (१) उन्हें इंग्लैण्डसे भी अधिक वेतन इस देशमें मिलता है। फरलो, लीव, आवागमन, पेन्शन आदि सब व्यय भारतसरकारको उठाना पड़ता है (२) अफसर प्रायः सभी विदेशी होते हैं। युद्धके पूर्व भारतीयोंको कमीशन ही नहीं मिलता था। वे अधिकसे अधिक रिसालदार तथा सूबेदारकी पदवी पा सकते थे। पर अब कुछ दिनोंसे मेजर कर्नल आदिकी पदवियां उन्हें मिलने लगी हैं। (३) इंग्लैण्डमें कर्नल

का लगभग ६०० के और इस देशमें १००० से १५०० तक युद्धके पूर्व वेतन मिलता था। पर यह वेतन इस देशमें इस समय प्रायः दूना हो गया है। इन सब कारणोंसे भारतका सैनिक-व्यय दिनपर दिन बढ़ता जा रहा है।

व्यय बढ़नेका दूसरा कारण युद्धकी सामग्री है। यूरोप और अमरीका नित्यही युद्धके नये नये शस्त्रास्त्रोंका आविष्कार करते रहते हैं। युद्धके लिये नये नये वायुयान, विषैली गैस, १००-१०० मनके १००-११० मील गोला फेंकनेवाली तोपें आदि दिन प्रतिदिन निकलती रहती हैं। हमारी सरकार भी अपनी सेनाको दक्ष (एफिशेंट) बनानेके लिये इन सबका भली प्रकार उपयोग करती है। पर इतना ही नहीं, भिन्न भिन्न कमान्डर-इन-चीफोंकी दक्षता-की माप भिन्न भिन्न होती है। एक जिस शस्त्रको दक्षताका कारण जानकर उसका प्रयोग करता है दूसरा आते ही उसे अयोग्य ठहराकर दूसरे शस्त्रों और दूसरे पदार्थोंका प्रयोग कराने लगता है। विज्ञानके नये नये आविष्कारोंने मनुष्यके जीवनका मूल्य तृणवत् कर दिया है। आज कल सबसे अच्छा अस्त्र तथा शस्त्र वही माना जाता है जो थोड़े समय-में बहुतसे मनुष्योंका संहार कर सके। भारत सरकार भी ऐसे ही अस्त्र शस्त्र अपने सिपाहियोंके लिये मंगाती है। पर इस उन्नतिशील (?) वैज्ञानिक समयमें ये अस्त्र-शस्त्र बहुत दिनों तक प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। इनसे भी अच्छे अच्छे अस्त्र-शस्त्र निकल आते हैं और सरकारको उन्हें मँगाना पड़ता है। इसी लिये सरकारने इस देशमें कुछ शस्त्रके कारखाने खोले हैं। फिर भी प्रति वर्ष दो एक करोड़का माल इंग्लैण्डसे आता ही है।

व्यय बढ़नेका तीसरा कारण थोड़े दिनकी नौकरी है। युद्ध विभाग (वार आफिस) की ओरसे प्रति वर्ष कुछ अंग्रेज भारतवर्षकी सेनाके लिये भेजे जाते हैं और वे शिक्षित सिपाही जिनका समय पूरा हो जाता है लौट जाते हैं। वार आफिसका कथन है कि इससे भारतको लाभ है, उसे हृष्ट पुष्ट नवयुवक मिलते हैं। पर सच तो यह है कि वारआफिस हमारी आंखोंमें धूल झोंक रहा है। प्रति पांचवे अथवा तीसरे वर्ष सिपाहियोंके बदलते रहने-से लाखों रुपया हमें उनके आने जानेमें देना पड़ता है। इतना ही नहीं, हमारे व्ययसे इंग्लैण्ड अपने देशवासियोंको सैनिक शिक्षा देता है और व्ययके किसी अंशका भी भार अपने ऊपर नहीं लेता। फिर भी हमसे कहा जाता है कि हमारे ही लाभके लिये थोड़े दिनोंकी नौकरी रक्खी गयी है।

लार्ड किचनरके सुधार।

संवत् १९५६ में लार्ड किचनरका आगमन हुआ। उनके पहिले बंगाल, मद्रास, बम्बई आदि प्रान्तोंकी सेनाओंमें वहींके निवासी थे। पर लार्ड किचनरने यह प्रथा तोड़ दी और अधिकतर सिक्खों और अफगानोंको ही भर्ती करना प्रारम्भ किया। अंग्रेजी अफ़सरोंकी संख्या बढ़ा दी गयी। तोपखाना, कार्यविभाग, तथा रसद और ढ़ोवाई आदिके प्रबन्धमें सुधार किये गये। अब तक क्वार्टर मास्टर जनरल, और अडजु-

टेन्ट जनरलकी आज्ञासे ही सब कार्य होते थे। जनरल स्टाफकी स्थापना न हुई थी। सेना-विभागके सब शासन-सम्बन्धी कार्यकर्त्ता व्यवस्थापक सभाके एक सदस्यके अधीन थे। कमान्डर-इन-चीफको परिमित हदतक व्यय करनेका अधिकार था। इस हदसे अधिक व्यय करते समय उसे इस सदस्यकी आज्ञा लेनी पड़ती थी। लार्ड किचनर इन बातोंको कब माननेवाले, थे। वह चाहते थे कि सेनासम्बन्धी सब बातोंपर केवल कमान्डर-इन-चीफका ही अधिकार हो और उसमें कोई कुछ भी हस्तक्षेप न कर सके। उन्होंने भारत सरकारके सैनिक-विभागको उठा देनेके लिये भारतसचिवसे प्रार्थना की। लार्ड कर्ज़न उस समय यहांके गवर्नर जनरल थे उन्होंने इसका घोर प्रतिवाद किया। पर उनकी एक भी न सुनी गयी। तब कर्ज़नने अपने पदसे इस्तीफा दे दिया। सैनिक विभाग उठा दिया गया और उसके स्थानपर आरमी डिपार्टमेन्टकी स्थापना की गयी। कमान्डर-इन-चीफ इस विभागका अधिपति मान लिया गया। वही व्यवस्थापक सभाका एक सदस्य बनाया गया और आरमी डिपार्टमेन्टकी देखरेखका अधिकार उसीको दिया गया।

ईशर कमेटीकी बैठक।

युद्धके समयतक यही नीति कायम रही। इसमें कुछ भी परिवर्तन न किया गया। युद्धके समय यहांसे बहुत मनुष्य सेना या अन्य कामोंमें भरती कर ईराक (मेसोपोटामिया) और तुर्की भेजे गये। इन्हीं दिनों मेसोपोटामियामें जनरल टाउनशेन्डको हार खानी पड़ी। भारत सरकारको भी उत्तर पश्चिमसे बोलशेविकोंके आक्रमणका भय था। अन्तमें अफ़ग़ानिस्तानसे युद्ध छिड़ही गया। इन सब कारणोंसे विवश हो युद्धके अन्त होते ही भारतसचिवने एक कमेटीकी स्थापना की। इस कमेटीका मुख्य तात्पर्य भारतीय सेनाओंको दक्ष बनाना था। इस कमेटीके ६ सदस्य अंग्रेज और ३ हिन्दुस्तानी थे। इस कमेटीके अध्यक्ष लार्ड ईशर थे। कमेटीने भारतीय सेनासम्बन्धी सब प्रश्नोंपर पूर्णतया विचार किया। भारतीय सेनाओंका इन्डिया आफिस, और वार आफिस (युद्ध विभाग) से सम्बन्ध; कमान्डर-इन चीफकी सेनाध्यक्षता और सभाकी सदस्यता और अन्य अन्य बातोंकी उसने इंग्लैंड और भारतमें पूरी पूरी जांच की। इस कमेटीकी रिपोर्ट संवत १९७७के आश्विन माससें प्रकाशित हुई। यह रिपोर्ट दो भागोंमें विभाजित है। पहिले विभागमें यह दिखलानेकी चेष्टा की गयीं है कि भारतीय सेना साम्राज्यकी रक्षामें क्या और कैसे भाग ले सकती है। दूसरे भागमें वे २ उपाय बतलाये गये हैं जिनसे भारतीय सेना शक्तिशाली और दक्ष बन सके। पर इस कमेटीके सब सदस्य एकमत नहीं हैं। सर उमरहयात खां और सर कृष्ण गुप्तका कई बातोंमें मतभेद है।

कमेटीका कथन है कि सेना-सम्बन्धी बातोंमें भारतीय सरकारको स्वतन्त्रता मिलना आवश्यक है। उसके कामोंमें इन्डिया आफिसका हस्तक्षेप करना अनुचित है। इससे सैनिक कार्योंमें बाधा पड़ती है। अतः यह आवश्यक है कि कमान्डर-इन-चीफ और गवर्नर जनरलको अपनी सभाकी सहायतासे सेनासम्बन्धी कार्योंके करनेमें पूर्ण

स्वतन्त्रता दी जाय और इम्पीरियल जनरल स्टाफका मुख्य अधिष्ठाता भारतसचिवको सैनिक कार्योंमें सलाह दे। और मुख्य अधिष्ठाताको कमान्डर-इन-चीफ सब बातोंकी सूचना लगातार भेजा करे। युद्धके समय भारतकी रक्षाके लिये जो कमेटी बनायी गयी है उससे देशको लाभ पहुंचा है अतः वह कमेटी कायम रखी जाय और उसका मन्त्री गवर्नर जनरलकी सभाका सदस्य हो और वह साम्राज्यकी डिफेन्स कमेटीको यहांकी स्थितिकी सूचना समय समयपर दिया करे।

कमेटीका कथन है कि सेना-सम्बन्धी सब कार्योंमें कमान्डर-इन-चीफकी आज्ञा सर्वोपरि समझी जाय और सेनाके आय-व्ययका उत्तरदायित्व भी उसीके ऊपर रहे। उसकी सहायताके लिये एक मिलिटरी काउन्सिलकी स्थापना की जावे जिसके सदस्य उच्च सैनिक पदाधिकारी (हाई स्टाफ आफिसर्स) हों, पर उत्तरदायित्व सबका पृथक् पृथक् रहे। साम्राज्य भरकी सैनिक एकताके लिये यह आवश्यक है कि भारतवर्षमें भी अंग्रेजी सैनिक नीतिका पालन किया जाय। अतः कमान्डर-इन-चीफ और चीफ आफ दी जनरल-स्टाफ ये दोनों चीफ आफ दि इम्पीरियल स्टाफ द्वारा नियत किये जायँ। कमान्डर-इन-चीफको स्वयं युद्धक्षेत्रमें जानेकी आवश्यकता नहीं है, पर कठिनाईके समय उसे सदैव गवर्नर जनरलके साथ रहना चाहिये। जब तक सेनासम्बन्धी बातोंमें कमान्डर-इन-चीफका उपस्थित होना अनिवार्य न हो तब तक वह आरमी हेडक्वार्टरके मन्त्री अथवा मिलिटरी कौन्सिलके किसी सदस्यको व्यवस्थापक अथवा कार्यकारिणी सभामें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेज दे। इससे कमान्डर-इन-चीफको अपना कार्य करनेमें सुविधा हो जायगी।

कमेटीका विचार है कि भारतवर्षकी बाहरी और भीतरी दोनों दशाओंको देखकर यही अनुमान किया जाता है कि भारतीय सेनाओंको सदैव युद्धके लिये तैय्यार रहना चाहिये। कमेटीको भय है कि भारतवर्षके भीतर रेलों और सड़कोंकी दशा अच्छी नहीं है। अतः गदर आदिसे बचानेके लिये उसका विचार है कि भारतवर्ष १४ भागोंमें विभाजित किया जाय और प्रत्येक विभाग सैनिक जिला कहलावे। इन जिलोंका प्रबन्ध ४ अफसरोंके अधिकारमें हो जो जनरल अफसर-कमान्डर-इन चीफ कहलावें। ब्रह्माका जिला इन सबसे पृथक् रहे। विद्रोह और गदरसे बचानेके लिये सैनिक अफसरोंको चाहिये कि वे माली (सिविल) अफसरोंसे घनिष्ट सम्बन्ध रक्खें।

सैनिकव्ययके सम्बन्धमें कमेटीका विचार है कि "अंग्रेजी सिपाही और अफसर अपने वेतनसे असन्तुष्ट हैं। न उन्हें उचित वेतन ही मिलता है, न उनके आने जाने छुट्टी तथा अलाउंस आदिका ही उचित प्रबन्ध है। आर्थिक कठिनाइयोंके भयसे सेनाके निवासस्थान, भोजन आदि अन्य अन्य बातोंका यदि उचित प्रबन्ध न किया गया तो सेनाकी दक्षतामें अन्तर पड़ जायगा"। कमेटीका विचार है कि भारतसरकार व्ययका मुँह न देखकर इंग्लैण्डसे अच्छे अच्छे सिपाही बुलावे। भारतीय सेना तथा ब्रिटिश सरविसके लिए सैन्डथर्स्टसे शिक्षित और चतुर अफसर बुलाये जायँ और उन्हें इतना अधिक

वेतन दिया जाय कि जब तक वे भारतमें रहें सन्तुष्ट रहें। इसके लिए उनका विचार है कि उन्हें आने, जाने, रहने, घूमने, औषध आदिका प्रबन्ध करने तथा अपने परिवारको साथ रखनेका अलाउन्स दिया जाय, और जब तक वे अफसर भारतमें रहें तब तक उनको मुफ्तमें घोड़े और नौकर दिये जावें और जहां कहीं यूरोपीय डाक्टर पाये जायँ वहां उनके परिवारके रहनेका प्रबन्ध भी सरकारकी ओरसे हो। इन सब व्ययोंके अलावा उन्हें १००) प्रतिमास और अलाउन्स दिया जावे।

भारतीय सिपाहियोंके बारेमें कमेटीका विचार है कि भारतीय अफसर रिसालदार, मेजर तथा सूबेदार मेजरसे उच्च पदवी नहीं पाते। इसका कारण वह शिक्षाकी कमी बतलाती है। उसका कथन है कि इन सिपाहियोंके लिए एक किचनर कालेज खोला जाय जिसमें उनको शिक्षा मिले। भारतवर्षमें सैन्डथर्स्टकी नाईं शिक्षाकेन्द्र खोलनेका अभी समय नहीं आया है।

वर्तमान स्थिति।

हमने देखा कि युद्ध पूर्व हमारी सैनिक दशा क्या थी, लार्ड किचनरने क्या क्या परिवर्तन किये, ईशर कमेटीने युद्धके पश्चात् क्या क्या प्रस्ताव भारत सरकार, भारत-सचिव और वारआफिसके सामने पेश किये। अब हमें यह देखना है कि हमारी वर्तमान स्थिति क्यों है और आगामी इन्चकेप कमेटीको यदि वह वास्तवमें व्ययको कम करना चाहती है, किन किन बातोंपर ध्यान रखना चाहिये।

गत मासकी १८ ता० को इंग्लैंडमें स्टैंन्डिग ज्वायंट कमेटीकी दूसरी बैठक भारतीय मामलोंपर विचार करनेके लिये हुई। इस कमेटीका कथन है कि भारतकी आयका बजट १३२ करोड़ और व्यय १४१ करोड़ है। अत: प्रत्येक विभागमें व्ययसे कमी करना अत्यन्त आवश्यक है। सैनिक व्ययकी ओर भी उसका ध्यान गया है। उसका कथन है कि संवत् १९७० में अंग्रेजी सेनाका व्यय ७ करोड़ ३२ लाख था। संवत् १९७८ में वही बढ़कर १६ करोड़ ८१ लाख हो गया। अर्थात् ८ ही वर्षमें गोरोंपर दूनेसे भी अधिक व्यय होने लगा। उसपर भी मजा यह है कि फौज भी उतनी नहीं रही। संख्यामें ६००० सैनिक कम हो गये। इसका कारण उसने यह बतलाया है कि इंग्लैंडके सैनिकोंका वेतन पहिलेकी अपेक्षा बहुत बढ़ गया है। अत: वारआफिसने यहां भी इंग्लैंडकी भांति सैनिकोंका वेतन दूना कर दिया। ज्वायन्ट कमेटीका विचार है कि सैनिक अफसरों तथा हेड क्वार्टरके स्टाफमें कमी की जाय। संवत् १९७१ में अफसरोंकी संख्या ९८ थी। संवत् १९७८ में वही संख्या बढ़कर १६६ होगयी। हेड क्वार्टरको छोड़कर और स्थानोंके स्टाफकी संख्या २०३ से २७८ होगयी। अतः वह इस मद्दमें खर्चा कम कराना चाहती है। पर हम अभी देखेंगे कि सैनिक व्ययमें ऐसी कितनी ही मद्दे हैं जिनमें सुगमतापूर्वक व्यय कम किया जा सकता है।

हम कह चुके हैं कि ब्रिटिश सरकारने अपने बालकोंको हमारे व्ययसे सैनिक शिक्षा देनेका अच्छा ढंग निकाला है। वार आफिस विलायतमें उन्हें सैनिक शिक्षा

दिलाता है और उसमें जो कुछ व्यय होता है वह भारतके मत्थे पड़ता है । युद्धके पूर्व प्रति सिपाही पीछे भारतको १८०) देना पड़ता था, अर्थात् हमारा डेढ़ करोड़ रुपया अंग्रेजोंकी सैनिक शिक्षामें लगता था । पर युद्धके पश्चात वार आफिसने भारत सरकारसे उसी कामके लिये ३ करोड़ ६४ लाख ६० सहस्र रुपया मांगा। भारत सरकारने इसमें आना कानी की । पर अन्तमें उसे २ करोड़ ४४ लाख ४० सहस्र रुपया देना ही पड़ा । ये सिपाही वहांसे शिक्षा पाकर ४–५ वर्षके लिये यहां आते और लौटकर जन्म भर भारतके धनसे गुलछर्रे उड़ाया करते हैं । ब्रिटिश सरकारको दोहरा लाभ होता है । एक तो उसके सिपाही मुफ्तमें शिक्षा पा जाते हैं, दूसरे वे उसके लिये रिजर्वका काम देते हैं ।

यह तो हुई उनके वेतन और पेन्शनकी बात ; इसके अलावा उनके अलाउन्स भी भिन्न भिन्न प्रकारके हैं । युद्धके पूर्व उनके आने जानेमें साढ़े ४६ लाख रुपये व्यय होते थे, अब वही व्यय बढ़कर लगभग १॥ करोड़ हो गया है। पेंशनकी रकम जो संवत् १९७४ में केवल १ करोड़ ७६ लाख २५ हजार थी, संवत् १९७८ में वही २ करोड़ ७७ लाख ८० हजार हो गयी । एक मद्द खैरातकी है जो अयोग्य तथा मरे हुए सिपाहियोंके घर वालोंको दी जाती है । ईशर कमेटीकी रिपोर्टपर वार आफिसने दो नयी नयी मद्दें निकाली हैं । उनमें एकका नाम 'बेकारीका बीमा' (अनइम्प्लायमेन्ट इनशिओरेन्स) और दूसरेका 'ब्याहकी मद्दें' (मैरेज एलाउएन्सेज ऐंड एलाटमेंट्स) है । बेकारीकी मद्दमें संवत् १९७७ में साढ़े ४ लाख और संवत् १९७८ में १७ लाख ३१ हजार रुपया भारतका व्यय हुआ । ब्याहकी मद्दमें वार आफिसने भारतसरकारसे १॥ करोड़ लिया । इसी प्रकार कमेटियोंकी बैठक और विनिमय आदि अन्य अन्य मद्दोंमें भी वार आफिस भारतसरकारसे प्रति वर्ष करोड़ों रुपया ले लेता है ।

दो मास हुए सर शङ्कर नैय्यरने दक्षिण भारत वर्षीय सम्मेलनमें सेनासम्बन्धी कार्योंमें भारत सरकारकी पराधीनताका दर्शन कराते हुए कहा था-"भारतकी रक्षा करनेका भार भारत-सरकारपर है, न कि वार आफिसपर । अतः सेनाका नेतृत्व भी भारत-सरकारके हाथमें ही रहना चाहिये । भारतसरकार हमारी शक्ति और कमज़ोरीको जानती है। वह जानती है कि भारतके लिए कितनी सेनाकी आवश्यकता है और सेनाके लिये भारतकी आयका कौनसा अंश व्यय करना चाहिये । कहा जाता है कि सेनाकी बागडोर भारतसचिवके हाथमें है । यह मिथ्या बात है । भारतसेनाका सच्चा अधिकार वार आफिसके हाथमें है । वह भारतसरकारसे बिना पूछे ही मनमाना भार भारतपर डाल देता है । इंग्लैंडके सैनिक व्ययका पूरा पूरा निरीक्षण पार्लमेन्टके सामने होता है, पर अंग्रेजी पार्लमेन्ट भारतके सैनिक व्ययका निरीक्षण नहीं करती । परिणाम यह होता है कि निरीक्षणसे बचनेके लिये वार आफिस जिस मद्दको चाहता है भारतके ऊपर डाल देता है । भारतकी व्यवस्थापक सभाएं तथा भारतसरकारको उसमें पूछ पाछ करनेका कुछ भी अधिकार नहीं है । सेनाके सब प्रबन्ध भारतसरकारके हाथमें होने चाहिये जिससे वह व्यवस्थापक तथा कार्यकारिणी सभाओंकी सहायतासे सैनिक व्ययको आयके अनुकूल रक्खे ।"

सर शिवस्वामी ऐय्यरने भी अपनी वक्तृतामें, लंदनमें, कहा था-"हम अब भारतसरकारकी नादिरशाहीके विरुद्ध नहीं हैं। अब हमारा विरोध इंग्लैंडकी नादिरशाहियों और वार आफिससे है"। सचमुच यही बात है। भारतसरकार तो अब कुछ कुछ जनतासे भय भी खाने लगी है, पर ब्रिटिश सरकार भारतवासियोंको पहिलेकी तरह अशिक्षित और बेवकूफ समझती है। पर कान और आंखें बन्द करना अंग्रेजोंके लिए कोई नयी बात नहीं है। यह तो उनका पैतृक स्वभाव है।

इन्चकेप कमेटीके लिये विचारने योग्य बातें—

युद्धके समय और उसके पश्चात्से इस देशमें इतनी कमेटियां बैठ चुकी हैं और उनका परिणाम इतना व्यर्थ हुआ है कि कमेटियोंपर अब हमारा विश्वास बहुत कम रह गया है, पर हम बिलकुल निराशावादी नहीं हैं। सम्भव है इस कमेटीसे हमें लाभ पहुचे अतः इसके सामने कुछ सोचने योग्य बातें रखते हैं। यदि कमेटी वास्तवमें भारतकी भलाई करना चाहती है, यदि व्ययको कम करना उसका मुख्य कर्त्तव्य है तो पहिले वह उस बीमारीको उखाड़ दे जिससे भारतका शरीर भर पीड़ित हो रहा है। (१) वार आफिससे हमारा सम्बन्ध बिलकुल तोड़ दिया जाय और भारतीय सेनाका प्रबन्ध भारतसरकारके हाथमें दे दिया जाय। इतना ही नहीं, हमारी सभाओंको अधिकार मिल जाय कि वे जितना चाहें सैनिक व्ययके लिए स्वीकार करें और जितना चाहें न करें। (२) अंग्रेजी सेना इस देशमें केवल उतनी रहे जितनी संवत् १६१४के पूर्व थी। एक अंग्रेजी सैनिकके लिये भारतसरकारको भारतीय सैनिकसे दशगुणा अधिक व्यय करना पड़ता है, यदि अंग्रेजी सैनिकोंकी संख्या कम हो गयी तो व्यय बहुत कम हो जावेगा (३) यदि अंग्रेजी सेना कम करना ब्रिटिश सरकार पसन्द नहीं करती तो उसे उचित है कि उनको सिखानेका भार अपने ऊपर ले। उनके वेतन अलाउन्स और पेंशन इत्यादिमें कमी की जाय (४) युद्धके पहिलेकी अपेक्षा जितना व्यय अधिक हुआ है उसका कमसे कम आधा व्यय ब्रिटिश सरकार अपने ऊपर ले, क्योंकि भारतीय सेना इस समय न केवल भारतकी रक्षा करती है वरन् ब्रिटेनका जो प्रभुत्व ऐशियामें बढ़ता जाता है उसकी रक्षा भी भारतीय सेना द्वारा होती है। यदि भारतीय सेनाकी सहायतासे इग्लैंडको मेसोपोटेमिया आदि देश मिल सकते हैं तो फिर ब्रिटिश सरकारका व्ययका भार लेनेमें आपत्ति करना अनुचित है। (५) भारत सरकारको उचित है कि वजीरिस्तानसे अपनी सेनाको हटा ले। इससे प्रतिवर्ष तीन करोड़की बचत होगी। (६) भारत सरकारको उचित है कि सेनाके लिये जितने पदार्थ यहां मिल सकते हैं वे विदेशसे न मंगाये। इससे व्यय भी कम पड़ेगा और यहां औद्योगिक उन्नति भी होगी। (७) सेनाकी संख्यामें कमी की जाय और उसके स्थानपर पुलिसका प्रयोग आन्तरिक कार्योंके लिये किया जाय। (८) अन्तिम बात यह है कि भारतके सब कार्योंमें लोकमतका उचित आदर किया जाय।

श्यामबिहारी लाल कपूर।

मूल्य

(शेषांश)

कम परिमाणमें उत्पन्न करनेको अल्प मात्राकी उत्पत्ति कहते हैं और अधिक परिमाणकी उत्पत्तिको बहुमात्राकी उत्पत्ति ।

हम जो उदाहरण दे चुके हैं, उससे यह स्पष्ट हो गया कि अल्प मात्राकी उत्पत्तिसे बहुमात्राकी उत्पत्तिमें उत्पादनव्यय कम पड़ता है, अस्तु मूल्यभी कम होता है क्योंकि उत्पादनव्यय कम होनेपर भी यदि मूल्य बहुत अधिक रक्खा जायगा तो पूर्तिमें वृद्धि होगी, विक्रेताओंमें माल बेचनेके निमित्त प्रतिस्पर्धा होगी और मूल्य कम हो जायगा क्योंकि जो जितने ही कम मूल्यपर देगा उसीको सबसे अधिक ग्राहक मिल सकेंगे और उसीका सबसे ज्यादा माल बिकेगा । इससे यह निष्कर्ष निकला कि अल्पमात्राकी उत्पत्ति रहनेसे मूल्य अधिक होगा और बहुमात्राकी उत्पत्ति होनेसे मूल्य कम । किन्तु बहुमात्राकी भी एक अवधि है । उससे अधिक होनेसे उत्पादन व्यय घटनेके बजाय बढ़ने लगेगा और मूल्य भी बढ़ जायगा । प्रत्येक मनुष्यके काम करनेकी एक सीमा है । उससे अधिक काम करनेकी चेष्टा करनेपर उसे लाभके स्थानमें हानि ही होगी । एक मनुष्य एक मन बोझ लेकर २० मिनटमें एक मील सरलतासे जाता है । यदि उसे १॥ मन ले जाना पड़े तो अधिक बोझके कारण उसे उतना ही फासला तय करनेमें ४० मिनट लग जायंगे । यानी आधा मन बढ़ानेसे समय दूना करना पड़ा और फिर भी वह मनुष्य कुछ अधिक थक गया । इसी प्रकार उद्योग-धंधोंमें भी उत्पादनशक्तिकी एक निर्दिष्ट सीमा रहती है । उसके उल्लंघन करनेसे उत्पादनव्यय बढ़ जायगा, अतः वस्तुएं सस्ती होनेके स्थानमें और मँहगी हो जायँगी । इसका कारण यह है कि सीमोल्लंघन करनेपर हीन साधनोंसे काम लेना पड़ेगा क्योंकि सीमाका अर्थ यही है कि सब साधन बढ़ियासे बढ़िया तथा सस्तेसे सस्ते व्ययपर लगाये गये थे । उसके ऊपर जो साधन रहेंगे वे या तो हीन रहेंगे या अधिक व्ययसाध्य अथवा एक साथ दोनों ही । करघा तथा उसके अन्य आवश्यक अंग अधिकसे अधिक जितना कपड़ा तैयार कर सकते हैं उसकी एक सीमा होती है । उससे अधिक तैयार करनेकी चेष्टा पहिले तो व्यर्थ होगी और यदि व्यर्थ न हुई तो भी उत्पादनव्यय बढ़ जायगा क्योंकि जो मनुष्य अभीतक अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रतिदिन काम करता है, यदि उत्पत्तिमें वृद्धि की गयी तो उसे प्रतिदिन अधिक काम करना पड़ेगा । यह उसके बूतेके बाहरकी बात होगी । यदि दबाव या लालचमें पड़कर उसने अधिक समय तक काम करना स्वीकार भी कर लिया तो भी वह उतनी उत्तमता तथा शीघ्रतासे कार्य न कर सकेगा जितना कि वह पहिले करता था क्योंकि वह अपनी पूरी शक्तिभर तो पहिले ही करता था, अस्तु समयके

लिहाजसे पूर्वापेक्षा काम कम होगा और संभव है उतना अच्छा भी न हो। इसके साथ ही नियमित समयमें दिये जानेवाले वेतनसे अतिरिक्त समयमें दिये जानेवाले वेतनका परिमाण अधिक ही होगा। इसी प्रकार अन्य व्यय भी अतिरिक्त उत्पतिमें बढ़ जायंगे। यानी सीमासे बाहर उत्पत्ति हानिकारक होगी जिससे मूल्यमें गड़बड़ी पड़ेगी। एक ही बाजारके लिए जब दो या अधिक व्यवसायी एक ही वस्तु तैयार करते हैं तो उनके उत्पादनव्ययमें विभिन्नता रहनेपर भी मूल्य बराबर ही प्राप्त होता है (यहां वस्तुएं समान रूप-गुणकी मान ली गयी हैं)। अब यदि उस बाजारमें जितनी मांग है वस्तुएं उससे कहीं अधिक तैयार होने लगें तो कुछ योंही विना बिकीही पड़ी रहेंगी। ऐसी दशामें प्रत्येक व्यवसायी अपना सब माल बेचनेकी चेष्टा करेगा यानी उक्त वस्तुके व्यवसायियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा होने लगेगी। उनमेंसे जो बहुमात्राकी उत्पत्ति सबसे अधिक तथा सबसे कम उत्पादन व्ययमें कर सकेगा वह सबसे सस्ते भावपर बेच भी सकेगा। प्रतियोगिताके कारण वह प्रायः उत्पादनव्ययपर ही वस्तुएं देने लगेगा ताकि उसके अन्य प्रतिद्वन्द्वियोंके सब ग्राहक उसीसे वस्तुएं खरीदने लगें, और इस प्रकार वह उनका कारबार बन्द कर देनेकी चेष्टा करेगा। संभव है इस चेष्टामें वह उत्पादन व्ययसे कम पर भी कुछ समयके लिए माल बेचे। इस प्रकार मूल्यमें बड़ी गड़बड़ पड़ जायगी।

इस पारस्परिक प्रतियोगिताके कारण कुछ छोटे छोटे व्यवसायी उस कामसे विवश होकर अलग हो जायंगे क्योंकि मूल्यके कम हो जानेसे उनका उत्पादनव्यय भी निकलना कठिन हो जायगा। अब जो दो चार बड़े बड़े व्यवसायी बचेंगे वे या तो वही प्रतिद्वन्द्विता जारी रखेंगे और अन्तमें सबसे अधिक बहुमात्रामें और सबसे कम मूल्यपर देने वाला एक ही व्यवसायी बच रहेगा अथवा ये आपसमें मेलकर एक गुट स्थापित कर लेंगे। दोनों ही दशाओंमें उस वस्तुकी उत्पत्ति तथा पूर्तिके निमित्त एकाधिपत्य स्थापित हो जायगा। एकाधिपत्यमें मूल्यका निर्णय नवीन रूपसे होगा।

जब अनेक व्यवसायी उत्पादनव्ययसे प्रेरित हो एक ही बाजारमें एक ही वस्तु लेकर उपस्थित होते हैं तो उनमें बेचनेके लिए प्रतिद्वन्द्विता होने लगती है और मूल्य उत्पादनव्ययके अनुपातसे ही निर्णीत होता है। जो इससे अधिक मूल्य रक्खेगा उसे बाजारसे अलग हो जाना पड़ेगा क्योंकि कोई भी उसकी वस्तु न खरीदेगा। यानी प्रतिद्वन्द्विताके कारण मूल्य उत्पादनव्ययके अनुपातमें न्यूनसे न्यून ही रहेगा। किन्तु एकाधिपत्यमें प्रतिद्वन्द्वी तो रहते नहीं और पूर्तिके ऊपर केवल एक ही व्यवसायीका आधिपत्य रहता है, अतः उत्पादन व्ययपर विशेष ध्यान न रख मूल्य उतना ही रक्खा जाता है जिससे अधिकसे अधिक लाभकी संभावना होती है। किन्तु एकाधिपत्यमें भी मूल्य यदि अत्यधिक रक्खा जायगा तो व्यवसायीको अधिक लाभ न होगा क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी न रहनेपर भी खरीददार उतने मूल्यपर उस वस्तु को लेनेके लिए राजी न होंगे क्योंकि उतने मूल्यपर ली गयी उस वस्तुको वे उतनी उपयोगी न समझेंगे। उसके स्थानमें वे किसी अन्य

वस्तुका व्यवहार करने लगेंगे । दूसरे, एकाधिपत्यमें भी मूल्य अधिक बढ़ाये जानेपर प्रतिद्वन्द्वियोंका भय बना रहता है । इन्हीं कारणोंसे मूल्य उतना अधिक नहीं रक्खा जाता जितना कि ख्याल किया जा सकता है, तो भी स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धाकी अपेक्षा एकाधिपत्यमें मूल्य अधिक रहता है ।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि (१) किसी वस्तुका मूल्य तभी होता है जब उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है । (२) आवश्यकता तभी प्रतीत होती है जब वह इतने प्रचुर परिमाणमें नहीं पायी जाती (दुर्लभ होती है) कि जिस वाञ्छाकी वह तुष्टि करती हो वह पूरी तरहसे संतुष्ट होजाय (३) वह अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा जितनी आवश्यक समझी जाती है उतनेही अनुपातमें उसका मूल्य होता है (४) वह कितनी आवश्यक समझी जाती है यह आवश्यकताकी तुष्टिकी शेष मात्रापर निर्भर रहता है (५) वह अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा कितनी आवश्यक समझी जाती है यह उन वस्तुओंकी पूर्त्तिपर निर्भर रहता है । (६) पूर्ति अर्थात् दुर्लभता तीन बातों पर निर्भर है (अ) पूर्ति एकमात्र प्राकृतिक देन पर अवलंबित हो (आ) उत्पादनव्यय तथा मूल्यके अनुपातके हिसाबसे ही उत्पत्ति की जाय (इ) एकाधिपत्य द्वारा उतनी ही पूर्ति की जाय जितनीसे अधिकसे अधिक लाभकी संभावना हो ।

भगवान् कृष्ण अवस्थी

सामयिक संग्रह ।

वर्त्तमान सामाजिक जीवन ।

वर्त्तमान सामाजिक जीवनका स्वरूप दिखलाते हुए जून मासकी 'श्री शारदा'में श्रीकेशवकुमारजी लिखते हैं--

संसारका परिचालन और समाजका पथ इस ढँगपर होना चाहिए था कि जीवन-रक्षाके लिये खाद्य पदार्थ, सभ्यताकी मर्य्यादा की रक्षाके लिये वस्त्र और शारीरिक त्राणके लिये निवास-स्थानके प्राप्त करनेमें समाजके प्रत्येक व्यक्तिको उतनी कठिनाई न उठानी पड़ती जितनी आज उठानी पड़ती है ।

सामाजिक जीवनमें हम सुख, शांति और सरलता चाहते हैं। जिस मार्गपर वर्तमान संसार चल रहा है उसके फलमें जीवनकी आवश्यकताओंकी प्राप्तिका पथ इतना विकृत और जटिल होगया है जो वृहदंशमें कष्टप्रद और असत्य है। ऐसी अवस्थामें संसार जिस प्रकार जीवन बिता रहा है उससे समाजकी भलाईकी आशा नहीं है। जब जीवनका प्रत्येक क्षण अर्थ-चिन्तामें बीतेगा, तो परोपकार, समवेदन, निःस्वार्थ-भावना तथा दया दाक्षिण्यके महत्त्व-पूर्ण भाव मानव हृदयमें किस समय उत्पन्न होंगे? फलतः समाजमें स्वार्थ, ईर्ष्या और विषादका जन्म होगा। आज जो संसारकी भावना, विषाक्त होकर दया, समवेदनाको भूल रही है इसका कारण केवल संसारकी वर्त्तमान परिस्थिति है। रातदिनके चौबीसों घंटे अर्थ-चिन्तनामें बीतनेसे सारी क्षमता अर्थकी प्राप्तिमें ही लगा देनेपर भी जब पेट भर भोजन करनेका सौभाग्य नहीं होता, रहनेके लिये उपयुक्त स्थान नहीं मिलता, तो एक दूसरेका प्राप्त भोजन और स्थान लेलेनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे समाजमें अशान्ति उत्पन्न होकर जीवनको कलहपूर्ण बना देती है। स्वार्थ-त्यागके साथ संसार-सेवा की जा सकती है—जीवनका महत्त्व खोजा जा सकता है; किन्तु कब? जब रोटीके प्रश्नसे छुटकारा मिले तब। प्राचीन समयमें भारतवर्षमें जीवन-पथ कितना परिष्कृत किया गया था यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है। भारतवर्षकी प्राचीन और संसारकी अर्वाचीन अवस्थामें केवल त्याग और भोगका ही अन्तर है—भारतने त्यागका महत्त्व स्वीकार किया

था और संसारने भोगको ही श्रेय माना है। मानव-प्रवृत्ति, पाशविक-जीवनसे भिन्न सभ्यताकी उच्चश्रेणीमें मानी गई है। भोग स्वीकार करनेमें, पाशविक जीवनमें और मानव सभ्यतामें किस प्रकार अन्तर रहेगा--यह समझमें नहीं आता।

लेखककी रायमें वर्त्तमान सामाजिक दोषोंके दूर करनेका एक उपाय साहित्यका परिष्कार करना और उसे उच्च बनाना भी है, क्योंकि किसी हद्दतक

समाजका जीवन, साहित्यके पथप्रदर्शनपर निर्भर है। साहित्य ही समाजको रोगी-भोगी बनाकर ईर्ष्या-विद्वेषकी शिक्षा दे सकता है; और साहित्य ही समाजको त्याग और निःस्वार्थताका महामंत्र पढ़ाकर संसारको सुख और शान्तिका निकेतन बना सकता है। सामाजिक जीवनकी स्थिति संतोषजनक नहीं है। समाज संचालक और साहित्यपथिक अब भी आंखें खोलें। समाजका संचालन और साहित्यका पथ परिष्कृत करें, तो सामाजिक अवस्था सम्हल सकती है, और संसार-पथकी कठोरता सुगम हो सकती है। आज जो जीवन कलकलमें है--खानेको है तो पीनेको नहीं है, पीनेको है तो पहिरनेको नहीं है--शान्त हो सकता है और समाजका उद्धार होकर फिर एक बार संसार सुखमय हो सकता है।

[जूनकी 'श्री शारदा' से]

* *

*

नोटोंका संचालन।

राज्य तथा बंकमेंसे कौन नोटोंका सञ्चालन करे, इसपर बहुत ही अधिक मतभेद है। भारतवर्षमें शुरूमें प्रान्तीय बंक ही नोट निकालते थे। परन्तु अन्तमें राज्यने इस अधिकारको छीन लिया और स्वयं नोट निकालना शुरू किया। सरकारको नोट न निकालना चाहिए। इस पक्षमें निम्नलिखित युक्तियां पेश की जाती हैं।

(१) पहली युक्ति यह है कि नोट निकालना सरकारका काम नहीं है। इस युक्तिमें दोष यह है कि अभीतक किसीने भी राज्यके काम नियत नहीं किये। भिन्न भिन्न राज्य सामुद्रिक चुङ्गी आदि जब जनताकी दृष्टिसे लगा सकते हैं तो एक नोट निकालनेको ही उनके कर्त्तव्यक्षेत्रसे कैसे पृथक् किया जा सकता है।

(२) दूसरी युक्ति यह है कि राज्यका नोट निकालना जनताके हितको सुरक्षित नहीं रख सकता। अनुभव यही सूचित करता है कि राज्यने अपने इस अधिकारका समय समयपर दुरुपयोग किया है। यदि यह कहा जाय कि मुद्रानिर्माणके सदृश ही नोट निकालनेका अधिकार भी राज्यको ही होना चाहिए, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि मुद्रा निकालना तथा नोट निकालना भिन्न वस्तु हैं। नोटका आधार साख है। सोने चांदीकी मुद्राओंका आधार यह नहीं है। यदि राज्य साखका प्रयोग करने लगे तो वह जनताको बहुत हानि पहुंचा सकता है। भारतमें नोटोंकी अधिकता इस बातका प्रबल प्रमाण है।

(३) तीसरी युक्ति यह है कि नोटोंके निकालनेके अधिकारका दुरुपयोग बंककी अपेक्षा राज्यकेद्वारा अधिकतर सम्भव है। सरकारी कर्मचारी व्यापारीय जरूरतोंसे अधिक नोट निकाल सकते हैं। युद्धका भार, सैनिक खर्चोंका दबाव तथा व्यापारीय जरूरतोंका मिथ्या ज्ञान आदि अनेक कारण हैं जिनसे प्रेरित होकर वह लोग नोटोंके आधिक्यसे जनताको नुकसान पहुंचा सकते हैं।

(४) चौथी युक्ति यह है कि राज्य नोटोंको अधिक राशिमें निकालकर उनके बदले राज्य करोंको बढ़ाकर धन देते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्यके द्वारा नोटोंका संचालन उचित नहीं है। बंकोंके हाथमें ही इसका अधिकार होना चाहिए। माना कि बंकोंका हित तथा जनताका हित प्रायः प्रतिस्पर्धी होता है। परन्तु इसके सिवा दूसरी विधि ही कौनसी है? नोटोंका अधिक प्रचार होना चाहिए, इसको तो सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं।

समष्टिवादी तो इसीपर समाजका आर्थिक संगठन स्थापित करना चाहते हैं। इस हालतमें यही कहा जा सकता है कि राज्यको ऐसी बाधायें रखनी चाहिए जिससे बंक अपने नोट निकालने सम्बन्धी अधिकारका दुरुपयोग न कर सकें। संसारके भिन्न भिन्न बंकोंका इतिहास इस बातको सूचित करता है कि राज्यके निरीक्षणसे आर्थिक दुर्घटनाओंकी सम्भावना बहुत कुछ दूर की जा सकती है।

प्राणनाथ

[श्रावणके 'साहित्य' से]

* *

*

१—भारतवर्षके निर्धनता-नाशका उपाय।

भारतकी निर्धनताका प्रधान कारण तो उद्योगधन्धोंका नाश ही

है। हां, गौण कारण और भी हैं। मनुष्य-संख्याकी वृद्धि, खेतीकी अनुन्नत दशा, शासनसम्बन्धी व्ययाधिक्य, तीनचार करोड़ रुपयेका हर साल विलायत चला जाना, आदि गौण कारण हैं।

इन कारणोंमेंसे कुछका दूर करना हमारे वशकी बात नहीं, और यदि है भी तो बहुत कम। पर प्रधान कारणको दूर कर देना सर्वथा हमारे ही हाथमें है। अमरीका और इंग्लैंड क्यों इतने समृद्धि-शाली हैं इसलिए कि उन्होंने उद्योग-धन्धों और कल-कारखानोंकी सृष्टि करके उनकी बेहद तरक्क़ी की है। हम अपने देशका अन्न, रुई, जूट, ऊन आदि देकर उनके कारख़ानोंको चलाते और अपना ह्रास करते चले जा रहे हैं। इसका इलाज होना चाहिए। न होनेसे हमारी ह्रासपरम्परा और भी बढ़ जायगी और फिर हम किसी कामके न रहेंगे। विज्ञानके सहारे हमें कृषिकी उन्नति भी करना चाहिए, यदि बड़े बड़े कारख़ाने हम अधिक न खोल सकें तो छोटे ही छोटे ही खोल कर उस ओर कुछ अग्रसर तो ज़रूर ही होना चाहिए। कारख़ानोंके लिए लोहे, कोयले और रुपयेकी ज़रूरत होती है। इनमेंसे पहली दोनों चीज़ें यहां पर्य्याप्त पाई जाती हैं। रही तीसरी चीज़ रुपया, सो जब हम लोग सरकारको करोड़ों रुपया कर्ज़ दे सकते हैं तब यदि हम चाहें तो कल-कारख़ानोंके लिए भी यथेच्छ धन-संग्रह कर सकते हैं। इस दृष्टिसे चरखे और करघेकी सहायतासे अपना तन ढकनेके लिए मोटा कपड़ा तैयार कर लेना भी दारिद्र-नाशका उपाय है। हमें चाहिए कि हम सारा सङ्कोच दूर कर लकड़ी और लोहे तकका सामान पूर्ववत् अपने हाथसे तैयार करें और जहां तक उससे काम निकल सके अन्य देशोंकी बनी चीज़ें ख़रीद कर अपना धन-नाश अपने ही हाथों न करें। इस तरह छोटी-मोटी चीज़ें खुद तैयार करनेसे कुछ न कुछ उद्योग-वृद्धि ज़रूर होगी। पर हमारी रक्षा तभी होगी जब हम मिल-जुल कर बड़े बड़े कारख़ाने खोल कर देशकी समृद्धि-वृद्धि करेंगे। भारतका नैतिक अधःपात ही नहीं हुआ, धार्म्मिक और औद्योगिक अधःपात भी हुआ है। कितने दुःख और कितनी लज्जाकी बात है कि मनुष्य हो कर भी हम हर बातमें अपने ही सदृश दूसरे मनुष्योंके मुखापेक्षी बने रहें। टाटकी टोपी अपने हाथसे बनाकर पहनना अच्छा है; दूर देशोंसे मंगाकर फेल्टकी टोपी पहनना अच्छा नहीं। वैसा करना हमारी पराधीनताका सूचक है। और पराधीनता तथा उद्यमहीनता ही ने हमें अपनी वर्तमान अधोगतिको पहुंचाया है।*

[अगस्तकी "सरस्वती" से]

* इस मासके 'सामयिक संग्रह' का शेषांश अगले मासमें निकलेगा—सम्पादक।

सम्पादकीय।

भारतका राजनीतिक भविष्य।

महात्मा गांधीकी गिरफ्तारीके पश्चात् भारतके राजनीतिक क्षेत्रमें ऊपरी शान्तिके लक्षण देखकर हमारे भाग्य-विधाता यह समझ बैठे हैं कि अब भारतीय स्वराज्य-आन्दोलनमें कोई दम नहीं रह गया है, हमने बाजी मार ली एवं अब हम पुनः कमज़ोर भारतवासियोंको अपनी अँगुलियोंपर नचा सकते हैं। किन्तु उनकी यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। भारतमें नूतन राजनीतिक प्रवाहके कारण जो जागृति उत्पन्न हो गयी है, वह किसी प्रकार विनष्ट नहीं हो सकती। भारतमंत्री, प्रधान सचिव, अथवा अन्य किसी भी व्यक्तिके भाषणों अथवा कार्योंसे हमारी गतिका अवरोध नहीं हो सकता। स्वाधिकार पानेकी हमारी वर्त्तमान उत्कण्ठा एवं आन्तरिक निर्णयका विध्वंस करना अब संसारकी किसी भी शक्तिके लिये असंभव है। ऐसी अवस्थामें प्रधान सचिवका यह कहना कि "ग्रेट ब्रिटन **किसीभी हालतमें** भारतके प्रति अपने उत्तरदायित्वका परित्याग नहीं करेगा" (मानो उसने भगवानके यहांसे भारतको प्रलयकाल तक अपने आश्रित बनाये रखनेका पट्टा ही लिखा लिया है!) केवल एक औद्धत्यपूर्ण और अनधिकार धमकी है।

हम देखते हैं कि भारतके प्रति ब्रिटिश सरकारका रुख बराबर बदलता ही जा रहा है। भारतके साथ थोड़ी बहुत भलाई करनेकी इच्छा रखने वाले भारतमंत्री श्री माण्टेगूसे त्यागपत्र दिलवानेके पश्चात् सहायक मंत्री लार्ड विण्टर्टनका भाषण तथा गत १८ श्रावण (३ अगस्तको) को दी गयी प्रधान सचिवकी वक्तृता इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भारतीय सिविल कर्मचारियोंके असन्तोषका ज़िक्र करते हुए सर विलियम जाइनसन हिक्सने कहा कि 'उच्च पदोंपर भारतीय इतनी शीघ्रतासे नियुक्त होने लगे हैं कि भारतीय शासनमें ब्रिटिश दायित्वके सम्बंधमें सन्देह होने लगा है.' इसी विवादका उत्तर देते हुए प्रधान सचिव श्री लायड जार्जने उपर्युक्त वाक्य द्वारा भारतीय सिवीलियनों तथा उनके समर्थकोंको आश्वासन दिया था। आपने भारतमें किये गये 'नूतन सुधारों'को केवल परीक्षात्मक बतलाया और स्पष्ट शब्दोंमें यह संकेत किया कि यदि भारतीयोंने ज़रा भी चूँ-चां किया तो वे छुड़ा लिये जा सकते हैं। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और विशेषकर श्री लायड जार्जकी चाल ढालका जिन्हें सम्यग् ज्ञान है उन्हें तो इस कथनको सुन कर विशेष आश्चर्यान्वित होना ही न चाहिये, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते हैं कि ये महाशय अवस्था देखकर रँग बदला करते हैं। संवत् १९७४ के युद्ध संकटके समय जैसी चिकनी-चुपड़ी बातें की जाती थीं, जो अश्वासन दिया जाता था और उसी वर्ष भाद्रमासमें जो घोषणा प्रकाशित की गयी थी, उसकी तुलना ब्रिटिश सचिव मण्डलकी वर्त्तमान नीतिसे कीजिये तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। आयर्लैण्डका इतिहास भी इसीका साक्षी है, अस्तु।

हाँ, ऐसे लोगोंको अवश्य इस धमकीसे आश्चर्य और क्रोध होगा जो सब कुछ देखते हुएभी कुछ नहीं देखते और जो नूतन सुधारोंको ही वास्तवमें वाञ्छित स्वराज्यकी सीढी समझते हैं। जिन्होंने भारतके उज्ज्वल राजनीतिक भविष्यकी सारी आशाएँ भारतके भाग्य- निर्णेताओंकी इस "अमूल्य" देनगीपर ही अवलम्बित कर रखी हैं इस निराशा-पूर्ण भाषणसे उनका उत्तेजित हो उठना स्वाभाविक ही है। यद्यपि लार्ड रेडिंगने व्यवस्थापक सभाओंके सदस्योंके प्रतिनिधि-मण्डलको बहुत कुछ आश्वासन दिया और यह समझानेकी चेष्टा की कि प्रधानसचिवका वह आशय नहीं है जो आप लोगोंने समझा है और न उनका भाषण संवत् १९७४ की राजकीय घोषणाके विरुद्ध ही है, तो भी इनका क्षोभ शान्त हुआ नहीं प्रतीत होता।

चाहे श्री लायड जार्जका वास्तविक अभिप्राय वह न रहा हो जो उनके शब्दोंसे प्रकट होता है तोभी इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने उत्तरदायित्वका समुचित ध्यान न रखकर जो भाषण किया वह सर्वथा मूर्खतापूर्ण था। "टाइम्स" के शब्दों में "सुधारोंके लिये 'परीक्षात्मक' विशेषणका प्रयोग करना सबसे आखिरी बात होनी चाहिये। सुधार ऐसी परीक्षा नहीं हैं कि जिसका अनुसरण या परित्याग मनमाने स्वेच्छानुसार किया जा सकता हो; वह निर्धारित लक्ष्यकी ओर विचारपूर्ण निश्चत प्रगमन है।" संक्षेपमें यही मत भारतके उदारदल वालोंका भी है। हमारी सम्मतिमें तो सुधारोंको चाहे आप परीक्षा कहिये या 'पूर्व-घोषित नीतिकी सिद्धिका प्रथम सोपान कहिये, कोई विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जब कोई राष्ट्र अपने पांवोंपर खड़े होनेका पक्का निश्चय कर लेता है तो कोई उसे ज़बरदस्ती अपनी गोदमें नहीं बैठाये रख सकता। भारतमें जो राजनीतिक जागृति उत्पन्न हो गयी है उसका पर्याप्त श्रेय ब्रिटिश-शासनको देनेमें हमें कोई उज्र नहीं है, किन्तु यदि सामयिक प्रवाह तथा अन्य कारणोंकी उपेक्षा कर ब्रिटिश सिवीलियन ही सारा श्रेय हड़प कर जाना चाहें और यह कहें कि केवल ब्रिटेन निवासी ही शासन करना जानते हैं, भारतीयोंमें इसकी योग्यता नहीं है तो यह मिथ्या गाल बजाना है; उसी प्रकार यह इशारा करना कि ब्रिटेनने एकमात्र परोपकारकी इष्टिसे, केवल मानव-सहानुभूतिके भावोंसे प्रेरित होकर, दया कर हमें उसे तूफानसे बचा लिया जो मुग़ल साम्राज्यके अधः पतनके समय इस देशमें उठ रहा था सर्वथा झूठी एवं अनधिकार आत्मा-प्रशंसा है। यह न कहकर कि जिस किसी कारणसे भारतके सम्बंधमें हमें जो उत्तर-दायित्व प्राप्त हुआ है, उसे आवश्यकता रहते निबाहना हमारा धर्म है, यह कहना कि पुश्त दर पुश्त यह जिम्मेदारी **ज्योंकी त्यों** (इनटैक्ट) बनी रहेगी, ब्रिटिश कर्मचारी ही सारी इमारतका फौलादी ढांचा हैं जिनके बिना इमारत खड़ी ही नहीं रह सकती तथा ऐसे दिनकी कल्पना करनेमें असमर्थ होना जब कि भारतका शासन अंग्रेजोंकी सहायताके बिना भी हो सकेगा, हृदयकी क्षुद्रता और विचारोंका औद्धत्यमात्र प्रकट करता है। किन्तु इन सब बातोंकी चिन्ता न कर भारतवासी अपना पथ निश्चित करेंगे। वास्तवमें वे इसका

निश्चय कर ही चुके हैं। क्या माडरेट और क्या असहयोगी, सभी स्वराज्य चाहते हैं। लक्ष्य एक ही है, केवल साधनका मतभेद है। यदि ब्रिटिश अधिकारियोंकी ओरसे ऐसा रूखा-सूखा जवाब ही मिलता रहा तो संभव है आज जो लोग भारत सरकारके साथ सहयोग करनेके लिये जी-जानसे उतारू हैं, कल वे भी अपनी भक्तिमें शिथिल पड़ जायँ। उस समय देखना होगा कि जीत किसकी होती है। संसारका इतिहास बतलाता है कि जिस समय शासक और जनतामें व्यापक और स्थायी खींचा-तानी आरंभ होती है, उस समय अन्तिम विजय जनताकी ही होती है। शासकवर्ग इतना परमार्थी नहीं हो सकता कि स्वेच्छासे अपनी सत्ता छोड़ दे, अतः प्रत्येक पराधीन राष्ट्रको अपनी मुक्तिके लिये स्वयं ही कठिन प्रयत्न करना पड़ता है। चाहे ब्रिटिश साम्राज्यके प्रधान सचिव यह बात मानें और चाहे न मानें पर यह निर्भ्रान्त सत्य है कि कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्रको सदाके लिये पंगु नहीं बनाये रख सकता। सृष्टिके साधारण विकास-सिद्धान्तके ही अनुसार किसी न किसी समयपर राष्ट्रको अपने स्वत्वोंका ज्ञान हो जाता है और इस ज्ञानके साथ उसमें स्वावलम्बी बननेकी शक्ति भी आजाती है। भारतके सम्बन्धमें ब्रिटिश जनताका क्या मत है, हम नहीं जानते—संभव है वह इतना अनुदार न हो—किन्तु इतना हम जानते हैं कि हमारा भविष्य हमारे ही हाथमें है। यदि हमने स्वायत्त-शासन प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया है तो हम अपने लक्ष्यको कभी न कभी प्राप्त कर ही लेंगे। शासकवर्ग अपनी हठके कारण हमारे मार्गमें बाधाएँ अवश्य उपस्थित कर सकता है, पर वह हमें अपने ध्येयतक पहुँचनेसे नहीं रोक सकता, क्योंकि ईश्वरके नियम अटल हैं। श्री लायड जार्ज तथा उनके अनुयायी जबतक ईश्वरकी सृष्टिमें हैं, तबतक उन्हें भी उक्त नियमोंके सामने सिर झुकाना पड़ेगा। वे चाहें तो हमारे मार्गको सरल बनाकर पुण्यभाजन बन सकते हैं, किन्तु उनके दुराग्रहसे भी क्षतिकी संभावना नहीं है। हमें अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होनेकी कोई आशंका नहीं है, अस्तु।

राष्ट्रके लिये सबसे अधिक अपमानजनक बात जो प्रधान सचिवने कही वह यह है कि भारतमें परस्पर विभक्त करनेवाले अनेक कारण मौजूद हैं और यदि ब्रिटेन यहांसे अपना सम्बन्ध हटा ले तो यहां युद्ध और अराजकता फैल जाय। श्री लायड जार्ज समझते हैं कि अंग्रेजोंके चले जानेसे हम लोग आपसमें लड़ मरेंगे, एक दूसरेको खा जायंगे, क्योंकि हमारे इतिहाससे यही प्रकट होता है। इस प्रकारका तर्क तो वैसा ही है जैसा यह कि हम एक बार, दो बार या चार बार अग्नि छू कर जल गये थे अतः भविष्यमें भी जीवनके अन्ततक, अग्नि छूते जायँगे और जलते जायँगे! हमारे इतिहासका इतना क्षुद्र और इतना विचित्र अर्थ निकालना ब्रिटिश साम्राज्यके इतने बड़े अधिकारीको शोभा नहीं देता। आधुनिक विचारोंसे हमारा राजनीतिक इतिहास बहुत उच्च और गौरवपूर्ण भले ही न प्रतीत हो पर जहाँ तक हम समझते हैं, उसे वर्त्तमान साम्राज्यवादके सामने लज्जित होनेका कोई कारण नहीं है। यह सत्य है कि जिस समय अंग्रेजोने भारतमें प्रवेश किया उस समय हमारा राजनीतिक अधःपतन प्रारंभ होगया था पर इसका यह आशय नहीं

कि हमने अपना शासन कभी किया ही नहीं और न कर सकते हैं। प्रधानसचिवको स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय ब्रिटेन, अमेरिका इत्यादि देशोंको वस्त्र पहिननेका भी सहूर न था, उस समय भारतने ऐसे ऐसे उच्च राजनीतिक सिद्धान्तोंका अध्ययन और प्रसार किया था, स्वायत्त शासनकी इतनी अधिक क्षमता प्रकट की थी कि जो आज भी राजनीतिके मर्मज्ञोंको आश्चर्यमें डाल देती है। इस पतितावस्थामें भी यदि पर्याप्त अवसर दिया जाय तो भारतसन्तान संसारकी किसी जातिकी अपेक्षा स्वायत्त शासन करनेकी क्षमतामें पीछे न रहेगी।

हम यह माननेके लिये तैयार हैं कि ब्रिटेनके साथ हमारा सम्बन्ध निरन्तर बना रह सकता है, पर यह सम्बन्ध मित्रताका, बराबरीका, होगा अधीनताका नहीं। श्री लायड जार्ज चाहे जिन शब्दोंमें अपने देश वासियों या सहवर्गियोंको आश्वासन देनेकी चेष्टा करें। किन्तु भारतका राजनीतिक भविष्य इसी निश्चयका अनुगामी होगा, यह अवश्यम्भावी है।

* *
*

जर्मनीकी आर्थिक स्थिति !

जर्मनीकी वर्तमान आर्थिक स्थिति कितनी डांवाडोल हो रही है, यह उसके सिक्के 'मार्क'के मूल्यपतनसे ही स्पष्ट है। युद्धके पूर्व मार्कका मूल्य लगभग एक शिलिंग (बारह आने)के बराबर था। १६ पौष संवत् १९७६ को मार्कका मूल्य गिर कर एक पौगड (१५ रुपये) में १८८ मार्कके बराबर हो गया। संवत् १९७७ और १९७८ की उसी तिथिको एक पौगडका विनिमय मूल्य क्रमशः २५८ तथा ७७१ मार्क था। इस वर्ष गत १८ ज्येष्ठको एक पौगडमें १२२०, तथा १६ श्रावणको ४००० मार्क मिलने लगे। इसके बाद अभी ७ भाद्रपदके लन्दनके तारसे विदित होता है कि अब एक पौगडका मूल्य ६५०० मार्क हो गया है! अर्थात् युद्धके पूर्व जिस मार्क सिक्केकी क़ीमत १२ आने थी, आज उसका मूल्य लगभग आधी पाई ही रह गया है!

यद्यपि यह सत्य है कि जर्मनीमें इंग्लैगड, फ्रांस, हालैगड, बेलजियम, अमेरिका-की अपेक्षा बहुत कम बेकारी देखनेमें आती है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि वहांका आर्थिक संकट बढ़ रहा है। मार्कका मूल्य गिर जानेके कारण बाहरसे आनेवाली वस्तुओं-का मूल्य असह्यरूपसे बढ़ गया है। युद्धके पूर्वकी अपेक्षा ऐसी वस्तुओंकी क़ीमत औसतमें लगभग ८० गुनी हो गयी है, किन्तु श्रमजीवियोंका वेतन सिर्फ २५ गुना ही बढ़ा है! अतः उनमें असन्तोषके लक्षण नज़र आ रहे हैं। मित्रोंका हरजाना चुकानेके लिये राशि राशि माल विदेशोंको—खासकर फ्रांस, ब्रिटेन इत्यादि देशोंको—भेजा जा रहा है। अतः श्रमजीवियोंको कहीं कहीं प्रतिदिन निर्दिष्ट समय अर्थात् आठ घगटेसे भी अधिक काम

करना पड़ता है। मज़दूरोंके बढ़ते हुए असन्तोषका यह दूसरा कारण है। तीसरी बात यह है कि हरजाना चुकानेके निमित्त जर्मनी अच्छेसे अच्छा कोयला फ्रांस इत्यादि देशोंको भेजनेके लिये दबाया जा रहा है। इसकी मात्रा प्रतिवर्ष ५६ करोड़ मनसे भी अधिक है। फल यह हो रहा है कि जर्मनीके कारखानोंमें कोयलेकी कमी हो गयी है और उन्हें विदेशोंसे कोयला मँगाना पड़ रहा है। संवत् १९७८ के आश्विन-कार्तिकमें जर्मनीको विदेशोंसे लगभग १८ लाख मन कोयला मँगाना पड़ा था किन्तु माघ-फागुनमें उसे ८७ लाख मन अर्थात् लगभग पांचगुना कोयला मँगाना। इसका मूल्य भी उसे कई गुना अधिक देना पड़ा होगा, क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, मार्कका मूल्य गिर जानेके कारण जर्मनीवालोंको विदेशी वस्तुएँ बहुत महँगी पड़ती होंगी। इसके अतिरिक्त देशमें उत्पन्न होनेवाले खाद्य पदार्थों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओंका भी मूल्य लगभग दो-ढाई गुना बढ़ गया है। करोंकी मात्रामें भी पहिलेकी अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है। इन्हीं सब कारणोंसे जर्मनीकी आर्थिक परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय होती जा रही है। इतना होते हुए भी हरजाना वसूल करनेमें मित्रराष्ट्र, विशेषकर फ्रांस, जर्मनीके साथ ज़राभी रियायत करनेके लिये तैयार नहीं हैं। इस दुराग्रहसे जर्मनीकी हानि तो होगी ही, किन्तु मित्रराष्ट्र भी इसके दुष्परिणामसे न बच सकेंगे।

जर्मनीसे जितनी बड़ी रक़म हरजानेके रूपमें मांगी जा रही है, उसे नक़द सिक्कों या सोने चांदीके रूपमें देना असंभव है। अतः इतने मूल्यका माल ही जर्मनी मित्रराष्ट्रोंको देनेके लिये बाध्य हो रहा है। जर्मनीके व्यापारी जो माल मित्रराष्ट्रोंके हाथ बेचते हैं उसका मूल्य चुकता करनेके लिये जो हुंडियां जर्मनी भेजी जाती हैं, जर्मन सरकार उनके बदलेमें अपने व्यापारियोंको उतने मूल्यके कागज़ थँमा देती है और उक्त हुंडियोंको मित्रराष्ट्रोंके पास भेज देती है। वहांकी सरकार उन हुडियोंको भुनाकर हरजाना वसूल कर लेती है। इस पद्धतिके प्रधानतया दो परिणाम होते हैं। एक तो यह कि माल भेजनेवाले देश अर्थात् जर्मनीमें कागज़ी मुद्राके बाहुल्यके कारण उसका मूल्य गिर जाता है। दूसरे शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि उसकी क्रयशक्ति कम हो जाती है, अतः वस्तुओंके लिये अब अधिक मूल्य देना पड़ता है। साथ ही माल लेनेवाले देश फ्रांस, इंग्लैण्ड इत्यादिमें जर्मनीका सस्ता माल पहुँच जानेके कारण वहांके मालकी खपत कम हो जाती है, अतः वहां बेकारी फैलने लगती है। (इंग्लैण्डमें इस समय कोई २० लाख मनुष्य बेकार हैं)। अतः यह स्पष्ट है कि फ्रांसका दुराग्रह जर्मनीको तहस-नहस करनेके साथ ही स्वयं मित्रोंके लिये भी हानिकारी है। (यह नोट लिख चुकनेके बाद खबर मिली कि मार्ककी दर एक पौण्डमें नौ हजार हो गयी है!—सम्पादक)

* *
*

सिंहलद्वीपमें भारतीय मज़दूर ।

सिंहलद्वीपमें काम करनेके लिये जानेवाले भारतीय कुलियोंके सम्बन्धमें सरकार जो नियम बनाना चाहती है उन्हें उसने संभवत: भारतमें प्रकाशित नहीं किया। किन्तु सिंहलद्वीपमें वे गतमासमें ही प्रकाशित कर दिये गये थे। दो एक भारतीय संवादपत्रोंने ये नियम सिंहलद्वीपीय पत्रोंसे उद्धृत किये हैं। उन्हें देखनेसे मालूम होता है कि वे भारतीय मजदूरोंके लिये पूर्णरूपसे सन्तोषजनक न होते हुए भी, किसी अंशमें लाभकारी ज़रूर सिद्ध होंगे। इन नियमोंको देखकर वहांके चाय तथा रबड़की खेती करनेवाले गोरे (प्लैण्टर्स) घबरा गये हैं। वे उन्हें बदलवा डालनेकी फिक्रमें हैं। अभी कुछ दिन हुए जब मद्रासके गवर्नर वहां गये तो उन लोगोंने अपना विरोध प्रकट कर इस अवसरसे लाभ उठाना चाहा। संभवत: उनका एक प्रतिनिधिदल मद्रास तथा शिमला भी जाने वाला है।

यद्यपि भारतके सन्निकट होनेके कारण सिंहलद्वीपमें हमारे भाइयोंके साथ उतना दुर्व्यवहार नहीं हो सकता जितना आफ्रिका आदि उपनिवेशोंमें, फिर भी वहां उनकी स्थिति सुविधापूर्ण और सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। सिंहलवासियोंको जो सुविधाएँ प्राप्त हैं वे उन्हें नहीं हैं। वे किसी समय अध्यक्ष (सुपरिण्टेण्डेण्ट) की अनुमतिके बिना प्लैण्टरका इलाका छोड़ कर बाहर नहीं जा सकते। वे न तो अपना समय ही अपनी इच्छाके अनुसार बिता सकते हैं और न स्वतंत्रतापूर्वक कोई कार्य ही कर सकते हैं। उन्हें उन सामाजिक कार्योंमें भी भाग लेनेका अवसर नहीं मिलता जिनसे जीवनका भार कुछ हलका होता है।

यह तो हुई उनकी सामान्य स्थिति। उनकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं कही जा सकती। अच्छेसे अच्छे इलाकोंमें जहां रबड़का काम होता है, अत्यन्त परिश्रमी भारतीय कुलीको भी दस आने रोजसे अधिक नहीं पड़ता। मध्यम श्रेणी और निकृष्ट श्रेणीके इलाकोंमें तो सात आने रोज तक मिलता है। स्त्रियों और बालकोंको इससे भी कम मजूरी मिलती है। जिन इलाकोंमें चायकी खेती होती है वहां तो पुरुषोंको भी प्रतिदिन चार आनेसे सात आनेतक वेतन मिलता है, स्त्रियों और बालकोंकी बात जाने दीजिए। फिर, यह मजूरी भी सुस्थिर नहीं कही जा सकती। कभी कभी समूचे कामकी मात्रा घटा दी जाती है। ऐसे अवसर पर कुलियोंकी मजूरी भी घट जाती है। इधर, भारतमें अपने घरमें रहनेकी अपेक्षा सिंहलद्वीपमें रहने वाले भारतीय मजदूरोंको जीवन-निर्वाहका व्यय भी अधिक पड़ता है। ऐसी हालतमें उनकी आर्थिक स्थिति कहां तक खराब न होगी? आशा है इन सब बातोंका ध्यान रखकर भारत सरकार उक्त नियमोंमें ऐसे कोई परिवर्त्तन न करेगी जिनके कारण भारतीय मज़दूरोंकी दशामें विशेष सुधार होनेकी आशा जाती रहे।

ज्ञातव्य-विषय तथा अंक।

रुईके निर्यातका लेखा।

गणना विभागने गत पांच वर्षोंमें विदेशोंकी भेजी गयी रुईके जो अंक प्रकाशित किये हैं वे नीचे दिये जाते हैं। (रुईका वर्ष सितम्बर अर्थात् भादों-कुँआरसे अगस्त अर्थात् सावन-भादोंतक गिना जाता है)

देश	संवत् १९७३-७४	संवत् १९७४-७५	संवत् १९७५-७६	संवत् १९७६-७७	संवत् १९७७-७८
ब्रिटिश संयुक्त राज्य	२११	२६४	१११	१७६	३८
फ्रांस	६०	२३	२६	६५	२७
स्पेन	४३	१	२३	६८	३९
इटली	२३७	१४१	८४	१३१	१४८
चीन	५३	२०	१८	१४८	३१६
जापान	१४९३	१२५६	९३९	१६४८	११४९
अन्य देश	४०	२६	५२	३६३	५०९

(संख्या पांच पांच मनकी हजार गांठोंमें)

ऊपरके अंक देखनेसे विदित होता है कि हमारी रुईका सबसे बड़ा खरीददार जापान है। गत दो वर्षोंसे चीनने भी हमारे यहांसे अधिक रुई मंगाना शुरू कर दिया है। ब्रिटिश संयुक्त राज्य प्रधानतया अमेरिका अथवा मिश्रकी रुईका प्रयोग करता है। गत वर्ष तो उसने हमसे और भी कम रुई ली। यदि इस रुईका अधिकांश देशमें ही रहकर कपड़े तैयार करनेमें प्रयुक्त किया जाता तो उससे अधिक लाभ होता और हमें वस्त्रोंके लिये परावलम्बी न होना पड़ता।

विदेशी चीनीका आयात।

गत तीन वर्षोंमें बाहरसे जितनी चीनी भारतमें आयी उसमेंसे पुनः बाहर भेज दी गयी चीनीके अंक घटादेनेसे विशुद्ध आयातका लेखा इस प्रकार है—

संवत्	टन (२७.२ मन)	मूल्य रुपयोंमें
१९७६	३४०,५११	१८,२८,७२,००६
१९७७	१६४,३११	१०,८१,८६,३३०
१९७८	६८४,९९१	२५,०७,४४,०३७

सबसे अधिक चीनी जावासे आयी। उसके बाद मारीशस तथा बेलजियमसे।

परिशिष्ट-('ज्येष्ठ' के बाद)

५. ख. जिनोआ पृ० २

यह नगर इटली देशका मुख्य बन्दरस्थान है। रोमन लोगोंने यहां विक्रमके पूर्व १५६ (२१६ बी. सी.) में प्रवेश किया। मध्ययुगमें (१३ से १५ वीं शताब्दीतक) वहां प्रजातंत्र-राज्य स्थापित हुआ और वह एक प्रसिद्ध समुद्री नगर बन गया। अमेरिकाको ढूँढ निकालनेवाला कोलम्बस यहींका निवासी था। मध्ययुगमें वेनिसकी तरह जिनोआ भी पूर्वी व्यापारका प्रधान केन्द्र था। वेनिस और पीसाके साथ इस नगरकी खूब प्रतियोगिता होती थी।

६. विनिमय पृ० २

एक वस्तुको दे कर उसके बदले दूसरी वस्तु लेनेको विनिमय कहते हैं। आज कल रुपया (मुद्रा) देकर सब वस्तु मिल सकती है। अतः रुपयेको विनिमयका माध्यम कहते हैं। प्राचीन समयमें अन्य वस्तुओंको भी माध्यम मानते थे जैसे गेहूं, बैल, चमड़ा इत्यादि, परन्तु उन सबसे उत्तम माध्यम चांदी या सोनेकी मुद्रा है क्योंकि इसमें हर प्रकारकी सुविधा है।

६. क. फ्लोरेंस पृ० २

यह भी इटलीका प्रसिद्ध नगर है। बारहवीं शताब्दीके अन्तमें इसने खूब उन्नति कर ली और वह शीघ्र ही प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र बन गया।

७. प्रजातन्त्र पृ० २

संसारमें शासन करनेकी कई प्रणालियां हैं। निम्नलिखित प्रणालियां मूल रूपसे मानी जाती हैं—

१. एकतंत्रराज्य—इसमें शासनका सम्पूर्ण अधिकार राजाके हाथमें रहता है और सन्धि, विग्रह कानून बनाना आदि सभी काम राजा स्वयं ही मनमानी रीतिपर करता है। ऐसी शासनप्रणालीको आजकल अधम मानते हैं। (नियन्त्रित एकतन्त्र राज्य तब कहलाता है जब राजा विशेष बातोंमें प्रजाकी बात माननेको बाध्य होता है)

२. कुलीन तन्त्र—इसमें शासनका अधिकार देशके कुलीनोंकी एक समितिके हाथमें रहता है। इसमें दोष यह है कि ऐसे देशके कुलीन अभिमानी तथा स्वच्छन्द होकर साधारण जनताको अनेक प्रकारकी पीड़ा देते हैं।

३. संयुक्त तन्त्र—इसमें एक बड़े देशके अन्तर्गत छोटे छोटे राजा, जो अपने अपने राज्यमें एकतन्त्र पद्धतिके अनुसार शासन करते हैं, आपसमें मिलकर अपनी एक महासभा स्थापित कर लेते हैं और उसकी आज्ञासे ही बहुत बड़े बड़े राष्ट्रीय कार्य जैसे संधि, विग्रह आदिका निश्चय करते हैं। इस सभाकी आज्ञा प्रत्येक राजाको माननी पड़ती है।

४. प्रजातन्त्र—इसमें सभी बालिग प्रजाका राज-काजमें हाथ रहता है, अर्थात् सबसे बड़ी शासन सभाके सदस्य, सभापति तथा मन्त्रीका निर्वाचन प्रजाकी अधिक सम्मतिसे होता है।

आधुनिक कालमें भिन्न भिन्न देशोंकी प्रजाने अपनी इच्छा तथा देशकालानुसार उक्त मूलशासन प्रणालियोंका एक एक अंश लेकर एक नयी प्रणाली बनाली है। जैसे इंग्लैण्डमें राजा भी है और कुलीनोंकी सभा (हाउस आफ लार्ड्स) तथा साधारण जनताकी भी सभा (हाउस आफ कामन्स) है। अमेरिकामें संयुक्ततन्त्र है परन्तु वहांके छोटे छोटे राज्योंमें भी प्रजातन्त्र है। जर्मनी गत युद्धके पूर्व संयुक्ततन्त्र था। परन्तु वहांके राजाको विशेषावस्थामें विशेष अधिकार भी प्राप्त थे। अब वहां भी एक प्रकारका प्रजातंत्र स्थापित हो गया है।

८. पोप पृ०

प्राचीनकालमें यूरोपमें भी धर्मका विशेष प्रभाव था, और पोप लोग धर्मके अधिपति माने जाते थे। वे साधु प्रकृतिके होते थे और उनपर सम्पूर्ण नृपतिगण श्रद्धा रखते थे। देश भरमें धर्मका व्यवस्थापक पोप और शासनका व्यवस्थापक राजा समझा जाता था। कभी कभी इन दोनोंमें मतभेद भी हो जाता था, परन्तु जब तक पोपोंका आचरण ठीक था उन्हींकी बातोंको प्रधानता दी जाती थी यहां तक कि शासनके मामलोंमें भी उनका हाथ रहता था। जबसे पोपोंका आचरण बिगड़ा राजा उनकी उपेक्षा करने लगे। उधर पोप भी भूमिपर अधिकार जमा कर स्वयं राजासा आचरण करने लगे। अन्तमें संवत् १५५६ (सन् १४९९) में रोमके पोप (रोम आज तक धर्म संस्थाका सबसे बड़ा स्थान माना जाता है) एक लड़ाईमें हार कर फ्रांसके राजा चतुर्थ फिलिपकी शरणमें जा बसा। उस समयसे अब पोप केवल धर्मकी बातोंमें हस्तक्षेप कर सकते हैं। (धर्ममें भी उनका कथन सर्वमान्य नहीं होता)।

९. उत्तमाशा अंतरीप पृ० ३

अफ्रीकाके दक्षिणका अन्तरीप। भारतमें आनेके लिए पहले यही मार्ग सबसे सुगम था। इस मार्गका पता लगनेपर भारतवर्षमें आनेकी सुविधा हुई और यूरोपके सभी राज्य भारतमें रोजगारपर अधिकार जमानेका प्रयत्न करने लगे और परस्पर बड़ी स्पर्धा करने लगे। १५वीं शताब्दिमें पोप बोर्जियाने एक बटवारा किया था जिसमें भारतवर्ष पुर्तगालवालोंके हिस्से पड़ा था अतएव इस मार्गके जाननेसे सबसे बड़ा लाभ उन्हीं लोगोंका हुआ और दूसरे देशवाले उनके प्रतिस्पर्द्धी हुए। अब तो भारतमें आनेका सबसे सीधा मार्ग स्वेज़की नहरसे होकर है।

१० मिलान पृ० ३

प्राचीन कालमें इटलीका राजा अनेक कारणोंसे सम्पूर्ण देशपर अधिकार नहीं जमा सकता था। अतएव कई छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य बन गये थे जो अपने अपने स्वार्थवश परस्पर लड़ा भिड़ा करते थे। वे ये थे —

१. मिलानराज्य—संवत् १५०४ (सन् १४४७) से संवत् १५३३ (सन् १४७६) तक बना रहा। अन्तमें इसका शासक स्वार्थवश फ्रांसके राजासे मिल गया जिसका परिणाम उसके राज्य और देशका नाश हुआ।

२. नेपुल्स राज्य—यह ११वीं शताब्दिसे सोलवीं तक रहा। संवत् १५१० (सन् १४५३) में यहांके शासकने स्वयं साहित्य और शिल्पका बड़ा प्रेमी होनेके कारण उनकी बड़ी उन्नति की। अन्तमें फ्रांस और स्पेनवाले इसको लेनेके निमित्त लड़ गये और संवत् १५६६ में यह स्पेनवालोंके हाथमें चला गया।

३. पोपोंका राज्य—(इसमें रोमनगर भी सम्मिलित था) यह राज्य पोप लोगोंका था। अन्तमें उनकी चालचलन बिगड़नेके कारण उनका राज्य और उनकी प्रतिष्ठा नष्ट हो गयी। संवत् १५५६ (सन् १४९९)।

४. फ्लोरेन्सका राज्य—चौदहवीं शताब्दिमें यह प्रजातन्त्र स्वतन्त्रताका घर समझा जाता था। संवत् १४९५ (सन् १४३८) से संवत् १५७१ (सन् १४६४) तक इसका प्राज्ञशासक मिलान और नेपुल्ससे मिलकर इटली भरके राजकाजका मध्यस्थ बन गया था। किसी समयमें फ्लोरेन्सका साहित्य, शिल्प और व्यवसाय उन्नतिके शिखरपर था परन्तु परस्पर राज्योंसे विरोध करनेपर इसका भी पतन हुआ।

५. वेनिसका राज्य—१५वी शताब्दिमें यह इटलीके सब राज्योंमें प्रधान था। इसकी शासन-पद्धति कुलीन तन्त्रके ढंगकी थी। जो लोग शासनमें भाग लेते थे उनका नाम **सुनहरी पुस्तकमें** लिखा जाता था। इसमें नामका लिखा जाना बड़ी प्रतिष्ठाकी बात समझी जाती थी। इस राज्यकी उन्नतिका कारण उसके व्यवसाय और भूमिका आधिपत्य ही था। उत्तमाशा अन्तरीपवाला मार्ग जाननेके पूर्व मेडिटरेनियन सागरके पूर्वीय भाग, भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वीय देशोंका व्यवसाय वेनिसहीके हाथमें था। तुर्क लोग पूर्वीय व्यवसायको अपनानेके लिए इसके प्रतिस्पर्धी थे। उन्होंने कई बार लड़ाई कर उसको हानि पहुंचायी। अन्तमें स्पेनने इसको दबा लिया और तब इसके व्यवसायका नाश हो गया। इस प्रजातन्त्रकी स्थिति १७९७ तक रही।

११ मानटेस्क्यू पृ० ४

फ्रांसका प्रसिद्ध तत्ववेत्ता (संवत १७४६—१८१२) उसने तत्व, प्रकृति विज्ञान तथा कानूनकी अनेक किताबें लिखी है। "कानूनके तत्व" नामी किताबसे उसकी बहुत प्रसिद्ध हुई। सामाजिक उन्नतिके लिये भी उसने बहुत प्रयत्न किया था।

१२ सुनहरी पुस्तक पृ० ५

संख्या १० देखिये।

१३ स्वतन्त्र (अप्रतिबद्ध) और प्रतिबन्धक वाणिज्य पृ ५

बाहरसे आये हुए मालको बिना किसी प्रकारकी चुंगीके देशमें प्रचारित होने देनेको स्वतन्त्र या अप्रतिबद्ध वाणिज्य कहते हैं तथा प्रविष्ट होनेके पूर्व उनपर कर लगानेकी व्यवस्थाको प्रतिबन्धक वाणिज्य कहते हैं।

स्वदेशकी वस्तुकी खपत विदेशी वस्तुकी अपेक्षा अधिक होनेके लिए विदेशी वस्तुपर कर लगा देते हैं अर्थात् जो विदेशी वस्तुको स्वदेशमें लाता है उसे कुछ

कर देना होता है। इसका परिणाम यह होता है कि यात्रासम्बन्धी व्यय और कर दोनों जोड़कर परता लगानेसे विदेशी वस्तु स्वदेशीकी अपेक्षा महँगी पड़ने लगती है जिसके कारण स्वदेशी वस्तुकी खपत पूर्ववत् बनी रहती है या बढ़ जाती है और स्वदेशका व्यवसाय हराभरा रहता है। यह कर दो प्रकारका होता है। एक तो स्वदेशकी वस्तुको बाहर ले जानेवालेको और दूसरा बाहरकी वस्तुको स्वदेशमें ले आनेवालेको देना पड़ता है। इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं कि करके बढ़ने और घटनेपर वस्तुके आने और जानेमें घटती और बढ़ती होती है अर्थात् अधिक करसे व्यवसायीकी हानि होती है और इससे वे लोग दूसरे देशोंसे व्यवसाय करते हीं नहीं।

(क) स्वतन्त्र वाणिज्यके पक्षवालोंका कथन है कि उससे प्रत्येक देशको दूसरे देशकी सभी वस्तुओंसे यथेच्छ लाभका अवसर मिलता है, उसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती और उससे इस सिद्धान्तका पालन होता है कि मानवजातिकी सर्वोत्तम उन्नति तभी होती है जब प्रत्येक देशको वही काम करना पड़े जो उस देशके जलवायु, स्थिति और निवासियोंकी अभिरुचि आदिके अनुरूप हो।

(ख) प्रतिबद्ध वाणिज्यके पक्षवाले निम्न लिखित बातें अपने पक्षमें कहते हैं—

(१) इससे स्वदेशके प्रारम्भिक व्यवसायको उन्नति करनेका अवसर मिलता है।

(२) इससे प्रत्येक देशको अपने लिए सभी आवश्यक वस्तुओंको पैदा करके दूसरे देशके भरोसे नहीं रहना पड़ता।

(३) इसके न रहनेसे दूसरे देशकी जो वस्तु अच्छी और सस्ती मिलेगी उसका व्यवसाय अपने देशमें बन्द हो जायगा।

(४) कई देशोंमें अबतक स्वतन्त्र वाणिज्य स्वीकार नहीं किया गया है।

(५) बाहरके मालको करोंद्वारा रोककर चढ़ा ऊपरी बन्द कर दी जाती है। अर्थात् बलहीन व्यवसायी शक्तिमान् व्यवसायीको दबा नहीं सकता।

१४ पोलैण्ड पृ० ६

यह प्रदेश यूरोपके मध्य भागमें रूस साम्राज्यके दक्षिणमें है। इसके आरम्भिक इतिहासका ठीक पता नहीं चलता। पर १५वीं शताब्दिसे इसकी उन्नति आरम्भ होती है। एक शताब्दि तक इसकी दशा अच्छी रही। फिर सत्रहवीं शताब्दिके मध्यकालसे यूरोपके प्रायः सभी राजा इसपर दांत गड़ाने लगे और जहांतक हो सका इसपर पंजा मारते रहे। अन्तमें वीनाकी कांग्रेसके बाद यह रूसके हाथ लगा और अब युद्धके बाद वहां प्रजातंत्र स्थापित हो गया है।

१५ मांटेस्क्यू पृ० ६

संख्या ११ देखिये।

१६ हांसा समुदाय पृ० ७

इस शब्दका अर्थ संघ है। इस शब्दका प्रयोग जर्मनीके कुछ नगरोंके

संघके लिए किया जाता था। इस संघने १३वीं और १४वीं शताब्दिमें बाल्टिक सागरके समीपवर्त्ती नगरोंके वाणिज्यको अपने हाथमें कर लिया था और उन नगरोंकी उपज बराबर जर्मनी, इंग्लैंगड और यूरोपके पश्चिमीय विभागोंमें भेजा करते तथा पश्चिमकी बनी बनायी वस्तु और गरमदेशोंकी प्रधान उपजोंको मंगाया करते थे।

इस संघका उद्देश्य अनन्यसाधारण व्यवसाय करनेका था। पहले तो इस नीतिमें सफलता हुई और बड़ा धन इकट्ठा हुआ परन्तु नये नये अन्वेषण (अर्थ) शास्त्रीय सिद्धान्त तथा राजनीतिक जीवनके विकासानुरूप अपनी नीतिमें परिवर्तन न करनेके कारण १६वीं शताब्दिमें इस संघका पतन हुआ।

इस संघका निर्माण किसी शासनपत्र या सन्धिपत्रके अनुसार नहीं हुआ था अतएव संवत १४२४ (सन् १३६७) से पूर्व इसके संगठनकी तिथि नहीं दी जा सकती, यद्यपि उक्त तिथिके पूर्व इसका संगठन हो गया था—यहां तक कि इस संघको यूरोपके उत्तरीय भागवाले केन्द्र मानने लगे थे और इसकी पदवी राजाओंके बराबरकी हो गयी थी। सन्धि, युद्धादिमें तत्कालीन मन्त्री सलाह भी लेते थे।

इस संघने गुप्तसमितिका रूप भी धारण कर लिया था। लिखा-पढ़ीमें तो यह केवल जर्मनसम्राटका वशवर्ती था परन्तु वास्तवमें शासनकी शिथिलताका अनुभव करते हुए कभी किसी बातकी परवाह नहीं करता था—इतनाही नहीं परन्तु संवत् १५१३ (सन् १४५६) में तत्कालीन सर्वमान्य पोपाज्ञाका भी इसने उल्लंघन किया था। इसका अधिकार इतना बढ़ गया था कि जहाज तथा १२ सहस्र सेना इकट्ठा कर सकता था। इस संघका गुप्त अंश यह था कि उसके उद्देश्य तथा अनुयायियोंकी संख्या बाहर वालोंको ज्ञात नहीं थी और इस संघका अपने अनुयायियोंपर असर्गत अधिकार था—जिसकी मात्रा इतनी बढ़ी थी कि कई बार गुप्तरीतिसे नगर जला दिये गये अथवा प्रधान नागरिककी हत्या तक भी की गयी थी।

वाणिज्यमें इस संघके नियम अत्यन्त कठिन और निष्ठुर थे। इसके अनुयायी किसी बाहरी व्यवसायीसे साझा नहीं करने पाते थे और प्रायः ऐसे व्यवसायियोंपर बहुत अधिक कर लगाया जाता था।

१७ प्रथम हेनरी पृ० ७

इंग्लैंगडका राजा (संवत् ११५७ ६२)

१८. जलयात्रा सम्बन्धी नियम पृ० ७

अंग्रेजोंने कईबार जलयात्रा सम्बन्धी नियमोंकी संहिता बनायी थी। पहली संहिताके अनुसार जितनी वस्तु इंग्लैंगडमें जाती उनका अंग्रेजी ही जहाजपर ले जाना आवश्यक था। संवत् १७०८ में दूसरी संहिता बनी जिसके अनुसार वस्तु ले जानेवाला जहाज केवल अंग्रेजी ही होना आवश्यक न था परन्तु उसके चलानेवाले भी अंग्रेज होने चाहिये थे। महारानी विक्टोरियाके समयमें ये नियम रद्द कर दिये गये।

१९. लम्बी पार्लमेण्ट पृ० ८

पहले इंग्लैण्डमें पार्लमेण्टका रखना या न रखना राजाओंके हाथमें था। प्रथम चार्ल्सने मन माना शासन करनेके लिए पार्लमेण्टको तोड़ दिया था परन्तु प्रजाके बिगड़ने पर पुनः संगठन किया। यह पार्लमेण्ट बहुत दिनों तक रही और शासनमें अधिक भाग लेने लगी। इसीको लम्बी पार्लमेण्ट कहते हैं।

२०. एडेम स्मिथ पृ० ८

अर्थशास्त्रका पण्डित तथा तत्ववेत्ता। कहा जाता है कि यही आधुनिक अर्थशास्त्रका जन्मदाता था। इसने "वेल्थ आफ नेशन्स" नामक पुस्तक लिखी है। देशके अर्थ शास्त्रपर इसका विशेष प्रभाव पड़ा है। यह स्वतन्त्र वाणिज्यका कट्टर पक्षपाती था।

२१. छठवां हेनरी पृ० ८

इसके शासन काल संवत् १४७६ १५२२ (सन् १४१८ १४६१) में बड़े उपद्रव हुए थे और इसको भी बड़ी आपत्तियां उठानी पड़ी थीं। इसीके शासन-कालमें गुलाबोंकी लड़ाई हुई थी।

२२. प्रथम जेम्स पृ० ८

इंग्लैण्डका राजा (संवत् १६७०–१६८२)। इसको शास्त्रीय विद्याका बहुत ज्ञान था परन्तु सांसारिक अनुभव नहीं था। इसीसे इतिहासमें इसको अन्यन्त 'बुद्धिमान्' मूर्ख कहते हैं।

२३. द्वितीय रिचार्ड पृ० ८

(संवत १४३४-१४५६) इंग्लैण्डका राजा। प्रजा पीड़क और बलहीन होनेके कारण राज्यसे उतारा गया।

२४. जेम्स मैडिसन पृ० ८

अमेरिकाके प्रजातन्त्रका चतुर्थ सभापति।

२५. ह्यूम पृ० ८

अंग्रेज़ इतिहासज्ञ और तत्त्ववेत्ता। इसका 'इंग्लैण्डका इतिहास' बहुत बड़ा और प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

२६. तृतीय हेनरी पृ० ८

इंग्लैण्डका राजा। यह विदेशियोंका पक्ष करता था।

२७. तृतीय एडवर्ड पृ० ८

(१३२७-५७) इंग्लैण्डका राजा। इसके कालमें सौ वर्षवाली लड़ाई हुई थी।

[शेष फिर]

स्वार्थ

अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति तथा इतिहासका

मासिकपत्र ।

वर्ष ३ खण्ड २

कार्तिक १९७९ से चैत्र १९७९ तक

सम्पादक—श्रीमुकुन्दीलाल श्रीवास्तव

वार्षिक मूल्य ५)] ज्ञानमण्डल, काशी [प्रतिसंख्या ||)

विषय-सूची

ओ३म् वन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३ खण्ड २ } मार्गशीर्ष १९७९ { अङ्क २ पूर्णाङ्क ३२

" इम्पीरियल प्रेफरेंस " और भारतवर्ष ।

ब्रिटेनका साम्राज्य बहुत बढ़ गया है और इंग्लैण्ड-निवासी यद्यपि स्वयं प्रजासत्तात्मक शासनके अधीन हैं पर वर्तमानयुगमें बल या शक्तिके अनुयायी, पक्के साम्राज्यवादी, हो गये हैं। मजदूरदल, उदारदल, अनुदारदल चाहे किसी भी दलको ले लीजिये, आप देखेंगे कि साम्राज्यकी रक्षा और वृद्धिकी उसे बड़ी चिन्ता लगी रहती है। उसकी रक्षाके लिये वे लोग भिन्न भिन्न उपाय सोचते रहते हैं। ऐसे ही उपायोंमेंसे एक उपाय 'इम्पीरियल प्रेफरेंस' याने साम्राज्यांतर्गत संरक्षण नीति भी है। इसका अधिक स्पष्ट अर्थ यह है कि साम्राज्यके भीतर जितने देश हैं वे परस्परके कल्याणके लिये साम्राज्यके देशोंमें बनी हुई व्यापारकी चीजोंपर और देशकी चीजोंकी अपेक्षा कम कर लगावें। उदाहरणार्थ यदि हिन्दुस्थानमें ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कैनेडा, सिलोन (सिंहलद्वीप), या ब्रिटिश अधिकृत दक्षिण अफ्रिकासे आयी हुई व्यापारकी वस्तुओंपर १० फी सैकड़े कर लगे तो संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, जर्मनी आदिसे आयी हुई वस्तुओंपर सुविधानुसार १५, या २० फी सैकड़े कर लगाया जाय। इसके बदलेमें ब्रिटेन आदि देश भी हिन्दुस्थानकी चीजोंपर अन्य दूसरे देशोंकी चीजोंकी अपेक्षा कम कर लगानेका प्रयत्न करें।

उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भ कालतक इंग्लैंड अपने व्यापारमें संरक्षण नीतिका

प्रयोग करता रहा, और उस समयके संरक्षणके सिद्धान्तके अनुसार करीब करीब १३०० * वस्तुओंपर संरक्षण कर लगाये जाते थे। वहांका "कार्न ला†" तो अभी संवत् १८६५ तक था। पर इंग्लैंडका व्यापार जब भलीभांति संगठित हो गया और अन्यदेशोंकी स्पर्द्धाका उसे भय नहीं रहा, एवं जब उसे अपनी बनी हुई चीजोंकी खपतके लिये विदेशी बाजारोंकी तथा चीजें तैयार करनेके लिये विदेशोंसे आनेवाले कच्चे मालकी आवश्यकता हुई तब ब्रिटिश राजनीतिज्ञोंने उदारताका डंका पीटना और मुक्त व्यापार नीतिका समर्थन करना शुरू कर दिया। तभीसे यह देश बराबर और देशोंको भी इसी नीतिके अवलम्बन करनेका उपदेश देता रहा। पर संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, जापान आदि देशोंके बढ़ते हुए व्यापारसे इंग्लैंडकी व्यापारिक ईर्षा उभड़ पड़ी जिसके कारण संवत् १९५४ की औपनिवेशिक परिषद्में 'इम्पीरियल प्रेफरेंस' की बुनियाद पड़गयी। कैनेडाने संवत् १९५५ में ब्रिटेनकी व्यापारिक वस्तुओंपर २५की सैकड़े कर कम कर दिया और संवत् १९५७ में यह ३३ फी सैकड़े हो गया। पर वास्तवमें "इम्पीरियल प्रेफरेंस" का प्रस्ताव अपने असली रूपमें संवत १९५६ की औपनिवेशिक परिषद्में पेश किया गया और उसी समय इसके निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित किये गये—

(१) इस परिषद्की रायमें उपनिवेशों और ग्रेटब्रिटेनके आपसके व्यापारमें अपेक्षाकृत न्यून कर लगानेसे व्यापारकी वृद्धि होगी तथा साम्राज्यका बल बढ़ेगा।

(२) इस परिषद्की राय है कि उपनिवेशोंकी वर्तमान अवस्था ऐसी नहीं है कि वे ग्रेटब्रिटेनके साथ मुक्त व्यापार नीतिका प्रयोग कर सकें।

(३) पर साम्राज्यांतर्गत व्यापारकी वृद्धिके ध्यानसे जिन उपनिवेशोंने अभी तक ब्रिटेनकी चीजोंके साथ रियायत नहीं की है वे ग्रेटब्रिटेनके कच्चे और तैयार मालपर उचित परिमाणमें कर कम करदें।

(४) उपनिवेशोंके प्रधान मंत्री सम्राटकी सरकारसे यह प्रार्थना करते हैं कि ग्रेटब्रिटेनमें भी उपनिवेशोंके माल पर कम कर लगाया जाय, चाहे वर्तमान कर कम कर दिया जाय या आगे जिन वस्तुओंपर लगानेकी संभावना हो उनपर कर न लगाया जाय।

(५) परिषद्में उपस्थित उपनिवेशोंके प्रधान मंत्री अपनी अपनी सरकारको 'इम्पीरियल प्रेफरेंस' के सिद्धान्तको मान लेनेकी राय देंगे। (आर्थिक कमीशनकी रिपोर्ट, पृष्ठ १२०-२१)

इस प्रस्तावके अनुसार न्यूजीलैंड और दक्षिण आफ्रिकाने संवत् १९६० और

---

* इस समय भी इंग्लैण्डमें "सेफगार्डिंग आफ इण्डस्ट्रीज एक्ट" (उद्योगोंकी रक्षाके क़ानून) के अनुसार कोई छः हजार वस्तुओंपर संरक्षण कर लगता है। श्रावण-मासका 'स्वार्थ' (पृ० २१५) देखिये —सं० स्वा०

† विदेशोंसे आनेवाले अनाजपर लगनेवाला कर

आस्ट्रेलियाने संवत् १९६४ में ग्रेटब्रिटेनके मालपर अपने यहां कर कम कर दिया। इस परिषद्में भारतवर्षके प्रतिनिधि नहीं गये थे, पर उस समयके भारत सचिव लार्ड जार्ज हैमिल्टनने लार्ड कर्जनकी सरकारके पास परिषद्के प्रस्तावोंको भेज उनकी राय पूछी। भारतीय व्यापारका उल्लेख करते हुए लार्ड कर्जनने लिखा था कि सर्वराष्ट्रीय व्यापारमें हिन्दुस्थान कर्जदार देश है, भारतसे कच्चा माल बाहर जाता है जिस पर करीब करीब किसी भी देशमें कर नहीं लगता, हिन्दुस्थानसे जितना माल इंग्लैण्ड जाता है उससे ७५ लाखका अधिक माल इंग्लैण्डसे हिन्दुस्थान आता है पर अन्यदेशोंसे जितना तैयार माल हिन्दुस्थान आता है उससे ३ करोड़ ८० लाख अधिकका माल उन देशोंमें जाता है। इसलिये हिन्दुस्थानको इंपीरियल प्रेफरेंससे कोई लाभ नहीं है। यहां तो इंग्लैण्डसे ही अधिक माल आता है जिसपर कर कम कर देनेसे भारत सरकारकी आमदनीमें टोटा पड़ेगा।

उस समय बात यहींतक रह गयी और संवत् १९६४ में इंग्लैण्डने उपनिवेशोंसे साफ कह दिया कि इंग्लैण्डके बाजारमें उपनिवेशोंके मालोंपर कुछ रियायत नहीं की जा सकती पर उपनिवेश मातृभूमिकी कल्याण-कामनासे अपनी प्रतिज्ञा बराबर पूरी करते रहे। परन्तु गत महायुद्धने यूरोपके राष्ट्रोंकी आर्थिक स्थिति डांवाडोल कर दी और युद्धके बादही अपनी अपनी अवस्था सुधारनेकी धुन उनपर बलात्कार सवार हो गयी संवत् १९७३ में जो पेरिस कानफरेन्स (परिषद्) हुई उसमें साम्राज्यको दृढ़ बन्धनमें बांधकर आत्म-निर्भरता प्राप्त करनेकी बात सोची गयी। संवत् १९७६में स्वेच्छासे ही इंग्लैण्डको उपनिवेशोंके साथ रियायत करनी पड़ी और "इम्पीरियल प्रेफरेन्स" का प्रश्न पुनः ज़ोरशोरसे उठाया गया। तभीसे भारतको भी इस बन्धनमें जकड़ देनेका प्रयत्न हो रहा है।

इस विषयकी जांच करनेके लिये संवत् १९७७ में भारतीय व्यवस्थापिका सभाकी ओरसे स्थापित कमिटीकी रिपोर्टमें लिखा है कि लार्ड कर्जनका भय निर्मूल था। पर हिन्दुस्थानके विदेशी व्यापारकी स्थिति आज भी वैसी ही है जैसी संवत १९६० में थी। यह सत्य है कि हिन्दुस्थानसे अब अधिक माल जाता है और बाहरसे भी अधिक माल आता है, पर दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध ज्योंका त्यों बना है। संवत् १९७८ में भारतवर्षसे २ अरब २९ करोड़ ५५ लाख रुपयेका माल बाहर गया और बाहरसे २ अरब ६६ करोड़ ४३ लाखका माल आया। पर यह संख्या असधारण है। वार्षिक औसत यह है कि लगभग ३ करोड़ ५० लाखका* माल हिन्दुस्थानको बाहर भेजना पड़ता है जिसके बदलेमें लगभग ३ करोड़का माल उसे प्रतिवर्ष मिलता है। "इम्पीरियल प्रेफरेन्स" का भारतवर्षपर क्या प्रभाव पड़ेगा इसे समझनेके लिये यहां यह जान लेना उचित होगा कि साम्राज्यान्तर्गत देशों तथा अन्य देशोंसे किस परिमाणमें यहां माल आता है या यहांसे उन देशोंमें जाता है। इस विषयमें मैं संवत् १९७८ की

*मालूम होता है यहां कुछ भूल हो गयी है। युद्धके पूर्व हमारे निर्यातका वार्षिक औसत २ अरब १९३ करोड़ एवं आयातका १ अरब ४५ करोड़ ८५ लाख था—सं०स्वा०

ही सूची देता हूं। आनेवाले मालमें ५६.७ इंग्लैंडसे, .५ सिलोन (सिंहलद्वीप) से, १.५ स्ट्रेट्स सेटलमेण्ट (मुहानेकी बस्तियों) से, ३.६ आस्ट्रेलियासे, .६ हांगकांगसे, और .८ मारीशससे आता है और बाकी ३३.४ अन्य सब देशोंको मिलाकर। यहांसे जो माल बाहर जाता है उसमेंसे इंग्लैंड १६.७, सिलोन ५.१, स्ट्रेट्स सेटलमेण्ट ३.१, आस्ट्रेलिया १.७, हांगकांग २.७, मारीशस .६ और बाकी ६२.७ दूसरे देशोंको जाता है। इस प्रकार इंग्लैण्डसे ३७ फी सैकड़ा अधिक माल आता है। और सारे साम्राज्यमें जितना माल हिन्दुस्थान भेजता है उससे २६.३ फी सैकड़े अधिक उनका माल खरीदता है। पर अन्य देश इसके विरुद्ध जितना माल हिन्दुस्थानमें भेजते हैं उसकी अपेक्षा फी सैकड़े २६.३ अधिक माल खरीदते हैं। अगर मोटामोटी हम इसी आधार पर हिसाब करें तो अन्य देशोंके साथ व्यापार करनेमें हिन्दुस्थानको जितना लाभ है उतनाही इंग्लैंड और उसके अधीन देशोंके साथ व्यापारसे हानि है।

'इंपीरियल प्रेफरेंस' से हिन्दुस्थानको लाभ होगा या हानि इसे समझनेके लिये संक्षेपमें यह भी जान लेनेकी आवश्यकता है कि किस प्रकारका माल हिन्दुस्थान साम्राज्यान्तर्गत देशोंमें भेजता है और उसके बदलेमें उनसे किस प्रकारका माल मंगाता है।

हिन्दुस्थानसे **इंग्लैण्डमें** चावल, अन्य अन्न, चाय, काफी, ऊन, रुई, पाट, जूट आदि कच्चा माल जाता है और वहांसे हिन्दुस्थानमें कपड़ा, कलपुर्जे, मोटर, पारचूनके सामान, रेलवेका सामान, फौजके अस्त्र आदि, शीशेकी चीजें, चमड़ेकी बनी हुई चीजें, और तरह तरहके तैयार माल आते हैं। **कैनडा** हिन्दुस्थानसे जूटका तैयारमाल, चाय, लाह और चपड़ा मंगाता है और मोटरकार तथा अन्य फुटकर माल भेजता है। **दक्षिण अफ्रिका** हिन्दुस्थानसे चावल, रुई, कपड़ा और चाय मंगाता है पर वहांसे हिन्दुस्थानके जो माल आता है वह नहींके बराबर है। **आस्ट्रेलिया** हिन्दुस्थानसे जूटकी बनी चीजें, चावल, तीसी सरसों आदिका तेल, चाय, काफी मंगाता है और घोड़े, रेलवेका सामान, पारचूनकी चीजें भेजता है। **न्यूजीलण्ड** में हिन्दुथानसे जूट जाता है पर, आता वहांसे करीब करीब कुछ नहीं। **सिलोनमें** हिन्दुस्थानसे चावल, खानेके अन्न, बीज, जूटकी चीजें जाती हैं और वहांसे धातु और मसाला आता है। **स्ट्रेटसेटलमेंटस** में चावल, खाद्यअन्न, बीज, तमाखू इत्यादि चीजें जाती हैं और वहांसे खनिज तेल, मशाला, रंग और चमड़ा पकानेके मसाले, चीनी आदि चीजें आती हैं। **मारीशस** से चीनी आती है और खाद्य अन्न तथा जूटकी चीजें वहां जाती हैं।

ऊपर जो बातें लिखी गयी हैं उनके आधारपर अब हम 'इंपीरियल प्रेफरेंस' का प्रभाव आर्थिकरूपमें भारतवर्षपरे कैसा पड़ेगा इसके विचार करनेमें समर्थ हो सकते हैं। जो देश कच्चा माल बाहर भेजता है उसे सर्व राष्ट्रीय व्यापारमें बराबरीका भय नहीं रह सकता, क्योंकि कच्चे मालकी आवश्यकता सबको ही रहती है, और इस प्रकारकी बराबरी न होनेसे यह किसी देशके लिये सम्भव नहीं कि उस पर अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक कर लगावे। किन्तु बना हुआ माल भेजने वालेको अवश्य ही सदा इसका भय

बना रहता है । कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि भारतवर्ष ऐसाही देश है जो प्रधानतया कच्चा माल ही बाहर भेजता है । इसके अतिरिक्त प्रकृतिने इसे सभी वस्तुओंका ऐसा भरपूर भण्डार दिया है कि संसारके प्रायः सभी देश इसके मुखापेक्षी हैं और जैसा कि लार्ड कर्जनने कहा था इसके कच्चे मालपर संरक्षक कर कहीं नहीं लगता है । पर अन्य देशकी बातोंका यहां विचार नहीं करना ही ठीक है, क्योंकि इस लेखके विषय "इम्पीरियल प्रेफरेंस"का सम्बन्ध इंग्लैण्ड और उसके अधीनस्थ देशोंसे ही है । इनमें भी जैसा कि ऊपर दिये हुए आयात-निर्यातके परिमाणसे मालूम हो गया होगा उपनिवेशोंसे हिन्दुस्थानका व्यापार नाममात्रका है, इसलिये लाभालाभ दोनों बराबर हैं । इसके अतिरिक्त आयात और निर्यातकी वस्तुओंकी पारस्परिक आवश्यकता ऐसी है जिसके कारण हिन्दुस्थान विशेष हानि उठाये बिना ही उपनिवेशोंके साथ मनमानी कर सकता है । आस्ट्रेलियाके घोड़ों और मोटरोंके न आनेसे हिन्दुस्थानके लोगोंका कहीं आना जाना नहीं रुकेगा पर हिन्दुस्थानके चावल और चाय बिना आस्ट्रेलियाके लोग भूखों रह सकते हैं । इसलिये 'इम्पीरियल प्रेफरेंस' के सम्बन्धमें इंग्लैण्ड ही प्रधान देश है जिससे भारतवर्षका संबन्ध है ।

अब देखना यह है कि इस नीतिसे भारतवर्ष इंग्लैण्डको क्या लाभ पहुंचा सकता है और यह लाभ पहुंचानेमें उसे क्या हानि सहनी पड़ेगी तथा इंग्लैण्ड भारतवर्षको क्या लाभ पहुंचा सकता है अथवा यह लाभ पहुंचानेमें उसे क्या हानि उठानी पड़ेगी । जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है इंग्लैंडसे संवत १९७८में फी सैकड़े ५६·७ माल आया पर यह परिमाण कम है क्योंकि असहयोग आंदोलन और अन्य ऐसे ही कारणोंसे विलायतसे इस साल माल कम आया है, नहीं तो औसतसे प्रतिवर्ष ६१ फी सैकड़े माल विलायतसे आता है । ध्यान रखना चाहिये कि कपड़ेको छोड़कर अन्य जो चीजें आती हैं वे प्रारम्भिक या अत्यावश्यकीय जरुरतोंकी पूर्त्तिकी नहीं होतीं इसलिये उनपर अधिक टैक्स लगाकर बिना कष्ट भोगे ही, हिन्दुस्थान, इंग्लैंडको बहुत क्षति पहुंचा सकता है तथा इंग्लैंडके प्रतिपक्षी जापान, अमेरिका, जर्मनी आदिका व्यापार बढ़ा सकता है । पर यदि इम्पीरियल प्रेफरेंस भारतवर्ष मान ले तो इंग्लैंडको अकथनीय लाभ होगा क्योंकि कम कर लगनेसे उसी लागतमें तैयार विलायती चीजें हिन्दुस्थानके बाजारमें जापानी और अमेरिकन चीजोंसे सस्ती पड़ेंगी जिसके कारण हिन्दुस्थानका बाजार पूर्णरूपसे इंग्लैंडके हाथ चला आवेगा और जापान आदिका व्यापार हिन्दुस्थानमें चौपट हो जायगा । इसके अतिरिक्त इस नीतिसे हिन्दुस्थानका कच्चा माल इंग्लैंडको और देशोंकी अपेक्षा सस्ते दामपर मिलेगा जिससे इंग्लैंडके उद्योग धन्धोंकी उत्पादन-शक्ति बढ़ जायगी और बनी हुई चीजें सस्ती भी पड़ेंगी जिनसे और देशोंकी महंगी चीजें मुकाबला न कर सकेंगी । इस व्यापारिक श्रेष्ठतासे जो राजनीतिक बल बढ़ेगा उसका विचार यहां असंगत है । एक ओर तो इंग्लैंडको तो इतना लाभ होगा पर दूसरी ओर देखना यह है कि यदि इंग्लैंड चाहे भी तो हिन्दुस्थानको लाभ पहुंचा सकता है या नहीं । हिन्दुथानके

निर्यातकी चीजोंपर कर सम्बन्धी रियायत तभी हो सकती है जब किसी अन्यदेशसे वे चीजें विलायतमें आती हों और हिन्दुस्थानी चीजोंको उनके साथ स्पर्द्धा करनी पड़े। इंग्लैंडके साथ चावलके व्यापारमें हिन्दुस्थानको किसीसे मुकाबला नहीं करना पड़ता। ऊनमें उपनिवेशोंसे हिन्दुस्थान पीछे है, चायमें सिंहलद्वीप (सिलोन) उसका प्रतिद्वन्द्वी है, काफीमें कोई डर नहीं है, रुईमें मिश्र प्रतिस्पर्द्धी है, तिसीमें अर्जेण्टाइनका सामना करना पड़ता है, कच्चे चमड़ेमें हिन्दुस्थानको फिर किसीसे मुकाबला नहीं करना है। इस प्रकार जिन जिन देशोंसे भारतवर्षको किसी वस्तुमें स्पर्द्धाकी सम्भावना है, वे देश साम्राज्यान्तर्गत ही हैं जिसके कारण इंग्लैंडको दोनोंहीके साथ रियायत करनी पड़ेगी और हिन्दुस्थानको कुछ विशेष लाभ न होगा। गेहूं और कुछ खाद्य पदार्थ इंग्लैंडमें विदेशोंसे आते हैं, इसमें चाहे तो इंग्लैंड भारतको लाभ पहुंचा सकता है। पर हिन्दुस्थानके गेहूं और अन्नपर कम कर लगानेसे अन्यदेशके अन्न महंगे पड़ेंगे और जीवन-निर्वाहकी वस्तु होनेसे इंग्लैंड निवासियोंको कष्ट पहुंचेगा। वे भारतकी प्रजाकी तरह दीनहीन नहीं हैं कि भूखों मर जायंगे पर चूं न करेंगे। वे प्रजातन्त्रके सिद्धान्तोंको माननेवाले हैं अतः भयंकर आंदोलन खड़ा करदेंगे जिसके सामने ब्रिटेनकी सरकारको दबनाही पड़ेगा। दूसरी चीज़ जिसपर इंग्लैंड हिन्दुस्थानको "प्रेफरेंस" (रियायत) दे सकता है और दिया भी है वह "चाय" है पर जैसा ऊपर कहा गया है सिलोनसे प्रतिस्पर्द्धा होनेके कारण यह लाभ विशेष नहीं है। इसके अतिरिक्त संवत् १९७२में पार्लमेंटमें जिस सदस्यने चायपर कर कम करनेका प्रस्ताव पेश किया था उसने यह साफ कह दिया था कि "इम्पीरियल प्रेफरेंस" के सिद्धांतपर मैं ऐसा नहीं चाहता हूं, वास्तविक बात यह है कि इंग्लैंडके गरीब श्रेणीके लोग इस चायको पीते हैं और कर अधिक होनेसे चाय महंगी पड़ती है जिसके कारण उन्हें कष्ट होता है, अतएव उनका कष्ट कम करनेके लिये इसपर कर कम कर दिया जाय, भारतवर्षको "प्रेफरेंस" देनेके लिये नहीं। इसके सिवा तम्बाकूपर इंग्लैंड कर कम कर देना चाहता है पर इंग्लैंडमें तम्बाकूपर 'स्पेसिफिक' याने वज़नके मुताबिक कर लगता है "ऐडवेलरम" याने मूल्यके अनुसार नहीं। हिन्दुस्थानका तम्बाकू कम मूल्यका होता है इसलिये इसपर कर अधिक चढ़ जायगा, इसके अतिरिक्त यह व्यापार अल्प मात्रामें ही होता है। हां, यदि एक चीज़में इंग्लैंड हिन्दुस्थानके साथ रियायत करे तो हिन्दुस्थानको बहुत लाभ होगा। जूटका तैयार माल इंग्लैंड जाता है और हिन्दुस्थानके पास इसका एकमात्र भंडार है इस लिये यदि जूटके तैयार मालपर इंग्लैंड कर कम कर दे तो भारतवर्षको बड़ाही लाभ हो, पर ऐसा करना असंभव है क्योंकि जूटके तैयार मालमें हिन्दुस्थानका एकमात्र प्रतिस्पर्द्धी 'डंडी' है और यह स्थान इंग्लैंडमें ही है। इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि चाहने पर भी इंग्लैंड 'इंपीरियल प्रेफरेंस" के द्वारा लाभ नहीं पहुंचा सकता।

अब यह देखना है कि यदि इंग्लैंड चाहे तो भारतवर्षके निर्यात-व्यापार पर

संरक्षण-कर लगाकर उसे हानि पहुंचा सकता है या नहीं। इंग्लैण्डको प्रकृतिने ऐसा बनाया है कि वह अपनी आवश्यकताके पदार्थोंके निमित्त स्वावलम्बी बनही नहीं सकता। व्यापारसंबन्धी वस्तुओंकी कौन कहे, खाद्य पदार्थ भी वहां इतने नहीं उपजते जिनसे वहांके लोग जीवन धारण कर सकें। जैसा कि शायद लार्ड सलिसबरीने कहा था यदि इंग्लैण्डका संबन्ध अन्य देशोंसे छूट जाय तो इंग्लैण्ड-निवासियोंके खानेके लिये केवल लोहा और कोयला ही मिल सकेगा! ऐसी अवस्थामें भारतके कच्चे माल पर संरक्षण-कर लगाना कठिन ही नहीं बल्कि असंभवसा प्रतीत होता है। जैसा कि एक औपनिवेशिक राजनीतिज्ञने कहा है "ग्रेटब्रिटेन जैसा तैयार मालमें व्यापार करने वाला देश, यदि वह पागल न हो जाय तो, कच्चे मालके आघात पर, जिससे तैयार माल बनाकर वह बाहर भेजता है, कर नहीं लगा सकता"। "इम्पीरियल प्रेफरेंस" के कट्टर पक्षपाती मिस्टर चेंबरलेनने संवत् १९६० में कहा था "मैं जितने स्पष्ट शब्दोंका प्रयोग कर सकता हूं उनमें ही साफ साफ इस बातको एक बार फिर दुहरा देता हूं कि इंग्लैण्डमें आये हुए कच्चे मालपर मैं कर लगाना नहीं चाहता"। यह भी स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड संरक्षण नीतिका प्रयोग नहीं कर सकता।

अर्थशास्त्रका यह एक साधारण परंतु अत्युपयोगी सिद्धांत है कि 'सदा महंगे बाजारमें बेचना और सस्ते बाजारमें खरीदना'। इस सिद्धांतके अनुसार "इंपीरियल प्रेफरेंस" से भारतवर्षको बड़ी हानि उठानी पड़ेगी इस समय हिन्दुस्थानके कच्चे मालके लिये सारे संसारका बाजार खुला हुआ है, इसलिये खरीददारोंमें बदाबदी रहनेसे हिन्दुस्थानी माल महंगे दाम पर बिकता है, पर 'प्रेफरेंस' से इन चीजोंके लिये एकही बाजार रह जायगा और मूल्य निश्चित करनेमें खरीददारका ही बोलबाला रहेगा। इसी प्रकार हिन्दुस्थानमें जो बाहरसे तैयार माल आता है उसमें भी बाहरके देशोंमें बदाबदी है जिसके कारण चीजें हमें सस्ती मिलती हैं, पर "प्रेफरेंस" से इंग्लैण्डको बदाबदीका डर नहीं रहेगा। साथही "प्रेफरेंस" नहीं रहने पर जितने मूल्यमें हम विदेशी चीज खरीद सकते हैं "प्रेफरेंस" होने पर वही चीज उससे अधिक दाम पर खरीदनी पड़ेगी। सबसे अधिक भय यह है कि जिन देशोंके मालोंपर इंग्लैण्डके लाभके लिये हम अधिक कर लगावेंगे, वे भी हमसे बदला लेनेके लिये हिन्दुस्थानके निर्यात व्यापार पर अधिक कर लगा देंगे जिससे या तो हम यह कर देकर घाटा सहेंगे या इंग्लैण्डके व्यापारियोंकी मनमानी कीमत पर उनके हाथ ही अपना माल बेचा करेंगे। इस प्रकार हमारी प्रत्येक हानिसे इंग्लैण्डको लाभ होगा। अन्य देशोंका जो माल हिन्दुस्थान आयगा उसपर इंग्लैण्डकी दलाली चढ़ेगी। हम जानते हैं कि मुग़ल साम्राज्यके अंतिम दिनोंमें जब ईस्ट इंडिया कंपनीको हिन्दुस्थानमें बिना कर दिये ही व्यापार करनेका अधिकार था तो कंपनीके नौकर अपने निजी व्यापारकी चीजोंको भी कंपनीके नाममें ले जाते और उनपर कर नहीं देते थे। इतना ही नहीं, अन्य व्यापारियोंकी चीजें भी रिश्वत लेकर वे लोग कंपनीके नाममें चला

देते थे। अब भी यदि विलायतकी चीजोंपर हिन्दुस्थानमें कम कर लगेगा तो क्या यह संभव नहीं है कि जो चीजें विलायतमें नहीं बनती हैं उन्हें भी दूसरे देशसे मंगाकर विलायतके लोभी व्यापारी हिन्दुस्थानमें अपने नामसे भेजने लगें? पाश्चात्योंकी धन-लोलुपता जिस प्रकार बढ़ी हुई है उससे ऐसा होना बहुत कुछ संभव है। इसका परिणाम यह होगा कि गरीब हिन्दुस्थानियोंको अपनी जरूरतकी सभी चीजोंके लिये अधिक दाम देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त भारतीय सरकारके आयात करकी आमदनीमें बहुत घाटा पड़ेगा क्योंकि जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं करीब ६१ फी सैकड़े प्रतिवर्ष माल केवल इंग्लैण्डसे ही यहां आता है और कम कर होनेसे यह और अधिक परिमाणमें आने लगेगा। आयात करके एकमात्र आधारपर इस प्रकारकी छूटसे भारत सरकारकी आमदनीमें बेतरह टोटा पड़ेगा। इस कमीको पूरा करनेके लिये सरकारको प्रजापर कर बढ़ानेके सिवा दूसरा उपाय नहीं रह जायगा। इस प्रकार चीजोंकी महंगी और करकी वृद्धि दोनोंसे ही गरीब भारतीय प्रजा पीसी जायगी।

हालमें जो आर्थिक कमीशन बैठा था, और जिसके सदस्योंके वेतन और भोजनादिमें ३२६५००) रुपये उड़ा दिये गये, उसकी "इंपीरियल प्रेफरेंस" संबन्धी दो चार बातोंका संक्षिप्त उल्लेख भी यहांपर कर देना ठीक होगा। कमीशनके सामने जितने लोगोंने गवाही दी सभीने इस नीतिको हिन्दुस्थानके लिये हानिकारक बतलाया। स्वयं कमीशनके बहुसंख्यक सदस्योंको भी मानना पड़ा है कि "अपने बाजारमें विलायती वस्तुओंपर कर कम लगा कर निःसंदेह हिन्दुस्थान इंग्लैण्डको बहुत अधिक लाभ पहुंचा सकता है, पर हम लोगोंकी रायमें अपने ऊपर बिना भारी बोझ लादे यह इंग्लैण्डको अधिक लाभ नहीं पहुंचा सकता, और हिन्दुस्थानके लिये उचित नहीं है कि वह इस बोझको अपने ऊपर ले" (पृष्ठ १३२)। पर इस आर्थिक हानिकी पूर्त्ति कमीशनके बहुसंख्यक सदस्योंने यह कह कर की है कि नाममात्रके खर्चसे ही इंग्लैण्डका जहाजी बेड़ा हिन्दुस्थानकी रक्षा करता है। बेशक! यह एहसान हिन्दुस्थानको मानना चाहिये पर क्या यह भी बतानेकी जरूरत है कि हिन्दुस्थानी फौज तथा इन जहाजी बेड़ोंसे किसकी रक्षा होती है? महायुद्धमें इनसे किसकी रक्षा हुई? मेसोपोटामिया (ईराक) आदि देशोंमें आजभी हिन्दुस्थानी फौज किसकी रक्षाके लिये है? साम्राज्य या हिन्दुस्थानकी? झोपड़ीमें रहने वालोंको महलकी रक्षासे क्या प्रयोजन है?

कमीशनने फिर कहा है कि हिन्दुस्थानियोंका भय राजनीतिक कारणसे है, वे समझते हैं कि 'इंपीरियल प्रेफरेंस' का प्रयोग सदा इंग्लैण्डके लाभ और हिन्दुस्थानकी हानिके लिये किया जायगा। पर यह भय निर्मूल है क्योंकि संवत् १९७६ की सम्मिलित पार्लमेंटकी कमिटीने साफ कह दिया है कि "व्यापार संबन्धी बातोंमें जैसी इंग्लैण्ड और आस्ट्रेलिया आदिको स्वतंत्रता है वैसी ही हिन्दुस्थानको भी रहेगी" (पृष्ठ १४१)। किसीको पकड़नेका मौका न मिले इसलिये बड़ी चतुरतासे कमीशनने कहा है कि यदि

पार्लमेंटरी कमिटीकी रिपोर्टमें यह बात है कि "बड़ी व्यवस्थापिका और भारत सरकारकी एक राय होने पर भारत-सचिव यथासंभव हस्तक्षेप न करनेका प्रयत्न करें और साम्राज्यके स्वार्थकी रक्षाके लिये ही ऐसा करना जरूरी समझें" (पृ० १४१) तो इससे कोई भयकी आवश्यकता नहीं है और सब भय दूर करनेके लिये हम यह सिफारिश करते हैं कि विना व्यवस्थापिका सभामें पास हुए यह नीति न मानी जाय। पर जानने वाले जानते हैं कि "यथासंभव' और 'साम्राज्यकी रक्षा" जैसे प्रयोग, क्या क्या गजब नहीं ढाह सकते हैं। रही व्यवस्थापिका सभा, सो उसका मूल्य उसके सदस्यों तथा हमें भी मालूम है। लायड-जार्जके धमकी देते ही उसने "पुलिसबिल" पास कर दिया और "प्रिंसेज प्रोटेकशन बिल" (राजाओंकी रक्षाके) कानूनके संबन्धमें मुंह ताकती रह गयी।

पर एक बात बहुसंख्यक सदस्योंने बड़े मार्केकी कही है, उन्होंने कहा है "हम अंधे नहीं हैं जो केवल हिन्दुस्थानकी ही भलाई सोचते रहें, हमें साम्राज्यके हितकी ओर भी देखना चाहिये" (पृष्ठ १४२)। एक छोटे द्वीपपर इतने बड़े साम्राज्यका भार है उसकी सहायता करना तो कर्त्तव्य है और हिन्दुस्थानको स्वार्थ-त्याग करना चाहिये, निस्सन्देह हम भी स्वार्थत्यागके बड़े कायल हैं, पर स्वार्थ-त्याग करनेके पहले यह स्वाभाविक प्रश्न हमारे दिलोंमें उठता है कि किसके लिये स्वार्थ-त्याग? साम्राज्यके लिये? तो किसके साम्राज्यके लिये? आस्ट्रेलिया और कैनेडा आदिके गोरे निवासियोंको इस साम्राज्यका अभिमान हो सकता है, पर जिस साम्राज्यमें रहते हुए भी अपने देशके भीतर हम दास हैं और बाहर मनुष्य भी नहीं समझे जाते उस साम्राज्यके हितार्थ अपने हितको लात मारनेकी हमें क्या आवश्यकता है? किसी स्वतंत्र देशके मनुष्यसे ऐसी संस्थाके लिये स्वार्थत्याग करनेको कहा जाता तो इसमें वह अपना अपमान समझता।

बीसवीं शताब्दीकी राजनीतिमें निरर्थक शब्दोंके प्रयोग करनेकी परिपाटीसी चलगयी है। हिन्दुस्थानके लिये "उत्तरदायी सरकार, आर्थिक स्वराज, आत्मनिर्णय" आदि अनेक सारहीन शब्दोंको हम सुनते थे। कमीशनने भी एक ऐसे ही निरर्थक शब्द 'स्वेच्छा" का प्रयोग किया है। उसने कहा है कि इम्पीरियल प्रेफरेन्सका सिद्धांत माननेके लिये हिन्दुस्थान बाधित नहीं किया जा सकता "स्वेच्छा"से ही उसे ऐसा करना चाहिये। पर बिना स्वराज्यके स्वेच्छा कैसी? कमीशनके लिये बुद्धिमानीका विचार यह होता कि वह कह देता कि जबतक हिन्दुस्थानको स्वराज्य न हो तब तक 'इंपीरियल प्रेफरेन्स" की बात स्थगित रखी जाय। हर्षकी बात है कि अल्पसंख्यक हिन्दुस्थानी सदस्योंने इस बुद्धिमानीका परिचय दिया है।

पर मेरी समझसे तो स्वराज होनेपर भी इस साम्राज्यान्तर्गत संरक्षण नीतिका प्रयोग हिन्दुस्थान नहीं करेगा या कमसे कम उसे नहीं करना चाहिये। हिन्दुस्थानके लोग "वसुधैव कुटुम्बकम्"के व्यापक सिद्धांतको सदासे मानते आये हैं, आज भी हमारे

असहयोग आंदोलनका अंतिम ध्येय इससे कम नहीं है। स्वराज्य-प्राप्तिका प्रयत्न इस अन्तिम लक्ष्यकी पूर्तिके लिये ही है। हम किसी संकीर्ण विचार और लोलुपताके कुत्सित भावमें साझी न होंगे, एक ईश्वरकी सन्तानोंको इस संसारमें समान हक प्राप्त है। संरक्षक नीतिका प्रयोग हम करेंगे तो सबके लिये और यदि मुक्तनीतिका प्रयोग करेंगे तो वह भी सबके लिये। हम साम्राज्यान्तर्गत लोगोंको ईश्वरका प्रिय पुत्र और इसके बाहरवालोंको उनका अप्रिय पुत्र या शत्रु नहीं मानते।

ठाकुर राजकिशोर सिंह।

पूर्वीय देशोंके श्रमजीवियोंकी दशा

जेनीव्हा नगरसे दिये गये "रूटर" के तीन नवम्बर (१७ कार्तिक) के तारसे विदित होता है कि 'भारतीय श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि श्रीयुत जोशी द्वारा उपस्थित किये गये उस प्रस्तावको (अन्तर्राष्ट्रीय) श्रमजीवि-सम्मेलनने स्वीकृत कर लिया है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालयसे सुदूर पूर्वके देशोंके श्रमजीवियोंकी अवस्थाकी, वहांकी सरकारोंकी सहायतासे, जाँच करानेकी प्रार्थना की गयी थी'।

उद्योग-धन्धोंका विकास।

(१) व्यक्तिगत व्यवसायी

आदिम अवस्थामें मनुष्य स्वयं ही अपने उद्योग धन्धोंका पूर्ण प्रबन्ध कर लेता है। वह स्वयं परिश्रम करता है और पूंजी भी स्वयं ही जुटाता है। वह या तो निजकी पूंजीसे या अपने दायित्वपर किसीसे ऋण लेकर एकत्र की हुई पूंजीसे किसी प्रकार अपने उद्योग-धन्धोंको चलाता रहता है। कच्चा माल खरीदने, पक्का माल बनाने, फिर उसको बेचने आदि सब बातोंका प्रबन्ध वह स्वयं करता है और इस प्रकार अपना और अपने घरका पालन-पोषण करता है। उद्योग-धन्धोंके विकासका यह प्रथम स्वरूप है। इस अवस्थामें वह व्यक्ति ही सारे हानि-लाभका जिम्मेदार रहता है। किन्तु चिरकाल तक इसी अवस्थामें रहना मनुष्यके लिये संभव नहीं है। शीघ्र ही उसकी कठिनाइयोंकी वृद्धि होने लगती है और उसे विवश होकर दूसरोंकी सहायता लेनी पड़ती है।

(२) साझा

जब उद्योग-धन्धे बढ़ने लगते हैं तब उनका प्रबन्ध एक व्यक्तिके लिये बहुत कठिन हो जाता है। बड़े उद्योग-धन्धोंके लिये अधिक योग्यता और अधिक पूंजीकी जरूरत होती है फिर एक ही आदमीमें सब प्रकारकी योग्यताओं और गुणोंका होना प्रायः कम देखा जाता है। अधिकतर धनी लोगोंमें प्रबन्ध करनेकी योग्यता नहीं होती और योग्य मनुष्योंके पास धन नहीं होता। इसलिये ऐसे समय उद्योग-धन्धोंके विकासके दूसरे स्वरूप यानी साझेका आरंभ होता है। यदि कुछ लोग किसी व्यवसायके लिये आपसमें मिलकर एक संगठन बनावें और उस व्यवसायसे होनेवाले नफेको पूर्व निश्चित शर्तोंके अनुसार पूंजी या योग्यताके हिसाबसे बांटनेकी व्यवस्था करें तो इस संगठनको साझा कहेंगे और साझेमें भाग लेने वाले लोगोंको साझेदार (पाटनर्स) कहेंगे। यदि विश्वासपात्र और योग्य आदमी साझेमें काम करते रहें तो वह अच्छी तरह चलता है और लाभ भी होता है। साझेके व्यवसायमें साझेदारोंके बीचमें अनबन होना अच्छा नहीं है। इससे हमेशा हानि होती है। साझेदारोंमें परस्पर मेल अवश्य होना चाहिये नहीं तो व्यवसाय असफल रहता है। साझेमें प्रत्येक साझेदारकी जिम्मेवारी असीम होती है। जिम्मेवारीका अनियत तथा असीम होना साझेकी बड़ी भारी त्रुटि है। इससे साझेदारोंको हमेशा यह भय रहता है कि व्यवसायके असफल होनेपर कहीं हमें निजकी जायदादको भी खो बैठनेका मौका न आ जावे। यही कारण है कि जिन बड़े बड़े व्यवसायोंके लिये बड़ी पूंजी दरकार होती है वे

साझेदारीसे नहीं चल सकते। एक बात और है। साझेदारीसे चलनेवाले उद्योगोंमें प्राय: प्रबन्धका कोई विशेष संगठन नहीं हो सकता इसलिये उद्योग-धन्धोंके विकासका तीसरा स्वरूप यानी सम्भूय–समुत्थान- विधि (जाइण्ट स्टाक कम्पनी) का आरंभ होता है।

कम्पनीका संगठन वर्णन करनेके पहले संक्षिप्तमें साझेके हानि-लाभोंका वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है—

साझेसे हानि—

(१) साझेदार जब चाहें तब अपना हिस्सा बिना अन्य साझेदारोंकी सम्मतिके वापिस नहीं लेसकते।

(२) किसी एक साझेदारके बेईमान होनेपर अन्य साझेदारोंको अपनी तमाम जायदाद तक खो बैठनेका भय रहता है।

(३) साझेदारका दायित्व अनियत होनेसे काफी पूंजी एकत्र नहीं हो सकती।

साझेसे लाभ—

(१) साझेदारोंमेंसे अपनी अपनी योग्यताके अनुसार कोई धन देसकता है, तो कोई काम चला सकता है।

(२) यदि व्यक्ति ही व्यवसाय करे तो उसे अपना व्यवसाय अपने लड़केको ही सौंपना पड़ेगा और लड़केके अयोग्य होनेपर व्यवसाय बर्बाद हो जायगा। परन्तु साझेमें योग्य साझेदारोंको उसका प्रबन्ध और भार मिलेगा इसलिये व्यवसायके नष्ट होनेका कोई भय नहीं रहेगा।

(३) सम्भूय समुत्थान विधि

कम्पनीका संगठन होनेके लिये निम्न प्रकारकी कार्यवाही की जाती है—

(१) जैसी कम्पनी खोलनी हो उस हिसाबसे कम्पनीकी चल अचल पूंजीका मूल्य नियत कर लिया जाता है। इस मूल्यको कम्पनीकी पूर्ण पूंजी या 'स्टाक' कहते हैं।

(२) उस मूल्यको १०,२०,५०,१०० या इसी प्रकारके हिस्सोंमें बांट लिया जाता है।

(३) कुछ पूंजी कमसे कम नियत कर ली जाती है जिसके जमा होनेपर व्यवसाय चलने लगता है।

(४) ये हिस्से सर्वसाधारणमें बेचे जाते हैं और उनके खरीदनेवाले हिस्सेदार (शेयर होल्डर्स) कहलाते हैं। सब हिस्सेदार लोग कुछ योग्य व्यक्तियोंको प्रबन्धके लिये चुन लेते हैं जो सञ्चालक (डायरेक्टर्स) कहलाते हैं। इनका काम व्यवसायकी

देखभाल रखना है परन्तु यथार्थमें कम्पनीका प्रबन्धकर्ता ही कार्यकर्ता होता है जिसे बहुत अधिक वेतन मिलता है। प्रबन्धकर्ताके अतिरिक्त और भी कई उच्च वेतनभोगी कर्मचारी होते हैं।

(५) कम्पनी खड़ी करनेके लिये कमसे कम सात सभ्य आवश्यक होते हैं। एक बार कुछ हिस्से खरीद लेनेपर हिस्सेदार यदि अपना रुपया वापिस चाहें तो वे अपने हिस्सोंको बेच सकते हैं। इस प्रकारके हिस्सोंके क्रय-विक्रयका कार्य दलालोंके द्वारा होता है। वे अपनी दलाली काटकर उन हिस्सोंको बाजार भावका दाम बेचनेवाले हिस्सेदारको दे देते हैं और खरीदनेवाले हिस्सेदारोंसे दलाली सहित बाजार भावका मूल्य ले लेते हैं। कम्पनियोंके हिस्सोंके इस प्रकार परिवर्तन योग्य होनेके कारण लोग तत्परताके साथ हिस्सेदार हो जाते हैं। साझेमें ऐसा नहीं हो सकता। कम्पनीको तमाम पूंजीपर जो लाभ होता है उसका कुछ हिस्सा स्थायी कोष, मरम्मत फंड आदि में जमा करनेके पश्चात् बाकीको हिस्सेदारोंके बीच उनकी पूंजीके अनुपातसे बांट देते हैं। यह डिवीडेण्ड या लाभ कहलाता है। इस नफेकी रकमके अनुसार हिस्सोंका मूल्य घटता बढ़ता रहता है।

हिस्से कई प्रकारके होते हैं जैसे ताता कम्पनीमें तीन प्रकारके हिस्से हैं—(१) अपेक्षित (प्रेफर्ड) (२) सामान्य (आर्डिनरी) (३) विलम्बित (डेफर्ड) पहले प्रकारके हिस्सोंपर ६ फी-सदीके हिसाबसे नफा सबसे पहले देना होता है। इसके पश्चात् सामान्य हिस्सोंपर ८ फीसदी नफा दिया जाना चाहिये और तब विलम्बित हिस्सोंपर १५ फी सदी तक नफा दिया जाता है। यदि इन तीनों प्रकारके हिस्सों-पर डिवीडेण्ड देकर कुछ बचे तो वह सामान्य और विलम्बित हिस्सोंके बीच बांट दिया जायगा। इस प्रकार ये हिस्से सब तरहकी रुचिके लोगोंको सन्तुष्ट कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ कम्पनियां इकरारनामोंको बेच कर रुपया प्राप्त करती हैं। इस हालतमें कम्पनीकी जायदाद गिरवी समझी जाती है। इन इकरारनामोंकी पूंजीपर कम्पनी पूर्व निश्चित व्याज-दरसे व्याज लेती है और वह व्याज हरसाल दिया जाना चाहिये। यदि कम्पनी नफेमेंसे यह व्याज न दे सके तो दिवालिया समझी जाती है।

कम्पनियोंमें तीन प्रकारकी जिम्मेवारी होती है—अनियत जिम्मेवारी, सीमाबद्ध जिम्मेवारी, नियत दायित्व। पहले प्रकारकी कम्पनियोंमें हिस्सेदारोंका दायित्व असीम है। यदि कम्पनी असफल हो जाय तो हिस्सेदार लोग अपने हिस्सोंका मूल्य ही नहीं खोयेंगे वरन प्रत्येक हिस्सेके मूल्यके हिसाबसे जितना कम्पनीको देना होगा उतना उन्हें निजकी जायदादसे देना पड़ेगा। इस बातमें कम्पनियां और साझेमें केवल यही अन्तर रह जाता है कि साझे-दारतो अपने सहयोगियोंकी सम्मतिके बिना अपना हिस्सा वापिस नहीं ले सकते और कम्पनियोंके हिस्सेदार ऐसा कर सकते हैं। दूसरे प्रकारकी कम्पनियोंमें प्रत्येक हिस्सेका दायित्व उसके खरीदे हुए हिस्सोंके मूल्यके अनुसार किसी अधिकसे अधिक सीमा तक नियत

रहेगा, जैसे मान लिया कि एक कम्पनीका प्रत्येक हिस्सा २०) का है तो कम्पनी यह नियम कर सकती है कि प्रत्येक हिस्सेदार अपने हिस्सेके मूल्यके दुगने तक जिम्मेवार समझा जाय। फिर आवश्यकता पड़नेपर प्रत्येक हिस्सेदार जिसके हिस्सेका मूल्य २०) है ४०) तक देनेको बाध्य किया जा सकता है। तीसरे प्रकारकी कम्पनियोंमें प्रत्येक हिस्सेदार अपने हिस्सोंके मूल्य तक ही जिम्मेवार होता है यदि कम्पनी असफल होजाय तो वह अपना अधिकसे अधिक हिस्सा खो बैठेगा। तीसरे प्रकारकी कम्पनियोंमें कम खतरा है इस लिये ऐसी कम्पनियोंमें अधिक पूँजी इकट्ठी हो सकती है और आजकल अधिकतर नियत दायित्वकी कम्पनियोंका ही प्रचार है। अब यहांपर कम्पनियोंके हानि-लाभोंका थोड़ा वर्णन करना तथा हानियोंको दूरकरनेके उपायोंको बतलाना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

कम्पनियोंके लाभ—

(१) अनन्त पूंजी प्राप्त हो सकती है।

(२) दायित्व नियत होनेसे हिस्सेदारोंको अपने हिस्सोंसे अधिक देनेका भय नहीं रहता।

(३) प्रबन्ध और संगठनमें श्रम-विभागका प्रयोग होसकता है। प्रत्येक कार्यको अपनी अपनी योग्यतानुसार भिन्न भिन्न मनुष्य करते हैं।

(४) अधिक मात्रा उपार्जनके सब लाभ प्राप्त होते हैं।

कम्पनियोंकी हानियां—

(१) डायरेक्टरोंको बेईमानी करनेके बहुतसे मौके रहते हैं जब कि वे अपना व्यक्तिगत लाभ करके हिस्सेदारोंकी हानि कर सकते हैं।

(२) अधिकांश हिस्सेदारोंको कम्पनीकी यथार्थ आर्थिक और प्रबन्धसम्बन्धी स्थितिका ज्ञान नहीं होता जिससे वे अज्ञानमें अपना मत इत्यादि दिया करते हैं।

(३) मजदूर या जमादार लोग काम करनेसे जी चुराते हैं क्योंकि उन्हें तो मजदूरीसे काम रहता है। इन त्रुटियोंके होते हुए भी कम्पनियोंसे लाभ अधिक होता है, इससे इनका प्रचार रुक नहीं सकता। इन त्रुटियोंके दूर करनेके कई उपाय हैं। उनमें कुछ ये हैं—

(क) कम्पनीके प्रबन्धमें मजदूरोंको भी स्थान देना तथा उनको मताधिकार प्रदान करना।

(ख) नफेमें मजदूरोंको भी भाग देना और रियायती शर्त्तोंपर उन्हें हिस्सा खरीदनेका अधिकार देना इत्यादि।

शम्भेश्वर प्रसाद व
आनन्द किसोर नेवटिया।

सिंगापुरके व्यवसाय

सौ वर्षसे कुछ ऊपर हुए कि जोहोरके* सुल्तानने सिंगापुरका द्वीप ईस्टइंडिया कम्पनीको दिया था। तभीसे इस स्थानकी प्रसिद्धि होने लगी थी। यहां पहले मलायावासी लोग रहते थे, कुछ दिन पश्चात् चीनी लोग आ बसे और तबसे यही लोग यहांकी खेतीका कारबार करते हैं। यह द्वीप १४ कोस लम्बा और ७ कोस चौड़ा है; यहाँकी जनसंख्या संवत् १९६८ में ३,०३,३३१ थी। इसमें खेती करनेवाले लोग बहुत कम हैं—अधिकतर लोग व्यापारी हैं। आजकल सिंगापुर संसारके बहुत बड़े बंदरगाहोंमें गिना जाता है और सभी जहाज़ यहाँ कोयला लेनेके लिये ठहरते हैं। दिनपर दिन यहाँका व्यापार बढ़ता जारहा है। इसका ज्ञान निम्नलिखित तालिकासे होसकता है—

	बाहरसे आने वाले मालका मूल्य	बाहरजानेवाले मालका मूल्य
संवत् १९७४ में	४८,६६,१३,६३८ डालर†	४६,५५,४९,२३९ डालर
,, १९७५ में	५२,८३,८४,४४७ ,,	४७,७९,५६,१७८ ,,
,, १९७६ में	६९,३७,२५,३२८ ,,	५८,५६,८८,६६६ ,,

सारे द्वीपमें खेतीके लिये उपयुक्त कुल लगभग २½ लाख बीघे भूमि है जिसमें से कोई १२०००० बीघोंमें खेती होती है। ८०००० से १ लाख बीघोंमें रबर होता है जिसके बीच बीचमें कहीं कहीं अनन्नासके भी पेड़ लगा दिये जाते हैं। शेष २०,००० बीघोंमें नारियल तथा अन्य फलोंकी उपज होती है। खेती करनेवालोंकी संख्या १२००० के निकट है। खेतिहरोंमें चीनी लोग बहुतायतसे हैं; ये लोग बड़े परिश्रमी एवं चतुर होते हैं। परन्तु ये लोग अपनी पुरानी ही विधिसे खेती करते हैं; नवीन उपायोंको शीघ्रतासे काममें नहीं लाते। जबतक इन्हें यह न पता लगे कि अमुक फ़सलसे अच्छा लाभ होगा तबतक उसकी खेती नहीं करते। इनके अधिकांश खेत पहाड़की घाटियांमें ही हैं; मैदानोंमें बहुत कम।

द्वीपके भोज्य पदार्थ तो बाहरसे ही आते हैं—यहाँ केवल फलफूल, तरकारियों, नारियल तथा रबरकी ही पैदावार अधिक है। यहाँके निवासियोंमें पूर्वीय लोगोंकी खेती

---

* मलायाके दक्षिणमें देशी राज्य—सं०

† एक डालर लगभग तीन रुपये दो आने, आज कल लगभग चार रुपये,के बराबर होता है—सं०।

बहुधा थोड़ी ही भूमिमें होती है; ये सब कमाते भी स्वयं हैं। परन्तु जो लोग पश्चिमसे आकर बस गये हैं उनके पास भूमि अधिक है और वे बहुत मूलधन लगाकर दूसरोंसे खेती कराते हैं। छोटे छोटे किसानोंके पास ४ से १५ बीघे तक भूमि रहती है। तरकारियोंके लिये बड़े बड़े खेत बहुत कम हैं; क्योंकि यहांके गांवोंमे—जो कम्पांग कहलाते हैं—सभी लोग १ बीघा तरकारीका खेत रखते हैं। इसमें भी यदि अधिक उत्पत्ति हुई तो बाज़ारमें भी बेचनेको ले जाते हैं। तरकारियाँ अधिकतर नीची भूमिमें, जहाँ पानी बहुतायतसे मिलता है, होती हैं।

बड़े बड़े ज़मींदारोंको भूमि सरकारकी ओरसे पट्टेपर अथवा दानस्वरुप दी जाती है। पट्टा ९९ वर्षके लिये होता है और कभी कभी ९९९ वर्षके लिये। सब प्रकारकी भूमिपर मालगुज़ारी लगती है जो प्रति ३० वर्षपर घटा बढ़ा करती है। छोटे छोटे ज़मींदार कुछ दिनोंके लिये अपने खेत असामियोंको देदेते हैं। खेतीका सब व्यय ज़मींदार देता है, असामी केवल मज़दूरकी भाँति काम करता और देखभाल रखता है। एकाध असामी ज़मीन्दारको कुछ वार्षिक लगान देते हैं और स्वतंत्र रूपसे खेती करते हैं।

यहाँकी भूमि बड़ी उपजाऊ है; कहीं कहीं बलुई मिट्टी और अधिकतः चिकनी मिट्टी पायी जाती है। समुद्रसे बहकर आयी हुई मिट्टीसे इसकी उपज और बढ़ जाती है। बलुई भूमिमें केवल नारियल ही होता है। साधारणत: भूमिका मूल्य १०००) प्रति बीघा है। पशुओंकी चराईके लिये अलग परती भूमि नहीं है, क्योंकि सभी जगह घास पर्याप्त मिल जाती है।

सिंगापुरमें मज़दूरोंको न तो कष्ट है, न इनसे कुछ कर ही लिया जाता है। इस लिये चीन, भारतवर्ष तथा जावासे मज़दूर बराबर जाया करते हैं। जावावाले तो यहीं अपना घर बना लेते हैं और जावाको बहुत कम लौटते हैं। भूमिकी जुताई आदिके लिये बैल अथवा दूसरे जानवरोंसे काम नहीं लिया जाता—मनुष्य ही सब काम करते हैं। हम लोगोंको यह कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, परन्तु कारण यह है कि यहाँके किसान बड़े ही परिश्रमी होते हैं।

अधिकांश काम यहां ठेकेसे होता है जिसमें चीनी मज़दूर एक "मुक़द्दम" के निरीक्षणमें काम करते हैं। खेतों और बागीचोंकी मज़दूरी माहवारी दी जाती है। मज़दूरकी चतुरताके हिसाबसे २८) से ५०) मासिक तक दिये जाते हैं। लड़कोंसे बहुत कम काम लिया जाता है; पुरुष १) से १॥) तक और स्त्रियां ।॥) प्रतिदिन पाती हैं। कुली लोग सबेरे ६ बजेसे ३ बजे तक काम करते हैं, सरकारी बागीचोंमें ५ बजे तक काम लिया जाता है, पर बीचमें दो घंटेकी छुट्टी मिलती है। कुलियोंमें चीनी लोग बड़े

काम करनेवाले होते हैं। यही कारण है कि वे लोग साधारण कुलियोंसे सवाया अधिक कमाते हैं।

आसामके चायके बागीचोंकी भांति यहां भी रबरके बागीचे होते हैं। बागीचोंकी कुल खेती मिलाकर १ लाख बीघोंसे ऊपरकी है। इनमें या तो केवल रबरके पेड़ रहते हैं या रबरके साथ साथ नारियल अथवा अनन्नासके पेड़ लगा दिये जाते हैं। परन्तु अनन्नासके पेड़ रबरके साथ रहनेसे तीन चार वर्ष पश्चात् फल नहीं देते। इन सभी बागीचोंमें बहुत अधिक पूंजी लगती है और कार्य बहुत वैज्ञानिक रीतिसे होता है। पहले यहां व्यक्तिगत व्यापार अधिक होता था और कहवा तथा जायफलकी खेती होती थी। इसमें कुछ लाभ न होनेसे व्यक्तिगत व्यापार नष्ट हो गया और अब केवल कम्पनियों द्वारा सब कारबार होता है। बहुधा ये बागीचे कम्पनियोंके ही हैं जिनकी पूंजी यूरोप अथवा मलाया राज्यसे आती है। इसीसे इनका नाम डालर अथवा स्टर्लिंग कम्पनी होता है। इन बागीचोंमें काम करने वाले मज़दूर सुगमतासे मिल जाते हैं—ये लोग जावा, चीन अथवा भारतवर्षसे जाते हैं। कम्पनियां इन्हें रहनेके मकान देती हैं और इनकी सुविधाके लिये अपनी ओरसे दूकानें भी रखती हैं। फिजीकी भांति यहां कुली-प्रथा नहीं है; हां, मलाया अन्तरीपमें अलबत्ता है। यहां जापानवालोंके भी अनेक बागीचे हैं और ये लोग अच्छा प्रबन्ध रखते हैं। द्वीपमें कुल मिलाकर केवल २० कम्पनियां हैं; इन लोगोंका कोई संघ नहीं है पर ये अधिकतर लन्दनके रबर व्यापारी-संघ (रबर ग्रोअर्स असोसियेशन आफ लन्दन) के ही मतकी हैं। यह संघ बहुत बड़ा तथा प्रभावशाली है। इसमें कुल मिलाकर ५५३ कम्पनियाँ शामिल हैं जिनमें कई करोड़की पूँजी लगी है और कोई १५ लाख बीघे रबरकी खेती सारे संसारमें होती है।

सिंगापुरका जलवायु खेतीके लिये बड़ा ही उत्तम है। इसका स्थान ऐसा है कि दोनों तरहकी मौसिमी हवासे बड़ा लाभ पहुँचता है। सालमें ६ महीने बराबर वर्षा होती है। कुल मिलाकर रबरकी खेती ८०,००० बीघेकी, और नारियलकी कोई २०,००० बीघेकी होती है। इसके अतिरिक्त दूसरे फल, मिर्चें तथा गटापार्चा भी कुछ कुछ होते हैं, सुपारी, गन्ना तथा साधारण तरकारियाँ स्थानीय कामके लिये लोग बोते हैं। इस प्रकार, इस द्वीपमें अधिकतया ऐसी ही वस्तुएँ होती हैं। जो प्रायः बाहरी देशोंको भेज दी जाया करती हैं।

यहाँके व्यवसायोंका इतिहास बड़ा मनोरंजक है। इनकी उन्नतिका काल तीन भागोंमें विभक्त हो सकता है जिनमें यूरोपियन तथा वहाँके निवासी लोग निम्नलिखित वस्तुओंका कारबार करते रहे हैं—

	यूरोपियन	वहांके निवासी
संवत् १८५७ से १९१७ तक	जायफल और लौंग	लालमिर्च तथा दूसरे मसाले
,, १९१७ ,, १९५५ तक	क़हवा	नील तथा टेपियोका
,, १९५५ ,, आजतक	रबर	अनन्नास तथा रबर

इससे प्रकट होता है कि यूरोपियन लोग पूर्व निवासियोंके व्यापारमें सफल नहीं हुए और न वहां वाले यूरोपियनोंके व्यापारमें। वहांके निवासी अधिकतः मसालोंका ही व्यापार करते हैं; अनन्नासकी खेतीमें भी उनकी बड़ी रुचि है। ऊपरकी तालिकासे पता चलता है कि व्यापारिक बाधाओंसे अथवा फ़सलोंमें रोग लगजानेसे दूसरी दूसरी वस्तुओंका व्यापार निरन्तर बदलता रहा है।

इन सब वस्तुओंके अतिरिक्त आजकल मीठा आलू, बैंगन तथा ककड़ी भी होती है; चीनी लोग मीठा आलू बहुत खाते हैं और हिन्दुस्थान तथा जावासे आलू एवं प्याज़ वहां बहुत जाती है। बागीचोंमें अनेक फल भी होते हैं, जैसे पपीता, केला, अमरूद और आम; परन्तु इतना होनेपर भी आस्ट्रेलिया, स्याम, जावा तथा भारतवर्षसे नाशपाती, सेव, अंगूर तथा दूसरे फल वहां जाते हैं। रबरका व्यवसाय अब वहां धीरे धीरे कम हो रहा है; कारण यह है कि और भी गर्म देशोंमें इसकी खेती होनेसे इसमें लाभ अब कम होने लगा है। थोड़े दिन हुए लोगोंका ध्यान रेंड तथा ताड़की खेतीकी ओर गया है। वहांके लोगोंका विचार है कि अरण्डीके तेल तथा अफ्रीकन ताड़के तेलका व्यवसाय बढ़ाया जाय और कुछ ऐसे पेड़ लगाये जायं जिनके गूदेसे काग़ज़ तैयार किया जाय।

सिंगापुर एक ऐसा द्वीप है जहां प्रारम्भसे ही भिन्न भिन्न वस्तुओंका व्यवसाय होता आया है। बहुत सम्भव है कि वहांके लोगोंको अरण्डीके तेल, ताड़के तेल तथा काग़ज़ वाले इस नये व्यापारमें भी अच्छी सफलता हो और भविष्यमें वे लोग इनसे खूब लाभ उठानेमें समर्थ हो सकें।

श्रीरामाज्ञा द्विवेदी

करविधानके दावपेंच ।

'क'रविधान'का विषय इतना गहन है कि उसके तत्वोंका आशय साधारण जनता-की समझमें नहीं आता। साधारण जनता उसके असरका तो अनुभव करती है किन्तु उसके तत्वको नहीं समझती। यही कारण है कि प्रत्येक देशमें 'करविधान'के विधाता कोई असाधारण बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति होते हैं जिनको बहुत बड़ा वेतन मिलता है और जो इतने भारी पद अर्थात 'अर्थसचिव'के नामसे भूषित रहते हैं। वास्तवमें 'अर्थनीति'के तत्वोंको जाननेवाला व्यक्ति सारे देशके मनोविज्ञानका ज्ञाता समझा जाता है। किसी वस्तुपर अथवा जनताके किसी वर्गपर कर लगानेके पहिले ही अर्थसचिवके मस्तिष्कमें, उस वर्गके लोगोंकी आन्तरिक भावनाओंका चित्र पूर्णरूपसे खिँच जाता है; वस्तुविशेषपर किसी करका आरोपण करनेसे जनतापर क्या असर पड़ेगा, इस करसे निर्धन प्रजाकी क्या हानि होगी, यह कर न्याय-संगत है अथवा नहीं, इस करसे औद्योगिक तथा व्यावसायिक उन्नति होगी या अवनति, इत्यादि भिन्न भिन्न तर्क-वितर्कोंका साम्हना अर्थसचिवको एक ही समयमें करना पड़ता है। प्रजाके बिना जाने प्रजासे रुपया खींचलेनेमें अर्थसचिवको जिस चतुराईकी आवश्यकता पड़ती है उस चतुराईके दाव-पेंचोंका साधारण ज्ञान प्रत्येक व्यक्तिके लिये उपयोगी समझकर यहांपर उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन किया जाता है।

आरोपित होनेके पश्चात, कर तीन स्थानोंपर स्थिर होनेका उद्योग करता है। (१) प्रथम तो जो व्यक्ति प्रत्यक्ष रूपसे कर चुकाता है वह उस करका आधार होता है; (२) किन्तु यदि प्रत्यक्ष रूपसे चुकानेवाला पुरुष, इस करका भार किसी अन्य मनुष्य पर टाल देता है तो फिर यह अन्य पुरुष ही वास्तवमें उसका आधार बन जाता है, (३) या फिर इस करविशेषका भार एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरेपर इस प्रकार क्रमशः टलते हुए किसी अंतिम व्यक्तिको अपना आधार बनाता है। ये ही करकी तीन अवस्थाएं होती हैं, अतः इनका सविस्तर वर्णन करना उचित है।

करकी आदिम अवस्थाको अर्थात् प्रत्यक्ष (डाइरेक्ट) रूपसे चुकानेवाले व्यक्ति विशेषपर करकी आरोपण-क्रियाको, 'कर-पात्रत्व' (इम्पैक्ट) कहते हैं। जिस व्यक्तिपर इस प्रकारका कर लगाया जाता है उसे 'करपात्र' कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि शराबकी बिक्री-पर कर लगाया जाय तो शराब बेचने वाला ' करपात्र ' कहलायगा और इस करके लगाये जानेको शराबका ' विक्रय-कर-पात्रत्व ' कहेंगे। उसी प्रकार यदि पाँचहजार रूपयेकी वार्षिक आमदनीवाले व्यक्तिपर पांच रुपये फी सैकड़े ' आयकर ' (इनकम टैक्स) लगाया जाय तो पारिभाषिक शब्दोंमें यह कहेंगे कि उस व्यक्तिपर पचास रुपये ' आयकर-पात्रत्व 'का भार कर चुकानेके कारण पड़ा है; और वह व्यक्ति इस करका ' कर-पात्र ' समझा जावेगा।

[अब करकी माध्यमिक अवस्थाको लीजिए, जिसमें 'कर-विधान'का साररूप प्रकाशित होता है और जिसकी ओटमें बैठकर अर्थसचिव तीरंदाज़ी करता है। आरंभमें जो कर चुकानेवाला व्यक्ति रहता है वह अपनी पुंजीमेंसे इस करको नहीं चुकाता अर्थात् करका भार अपने ऊपर नहीं लेता किंतु इस करके भारको किसी अन्य पुरुषपर टाल देता है। इस प्रकारकी क्रियाको— अर्थात् करका भार खुद न सहकर दूसरोंपर टालदेनेको —'परस्कंधन' (या कर-प्रक्षेपण, शिफ्टिंग) कहते हैं। 'परस्कंधन'का अर्थ यह है कि 'करपात्र' अर्थात् जिसके ऊपर कर लगाया गया है अपनी मूल आमदनीमेंसे उस करको न चुकाकर उसे किसी अन्य पुरुषपर 'स्कंधित' कर देवे या टाल देवे अर्थात् अपने कंधेका भार दूसरेके कंधेपर फेंकदे। मान लीजिये गांजेकी बिक्रीपर कर लगाया गया। अब गांजा बेचनेवाला कर वसूल करनेकी इच्छासे गांजेका मूल्य भी बढ़ा देगा। इस प्रकार उस करका भार उसके ऊपर न पड़कर ग्राहकोंपर पड़ेगा। तात्पर्य यह कि गांजा बेचनेवाला अपने ऊपर लगाये गये करका 'परस्कंधन' या प्रक्षेपण करदेगा जिससे उसपर करका भार न पड़ने पावे। वह इस विवेकके साथ करका परस्कंधन करेगा कि गाँजेका मूल्य बढ़ते हुए भी उसकी बिक्री न घटने पावे, अन्यथा उसे हानि उठानी पड़ेगी। 'कर-विधान'के प्रयोगमें 'परस्कंधन' क्रियाका नाना प्रकारसे अवलम्बन किया जाता है। कभी कभी माल बेचनेवाले अपने ऊपर लगाये गये करके भारको ग्राहकोंपर 'परस्कंधन' कर देते हैं और कभी कभी ग्राहक भी विक्रेताओंपर करका 'परस्कंधन' करते हैं; कभी वस्तु-विशेषका उत्पादक व्यक्ति उसका उपभोग करनेवाले व्यक्तियोंपर करका भार परस्कंधित करता है और कभी उपभोक्तागण भी उत्पादकपर करके भारको परस्कंधित करते हैं। इसी प्रकार पूंजीपति और श्रमजीवि-दलका भी परस्पर व्यवहार होता है तथा साहूकार और ऋणीमें भी आपसके ऐसे ही दावपेंच होते हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि व्यवहारमें विक्रेता महोदय, बड़े मीठे मीठे शब्दोंमें, अपनी नम्रता दिखाते हुए ग्राहकोंको ऊंचा पद देते हैं जिससे उनकी बिक्री होवे, अतः हम ग्राहकों, उपभोक्ताओं, श्रमजीवियों और ऋण लेने वालोंका पद, मान मनावके कारण, ऊंचा समझते हैं। अतएव जब विक्रेता, उत्पादक व्यक्ति तथा साहूकार 'करके भारको' ग्राहकों, उपभोक्ताओं तथा ऋण लेने वालों पर अर्थात् अपनेसे ऊपर वालोंकी तरफ परस्कंधित करते हैं तो उसे 'उपरि-परस्कंधन' या उपरि-प्रक्षेपण, (शिफ्टिंग फारवर्ड) कहते हैं, और जब ग्राहक, श्रमजीवी तथा ऋणीजन करके भारको विक्रेता, पूंजीपति तथा साहूकार-पर परस्कंधित करते हैं तब उसे 'अधः परस्कंधन' या अधः प्रक्षेपण, (शिफ्टिंग बैकवर्ड) कहते हैं। 'अधःपरस्कंधन'का एक उदाहरण ले लीजिये। मान लिया जावे कि श्रमजीवि-दलपर काँचके कारखानेमें काम करनेके कारण 'कर' आरोपित किया गया। ऐसी अवस्थामें श्रमजीवी अपना वेतन बढ़ानेके लिये पूंजीपतिसे झगड़ेंगे। वे अपनी मूल आमदनीमेंसे 'कर' नहीं चुकावेंगे, प्रत्युत अपना वेतन बढ़वाकर फिर कहीं कर देनेका प्रयत्न करेंगे अर्थात् वे 'कर'के भारको पूंजीपतिपर डालनेकी—उसे अधःपरस्कंधित करनेकी—चेष्टा करेंगे। परन्तु जब परस्पर परस्कंधन नहीं होता और **मध्यके पुरुष अर्थात् दलाल इत्यादि**

व्यक्तियोंपर परस्कंधित होता हुआ करका भार किसी अन्य पुरुषका अथवा पूंजीपति या श्रमजीवि-दलका ही आधार ग्रहण करता है, तब इन माध्यमिक पुरुषोंका अवलम्बन करते हुए करके परस्कंधनको 'अग्रे परस्कंधन' या पुरः प्रक्षेपण (शिफ्टिंग आनवर्ड) कहते हैं। यहीं करकी तीसरी अवस्थाका प्रारंभ होता है।

जब करका भार ' अग्रे परस्कधंन'का अवलंबन करते हुए अन्तमें किसी न किसी व्यक्तिपर परस्कन्धित होता है तब इस प्रकारकी अन्तिम अवस्थाको 'कराश्रय' (इंसिडेन्स) कहते हैं। निष्कर्ष यही है कि जिसपर अन्तमें करका भार पड़े वही 'कराश्रय' कहलावेगा। कभी कभी ' करपात्रत्व ' और ' कराश्रय 'का एकीकरण हो जाता है अर्थात् जो मनुष्य करका पात्र होता है वही कभी कभी करका आश्रय भी होता है, ऐसे समयमें परस्कधंन क्रियाका उपयोग नहीं होता।

कर-विधानकी वक्रगतिमें ' करपात्रत्व, ' ' परस्कंधन ' और ' कराश्रय, ये जो करकी तीन अवस्थाएँ हैं उन तीनोंका उल्लेख एक उदाहरणमें किया जा सकता है। यदि कपासके उत्पादक व्यक्तिपर पांच रुपये प्रतिमन रुईके हिसाबसे ' कर ' आरोपित किया गया और उसके यहां कुल दस मन रूई निकली तो उसे पचास रुपये कर देना पड़ेगा, अतः पचास रुपये 'करपात्रत्व'का भार उसके ऊपर पड़ेगा, पर वह इस 'कर'को अपनी पूंजीमेंसे नहीं चुका सकता इसलिये वह सूतीघरके पूंजीपतिको रुई महँगी बेचकर इन पचास रुपयोंका भार उसपर परस्कंधित करदेगा; सूतीघरका पूंजीपति भी यह भार अपने ऊपर न ले कर कपड़ा मोललेनेवाले व्यक्तियोंपर डाल देगा अर्थात् उसका परस्कंधन कर देगा। पुनः ये बजाज लोग साधारण जनतापर सब भार डालेंगे; इस प्रकार अन्तमें साधारण जनता ही ' कराश्रय ' बनेगी। इस लिये, 'कराश्रय' (इन्सिडेन्स) साधारण जनताके मत्थेपर पड़नेसे, कपासके कपड़े मँहगे बिकेंगे। भारतवर्षमें यह भी नहीं कि केवल आरंभमें पाँच रुपये करका भार लगा दिया जावे, यहां तो सूतीघरके पूंजीपतिपर अलग ' कर ' और बजाजोंपर भी किसी न किसी रूपमें अलग लगाया जाता है। इन सबका भार प्रायः साधारण जनतापर पड़ता है। वस्तुतःयहांपर तो प्रजाके चारों तरफसे घेरा डाला जाता है।

जिस प्रकार कोई जादूगर अपने शत्रुपर ' मंत्र ' चलाता है अथवा जिस प्रकार कोई तांत्रिक मारणमंत्रकी मूठ मारता है, उसी प्रकार करविधानके खेलमें अर्थसचिव जादूका काम करता है। साधारण भोलीभाली जनता इस जादूकी चोटका अनुभव करती है, इस नवीन तांत्रिकके सम्मोहन-मंत्रसे हरिण जंतुकी नाईं मुग्ध हो जाती है (!) पर उसे यह विदित नहीं होता कि इस इन्द्रजालके खेलमें क्या चतुराई है और क्या चालें चली जा रहीं हैं। बेचारी प्रजाके दिन तो उदर-पोषणके लिये काम करनेमें ही बीतते हैं, उसे इन विषयोंपर सोचनेका अवसर ही कहां मिलता है। दिखलाया तो यह जाता है ' कि रेल चल रही है, असर होता है कि गरीबोंके पैसे निकल रहे हैं; " सुना जाता है कि सेठजी-पर ही आयकर लगेगा पर परिणाम यह होता है कि निर्धन जनताको सेठजीके उद्योगमें अथवा उनके कारखानेमें नौकरी नहीं मिलती; " आजकल तो विश्वविद्यालयोंमें विद्या-

प्रचारका प्रयत्न होता है, ऊँचे ऊँचे वेतन दिये जाते हैं पर पांच दस वर्षके बाद पढ़नेवाले विद्यार्थी नहीं मिलेंगे।

यद्यपि कर-विधानके इन्द्रजालसे बचना सरल काम नहीं है, तो भी जिस प्रकार मन्त्रका निवारण किया जाता है उसी प्रकार 'कर'का निवारण भी होता है। यह निवारणक्रिया (इवेज़न) कई रूप धारण करती है। जिस प्रकार मूठ (मारणमन्त्र) निष्फल कर दी जाती है अथवा जादूगरके पास लौटनेसे उसके चलानेवालेकी ही नाशकारिणी होती है वैसे ही 'कर' निवारणके भी दो फल हैं।

करके 'निवारण' का अर्थ यह है कि व्यक्तिविशेषपर करके भारका असर न पड़े। निवारणके अन्तर्गत ही 'परस्कंधन' भी आजाता है। यदि 'निवारण' को जनकभावसे (जीनस रूपमें) देखें तो परस्कंधनको जन्यभाव (स्पीसीज़) के रूपमें मानना पड़ेगा। 'निवारण' क्रियाका अवलम्बन करनेसे दो परिणाम होते हैं, यह पहिले ही कह दिया है। एकसे अर्थसचिवकी कोई हानि नहीं होती है, पर दूसरेसे अर्थसचिवकी हानि होती है। 'परस्कंधन' (शिफ्टिंग) का रूप प्रथम भेदमें सम्मिलित है; इससे अर्थसचिवको विशेष हानि नहीं होती, उसके कोषमें कहीं न कहींसे रुपया आता ही है। यदि पूंजीपतिने अपना कर-भार श्रमजीवियोंपर परस्कंधित किया तो श्रमजीवी ही परोक्षरूपमें वह कर चुकावेंगे, नहीं तो पूंजीपति ही प्रत्यक्षकर (डायरेक्ट टैक्स) देवेंगे। बहेलियेके सदृश अर्थसचिवने फंदा लगाया कि उसके जालमें कोई न कोई फँस ही जायगा। परस्कंधनके अतिरिक्त एक और ऐसी क्रियाका अवलम्बन किया जाता है जिससे 'करपात्र' करके भारका निवारण भी करदेता है और जिससे 'अर्थसचिव' का भी दाव नहीं चूकता। इसे परिवर्तन (ट्रान्सफर्मेशन) कहते हैं। जिस प्रकार किसी रोगके आक्रमण होनेके पश्चात् रोगी पुरुष किसी औषधिविशेषके सेवनसे अथवा कसरत करके पुनः स्वस्थ और तेजवान् हो जाता है, उसी प्रकार उद्योगी पुरुष करके भारसे संतप्त होकर अपनी कार्यप्रणालीमें कोई नवीन आविष्कार करके अथवा किसी विशेष चातुर्यसे अपने व्यवसायमें दुगना लाभ उठाने लगता है और जो हानि या घाटा करके भारसे होने लगा था उसे लाभमें परिवर्तित करने लगता है। इसी क्रियाका नाम 'परिवर्तन' है। वास्तवमें 'परिवर्तन' क्रिया करविधानका परोक्षफल है। यदि कपासपर अत्यधिक असह्य कर लगाया जावे, और कपड़ेके कारखानेवाले पूंजीपति कोई नवीन मशीन या कलका आविष्कार करके अथवा किसी नये रचना-प्रबन्धसे उत्पादन व्ययको कम कर देवें, और पहिलेकी अपेक्षा अधिक लाभ उठाने लगें तो कहा जावेगा कि उन्होंने हानिको लाभमें परिवर्तित किया है। इससे विदित होता है कि 'कर' से कभी कभी करपात्रका हित भी होसकता है। उन पूंजीपतियोंपर जो 'आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रतिकुर्यात् यथोचितम्' को अपना आदर्श समझते हैं, करका आरोपण करना उन्हें उन्नतिकी ओर बढ़ानेके निमित्त एक अंकुशसा सा काम देता है। अतः जब कोई व्यवसाय शिथिल हो गया हो तो उसकी वृद्धिके लिये 'कर' का लगाया जाना भी कभी कभी बड़ा लाभप्रद हो सकता है।

करविधानके दावपेंच ।

अब हम अर्थसचिवके अभिप्रायको नष्ट करनेवाली उस तदबीरका वर्णन करते हैं जिससे सरकारी कोषमें रुपया पहुंचनेके द्वार बन्द हो जाते हैं। जब प्रजा किसी करके भारको अधिक और अनुचित समझने लगती है तब वह इस प्रतीकारको उपयोगमें लाती है। इसे 'निराकरण' ('रेफ्यूटेशन' या 'अपोजीशन') कहते हैं। आजकल पोस्ट आफिसमें लिफाफेका मूल्य चार पैसे होगया है इसलिये चालाक या चतुरलोग चिट्ठीको 'बुकपोस्ट' करदेते हैं। इसी प्रकार चुंगीकी टैक्स न चुकानेके विचारसे कोई कोई व्यापारी दूसरे मार्गसे आधीरातको अपना माल निकालकर शहरके भीतर बेचनेको ले जाते हैं। इस प्रकारसे तथा और अन्य रीतियोंसे अर्थसचिवके अभिप्रायका निराकरण किया जाता है। कभी कभी प्रजा उस वस्तुका उपयोग करना ही छोड़ देती है और इस प्रकार करका निवारण कर देती है, जैसे व्यसन कर लगानेसे गरीब लोग व्यसनोंका उपभोग करना ही छोड़ देते हैं। यद्यपि परस्कंधन और 'निराकरण,' दोनों ही निवारण-क्रियाके अन्तर्गत हैं पर इनमें यही विशेषता है कि जहां 'करपात्र'को निराकरणसे प्रायः लाभ होता है वहां अर्थसचिवको हानि होती है; किन्तु परस्कंधनमें अर्थसचिवकी हानि नहीं होती, करपात्रको लाभ भले ही हो जावे। परस्कंधनसे लाभ होनेका प्रमाण यह है कि जिस अनुपातसे वस्तुविशेषका मूल्य कर आरोपित करनेके कारण अधिक होगा उतने ही समानुपातसे करका परस्कंधन होनेसे करपात्रको लाभ होगा अर्थात् उतना कर-भार परस्कंधित होगा। पर वास्तवमें कभी कभी वस्तुविशेषका मूल्य बढ़जानेसे उसकी बिक्री कम होजाती है अतः विक्रेताको जितना लाभ पहिले होता था उतना लाभ नहीं होता। इसका परिणाम यही होता है कि करका परस्कंधन पूर्णरूपसे होते हुए भी एवं ग्राहकोंके 'कराश्रय' बनते हुए भी विक्रेताको अपने व्यवसायमें हानि उठानी पड़ती है।

सारांश यह है कि परस्कंधन क्रियाका उपयोग होनेसे करका भार किसी न किसी रूपमें सभी प्रजापर पड़ता है। जिस प्रकार तालाबमें एक ओर लहर उठनेसे चारोंओर लहर उठती है और पानी अनस्थिर होजाता है उसी प्रकारका हाल 'करविधान'की नीतिमें है। एकपर करका भार पड़नेसे दूसरोंपर भी उसका असर पड़ता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष करोंका भार जनतापर इतना अधिक होगया है कि यदि यही दशा बनी रही और मानवजातिकी आवश्यकताएं नवीनरूप धारण करती गयीं तो भारतकी निर्धन प्रजा और भी अधिक निर्धन हो जावेगी और उसे जीवनके वास्तविक सुखोंसे भी पराङ्मुख होना पड़ेगा। ऐसी अवस्थामें भारतवर्ष सरीखे देशकी दशा, जिसकी अर्थनीतिकी बागडोर भारतीय जातिके हाथमें नहीं है, क्या रूप धारण करेगी इसका क्या पता है। प्रत्येक भारतवासीका यह मुख्य कर्तव्य है कि वह अर्थशास्त्र तथा करविधानके तत्वोंको पूर्णरूपसे समझे और उनपर मनन करके आर्थिक कठिनाइयोंका सामना करनेमें समर्थ होवे।

दामोदरप्रसाद मिश्र।

भारतवर्षकी आर्थिक अवस्था।

कृषिका महत्त्व।

भारतवर्षकी वर्तमान आर्थिक अवस्थाके वर्णनमें कृषिको अधिक महत्त्व देना प्रधान बात होनी चाहिये। संवत् १९६८ की जन-संख्याके अनुसार कमसे कम २२.४ करोड़ अर्थात कुल आबादीके ७२ फी सैकड़े मनुष्य अपनी जीविकाके लिये खेती इत्यादिपर ही निर्भर हैं। औद्योगिक विकासमें भारत चाहे जितनी उन्नति कर डाले किन्तु ऐसे समयकी कल्पना करना सम्भव नहीं प्रतीत होता जब कि सदाकी तरह कृषि ही भारतकी अधिकांश जनताका पेशा न रह जायगा।

मुख्य मुख्य फसलें और उनका निर्यात

संवत् १९७६ की, जो कि साधारण परस्थिति वाला वर्ष कहा जा सकता है और जिसके बादके अंक प्राप्य नहीं हैं, निम्नलिखित सूचीसे भारतकी भिन्न भिन्न फसलोंका, क्षेत्र फलकी दृष्टिसे, पारस्परिक महत्त्व प्रकट होगा। इस सूचीमें गेहूं, कपास, और जूट को छोड़ कर बाकी फसलोंमें भारतके देशी राज्योंके अन्तर्गत क्षेत्र-फल शामिल नहीं किया गया है।

नाम फसल		क्षेत्रफल (लाख एकड़ोंमें)
चावल	...	७९४
गेहूं	...	२९९
कपास	...	२३३
ज्वार	...	२२४
तेलहन	...	१४८
बाजरा	...	१४५
चना	...	१२६
जव	...	७४
मक्का	...	६६
जूट	...	२८
गन्ना	...	२७

साधारण समयमें खाद्य अन्नोंमेंसे बहुत सा चावल और गेहूं बाहर भेजा जाता है, निर्यात चावलकी मात्रा कुल फसलमें सैकड़े पीछे सात और निर्यात गेहूंकी मात्रा सैकड़े पीछे दस है। जव भी काफी तादादमें बाहर जाता है। कपासकी फसलका, इधर कुछ वर्षोंसे, लगभग आधा अंश बाहर जाता है, कई वर्षोंमें तो इसके निर्यातकी मात्रा आधेसे भी बढ़ गयी। बाहर जाने वाले तिलहनोंका अनुपात भिन्न भिन्न तिलहनोंके निमित्त भिन्न भिन्न है। उदाहरणके लिये तिलकी फसल तो प्रधानतया बाहर भेजनेके लिये ही पैदा की जाती है, किन्तु मूंगफली, राई और अलसीकी कुल फसलका कदाचित् सैकड़े पीछे बीससे अधिक अंश बाहर नहीं भेजा जाता। फिर भी तिलहनोंका निर्यात भारतके विदेशी व्यापारका एक प्रधान अंग है। (भारतमें ही) जूटके उद्योगकी उन्नति होते जानेके कारण कच्चे जूटका भेजा जाना यद्यपि कम हो रहा है तो भी वह अब भी बड़ी मात्रामें, कुल फसलके लगभग अर्द्धांश तक, बाहर भेजा जाता है।

उत्पत्तिकी मात्रा।

इस बातमें सभी मर्मज्ञोंका एक मत है कि भारतमें कृषिसे उतनी उत्पत्ति नहीं होती जितनी यहां होनी चाहिये। औद्योगिक जाँच-समितिके शब्दोंमें "अभी कृषिके साधनोंकी उन्नतिके लिये बड़ा क्षेत्र पड़ा है"। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण जिसकी ओर हालमें ही ध्यान आकर्षित हुआ है, चीनीका है। चीनीके सम्बन्धमें जांच करने वाली समितिका कहना है कि भारतमें चीनीकी वास्तविक उत्पत्ति फी एकड़ क्यूबाकी उत्पत्तिकी अपेक्षा एक तिहाई, जावाकी उत्पत्तिके छठवें अंश और हवाई द्वीपके सातवें अंशसे भी कम है। उसी प्रकार अधिक उन्नत देशोंकी दृष्टिसे भारतमें चावल, गेहूं और कपासकी उत्पत्ति अपेक्षाकृत कम है।

इस प्रकार यद्यपि कृषिसे साधारणतया अच्छी उत्पत्ति होती है, फिर भी कृषिके साधनोंमें उन्नति होनेसे वह और भी अधिक बढ़ सकती है। कृषिसे ही देशकी आवश्यकताके सारे खाद्य अन्न उत्पन्न होते हैं और साधारण वर्षोंमें बाहर भेजनेके लिये भी काफी अन्न बच जाता है। यहां कपास बहुतायतसे पैदा होती है जिसका लगभग आधा हिस्सा देशमें ही खप जाता है और बाकी आधा हिस्सा विदेशोंको चला जाता है।

भारत सारे संसारकी जूटकी मांग पूरी करता है। अब उसका अधिकाधिक भाग देशमें ही खपने लगा है। यहां तिलहनोंकी अच्छी फसल होती है, जिससे भारतकी समूची मांग पूर्ण होनेपर भी बहुतसा अंश निर्यातके लिये बच रहता है। इसकी अच्छी क़ीमत वसूल होती है। संसारके बाजारोंमें जितनी चाय भेजी जाती है उसका ४० फी सैकड़ा अंश भारतमें ही उत्पन्न होता है। अन्तमें, देशकी समूची आवश्यकताकी कच्ची चीनी भी यहांकी कृषिसे प्राप्त होती है। मोटे तौरसे उसकी मात्रा बाहरसे आने वाली साफ चीनीकी सातगुनी है।

भारतीय उद्योग।

औद्योगिक दृष्टिसे भारतमें रूई और जूटके दो ऐसे बड़े उद्योग हैं जो वर्तमान ढंगके कहे जा सकते हैं। संवत् १९७६ में, जिसके बादके अंक अभी प्राप्य नहीं हैं, भारतमें सूत कातने और कपड़े बुननेके कुल २७७ पुतलीघर थे जिनमें ३,०६,३१० मनुष्य काम करते थे। इसके अतिरिक्त रूई धुनकने, साफ करने और दबानेके १,९४० कारखाने थे जिनमें १,४०,७८६ मनुष्य काम करते थे। जूटके उद्योगके लिये देशमें ७६ पुतलीघर थे, इनमें काम करने वालोंकी संख्या १,७६,०७९ थी।

२११ जूट दबानेके कारखाने भी थे, जिनमें ३३,३१६ आदमी काम करते थे। भारतमें इन दो बड़े बड़े उद्योगोंके पश्चात् रेलके कारखाने थे, जिनमें १,२६,१३४ मनुष्य काम करते थे। चावलके कारखानोंमें ४८,५६३ मनुष्य लगे हुए थे। इन्जीनियरीके कारखानों, चमड़ेके कारखानों, खपरा तैयार करनेके कारखानों, लोहेके कारखानों, और खनिजतेलके तथा अन्य प्रकारके उद्योगोंमें भी बहुतसे मनुष्य लगे हुए थे, किन्तु समस्त भारतके उद्योगोंमें काम करने वालोंकी कुल संख्यामेंसे, जो १३,६७,१३६ बतलायी जाती है, रूई तथा जूटके पुतलीघरों और रूई धुनकने इत्यादिके कारखानों एवं रेलके कारखानोंमें ही ८,८२,६२५ से कम मनुष्य काम न करते थे। ये अंक बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओंके हैं। इनमें कोयला खोदनेके उपयोगी उद्योगके अंक शामिल नहीं हैं। इस उद्योगमें संवत् १९७६ में २,३,७५२ मनुष्य काम करते थे। उपर्युक्त अंकोंमें भिन्न भिन्न ग्रामीण तथा घरू उद्योगोंकी भी गणना नहीं की गयी है। इनमें हाथके करघोंसे कपड़ा बुननेका उद्योग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। कोई २० लाख मनुष्योंका उदर-पालन इससे होता है।

संचालन-शक्तिकी अवस्था।

वर्तमान अवस्थाको छोड़कर जब हम उद्योगोंके विकासके निमित्त आवश्यक बातोंका विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि देशमें निकलने वाला कोयला यद्यपि प्रायः ऊँचे दर्जेका नहीं होता तो भी वह काफी मात्रामें उत्पन्न होता है। भविष्यमें उद्योगोंके सञ्चालनमें हाइड्रो-इलेक्ट्रिक अर्थात् जल-विद्युत् वाली योजनाओंके विशेष महत्त्वपूर्ण तथा अधिकाधिक मात्रामें प्रयुक्त होनेकी संभावना है। साथ ही भारतीय तेलोंसे भी यह काम लिया जा सकता है। अतः उद्योगोंके सञ्चालनार्थ आवश्यक शक्तिकी अवस्था सन्तोषजनक कही जा सकती है।

श्रमजीवियोंकी संख्या।

श्रमजीवियोंके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि कृषिपर निर्भर रहनेवाली जनसंख्या, देशके अधिक भागोंमें समुचित रूपसे खेतीका काम संभालनेके लिये जितने मनुष्योंकी आवश्यकता है उससे अधिक है, किन्तु किन्हीं विशेष कारणोंसे—कुछ तो औद्योगिक केन्द्रोंमें मकानोंकी तंगी और कुछ स्थानान्तरगमनमें लोगोंकी परम्परागत भीरुताके कारण—वे लोग अभी औद्योगिक श्रमजीवियोंका पेशा ग्रहण करनेमें आना-कानी करते हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि कारखानोंके निमित्त मजदूर कम संख्यामें ही प्राप्त होते हैं और वे सामान्यत: अस्थिर रूपसे रहनेवाले होते हैं। साथही इस प्रकार अस्थायी रूपसे मिलनेवाले मजदूर अशिक्षित होते हैं। कार्य-कुशल श्रमजीवियोंकी बड़ी कमी है।

सामान्य परिस्थिति।

कच्चे मालकी उत्पत्तिके ख्यालसे भारतकी स्थिति अच्छी है। यह इसीसे प्रकट है कि यहांसे प्रतिवर्ष राशि राशि कच्चा माल विदेशोंको जाया करता है। बहुतसे कारखानों द्वारा तैयार किये गये मालकी खपत भी यहीं होजाती है, बल्कि यों कहना चाहिये कि कारखानोंमें जितना माल इस समय तैयार होता है उससे बहुत अधिक यहां खप सकता है। अनेक प्रान्तोंमें आवागमनके मार्गोंमें पर्याप्त उन्नति होगयी है और यद्यपि युद्धके कारण रेलोंकी अवस्था उचित सीमासे बहुत पिछड़ गयी है तो भी अब उनके निमित्त पूंजीकी जो व्यवस्था की गयी है उसके कारण कुछ ही वर्षोंमें वे सब सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी जो औद्योगिक विकासके निमित्त आवश्यक हैं। फिर, भारतीय पूंजी प्राप्त करनेकी कठिनाई भी जिसके कारण कुछ वर्ष पहिले देशका औद्योगिक विकास किसी निश्चित सीमाके आगे न बढ़ सकता था, अब शिक्षासे उत्पन्न नये विचारोंके कारण, बैंकोंकी नयी सुविधाएँ हो जानेसे और उद्योगोंमें पूंजी लगानेके निमित्त नूतन उत्साहके कारण क्रमश: दूर होती जा रही है।

विदेशी व्यापार।

भारतका विदेशी व्यापार गत पचास वर्षोंमें प्राय: निर्विघ्न रूपसे बढ़ता गया है और आजकल वह अधिक मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण हो गया है। संवत् १९२१से १९२५ तक चार वर्षोंमें आयात-निर्यात व्यापारका संयुक्त औसत वार्षिक मूल्य ८७·५६ करोड़ रुपये था, संवत् १९६६ से १९७० तक चार वर्षोंका औसत बढ़कर ३७५·९० करोड़ रुपये होगया। युद्धके पूर्व संवत् १९७० में विदेशी व्यापारका मूल्य ४४०·३२ करोड़ था, संवत् १९७६ में वह ५३४·७६ करोड़ और संवत् १९७७ में ५९१·९७ करोड़ होगया; किन्तु इसके बाद संवत् १९७८ में उसमें कुछ शिथिलता आगयी और उसका मूल्य गिरकर ५१०·०५ करोड़ ही रह गया। युद्धके बादके अंकोंका विचार करते समय पदार्थोंकी अत्यधिक मूल्य-वृद्धिका भी ख्याल रखना जरूरी है जिसके कारण विदेशी व्यापारका मूल्य भी उसी अनुपातमें बढ़ गया था। यदि वास्तविक परिमाणका ख्याल किया जाय तो संवत् १९७० की अपेक्षा संवत् १९७७में भी निर्यात तथा आयात दोनों ही कम थे।

व्यापार-सन्तुलन।

इस व्यापारके साधारण वितरणसे प्रकट होता है कि भारत बाहरसे जितना माल मँगाता है, उसकी अपेक्षा अधिक माल बाहर भेजता है। इस प्रकार देनेकी अपेक्षा अन्य देशोंसे हमारा पावना ही अधिक रहता है। यद्यपि इसके बदलेमें विदेशोंसे हमें स्थिर रूपसे कुछ न कुछ सोना-चांदी भी प्राप्त हो जाती है फिर भी इसका अधिकांश बच जाया करता है जो भारतके समुद्रपारका व्यय, विलायती ऋणका व्याज तथा 'होम चार्जेज़' (भारत

सरकारकी ओरसे इंग्लैण्डमें किया जानेवाला व्यय) देनेके काममें आता है। निम्नलिखित तालिकासे युद्धके पूर्वके तथा युद्धकालके चार चार, वर्षोंके और युद्धके बाद प्रथम वर्ष अर्थात् संवत् १९७६के व्यापारमें हमारे आयातकी अपेक्षा निर्यातकी अधिकताका मूल्य प्रकट होगा—

अंक करोड़ रुपयोंके हैं।

संवत् ⟶	१९६६ से १९७० औसत	१९७१ से १९७५ तक औसत	१९७६
मालका विशुद्ध निर्यात (सरकारी माल मिलाकर)	७२·५६	६६·५८	१११·०६
सोना-चांदीका विशुद्ध आयात	३८·८८	३१·७७	६४·५६
निर्यातका बचती मूल्य (अर्थात् विदेशोंसे भारतका पावना)	३३·६८	३४·८१	४६·५०

संवत् १९७७में यह साधारण परिस्थिति बदल गयी और ३०-४० करोड़के निर्यातकी अधिकता न होकर उस वर्ष कोई ८९ करोड़ रुपयोंका माल निर्यातकी अपेक्षा अधिक आया। संवत् १९७८ में भी निर्यातकी अपेक्षा आयातका मूल्य ४४ करोड़ रुपये अधिक था। अब वर्त्तमान लक्षणोंसे प्रतीत होता है कि स्थिति पुन: साधारण होती जा रही है। नीचेकी दो सूचियोंसे हमारे आयात-निर्यातका सामान्य बोध हो जायगा—

आयात-सूची।

(अंक करोड़ रुपयोंके हैं)

संवत् ⟶	१९६६से १९७०तक औसत	१९७१से १९७५तक औसत	१९७६	१९७७	१९७८
१. भोज्य, पेय, तथा तमाखू	२१·८५	२६·३९	४१·१३	३५·९७	५०·६३
२. कच्चे पदार्थ तथा विना तैयार किये हुए पदार्थ	१०·०३	९·५२	१[illegible]·३७	१७·११	२२·०१
३. तैयार माल	१११·८०	१०८·५६	१४५·३५	२७४·९७	१८९·४७
४. विविध	२·१७	३·३३	[illegible]·१२	७·५५	४·३२
सरकार द्वारा	५·८२	११·४५	१३·७[illegible]	११·५४	१४·०७
योग	१५१·६७	१५९·२५	२२[illegible]·७०	३४७·१४	२८०·५२

आयात सूची।

(अंक करोड़ रुपयोंके हैं)

संवत् ⟶	१९६६ से १९७० तक औसत	१९७१ से १९७५ तक औसत	१९७६	१९७७	१९७८
१. भोज्य, पेय, तथा तमाखू	६२·९७	५९·५७	४७·२३	४३·६७	५३·५१
२. कच्चे पदार्थ तथा बिना तैयार किये हुए पदार्थ	१०२·५३	८४·९६	१५९·८३	१०३·४३	१०९·७३
३. तैयार माल	५१·८८	६९·४०	१०३·२५	८६·९१	६१·६७
४. विविध	२·१२	२·०४	३·७१	४·२९	४·६४
सरकार द्वारा	११	१·७२	५·९६	९·५९	३·२१
योग	२१९·६	२१७·८९	३१४·९८	२४७·८९	२३२·७६
पूर्णयोग	३७१·२८	३७७·१४	५३६·६८	४९५·०३	५१३·२६

इन अंकोंसे प्रकट होता है कि साधारणतया बाहरसे आनेवाले पदार्थोंमें "तैयार मालका" भाग ७०–८० फी सदी होता है। इस शीर्षकके बाहर अधिक मात्रामें आनेवाली वस्तु केवल चीनी ही है। यह प्रथम शीर्षक अर्थात् "भोज्य, पेय तथा तमाखू" में शामिल है। आने वाले पदार्थोंकी अपेक्षा भारतसे बाहर जानेवाले पदार्थोंके वितरणमें कम विषमता दृष्टिगोचर होती है। समस्त निर्यातके ४०–५० फी सदीमें कच्चे पदार्थ—रूई, जूट, तिलहन, चमड़े इत्यादि—जाते हैं, तैयार माल (प्रधानतया जूट तथा रूईके वस्त्र इत्यादि) ३० प्रति सैकड़ेसे अधिक मात्रामें जाता है। भोज्य, पेय, तमाखूका निर्यात लगभग २० फी सैकड़ेके हिसाबसे होता है। भारत जितना तैयार माल बाहरसे मँगाता है उसमेंसे कुल आयातके सैकड़े पीछे ३० अंशोंमें रूईके कपड़े तथा सूत, ८ अंशोंमें लोहेका सामान, ६–७ अंशोंमें विविध यंत्र, ४ अंशोंमें रेलका सामान, तथा ३ अंशोंमें धातु इत्यादिकी चीजें रहती हैं।

विदेशी व्यापार किन किन देशोंसे होता है।

संसारके किन किन देशोंके साथ भारतका विदेशी व्यापार होता है, यह जानना विशेष महत्त्वपूर्ण है। युद्धके पूर्व चार वर्षोंमें सैकड़े पीछे ६९·८ पदार्थ ब्रिटिश साम्राज्यके देशोंसे आये (ब्रिटिश संयुक्त राज्यसे ६२·८), शेष ३०·२ पदार्थ अन्य विदेशोंसे, प्रधानतया जर्मनी, जावा, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान तथा आस्ट्रिया हंगरीसे, आये। बाहर जाने वाले पदार्थोंमें सैकड़े पीछे कुल ४१·६ ही ब्रिटिश साम्राज्यको गये, जिनमेंसे

ब्रिटिश संयुक्त राज्य (इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड आयर्लैण्ड) ने सिर्फ २५·१ ही लिये। बाकी ५८·१ पदार्थ अन्य देशोंने लिये और यद्यपि ब्रिटिश संयुक्त राज्यने जितना माल लिया उसका आधा भी किसी एक देशने नहीं लिया, तो भी जर्मनी, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस तथा बेलजियमको भारतसे काफी माल भेजा गया। संवत् १९७८ में युद्धकी बड़ी अशान्तिके बाद व्यापार पुनः सुस्थिर होने लगा, किन्तु इस समय भी साम्राज्य और विदेशोंके सम्बन्धमें भारतीय व्यापारकी जो स्थिति युद्धके पहिले थी वह प्रायः ज्योंकी त्यों बनी रही। साम्राज्यसे आने वाली वस्तुओंका अनुपात ६९·८ की जगह ६६·६ रह गया और इसी हिसाबसे विदेशोंसे आनेवाले मालका अनुपात ३०·२ से बढ़कर ३३·४ हो गया। किन्तु किस देशसे कितना माल आया, इसमें अवश्य बहुत अन्तर पड़ गया। जर्मनीसे पहिले बहुत माल आता था, किन्तु अब वह अपेक्षाकृत बिलकुल थोड़ा रह गया, किन्तु अमेरिका तथा जापानने विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। जावा अब भी उन देशोंकी गणना-में बना रहा जहाँसे प्रधानतया भारतमें माल आता है। ब्रिटिश साम्राज्यको निर्यात मालका सैकड़े पीछे ४१·९ अंश न जाकर संवत् १९७८ में ३७·३ ही गया, इसमेंसे ब्रिटिश संयुक्त-राज्यको सैकड़े पीछे २५·१ के स्थानमें १९·७ ही माल गया। साम्राज्यके बाहरके देशोंमें जापान तथा अमेरिका सबसे आगे रहे, इसके बाद जर्मनीका नम्बर रहा।

तात्पर्य यह है कि जिन जिन देशोंसे भारतमें विदेशी माल आता है उनमें ब्रिटिश संयुक्त राज्यका स्थान स्पष्ट ही पहिला है। अन्य किसी एक देशकी अपेक्षा वह भारतके निर्यात मालका भी अधिक भाग लेता है, हाँ इतना ज़रूर है कि अब यह अनुपात कम हो रहा है। भारतके विदेशी व्यापारकी दृष्टिसे इसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान-का स्थान है, साथ ही आयात-व्यापारमें जावासे और निर्यात-व्यापारमें जर्मनीसे भी हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

["आर्थिक कमीशन" की रिपोर्टसे अनूदित]

खानोंके प्रधान निरीक्षक (चीफ इन्सपेक्टर आफ माइन्स) के विवरणसे मालूम होता है कि संवत् १९७८ में कुल १,८३,५८,९३४ टन कोयला खोदा गया। उक्त वर्षमें दैनिक मज़दूरोंकी औसत संख्या २,४९,६६३ थी। इनमें १,४९,१६६ पुरुष, ९१,९४९ स्त्रियां, तथा ८,५४८ बारह वर्षसे कम उमरके बच्चे थे। कोयलेकी खानोंमें काम करनेवालोंकी संख्या १,९०,६४७ थी। प्रत्येक श्रमजीवी द्वारा खुदा हुआ कोयला जहां पहले वर्षोंमें ९४·३७ अथवा १११·०५ टन होता था वहां इस वर्ष केवल ९३·९८ टन रहा।

[कार्त्तिकके सामायिक संग्रहमें दिये गये अंक देखिये—सं०]

कौटिल्यकी राज्य-शासन-व्यवस्था।

राजा और अमात्य

(१)

कौटिल्यके ग्रंथका सामान्य स्वरूप जान लेनेपर अब हम उसके विचारोंका दिग्दर्शन कर सकते हैं। सर्वप्रथम कौटिल्यने सब शास्त्रोंके चार वर्ग-भेद किये हैं। वे ये हैं (१) आन्वीक्षकी (२) त्रयी (३) वार्ता और (४) दण्डनीति। सांख्य, योग और लोकायत† मिलकर आन्वीक्षकी होती है। त्रयी * (तीनवेदों) से धर्म और अधर्म-का ज्ञान होता है। 'अर्थ' क्या है और 'अनर्थ' क्या है, यानी सम्पत्ति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त होती है, इसका ज्ञान वार्तासे होता है। वैश्यके धंधे 'कृषि गोरक्षा-वाणिज्य' इसमें शामिल हैं। 'नय' किसे कहते हैं और 'अनय' किसे कहते हैं, 'बल' किसे कहते हैं और 'अबल' किसे कहते हैं इस बातका ज्ञान दण्डनीतिसे होता है।

आगे चलकर कौटिल्यने इन चार विद्याओंके उद्देशोंका विचार किया है। प्रथम तीन विद्याओंसे हमें कुछ विशेष वास्ता नहीं है। दण्डनीतिके सम्बन्धमें उसने कहा है कि आन्वीक्षकी त्रयी और वार्ताके उद्देशोंकी पूर्तिके लिये 'दण्ड' अत्यन्त आवश्यक है। और दण्डके उपयोगके नियमोंका जिसमें विवेचन रहता है, वह दण्डनीति है। इससे स्पष्ट है कि समाज और व्यक्तिकी ऐहिक और पारलौकिक उन्नतिके लिये 'दण्ड' की अत्यन्त आवश्यकता है। वह कहता है, "उचित विचारके बाद दण्ड दिया जाय तो लोग धर्म, अर्थ और काममें प्रवृत्त होते हैं"। उसने अपने आचार्यका भी मत दिया है कि "जिस किसीको संसारकी उन्नति वाञ्छनीय है, उसे चाहिये कि वह 'दण्ड' को सदैव 'उठाये' रखे। लोगोंको वशमें लानेके लिये 'दण्ड' से दूसरा अच्छा साधन नहीं।" फिर आगे कौटिल्यने कहा है, "दण्डके नियमोंका जब उपयोग नहीं होता, तब लोगों-में 'मत्स्यन्याय' जोर पकड़ता है। क्योंकि दण्डधारीके बिना सबल निर्बलको खा जाते हैं, परन्तु उसका जोर मिलनेपर निर्बल सबलका सामना कर सकते हैं।" यह स्पष्ट ही है कि यदि दण्डका भय न रहे तो समुद्रमें जिस प्रकार बड़ी मछलियां छोटी मछलियोंको खा जाती हैं, उसी प्रकार सबल लोग निर्बलोंकी दुर्दशा करेंगे।

'दण्डनीति' या, आजकलके शब्दमें, 'राज्य-विज्ञान'का विचार करनेसे पहले इस

---

† शामशास्त्री जीने इस शब्दका संभवनीय अर्थ नास्तिकवाद दिया है।

* त्रयीसे ऋक्, साम और यजुः, इन्हीं तीन वेदोंका, इस ग्रंथमें, उल्लेख है। जान पड़ता है कि इस समय तक अथर्ववेदको वह मान न मिला था जो और तीन वेदोंको मिला था।

शास्त्रके उद्देशोंका जो विचार किया है, वह बहुत स्वाभाविक है। अरस्तूका नामोल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। इसने तो सबसे प्रथम 'राज्य' के उद्देशका ही विचार किया है। वह कहता है, "राज्य लोगोंका एक प्रकारका समाज है, और प्रत्येक समाज कुछ हित-साधनके लिये बनता है क्योंकि प्रत्येक कार्यका उद्देश कुछ हित-साधन ही रहता है। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक समाजका उद्देश कुछ हित-साधन ही होता है। 'राज्य यानी राजकीय समाज' सबसे श्रेष्ठ समाज है और उसमें बाकी सब समाज शामिल हैं, इसलिये 'राज्य' का उद्देश सबसे श्रेष्ठ हितका साधन होना चाहिये।" इसी विषयका एक और स्थानमें उसने विचार किया है। वह कहता है, "राज्य यद्यपि (पहले पहल) मनुष्य-जीवनकी सम्भावनाके लिये बना, तथापि वह मनुष्यजीवनको श्रेष्ठ बनानेके लिये ही (अबतक) बना हुआ है ....राज्यमें ही सब तरहके समाज पूर्णत: विकसित होते हैं।" इसी विचारको आगे बढ़ाकर उसने कहा है कि राज्य एक स्वाभाविक समाज है और मनुष्य स्वभावत: राजकीय प्राणी है।'

इसी प्रकार आधुनिक राज्यविज्ञानी भी राज्यके उद्देशोंका विचार करते हैं। हाब्स जैसे विवेचकोंने तो स्पष्ट कहा है कि मनुष्यके मनोविकासोंके कारण ही राज्यकी आवश्यकता हुई। बिलकुल आधुनिक राज्यविज्ञानी राज्यकी उत्पत्ति स्वाभाविक मानते हैं। तथापि वे राज्यके उद्देशोंका विचार करते समय यही कहते हैं कि समाज और व्यक्तिका सर्वदृष्टिसे विकास होना ही उसका ध्येय होना चाहिये। एक रीतिसे देखा जाय तो कौटिल्यके विवेचनमें ये दोनों तत्व भी रखे देख पड़ेंगे। राज्यके बिना मनुष्य-जीवनकी सम्भावना ही नहीं है। मनुष्य जीवन है तो राज्य भी है, यानी मनुष्यके साथ साथ उसकी भी उत्पति स्वाभाविक है। और 'धर्म, अर्थ और काम' का साधन उसका अन्तिम उद्देश है। हिन्दूलोग जानते हैं कि 'धर्म, अर्थ और काम' में समस्त ऐहिक और बहुतेरी पारलौकिक इच्छाओंका समावेश होता है। यह बात ध्यानमें रखने लायक है कि केवल 'अर्थ और काम' ही उसके उद्देश नहीं, 'धर्म' भी उसके उद्देशोंमें शामिल है। आजकलके विवेचनमें कई लोग 'अर्थ और काम' को ही सब कुछ समझते हैं, 'धर्म' को बहुधा वे कोई स्थान नहीं देते। यदि देते भी हैं तो उसका विचार नैतिक विकासकी दृष्टिसे करते हैं। परन्तु इस भेदसे हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये। कौटिल्य हिन्दू है, इस कारण वह हिन्दुओंके आदर्शोंको भूल नहीं सकता। प्रत्येक लेखकके विचारोंपर देश और कालकी गहरी छाया पड़ी रहती है।

दण्डनीतिके उद्देशोंका विचार करनेपर कौटिल्यने राजाके सम्बन्धमें विचार किया है। हम पहिले ही कह चुके हैं कि इस लेखकने राज्य या राज्यशासनके स्वरूपका शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है। 'स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद (भूमि), दुर्ग, कोश दण्ड (सेना) और मित्र ये राज्यकी सात प्रकृतियां यानी अंग हैं अर्थात् ये सात अंग राज्यके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। उसने यह मान ही लिया है कि राज्यका सर्वोच्चशासक राजा होना चाहिये और सब मंत्री या सचिव या दूसरे अधिकारी उसके नौकर होने चाहिये। उसने यह भी मान लिया है कि जिस समाजका विचार हो रहा है, वहां चतुर्वर्ण और चतुराश्रमव्यवस्था

पहलेसे बनी है और वह बनी रहनी चाहिये। उसका सारा विवेचन इसी बुनियादपर रचा गया है। "ब्राह्मणका धर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह (दानका स्वीकार) है। क्षत्रियका धर्म अध्ययन, यजन, दान, शस्त्राजीव (सैनिक जीवन) और भूतरक्षण है। वैश्यका धर्म अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य है। शूद्रका धर्म द्विजातिशुश्रूषा (यानी पहली तीन जातियोंकी सेवा), कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, कारीगरी और राज्यदरबारके भाटका धंधा है। अपने ही 'धर्म' के अनुसार जीविका कमाना, भिन्न भिन्न प्राचीन ऋषियोंकी अपने समान सन्ततिसे विवाह करना, मासिक धर्मके बाद अपनी पत्नीसे समागम करना, देव-पितर-अतिथि-भृत्योंको 'त्याग' यानी द्रव्यके दान द्वारा संतुष्ट करना, और बचा हुआ खाना, ये गृहस्थके कर्म हैं। वेदाध्ययन, अग्निकार्य (हवन), अभिषेक (पूजा), भिक्षाव्रत, गुरु या गुरुके अभावमें उसके पुत्र या अपनेसे बड़े ब्रह्मचारीके लिये आवश्यकता पड़नेपर प्राणतक दे देनेकी भक्ति, ब्रह्मचारीके कर्म हैं। वानप्रस्थका कर्म है कि वह ब्रह्मचर्यसे रहे, भूमिपर सोवे, जटा धारण करे, हरिणचर्म पहने, अग्निहोत्र और अभिषेक करे, देवता-पितर-अतिथिकी पूजा करे, और वन्य भोजन खावे। परिव्राजक (संन्यासी) का कर्म है कि अपनी इन्द्रियोंको वह पूर्णतः वशमें रखे, कोई नये नये काम न करे, अपने पास द्रव्य न रखे, निःसंग रहे, कई स्थानोंमें भिक्षा माँगा करे, अरण्यमें रहे और भीतर-बाहर शुचि रहे। अहिंसा, सत्य, शुचिता, असूयाहीनता, अक्रूरता, और क्षमा सब ही लोगोंके कर्त्तव्य हैं। स्वधर्मसे मनुष्य स्वर्ग और परम दशा (अनन्त्य) को प्राप्त करता है। स्वधर्मके उल्लंघनसे और जातिसंकर (और धर्मकी गड़बड़) से संसार नष्ट हो जावेगा। इसलिये राजा अपने लोगोंको अपने धर्मसे च्युत न होने दे। क्योंकि जो कोई आर्योंकी परम्पराके अनुसार अपना कर्म करता रहेगा और जाति और आश्रमके नियमोंका पालन करेगा, वह इस लोकमें और परलोकमें निश्चयपूर्वक सुखी होगा। क्योंकि त्रयी (यानी ऋक्-साम-यजुः तीनों वेदों) के अनुसार लोक (यानी संसार) की रक्षा करनेसे संसार रहेगा, और नष्ट न होगा।"

इस लम्बे अवतरणसे हमारे कथनकी सत्यता पूरी पूरी जँच जावेगी। इतना ही नहीं, ऊपरके अवतरणके अन्तिम वाक्यसे यह भी देख पड़ेगा कि कौटिल्यका मत था कि वर्णाश्रम-व्यवस्था वेदकालसे चली आती है, यानी वह अनादि कालसे है और अनन्त कालतक बनी रहनी चाहिये। आगे चलकर इससे यह अनुमान निकल सकता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था-हीन समाजकी कल्पना कौटिल्य न कर सकता था। इस दृष्टिसे कौटिल्यका विचारक्षेत्र बड़ा ही संकुचित देख पड़ता है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि कोई भी समाज-व्यवस्था अनादि और अनन्त नहीं हो सकती—उसका प्रारम्भ है और अन्त भी है।

राज्यशासनके स्वरूपका प्रश्न उपस्थित ही न होनेके कारण उसने केवल राजाके विषयमें विचार किया है। उसने कहा है कि 'दण्ड' 'विनय' पर अवलम्बित है। 'विनय' (शिष्टि या अनुशासन) दो प्रकारका है, एक कृत्रिम और दूसरा स्वाभाविक।......जिनमें शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण (समझ), धारणा (स्मरण शक्ति), विज्ञान (उचितानुचित

समझनेकी शक्ति), अनुमान और विचार आदि गुण हैं, उनको ही विद्यासे लाभ हो सकता है दूसरोंको नहीं। इसलिये आचार्योंसे राजपुत्रको विद्या पढ़नी चाहिये और उनके नियमोंका पूर्णतः पालन करना चाहिये।......(वह) शिष्टोंसे त्रयी और आन्वीक्षकी पढ़े, (नाना विभागोंके) अध्यक्षोंसे वार्ता पढ़े और वक्तृ-प्रयोक्तृ पुरुषोंसे (सिद्धान्त और व्यवहार जानने वालोंसे) दण्डनीति पढ़े। सोलह वर्षतक राजपुत्र ब्रह्मचर्यसे रहे, फिर गोदान करनेपर विवाह करे। फिर कौटिल्यने बतलाया है कि वह विद्या और विनयसे परिपूर्ण वृद्ध लोगोंके साथ रहा करे ताकि उसमें भी इन गुणोंका विकास हो। विद्या और विनयकी प्राप्तिके लिये उसने राजपुत्रके लिये दिनचर्या भी बतलाय है। उसमें राजाको आवश्यक सब विद्याकला और अन्य गुणोंका समावेश है। सारांशमें हम बतला देते हैं कि राजा, हाथी, घोड़े रथ, और शस्त्रकी विद्या,तथा इतिहास*, आदि पढ़े और आत्मसंयमन करे। इनके विना कोई भी अच्छा राजा नहीं हो सकता। उसने राजाके आत्मसंयमनपर बड़ा ज़ोर दिया है और इसके लिये अनेक उदाहरण भी दिये हैं। सारांशमें हम उसका मत उसके एक श्लोकमें बतला देते हैं :—

विद्याविनीतो राजाहि प्रजानाम् विनये रत: ।
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रत: ॥

फिर उसने अमात्योंका विचार किया है। अमात्योंकी आवश्यकता बतलाते हुए उसने कहा है कि—

सहाय साध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते ।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ॥

"राजत्व सहायताके बिना नहीं चल सकता। (क्योंकि) अकेला चक्र चल नहीं सकता। इसलिये सचिव रखने चाहिये और उनका कहना सुनना चाहिये।" फिर प्रश्न उपस्थित होता है, अमात्य किस प्रकारके चाहिये ? अनेक आचार्योंका मत देनेपर उसने बाहुदन्तीका मत दिया है। 'उच्चकुलोत्पन्न, प्रज्ञावान्, शुचि, शूर और अनुरागयुक्त (स्वामिभक्त और स्वदेशभक्त) पुरुषोंको राजा अमात्य बनावे। अमात्यपद गुणप्राधान्य यानी योग्यताके अनुसार देना चाहिये'। इसपर कौटिल्य कहता है कि "यही ठीक है, क्योंकि कार्यसामर्थ्य (काम करनेकी योग्यता) पुरुषसामर्थ्य (पुरुषकी योग्यता) पर अवलम्बित है। उनके अधिकार-क्षेत्रका विभाजन करके और देश, काल और कार्यका विचार रखकर ऐसे (यानी अभी बतलाये गुणोंसे युक्त) पुरुषोंकी अमात्यपदपर योजना करनी चाहिये, मन्त्रिपदपर नहीं'। इस वाक्यका अन्तिम चरण ध्यानमें रखने लायक है। उसने 'अमात्य' और 'मन्त्री'में भेद किया है और यह भेद वैसा ही है जैसा मिनिस्टर और कौन्सिलरके वास्तविक अर्थमें है। मिनिस्टर और अमात्य वास्तवमें कर्मचारी हैं। कौन्सिलर और मन्त्री

*इतिहासमें पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र शामिल हैं।

वास्तवमें मन्त्र यानी सलाह देने वाले पुरुष हैं। आजकल अंग्रेजीके मिनिस्टर और कौन्सिलर-में कोई भेद नहीं रहगया है। इंग्लैण्डके राज्यशासनमें सब सर्वोच्चपदाधिकारी मिनिस्टर ही कहलाते हैं। परन्तु यदि सूक्ष्म रीतिसे देखा जाय तो उनमेंसे कुछ तो नाममात्रके लिये मिनिस्टर यानी कर्मचारी हैं, वास्तवमें वे कौन्सिलर यानी मन्त्री हैं, वे केवल सलाह देते हैं और उनकी सलाहके अनुसार काम होता है। प्रधान मन्त्री अंग्रेजीमें लौकिक रीतिसे प्रीमियर या प्राइम मिनिस्टर कहलाता है, प्राइम कौन्सिलर नहीं। परन्तु कार्य वास्तवमें 'प्राइम कौन्सिलर' यानी प्रधान मन्त्रीका करता है। उसकी ही सलाहसे राज्यके बहुधा सब काम चलते हैं, वही राज्यकी नीतिका 'सिरजनहारा' होता है। हां नाममात्रके लिये कायदेकी दृष्टिसे वह बहुधा 'खजानेका प्रथम प्रधान (फर्स्ट लार्ड आफ दि ट्रेजरी) होता है, परन्तु सारा कार्य दूसरे ही सचिव करते हैं। सलाह देनेका, नीति निश्चित करनेका, राज्य शासनकी साधारण देखरेख करनेका काम बड़े राज्योंमें इतना अधिक रहता है कि अमात्य और मन्त्री-में कौटिल्यने जो भेद किया है उसकी आवश्यकता वास्तवमें उत्पन्न होती है। ऊपर दिया गया इंग्लैण्डका उदाहरण इस बातका साक्ष्य देता है। पहले पहल इंग्लैण्डमें मन्त्री यानी कौन्सिलर (सलाहदेनेवाले) दीख पड़ते थे, परन्तु वे कर्मचारी नामको न थे। धीरे धीरे सलाह देने वाले एक ओर रहगये और कर्मचारी सलाहका भी काम करने लगे। अभी तक किसी न किसी रूपमें बनी हुई प्रिवी कौन्सिल इस बातका उदाहरण है। फिर इन नये सचिवोंका काम इतना बढ़गया कि वे अपना काम तो न करसके, केवल सलाह मसलहत देसके, और इस कारण इंग्लैण्डमें आज कल बहुतसे मिनिस्टर (सचिव या अमात्य) वास्तवमें मन्त्रीका (सलाह देनेका) काम करते हैं। वे नाम मात्रके कर्मचारी हैं, परन्तु वास्तवमें कौटिल्यके अर्थसे मन्त्री हैं। सारांश, प्रत्येक राज्यमें सब कर्मचारियोंके ऊपर मंत्रियोंके रहनेकी आवश्यकता है। कौटिल्य इस बातमें आधुनिक राजकारण और राज्यविज्ञानसे आगे बढ़ा देख पड़ता है। यदि अमात्य और मंत्रीमें भेद है तो प्रश्न यह है, मंत्री किस प्रकारका होना चाहिये? मंत्रीके गुण बतलाते हुए उसने एक भूल कर डाली है, मंत्रीके स्थानमें 'अमात्य' शब्द-का उपयोग किया है। परन्तु अध्यायके नाम देखकर और अमात्य और मंत्रीके भेदको ध्यानमें रखते हुए यही कहना पड़ता है कि उसने अबकी बार मंत्रीके, न कि अमात्यके, गुण बतलाये हैं। मंत्री "स्वदेशजन्मा (यानी उसी राज्यमें जन्म पाया हुआ) उच्चकुलोत्पन्न, आत्मसंयमी, अनेक कलाओंमें निपुण, दूरदर्शी, प्रज्ञावान, स्मरण शक्तिमान, दक्ष, अच्छा वक्ता, प्रगल्भ, बुद्धिमान, उत्साहप्रभावयुक्त, क्लेश सहनेवाला, सच्चरित्र, मिलनसार, स्वामिभक्त, शील-बल-आरोग्य-शौर्ययुक्त, दीर्घसूत्रताके दोषसे दूर, बिना चञ्चल मनका, सबको प्रिय और बैरी उत्पन्न न करनेवाला" होना चाहिये। गुणोंकी सूची देखनेसे भी यही प्रतीत होता है कि मंत्री अमात्यसे अधिक उच्च अधिकारी है और उसका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। मंत्री कितने रहें, इसके विषयमें स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है। कौटिल्यने अनेकोंके अनेक मत देनेपर अपना यह मत दिया है कि राज्यमें जितने मंत्रियोंकी आवश्यकता रहे उतने मंत्री रहें। फिर दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है, इन मंत्रियोंसे अलग अलग सलाह की जाय या एकत्र सलाह की जाय। इस

विषयमें भी उसने अनेक मत उद्धृत किये हैं और अन्तमें बतलाया है कि न तो अकेले मंत्रीसे मंत्र करना चाहिये, न सारे मंत्रियोंसे ही — तीन या चार मंत्रियोंसे सलाह करना अच्छा होता है। इसके अनेक लाभ बतलाये हैं; एक ही मंत्रीसे सलाह लेनेसे केवल उसीकी सलाह मिलेगी और वह अपना ही मत लादनेका प्रयत्न करेगा। दो मंत्री शायद आपसमें मिलजावें यह डर रहता है। इसलिये तीन या चार मंत्रियोंसे उचित सलाह मिलनेकी संभावना है। अनेक मंत्रियोंसे मंत्र करनेसे उस मंत्रके गुप्त रहनेकी संभावना कम रहती है और 'अन्य लक्षित-कार्यस्य यतः सिद्धिर्न जायते' बात दूसरोंपर प्रगट होनेसे उसकी सिद्धि नहीं होती। परन्तु कौटिल्य इस बातको भी मानता है कि राजा (कभी कभी) अकेले मंत्रियोंसे उनके मत पूछे और उनके मतके कारण जाननेका प्रयत्न करे। केवल तीन चार मंत्रियोंसे सलाह करनेका एक भारी कारण और है। अधिक लोगोंके बीच किसी विषयका निर्णय जल्द नहीं होता, निष्कारण समय जाता है। थोड़े लोगोंमें यह बात जल्द सिद्ध होती है। हिन्दुस्थानियोंको यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि धर्मकी रक्षा राज्यका ही काम था और इस विषयमें सलाह देनेके लिये एक राजपुरोहित रहता था। परन्तु यह कर्मचारी था, वास्तवमें, मंत्री इसी देशमें नहीं, प्रत्युत सारे प्राचीन देशोंमें रहा है और कई देशोंमें अबतक धर्म-विभाग राज्यशासनका एक भाग है। यहांतक कि हिन्दू मुसलमानोंके हिन्दुस्थानमें अंग्रेजी अमलमें ख्रीष्टधर्मीय विभाग (एक्लीजिएस्टिकल डिपार्टमेण्ट) अबतक बना है!

अमात्य कर्मचारी तो थे अवश्य, परन्तु बहुधा प्रत्येक विभागका मुख्य कर्मचारी 'अध्यक्ष' कहलाता था। इनको आजकलकी भाषामें सुपरिण्टेण्डेण्ट या डायरक्टर या इन्स्पेक्टर जेनरल कह सकते हैं। श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्यकृत और श्रीमाधवराव सप्रे द्वारा अनूदित महाभारत-मीमांसाके देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्री, अमात्य और अध्यक्षकी परम्परा बहुत प्राचीन थी, क्योंकि वह महाभारतमें भी देख पड़ती है। फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि अमात्योंका स्पष्ट भेद कहीं नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि शास्त्रीय रीतिसे मंत्री और अमात्यमें भेद रहते हुए भी व्यवहारमें यह भेद बहुत कम माना जाता था। कभी कभी जिन्हें वास्तवमें 'अध्यक्ष' कहना चाहिये, वे व्यवहारमें अमात्य कहलाते रहे होंगे और सूक्ष्म रीतिसे देखा जाय तो दो ही भेद उत्पन्न होते हैं, तीसरा नहीं। एक तरहके पुरुष मंत्री कहला सकते हैं तो दूसरी तरहके अध्यक्ष या मुख्य कर्मचारी। अमात्य वाला भेद नहीं देख पड़ता। हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि केवल कौटिल्यके 'अर्थशास्त्र' के सहारे इस बातपर स्पष्ट सम्मति देना या अधिक लिखना संभव नहीं है। हां, जैसा अभी बतला चुके हैं, अध्यक्ष बहुधा प्रत्येक विभाग-का सर्वोच्च कर्मचारी था। कौटिल्यने शासन-कार्योंके इतने भेद किये हैं कि कुछ कह नहीं सकते। प्रत्येक कार्यका एक अलग विभाग 'बनाया' गया है और उसका एक स्वतंत्र 'अध्यक्ष' है। आजकल हिन्दुस्थानमें अनेक विभाग एक मंत्रीके हाथमें रखनेकी प्रथा है। इंग्लैण्ड-में यद्यपि अनेक मंत्री हैं और वे बहुधा एक एक विभागके मुखिया या 'अध्यक्ष' हैं तौभी उन सबपर, पहले बतलाये अनुसार कुछ ऐसे मंत्री हैं जो वास्तवमें केवल मंत्र यानी

सलाह देनेका काम करते हैं । कौटिल्यके बतलाये विभागोंका वर्गीकरण हो सकता था और राज्यशासनके कार्योंका उत्तरदायित्व आधुनिक रीतिके अनुसार बांटा जा सकता था—मंत्री या अमात्य इन विभागोंकी नीतिके लिये उत्तरदायी बनाये जा सकते थे। परन्तु यह बात कौटिल्यके विवेचनमें नहीं देख पड़ती, तथापि व्यवहारमें ऐसी योजना माये विना न रही होगी । क्योंकि राज्य प्राचीन रहें या अर्वाचीन रहें, सारे राज्यकी नीति एक सी रहनेके लिये, राज्यके एक विभागका दूसरे विभागसे विरोध न होने पावे इसके लिये, कुछ मुख्य मुख्य मंत्रियोंके एक मण्डलकी और उनपर एक सर्वप्रधान मंत्रीकी अत्यन्त आवश्यकता है । कौटिल्यने सब अध्यक्षोंको भले ही अलग अलग कर दिया हो पर राज्यकी नीति निश्चत करते समय मुख्य मंत्रियोंका अधिकार उनपर चले सिवा न रहा होगा। कौटिल्यके बताये विभागोंका वर्गीकरण किया जाय और आजकलकी भाषाका उपयोग किया जाय तो कुछको राजकीय, कुछको साम्पत्तिक, कुछको लोकरक्षा सम्बन्धी, कुछको विलास-सामग्री सम्बन्धी, कुछको जनसुविधा सम्बन्धी तो कुछको लोकाधिकार-रक्षा सम्बन्धी कह सकते हैं । इनमेंसे बहुतेरोंके नाम हम गत लेखमें बतला चुके हैं, इसलिये हम उनकी अब पुनरुक्ति नहीं करना चाहते ।

हिन्दुस्थानके प्राचीन राज्यप्रबन्धमें गुप्तचरोंकी आवश्यकता खुल्लमखुल्ला मानते थे। अब भी प्रत्येक देशमें लाखों गुप्तचर हैं, परन्तु राज्यप्रबन्धके विवेचनमें लोग उनका उल्लेख नहीं करते. व्यवहारका प्रश्न समझ उसे छोड़ देते हैं । गुप्तचरोंका महत्व कई लोगोंको 'मुद्राराक्षस' के पढ़नेसे ही ज्ञात हो गया होगा। वे राजाकी 'परोक्ष दृष्टि' ही थे। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि कौटिल्यने गुप्तचरोंके गुण और कर्म दो बड़े बड़े अध्यायोंमें बतलाये हैं । यह वास्तवमें व्यवहारका प्रश्न होनेके कारण यहां उनके गुणों और कर्मोंकी सुची देना हम उचित नहीं समझते । गुप्तचरोंके समान ही राजदूतोंकी आवश्यकता बतलायी है । मंत्रियों और गुप्तचरोंसे राजदूतोंका कार्य कम महत्त्वका नहीं। इसलिये 'जिसने मंत्रीका कार्य सफलतापूर्वक किया वही दूत बनाया जाय।' आजकलके राजदूत और उस समयके राजदूतोंके उद्देश, सिद्धांत और व्यवहार एक समानही देख पड़ते हैं । अपने राज्यके हितोंकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन कार्य है, और यह राजदूतोंको परराज्यमें करना होता है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें अनेक प्रकारकी विद्यायें आनी चाहिये, अनेक कलाओंमें उन्हें निपुण रहना चाहिये, नाना प्रकारके गुप्तसंकेत जानने चाहिये, सदैव सावधान रहना चाहिये और सब प्रलोभनोंसे बचना चाहिये । परराज्यकी एक एक बात जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये सफल मन्त्री ही अच्छे राजदूत हो सकते हैं।

गोपाल दामोदर तामस्कर ।

बम्बईमें मजदूर-संघ ।

विलायतमें नया चुनाव हो गया, नयी पार्लमेंट बैठी । इसबार कनसरवेटिवों (अनुदार दलवालों) के बाद मजदूरदलका ही नम्बर रहा । कुछ दिनों पहले इसकी आशा नहीं की जा सकती थी। पर अब तो उमीद की जा सकती है कि एक दिन मजदूरदलवाले भी शासन करेंगे, मन्त्रिमण्डल गढ़ेंगे और ब्रिटिश साम्राज्यशासन की बागडोर अपने हाथ रखेंगे । यह क्योंकर सम्भव हुआ ? मजदूरोंके संगठनके कारण, उनकी संघ-शक्तिके सहारे । भारतवर्ष भी स्वराज्य चाहता है, यहां भी लोकसत्ताकी पुकार हो रही है । पर इसकी आवाज कौन लगाते हैं ? अगर ध्यान देकर देखिये तो सबके सब नेता ऊंची श्रेणीके ही मिलेंगे । अभी अभी तक कांग्रेसमें गरीबोंको पूछता ही कौन था ? जबसे महात्मा गांधीका आंदोलन शुरू हुआ है तबसे अलबत्ता विचारशैलीमें परिवर्त्तन होने लगा है, नेताओंने गांवोंका दौरा शुरू किया है, गरीब किसानोंको कांग्रेसमें जगह मिलने लगी है ।

पर फिर भी यह सच है कि अभी श्रमजीवियोंके सुधार एवं संगठनकी पूरी कोशिश नहीं हुई है, राजनीतिक नेताओंको उधर जानेकी फुरसत ही नहीं मिली । लाला लाजपतराय, श्री जोसेफ बापटिस्टा, श्री चम्मनलाल जैसे कुछ नेताओंको छोड़ दूसरे लोग काम करते नजर नहीं आते । त्यागमूर्त्ति पण्डित मोतीलालजी नेहरू कहते हैं कि श्रमजीवी देशकी जान हैं; देशबन्धुदासका कहना है जिस स्वराज्यसे सर्व-साधारणको स्वराज्य न मिला वह स्वराज्य ही किस कामका ? यह कम सौभाग्यकी बात नहीं है कि देशके इन दो बड़े नेताओंका ध्यान इस ओर गया । सुना है कांग्रेस कमिटीमें प्रस्ताव पेश है कि मजदूरोंके संगठनके लिये कांग्रेस फंडसे रुपया दिया जाय। इस कामकी बड़ी जरूरत थी; अभीतक जो नेताओंका ध्यान न गया था वह अन्याय ही था।

आजतक मजदूर संघटनका कार्य कहांतक सफल हुआ है इसका यहां संक्षेपसे उल्लेख करूंगा । हिन्दुस्तानभरमें बम्बई प्रान्त ही कारोबारमें बढ़ा चढ़ा है, वहां देशी कल-कारखानोंकी संख्या अधिक है । यहींसे ' ट्रेड यूनियन कांग्रेस 'का काम जारी हुआ और आजकल भी यहीं इसका सदर है । यों तो सबसे पहला ट्रेड यूनियन (मजदूर-संघ) श्री० वी० पी० वाडियाकी अध्यक्षतामें मद्रासमें कायम हुआ था, पर वास्तवमें इस आंदोलनने जोर पकड़ा बम्बईमें जाकर ।

हमलोग ' आरम्भशूर ' कहे जाते हैं; जिस जोशसे काम शुरू करते हैं उसे निबाहना कठिन हो जाता है । यहां भी वही हुआ है । जब जोशमें आकर लोग हड़ताल बोल देते हैं तब तो उनके मनसूबे खूब ऊंचे रहते हैं, कहते हैं कि संघ स्थापित करेंगे, उसे चलायंगे और भविष्यमें कोई भी काम इसके बिना न करेंगे । पर हड़ताल खतम हुई और साथ ही संघका भी खातमा हो गया । इस सालके आरम्भमें जब बम्बईमें

बम्बईमें मजदूर-संघ ।

'हड़तालनिवारिणी' कमिटी बैठ रही थी उस समय वहां कुल ७७ संघ थे जिनके मेम्बरोंकी संख्या एक लाख नौ हजारसे भी ज्यादा थी। पर कुछ दिनोंके बाद ही गत जूनमें, कुल ३२ संघ और ५८ हजार मेम्बर रह गये। गत सितम्बरमें तो और भी कमी हुई,—मेम्बरोंकी संख्या ५३ हजारसे भी कम थी। हां इनमें सिर्फ वैसे मेम्बरोंकी ही गिनती हुई है जो बराबर चन्दा देते हैं, नाम लिखवाकर मेम्बर बनने वाले पृथक् कर दिये गये हैं।

खास बम्बईमें पांच प्रधान संघ हैं (१) हिन्दुस्तानी लश्करोंका संघ, (२) ट्रामवालोंका संघ (३) पोर्ट ट्रस्ट वालोंका संघ तथा (४), बी० बी० सी० आई और (५) जी० आई० पी० रेलवालोंके संघ। इन सबमें लश्करोंकी संस्था ही अधिक महत्त्वकी है, इसके सदस्य भी अधिक हैं तथा आय भी ज्यादा है। इसके संचालक हैं श्रमजीवियोंके सहायक श्रीजोसेफ बापटिस्टा। रेलवालोंके अध्यक्ष हैं, हिन्दी पाठकोंके परिचित राय साहब पंडित चन्द्रिका प्रसाद अजमेरवाले। अन्य अन्य सहायकोंमें श्री झाबवाला, श्री जिनवाला, श्री चम्मनलाल, श्री तैरसी, श्री डालभी विशेष उल्लेख योग्य हैं। इन संघोंके अलावा बम्बईमें कई परोपकारिणी संस्थाएँ भी हैं जो श्रमजीवियोंकी उन्नति करनेके लिये खोली गयी हैं। इनमें प्रेसिडेन्सी पोस्टल असोशियेशन, पोस्टल क्लर्क्स क्लब, कामगर हितवर्धक सभा, गिरनीकामगर संघ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्हें मजदूरसंघ (ट्रेड यूनियन) नहीं कह सकते। बम्बईमें एक बात बड़े मार्केकी है। खास बम्बई शहरके आस पास कितनी ही कपड़ेकी मिलें हैं जिनमें हजारों कुली काम करते हैं, पर उन लोगोंका एक भी संघ नहीं है।

बम्बईमें जितने संघ हैं वे या तो 'सेंट्रल लेबर बोर्ड, या 'सेंट्रल लेबर फिडरेशन'से संलग्न हैं पिछली संस्था ट्रेड यूनियन कांग्रेसके मातहत काम करती है। औरतोंका भी एक संघ स्थापित हुआ था पर न चल सका। बम्बई हातेके अहमदाबादमें संघोंका कार्य बड़ी खूबीसे चल रहा है। वहां चन्देका रुपया बराबर वसूल किया जाता है, वहांके संघोंमें ज़ोर भी है। आशा की जाती है कि थोड़े ही दिनोंमें अहमदाबादकी मिलोंमें काम करनेवाले सब लोग संघमें शामिल हो जायंगे, बाहरका एक भी आदमी काम न करने पावेगा। अहमदाबादमें जितने संघ हैं वे सब 'मजदूरमहाजन' नामकी केन्द्रीय संस्थाके अधीन हैं। श्रीमती अनुसुया साराबाईके संचालनमें वहांका काम होता है। अहमदाबादके अलावा करांची, और सक्करके रेलवालों तथा शोलापुरके काटन मिलवालोंका संघ उल्लेख योग्य है।

बम्बईके संघकी हालत पर दृष्टि डालनेसे यह बात स्पष्ट होजाती है कि मजदूरोंने संगठनका महत्त्व अबतक नहीं समझा। महत्त्व बतलानेके लिये तथा कार्य संचालनके लिये बाहरकी सहायता चाहिये, पर बाहरी आदमियोंका हाथ लगाना मालकोंको अखरता है, वे चिढ़ कर मजदूरोंका अनिष्ट कर बैठते हैं। फिर भी अब तक मजदूर संघको सुरक्षित करने, उन्हें हड़ताल बोलकर अपनी दशा सुधारनेके लिये मालिकोंको बाध्य करनेका हक नहीं मिला है। जब तक यह कानून नहीं बन जाता मजदूर संघोंका प्रसार नहीं होता दिखता।

'अर्थशास्त्री'

कृषि, शिल्प और वाणिज्य।

प्राचीन भारतमें लोहेकी कारीगरी।

अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि किसी समयमें, उत्तम लोहा और इस्पात तैयार करनेके कारण भिन्न भिन्न धातुओंका प्रयोग करनेवाले देशोंमें भारतको ऊँचा स्थान प्राप्त था। यहांके इस्पातने शेफील्डके व्यापारियोंका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित किया था। उमदा इस्पात तैयार करनेमें वे लोग हमारे बहुत बाद हालमें ही सफल हुए हैं। दिल्लीके निकट एक लोहस्तंभ है जो अनुमानत: १५०० वर्ष पुराना है इसे देखनेसे भारतीयोंकी लोहा तैयार करनेकी कुशलता और ढालुआ लोहा बनानेकी ऊंचे दर्जेकी कारीगरी साफ साफ प्रकट हो जाती है। भूगर्भान्वेषण-विभागके एक अफसर श्री वालने इस बातको कबूल किया है कि कुछ ही वर्षों पूर्व तक संसारके सबसे बड़े कारखाने भी इस प्रकारका स्तम्भ नहीं तैयार कर सकते थे। वर्तमान समयमें भी ऐसे बहुत कम कारखाने होंगे जो इस प्रकारकी धातुकी बड़ी वस्तु तैयार कर सकते हैं। ऐसा कहा जाता है कि (किसी ज़मानेमें) आसाममें बड़ीसे बड़ी तोपें तैयार की जाती थीं। ढालुआ लोहा और इस्पातके व्यवसायमें भारतीय बहुत बढ़े हुए थे, यह दिखलानेके लिये ये दो चार उदाहरण ही काफी हैं।

[१३ नवम्बरके "हिन्दू" से]

* *
*

जर्मनीके खिलौनोंका आयात।

लन्दनके "टाइम्स" नामक दैनिकपत्रके व्यापारिक क्रोड़पत्रसे विदित होता है कि इधर कुछ दिनोंसे भारतमें जर्मनीके खिलौनोंका आयात फिर बढ़ रहा है। गत वर्ष जर्मनीसे लगभग ३४ लाख रुपयोंके खिलौने भारतमें आये। यद्यपि गत यूरोपीय युद्धके पहिले हम इससे भी अधिक लगभग ६० लाख रुपयोंके खिलौने प्रति वर्ष जर्मनीसे मँगाया करते थे, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध समाप्त होनेके बादसे ही जर्मनी अपने व्यापारके पुनरुत्थानके निमित्त प्राणप्रणसे जो चेष्टा करता आया है उसमें वह बहुत कुछ सफल हो रहा है। यदि हरजानेके प्रश्नका सन्तोषजनक निपटारा यथा समय होजाता तो अपने गिरे हुए व्यापारकी उन्नतिमें वह कबका सफल हो गया होता। जर्मन व्यापारियोंके पास अब भी खिलौने भेजनेके इतने 'आर्डर' (मांगपत्र) पड़े हैं कि उनकी पूर्त्ति करनेमें उन्हें कई महीने लग जायँगे। किन्तु जर्मन सिक्केका मूल्य गिर जानेके कारण उनके सामने बड़ी बड़ी

बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं। मजदूरी तथा कच्चे पदार्थोंका मूल्य बढ़ जानेसे उत्पादन-व्यय भी बढ़ता जाता है, किन्तु इसी अनुपातमें बारम्बार मूल्यकी वृद्धि करना न तो सुविधाजनक ही है और न उससे कोई लाभ ही होता है। हालमें ही धातुओंके कारखानोंमें जो हड़ताल हो गयी थी उससे भी इस उद्योगको विशेष क्षति पहुँची है।

यह सत्य है कि इस क्षेत्रमें जर्मनीका कोई बड़ा प्रतिद्वन्दी नहीं है—जापान-को उसने अपने मार्गसे प्रायः हटा ही दिया है, ब्रिटेनके खिलौने भी अधिक महँगे पड़नेके कारण अब बहुत कम मँगाये जाते हैं, रहा भारतवर्ष, सो यहांके खिलौने प्रतियोगिता ही कितनी कर सकते हैं ? यहां प्रायः मिट्टी या लकड़ीके ही खिलौने तैयार होते हैं। जर्मनी के खिलौने अधिक सुन्दर, चित्ताकर्षक एवं भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं। साथ ही उनका मूल्य भी विशेष अधिक नहीं होता। उनकी सफलताका रहस्य यही है। एक बात और है। जर्मनीके व्यापारी जनताके भावों और भिन्न भिन्न रुचियोंसे लाभ उठानेमें भी दक्ष हैं। भारतकी वर्त्तमान राजनीतिक परिस्थितिका अवलोकन कर उन्होंने महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय, देशबन्धु चित्तरञ्जनदास इत्यादि प्रसिद्ध प्रसिद्ध नेताओंके जलचित्र तैयार कर भारतमें भेजना शुरू किया। यहाँके बालकोंने उन्हें बड़े चावसे खरीदा और फिर पानीमें भिगो कर अपनी अपनी पुस्तकोंपर उनका प्रतिबिम्ब उतार डाला। किन्तु यह सब होते हुए भी जर्मनीकी आर्थिक स्थिति देखनेसे इस उद्योगका भविष्य विशेष आशाप्रद प्रतीत नहीं होता।

कृषकोंका संगठन

अन्य देशोंकी तुलनामें भारतीय कृषकोंके पीछे पड़े रहनेका एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि ये लोग पुरानी लकीरके फकीर बने हुए हैं और कृषिकी उन्नतिके निमित्त पश्चिमी देशोंके कृषक जिन जिन नये साधनोंका प्रयोग किया करते हैं उनको इन्हों-ने अभी तक नहीं अपनाया है। इस सम्बन्धमें बम्बई प्रान्तके कृषिविभागके सञ्चालक डाक्टर हैरोल्ड मानने अभी उस दिन यह मत प्रकट किया था कि भारतके किसानोंको पुरानी लकीरके फकीर कहना और उन्हें उन्नतिका विरोधी ठहराना मिथ्या दोष लगाना है। आपका कथन है कि भारतीय कृषकोंका पुरानी लकीर ही पीटते रहना कृषिकी उन्नतिमें उतना बाधक नहीं है और न शिक्षाकी कमी ही इसका अवरोधक है।

उन्नतिका प्रधान बाधक है पूँजीका अभाव जिसकी सहायतासे ही कृषिकी दशा सुधारी जा सकती है। इसी ख्यालसे आप कृषकोंका ऐसा संगठन करना चाहते हैं जिससे कृषिकी उन्नतिके निमित्त पूँजीकी कठिनाई दूर हो सके। इस समय आप सहयोग-समितियों द्वारा ही इस उद्देश्यकी पूर्त्ति कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आपके कथनमें सत्यका बहुत कुछ अंश है। कृषिकी उन्नतिके लिये कृषकोंका संगठन यदि अधिक नहीं तो कमसे कम उतना आवश्यक तो ज़रूर है जितना उनमें शिक्षा आदिका प्रचार करना।

औद्योगिक विकाससे कृषिकी हानि ।

"....यह तर्क सचमुच भ्रमपूर्ण है कि उद्योग-धन्धोंमें धन लगानेसे कृषिमें जितना धन लगाया जाता है, वह खिंचकर इधर चला आयेगा और इस प्रकार कृषिपर बुरा प्रभाव पड़ेगा। ऐसा फल होनेकी सम्भावना कदापि नहीं है। अभी कृषक अपनी रकम गहनें, सरकारी कागजों आदिमें फंसाते हैं या संग्रह कर रखते हैं। उसकी तुलनामें यदि ये अच्छे उद्योगधन्धेमें लगावें तो अधिक मुनाफा मिल सकता है और फिर वही रकम, कृषिकी उन्नतिमें लगायी जा सकती है और ऐसा करनेसे सच पूछिये तो कृषि-कार्यमें कृषक जितना धन लगाते हैं, उसमेंसे कोई रकम उद्योगधन्धेमें नहीं लगी। बल्कि इस विश्वासका कोई कारण नहीं है कि कृषिकार्यमें जो धन लगाया जाता है वह साधारणतः ऋण लेकर ही लगाया जाता है—कृषक अपना खेत इत्यादि रेहन रख देते हैं—ऐसी अवस्थामें कृषिकार्यमें रुपया लगानेका इतना जबर्दस्त भाव रहते यह सम्भव नहीं कि उस ओरसे कृषक हटें। पर इसमें सन्देह नहीं कि औद्योगिक उन्नतिमें वैसी रकम जरूर लग जायगी जो इस समय योंही पड़ी हुई है और जिससे कोई काम नहीं लिया जाता। इससे यही होगा कि लोग संग्रह करनेके बदले उसको लाभदायक धन्धोंमें फँसाना सीख लेंगे। इसके अतिरिक्त किसी किसानके घरके ऐसे लोग जो कृषिकार्यमें नहीं लगते वे औद्योगिक कार्योंमें लग जायँगे और इस ओरसे धन कमाकर कृषिकी उन्नतिके साधनोंमें खूब अच्छी तरह खर्च कर सकते हैं।

"औद्योगिक उन्नतिसे इसमें सन्देह नहीं कि किसानोंकी दीनताका प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और समय समयपर होनेवाले अकालके दुष्परिणामोंसे ये बच जायंगे। औद्योगिक कारबारसे जो धन ये प्राप्त करेंगे उससे ये अकालके कष्टोंका सामना कर सकेंगे। ऐसा होनेसे यह तर्क निर्मूल हो जाता है कि कृषिकार्य छोड़ छोड़ कर लोग उद्योगधन्धोंकी ओर खिंच जायंगे। १६११ की मर्दुमशुमारीसे पता चलता है कि कृषि तथा कृषि सम्बन्धी किसी प्रकारके काम करनेवालोंकी संख्या २१ करोड़ थी और...कल कारखानोंमें काम करनेवालोंकी संख्या १३ लाख, ६७ हजार थी। इस हिसाबसे कल-कारखानोंमें काम करनेवालोंकी संख्या १ फीसदीसे भी अधिक नहीं है। यदि निकट भविष्यमें कल-कारखानोंकी उन्नति हुई तो भी गांवोंसे कृषक बहुत थोड़ी संख्यामें आयेंगे।

"यदि कृषिकार्य छोड़कर थोड़े किसान कल-कारखानोंमें आ भी गये तो उससे यह नहीं समझना चाहिये कि अन्नकी पैदावारमें कमी हो जायगी। ऐसा सम्भव नहीं विशेषतः उस अवस्थामें जब बहुतसे स्थानोंमें आवश्यकतासे अधिक कृषक हैं। इसका भी कोई कारण समझमें नहीं आता कि भारतका कृषिकार्य पुरानी अवस्थामें ही पड़ा रहे और आगे चलकर थोड़े किसानोंसे ही अधिक पैदावार नहीं हो सकती जैसा अन्य देशोंमें होती है।"

["स्वतंत्र" के विशेष अंकसे]

सामयिक संग्रह ।

गन्धकका तेजाब ।

अनेक कारखानोंमें भिन्न भिन्न कामोंके लिये गन्धकके तेजाबकी बड़ी आवश्यकता पड़ती है। वर्त्तमान रासायनिक व्यवसायका तो यह एक मात्र अवलम्ब है। संवत् १९७६ में भारतमें इसकी पैदावार लगभग ५ लाख मन हुई। इसके आयातपर ध्यान देनेसे विदित होता है कि संवत् १९७६ में इसका परिमाण लगभग ११०० मन, १९७७ में लगभग १३ हजार मन और १९७८ में लगभग ६४०० मन था। भूगर्भान्वेषण विभागके श्री एस. फौक्सका कथन है कि यदि गन्धकके तेजाबकी मांग ही व्यावसायिक दशाका परिमापक समझा जाय तो कहना पड़ेगा कि भारतका व्यवसाय अभी शैशवावस्थामें ही है। भारतकी व्यवसाय-वृद्धिके साथ साथ क्रमशः इस वस्तुकी मांग भी स्वभावतः बढ़ेगी। उक्त महाशयकी रायमें उत्तर बर्माकी बॉदविनकी सीसेकी खानोंमें गन्धक मिश्रित जस्ता काफ़ी तादादमें मौजूद है। व्यय निकल आने योग्य मांग उपस्थित होनेके साथ ही इस जस्तेसे गन्धकका तेजाब निकालनेका काम शुरू कर दिया जासकता है। भारतमें गन्धककी उत्पत्ति बहुत ही कम होती है इसलिये इसे विदेशोंसे काफी तादादमें मंगानेकी ज़रूरत पड़ती है। कारखानोंके लिए तेजाबकी बढ़ती हुई मांगके कारण भारतमें ही काफ़ी तादादमें गन्धक तैयार करना पड़ेगा। इस हालतमें श्रीफौक्सके विचारानुसार बॉदविन खानसे गन्धक तैयार करनेका काम पुनः आरम्भ हो जायगा।

...गंधककी खपतसे ही हम किसी देशके व्यवसाय और सभ्यताका अनुमान कर सकते हैं। रासायनिक द्रव्योंका काम करनेवालेके लिए तो गन्धक ही ऐसा साधन है जिससे वह प्रकृतिके गुप्त भण्डारोंको खोलकर बहुमूल्य पदार्थोंको सर्वसाधारणके लाभार्थ प्रकट कर देता है। यदि गन्धक न होता तो तरह तरहके रंग बनाना, कपड़े इत्यादि रंगना, कागज़ बनाना, वस्त्रादिका रंग उड़ाना, तथा अन्यान्य कलाएं लोग कभी न जान पाते। रासायनिक सर्व-प्रथम गन्धकका तेजाब ही बनाता है और इसीकी सहायतासे फिर वह शोरेका तेजाब, हाइड्रोक्लोरिक एसिड तथा और मिश्रित द्रव्य जैसे फासफोरस, क्लोरिन और प्लाटिनम इत्यादि तैयार कर लेता है। जीवनोपयोगी हजारों चीजें तैयार करनेमें इन सब पदार्थोंका प्रयोग होता है।

[२३ अक्टूबर तथा ११ नवम्बरके " हिन्दूसे "]

सामाजिक क्षेत्रमें विकास सिद्धान्तका प्रयोग ।

प्रकृतिमें जितने जीवधारी हैं चाहे वे कीट, पक्षी या पशु क्यों न हों, उनमें अपनी जीवन-रक्षाके लिए सदैव संघर्ष हुआ करता है। इस संघर्षका कारण यह है कि विश्वमें खाद्य सामग्रियोंका परिमाण परिमित है; अतएव उन सामग्रियोंके लिए प्राणियोंको संग्राम करना ही पड़ता है। इस संग्राममें जो योग्य होता है वही विजयी होता है और उसीकी जाति फैलती है। इसे "प्राकृतिक चुनाव" कहते हैं। प्राकृतिक चुनाव यही है कि जो परिस्थितिके अनुकूल अपनी शक्तियों और संगठनमें आवश्यक परिवर्तन कर सकता है, वही संसारमें अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। अतएव इसी जीवन-संग्रामके द्वारा, जीवोंके शरीरमें परिवर्तन होता रहता है तथा अयोग्य और अयोग्यताका नाश होकर प्राणियोंका विकास होता है। इस सिद्धान्तको एक शब्दमें 'विकासवाद' कहते हैं। विकासवाद वर्तमान युगका सर्वसम्मत सिद्धान्त है। जीवविज्ञान (बायोलाजी) और मानसशास्त्र (साइकालॉजी) विकासवादके सिद्धान्तपर खड़े हैं। समाजके रहस्योद्घाटनमें भी विकासवादका प्रभाव न पड़ना असंभव था। डार्विन और हेकेलके ग्रन्थोंमें विकास-सिद्धान्तका सामाजिक क्षेत्रमें उपयोग करनेका किंचित् प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है; किन्तु जिस मेधावीने विकासवादके आधारपर समाजशास्त्रका भव्य भवन प्रतिष्ठित किया उसका नाम हर्बर्ट स्पेन्सर है।

हर्बर्ट स्पेन्सरने समाजकी तुलना शरीरसे की है। उनका कथन है कि समाज शरीरवत् पदार्थ है।

जिस प्रकार शरीरके अवयव होते हैं, उसी तरह व्यक्ति और व्यक्ति-समूह समाजके अवयव हैं। शरीरके अंगोंके कार्य जैसे बटे हुए हैं, उसी प्रकार समाजके भिन्न भिन्न अङ्गोंके भी कार्य बटे हुए हैं। शरीरके सब अंग स्वतंत्र कार्य करते हुए भी परस्पर सहायता करते हैं और शरीरका स्वास्थ्य ठीक रखते हैं, उसी तरह परस्पर सहायता करना और समस्त समाजका हित-साधन करना समाजके भिन्न भिन्न अंगोंका कर्तव्य है। शरीरमें पोषक विधि है, जिसके द्वारा भोजन पचता है और सब अंग पुष्ट होते हैं; समाजका पोषक विभाग है उद्योग। शरीरमें विभाजक विधि है, जिसके द्वारा रुधिर आदि सब स्नायुओंमें पहुंचते रहते हैं, उसी तरह समाजमें व्यापार है। शरीरमें जैसे मस्तिष्क और हृदय नियामक विधि है, नैतिक और धार्मिक संस्थाएँ भी समाजको उसी

प्रकार नियमोंके अनुसार चलाती हैं। शारीरिक अंगोंको प्रकृतिके अनुसार काम करने देनेसे शरीरका विकास होता है; समाजकी भी उत्पत्ति और विकास तद्वत् होता है। विश्वमें प्राकृतिक शक्तियाँ (एनर्जी) मौजूद हैं; उन्हींके पारस्परिक घातप्रतिघातसे प्राकृतिक जगतमें स्फूर्ति और परिवर्तन देख पड़ते हैं। समाजके विषयमें भी यही कहा जासकता है।

यद्यपि न्यायशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्रकी दृष्टिसे स्पेन्सर महाशयके सिद्धान्तोंमें कई दोष दिखाये जा सकते हैं तो भी इसमें सन्देह नही कि

समाजको विकाससिद्धांतके अंतर्गत लाकर उन्होंने ठीक मार्ग दिखलाया। रक्त-पिंडका विकास होते हुए अत्यन्त रहस्यपूर्ण मानव शरीर बन गया; उसी प्रकार अनियमित विशाल नर-समूह भी विकासको प्राप्त करता हुआ नियमबद्ध अथच विभिन्नता पूर्ण समाजमें परिवर्तित हुआ। परन्तु इस विकासको स्पेन्सरने बाह्य प्राकृतिक कारणोंका परिणाम माना है।

...समाजशास्त्रके लिये यह सिद्धान्त अपूर्ण है। बाह्य कारणों और नियमोंके अतिरिक्त आन्तरिक कारण भी हैं जिनके विना कोई भी सामाजिक घटना सम्भव नहीं। उनका सम्बन्ध मनुष्यकी इच्छा-शक्तिसे है। मनुष्यकी इच्छाका बाहरी परिस्थितिपर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

[अक्टूबरकी श्रीशारदासे]

* *
*

हमारा फौजी खर्च।

श्रीयुत देवले महाशयने "दी जर्नल आफ दी इण्डियन इकानमिक सोसाइटी" में हिन्दुस्तानके बढ़ते हुए फौजी खर्चका विवरण दिया है। उसमें कुछ मार्केकी बातें यहाँ उद्धृत करता हूं।

एक अंग्रेज अफसरका औसत मुशाहरा (वेतन) और भत्ता ७१६ रुपये माहवारी है और एक गोरे सिपाहीका १००) महीना*। लड़ाईके पहले एक गोरा सिपाही सालभरमें जहां सवा चार सौके लग-

*पटनेके "सर्च लाइट" नामक पत्रकी २६ मार्च १९२२ वाली संख्यासे हमने जो अंक लिख रखे हैं, उनसे प्रकट होता है कि जहां भारतीय सिपाहीका वार्षिक व्यय ४११ रुपये पड़ता है, वहां अंग्रेज सिपाहीका व्यय १६७१ रुपये पड़ता है। भारतीय सैनिकोंके व्ययमें (युद्धके पूर्वकी अपेक्षा ?) फी सैकड़े चारकी और गोरे सैनिकोंके व्ययमें फी सैकड़े १४६ की वृद्धि हुई है। २ नवम्बर १९२२के "बाम्बे क्रानिकल" में अध्यापक के. टी. शाहने भारतीय सैनिकका परिवर्द्धित वार्षिक व्यय ५०० रुपये और गोरे सैनिकका २१०० रुपये लिखा है—सम्पा० स्वा०

भग पाता था वहाँ अब बारह सौ पाता है, अर्थात् उसका वेतन अब तिगुना हो गया है! अब जरा देशी सिपाहियोंका मुशाहरा और भत्ता मिलाइये। लड़ाईके पहले उसे कुल ग्यारह रुपये माहवारी मिलता था, आजकल भत्ता और मुशाहरा मिलाकर वह प्रायः बाईस रुपये पाता है; सिर्फ मुशाहरा १५) है। एक गोरे सिपाहीपर जो खर्च बैठता है, उतना पांच हिन्दुस्तानियोंके लिये काफी है। काम कौन कितना करता है यह जर्मनीकी लड़ाईके शुरूके इतिहाससे प्रकट है।

अब जरा देखिये कि हमारा फौजी खर्च कितना बढ़ गया है। सन् १८५६ (संवत १९१३) में जब कि गोरी और काली फौज सब मिला कर अढ़ाई लाखके लगभग थी कुल ११॥ करोड़ रुपयोंका खर्च था। सन् १८७३ (संवत् १९३०) में जब कि सिर्फ डेढ़लाख फौज थी यह खर्च बढ़कर १६ करोड ३३ लाख होगया! १९१३-१४ में यह २६ करोड़ ११ लाख था, पर आजकल तो ६२ करोड़ है! तिसपर भी बराबर यही कहा जाता है कि फौज़को और देशोंकी बराबरीमें लानेके लिये इससे भी ज्यादा खर्च की जरूरत है! इस साल भारत सरकारकी आमदनी ११० करोड़से कुछ ज्यादा कूती गयी है जिसमेंसे ६२ करोड़ फौजी विभागमें खर्च किया जायगा! यदि कोई गृहस्थ ११० की आमदनीपर ६२ रुपया दरवान चौकीदारमें खर्च कर डाले तो उसे लोग क्या कहेंगे? उसको बस्तीमें रहने देंगे या सरकारी पागलखानेका मेहमान बनायेंगे? बहुत दिनों तक रूसका हौआ दिखाकर फौजी खर्च बढ़ाया गया; जबसे रूससे दोस्ती हुई तबसे अफगानिस्तान और सीमाप्रान्तमें करोड़ोंका स्वाहा होता है, रुपया पानीकी तरह बहाया जाता है पर फिर भी वही पुरानी बात, डाका पड़ता ही है, राहेजनी होती है, गरीब प्रजा लुटती रहती है। तिसपर तुर्रा यह है कि अमीर अफगानिस्तानसे दोस्ती होगयी है, सन्धिपत्र लिखा जा चुका है। जब अमीर दोस्त ठहरे तो फिर सीमाप्रान्तपरके खर्चकी जरूरत क्या रही?

['अर्थशास्त्री']

* *
*

हमें कितना टक्स देना पड़ता है ?

नवम्बरके 'माडर्न रिव्यू' में बम्बई विश्वविद्यालयके अध्यापक श्रीयुत सी० एम० वकील महाशयने यह बतलाया है कि प्रत्येक भारतवासीको ब्रिटिश शासनके लिये कितना खर्च करना पड़ता है। यह

कहनेकी जरूरत नहीं है कि राज्यशासनके लिये मुल्की तथा फौजी कर्मचारियोंकी जरूरत पड़ती है, इन्हें वेतन-भत्ता देना पड़ता है। यह रकम प्रजाको ही, जिसे शासन-सुख मिलता है, देनी पड़ती है। अब देखिये प्रत्येक भारतवासीको इस कार्यके लिये हर साल क्या देना पड़ता है; तथा यह खर्च किस क़द्र बढ़ता रहा है।

सन्			रु०	आ०	पा०
१८७१	...	...	१	१३	६
१८८१	...	...	२	२	३
१८९१	...	...	२	३	११
१९०१	...	...	२	१०	२
१९११	...	...	२	१३	११
१९१३	...	...	३	१	६
१९२०	...	...	५	०	११
१९२२	...	...	६	४	३*

कुछ दिनोंसे सरकारको रेल विभागसे खासी आमदनी होने लगी है, पर उसके पहले घाटा ही घाटा रहा करता था। यह आमदनी भी शासन-कार्यमें ही खर्च कर दी जाती है, अगर यह आमदनी न होती तो निश्चय है कि कर्ज लेकर या प्रजापर टैक्स बैठाकर उतना धन इकट्टा करना पड़ता क्योंकि खर्च तो रुकता हीं नहीं। अब अगर रेलकी आमदनीको भी (जो कि प्रकारान्तरसे प्रजासे ही वसूल की जाती है) जोड़ दें तो सन् १९११ में प्रति मनुष्य ३-१-५ पाई, १९१३में ३-६-२ पा०, १९२०में ५-४-३ पा० और १९२२में ६-७-७ पाईका टैक्स बैठेगा, अर्थात् ग्यारह वर्ष पहले जिस शासन-सुखकेलिये एक खर्च करते थे उसके लिये आज हमें दोसेभी ज्यादा खर्च करना पड़ता है। सिर्फ इन नये सुधारोंका मजा चखनेके लिये तो देशको तीस करोड़से भी ज्यादा सालाना खर्च बढ़ाना पड़ा है! इतने पर भी हर जगहसे खबर मिल रही है कि सरकारकी आर्थिक अवस्था खराब है. यदि टैक्स न बढ़ाया गया तो प्रान्तीय सरकारोंका काम ही चलना असम्भव हो जायगा।

राज्य-शासनका खर्च बढ़ता गया है, पर यदि साथ ही प्रजाकी साम्पत्तिक अवस्था सुधरती गयी हो-उनकी सालाना आमदनी बढ़ती गयी हो तो फिर बढ़ते हुए टैक्सका बोझ न मालूम पड़ेगा। भारतवासीकी औसत आमदनी कितनी है इसका भी समय समयपर अन्दाजा

*श्रावण मासका " स्वार्थ " पृष्ठ २२४ देखिये—सम्पादक ' स्वार्थ '

लगाया है। १८७१में यह औसत आमदनी प्रति मनुष्य बीस रुपये साल थी; उस समय इस आयका सैकड़े पीछे नौ हम सरकारको दे देते थे। १८८१* में यह आमदनी २७ रुपया कूती गयी, और १९०१में ३० रुपये· इस समय भी प्रति मनुष्यकी आयका प्रायः सैकड़े नौ सरकारको देना पड़ता था। लाट कर्जनके बादसे सरकारी खर्च अन्धाधुन्ध बढ़ता ही रहा है, किसी न किसी सुधारका बहाना लेकर खर्चका बोझ लादा गया है-नया टैक्स लगाया गया है। नया टैक्स बैठानेके समय यह बतलाना जरूरी था कि भारतीयोंकी साम्पत्तिक अवस्था सुधर गयी है, उनकी आमदनी बढ़ गयी है। अतएव १९११में सरकारी हिसाब लगानेवालों ने कहाकि प्रत्येक हिन्दुस्तानीकी औसत आमदनी ५०) हो गयी है! तीस वर्षोंमें जो आमदनी बढ़कर बीससे तीसतक पहुंच सकी थी, वही दस वर्षोंमें तीससे पचास हो गयी! खैर; १९११ के बाद लड़ाई छिड़ी, खर्च बढ़े, नये नये टैक्स बैठे। फिर सुधारोंका युग आया, इसने और भी नये टैक्स लगाये, जिस कारण इन ग्यारह वर्षोंके अरसेमें सरकारी खर्च दुगुनेसे भी ज्यादा हो गया। अब यदि सरकारके हामी यह साबित करना चाहें कि टैक्सका बोझ बढ़ नहीं रहा है तब उन्हें यह भी साबित करना पड़ेगा कि आजकल फी हिन्दु· स्तानीकी औसत आय ११० रु० से भी ज्यादा है! आपके पास कलम कागज है, आपके पास हिसाब-पत्र है। आपकी मर्जी ५० को ११० करदें या ५००, पर इससे असली दशा नहीं छिपनेकी। दस बारह वर्ष पहले जिस कदर खाना-कपड़ा पाते थे उसमें आज कितना फर्क है यह प्रत्येक हिन्दुस्तानी जानता है, उसके लिये उसे सरकारी हिसाब देखना नहीं पड़ेगा। वही जानता है कि मेरी अवस्था दुगुनी अच्छी है या बुरी। ठीक है 'जाके पैर न फटे बिवाई सो का जाने पीर पराई'।

['अर्थशास्त्री']

*श्रावण मासका "स्वार्थ" पृष्ठ २२४ देखिये—सम्पादक 'स्वार्थ'

सम्पादकीय।

भारतीय जहाजों द्वारा व्यापार।

देशके उद्योगोंके प्रति भारत सरकार कितनी उदासीन है, इसका एक उदाहरण भारतीय जहाजोंके उद्योगकी वर्तमान अवस्था है। विदेशी वस्तुओंके लाने और ले जानेके लिये प्रायः सभी समुन्नत देशोंमें देशके ही जहाजोंका प्रयोग होता है—कमसे कम समुद्रके किनारेका व्यापार तो प्रधानतया देशी कम्पनियोंके जहाजों द्वारा ही होता है। हमारे यहाँ यह भी अधिकतया विदेशी कम्पनियोंके ही हाथमें है। सब कुछ देखते और समझते हुए भी भारत सरकार मौन धारण किये बैठी है। अन्य देशोंकी तरह व्यापारिक जहाजोंका निर्माण करना एवं इस उद्योगको प्रोत्साहित करनेके अभिप्रायसे आर्थिक सहायता, ऋण तथा दान देना तो दूर रहा वह स्वयं अपने लिये राष्ट्रीय आवश्यकताओंका जो सामान मँगाती है, या अपनी ओरसे जो सामान बाहर भेजती है उसे भी लाने-लेजानेका अवसर देशी कम्पनियोंको नहीं देती। इसकी सत्यता 'सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' की वार्षिक रिपोर्ट देखनेसे तथा उक्त कम्पनीकी सञ्चालक-समितिके अध्यक्ष श्रीनरोत्तम मोरारजीका भाषण पढ़नेसे ही प्रकट होजाती है।

राष्ट्रकी आर्थिक उन्नतिमें उसके व्यापारिक जहाजोंका भी हाथ रहता है। यही सोचकर समुद्रोंसे घिरे हुए देश व्यापारी जहाजोंका निर्माण कराना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, इटली, स्पेन, बेलजियम, जापान इत्यादि सभी समुद्र-वेष्टित देशोंने व्यापारकी वस्तुओंको समुद्र मार्गद्वारा लाने-लेजानेके निमित्त व्यापारिक जहाज बनवा लिये हैं और बनवाते जा रहे हैं। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इन सभी देशोंका समुद्री व्यापार प्रायः देशके ही जहाजों द्वारा होता है। उनके किनारेका व्यापार तो बहुधा एकमात्र देशी कम्पनियोंके ही हाथमें रहता है। जापानके किनारेके व्यापारमें विदेशी कम्पनियां भाग ही नहीं ले सकतीं, क्योंकि वहाँ उनका प्रवेश वर्जित है। भारतमें तो समुद्रमार्गद्वारा होने वाला सभी व्यापार विदेशी कम्पनियोंके जहाजोंद्वारा होता है। इनका सारा मुनाफा सीधे उक्त देशोंको चला जाता है और उनकी आर्थिक उन्नतिमें सहायक होता है।

प्रधान प्रधान समुद्रमार्गोंद्वारा होनेवाले व्यापारकी जो दशा है प्रायः उसीसे मिलती जुलती ही हालत किनारेके व्यापारकी भी है। यह भी मुख्यतया विदेशी कम्पनियोंके ही हाथमें है। किनारेका ८० फी सदी व्यापार इन्हींके जहाजोंद्वारा होता है, किन्तु इतने पर भी ये कम्पनियां सन्तुष्ट नहीं प्रतीत होतीं। इनकी इच्छा बचे-खुचे अंशको भी हड़प करजानेकी है। भारत सरकारकी उदासीनताके कारण इनकी आशा एवं साहस और भी बढ़ता जाता है।

एक महाशयने आठ नवम्बरके "बाम्बे क्रानिकल"में भारत सरकारकी इस तटस्थ नीतिकी तुलना जापान सरकारकी नीतिके साथ की है। उन्होंने कई उदाहरण देकर यह बतलाया है कि जापानने अपने व्यापारिक जहाजोंके उद्योगको वारम्बार आर्थिक सहायता देकर किस प्रकार समुन्नत बनानेकी चेष्टा की है। जापानकी ऐसी नीतिके कारण ही वहांकी "ओसाका मर्केण्टाइल स्टीमशिप कम्पनी लिमिटेड" तथा अन्य कम्पनियां अपने वर्त्तमान स्वरूपको प्राप्त कर सकी हैं*। किन्तु भारत सरकारकी नीति निराली है। उसे इस उद्योगकी उन्नतिकी कितनी चिन्ता है यह इसीसे प्रकट है कि यद्यपि कुछ दिन पूर्व बड़ी व्यवस्थापक सभामें सर शिव स्वामी ऐय्यरका यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया था कि भारतीय व्यापारिक जहाजोंका बेड़ा बनाने तथा उसके विकासके प्रश्नपर विचार करनेके निमित्त एक समिति बैठायी जाय, तो भी आज आठ-नौ महीने बीत जानेपर भी संभवतः ऐसी कोई समिति नहीं बनायी गयी। राज्यपरिषद्में भी इस सम्बन्धका एक प्रस्ताव श्री लल्लूभाई श्यामल दासजीने उपस्थित किया था कि जब विदेशी तथा भारतीय कम्पनियोंमें भाड़ेकी दर समान हो तो सरकारद्वारा मँगाया गया या भेजा गया माल तथा रेलका सामान बन्दरगाहोंसे लाने-लेजानेमें भारतीय कम्पनियोंको ही प्रथम अवसर मिलना चाहिये। यह प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ था, किन्तु वह कार्यमें कहां तक परिणत किया गया है यह श्रीनरोत्तम मोरारजीद्वारा वर्णित सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनीकी गाथासे ही स्पष्ट हो जायगा। ऐसे अनेक अवसर उपस्थित होते हुए भी एवं कम्पनीके बारम्बार लिखा पढ़ी करनेपर भी सरकारने इस ओर ज़रा भी ध्यान न दिया। गत वर्ष इस कम्पनीने कलकत्तेसे ५४ लाख मन कोयला रंगून पहुँचानेके भाड़ेकी दर प्रकट करनेका केवल अवसर ही मांगा था, किन्तु उसे अपनी दर बतलानेका मौक़ा भी न दिया गया और संभवतः ऊँची दरपर दस वर्षोंके लिये अन्यत्र ठेका कर लिया गया। ऐसी अवस्थामें यदि श्रीनरोत्तम मोरारजी खिन्न हृदयसे इसे सरकारकी उदासीनता ही न कहकर भारतीय कम्पनियोंको जानबूझ कर निरुत्साहित करनेका प्रयत्न ही कहें तो क्या आश्चर्य? उन्होंने जो खरी खरी बातें कही हैं वे सर्वथा सत्य और अकाट्य प्रतीत होती हैं। एक मास बीत गया, पर अभी तक सरकारकी ओरसे उनकी एक भी बातका खण्डन नहीं किया गया है। भारत सरकारकी यह नीति देशके हितकी दृष्टिसे अत्यन्त हानिकारक और निन्दनीय है। जब तक इसका परित्याग न होगा तब तक इस उद्योगका भविष्य बिलकुल अन्धकारपूर्ण ही बना रहेगा।

* *
*

मलायामें भारतीय मज़दूर।

सिंहलद्वीप, मलाया (मलयद्वीप), इत्यादि स्थानोंमें जाकर जीवननिर्वाह करने-

*इसी मासमें अमेरिकामें भी जहाजोंकी सहायताका नया क़ानून बनाया गया है।

वाले भारतीय मज़दूरोंकी मज़दूरी सम्बन्धी तथा उनके प्रति किये जाने वाले साधारण बर्तावकी शिकायत दूर कराने एवं उन्हें उचित राजनीतिक अधिकार और आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त करानेके उद्देशसे प्रवास-नियमोंपर विचार करनेके निमित्त बड़ी व्यवस्थापक सभाके कुछ सदस्योंकी एक स्थायी समिति हालमें ही नियुक्त हुई थी। इसके सदस्योंको मलायाकी वास्तविक परिस्थितिका कितना ज्ञान है और वे अपने दायित्वको कहां तक समझते हैं, हम नहीं कह सकते। हां, हमें इस सम्बन्धमें सन्देह अवश्य हो रहा है।

प्रवासके नियमोंपर अपना मत प्रकट करने और अपने स्वार्थकी रक्षा करानेके अभिप्रायसे रबड़ इत्यादिकी खेती करानेवाले (प्लैण्टर्स) गोरोंने कुछ दिन हुए अपना एक प्रतिनिधिदल शिमला भेजा था। इसके मंत्री द्वारा प्रकाशित एक वक्तव्यसे प्रकट होता है कि उक्त स्थायी समितिकी रायमें प्रवासमें रहनेके लिये प्रति चार या पांच मनुष्योंके पीछे एक स्त्रीका जाना काफी है। हमारी सम्मतिमें यह अनुपात सर्वथा दोषपूर्ण और अनुचित है, किन्तु यदि थोड़ी देरके लिये हम इसे ही उचित मान लें तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि मलायाके भारतीय मज़दूरोंकी अवस्था सन्तोषजनक है। वहां नौ मनुष्योंके पीछे एक ही स्त्रीके होते हुए भी, मंत्री महाशयके कथनानुसार, समितिके सदस्य वहांकी परिस्थितिसे सन्तुष्ट हैं। आप लोगोंके इस 'सन्तोष' का रहस्य हमारी समझमें नहीं आता, इसीसे हम कहते हैं कि समिति अपना दायित्व भली भांति समझती है या नहीं, इसमें हमें सन्देह है।

मलायामें रहने वाले भारतीय मज़दूरोंके सम्बन्धमें दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहिले तो उन्हें चलने-फिरनेकी अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। वर्त्तमान स्थिति यह है कि यदि कोई मज़दूर खेतके बाहर चला जाय तो प्रायः वह पकड़ लिया जाता है, उसपर मुकदमा चलता है और बहुधा अदालत उसपर जुरमाना धमक देती है। यदि वह जुरमाना देनेमें असमर्थ हो तो उसे मुफ्तमें ही खेतपर काम करके यह जुरमाना अदा करना पड़ता है। यह दासता नहीं तो और क्या है? इसका अन्त शीघ्र ही होना चाहिये। दूसरे, बेकारीके समय उनकी सहायताका कोई प्रबन्ध होना चाहिये। समय समयपर रबड़का व्यापार शिथिल पड़ जाता है, अतः बहुतसे कुली बेकार हो जाते हैं। इनके उदरपोषणकी कोई न कोई व्यवस्था होनी चाहिये। रबड़के व्यापारकी मन्दीके कारण वहां जानेवाले मजदूरोंकी संख्या भी गिर रही है। संवत् १९७७में दक्षिण भारतसे कुल ९९,२२० मज़दूर मलाया गये थे किन्तु संवत् १९७८में ४५,६७३ मज़दूर अर्थात् आधेसे भी कम ही गये। इतनेपर भी बहुतसे मज़दूर कामसे छुड़ा दिये गये और उन्हें या तो विवश होकर घर लौट आना पड़ा या बेकार रहकर वहांही कष्ट उठाते रहना पड़ा। उन्नतिके लालचमें पड़कर बहुतसे क्लर्क इत्यादि भी वहां पहुँच गये थे। इनमेंसे अनेकोंने तो अपनी लगी लगायी नौकरी तक त्याग दी थी। व्यापारकी शिथिलता एवं खर्चकी किफायतका कारण बतलाकर जब ये नौकरीसे अलग कर दिये गये तो इन्हें घर लौटनेपर फिरसे जीवन-निर्वाहका सिलसिला लगानेमें कितनी कठिनाइयोंका सामना न

करना पड़ा होगा। इधर जो मज़दूर कामपरसे नहीं हटाये जाते उनकी भी दशा विशेष सन्तोषजनक नहीं रह जाती। मज्दूरी घटा दी जानेके कारण उन्हें भी बड़े कष्ट उठाने पड़ते है। हम आशा करते हैं कि स्थायी समिति इन कठिनाइयोंसे मजदूरोंकी रक्षा करनेका कोई उपाय अवश्य ढूंढ निकालेगी और प्रवासके नियमोंमें उचित संशोधन द्वारा या अन्य किसी तरह इस परिस्थितिका सुधार करा देगी।

* *
*

खानोंमें काम करनेवाली स्त्रियां तथा बच्चे।

यद्यपि अन्य उद्योगोंकी तरह भारतमें खानोंका उद्योग भी एक प्रकारसे अभी आरम्भिक अवस्थामें ही है तो भी क्रमशः इसका विस्तार होता जा रहा है। खानोंमें काम करनेवालोंकी संख्या बढ़ती जा रही है। खानोंके मालिकोंको इस उद्योगसे मुनाफा भी अच्छा होता है। ऐसी अवस्थामें, यदि खानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंकी सामान्य परिस्थितिकी ओर हमारा ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट हो तो यह स्वाभाविक ही है।

यों तो खानोंके सम्बन्धमें एक कानून संवत् १९५९में ही बना दिया गया था, किन्तु उसमें अनेक दोष रह गये थे। इसी कारण उसमें कुछ आवश्यक सुधार करनेकी इच्छासे, थोड़े दिन हुए, बड़ी व्यवस्थापक सभामें एक बिल पेश किया गया था। उस समय खानोंमें काम करनेवाली स्त्रियों तथा बच्चोंका प्रश्न उपस्थित हुआ था। सरकारकी ओरसे श्री इन्स महोदयने यह तो स्वीकार किया कि १३ वर्षसे कम उमरके बच्चोंका खानोंमें प्रवेश करना रोका जाना चाहिये, किन्तु स्त्रियोंके सम्बन्धमें ऐसी आवश्यकता मानते हुए भी खानिवालोंकी विशेष क्षतिकी संभावना देखकर आप इस बातपर राज़ी न हुए कि उनका भी खानोंमें काम करना क़ानूनन बन्द कर दिया जाय। आपकी सम्मतिमें अभी ऐसा क़ानून बनानेका उपयुक्त अवसर नहीं आया है।

पृष्ठ ८६ पर दिये गये अंकोंसे विदित होगा कि इस समय खानोंमें कुल २ लाख ४९ हज़ार, ६६२ मनुष्य काम करते हैं। इनमें ९१ हज़ार ९४९ स्त्रियां तथा ८,५४८ तेरह वर्षसे कम अवस्थाके बच्चे भी शामिल हैं। खानोंमें काम करनेवाली स्त्रियोंकी इतनी बड़ी संख्या देखकर, और प्रतिदिन लगातार दस घण्टोंतक ऐसे स्थानमें जहां न तो पर्याप्त प्रकाश रहता है और न खुली हवा ही मिलती है उन्हें क़ैद रहते जानकर भी इस उन्नत बीसवीं शताब्दीमें श्री इन्स महाशयको यह कहनेका साहस कैसे हुआ कि अभी स्त्रियोंके सम्बन्धमें क़ानून बनानेका उपयुक्त अवसर नहीं आया है, सो हमारी समझमें नहीं आता। हम यह माननेके लिये तैयार हैं कि स्त्रियोंके लिये खानोंमें काम करना मना कर देनेसे इस उद्योगको विशेष क्षति पहुँचनेकी संभावना है, किन्तु यह क्षति थोड़े समयके लिये ही होगी। ज्यों ज्यों स्त्रियोंके स्थानमें पुरुष मजदूर आते जायँगे त्यों त्यों क्षतिकी

मात्रा घटती जायगी। हां, इतना अवश्य है कि पुरुषोंको आकर्षित करनेके लिये स्त्रियोंकी अपेक्षा मज़दूरी अधिक देनी पड़ेगी। खानिवाले इसके लिये तैयार नहीं हैं, इसी कारण वे खानोंके क़ानूनमें इस प्रकारके संशोधनका विरोध करते हैं। 'इण्डियन माइनिंग फेडरेशन (भारतीय खानिवालोंकी संस्था) ने तो १३ वर्षसे कम उमरवाले लड़कोंके सम्बन्धके क़ानूनका भी विरोध किया था। उसकी रायमें लड़कोंके लिये खानोंमें काम करना मना करनेसे भी खानोंके उद्योगपर बड़ा धक्का बैठेगा। उसका कहना है कि लड़कोंके न जानेसे उनकी माताएँ भी खानोंमें काम करना बन्द कर देंगी, इससे उद्योगको बड़ा नुक़सान होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये लोग अपने स्वार्थवश मा-बेटों दोनोंके ही स्वास्थ्यको तबाह करना चाहते हैं। इस सम्बन्धमें संस्थाने एक दलील यह भी पेश की है कि यदि स्त्रियों तथा बच्चोंका खानोंमें काम करना बन्द कर दिया जायगा तो इससे खनिकोंकी आमदनी कम हो जायगी और उनमें असन्तोष फैलेगा। उनका प्रायः कुटुम्बका कुटुम्ब खानोंमें काम करता है, अतः बच्चों और स्त्रियोंकी जीविका बन्द हो जानेसे उनका गुज़ारा न हो सकेगा। इससे प्रकट होता है कि खानोंमें काम करनेवाले मज़दूरोंको इतना कम पारिश्रमिक मिलता है कि उन्हें अपने कुटुम्बके जीवन-निर्वाहके लिये अपना तथा अपने स्त्री-बच्चोंतकका स्वास्थ्य बेचना पड़ता है। खानोंके मालिक सस्ती मजूरीसे लाभ उठानेके इतने आदी हो गये हैं और वे अपने स्वार्थमें इतने संलिप्त हो रहे हैं कि उन्हें इन अभागे मज़दूरोंकी दुरवस्थापर मनुष्यत्वके नाते भी कोई रहम नहीं आता। जैसा कि लार्ड क़र्जनने कहा था, वे लोग स्त्रियोंको सस्ती मजूरीके ख्यालसे ही लगाते हैं, अतः खानोंमें स्त्रियोंके काम करनेकी मनाही हो जानेपर उन्हें इतनी सस्ती मजूरीपर काम करने वाले न मिल सकेंगे, यह स्पष्ट ही है। इसी कारण वे उक्त प्रस्तावका विरोध करते हैं। उन्हें अपने हितके सामने इस बातका भी ख्याल नहीं रहता कि श्रमजीवियोंमें जिस तीव्र गतिसे अपने स्वत्वोंका ज्ञान फैल रहा है और उनके प्रति साधारण जनताकी सहानुभूति जिस प्रकार बढ़ रही है, उससे स्पष्ट है कि आज नहीं तो कल उन्हें श्रमजीवियोंके हितकी ओर विशेष ध्यान देना ही पड़ेगा।

संवत् १८९९ में जिस समय इंग्लैण्डमें स्त्रियोंके सम्बन्धमें ऐसा ही कानून बनाया जा रहा था उस समय वहां भी खानोंके मालिकोंकी ओरसे ऐसा ही विरोध हुआ था। उनकी हानि भी बहुत हुई, किन्तु जनताने एक न सुनी। कानून पास हो गया। हमारा ख्याल है कि देशमें भी आज कल जो परिवर्त्तन हो रहा है उसके कारण वह समय शीघ्र आ सकता है जब कि खानिवालोंके विरोधकी उपेक्षा कर सरकारको विवश होकर जनताकी इच्छाके अनुसार बच्चोंकी तरह स्त्रियोंका भी खानोंमें काम करना रोकना होगा।

खानिमें हवा और उजेलेकी तंगी तो रहती ही है, वहां परिश्रम भी बहुत सख्त करना पड़ता है। ऐसी जगहमें सुकुमार स्त्रियोंसे इस तरहका काम लेना उनके साथ अक्षम्य निष्ठुरता एवं घोर अन्याय करना है। अतः जितने शीघ्र इस प्रथाका विनाश किया जा सके उतना ही अच्छा। ऐसा करनेसे कुछ गड़बड़ी तो ज़रूर होगी, किन्तु यह अनिवार्य और साथ ही, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, अल्पस्थायी है।

यह हम नहीं कहते कि खानिवालोंके हितकी ओर ध्यान ही न दिया जाय। यदि कमसे कम विघ्नके साथ यह कार्य किया जा सके तो इससे बढ़कर बात ही क्या होगी? हम केवल इसी बातपर जोर देना चाहते हैं कि थोड़ी-बहुत औद्योगिक गड़बड़ीसे भयभीत होकर यह सत्कार्य किसी प्रकार रुकना न चाहिये। कोयले तथा अन्य खनिज वस्तुओंकी अपेक्षा स्वास्थ्यका मूल्य अधिक है, अतः यदि उसकी रक्षाके उद्देश्यसे कुछ समयके लिये हमें कोयला इत्यादि वस्तुएँ महँगी भी खरीदनी पड़ें तो विशेष चिन्ताकी बात नहीं है। अच्छा हो यदि खानिवाले इन सब बातोंका ख्याल कर स्वयं ही स्त्रियोंसे खानोंमें काम लेना शीघ्रातिशीघ्र बन्द करनेका प्रयत्न आरम्भ कर दें, और इस अवश्यम्भावी परिस्थितिका सामना करनेके लिये अभीसे सन्नद्ध हो जायँ।

* *

इंग्लैण्डके नये निर्वाचनका परिणाम।

इंग्लैण्डकी 'पार्लमेण्ट' (प्रतिनिधिसभा) के नये निर्वाचनमें अनुदारदलवालोंकी ही जीत हुई। उदारदलवाले इसबार बिलकुल पिछड़ गये। मजदूरदलवालोंकी संख्या अनुदारदलको छोड़कर शेष सब दलोंकी अपेक्षा बढ़कर रही, अतः यह स्पष्ट है कि विरोधियोंमें अब मज़दूरदलवालोंकी ही प्रबलता तथा प्रधानता रहेगी। श्रमियोंके प्रतिनिधि इतनी अधिक संख्यामें पहिले कभी निर्वाचित नहीं हुए थे। इस बारकी उनकी विशेष सफलता उनके बढ़ते हुए प्रभावकी द्योतक है। अब इस बातकी संभावनामें कोई शंका नहीं रह गयी कि एक दिन इंग्लैण्डका शासन-सूत्र मज़दूरदलके हाथमें भी जायगा, और संभवतः शीघ्र ही जायगा, एवं उसे भी अपनी इच्छा पूरी करनेका अवसर मिलेगा।

भारत सम्बन्धी मामलोंमें इस निर्वाचनका क्या असर होगा, यह अभीसे नहीं कहा जा सकता। संभव है अनुदारदलकी प्रधानताके कारण इंग्लैण्डके उन भारत-हितैषियोंके काममें और भी अधिक बाधाएँ उपस्थित हो जायँ जो इस देशकी आकांक्षाओंके समर्थक हैं, किन्तु इससे क्या? भारतका हिताहित, उसकी उन्नति-अवनति एकमात्र ब्रिटिश प्रतिनिधि-सभाकी इच्छापर ही आश्रित नहीं है। गौणरूपसे वह हमारी उन्नतिकी साधक या बाधक भले ही कह दी जाय, किन्तु वास्तवमें भारतका भविष्य भारतके ही हाथमें है।

निर्वाचित व्यक्तियोंमें, किसी हद्तक भारतका पक्षलेनेवाले, मजदूरदलके नेता श्री बेन स्पूर तथा कर्नल वेजवुड़ भी हैं। साथ ही इस बार श्रीशाकलातवाला नामक भारतीय सज्जन भी प्रतिनिधि निर्वाचित हुए हैं। आप कोई चौदह वर्षोंसे विलायतमें ही है। ब्रिटिश प्रतिनिधि सभामें निर्वाचित आप तीसरे भारतीय हैं। आपके पहिले दादाभाई नौरोजी तथा सर मञ्चरजी भी प्रतिनिध चुने जा चुके हैं।

* *

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्थामें भारतका स्थान।

सारे संसारके श्रमजीवियोंकी दशा सुधारनेके अभिप्रायसे राष्ट्र संघने एक

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्था भी स्थापित की है। इसका कुछ विवरण पाठकोंको इस वर्षके ज्येष्ठ मासके "स्वार्थ"में प्रकाशित 'सामयिक संग्रह'में मिलेगा। इसकी प्रबन्ध-समितिमें कुल २४ सदस्य हैं, जिनमेंसे छः मालिकोंके एवं छः श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि रहते हैं, शेष बारह सदस्य भिन्न भिन्न देशोंकी सरकारों द्वारा चुने जाते हैं। इन बारह सदस्योंमेंसे आठ सदस्योंका निर्वाचन संसारके आठ बड़े बड़े औद्योगिक राष्ट्रोंकी सरकारोंके प्रतिनिधियों द्वारा होता है, और बचे हुए चार सदस्य अन्य देशोंकी सरकारोंके प्रतिनिधियों द्वारा चुने जाते हैं। औद्योगिक दृष्टिसे संसारके मुख्य मुख्य आठ राष्ट्रोंकी सूची तैयार करनेका काम एक अन्तर्राष्ट्रीय समितिको सौंपा गया। उसने इन नौ राष्ट्रोंके नाम पेश किये—१. अमेरिका, २. ग्रेट ब्रिटेन, ३. फ्रांस, ४. जर्मनी, ५. इटली, ६. बेलजियम, ७. जापान, ८. स्विटजरलैण्ड, तथा ९. स्पेन। स्पेनके सम्बन्धमें यह शर्त थी कि यदि जर्मनी राष्ट्रसंघका सदस्य न बने, तभी उक्त सूचीमें उसकी गणना की जाय। स्वीडन, कनेडा तथा भारतने इस नामावलीका विरोध किया, किन्तु उस समय वाशिंगटन सम्मेलनने उसे ही स्वीकार कर लिया। हाँ, उसने यह राय अवश्य दी कि प्रबन्ध—समितिमें यूरोपके बाहर वाले देशोंके प्रतिनिधियोंकी संख्या बहुत कम है। साथ ही अमेरिकाके स्थानमें डेनमार्कका नाम रख दिया गया, क्योंकि अमेरिका राष्ट्र-संघका सदस्य नहीं बना।

यद्यपि पहिला प्रयत्न निष्फल हुआ तो भी भारतने अपनी कोशिश जारी रखी। भारतीय प्रतिनिधियोंने राष्ट्र संघकी उपसमितिके सामने एक वक्तव्य उपस्थित कर यह प्रमाणित किया कि संसारके औद्योगिक राष्ट्रोंमें भारतका स्थान काफी ऊँचा है। संवत् १९७७ के ज्येष्ठ-आषाढमें इस प्रश्न पर पुनः विचार हुआ और उक्त वक्तव्यमें दिये गये अंकोंकी जाँचके लिये एक समिति नियुक्त हुई। लगभग दो महीनोंके बाद फिर यह प्रश्न उठाया गया। एक दो प्रयत्न और हुए किन्तु सफलता न हुई। गत आश्विन (१९७९)में लार्ड चेल्म्सफोर्डने उक्त वक्तव्यके आधार पर भारतके निमित्त पैरवी की। आपने संसारके भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी औद्योगिक जन-संख्याके जो अंक पेश किये थे वे हम गत मासमें प्रकाशित कर चुके हैं। आपके तथा भारतीय प्रतिनिधियोंके मतसे भारतकी औद्योगिक जन-संख्या दो करोड़ है अर्थात् इस सम्बन्धमें वह सब राष्ट्रोंसे बढ़कर है। इस बारका प्रयत्न सफल हुआ। अब संसारके आठ बड़े बड़े राष्ट्रोंमें भारत भी शामिल कर लिया गया है—, प्रबन्ध—समितिमें उसका भी प्रतिनिधि रहेगा।

* *

प्राप्त-स्वीकार।

जर्मनीके 'बर्लिन' नगरसे अध्यापक विनयकुमार सरकारने अपने द्वारा सम्पादित "कामर्शलन्यूज" नामक मासिक पत्र हमारे पास भेजनेकी कृपाकी है। प्रथम दो अंकोंमें कई स्थानोंपर "स्वार्थ"का स्मरण करनेके कारण हम अध्यापक महोदयके कृतज्ञ हैं।

"स्वतंत्र"के तथा 'प्रभा'के विशेष अंकोंकी प्राप्ति भी हम विशेष कृतज्ञताके साथ स्वीकार करते हैं। ये अंक उपयोगी सामग्रीसे परिपूर्ण और संग्रहणीय हैं।

ज्ञातव्य विषय तथा अंक।

भारतीय सैनिक व्ययकी वृद्धि।

संवत्	सैनिक व्यय करोड़ रुपयोंमें*	संवत्	सैनिक व्यय करोड़ रुपयोंमें
१९७०	३१·९०,		(८७·२५
१९७१	३२·७१	१९७७	९४·०४
१९७२	३५·२५		(८८·२३)
१९७३	३९·८५	१९७८	७७·६९
१९७४	४६·१५		(७१·५५)
१९७५	७०·२५	१९७९	७४·७६
१९७६	९१·०३		(६७·७२)

सैनिक-व्ययकी अपार वृद्धि तो ऊपरकी सूचीसे प्रकट ही होती है, साथ ही यह भी मालूम होता है कि विनिमयकी दर कानूनन एक रुपया बराबर दो शिलिंगके बनाये रहनेमें भारत सरकार कितना नुकसान उठा रही है। संवत् १९७९में सेनाके लिये ६७·७२ करोड़के व्ययका अनुमान किया गया है, किन्तु विनिमयके कारण ७·०४ करोड़ और सैनिक ऋणके व्याज तथा सेनाकी मदमें घटीकी पूर्ति इत्यादिके लिये १७·१४ करोड़ और पड़ेंगे अर्थात् कुल सैनिक व्यय कोई ९१·९० करोड़पर पहुँचेगा।

[१ नवम्बरके 'बाम्बे क्रानिकल'से]

---

*इस सूचीमें खास भारतके सैनिक व्ययके अतिरिक्त वह व्यय भी शामिल है जो विलायतमें भारतके सैनिकोंकी शिक्षा, पेन्शन इत्यादिके निमित्त किया जाता है। यह भी भारतको ही देना पड़ता है। अंतके पांच अंक उड़ा दिये गये हैं।

† संवत् १९७६-७७-७८-७९ के दुहरे अंक क्यों दिये गये हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख मूल सूचीमें नहीं है, किन्तु बादके विवरणसे मालूम होता है कि कोष्टक वाले अंक ही असलमें स्वीकृत अंक हैं, जिनमें विलायतमें होनेवाले व्ययकी गणना कानूनन निर्धारित विनिमयकी दरके अनुसार की गयी है। कोष्टकके बाहर वाले अंक विनिमयकी गड़बड़ीके कारण विलायतमें किये जाने वाले व्ययकी वृद्धिको मिलाकर प्राप्त किये गये हैं—सं० स्वार्थ।

ओ३म् वन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३ } पौष १९७९ { अङ्क ३
खण्ड २ } { पूर्णाङ्क ३३

मैनेजिंग एजंसी।

व्यापार-संसारमें लोकतन्त्रकी नीति जाइण्ट स्टाक कम्पनीमें देखी जाती है। एकका विकास और दूसरेका इतिहास दोनों एक ही विषय हैं। साथ ही जिस प्रकार राजनीतिक लोकतन्त्रके सिद्धान्तको, व्यावहारिक दृष्टिसे, इस उन्नतावस्थामें लानेका श्रेय पाश्चात्य जगत्को है उसी प्रकार व्यापारिक लोकतन्त्रके लिये भी हमें उसीका कृतज्ञ होना पड़ेगा। जिस समय 'ईस्ट इंडिया कम्पनी हमारे देशमें आयी उस समय हमारा वाणिज्य-व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था, इसमें सन्देह नहीं। जिन लोगोंने उस समयसे लेकर आज तकका इतिहास ध्यानसे पढ़ा है वे जानते हैं कि यदि कम्पनी मुर्शिदाबादके जगत्-सेठोंका कृपापात्र न होती तो वंग-विजेत्री बननेकी बात तो दूर रही, बंगालमें उसके पैर ही न जमते। और यदि बंगाल-विहारकी बागडोर उसके हाथ न आ जाती तो कौन कह सकता है कि आज अंग्रेज शासक ही सारे भारतवर्षके भाग्य-विधाता होते? उन जगत्-सेठोंके धनका पारावार न था। इसी प्रकार इस देशमें और भी कितने ही सेठ-साहूकार ऐसे थे जिनका नाम देश-देशान्तरमें फैला हुआ था, जिनकी व्यवसायबुद्धि कम्पनीके कर्म्मचारियों और अन्य विदेशी यात्रियोंके आश्चर्य्यकी वस्तु थी। पर यह मानना पड़ेगा कि हमारा वाणिज्य-व्यवसाय समवायके सिद्धान्तपर अवलम्बित न था। बड़े बड़े धनाढ्य व्यक्ति थे और वे जो कुछ कारोबार करते थे अपने पैसेसे। उधर ईस्ट इंडिया कम्पनी, जाइण्ट स्टाक अर्थात् संयुक्त मूलधनके आधार पर बनी थी और एक प्रकारकी सार्वजनिक संस्था थी। उसके

हिस्सेदार भी भले ही लखपती करोड़पती रहे हों, पर उसका निर्माण जिस आधारपर किया गया था वह लोकसत्तात्मक था। ईस्ट इंडिया कंपनी तो तुलाधारसे दण्डधार बन बैठी, पर धीरे धीरे इस देशमें, विशेषतः कलकत्तेमें, और भी कई ऐसी कम्पनियां खुलीं जिनका उद्देश केवल व्यापार ही था पर जो ईस्ट इंडिया कम्पनीकी तरह दो-चार, दस-बीस या सौ-दो-सौ मनुष्योंकी सम्मिलित पूंजीसे काम करने वाली थीं। फिर तो यह प्रथा चल पड़ी और जाइण्ट स्टाक कम्पनियोंकी संख्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही गयी। अब तो साधारणत: जितने कल कारखाने खुलते हैं जाइण्ट स्टाक कम्पनियोंके ही रूपमें–यहां तक कि यदि उनके कर्णधार करोड़पती भी होते हैं तो भी उनके मूलधनका अधिकांश या अल्पांश जनसाधारणका अवश्य रहता है। पर जब पाश्चात्य संसारकी ही देखा देखी यह पद्धति यहां चल पड़ी तब यह भी स्वाभाविक था कि हिन्दुस्थानी कम्पनियोंका क़ानून यथासंभव वही रहे जो वहां प्रचलित हो—और हुआ भी यही। सिर्फ कानून ही नहीं, और बातें भी वहींके अनुसार होने लगीं और आज भी होती हैं। फिर भी भारतवर्षमें एक वस्तु देखनेमें आती है जिसका पाश्चात्य देशोंमें अभाव ही कहा जा सकता है। वह है इन जाइण्ट स्टाक कम्पनियोंकी 'मैनेजिंग एजंसी' या 'प्रबन्ध-प्रतिनिधित्व' की प्रथा और उसीके सम्बन्धमें हमें यहां कुछ कहना है।

इस देशमें प्रत्येक जाइण्ट स्टाक कम्पनीके लिये कोई मैनेजिंग एजंट या एजंट्स होना एक साधारण नियम बन गया है। बड़ीसे बड़ी, और छोटीसे छोटी, कम्पनी जब जन्म लेती है तब उसमें मैनेजिंग एजंसीका नाभितन्तु लगा रहता है और वह भी इस प्रकार कि शायद जन्म भर उससे छुटकारा नहीं हो सकता। देशमें यह विश्वास जमता जा रहा है कि कम्पनीके लिये मैनेजिंग एजण्ट होना अनिवार्य्य है और इससे मैनेजिंग एजंसीके प्रचारमें बड़ी सहायता मिल रही है। पर बात क्या है? एजण्ट प्रतिनिधिका काम करता है और मैनेजमेंट व्यवस्था या प्रबन्धको कहते हैं। किसी कल-कारखानेका "मैनेजर" प्राय: अपने विषयका विशेषज्ञ होता है, पर उसमें और "मैनेजिंग एजंट" में भेद है, क्योंकि वह कारखानेके मालिक या मालिकोंका एजंट या प्रतिनिधि नहीं है और उसका काम या जिम्मेदारी माल तैयार कर देने पर समाप्त सी हो जाती है। अर्थात् जहां इस देशमें मैनेजिंग एजेण्टस हैं वहां मैनेजर नहीं होते—यह समझना भूल है। मैनेजिंग एजंट्सके अधिकार मैनेजरसे कहीं अधिक विस्तृत होते हैं, यहांतक कि मैनेजरका रहना-न रहना उन्हींकी मर्जीपर रहता है। कम्पनीके हिस्सेदार 'शेयर होल्डर' कहाते हैं और उनकी ओरसे कार्य्यसंचालन करनेवाले डाइरेक्टर (सञ्चालक)। कम्पनियोंके डाइरेक्टर इस देशमें भी होते हैं और विलायतमें भी, पर जहाँ विलायतमें डाइरेक्टर एक सेक्रेटरीकी सहायतासे स्वयं सारे कामकी देख भाल करते हैं वहाँ इस देशमें यह चाल पड़ गयी है और पड़ती जारही है कि बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स या संचालक समिति अपने प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार एक दूसरी कम्पनी या फर्मको—जो विशेषत: 'प्राइवेट' होती है—सौंप देती है और आप प्रबन्धमें कोई भाग नहीं लेती। यह कम्पनी या फर्म "मैनेजिंग एजंट"

(प्रबन्ध प्रतिनिधि या प्रबन्ध मुख्त्यार) कहाती है और इसे ही कम्पनीका कर्ता-धर्ता समझना चाहिये। यह जो कहती या करती है वह सबको मान्य होता है और डाइरेक्टरोंकी जो मीटिंग (बैठक) होती है वह सिर्फ इसकी बातोंपर मोहर लगानेके लिये। कच्चा माल किस दरमें और कहाँ खरीदा जाय, तैयार माल किस दरमें और कहां बेचा जाय; कारखाना हफ्तेमें के दिन चले, उसमें किस हिसाबसे माल तैयार किया जाय; कितना शेयर होल्डरोंको डिविडेंट या मुनाफा बांटा जाय कितना रिजर्व फन्ड (रक्षित कोष) में रखा जाय—इत्यादि, इत्यादि किसी कारखानेके संचालनसे सम्बन्ध रखने वाली एक सौ एक बातें मैनेजिंग एजंट्सके ही इच्छानुसार हुआ करती हैं और उनके मार्गमें कोई किसी प्रकारकी रुकावट नहीं डाल सकता। पर यह अवस्था' जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसी देशमें है—अन्यत्र नहीं। इसका क्या कारण है यह नीचेके विवरणसे स्पष्ट होगा।

पहिले पहिल इस देशमें जो उद्योग-धन्धे खुले वे ब्रिटिश पूंजीसे और उन कम्पनियोंका निर्म्माण या रजिस्टरी भी इंग्लैण्डमें ही हुई। इस हालतमें एक कठिनाई उपस्थित हुई। शेयर होल्डर इंग्लैण्डमें, डाईरेक्टर इंग्लैण्डमें, पर कल-कारखाने सात समुद्र पार भारतवर्षमें। कम्पनियोंके कार्य्य संचालनकी जो पद्धति वहाँ चली आरही थी उससे इनका काम न चलता, अतः उसमें कुछ परिवर्त्तन करना उनके लिये अनिवार्य्य होगया। यहाँ कुछ ब्रिटिश फर्में पहिलेसे ही ऐसी थीं जिनकी व्यापार-संसारमें अच्छी साख थी और जो विशेषत: रुपयेके लेन-देन या महाजनीका कारोबार करती थीं। उन विलायती कम्पनियोंने देखा कि यदि इन फर्मोंको हम अपना मैनेजिंग एजंट बना देते हैं तो हमारा काम मजेमें चलता है और हम सब तरहके झंझटोंसे बच जाते हैं। बड़ीसे बड़ी कम्पनीको भी कभी कभी रुपये उधार लेनेकी जरूरत पड़ जाती है, इस लिये उन्होंने यह भी सोचा कि यदि इन फर्मोंसे सम्बन्ध हो जायगा तो समय समय पर जो रुपया जरूरी होगा वह इनसे मिल जायगा। नहीं तो कौन जानता है कलकत्तेमें कोई बंक उधार दे या न दे, और संभव है जब तक यहाँसे रुपया भेजा जाय तब तक सारा काम ही बिगड़ जाय। फिर ये कम्पनियां भी ब्रिटिश—और यहाँकी फर्में भी ब्रिटिश—यह डर करनेका कोई कारण न था कि उनकी सच्ची स्वार्थरक्षा न होगी। यही सोच विचार कर उन कम्पनियोंने इन मुट्ठीभर फर्मोंको अपनी मैनेजिंग एजंसी देना शुरू कर दिया और धीरे धीरे प्रायः सभी कम्पनियां इनके हाथमें आगयीं। जरूरी यह नहीं था कि किसी फर्मको किसी उद्योग धन्धेका विशेष अनुभव हो, जरूरी यह था कि वह प्रतिष्ठित फर्म हो—उसकी बाजारमें धाक हो—वह साधनसम्पन्न हो। इन फर्मोंमें आप प्रत्येकको तरह तरहके उद्योग धन्धोंकी 'मैनेजिंग एजंसी' करते पायेंगे। जहां उसके हाथमें दस बीस चायबागान हैं वहां उतनी ही कोयलेकी खानें और दो-चार जूट मिलें भी हैं। संभव है इसके साथ साथ वह एक आटेकी मिल और एक काग़ज़की मिलकी भी मैनेजिंग एजंट हो। ऐसी अवस्थामें आप अनुमान कर सकते हैं कि जिन फर्मोंके हाथमें मैनेजिंग एजंसियां हैं वे कितनी शक्तिशाली होंगी—

व्यवसाय संसारमें उनका कितना प्रभाव होगा। और उनके लाभकी बात तो पूछिये ही मत! मैनेजिंग एजंट वेतन नहीं पाते, मुनाफेमें हिस्सा पाते हैं। "आफिस अलाउन्स"के नामसे एक बँधी हुई रकम उन्हें इसके अलावा मिलती है। यह रकम पूंजीके हिसाबसे ठहरायी जाती है और यद्यपि मैनेजिंग एजंट एक ही आफिसमें बैठकर पचास कम्पनियोंकी मैनेजिंग एजंसी करता है तथापि वह यह रकम पाता है उनमेंसे प्रत्येकसे। यह सब तो इक़रारनामेके अनुसार होता है, पर यह समझनेके लिये कुछ बड़ी कल्पनाशक्तिकी आवश्यकता नहीं कि मैनेजिंग एजण्ट और भी कई उपायोंसे—यदि वह चाहे तो, और न चाहनेवाले हैं ही कितने?—रुपये "बना" सकता है। मिलके लिये लाखोंकी मशीनरी (यंत्र) मँगानेके आर्डर (आज्ञापत्र) दिये जाते हैं; लाखों मकान इत्यादि बनानेमें खर्च होते हैं; लाखोंकी खरीद-बिक्री हरसाल हुआ करती है—पद पद पर पैसा है हाँ काम ज़रा खूबसूरतीसे जरूर होना चाहिये! कम्पनीके फन्डमें रुपया पड़ा हुआ है पर मैनेजिंग एजंटके खातेमें रुपया नहीं— कलम चलानेसे ही रुपया इधरसे उधर आगया और मैनेजिंग एजंटका काम निकल गया। मैनेजिंग एजंटके पास रुपया बेकार पड़ा है, उसके हाथकी किसी कम्पनीको रुपया चाहिये। कर्ज दे दिया। रुपया निरापद रहा और अच्छा सूद भी मिल गया। पाठक मतलब समझ गये होंगे पर एक दो उदाहरण और देते हैं। एक फर्म पाटकी खरीद-बिक्रीका काम करती है और वह किसी जूट मिलकी मैनेजिंग एजंट भी है। मान लीजिये कि उस फर्मने ६०) की दरमें पाट खरीदा पर दो ही घण्टेमें बाजार गिरकर ५०) पर आगया। अब अगर मिलको पाटकी जरूरत है—और जरूरत दिखा देना कुछ कठिन नहीं—तो मैनेजिंग एजंट अपना महँगा सौदा आसानीसे मिलके माथे पटक कर अपनी प्राण-रक्षा कर सकता है। इसके लिये उसे करना इतना ही होगा कि सौदेका समय दो घंटे पहले लिख देना होगा, अर्थात् गिरते बाजारमें मैनेजिंग एजंट बेचता है और मिल खरीदती है। उसी तरह जब तैयार मालका बाजार चढ़ने लगता है तब मिल बेचती है और मैनेजिंग एजंट खरीदता है!! उसके दोनो हाथ लड्डू रहते हैं। मिलकी भीतरी बातें जाननेके कारण मैनेजिंग एजंट शेयर बाजारमें जो कुछ कर सकता है वह इन बातोंके अलावा हैं। सारांश यह कि काम हर तरहसे मुनाफेका है और कोई भी ऐसी फर्म नहीं जो इसके लिये लालायित न हो। बस मैनेजिंग एजंसीकी इस देशमें भी चाल पड़ गयी और दिन दिन उसकी जड़ मजबूत ही होती जा रही है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति और भी कारणोंसे हुई थी तथापि यह यहांकी भिन्न अवस्थामें भी फूलने फलने लगी। स्वदेशी कम्पनियोंके सामने वह समस्या उपस्थित न थी जिसे हल करनेके लिये ब्रिटिश कम्पनियोंने यह तरीका ईजाद किया था, पर यह देखकर कि मैनेजिंग एजंसी कामधेनुका काम देती है हमारे व्यवसायी इसे यहाँ भी चलानेका उद्योग करते गये और अन्तमें औद्योगिक संसारमात्रमें इसकी तूती बोलने लगी, अर्थात कम्पनियां मैनेजिंग एजंटोंकी तलाश नहीं करतीं बल्कि मैनेजिंग एजट बननेकी इच्छा रखने वाले ही

अब कम्पनियोंको जन्म देते-दिलाते हैं । हमारा विश्वास है कि यह प्रबन्धप्रणाली शेयर होल्डरों (हिस्सेदारों) के, अतएव हमारे औद्योगिक भविष्यके लिये अत्यन्त हानिकर है । कमसे कम, इसको और आगे बढ़ने देना उचित नहीं । जब हर दिशामें हम देखते हैं कि किसीकी वास्तविक हित-रक्षा तभी होती है जब वह आप उसकी चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते-जागते चिन्तना करता है, स्वयं अपने काम-काजका ध्यान रखता है, तब कम्पनियोंमें रुपया लगाकर मैनेजिंग एजंटोंके भरोसे बैठ रहनेसे, उनमें अन्ध-विश्वास करनेसे कोई पूरा फायदा कब उठा सकता है ?

मैनेजिंग एजंसीकी प्रथासे हमारे बीच परावलम्बनके भावकी वृद्धि हो रही है । यह सच है कि शेयर होल्डरोंको और देशोंमें भी अपने अधिकार कुछ चुने हुए लोगोंको सौंप देने पड़ते हैं—डाइरेक्टरों (सञ्चालकों) पर प्रबन्ध भार छोड़ देना पड़ता है, पर सञ्चालकों और हिस्सेदारोंका स्वार्थ एक होनेके कारण यह परावलम्बन किसी देशकी औद्योगिक उन्नतिके लिये उतना भयंकर नहीं जितना वह परावलम्बन है जिसमें हिस्सेदार या सञ्चालक सबको मैनेजिंग एजटंके इशारेपर नाचना पड़ता है । देखिये इस देशमें क्या हो रहा है । किसी बड़े व्यवसायीने देखा कि किसी स्थानमें एक जूट मिल खोलनेसे लाभ है । उसने अपने मेलके दो चार आदमियोंको समझा-बुझा कर उस योजनामें शामिल कर लिया और इन "प्रोमोटरों" की दर्ख्वास्त पर कम्पनीकी रजिष्टरी हो गयी । फिर उस व्यवसायीकी करतूतसे कम्पनीके डाइरेक्टर भी वही बनाये गये जो उसके अनुकूल चलनेवाले हैं, और उन्हींके साथ उसने ऐसी व्यवस्था की जिससे वह बरसोंके लिये उस कम्पनीका मनेजिंग एजटं नियुक्त हो गया और ऐसी शर्तोंपर कि अब वह किसी के हटाये हट भी नहीं सकता । डाइरेक्टर तो नाममात्रके लिये रहते हैं, न वे कुछ करते धरते हैं, न मैनेजिंग एजण्टके कामोंमें हस्तक्षेप करते हैं । अब तो यह होने लगा है कि डाइरेक्टर बनानेके लिये कमसे कम जितने शेयर लेना या रखना जरूरी है उससे एक भी ज्यादा शेयर डाइरेक्टरका नहीं होता । खास कर यह हालत उन कम्पनियोंकी है जिन्हें स्वार्थी व्यक्ति या दल सिर्फ अपना मतलब निकालनेको खड़ा करते हैं । शेयरोंकी बिक्रीके जो विज्ञापन पत्रोंमें निकलते हैं उनमें बहुधा ऐसे दो-चार रईसों, जमींदारों, व्यवसायियों या वकील-बेरिस्टरोंके नाम डाइरेक्टरोंके रहते हैं जिन्हें जनता "विश्वसनीय" समझती और मानती है । पर यदि आप इस बातकी खोज करें तो बहुत करके यही पायेंगे कि उनमेंसे किसीने अपना अधिक रुपया उस कम्पनीमें नहीं लगाया है । कोई मैनेजिंग एजंटके मुलाहजेमें आ गया है, कोई दबावमें, कोई मैनेजिंग एजण्टकी फर्मसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखता है, कोई इसी कम्पनीके गले अपनी कुछ जमीन या अपना कोई मकान मढ़नेवाला है, कोई एकाउण्टेण्ट है और इसी कम्पनीका हिसाब-परीक्षक नियुक्त हुआ है, कोई हाईकोर्टका रत्न है और मैनेजिंग एजंट द्वारा इसी कम्पनीका "सालिसिटर" बनाया गया है । देखने-दिखानेको दस नाम होगये; विज्ञापनोंकी धूम मचा दी गयी; सब या कुछ

शेयर बिक गये; कम्पनी न चलनेकी आशासे खड़ी की गयी थी, न चली; मैनेजिंग एजंट ने गुलछर्रे उड़ाये; शेयरहोल्डर अपने पैसेसे हाथ धो बैठे । उधर इंग्लैंडमें यह होता है कि सारा प्रबन्ध-भार डाइरेक्टरों पर रहता है और प्रत्येक डाइरेक्टर प्रतिदिन अपने समयका कुछ अंश कम्पनीके कार्य्योंकी देखभालमें लगाता है । वह इसका पुरस्कार अवश्य पाता है, पर ध्यान रखनेकी बात यह है कि जो रकम डाइरेक्टरोंको या मैनेजिंग डाइरेक्टरको इस कामके लिये वहां दी जाती है वह उस रकमके मुकाबलेमें कुछ नहीं होती जो यहां इन मैनेजिंग एजण्टोंके पेटमें चली जाती है । साथ ही, शेयर होल्डरों का स्वार्थ जितना वहाँ निरापद रहता है उतना यहां कभी हो नहीं सकता । कारण यही है कि वहाँ डाइरेक्टर वही बनाये जाते हैं जो कार्य्यकुशल, अनुभवी, पक्के व्यवसायी हैं, जिन्होंने कम्पनीमें काफी धन लगाया है, जो उसके लिये सब कुछ करने-धरनेको तैयार हैं, जिनका उससे सच्चा स्नेह है। पर यहाँके डाइरेक्टरोंकी बात और ही होती है। संभवत: ये अपनी कम्पनीके उद्योग-धन्धोंके विषयमें एक अक्षर नहीं जानते; संभवत: इन्हें इस बातकी जरा भी परवा नहीं कि कम्पनी चलेगी या डूबेगी। इन्होंने तो मैनेजिंग एजंटके "आग्रह"से अपना सम्बन्ध जोड़ा है और "कुछ शेयर (हिस्से) ले लिये हैं" । कम्पनी चली तो वाह, वाह; डूबी तो वाह, वाह । कम्पनीको कभी रुपयेकी जरूरत पड़ जाय तो यहांके डाइरेक्टर अपने पाससे दो चार हजार भी निकालनेके नहीं। डाइरेक्टरोंकी मीटिंग (सभाकी बैठक) में उपस्थित होनेकी जो फी मिलती है उसे मुसकुराते हुए जेबमें रखते हैं और मैनेजिंग एजंटकी रिपोर्ट पर दस्तखत बना कर सीधे घर लौट आते हैं । शेयरहोल्डरोंके लाभालाभसे इन्हें कोई मतलब नहीं, मैनेजिंग एजंटसे "भाव" बना रहना चाहिये । शेयरहोल्डर भी सब कुछ चुप चाप सह लेते हैं, या यों कहना चाहिये कि उनमेंसे अधिकांशको यह भी खबर नहीं रहती कि कम्पनीकी क्या हालत है और क्या होनी चाहिये । अगर उनमेंसे कुछ मैनेजिंग एजंट या अपने डाइरेक्टरोंका विरोध करनेका साहस और शक्ति रखते भी हैं तो देखते हैं कि कानूनी कठिनाइयोंके कारण उनकी कुछ चल नहीं सकती । सिर पटक कर रह जाते हैं। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं शेयरहोल्डरोंमें अधिकांश निरपेक्ष रहतेहैं । कम्पनीमें रुपया लगा कर, भाग्यके भरोसे बैठ रहनेके सिवा उन्हें कुछ नहीं आता । इसका फल भी वही होता है जो होना चाहिये ।

उपाय क्या है ? मैनेजिंग एजन्सीकी प्रथाके प्रसारको रोकना चाहिये । जिनके पास कुछ पूँजी है और जो देशकी औद्योगिक उन्नतिमें उसे लगानेके इच्छुक हैं उन्हें स्वावलम्बनका पाठ पढ़ना और पढ़ाना चाहिये। कठिनाइयां हैं, पर धीरे धीरे उनपर विजय प्राप्त करनेका उद्योग होना चाहिये। क्या कारण है कि दस हजारकी पूँजीकी कम्पनीकी सफलताके लिये भी—डाइरेक्टरोंके अलावा मैनेजिंग एजंट आवश्यक या अनिवार्य्य समझे जायँ ? देशकी औद्योगिक नौकाके कर्णधार बननेकी थोड़ी भी योग्यता

जिनमें है उन्हें स्वावलम्बनसे उस योग्यताको दिन दिन बढ़ाना चाहिये। मैनेजिंग एजंसीकी बुतपरस्ती बेहद बढ़ गयी है, इस कारण आत्मसम्मान और आत्मविश्वासका भाव और भी दबता जा रहा है। प्रणालीमें 'सुधार' आवश्यक है, नहीं तो हमारे औद्योगिक भवनकी नींव कमजोर ही बनी रहेगी। यह हुई आदर्शकी बात। व्यवहारमें, हम देखते हैं कि औद्योगिक नेताओंकी यहां बड़ी कमी है और जो नेतृत्वकी योग्यता रखते हैं उनका हौसला कम्पनीकी डाइरेक्टरी करनेका नहीं, मैनेजिंग एजंसी करनेका होता है। इस लिये हम ऐसी आशा नहीं कर सकते कि जिस 'सुधार' का इस लेखमें प्रस्ताव किया गया है वह हमें शीघ्र ही देखनेको मिलेगा। उसके लिये समयकी आवश्यकता है और उसका प्रारम्भ भी छोटी-मोटी कम्पनियोंसे ही होगा। फिर आज तक जो कम्पनियां खुल चुकी हैं और जिनके मैनेजिंग एजंट हैं उनकी भी बात याद रखनी होगी। यह भी याद रखना होगा कि सब मैनेजिंग एजंट एकसे नहीं होते। सन्तोषका विषय है कि कुछ ऐसे भी हैं जो अपनी सचाई-सफाईके लिये देश-देशान्तरम प्रसिद्ध हैं और जिनकी कर्तव्य-परायणताकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। ऐसी अवस्थामें सुधारका एक ऐसा भी-सूत्र होना चाहिये जिसके अन्तर्गत सभी कम्पनियां—वर्तमान और आनेवाली, मैनेजिंग एजंटोंके हाथकी और उनके बिना काम चलानेवाली—आजायँ। ऐसा सुधार-सूत्र एक यही है कि—"शेयर होल्डरोंको सदा जागृत रहना चाहिये"।

किसी कम्पनीके अच्छेसे अच्छे मैनेजिंग एजंट हों, अच्छेसे अच्छे डाइरेक्टर हों, पर यदि उसके शेयरहोल्डर आप अपने हितकी रक्षा करनेको बराबर तैयार नहीं हैं तो इस बातकी कोई ग्यारण्टी नहीं हो सकती कि कम्पनी कभी उसके विरुद्ध आचरण न करेगी। क्या यह खेदका विषय नहीं कि जहां राजनीतिक संसारमें लोग खुले शब्दोंमें यह आवाज देते हैं कि "वोट नहीं तो कर नहीं", वहां इन कम्पनियोंको धन सौंपकर वे अपने प्राप्त वोटका उपयोग करनेका नाम भी नहीं लेते? अगर मैनेजिंग एजंसीको "नौकरशाही" मान लें तो कहना होगा कि इसे भी ठीक राहपर लानेके लिये शेयरहोल्डरोंकी पार्लमेण्ट या सभा या संगठनका होना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तवमें सारी बुराइयां इस संगठनके अभावसे ही पैदा होती हैं। जो काम करनेका क़ानूनने मैनेजिंग एजण्टको अधिकार नहीं दिया है वह भी वह कर बैठता है, क्योंकि उसे विश्वास है कि शेयरहोल्डर चूँ तक न करेंगे। यह दुरवस्था दूर होनी चाहिये। कार्य्य कठिन अवश्य है, क्योंकि सारे शेयरहोल्डर एक स्थानके नहीं होते; कितने ही शेयर सिर्फ़ फाटकेके खयालसे खरीदे-बेचे जाते हैं—पर चेष्टा करनेसे बहुत कुछ संगठन किया जा सकता है, मैनेजिंग एजण्टोंकी स्वेच्छाचारिता रोकी जा सकती है। यों तो भिन्न भिन्न कम्पनियोंके शेयरहोल्डरोंको भिन्न भिन्न समस्याएं हल करनी होंगी, पर एक ऐसी संस्थाकी भी आवश्यकता है जो शेयरहोल्डर-मात्रकी हितरक्षाके लिये हो, जो सुधार सम्बन्धी उद्योगोंका केन्द्र कहा जा सके, जो इस विषयमें प्रहरी और पथप्रदर्शक

दोनोंका ही काम करे। ऐसी एक संस्था कुछ समयसे कलकत्तेमें है और यह अच्छा काम भी कर रही है, पर शेयरहोल्डरोंने इसे अभी तक वह सहायता या सहयोग प्रदान नहीं किया है जो उन्हें अपनी ही भलाईके लिये करना उचित है। उन्हें यह आलस्य या उदासीनता त्याग कर इसे पूरे तौरसे अपनाना चाहिये। उसके मन्त्रीके शब्दोंमें हमें भी यही कहना है कि--"बीते हुए बरसोंमें स्वेच्छाचारी एजण्टोंने अपने दिन बड़े आराम और चैनसे गुजारे हैं। शेयर होल्डर उनका विरोध करनेका कभी नाम भी न लेते थे। पर कलकत्तेमें शेयर होल्डर्स एसोसियेशनकी स्थापनाके बाद पांच बड़े मैनेजिंग एजंटोंको जिन्होंने शेयरहोल्डरोंके स्वार्थको धक्का पहुंचाने वाले कुछ प्रस्ताव उपस्थित किये थे, हार मान कर मनकी बात मनमें ही रखनी पड़ी। फिर भी सभी शेयरहोल्डरोंके सामने उनके कर्तव्यका अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र पड़ा है। पहिले वे जो कुछ मैनेजिंग एजंट करते थे उसे चुपचाप स्वीकार कर लेते थे। अब उन्हें यह आदत छोड़ देनी चाहिये। उनका कर्तव्य है कि कम्पनीकी काररवाइयोंकी बराबर खबर लिया करें, उसकी आर्टिक्लस और मेमोरन्डम आफ एसोसियेशनको देखा करें, उसकी सालाना और छमाही रिपोर्टोंको गौरसे पढ़ा करें। उन्हें चौकस रहना चाहिये, अपना हिताहित देखते रहना चाहिये और अगर मैनेजिंग एजंटोंके बारेमें कोई शिकायत हो तो फौरन शेयरहोल्डर्स एसोसियेशनको इसकी सूचना देनी चाहिये"। आशा है यह अनुरोध निष्फल न जायगा।

'आलोचक'

राजत्वकी उत्पत्ति।

राजा प्रजाका सम्बन्ध स्मरणातीत समयसे चला आता है सही, किन्तु इससे यह बात नहीं सिद्ध हो सकती कि सृष्टिकर्ताने ही सृष्टिके प्रारम्भमें राजाको प्रजापर शासन करनेके हेतु बनाया। साथ साथ यह बात भी ग़ौर करने योग्य है कि करुणामय जगत्पिताकी ऐसी अभिलाषा कदापि नहीं हो सकती कि एक आदमी दूसरेको अपने अधिकारमें रक्खे, उसपर दबाव डाले और वह विचारा विवश होकर उसकी घुड़कियां सहा करे, मार खाया करे और अपनी नैसर्गिक स्वतन्त्रता विनामूल्य उसके हाथ वेच डाले। यह सीधी सादी बात सबकी समझमें आ सकती है कि जब ईश्वर जगत्पिता अर्थात् संसार भरके सभी प्राणियोंके जन्मदाता हैं तब भला यह क्योंकर माना जा सकता है कि पिता अपने एक पुत्रको दूसरेका गुलाम बना दे। उसके लिये तो सभी पुत्र एक समान हैं। सबोंका नैसर्गिक अधिकार बराबर है और सभी समताकी दृष्टिसे देखे जाने योग्य हैं। एक मनुष्यको दूसरेका गुलाम बनानेकी बात तो दूर रही, हमें अन्य-प्राणियोंकी भी स्वतन्त्रता हरण करनेका हक़ नहीं है। इसी न्यायपर धर्मशास्त्रकारोंने पशु-पक्षियोंको पिंजड़ेमें बन्दकर उन्हें पाल पोसकर रखनेकी मनाही की है और उनकी स्वतन्त्रताका हरण करना परम निषिद्ध तथा महापाप ठहराया है। अतएव यह स्पष्ट है कि राजा प्रजाका सम्बन्ध नैसर्गिक नहीं किन्तु कृत्रिम है। इस सम्बन्धकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई यह प्रामाणिक भारतीय ग्रन्थों तथा यूरोपीय निबन्धोंके आधारपर आगे दिखलाया जायगा।

यहां पर इस बातका संक्षेपमें उल्लेख कर देना उचित होगा कि जब ऐसी बात है तो प्राचीन समयसे सभी पुरानेदेशोंके लोगोंकी विशेषतया भारतीयोंकी यह धारणा क्योंकर चली आ रही है कि सृष्टिकर्ताने राजाको प्रजापर शासन करनेके लिये ही बनाया है। बात यह है कि प्राचीन समयमें सभी देशोंके खासकर भारतके लोग बड़े धार्मिक होते थे। खाने, पीने, सोने, धोने इत्यादि सभी कामोंमें उन्हें धर्म ही धर्म सूझता था। साथ ही साथ धार्मिक ग्रन्थोंके सम्बन्धमें दाषोद्भावना वे लोग नास्तिकता अथवा महापाप समझते थे। धर्मशास्त्रमें जहां कुछ मिल गया बस उसीको आधार मानकर अन्धेकी नाई उसी लकीरके फकीर हो जाते थे। और यही कारण है कि वे भीतर प्रवेशकर शास्त्रोंमें निहित गूढ़तत्वोंकी आलोचना करनेसे बाज आते थे। जब किसीको उन लोगोंसे कोई काम लेना पड़ता था तो वह अपने उद्देश्यपर धर्मका जामा चढ़ा लेता था। ऐसा करनेसे उसका मतलब बिना परिश्रम सिद्ध हो जाता था। प्राचीन ग्रीस देशके विषयमें तो ऐसा सुना जाता है कि न्यायालयमें न्यायकर्ता जो--'डेलफिक औरकिल' कहलाता

था जब बैठता था तब वहां देवमन्दिरकी भांति धूप जलाया जाता था और धूपके नशेमें वह जो कुछ निर्णय कर कह देता था उसे लोग ईश्वराज्ञाकी भांति श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते और पालन करते थे। अब धर्म-प्रधान देश भारतके विषयमें देखिये। मनुस्मृति प्रभृति धर्मशास्त्रमें राजामें लोकपालोंका अंश है ऐसा कहा है*। श्री मद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है "नराणाञ्च नराधिपम्" अर्थात् मनुष्योंमें राजा मैं ही हूं। इसका तात्पर्य्य है कुछ और ही और लोग समझने लगे कुछ और। जब यह बात देखी गयी कि बिना राजाके राज्य नहीं चल सकता तब राजामें यदि रोबदाब या धार्म्मिक अंश विशेष रूपसे न हो तो लोग क्योंकर उसकी आज्ञा मानेंगे। आगे चलकर स्वयं मनु भगवान्ने भी इसका तात्पर्य्य स्पष्ट कर दिया है। आप कहते हैं "**बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः, महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति**" अर्थात् राजा यदि बालक भी हो तो भी (साधारण) मनुष्य कहकर उसका अपमान नहीं करना चाहिये क्योंकि बड़े बड़े देवता मनुष्य रूपसे राजामें विद्यमान हैं। बस इन्हीं कथनोंके आधारपर लोग इस बातको भी 'अन्ध परम्परा' की भांति मानने लगे कि राजाको मानो सृष्टिकर्त्ता हीने बनाया अतएव उसे प्रजापर हुकूमत करनेका नैसर्गिक अधिकार है। किन्तु ऐसा सोचना बड़ी भूल है।

इस सम्बन्धमें भगवान् भीष्मपितामहका मत उल्लेखनीय है। राजनीतिज्ञताके विचारसे सुरगुरु वृहस्पति तथा असुरगुरु शुक्राचार्य्यसे नीचे उन्हींका स्थान है, ये उस समयके अत्यन्त अनुभवी राजनीति-वेत्ता समझे जाते थे। अठारहवीं शताब्दीमें जो राजनीतिक विचार यूरोपमें खासकर फ्रान्समें रूसो तथा इंग्लैण्डमें लॉकने प्रकट किये थे, जिनके निमित्त राजनीतिक संसार उन लोगोंका सदा ऋणी रहेगा, उनकी जानकारी कई शताब्दी पहिले ही भीष्मपितामहको थी। महाभारतके शान्तिपर्वमें राजा युधिष्ठिरने भीष्मपितामहसे प्रश्न किया है कि "हे महाराज! 'राजा' शब्दका आविर्भाव कब और कैसे हुआ। जब राजा भी एक सामान्य मनुष्य है, उसकी भी देह रक्त-मांसकी बनी है, वह भी सुख-दुःखका समान ही अनुभव करता है। वह भी जन्म-मरणका समान ही अधिकारी है, उसके समान अन्य बहुतसे लोग भी शूर वीर हैं, तब क्योंकर वह राजा होकर सर्वोपर हुकूमत करने लगा और उसे प्रसन्न कर लोग अपनेको कृतकृत्य समझने लगे। (शान्ति-पर्व, अध्याय ५६) इस प्रश्नका जो उत्तर भीष्मपितामहने दिया वह इस प्रकार है—

"नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।"

अर्थात् पहले ज़मानेमें न राजा था और न राज्य, न दण्ड देनेवाला था और न दण्ड केवल धर्मके सहारे प्रजा परस्पर अपनी रक्षा करती थी। फिर भी आप कहते हैं—

---

* **यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्म्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येषः सर्व भूतानि तेजसा।**

"अराजकाः प्रजाःपूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
परस्परं भक्षयन्तौ मत्स्या इव जले कृशान् ।"

अर्थात् प्राचीन कालमें अराजकता रहनेके कारण सबल दुर्बलका उसी प्रकार विनाश करते थे जिस प्रकार जलके भीतर बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल जाती है। सारांश यह कि प्राचीन कालमें राजाके न रहनेके कारण अराजकता फैली हुई थी। लोगोंके धन और प्राण सर्वथा अरक्षित थे। उनके लुट जानेका भय बराबर बना रहता था। अशान्तिके कारण वे लोग सुखकी नींद नहीं सो सकते थे। भीष्मपितामहके उक्त कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि सृष्टिके प्रारम्भमेंही ईश्वरने राजाको प्रजाके ऊपर शासन करनेके लिये नहीं बनाया।

भारतके मध्ययुगके परम दुर्धर्ष विद्वान् कौटिल्यका इस विषयमें यह कथन है कि—"मात्स्य न्यायाभिभूताःप्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे, धान्य षड्भागं, पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयम्प्रकल्पयामासुः" अर्थात् प्राचीन समयमें राजाके नहीं रहनेके कारण प्रजाको बड़ी तकलीफ झेलनी पड़ती थी। देशमें सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। बली मनुष्य निर्बलको उसी प्रकार अपना शिकार बनाते थे जिस प्रकार बड़ी मछली छोटीको। इस प्रकार पीड़ित हो कर प्रजा-वर्गने वैवस्वत मनुको अपना राजा बनाया। ये पहिले राजा होना स्वीकार नहीं करते थे किन्तु जब लोगोंने धान्य (उपज) का छठां हिस्सा, पण्य (क्रय-विक्रय योग्य वस्तु) का दशवां हिस्सा और सुवर्णमें भी हिस्सा देना स्वीकार किया तब ये राजा होनेपर राजी हुए।

प्रजाहीने मनुको राजा बनाया, इसका यहां स्पष्ट उल्लेख है। ऐसी दशामें यदि राजा-प्रजाका सम्बन्ध मनुष्यकृत न कहकर ईश्वरकृत माना जाय तो कहांतक युक्तिसंगत हो सकता है, यह पाठक स्वयं विचार करलें।

अब हम यूरोपीय नीतिशास्त्राचार्य्योंके मतोंका उल्लेख करेंगे। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि भारत धर्मप्रधान देश है। आध्यात्मिक विषयोंकी चर्चा छोड़कर यहांके लोग राजनीति-सत्ता प्राप्त करनेकी उलझनमें पड़ना व्यर्थ समझते थे किन्तु यूरोपमें ऐसी बात न थी, वहाँ प्रारम्भसे ही लोग प्रार्थिव सुख-स्वाच्छन्दके प्रति अत्यन्त बलवान् रहे हैं। क्योंकर सांसारिक सुखोंका अनुभव करते हुए समय व्यतीत करें इसीकी धुन उनमें सदैव समायी रहती थी। यही कारण है कि राजा-प्रजा सम्बन्धी जितनी घटनाएँ यूरोपमे हुई हैं उतनी और कहीं नहीं हुई। यहां राजा-प्रजामें वर्षोंतक लड़ाइयां होती आयी हैं, किन्तु इस विषयमें सबसे अग्रगामी फ्रांस हुआ। १८ वीं शताब्दीमें यहांकी प्रजा लुई नामक राजाओंके अत्याचारोंसे तंग आगयी तब यहांके राजनीतिज्ञ विद्वान् इस खोजमें लगे कि राजाकी उत्पत्ति (ओरिजिन आफ सावरेन्टी) क्योंकर हुई और लोगोंपर अत्याचार करनेका अधिकार उसे कहांतक है। उस समयके प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ रूसो और वौलटेयर हैं। साथ साथ—ब्रिटेन

निवासी हाब्ज तथा लाक इत्यादिके भी मत इन्हींसे मिलते जुलते हैं। इन पूर्वोक्त दोनों विद्वानोंने एक नयी भावना लाकर यूरोपको चकित कर दिया। उन्होंने अपनी तीव्र लेखनी द्वारा मृत-प्राय फ्रांस देशकी प्रजाको उत्तेजित किया और उसे नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने अपने अनुभव द्वारा साफ साफ बतला दिया कि राजा प्रजाके पारस्परिक क्या क्या अधिकार तथा दायित्व हैं। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि फ्रांसमें राज्य-क्रान्ति हुई जिससे राजाके अधिकार प्रजाके ही हाथमें आगये। "सामाजिक समझौता" (सोशल कण्ट्रैक्ट) नामक ग्रन्थके अनुसार प्राचीनकालमें मनुष्य आनन्दपूर्वक निवासकर चैनसे काल अतिक्रम करते थे। उनकी आवश्यकतायें थोड़ी थीं जो अल्प परिश्रमसे ही आनन फाननमें पूरी हो जाती थीं। किन्तु समय परिवर्त्तनशील है। धीरे धीरे कुछ लोग स्वार्थके वशीभूत होकर एक दूसरेका धन अपहरण करने और एतदर्थ संहार करनेपर उतारू हो गये। यह बिगड़ी दशा देखकर लोगोंने दिल सम्हाला और परस्पर विचारपूर्व्वक नियम बनाकर एक समाज क़ायम किया जिसमें सम्मिलित होकर रहनेके लिये सब लोग राजी हुए। कालान्तरमें राजा और राज्यकी सृष्टि की गयी।

इस सम्बन्धमें हाब्स साहब संसारकी प्राकृतिक अवस्था वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रकृतिके अनुसार शारीरिक और मानसिक बलमें मनुष्य परस्पर समान हैं। परस्पर समान होनेके कारण किसी वस्तुको ग्रहण करनेके भी वे समान अधिकारी हैं। जब दो मनुष्य एक ही वस्तुको अधिकृत करनेके अभिलाषी हो जाते हैं तो उस वस्तुके हेतु वे आपसमें द्वन्द्व आरम्भ करते हैं। ऐसी अवस्था शनैःशनैः नहीं बल्कि शीघ्र सामने आ पड़ती है। प्राकृतिक अवस्था (स्टेट आफ नेचर) में अथवा विश्वकी प्रारम्भिक अवस्थामें लोग परस्पर लड़ा करते थे, न राजा था और न राज्य, न किसी-की हुकूमत चलती थी और न कोई हुकूमत माननेवाला था। जहां एकाधिपत्य नहीं, वहां न क़ानून है और न न्याय। ऐसे समयमें बल और बेईमानीकी ही तूती बोलती है। अतएव मानना पड़ेगा कि प्राकृतिक अवस्था हमारे लिये कदापि हितकर नहीं। कारण कि जब इस अवस्थामें अपनी रक्षा आप करना भी दुरूह होजाता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि यह अवस्था हमारे लिये हितकर है और हम अपनी उन्नतिकी चरम सीमा तक अनायास ही पहुंच सकते हैं। इस चिरकालव्यापिनी अशान्तिसे बचनेके लिये ही मनुष्योंको बाध्य होकर परस्पर निश्चय कर राजा और राज्यका निर्माण करना पड़ा।

यद्यपि लॉकका मत हाब्सके मतसे कुछ भिन्न है, किन्तु अन्तिम सिद्धान्त, जिससे इस निबन्धका सम्बन्ध है, उसका भी वही है। उसका कथन है कि प्रारम्भिक कालमें प्रकृतिके नियमोंको पालते हुए मनुष्य बड़े मज़ेमें रहते थे। अनन्तर उनकी बुद्धिने पलटा खाया और वे लोग प्रकृतिके नियमोंकी उपेक्षा करने लगे। इसके फल-स्वरूप आपसकी लड़ाई शुरू होगयी। लोग स्वार्थवश दूसरेका धन अपहरण करने लगे। निदान अपनेको इस प्रकार अरक्षित पाकर उन लोगोंने आपसकी सलाहसे राजा और राज्यकी स्थापना की।

भीष्मपितामह और कौटिल्यके बचनोंकी तुलना रूसो, हाब्स, तथा लाकके वचनोंके साथ करनेसे भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानोंके मत इस विषयमें एक ही देख पड़ते हैं। दोनोंने ही समान प्राकृतिक अवस्थाका खाका खींचा है और अन्तिम निर्णय भी एक ही निकाला है। अतएव इन प्रमाणोंके आधारपर यही साबित होता है कि प्रजावर्गने ही सलाह कर राजाका निर्माण किया है। राजा आकाशसे टूटकर टपक नहीं पड़ा और न ईश्वरने ही सृष्टिके आदिमें राजाका निर्माण कर उसे पृथ्वीपर भेजा। हम लोगोंने स्वेच्छासे ही अपनी रक्षाके हेतु राजाको शासनाधिकार दिया। इन सबोंके मतका सारांश यही है कि राजा और प्रजाके बीच समझौता (कण्ट्रेक्ट) हुआ, और उसीके अनुसार प्रजाने राजाको दण्ड देने, कर वसूल करने, आदिका अधिकार दिया जिसके बदलेमें राजाने अपनेको राज्य अर्थात् प्रजाका सेवक बनाया (सर्वेण्ट आफ दि स्टेट), प्रजाकी रक्षा उसका सर्वोपरि कर्त्तव्य हुआ और राज्यपर विपत्ति आनेपर अपने प्राण भी समर्पण करनेका दायित्व उसपर पड़ा।

यही कारण है कि संसारमें भिन्न भिन्न तरहके राज्य सम्प्रति विद्यमान हैं। कुछ वर्ष पहले यहां जिस प्रकारके राज्य थे वे प्रायः अब लुप्त हो चले हैं। कारण कि मनुष्य जिस प्रकार अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रताको पहचानते गये उसी प्रकार राजाकी हुकूमत भी उठती गयी और नवीन प्रकारके राज्योंका आविर्भाव होता गया। पुराने ज़मानेमें सारे संसारमें एकतंत्र राज्य (मानर्की) था, राजा प्रजाकी भलाई करना ही अपना मूल-ध्येय समझता था। प्रजाकी भलाईके लिये अपना ही नहीं वरन अपने सम्पूर्ण परिवारके जीवनको न्योछावर करनेपर उद्यत रहता था। राजाको अपने सुखसे कुछ मतलब न था, प्रजाका चित्तरञ्जन करनेमें ही वह अपना चित्तरञ्जन समझता था। मुद्राराक्षसके तृतीय अंक, श्लोक ४ में महाकवि विशाखदत्त राजा चन्द्रगुप्तके मुखसे कहवाते हैं कि—"राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्ति--परतन्त्रस्य भूपतेः महदप्रीतिस्थानम् यतः—

> परार्थानुष्ठाने जड़यति नृपं स्वार्थपरता,
> परित्यक्तान्यार्थोनियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
> परार्थश्चेत् स्वार्थात् अभिमततरो, हन्त परवान्,
> परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः"।

अर्थात् धार्मिक राजाके लिये राज्य महती अप्रीतिका स्थान है कारण कि राजधर्मका अनुसरण करनेमें वह सर्वदा परतन्त्रताकी बेड़ीसे जकड़ा रहता है। दूसरेकी भलाई करनेमें राजाकी स्वार्थपरता स्तम्भित रहती है; पुनः दूसरेके लिये यदि काम न किया जाय तो क्षितिपति शब्द सर्वथा अयथार्थ होजाता है; फिर भी यदि स्वार्थसे बढ़कर परार्थ समझा जाय तो परतन्त्रता वा गुलामी दिखायी पड़ती है और इसप्रकार परतन्त्र होकर कोई किस प्रकार सुखी रह सकता है। यह कथा भी किसीसे अविदित नहीं है कि श्रीरामचन्द्रजीने सीता जैसी स्त्रीको गर्भावस्थामें भी जंगल भेज दिया। क्यों? केवल

प्रजाको खुश करनेके लिये। इस प्रकार हम दावेके साथ कह सकते हैं कि पहले एकतंत्र राज्य (मानर्की) रहनेपर भी राजाका उद्देश्य सर्वथा प्रजाकी भलाई करनेका रहता था। किन्तु बादमें जब राजाके चित्तको स्वार्थने धर दबाया और वह प्रजाके लिये नहीं वरन अपनी भलाईके लिये प्रजा-पीड़न करने लगा तब प्रजा राजाके अत्याचारसे ऊब गयी और नियम बनाकर उनके अधिकारको नियन्त्रित करनेपर तुल गयी। इस प्रकार बहुत स्थानोंमें पूर्ण एकतंत्रराज्यका विनाश हुआ और उसके स्थानपर परिमित एकतन्त्रराज्य (लिमिटेड मानर्की) प्रतिष्ठित हुआ। कई स्थानोंमें कुलीनतन्त्र (एरिस्टोक्रैसी) अर्थात् श्रेष्ठनागरिकों द्वारा राष्ट्रशासनका आविर्भाव हुआ। किन्तु इन प्रणालियोंसे भी प्रजा संतुष्ट नहीं हुई। अतएव प्रजातन्त्र (डिमाक्रैसी) की उत्पत्ति हुई। ये तो हुईं कुछ वर्ष पहलेकी बातें। किन्तु आधुनिक समय में भी बहुतसी जगहोंमें राजाकी सत्ता पहले ही जैसी विद्यमान है। इस प्रकारके राज्यको आज कलकी भाषामें यथेच्छाचारी राज्य (डेस्पाटिक) कहते हैं। ऐसे राज्य हैं अफगानिस्तान, नैपाल, इत्यादि। दूसरे प्रकारका राज्य है प्रजातन्त्र। इसके दो विभाग हैं; एक परिमित एकतन्त्र राज्य और दूसरा प्रधानतन्त्रराज्य (रिपब्लिक)। परिमित एकतन्त्र राज्य (लिमिटेड मानर्की) में एक राजा भी होता है जो नाम मात्रके लिये सिंहासनारूढ़ रहता है। ऐसे राजाका अधिकार कुछ भी नहीं रहता; सब अधिकार प्रजाके हाथमें रहता है। कहीं कहीं ऐसे राज्यमें पार्लमेंट रहती है और कहीं कहीं नहीं रहती। प्रधानतन्त्र राज्यमें राजा नामके लिये भी नहीं रहता, हां निर्दिष्ट समयके लिये प्रजाकी ओरसे एक प्रधान या राष्ट्रपति अवश्य चुन लिया जाता है। इसमें भी कहीं कहीं पार्लमेंट रहती है और कहीं कहीं नहीं भी रहती।

भारतवर्षमें राजा और राज्यका निर्माण कब हुआ इस प्रश्नको हल करनेके लिये महाभारतके शान्तिपर्व (राजधर्मवर्णन अध्याय ५९ श्लोक १३) की ओर पुनः दृकपात करना आवश्यक है। भीष्मपितामह कहते हैं " नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः। यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगे यथा " अर्थात् हे! युधिष्ठिर आप स्थिर होकर सुने कि पहले पहल सत्ययुगमें किस प्रकार राज्य और राजाका निर्माण किया गया। उक्त महानुभावके भाषण द्वारा यह पहिले ही दिखलाया जा चुका है कि पहले न राजा था और न राज्य। और अब इस अवतरणसे साफ जाहिर होता है कि राजा और राज्यका निर्माण प्रजावर्गोंने ही सत्ययुगमें किया। अतएव अब यह स्वीकार करनेमें किसीको संकोच न होगा कि राजा और प्रजाका सम्बन्ध एकमात्र मनुष्य-कृत है, ईश्वरकृत कदापि नहीं।

गंगापति सिंह

कौटिल्यकी राज्यशासन व्यवस्था।

(२)

जनपद।

राज्यकी ' सात प्रकृतियों 'में से गत लेखमें हमने दो--यानी, राजा और अमात्य---का विचार किया। बाकी 'प्रकृतियों 'का हम आगे क्रमशः विचार करेंगे।

आधुनिक राज्यविज्ञानमें भूमि और तत्सम्बन्धी प्रश्नोंका विचार पहले होता है, और राज्यशासनकी व्यवस्थाका तदनन्तर। इसका कारण यह है कि आधुनिक राज्यके स्वरूपका विचार करते समय भूमिका प्रश्न पहले उठानाही पड़ता है, भूमि आधुनिक राज्यका अनिवार्य अंग है, उसके बिना आधुनिक राज्यका विचार हो ही नहीं सकता। अरस्तूने भी भूमिका विचार भरपूर किया है और राज्यकी स्थिर दशामें भूमिका समावेश होता ही होगा क्योंकि मानवप्राणीकी वसति और पालन-पोषणके लिये भूमि अत्यन्य आवश्यक है। परन्तु भूमिकी इतनी आवश्यकता रहते हुए भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि राज्यका अर्थ भूमि नहीं, बरन उसके निवासी और उनके परस्पर राजकीय सम्बन्ध है। इसी कारण कभी कभी पूर्व और पश्चिम दोनों ओर राज्यका ऐसा अर्थ प्रचलित रहा कि जिसमें भूमिकी कल्पना शामिल न थी। राज्यसे लोग, उनके परस्पर सम्बन्ध और उनके शासक नेताका ही अर्थबोध होता था। वे प्रसंगवश आज यहां तो कल वहां रहते, या कभी कभी वे एक स्थानपर स्थिर हुएसे देख पड़ते थे। परन्तु राज्यकी कल्पनामें भूमिकी कल्पना अवश्यम्भावी न थी। तीसरी सदीसे छठवीं-सातवीं सदीतक यूरोपमें जो वर्बर लोग घूमते रहे, वे इसके उदाहरण हैं। उनके राज्य किसी विशिष्ट भूमिपर अवलम्बित न थे, वरन उनके राज्यके अंग, उनके अलग अलग लोक समाज, शासनके अलग अलग नियम और अलग अलग शासक थे। फ्रैंक लोगोंका राज्य, ऐंगल लोगोंका राज्य, सैक्सन लोगोंका राज्य आदि शब्द उस समय यूरोपमें प्रचलित थे। फिर, कोई आश्चर्य नहीं कि ये लोग जिस भूमिभागमें स्थिर बने रहे उसको उनका नाम प्राप्त हुआ। फ्रैंकसे फ्रान्स और ऐंगलसे इंग्लैण्ड बने हुए शब्द सब लोगोंपर विदित ही हैं। इसी प्रकार अपने यहां प्राचीन कालमें पाञ्चाल, मत्स्य, वत्स, शूरसेन, कोसल, मिथिल आदि नाम थे। बहुधा लोगोंके नामसे उनकी भूमिको नाम प्राप्त होता था। श्री वैद्यकी महाभारतमीमांसा देखनेसे भी यही प्रतीत होता है। और राज्यके स्वरूपकी यह कल्पना कौटिल्यके समय तक कुछ कुछ बनी ही रही। ध्यानमें

रखने लायक बात है कि कौटिल्यने राजा और अमात्योंका विचार पहले किया, पीछे भूमिका। और भूमिको नाम भी क्या दिया जाता था? जनपद। कोशकार इस शब्दका प्रथम अर्थ 'राष्ट्र' देते हैं, फिर 'राज्य' या 'बसा हुआ देश' और फिर केवल 'देश'। राज्यके विचारमें लोगोंका विचार पहले और भूमिका विचार बादमें आना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु लोक-समूहके किसी एक स्थानमें स्थिर भावसे रहने पर राज्यकी कल्पनामें भूमि भी शामिल हो जाती है। फिर भूमिका महत्त्व इतना बढ़ जाता है कि सर्वसाधारण लोग राज्यसे प्रधानतया भूमिका ही मतलब किया करते हैं। इस प्रकार राज्य, राष्ट्र और देश ये तीन शब्द साधारण भाषामें पर्यायवाची हो जाते हैं। शास्त्रीय रीतिसे 'राष्ट्र' में आजकल केवल लोकसमाज और उनके परस्पर सम्बन्धकी कल्पना है, 'देश' में भूमिभागकी और 'राज्य' में 'राष्ट्र' और 'देश' दोनोंकी। कौटिल्यने भी राज्य शब्दका उपयोग इसी अर्थमें किया है। इसी कारण शासनव्यवस्थाके नितान्त आवश्यक अंगोंका विचार करनेपर जनपद यानी भूमिका विचार उसे करना पड़ा।

हम पहले कह चुके हैं कि कौटिल्यने अपना ग्रन्थ बहुत करके चन्द्रगुप्तके लिए लिखा। चन्द्रगुप्तको आजकलके समान ही अपने साम्राज्यके कई 'प्रदेश' बनाने पड़े और वहां प्रान्तीय अधिकारियोंकी नियुक्ति करनी पड़ी परन्तु संभवतः इस बातका प्रश्न कौटिल्यके सामने न था। उसने कहीं भी इसका उल्लेख नहीं किया है। इससे अनुमान होता है कि कौटिल्यने अपना ग्रन्थ चन्द्रगुप्तके राज्यका विस्तार होनेसे पहले ही लिख डाला था। इसी कारण उसने प्रान्त या प्रान्ताधिकारीका विचार नहीं किया। नहीं तो जिस ग्रन्थमें राज्यशासनकी बिलकुल छोटी छोटी बातें भी दी हैं, उससे प्रान्तीय शासन जैसी महत्त्वपूर्ण बात न छूट जाती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रान्तीय शासनका तत्व कौटिल्यको मालूम ही न था। शासन कार्यके लिये राज्यके टुकड़े करनेका अर्थ कौटिल्य अच्छी तरह जानता था। उसने कहा है कि समाहर्ताको चाहिये कि राज्यके चार हिस्से करे। ऐसे हिस्से करनेका मतलब करीब करीब वही देख पड़ता है जो बड़े विशाल राज्यको प्रान्तोंमें विभक्त करनेसे सिद्ध होता है। तथापि इतना अवश्य मानना चाहिये कि इस विभाजनका मुख्य उद्देश्य लगानका वसूल करना ही था। विभाजन करनेका यह काम समाहर्ता अर्थात लगान वसूल करनेवाले सर्वोच्च अधिकारीका है। आजकल भी जिले और कमिश्नरियां बनानेका मुख्य हेतु लगान-वसूलीका सुभीता ही है और इन भागोंके मुख्य अधिकारी वास्तवमें 'रेविन्यू आफिसर' यानी लगान वसूल करने वाले अधिकारी ही हैं। यह बात अलग है कि उनके इस कार्यके साथ राज्यशासनके दूसरे अनेक कार्य जोड़ दिये गये हैं। यही बात कौटिल्यके राज्यके चतुर्थ भागके अधिकारीको लागू होती है। इस अधिकारीका नाम कौटिल्यने कहीं स्पष्टतया नहीं दिया है, परन्तु—'एवं च जनपदचतुर्भागं स्थानिकः चिन्तयेत्'—इस वाक्यसे

यही कहना पड़ता है कि इस अधिकारीको 'स्थानिक' कहते थे। इस 'चतुर्धा' विभाजनके बाद ग्रामोंके वर्गीकरणकी आवश्यकता है। जेष्ठ्य (श्रेष्ठ), मध्यम और कनिष्ठ नामक उनके भेद करके उनके ये वर्ग करना चाहिये (१) 'परिहारक' यानी कर देनेसे बरी किये गये गांव, (२) 'आयुधीय' यानी योद्धा देने वाले गांव, (३) अनाज, पशु, सुवर्ण, या कुप्य (कच्चे माल) के रूपमें कर देने वाले गांव, (४) 'विष्टि' यानी कर न देकर सरकारी काम करने वाले गांव, और 'कर प्रतिकर' यानी दूध-दही-घी जैसी चीजें या अन्य पैदा की हुई चीजें करके बदले देने वाले गांव। गांवके वर्गोंके नामोंके ये अर्थ यदि ठीक हैं, तो यह कहना पड़ेगा कि यह वर्गीकरण मोटी तरहसे ठीक है, परन्तु यह न्यायशास्त्रकी कसौटीपर अच्छी तरह न टिकेगा, क्योंकि तत्वत: पांचवां वर्ग तीसरेके अन्तर्गत होता जान पड़ता है। इसी रीतिसे दूसरा और चौथा भी उसी वर्गमें डाले जा सकते हैं। वास्तवमें भेद ऐसा चाहिये था--कर देने वाले गांव और किसी भी रूपमें कर न देने वाले गांव। फिर कर देने वालोंके तीन भेद किये जाते, योद्धा देने वाले, अनाज, पशु, सुवर्ण या अन्य कोई माल देने वाले, और तीसरे, करके बदले सरकारी काम करने वाले। फिर भी, मोटी तरहसे उस समयकी आवश्यकताके लिये कौटिल्यके भेद ठीक माने जा सकते हैं।

परन्तु अकेला स्थानिक सारे कार्य न कर सकता, इसलिये पांच या दस गांव पीछे 'गोप' नामक एक छोटा अधिकारी रहता था। "गांवकी हद निश्चित करना उसका काम था ही, परन्तु उपजाऊ ज़मीन, परती ज़मीन, मैदान, दलदल, बाग, शाकभाजीके बाग रास्ता (बाट), वन, वेदी, मंदिर, सेतुबंध (सिंचाईके लिये जहां पानी हो), श्मशान, सत्र (भोजनालय), प्रपा (वह ज़मीन जहां पथिकोंको पानी मुफ्त दिया जाता हो), पुण्य स्थान (तीर्थ स्थान), गोचर और सड़क आदि भूमिके भेद भी वह करे और इस तरहसे गांव, खेत, वन और सड़कोंकी सीमा निश्चित करे। इसके अलावे, भूमिका सम्प्रदान (जैसे वसीयत), विक्रय, अनुग्रह (दान) और कर देनेसे मुआफी देना आदि बातोंका लेखा रखे। घरोंको कर देनेवाले और कर न देने वाले वर्गोंमें बांटना भी उसका काम है। इतना करनेपर प्रत्येक गांवके चारों वर्णके कितने कितने लोग किस किस घरमें रहते हैं इसका लेखा रखे। इतना ही नहीं, उसे तो प्रत्येक गांवमें कितने कर्षक (किसान), गोरक्षक (ढोरोंके पालने वाले), व्यापारी, कारीगर, मजदूर, दास, द्विपाद और चतुष्पाद रहते हैं यह भी जानना चाहिये, और प्रत्येक घरसे कितना सुवर्ण, (करके रूपमें) सरकारी काम, कर और जुर्माना पाना है यह ध्यानमें रखना चाहिये। प्रत्येक घरके स्त्री-पुरुषोंकी, बाल और वृद्धोंकी संख्या, उनका चरित्र, धंधा, आय और व्यय भी उसे जानना चाहिये।"

इन विविध कामोंमेंसे कुछ तो आजकलके पटवारी और उनके अफसर करते हैं, कुछ गांवका कोतवाल या मुकद्दम करता है, और कुछ ऐसे हैं कि जो आजकल ग्रामशासनमें

आते ही नहीं। स्त्रीपुरुषोंकी और बाल और वृद्धोंकी संख्या जाननेका हेतु शायद यह हो कि राजा जान सके कि अपने राज्यमें कितने योद्धा मिल सकते हैं और कितनी बड़ी सेना समय पड़ने पर खड़ी की जा सकती है। उनके चरित्र और धंधे, आय और व्यय जानने-का हेतु स्पष्टतया यही हो सकता है कि लोग किसी तरहके पाप कर्म अथवा अपराध द्वारा अपना उदर-निर्वाह न करें, और जो लोग ऐसा करें उन्हें दण्ड दिया जाय। आज भी पुलिसका काम होता है कि वह लोगोंकी इन बातोंको यद्यपि मुखाग्र न जाने तथापि उनपर ध्यान अवश्य दे। इस नियमके पूर्वार्धकी आवश्यकता तो गत महायुद्धमें कुछ देशोंमें ज़रूर पड़ी होगी।

ऊपर स्थानिकके विषयमें जो वाक्य दे चुके हैं, उससे यह स्पष्ट हो जावेगा कि जनपदके चतुर्थ भागके ऐसे ही सब कामोंपर स्थानिककी देख रेख रहनी चाहिये।

इन दिनोंमें प्रत्येक देशमें प्रत्येक विभागके लिये एक श्रेणिबद्ध नौकरशाही रहती है। उन दिनोंमें ऐसा न था। प्रत्यक्ष कार्य करने वाले तो नीचेके ही कर्मचारी रहते हैं, परन्तु देखरेखके लिये कई अन्य अफसरोंकी आवश्यकता होती है। रेल, तार और डाकके कारण आजकल देखरेखका काम सरल होगया है। परन्तु उन दिनों-में यह संभव नहीं था। इस कारण देखरेखकी रीति—यानी सरकारी कर्मचारी ठीक काम करते हैं या नहीं यह जाननेकी रीति—कुछ दूसरी ही थी। वह काम राजा अपने गुप्तचरों द्वारा गुप्तरीतिसे करता था। गुप्तचरोंका काम था कि वे इस बातकी सूचना राजाको देते रहें कि प्रत्येक कर्मचारी अपना काम ठीक करता है या नहीं। इन दो पद्धतियोंकी तुलना करना उचित नहीं है। देश कालानुसार इसमें परिवर्तन होता है। और ऊपर हम कह ही चुके हैं कि रेल, तार और डाकके अभावसे सरकारी, विशेष करके, राजधानी-से दूर रहनेवाले, कर्मचारियोंपर देखरेख रखनेका कोई दूसरा उपाय न था। इसमें भले ही बहुत सी बुराइयां हों परन्तु एक बड़ी भारी भलाई थी। प्रत्येक कर्मचारीको सदैव अपने काममें सचेत रहना पड़ता होगा क्योंकि वह यह न जान सकता था कि कब कौन गुप्तचर राजाको कौनसी बात लिख दे। इतिहाससे ऐसा जान पड़ता है कि देखरेखकी इस पद्धतिका उपयोग अच्छाही हुआ। अशोकके समयमें यह प्रथा थी, यह बात उसके शिलालेखोंसे मालूम होती है। हम पहलेही कह चुके हैं कि गुप्तचर उस समयकी व्यव-स्थाके बड़े आवश्यक अंग थे। राज्यकी तमाम बातोंपर उनकी गुप्त देखरेख रहती और उनके द्वारा राजाको अपने राज्यकी दशाका हाल मालूम होता रहता था, और इसलिये प्रत्येक कार्यके लिये भिन्न भिन्न प्रकारका गुप्तचर रहता था। उनके वर्गभेद देकर हम पाठकोंका समय नष्ट नहीं करना चाहते। सारांशमें कह सकते हैं कि वे सब तरहके लोगोंमें-से होते थे और नाना तरहके वेश धारण कर, यहां तक कि चोर भी बनकर, अपना काम किया करते थे।

समाहर्ता (लगान वसूलीके सर्वोच्च अधिकारी)का भी काम वैसा ही था जैसा

गोप या स्थानिकका था। तात्पर्य यह कि राज्यके प्रबन्धका वास्तविक कार्य समाहर्ता, स्थानिक और गोपों द्वारा चलानेके लिये कौटिल्यने कहा है। वे वास्तवमें 'रेविन्यू आफिसर', (लगान वसूल करनेवाले अधिकारी) थे परन्तु हिन्दुस्थानके आज कलके 'रेविन्यू आफिसरों'के समान दूसरे कई काम भी करते थे। ऊपर हमने गोपके कार्योंकी जो सूची दी है, उससे यह जान पड़ता है कि राज्यमें शान्ति बनी रहे, इसके लिये कई आवश्यक कार्य इनके ही जिम्मे रखे गये थे।

परन्तु जनपदकी रक्षा केवल इन्हींके द्वारा न हो सकती थी। शान्ति-रक्षाका दूसरा मुख्य साधन दुर्ग था। प्रत्येक दस गांवोंके लिये 'संग्रहण' नामक दुर्ग, फिर इनके ऊपर प्रत्येक दोसौ गांवोंके लिये 'खार्वटिक' नामक दुर्ग, फिर इनके ऊपर प्रत्येक चारसौ गांवोंके लिये 'द्रोणमुख'* नामक दुर्ग और प्रत्येक आठसौ गांवोंके लिये 'स्थानीय' नामक दुर्ग होना चाहिये। राज्यकी सीमापर अन्तपाल (सीमाके रक्षक) नामक योद्धाओं द्वारा रक्षित दुर्ग बनाने चाहिये। इनका काम होगा कि ये राज्यके प्रवेश-द्वारोंकी रक्षा करें, और राज्यके भीतरी भागकी रक्षा वागुरिक† शबर, पुलिन्द, चण्डाल और अरण्यचरोंको करनी चाहिये।

शान्ति-रक्षाके लिये यह भी आवश्यक है कि शान्ति-भंग करने वाले लोग राज्यमें स्वतंत्रतासे न घूमने पावें। गुप्तचरोंका काम तो था ही कि वे ऐसे लोगोंकी सूचना राजाको दिया करें, परन्तु यह भी आवश्यक था कि "वानप्रस्थके सिवा दूसरा कोई परिव्राजक और स्थानीय समाज और संघके सिवा कोई दूसरे समाज और संघ गांवमें स्थान न पावें।। गांवमें 'आराम' या 'विहार'की 'शालायें' भी न रहने पावें। और न नट, नर्तक, गायक, वाहक, वाग्जीवन‖ और कुशीलव (भाट) गांवमें आकर

---

*मूल पुस्तकमें इनमेंसे केवल द्रोणमुख और खार्वटिकका कुछ स्थूल अर्थ दिया है। द्रोणमुख बहुधा जलदुर्ग होता था और इसलिये वहां प्रवेश पाना कठिन काम था। खार्वटिक मामूली दिवालसे घिरा रहता था और इस कारण शायद इसे अंग्रेजीका 'फॉर्टीफिकेशन' (परकोटा युक्त दुर्ग) कह सकते हैं। बड़े शहरके दुर्गोंको स्थानीय कहा जान पड़ता है। 'संग्रहण'के अर्थका पता लगाना कठिन है।

†वागुरा जाल या फन्देको कहते हैं। इस लिये वागुरिकका अर्थ होता है जाल या फंदे द्वारा पकड़नेवाले लोग। शबर पर्वतोंपर रहने वाले लोग हैं। पुलिन्द जंगली जातिका नाम विशेष है। श्री शामशास्त्रीजीने शबरका अर्थ तीरंदाज और पुलिन्दका अर्थ शिकारी दिया है। चाण्डालका अर्थ स्पष्ट है। अरण्यचर यानी अरण्यमें रहने वाले लोग।

‖श्री शाम शास्त्रीजीने वाग्जीवनका अर्थ 'हँसानेवाला' (बफून) किया है। नाना तरहकी आवाज़ोंके द्वारा, चित्र विचित्र चर्याके द्वारा या ऐसे ही अन्य प्रकारसे लोगोंका मनोरञ्जन करने वाला 'वाग्जीवन' कहला सकता है।

लोगोंके काममें विघ्न डालने पावे, क्योंकि ग्रामीण लोग बड़े निःसहाय होते हैं और खेत ही उनकी सारी जिन्दगी है" ।

"जो भूमि सदा परचक्र (यानी शत्रुके हमले) या अटवीसे ग्रस्त रहती है या व्याधि या दुर्भिक्षसे पीड़ित रहती है, उसको राजा त्याग दे और बहुत खर्चीली क्रीड़ाओंसे दूर रहे । राजा भारी भारी दण्ड, विष्टि (करके बदलेका काम) और करोंसे कृषिको बचावे और चोर, बाघ, विषहरे जीव और व्याधिसे ढोरोंकी रक्षा करे" । इन नाना क्लेशोंसे ऊपर दिये भिन्न भिन्न उपायों द्वारा जनपदकी रक्षा करना राजाका काम है । पाठकोंको एक बात शायद खटकी होगी । नागरिक आराम, विलास और मनोरंजनकी सामग्रीसे बिचारे ग्रामीणोंको कोसों दूर रखनेके लिये कौटिल्यने कहा है । मनुष्यकी दृष्टिसे यह मानना होगा कि ग्रामीण हुए तो क्या, वे भी मनुष्य हैं और उन्हें भी इस प्रकारकी थोड़ी बहुत सामग्री चाहिए । परन्तु एक दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिए । कृषिपर राष्ट्रका जीवन अवलम्बित है । यदि कृषक अपने काम छोड़कर इनमें मग्न होजायं तो राष्ट्रकी जिन्दगी चलाना मुशकिल होजाये । जिन दिनोंमें आवागवनके साधन बहुत कम थे, उन दिनोंमें प्रत्येक राज्यकी कृषिका बहुत अधिक महत्त्व था । इस कारण कौटिल्यने ही नहीं, राजाके कार्योंपर जिन लोगोंने प्राचीन कालमें थोड़ा बहुत लिखा है, उनमेंसे प्रत्येकने कृषिकी गाथा गायी है और उसकी हर तरहसे रक्षा और उन्नति करना राजाका आदि कर्तव्य बतलाया है । ऐसी अवस्थामें कौटिल्यने नागरिक आराम, विलास और मनोरञ्जनकी सामग्रीसे ग्रामीणोंको दूर रखनेके लिये जो कहा है, यह उचित ही है । यह अनुमान किया जा सकता है कि कौटिल्यके समयमें इस सामग्रीकी अतिशयता होगयी हो और इस कारण ऐसी सूचना की गयी हो । दूसरा अनुमान यह निकल सकता है (और यही बहुत शक्य है) कि उस समय चन्द्रगुप्तका राज्य स्थिर न हुआ था और विघ्नकर्ता बहुत अधिक थे । ये उन रूपोंमें घूमा करते थे । ये गांवोंमें जाकर 'असंतोष' न फैलाने पावें इसके लिये यह आवश्यक था कि ग्रामीणोंसे ये दूर रखे जायं और इसलिये उपरिलिखित नियमकी आवश्यकता पड़ी ।

वनोंको भी जनपदमें शामिल करना चाहिये । उनकी रक्षाके लिये भी कौटिल्यने अनेक नियम बताये हैं । आज कलके जंगल-विभागके समान कौटिल्यने भी जंगलोंका कुप्याध्यक्ष नामक सर्वोच्च अधिकारी बतलाया है । ब्राह्मणोंके लिये उनकी आवश्यकताके अनुसार अलग वन होते थे, राजाकी क्रीडाके लिये अलग, लोगोंके लिये अलग और हाथी पालनेके लिये अलग होते थे । उस समय हाथी चतुरंगिनी सेनाका एक महत्त्वपूर्ण अंग था । इस कारण हाथियोंकी वृद्धि और रक्षाके लिये कौटिल्यने बहुतसी बातें लिखी हैं, परन्तु शासनव्यवस्थाकी दृष्टिसे उनसे हमें विशेष प्रयोजन नहीं है ।

गोपाल दामोदर तामस्कर

'स्ट्रेट्स'की स्वाधीनता।

तुर्कीसे सन्धि करनेके लिये, लासेनमें जो सम्मेलन बैठा है, उसके सम्मुख सबसे जटिल प्रश्न 'स्ट्रेट्सकी स्वाधीनता' का है। पानीके किसी तंग भागको, जो दो सागरोंको मिलाता और भूमिके दो भागोंको जुदा करता है, 'स्ट्रेट्' या 'जलडमरूमध्य' कहते हैं। ये स्ट्रेट्स, जिनके विषयमें झगड़ा है, दो हैं—एक तो 'बासफोरस' और दूसरा 'दरेदानियाल'। ये दोनों मारमोरा सागरको पूर्वकी ओर श्याम सागरसे और पश्चिमकी ओर भूमध्य सागरसे मिलाते हैं। ये ही दो पानीके तंग भाग हैं, जो एशियाके स्थलको यूरोपसे अलग करते हैं। इन दोनोंके बीच छोटासा मारमोरा सागर है, जिसके उत्तरीय तटपर तुर्कीकी प्रसिद्ध राजधानी कुस्तुन्तुनियां बसी हुई है।

गत महायुद्धके पूर्व तक मारमोरा सागर-तट और इन जलमार्गों (स्ट्रेट्स) पर तुर्कीका अधिकार था। महायुद्धमें तुर्कीने मित्रराष्ट्रोंके जहाजोंको, इस सागरमें घुसनेसे रोककर अपने पुराने शत्रु रूसको खूब छकाया, साथ ही साथ, पूर्वीय रणक्षेत्रमें, अंग्रेजोंके मार्गमें भी तरह तरहकी बाधायें डालीं। इनसब बातोंसे चिढ़कर, वर्सेल सन्धिमें, मित्रराष्ट्रोंने तुर्कीसे इन द्वारोंकी कुंजी लेलेनेका दृढ़ निश्चय कर लिया और तभीसे इनपर उनका अधिकार भी है। परन्तु रूस अब मित्रराष्ट्रोंके पांच सवारोंमें नहीं है, तुर्कीकी विजय-पताका फहरा रही है, इन सागरोंके तटस्थ अन्य राज्य, बलगेरिया, रुमानिया प्रभृति भी सुसंगठित हो रहे हैं। इन राष्ट्रोंका इन 'स्ट्रेट्स' और सागरोंसे घनिष्ट प्राकृतिक सम्बन्ध है, अतएव मित्रराष्ट्रोंकी नीतिसे असंतुष्ट होना इनके लिये स्वाभाविक है। इसीलिये 'स्ट्रेट्स' पर किसका अधिकार रहे, यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिका एक जटिल प्रश्न हो रहा है। अब देखना यह है कि इस प्रश्नके निर्णयमें न्याय किस ओर है।

युद्धके स्वप्नसे भयभीत होकर इंग्लैण्डके भूतपूर्व प्रधान सचिव श्रीलायड जार्जने उपनिवेशोंसे सहायताके लिये जो अनुरोध किया था उसमें आपने लिखा था कि यह छोटासा गहरा खारी सागर यूरोपको एशियासे अलग करता है और श्याम सागरको भूमध्य-सागरसे मिलता है। इसका सम्बन्ध सारे संसारके, विशेषकर यूरोपीय और सबसे अधिक ब्रिटिश साम्राज्यके, हितसे है। ब्रिटिश सरकार स्ट्रेट्सकी स्थायी स्वाधीनताको परमावश्यक समझती है और उसकी रक्षाके लिये सदा कटिबद्ध है। आगे चलकर समाचार-पत्रोंके प्रतिनिधियोंको सम्बोधित करते हुए लायड जार्जने फिर बतलाया कि गत महा-युद्धमें तुर्कीके व्यवहारसे यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश साम्राज्य, उसके व्यापार तथा सारे संसार-की रक्षाके लिये, स्ट्रेट्सकी स्वाधीनता अत्यन्त आवश्यक है। इन वाक्योंसे यह स्पष्ट है

कि इस प्रश्नसे ब्रिटिश साम्राज्यका सम्बन्ध दो प्रकारसे है—एक तो सामरिक अर्थात् आत्म-रक्षाकी दृष्टिसे और दूसरा आर्थिक अर्थात् व्यापारोन्नतिकी दृष्टिसे।

आर्थिक दृष्टिसे स्ट्रेट्सकी स्वाधीनताका अभिप्राय यही हो सकता है कि किसी राष्ट्रके व्यापारी जहाजोंके आने जानेमें कोई बाधा या रुकावट न डाली जाय। इस तरहकी स्वाधीनता ब्रिटिश व्यापारके लिये, निस्सन्देह आवश्यक है, पर परमावश्यक नहीं। कारण यह है कि श्याम सागर-तटवर्ती देशोंसे कभी भी ब्रिटिश व्यापार अधिक नहीं रहा है। रूससे थोड़ा बहुत गेहूं और तेल अवश्य आता था पर विना इसके इंग्लैण्डकी कोई हानि नहीं होती, जैसा कि पिछले कई वर्षोंके व्यापारसे स्पष्ट है। ब्रिटिश व्यापारकी उन्नति पूर्वीय देशोंकी बदौलत दिन दूनी रात चौगुनी होरही है, ऐसी दशामें स्ट्रेट्सकी स्वाधीनता ब्रिटिश साम्राज्यके लिये आर्थिक दृष्टिसे परमावश्यक नहीं कही जा सकती।

इसके प्रतिकूल श्यामसागर-तटवर्ती राष्ट्रोंके व्यापारका स्ट्रेट्ससे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। रूसका उत्तरी भाग अत्यन्त शीत और अनुपजाऊ है। रूसका सारा अन्न, कोयला, लोहा, तिलहन इत्यादि दक्षिणी भागमें ही उत्पन्न होता है। यह सब श्याम सागर द्वारा ही अन्य देशोंको जाता और वहांसे दूसरा माल आता है। शीत-कालमें हिमके कारण बाल्टिक सागरका मार्ग बिलकुल बन्द रहता है, इसलिये रूसका सारा व्यापार श्याम सागरके मार्गसे ही चलता है इसके अतिरिक्त रूसकी तीन बड़ी बड़ी नदियां वाल्गा, नीपर और डोन, श्याम सागरमें ही गिरती हैं, जिनके मार्गसे प्रति-वर्ष सहस्रों नावें आयाजाया करती हैं। श्याम सागरको ही ध्यानमें रखकर रूसमें रेलोंका जाल बिछाया गया है, इसी ओर बड़ी बड़ी सीधी सड़कें हैं। इससे यह प्रकट है कि रूसके व्यापारके लिये बासफोरस और दरेदानियालका खुला रहना नितान्त आवश्यक है।

यही बात बलगेरियाके लिये भी है। इसके अतिरिक्त डान्यूब नदी तटवर्ती रुमानिया, हंगरी, और यूगोस्लाविया ऐसे राज्योंका भी आर्थिक दृष्टिसे स्ट्रेट्ससे बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। इन राज्योंमें अन्न, लकड़ी, तेल, कोयला, कच्चा लोहा बहुतायतसे होता है। ऐसी वस्तुओंको लेजानेमें रेलकी अपेक्षा जलमार्गसे अधिक सुगमता रहती है, इसलिये इनका आनाजाना प्रायः डैन्यूब नदी और श्याम सागर द्वारा ही होता है। रुमानियाका ९५ फीसदी माल जल-मार्गसे ही आता जाता है। हंगरी और यूगोस्ला-वियाकी दशा भी रुमानियाके सदृश ही है। इन राज्योंको छोड़कर यदि किसी बाहरी राज्यका व्यापारिक दृष्टिसे स्ट्रेट्ससे घनिष्ट सम्बध है, तो वह ग्रीस अर्थात् यूनानका है, न कि इंग्लैण्डका।

यह तो हुई व्यापार सम्बन्धी बात, अब देखना है कि युद्धकी दृष्टिसे ब्रिटिश-साम्राज्यकी रक्षाके लिये, स्ट्रेट्सकी स्वाधीनता कहांतक आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि इन द्वारोंको बंद कर देनेसे, मित्र राष्ट्रोंके मार्गमें बड़ी बड़ी बाधायें पड़ी थीं। पर उनसे जो कुछ हानि हुई, वह रूस और रुमानियाकी न कि इंग्लैण्डकी। स्ट्रेट्सके

बंद होनेसे, मित्रराष्ट्र रूस और रुमानियाको सैनिक सहायता न भेज सके, यही कारण है कि उन दोनों राष्ट्रोंको पराजित होना पड़ा परन्तु इस घटनासे यदि कोई बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि रूस और रुमानियाकी रक्षाके लिये, इन द्वारोंका खुला रहना आवश्यक है। ऐसी दशामें लायड जार्जकी यह दलील कि गत महायुद्धकी घटनाओं-से ब्रिटिश साम्राज्यकी रक्षाके लिये स्ट्रेट्सकी स्वाधीनता निर्विवाद सिद्ध है, समझमें नहीं आती।

इस सम्बन्धमें कुस्तुन्तुनियाँका ध्यान रखना बड़ा आवश्यक है। यही एक ऐसा नगर है, जिसके दोनों ओर अन्तर्राष्ट्रीय जल-मार्ग हैं। इसकी रक्षाके लिये स्ट्रेट्सका ध्यान रखना बड़ा आवश्यक है। यही कारण है कि तुर्कलोग इन द्वारोंसे अन्य राष्ट्रोंके सैनिक जहाजोंके निकालनेमें बाधा डालनेका सदा प्रयत्न करते रहे हैं। रूसमें घुसनेके लिये भी यह मार्ग बड़ा सुगम है, गत क्रीमियन युद्धमें रूसको इसका पूरा अनुभव होचुका है। इसीलिये इस सम्बन्धमें रूस भी तुर्कीसे सहमत है।

प्रसिद्ध 'राष्ट्रीय समझौते'में अंगोरा सरकारने 'स्ट्रेट्स' सम्बन्धी अपनी नीति प्रकट की है। उसका कहना है कि ख़लीफ़ाकी राजधानी कुस्तुन्तुनियां पूर्ण रूपसे सुरक्षित रहनी चाहिये, स्ट्रेट्सका ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि राजधानी बाहरी आक्रमणोंसे बची रहे। यदि यह सिद्धान्त मित्रराष्ट्रोंको स्वीकार है, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके लिये स्ट्रेट्सको खुला रखनेमें उसको कोई आपत्ति नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यापारिक दृष्टिसे स्ट्रेट्सकी स्वाधीनतामें तुर्क कोई बाधा नहीं डालना चाहते, पर साथ ही साथ अपनी राजधानीको सुरक्षित रखनेके लिये, वह जंगी जहाजोंका मनमाना आना जाना सहन नहीं कर सकते हैं।

रूस और तुर्की दोनों, पाश्चात्य शक्तियोंको भय और सन्देहकी दृष्टिसे देखते हैं। बासफोरस और दरेदानियालसे आक्रमणका स्वप्न उन्हें सदा इनको बन्द रखनेके लिये बाधित करता रहता है। जबतक रूस और तुर्कीमें अनबन रही, तब तक रूसका एक मात्र उद्देश्य कुस्तुनतुनियांको हड़प करनेका था, पर ज़ारके पतनके साथ ही साथ मित्रराष्ट्रोंके विरोधसे बाधित होकर, बोलशेविक रूसने उस नीतिका भी परित्याग कर दिया और तुर्की-का साथ देना निश्चित कर लिया। गत वर्ष मार्च महीनेमें अंगोरा और रूसमें एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि स्ट्रेट्स सम्बन्धी किसी सन्धिको, जो अंगोराको स्वीकृत नहीं है, रूस न मानेगा। तुर्कीकी सीमाएँ वही रहेंगी जो राष्ट्रीय समझौतेमें मानी गयी हैं, और स्ट्रेट्सका प्रबन्ध श्यामसागर तटवर्ती शक्तियोंके हाथ इस तरह रहेगा कि तुर्कीका प्रभुत्व नष्ट न होने पावे। इस तरह तुर्की और रूस दोनोंने यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया कि आर्थिक तथा सैनिक दृष्टिसे स्ट्रेट्ससे सबसे घनिष्ट सम्बन्ध श्याम-सागर तटवर्ती राष्ट्रोंके साथ है, इसलिये स्ट्रेट्सका प्रबन्ध उन्हींके हाथमें रहना चाहिये। इस सिद्धान्तकी पुष्टि आगे चलकर अंगोरा-उक्रेन सन्धिमें भी पायी जाती है। अन्ततः

अंगोरा-मास्काऊ सन्धिमें, जो गत वर्ष जनवरी मासमें हुई थी, दोनों शक्तियोंने स्पष्ट रूपसे कह दिया कि स्ट्रेट्स सम्बन्धी नीति दोनोंकी परस्पर स्वीकृतिसे ही निश्चित होगी। इस सन्धिके अनुसार अब इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्ट्रेट्सका कोई ऐसा प्रबन्ध, जिससे रूस सहमत नहीं है, तुर्कीको स्वीकार नहीं हो सकता।

तुर्कीका साथ मिल जानेसे रूसका पक्ष बड़ा प्रबल हो गया है, श्यामसागरके प्रश्नको वह अब बिलकुल अपना ही समझने लगा है। पिछले अक्तूबर महीने (आश्विन-कार्त्तिक) में, जब ब्रिटिश सरकारने स्ट्रेट्सपर अपने जंगी जहाजोंका पहरा बिठलाना चाहा तो रूसने बड़े तीव्र शब्दोंमें इसका घोर प्रतिवाद किया। "ब्रिटिश जंगी जहाज बासफोरस और दरेदानियालपर पहरा दे रहे हैं, और श्यामसागरमें आने जाने वाले व्यापारी जहाजोंको रोकते हैं, यह देखकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। बिना रूस सरकारको सूचित किये, उसके हितके प्रतिकूल, ऐसे व्यवहारका वह घोर प्रतिवाद करता है। स्ट्रेट्सका यह पहरा स्पष्ट प्रमाण है, कि वह शक्तियां जिनका श्यामसागरसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, अपने बल-प्रयोगसे स्ट्रेट्सपर अधिकार जमाये हुई हैं। यह शक्तियां इस तरह श्यामसागर तटवर्ती राज्योंके आर्थिक जीवनमें सदा बाधा डाल सकती हैं। स्ट्रेट्सके मार्गको मनमानी रीतिसे अकारण जब चाहें बन्द करके श्यामसागरको सारे संसारसे पृथक् कर देवें; मित्रराष्ट्रोंके अनुसार यही स्ट्रेट्सकी स्वाधीनता है, जिसके लिये यूरोप रक्त बहानेके लिये उद्यत हो रहा है। रूस सरकार स्ट्रेट्सकी स्वाधीनताका समर्थन अवश्य करती है, परन्तु वह स्वाधीनता व्यापारिक स्वाधीनता है। ऐसी स्वाधीनतासे अन्य राष्ट्रोंको स्ट्रेट्स और श्यामसागरमें जंगी जहाजोंके रखनेका अवसर न मिलेगा। स्ट्रेट्सकी रुकावटसे ब्रिटेन या मित्रराष्ट्रोंके व्यापारके परमावश्यक मार्ग बंद नहीं होते। ऐसी रुकावटसे उनके आर्थिक जीवनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु इसके प्रतिकूल श्यामसागर तटवर्ती राष्ट्रोंका सारा आर्थिक जीवन नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। इन सागरों और देशोंके व्यवहारमें कुछ सम्बन्ध न होते हुए भी, ब्रिटिश पदाधिकारी जो संकीर्णता दिखला रहे हैं, उसमें श्यामसागर तटवर्ती राष्ट्रोंके प्रति उनकी उदासीनता पूर्ण रूपसे प्रकट हो रही है"।

इस तरह यह सिद्ध है कि यह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय होनेकी अपेक्षा, श्यामसागर तटवर्ती राष्ट्रोंके सम्बन्धका है। नपोलियनने एक वार कहा था कि 'संसारके प्रभुत्वकी कुंजी कुस्तुन्तुनियां है' ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अब भी इस वाक्यके भ्रममें पड़े हुए हैं। पर वास्तवमें 'स्वेज़ नहर'के निकल आनेसे कुस्तुन्तुनियांका वह महत्त्व जाता रहा। अब तो नपोलियनका दूसरा वाक्य, जिसमें उसने कहा था कि "यदि फ्रेन्च लोगोंके हाथ मिश्र लग जाय, तो भारतवर्षसे अंग्रेजोंको विदा होना पड़े" सत्य सिद्ध हो रहा है। जर्मन राजनीतिज्ञ बिस्मार्कने भी कहा था कि 'स्वेज़ नहरके कारण, मिश्र इंग्लैण्डके लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवनके लिये रोटी, क्योंकि उसके साम्राज्यके पूर्वीय और पश्चि-

मीय भागोंके बीच स्वेज़ ही सबसे सुगम मार्ग है।' स्वर्गीय सेनाध्यक्ष सर हेनरी विल्सनने भी ऐसा ही मत प्रकट किया था, और स्ट्रेट्सको ब्रिटिश साम्राज्यकी रक्षाके लिये अनावश्यक बतलाया था, पर तबभी लायड जार्ज अपनी ही नीतिपर डटे रहे।

जबसे अंगोराकी विजय हुई, तबसे लायड जार्जने दूसरी ही तान अलापना प्रारम्भ किया। अब उनका कहना था कि स्ट्रेट्सका प्रबन्ध राष्ट्रसंघको दे दिया जाय। यह प्रस्ताव भी ठीक नहीं है, स्ट्रेट्सकी रक्षाके लिये मारमोरा सागरके दोनों तटपर सैनिक बलकी आवश्यकता है, जिसका राष्ट्रसंघके पास संपूर्ण अभाव है, और जो तुर्कीके होते हुए सम्भव भी नहीं है। यही प्रश्न अब लासेन सम्मेलनके सम्मुख उपस्थित है जिसपर घोर वाद-विवाद हो रहा है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह प्रश्न बड़ा प्राचीन है। अब देखना है कि इसका निर्णय क्या होता है।

गंगाशंकर मिश्र

अमेरिकाकी अलपीनें।

किसी एक अलपीनके गिरनेकी आवाजपर आपका ध्यान सम्भवतः आकर्षित न होगा पर यदि दुर्भाग्यसे संयुक्तराज्य अमेरिकामें सालभरके अन्दर तैयार होने वाली सभी अलपीनें परस्पर एकाकर, निश्चित संकेतके अनुसार, एक साथ ही गिर पड़नेका निश्चय कर लें तो उनके नीचे पड़नेसे अपनेको बचाये रखना ही उचित होगा। ये अलपीनें लगभग ५५ हज़ार मन बोझके साथ गिरेंगी। सबसे हालकी रिपोर्टके अनुसार संयुक्त राज्यमें प्रतिवर्ष दस अरब अलपीनें तैयार होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्यके पीछे एक हजार अलपीनोंका औसत पड़ता है। संयुक्त राज्यके निवासियोंकी अलपीनों और सब तरहकी सुइयोंकी आवश्यकता पूर्ण करनेके लिए लगभग १० करोड़ रुपये व्यय होते हैं। इस उद्योगसे १०,३८६ मनुष्य अपनी रोटी कमाते हैं। इसमें ८२ कारखाने लगे हुए हैं, कोई १४ लाख मन कोयला, २३४३ कनस्तर तेल और २६,७३० घनफुट गैस खर्च होती है।

बाज़ारमें कीमतें किन सिद्धान्तोंसे निश्चित होती हैं।

शहरोंमें रहने वाले मनुष्य कीमतोंकी अस्थिरतासे पूर्णतया परिचित हैं। आज जिस पदार्थकी कीमत पांच रुपये है, कल उसकी कीमत छः रुपये हो जाती है। परन्तु इस घटा-बढ़ीके वास्तविक कारणोंको थोड़े ही मनुष्य भली प्रकार जानते होंगे। हम यहांपर इन्हीं कारणोंका अनुसंधान करनेका प्रयत्न करेंगे।

मूल्य

अर्थशास्त्रवेत्ताओंके विभागके अनुसार मूल्य दो प्रकारका है—उपयोगितागत मूल्य (व्हैलू इन यूस) और विनिमयगत मूल्य (व्हैलू इन एक्सचेञ्ज)। इन दोनोंके भेदको हम एक मामूली उदाहरणसे समझ सकते हैं। एक रुपयेका उपयोगितागत मूल्य जितना एक धनी लखपतिके लिये है उससे कई गुणा अधिक एक भिखमंगेके लिये है। जहां धनवान् मनुष्य एक रुपयेको किसी निरुपयोगी कार्यके लिये ही व्यय कर देता है वहां गरीब आदमी अपने जीवनोपयोगी कार्यमें ही उसे खर्च करता है। इसलिये एक पदार्थका उपयोगितागत मूल्य भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न होता है। परन्तु एक रुपयेका विनिमयगत मूल्य समान परिस्थितिमें समान ही रहता है, चाहे वह रुपया लखपतिके हाथमें हो, चाहे भिखमंगेके पास हो।

मूल्य और कीमत

विनिमयगत मूल्य भी दो प्रकारका है १. मूल्य (व्हैलू) २. कीमत (प्राइस)। एक वस्तुके बदलेमें दूसरी वस्तु जिस परिमाणमें मिल सकती है वही उसका मूल्य है, और मुद्राके माध्यम द्वारा वस्तुका जो विनिमय होता है उसे कीमत कहते हैं। यह कीमत दो तरहकी होती है—बाजारू कीमत (मार्केट प्राइस), और स्वाभाविक कीमत (नारमल प्राइस)। बाजारू कीमतसे हमारा तात्पर्य उस कीमतसे है जिस कीमतपर बाजारमें किसी वस्तुका लेन-देन हो रहा हो और जो कीमत उस पदार्थकी उपयोगिताकी सूचक हो न कि उसके उत्पत्ति-व्ययकी। परन्तु स्वाभाविक कीमतसे हमारा तात्पर्य उस कीमतसे है जिसके ऊपर नीचे बाजारू कीमत प्रायः रहा करती है और जो स्वयं भी चिरकालकी दृष्टिसे ऊपर नीचे होती रहती है।

हमें इस लेखमें बाजारू कीमतपर ही विचार करना है। समाचारपत्रोंमें पदार्थोंकी बाजारू कीमत ही निकला करती है, जिसे देखकर व्यापारी लोग अपना व्यापार

करते हैं। आजकल इस प्रकारकी कीमतको प्रचलित कीमत (करेण्ट प्राइस) कहते हैं। इसको पूर्ण रूपसे समझनेके लिये निम्न बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं—

१. एक समयमें, एक बाजारमें एक प्रकारकी वस्तुकी बाजारू कीमत एक ही होगी (ला आफ इण्डिफरेन्स)।

२. यह कीमत ऐसी होनी चाहिये जिसपर कि उस पदार्थकी मांग तथा उपलब्धिकी मात्रा समान हो।

३. यह कीमत ऐसी होनी चाहिये जिससे कि विक्रेता तथा खरीदारोंके अधिकतम समूहोंमें क्रयविक्रय हो सके।

इस स्थानपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौनसा नियम है जो कीमतोंके घटाने तथा बढ़ानेमें काम करता है। इस विषयमें भिन्न भिन्न सम्पत्तिशास्त्रज्ञोंकी भिन्न भिन्न सम्मतियां हैं। साधारणतया हम उन नियमोंको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं।

उपयोगिता सिद्धान्तके मानने वाले महानुभावोंकी सम्मति है कि वस्तुओंकी उपयोगिताके अनुसार ही उनकी कीमत कम या ज्यादा हुआ करती है। अधिक उपयोगी पदार्थका अधिक कीमती और कम उपयोगी पदार्थका कम कीमती होना स्वाभाविक है।

उत्पत्ति-व्यय सिद्धान्तके अनुयायियोंकी सम्मतिमें पदार्थोंकी कीमत उत्पत्ति-व्ययके अनुसार ही होती है। उसपर उपयोगिताका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यद्यपि इस सिद्धान्तके प्रवर्त्तकोंकी सम्मतिमें कीमतके निर्धारक कारणोंमें उपयोगिताको कोई स्थान न दिया गया था, तो भी इसके अनुयायियोंने उत्पत्ति-व्ययके साथ साथ किसी अंशमें उपयोगिताका भी अस्तित्व स्वीकार किया है। उत्पत्ति-व्ययमें ये बातें शामिल करनी चाहिये—उत्पादक श्रमियोंकी भृति या मजदूरी, कच्चे पदार्थका मूल्य, व्यवसाय-पतिका लाभ, व्यवसायमें लगी हुई पूंजीका व्याज (प्रचलित दरसे), टूट-फूट (वेअर ऐण्ड टेअर) का व्यय, इत्यादि। इसलिये एक पदार्थका उत्पत्ति-व्यय निकालनेके लिये किसी निश्चित समयमें उत्पन्न कुल पदार्थोंसे इस उपरिलिखित सम्पूर्ण व्ययको भाग देनेसे उसका उत्पत्ति-व्यय निकल आयेगा।

कीमतका तीसरा सिद्धान्त **मांग तथा उपलब्धिका सिद्धान्त** है। कीमतके विषयमें जो जो सिद्धान्त प्रचलित हैं उनमें सबसे पूर्ण यही सिद्धान्त है। इसको समझनेसे हमें कीमतकी घटा-बढ़ीके असली कारणका रहस्य मालूम हो सकता है। संक्षेपमें इस सिद्धान्तका अभिप्राय यह है कि जिस कीमतपर क्रेताओं तथा विक्रेताओंका परस्पर सन्तुलन हो जायेगा वही कीमत होगी। खरीदारोंकी क्रय करनेकी इच्छाको मांग तथा विक्रेताओंके विक्रयके लिये बाजारमें लाये हुए पदार्थको उपलब्धि कहते हैं। जब किसी पदार्थकी मांग उपलब्धिकी अपेक्षा अधिक हो जायगी तब वह पदार्थ महँगा हो जायेगा, और जब उसकी उपलब्धि मांगकी अपेक्षा अधिक हो जायगी तब वह पदार्थ सस्ता हो जायगा। इस नियमकी विस्तृत व्याख्या करनेसे पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पहिले पूर्वोक्त दोनों नियमोंकी त्रुटि दिखलायी जांय।

उपयोगिता सिद्धान्त तथा उत्पत्ति-व्यय सिद्धान्तकी अव्यापकता

कीमतके विषयमें ये दोनों सिद्धान्त व्यापक नहीं हैं, क्योंकि असलमें न तो उत्पत्ति-व्यय (कास्ट आफ प्राडक्शन) और न उपयोगिता (यूटिलिटी) ही पदार्थोंकी कीमतका प्रधान निर्धारक हैं। उपयोगिता मांगकी तरफसे देखी जाती है अर्थात् खरीदार उपयोगिता देखते हैं, और उत्पत्तिव्यय उपलब्धिकी तरफसे देखी जाती है, अर्थात् बेचनेवाले उत्पत्तिव्ययको देखते हैं। बाजारू नियमोंको देखनेसे मालूम पड़ता है कि न तो अकेला उत्पत्ति-व्यय ही कीमतको निश्चित करता है और न अकेली उपयोगिता ही कीमतको निश्चित करती है, प्रत्युत दोनोंके मिलकर कार्य करनेसे मूल्य निर्धारित होता है। मार्शलने इन दोनोंके मिलकर कार्य करनेको तथा कीमतके निश्चय करनेमें इनकी परस्पराश्रितताको बड़ी अच्छी तरह दिखलाया है। जिस प्रकार कैंचीके दोनों फलक ही मिलकर कागजको काट सकते हैं तथा जिसप्रकार कई बार एक ही फलक अधिक कार्य करता हुआ प्रतीत होता है, तो भी दूसरेको किसी भी हालतमें निष्प्रयोजन नहीं कह सकते, उसी प्रकार ये दोनों सिद्धान्त भी मिलकर काम करते हैं। उपयोगिताके कारण मांग होती है और मांगके कारण उत्पत्ति होती है। किसी पदार्थमें जब तक उपयोगिताका गुण नहीं है तब तक किसी हालतमें भी उसकी मांग नहीं हो सकती और मांगके बिना उत्पत्ति भी न होगी। इसके अतिरिक्त यदि केवल उपयोगिताके कारण ही कीमत निश्चित होती तो सबसे अधिक जीवनोपयोगी पदार्थ जल, गेहूं, लकड़ी इत्यादिकी कीमत जीवनके लिये अनावश्यक हीरेकी कीमतसे अधिक होनी चाहिये, पर ऐसा नहीं है। उसी प्रकार यदि उत्पत्ति-व्ययको ही कीमतका निर्धारक समझ लिया जाय तो समान उत्पत्तिव्ययसे उत्पन्न पदार्थोंकी कीमत समान ही होनी चाहिये तथा आकाशसे गिरे हुए अथवा अचानक पाये गये हीरे इत्यादिकी कुछ भी कीमत न होनी चाहिये। इस प्रकार मालूम पड़ा कि कीमतके निश्चित करनेमें उपर्युक्त दोनों ही सिद्धान्त अव्यापक और एकतरफा हैं, तथापि इन दोनों सिद्धान्तोंमें कुछ सत्यता अवश्य है।

यदि संसारमें सब पदार्थ एक समान राशिमें विद्यमान हों तो सचमुचमें प्रत्येक पदार्थकी कीमत उपयोगिताके अनुसार ही निश्चित होगी। किन्तु सच पूछो तो संसारमें कोई कोई पदार्थ तो अत्यन्त दुर्लभ हैं और कोई कोई अपरिमित अवस्थामें पाये जाते हैं। हीरेकी अधिक कीमत उसकी दुर्लभताके कारण है और जलकी (हीरेसे अधिक उपयोगी होने पर भी) कम कीमत या बिलकुल ही कीमतका न होना उसका अत्यधिक मात्रामें पाया जाना ही है। यदि संसारमें सब पदार्थ समान और पर्याप्त राशिमें विद्यमान हों तो इस अवस्थामें उन पदार्थोंका मूल्य उनकी उपयोगिताके ही अनुसार होगा, उदाहरणार्थ अगर किसी रेगिस्तानमें सब पदार्थ समान मात्रामें रख दिये जायें और वहांके निवासियोंको अन्यत्र कहींसे और कोई पदार्थ न मिलसके तो इस अवस्थामें सबसे अधिक मूल्य भोज्य सामग्री तथा जलका होगा। उस समय शायद हीरेकी कीमत बहुत ही कम होगी।

परन्तु ऐसी अवस्थाका संसारमें आना असम्भव है इसलिये पदार्थोंकी कीमत उपयोगिताके ही अनुसार निश्चित नहीं होती। इस सिद्धान्तका अधिक व्यापक और सत्य स्वरूप इस प्रकार होगा—प्रत्येक पदार्थका मूल्य उसकी उपयोगिताकी अधिकता तथा न्यूनताके अनुसार होता है, किन्तु उसके परिमित या अपरिमित मात्रामें पाये जाने तथा उसकी उत्पत्ति, और वृद्धिके कष्ट एवं श्रमके अनुसार भी कीमत निश्चित की जाती है।

अब हम उत्पत्तिव्यय सिद्धान्तको लेते हैं। पदार्थोंकी कीमत उत्पत्तिव्ययके अनुसार ही होगी, यदि निम्नलिखित अवस्थाएँ विद्यमान होवें—पदार्थकी उपलब्धि मांगके अनुसार शीघ्र ही बढ़ायी जा सके, पदार्थके उत्पादक पूर्ण स्पर्द्धासे कार्य कर रहे हों, अधिक उत्पत्ति करनेसे उत्पत्ति-व्ययकी मात्रामें किसी प्रकारका भेद न आवे, तथा प्रत्येक पेशेमें श्रमका पूर्ण वितरण होवे।

परन्तु ये सब बातें केवल कल्पनामें ही आ सकती है, इनका होना बहुत ही असम्भव है। इसलिये कीमत उत्पत्तिव्ययके अनुसार ही नहीं निश्चित हो सकती। यद्यपि इस सिद्धान्तके प्रवर्त्तकोंकी सम्मतिमें उत्पत्तिव्यय ही कीमतका निर्धारक था परन्तु इसके अनुयायियोंने उपयोगिताके अंशको भी थोड़ा थोड़ा मानना प्रारम्भ कर दिया है। इस सिद्धान्तका मुख्य प्रवर्त्तक रिकार्डो है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सिद्धान्तोंकी सत्यता केवल कल्पनाके आधार पर है। इनकी सब अवस्थाएँ कल्पित हैं, अर्थात् यदि अमुक अमुक बातें उपस्थित हों तो इन सिद्धान्तोंके अनुसार कीमतें निश्चित होंगी। अर्थशास्त्रका उद्देश्य यह बतलाना नहीं है कि "अगर ऐसा होगा तो यह होगा अथवा ऐसा होना चाहिये", बल्कि उसका उद्देश्य "क्या हो रहा है" यह बतलाना है। इसलिये वर्त्तमान अवस्थामें बाजारू कीमतें प्रधानतया एक अन्य ही सिद्धान्त द्वारा निश्चित होती हैं" और वह मांग तथा उपलब्धिका सिद्धान्त है।

मांग तथा उपलब्धिका सिद्धान्त

बाजारू कीमतके विषयमें सामान्यतया कहा जाता है कि मांग तथा उपलब्धिके सन्तुलनसे ही वह निश्चित होती है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि मांग तथा उपलब्धिसे क्या तात्पर्य है।

किसी समयमें कीमतको निश्चित करनेमें निम्नलिखित सूत्र ठीक समझा जाता था। 'व्हेलू इन एक्सचेन्ज व्हेरीज़ इन डाइरेक्ट रेशियो टु डिमाण्ड ऐण्ड इन इनवर्स रेशियो टु सप्लाइ* ' अर्थात् विनिमयगत मूल्य मांगके सीधे अनुपातमें तथा उपलब्धिके उलटे अनुपातमें बदलता है। परन्तु इस सूत्रके सम्बन्धमें बहुतसी आपत्तियां उपस्थित की

---

*"Value in exchange varies in direct ratio to demand and in inverse ratio to supply"

जाती हैं। प्रथम तो गणितकी दृष्टिसे यह अशुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि अगर अनाजकी उपलब्धि पहिलेसे आधी हो जावे तो मूल्य दुगना नहीं होता अपितु पांचगुणा या इससे भी अधिक हो जाता है। फिर यदि मांगकी बढ़ती कीमतको चढ़ा देती है तो साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कीमत बढ़ जानेसे मांग भी कम हो जाती है। उसी प्रकार यदि उपलब्धिकी वृद्धिसे कीमत गिर जाती है तो यह भी सत्य है कि कीमतके गिर जानेसे भी उपलब्धिकी वृद्धि रुक जाती है। दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं कि 'न केवल मांग और उपलब्धि ही कीमतको निश्चित करती है, अपितु कीमत भी मांग और उपलब्धिको नियमित करती है।'

तीसरी बात यह है कि इससे मांग तथा उपलब्धिका कोई निश्चित अर्थ समझमें नहीं आता। उपलब्धिका अर्थ हम "पदार्थकी वह राशि जो बाजारमें बेचनेके लिये रखी गयी हो" ले सकते हैं परन्तु कई बार उपलब्धिमें कमी होनेकी सम्भावना मात्रसे भी (यथा बुरी फसल होनेके भयसे) वही परिणाम होता है। इधर यदि मांगका यह तात्पर्य लिया जाय कि "पदार्थकी जितनी राशि खरीदनेकी ग्राहकोंकी इच्छा है" तो यह बिलकुल अनिश्चित है क्योंकि यह राशि कीमतपर निर्भर है। फी धोतीकी कीमत दो रुपये होने पर अगर पचास धोतियोंकी मांग है तो एक रुपये कीमत हो जाने पर सम्भवतः एकसौ पचास धोतियों तककी मांग हो सकती है। इन्हीं झमेलोंसे बचनेके लिये 'प्राचीन अर्थशास्त्रज्ञों' (क्लासिकल एकानामिस्ट्स) ने "मांग और उपलब्धि कीमतको निश्चित करती हैं या कीमत इन दोनोंको निश्चित करती है" इस बातके निर्णय करनेका परिश्रम नहीं उठाया है।

परन्तु इस प्रश्नका समीकरण जरासा विचार करनेसे हो सकता है। हम जानते हैं कि पदार्थ दो प्रकारके होते हैं-जीवनोपयोगी, यथा गेहूं, नमक इत्यादि, तथा भोगके पदार्थ यथा सिगरट, मोटर, शराब आदि। पहिले प्रकारके अर्थात् जीवनोपयोगी पदार्थोंकी मांगपर कीमतके घटने-बढ़नेका बहुत कम प्रभाव पड़ता है, इसलिये ऐसे पदार्थोंकी मांग अचल (इन-इलैस्टिक) कहलाती है। दूसरे प्रकारके अर्थात् (भोगके) पदार्थोंकी मांगपर कीमतके फेरफारका भी बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है, इस प्रकारके पदार्थोंकी मांग चल (इलैस्टिक) कहलाती है। पहिले प्रकारके पदार्थोंका एकाधिकार (मोनोपाली) होना बहुत मुश्किल है, परन्तु दूसरे प्रकारके पदार्थोंका एकाधिकार सरलतासे हो सकता है इसलिये "**जो पदार्थ जीवनोपयोगी हैं और जिनकी मांग अचल है उनकी मांग और उपलब्धि ही प्रायः कीमतको निश्चित करती हैं, किन्तु जिन पदार्थोंकी मांग चल है अथवा जो भोगके पदार्थ हैं उनकी कीमत ही प्रायः मांग तथा उपलब्धिको निश्चित करती है।**"

इस रहस्यका पता न लग सकनेके कारण कई अर्थशास्त्रज्ञोंने यह कहना प्रारम्भ कर दिया है कि मांग और उपलब्धि कीमतको निश्चित नहीं करतीं अपितु कीमत ही

मांग तथा उपलब्धिको नियमित करती है। परन्तु हम बतला चुके हैं कि किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थाके साथ भिन्न भिन्न नियम लगते हैं। एक पुस्तककी मांग प्रायः उसकी कीमतके अनुसार होती है परन्तु गेहूंकी कीमत उसकी मांगके अनुसार होती है।

अब हम उपलब्धि और मांगका तात्पर्य स्पष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो उपलब्धिका तात्पर्य "बाजारमें बिकनेके लिये आये हुए पदार्थ" नहीं है, प्रत्युत 'पदार्थोंकी वह राशि है जिसे कि विक्रेता लोग पूर्व कीमतपर बेचनेकी शक्ति रखते हुए बेचना चाहते हैं"। उसी प्रकार मांगका तात्पर्य है "पदार्थोंकी वह राशि जिसे कि विक्रेता लोग पूर्व कीमतपर खरीदनेकी शक्ति रखते हुए खरीदना चाहते हैं", अथवा यदि इसे पदार्थोंके रूपमें न दिखाकर मुद्राके रूपमें दिखाना हो तो हम कह सकते हैं कि मांगका तात्पर्य "उस धन-राशिसे है; जिसे खरीदार पूर्व कीमतपर किसी पदार्थके परिवर्तनमें शक्ति रखते हुए देना चाहते हैं।"

मांगके इस उपर्युक्त लक्षणमें "शक्ति रखते हुए" तथा "पूर्व कीमतपर" ये शब्द इसलिये रखे गये हैं कि अगर कोई बच्चा दूकानपर खिलौनेको देखकर लेनेकी पूर्ण इच्छा करते हुए भी पासमें पैसे नहीं होनेके कारण अथवा पैसे होनेपर भी यदि वह पूर्व कीमतपर पदार्थको नहीं लेना चाहता तो इसे हम मांग न कहेंगे। अतः यह स्पष्ट है कि मांग केवल किसी पदार्थको प्राप्त करनेकी इच्छाको ही नहीं कहते। उसके साथ दो बातें और होनी चाहिये। प्रथम तो इच्छा करने वालोंके पास उस पदार्थको खरीदनेके साधनों (द्रव्य) का होना जरूरी है। फिर, खरीदनेके साधनोंको उस वस्तुके खरीदनेमें लगानेकी इच्छा भी होनी चाहिये। जब हम यह कहते हैं कि बाजारमें अमुक पदार्थकी इतनी मांग है तो उसका यही तात्पर्य होता है कि "ग्राहक उस कीमतपर पदार्थको खरीदना चाहते हैं, और वे कीमत दे सकते हैं एवं देनेको तैयार हैं। इस बातको भली भांति समझनेके लिये हमें इच्छा तथा मांग के भेदको पूर्ण रूपसे समझ लेना चाहिये। एक गरीब आदमी भी मोटर लेनेकी इच्छा कर सकता है, पर वह मांग न कहलायेगी। उसे मांग तभी कह सकते हैं जब कि उपर्युक्त तीनों ही अवस्थाएँ विद्यमान होंगी।

इसी प्रकार उपलब्धिके लक्षणमें "बेचनेकी शक्ति रखते हुए" ये शब्द रखे गये हैं। जिस प्रकार हमने इच्छा और मांगमें भेद करते समय देखा कि किस प्रकार किसी पदार्थके लेनेकी इच्छा मात्रही उसकी मांग नहीं कहला सकती, उसी प्रकार हमें उपलब्धिके विषयमें भी वस्तु भंडार, (स्टाक) तथा उपलब्धि (सप्लाइ) में भेद समझ लेना चाहिये। वस्तुभण्डारसे हमारा तात्पर्य वस्तुओंके उस समस्त संग्रहसे है जो किसी समय उपस्थित हो। वस्तु-भण्डारका जितना अंश या राशि किसी निश्चित कीमतपर विक्रयार्थ निकाली जाती है वही उपलब्धि कहलाती है।

मांग और उपलब्धिका अगर उपर्युक्त लक्षण माना जाय और अगर हमें मांग और उपलब्धिकी राशिका पता हो तो हम यह बता सकते हैं कि कीमतें क्या होंगी।

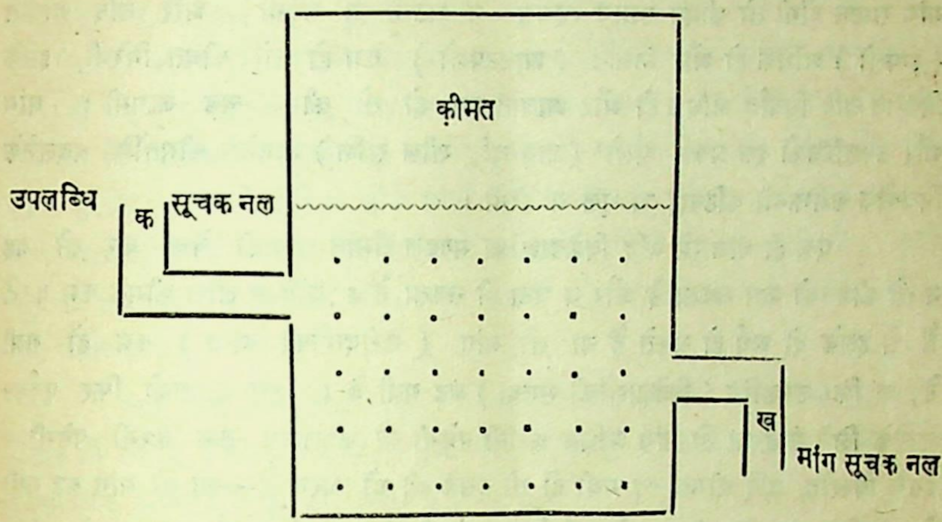
जिस जगहपर मांग और उपलब्धिका सन्तुलन होगा साधारणतया वही उस पदार्थकी स्वाभाविक कीमत होगी।

क्रेताओंकी मांगकी संख्या		मोटरकी कीमत		उपलब्धिकी मात्रा
१०००	...	३५००)	...	१६०००
३०००	...	३४५०)	...	९०००
५५००	...	३४१०)	...	५५००
६६००	...	३४००)	...	५०००
१००००	...	३३५०)	...	३०००
१५०००	...	३३००)	...	२०००

इस अवस्थामें बाजारमें उपलब्धि और मांगका संतुलन ३४१०) पर है इसलिये यही मोटर गाड़ीकी कीमत होगी। परन्तु किसी पदाथकी कीमत २०) ही क्यों है इसको देखनेके लिये और कीमतके परिवर्त्तनके कामको पूर्ण रूपसे समझनेके लिये हमें मांग और उपलब्धिको 'फगड' या स्थिर संचित राशिके रूपमें न मान कर 'फ्लो' या क्षयवृद्धिशील राशिके रूपमें मानना चाहिये। तदनुसार उपलब्धिका अर्थ होगा "किसी निश्चित समयमें किसी निश्चित कीमतपर बेचा गया पदार्थका भंडार"। इसी प्रकार मांगका अर्थ "निश्चित समयमें निश्चित कीमतपर खरीदी गयी पदार्थोंकी राशि" समझना चाहिये। यदि मांगको मुद्रामें दिखाना हो तो मांगका अर्थ "धनकी वह राशि जो कि नियत समयमें पदार्थके क्रयमें लगायी गयी है" लेना चाहिये।

परन्तु बहुत ही अच्छा हो यदि हम उपलब्धिको "भगडारकी वृद्धिकी दर" (रेट आफ इंक्रीज आफ स्टाक) मानें और मांगको बाजारकी घटतीकी दर (रेट आफ विथड्राल फ्राम स्टाक) मानें। अर्थात् उपलब्धि=पदार्थका जो भगडार बाजारमें आया, (प्राडक्शन), मांग=पदार्थकी जो राशि बाजारसे निकल रही है, व्यय (कनज़मशन)

अब हमें कीमतोंके बदलनेका कारण पूर्ण रूपसे समझमें आ सकता है। अर्थ-शास्त्रका यह एक नियम है कि "जिस जगह चीजें बाजारमें जितनी आती हैं उतनी ही निकल जाती हैं उस जगह कीमत समान रहती है।" इसको पूरी तौरपर समझनेके लिये हम सुविधाके निमित्त बाजारको एक ऐसी टंकी समझ लेते हैं जिसमें एक नल (क) जलको अन्दर लाने वाला (उपलब्धि करने वाला) है, और दूसरा नल (ख) पानीको निकालने वाला (मांगका सूचक) है। अब अगर ये दोनों नल एक समान होंगे तो टंकीमें जल एक समान ही रहेगा, अर्थात् कीमत समान रहेगी। किन्तु यदि उपलब्धिका नल बड़ा हो जाय तो टंकीमें जल बढ़ना शुरू हो जायगा।



टंकीका खाली स्थान कीमतको बताता है अर्थात् टंकीमें जितना जल भरेगा उतना ही खाली स्थान कम होता चला जायेगा अर्थात् कीमत कम होती चली जायेगी।

पदार्थविज्ञानके नियमानुसार पानीकी सतह जितनी ऊंची होती जायेगी अथवा यों कहिये कि जलका दबाव (प्रेशर) जितना अधिक होता जायगा मांगकी प्रणालीमें जल उतने ही जोरसे चलेगा अर्थात् उपलब्धि बढ़ जानेसे कीमत घट जायगी और मांग बढ़ेगी [उसी प्रकार जल जितना कम होगा मांगका नल उतना ही धीमा चलेगा]। उपलब्धिके इस प्रकार बढ़ जानेसे तथा कीमतके कम होनेसे विक्रेता लोग उपलब्धिको घटायँगे। परिणाम यह होगा कि टंकीमें खाली स्थान बढ़ता जायगा अर्थात् कीमत बढ़ती जायगी। उसी प्रकार जलकी सतह जितनी नीचे उतरती जायगी अर्थात् खाली जगह या कीमत जितनी बढ़ेगी, मांगकी प्रणाली उतनी ही धीमी चलेगी, अर्थात् मांग कम होती जायगी।

अब यदि मांगका नल बड़ा हो तो बर्तनमें जल कम होता जायगा, इससे कीमत बढ़ती जायगी, और यदि इस अवस्थामें भी बर्तनमें जल आवे कम और निकले अधिक तो अन्तमें मांगका नल प्रायः बिलकुल ही बन्द हो जायगा पर उपलब्धि अभीतक जारी रहेगी।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि मांग तथा उपलब्धिका सन्तुलन एक ही जगह होना आवश्यक नहीं है। वह कई जगह हो सकता है। इसलिये हमारे इस उपर्युक्त दृष्टान्तसे मांग और उपलब्धिके द्वारा कीमतका नियम सरलतया समझमें आ सकता है। हमने ऊपरके दृष्टान्तमें बाजारकी उपमा टंकी (जलपात्र) से दी है। परन्तु कई महानुभावोंने बाज़ारको एक तालाब (जलाशय) माना है। यदि तालाबमें जितना जल आवे

उतना ही निकल जाय तो जल समान रहेगा, न घटेगा न बढ़ेगा। (उपलब्धि और मांग समान होंगी तो कीमत समान रहेगी, न घटेगी न बढ़ेगी), और यदि आयात (इन्फ्लो) अधिक हो और निर्यात (आउटफ्लो) कम हो तो कीमत गिरेगी, इसके विपरीत यदि निर्यात अधिक हो और आयात कम हो तो कीमत चढ़ जायगी। मांग और उपलब्धिको इस प्रकार 'फ्लो' (क्षय-वृद्धि-शील राशि) माननेसे कीमतोंके बदलनेके नियमोंके समझनेमें कठिनाई या भूल न होगी।

एक ही बाजारमें यदि विक्रेताओंका मण्डल समान राशिको बेचा करे तो वह न तो कीमतको बढ़ा सकता है और न घटा ही सकता है। यदि ये लोग कीमत कम करते हैं तो इसके दो अर्थ हो सकते हैं या तो मांग (खरीदारोंकी संख्या) कम हो गयी है, या फिर उपलब्धि (विक्रेताओंकी संख्या) बढ़ गयी है। इस कीमतको फिर पूर्ववत् लानेके लिये उन्हें या तो मांग अधिक करानी पड़ेगी या उपलब्धि कम करनी पड़ेगी। इसके विपरीत, यदि कीमत चढ़ गयी हो तो इसके भी दो कारण हैं—या तो मांग बढ़ गयी है, या फिर उपलब्धि ही कम हो गयी है। यहां भी कीमतको फिर पूर्ववत् अवस्थामें लानेके लिये या तो मांग घटानी होगी या उपलब्धि बढ़ानी होगी। इस प्रकार कीमत चढ़नेके दो कारण हैं—उपलब्धिका घटना, मांगका बढ़ना। इसी प्रकार कीमत कम होनेके भी दो कारण हैं—उपलब्धिका बढ़ना, मांगका घटना।

मांगकी घटती बढ़तीका लक्षण यह है कि यदि पूर्व कीमतपर किसी वस्तुको कम मात्रा खरीदी जावे तो हम कहेंगे कि वस्तुकी मांग घट गयी है किन्तु यदि पूर्व कीमत-पर वस्तुकी अधिक मात्रा खरीदी जावे तो कहेंगे कि उसकी मांग बढ़ गयी है, उसी प्रकार पूर्व कीमतपर वस्तुकी कम मात्राका बेचा जाना उपलब्धिकी घटती कहलाती है, और पूर्व कीमतपर वस्तुकी अधिक मात्राका बेचा जाना उस वस्तुकी उपलब्धिकी वृद्धि कहलाती है।

मुद्रा द्वारा किस प्रकार कीमत बदलती है

कई अर्थशास्त्रज्ञोंका कथन है कि मांग और उपलब्धिके अतिरिक्त और भी कई कारण हैं जिनसे कीमतें बदलती रहती हैं। उदाहरणार्थ मुद्राको ही लीजिये। उनका कथन है कि "मुद्राओंकी संख्या तथा चलन बढ़नेसे कीमतें चढ़ती हैं और मुद्राओंकी संख्या घटनेसे कीमतें गिर जाती हैं।" परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो मुद्राके घटने बढ़नेसे भी मांग और उपलब्धिमें ही परिवर्त्तन होता है और मांग और उपलब्धिका ही कीमतपर प्रभाव पड़ता है। अब देखना यह है कि किस प्रकार मुद्राकी घटती या बढ़ती पदार्थकी उपलब्धि या मांगपर प्रभाव डालती है। इस बातको समझनेके लिये हम फिर अपने पुराने दृष्टान्तको लेते हैं। ऊपर बतलाया जा चुका है कि एक बच्चेकी खिलौनेको लेनेके लिये पूर्ण इच्छा होनेपर भी पासमें साधन न होनेसे वह मांग नहीं कहलाती। अब यदि मुद्राकी राशिके बढ़ जानेसे उस बालकके

पास भी साधन उपस्थित हो जावें तो वह मांग कहलायेगी। ऊपरके दृष्टान्तसे हमें पता चल सकता है कि किस प्रकार मुद्राकी राशिके बढ़ जानेसे वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छा मांगमें परिवर्त्तित हो जायेगी। एक ही समयमें एक वस्तुको लेनेकी न जाने कितने आदमियोंकी इच्छा हो पर मुद्रा न होनेसे यह इच्छा मांग नहीं कहला सकती। इसलिये अब हमें पता लग गया कि किस प्रकार मुद्राके बढ़ जानेसे 'बाजारकी घटतीकी दर' बढ़ जाती है उसी प्रकार मुद्राके घटनेसे भी विक्रेता लोग अपनी मौद्रिक आयको पूर्ववत् ही बनाये रखनेके लिये पदार्थोंकी उपलब्धि बढ़ा देते हैं जिससे भण्डारकी वृद्धिकी दर बढ़ जाती है। इससे बहुतसा वस्तुभण्डार उपलब्धिमें परिणत हो जाता है और उपलब्धिके बढ़ जानेसे कीमत गिर जाती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई अन्य कारणोंसे भी (जिनमेंसे मुद्राओंकी संख्या भी एक है) कीमतमें परिवर्त्तन हुआ करता है परन्तु उन सबकी परीक्षा मांग और उपलब्धिके नियम द्वारा ही हो सकती है।

भाई सोमदत्त शर्मा।

गत २२ वीं सितम्बरको भारतवर्षमें कुल १,८०,८८,८३,५०३ रुपयेके नोट प्रचारमें थे। इसके बदले सरकारी खजानेमें सोना, चांदी और सोने-चांदीके सिक्के सब मिलकर केवल १,१३,४०,६५,१६७ रुपयेका माल था। शेष ६७,४७,८८,३०६ रुपयेकी जमानतका काम सरकारके ही ऋणके कागज कर रहे थे, अर्थात् एक ऋणकी जमानत दूसरा ऋण दे रहा था। इसमें भी एक और दिल्लगी है। सरकारको जब रुपयेकी जरूरत होती है तब वह ३ माही, ६ माही, ६ माही और १२ माही मुद्दती हुंडियां निकाल कर रुपये कर्ज लिया करती है। गत २२ वीं दिसम्बरको इस तरहकी छः महीने मुद्दतकी ७८,८४,३५००० रुपयेकी हुंडियां प्रचारमें थीं। पर इनमें ५४,८६,००० ० रुपयेकी हुंडियां नोट-भण्डारमें जमा हैं। इसका अर्थ यह है कि सरकारने प्रायः ५५ करोड़के ऐसे नोट लगाये हैं जिन्हें चुकानेके लिए उसके पास रकम नहीं है। [१५ अक्टूबरके 'स्वदेश'से]

मानवीय सभ्यताका विकास-नियम ।

मानवीय सभ्यताका विकास किस क्रमसे हुआ है ? क्या आफ्रिकाकी जंगली जातियां यूरोपीय जातियोंके समान सभ्य हो सकती हैं ? ये प्रश्न नवशिक्षित व्यक्तियोंके हृदयमें स्वाभाविक तौरसे उठते हैं । इस लेखमें हम इन्हीं प्रश्नोंपर विचार करनेका यत्न करेंगे ।

दर्शनशास्त्रमें मनुष्य तथा पशुमें केवल इतना ही भेद किया गया है कि मनुष्यमें विवेक-शक्ति है और पशुमें यह शक्ति नहीं है । पशु जहां 'इन्स्टिंक्ट' या स्वाभाविक प्रेरणा मात्रसे काम लेना जानता है वहां मनुष्य अपने हित और अहितमें स्वयं भी विवेक कर सकता है । उसे ईश्वरने कर्म करनेमें स्वतन्त्र बनाया है । वह सदा अपनी भलाई और उन्नतिको दृष्टिमें रखकर काम करता है, अर्थात् मनुष्यमें उन्नतिकी अभिलाषा स्वाभाविक है ।

इस उन्नतिका मुख्य साधन मनुष्यकी मानसिक शक्ति है । मानसिक शक्ति द्वारा मनुष्य पहले प्राप्त की हुई उन्नतिकी सुरक्षा करता है और नवीन उन्नतिके लिए प्रयास करता है । यद्यपि मनुष्यके अल्प जीवनकाल और अत्यल्प मानसिक शक्तिको देखते हुए बहुत अधिक उन्नति करना उसके लिए पहले पहल असम्भव मालूम होता है तथापि जरा सा विचार करनेपर हमारी धारणा बदल जाती है । इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य-समाजमें व्यक्तियोंकी मानसिक शक्ति बहुत कम है, परन्तु वे इस प्रकारकी एक शृंखलामें बंधे हुए हैं कि जिसके कारण एक सन्तति दूसरी सन्तति द्वारा की हुई उन्नतिपर पैर धरती हुई नटकी भांति ऊपर चढ़ती जाती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक शक्ति उन्नतिका मूल कारण है । जो समाज जितनी मानसिक शक्ति ज्ञान-प्राप्तिके निमित्त और सामाजिक सुधारोंमें व्यय करता है वह उतनी ही शीघ्रतासे आगे बढ़ता जाता है । जितनी शक्ति पिछली उन्नतिको स्थिर रखने या उसके विपरीत कार्योंमें व्यय होती है वह उन्नतिकी दृष्टिसे सर्वथा शून्यके समान है, उससे मनुष्य समाजको बहुत कम लाभ है और वह कम लाभ भी तभी है जब व्यय की हुई शक्ति भावी उन्नति प्राप्त करनेमें सहायक हो । इस बातको अधिक स्पष्ट रूपमें समझनेके लिए मनुष्य समाजको एक प्रकारकी नाव समझ लीजिये । यह नाव धाराकी प्रतिकूल दिशामें उतनी ही बढ़ सकती है जितनी शक्ति नाविक लोग उसे खेनेमें व्यय करते हैं । अब आगे बढ़नेसे पहले उन्हें कुछ शक्ति नावको पीछे जानेसे रोकनेके लिए भी लगानी पड़ती है । यह शक्ति यद्यपि उन्नतिके लिए आवश्यक है तथापि इससे नाव आगे नहीं बढ़ती । इसी प्रकार यदि नाविक लोग परस्पर लड़ने लगें तब भी कुछ न कुछ शक्ति जरूर ही व्यर्थ नष्ट होगी । यही दशा मनुष्य-समाजकी है । मनुष्य-समाज भी उसी मानसिक

शक्तिसे आगे बढ़ेगा जो शक्ति वह उन्नतिको स्थिर रखने और उसके विपरीत कार्योंमें व्यय करनेके पीछे उन्नति करनेके लिए लगायेगा ।

प्रारम्भमें (सामाजिक संगठनसे पहले) जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी जीवनोपयोगी आवश्यकताओंको स्वयं पूर्ण करता है तब तक उसकी सम्पूर्ण शक्ति अपनेको जीवित बनाये रखनेके लिए ही व्यय हो जाती है । उसे उच्चतर उन्नतिके लिए अवसर ही नहीं मिल सकता । उच्चतर उन्नतिके लिए मनुष्यको उसी समय अवसर मिलने लगता है जब मनुष्योंमें सम्मिलन (एसोसिएशन) का भाव पैदा हो चुकता है और वे श्रम-विभागके लाभोंसे परिचित हो जाते हैं । इस कारण मानवीय उन्नतिके लिए सबसे आवश्यक बात सम्मिलन या संगठन है । यह सम्मिलन या संगठन जितना ही दृढ़ और संघर्षणशून्य होगा उन्नति उतनी ही अधिक होगी । संघर्षणकी कमीके लिए यह जरूरी है कि समाजका प्रत्येक सभ्य एक दूसरेके अधिकारोंमें हस्तक्षेप न करे, सभीको दूसरोंको हानि न पहुंचाते हुए अपने हितका अनुशीलन करनेका समान अधिकार हो । इसलिए समानता (न्याय) यह दूसरी वस्तु है जो मानवीय उन्नतिके लिए परमावश्यक है ।

अब हमें मालूम हो गया कि समाजकी उन्नति का मूल मन्त्र क्या है । मनुष्योंके न्यायानुकूल सम्मिलनसे समाज क्रम क्रमसे उन्नति करता है । सम्मिलनसे मानसिक शक्तिको उन्नतिका अवसर प्राप्त होता है और न्याय उसे पारस्परिक संघर्षणमें व्यर्थ नष्ट होनेसे बचाता है । मनुष्य जितने ही अधिक सम्मिलित और संगठित होते हैं उन्नतिकी गति उतनी ही बढ़ जाती है परन्तु ज्यों ही फिर उनमें संघर्षण पैदा हुआ त्योंही वह गति शिथिल पड़ जाती है । यह संघर्षण मुख्यतया दो प्रकारका होता है, प्रथम बाह्य, और द्वितीय आभ्यन्तरिक । पहले प्रकारके संघर्षणका भय विशेषकर सभ्यताके प्रारम्भिक कालमें अधिक रहता है, वैसे तो आज बीसवीं सदीमें भी इसका भय सर्वथा दूर नहीं हुआ । दूसरे प्रकारके संघर्षणका भय सभ्य जातियोंको अधिक कष्ट देता है ।

ईश्वरने मनुष्योंको पशुओंकी अपेक्षा स्वभावसे ही एक दूसरेपर अधिक आश्रित बनाया है । कारण यह है कि जहां पशुओंको युवावस्था तक पहुंचनेके लिए बहुत ही कम समय लगता है वहां मनुष्य अत्यन्त धीरे धीरे बड़ा होता है, इस लिए उसे बाधित होकर पारिवारिक बन्धनोंमें बँधना पड़ता है, या यों कहना चाहिये कि उसे स्वभावसे ही मिलनसार या सामाजिक बनना पड़ता है । सृष्टिके आदि कालमें इन परिवारों तक ही समाज परिमित होता है । परिवारोंके आगे शीघ्र ही छोटी छोटी उपजातियां (ट्राइब्ज़) बन जाती हैं और धीरे धीरे यह क्रम आगे बढ़ता चला जाता है ।

मान लीजिये कि ये थोड़ेसे परिवार समाजकी प्रारम्भिक अवस्थामें समान शक्तिशाली हैं । ये समान शक्तिशाली परिवार पृथ्वीपर भिन्न भिन्न प्रकारके जलवायुमें निवास करते हैं क्योंकि बिलकुल एकसा वायुमण्डल मिलना इस भूतलपर असम्भव है । प्रकृतिकी इस असमानताके कारण इन परिवारोंके स्वभावों तथा रहन-सहनमें अवश्य ही

परिवर्तन आ जायगा। जिस स्थानपर प्रकृति अधिक उदार होगी, जहांका जलवायु उत्तम होगा और जहां भोजन-सामग्री बहुतायतमें मिलेगी वहां लोग अधिक संख्यामें एकत्र होते जायँगे और दूसरे स्थानोंमें उनकी संख्या क्रम क्रमसे कम होती जायगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक सम्मिलनमें सबसे पहले हमें प्राकृतिक बाधाका सामना करना पड़ता है। यही कारण है कि मध्यम या समशीतोष्ण (न अधिक शीत और न अधिक गरम) तथा उपजाऊ जलवायुकी भूमिमें प्रथम प्रथम सभ्यताका अंकुरित होना माना जाता है। परन्तु यह प्राकृतिक विभिन्नता मनुष्योंके रहनसहन, स्वभाव और सामाजिक जीवनमें ही परिवर्तन करती हो, यह बात नहीं है, इसके कारण मनुष्योंके मनोंमें भी उन्नतिके विरोधी भाव पैदा हो जाते हैं। ज्यों ज्यों परिवार या उपजातियां एक दूसरेसे दूर होती जाती हैं त्यों त्यों उनमें सहानुभूति कम होने लगती है, उनकी भाषा, रीति-रिवाज, धर्म तथा अन्य सब बातोंमें भी फर्क पड़ जाता है। इस फर्कके कारण पक्षपात पैदा होता है, दुश्मनी फूट पड़ती है और लड़ाइयां छिड़ जाती हैं। धीरे धीरे ये लड़ाइयां इतनी अधिक बढ़ जाती हैं कि एक उपजाति दूसरी उपजातिको निगल जानेके लिये दिन रात मुँह बाये फिरती है, सारी मानसिक शक्ति युद्ध-सामग्री तय्यार करनेमें व्यय होने लगती है, और ऐसा मालूम होता है कि लड़ाई झगड़े सभ्यताके प्रारम्भिक कालमें अवश्यंभावी हैं। जैसा कि हम पहले कह आये हैं, ऐसी लड़ाइयां यद्यपि प्रारम्भिक समयमें अधिक होती है तथापि सभ्यता बढ़ जानेपर भी इनका होना बन्द नहीं हो जाता। यह बात आज कलके सभ्य देशोंकी रक्त-पिपासा देखनेसे स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपजातियोंके परस्पर लड़नेसे सम्मिलन या एकताका नाश होता है और उन्नति रुक जाती है परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिये कि जिस समय प्रकृतिके अनुदार वायुमण्डलमें रहने वाली जातियां लड़ लड़कर अपनी मानसिक शक्तिका नाश करनेमें संलग्न रहती हैं, उस समय ऐसी जातियोंका भी अभाव नहीं होता जो प्रकृतिके उदार वायुमण्डलमें अधिक सम्मिलन पूर्वक रहकर सभ्यताको आगे बढ़ाती रहती हैं। धीरे धीरे इन्हींमेंसे कोई साहसी उपजाति आगे बढ़ती है और इन लड़ने वाली छोटी छोटी जातियोंको जीत कर एक बड़ी और विस्तृत जातिका रूप धारण करती है। यदि इस विजयसे सम्मिलनने विस्तृत रूप धारण किया तो उन्नतिकी गति बढ़ जाती है अन्यथा वह पहलेसे भी कम हो जाती है अर्थात् जहां युद्ध सभ्यताका विघातक है वहां कितने स्थानोंपर उसके कारण सम्मिलनको बढ़नेमें सहायता भी मिलती है। इसी प्रकार प्राकृतिक विभिन्नता भी समाजको जुदा करनेके साथ साथ उसे सम्मिलित बनानेमें सहायक भी है। इसीके कारण व्यापार-व्यवसाय उन्नत होता है और भिन्न भिन्न स्थानोंके लोग दूर दूर जाकर एक दूसरेसे मिलते हैं।

संसारके इतिहासपर जहां कहीं हम नज़र डालते हैं हमें यही नियम काम करता हुआ दिखायी देता है कि सम्मिलनसे उन्नति होती है और फूटसे अवनति। यूरोपमें

मानवीय सभ्यताका विकास-नियम ।

रोमकी सभ्यताके साथ उसकी सभ्यताका प्रचार इसलिए हुआ कि इस विजयने यूरोपको एक सूत्रमें बांधकर वहांकी आभ्यन्तरिक कलहको बन्द कर दिया। फिर जब उत्तरी रियासतोंने हमला करके रोम द्वारा किये गये सम्मिलनको तोड़ दिया उस समय यूरोपमें पुनः अशान्ति फैल गयी। इसके पीछे 'फ्यूडल सिस्टम' (जागीरदारीकी प्रथा) और पोपके धार्मिक प्रभावने समाजको संगठित किया। उन्नतिका मार्ग फिर खुल गया। ज्यों ज्यों यह 'फ्यूडल सिस्टम' जातीयतामें अधिक बदलता गया और ईसाई मत अधिक शुद्ध होता गया त्यों त्यों लोगोंके हृदयमें सम्मिलन और संगठनके भाव और भी घर करते गये। इसी कारण हम आज यूरोपमें इतनी उन्नति देख रहे हैं।

ऊपर हमने उन्नतिके मार्गमें आने वाली बाह्य बाधाओंका उल्लेख किया है, परन्तु कितनी ही ऐसी बाधायें हैं जो समाजके अन्दर ही उत्पन्न होती हैं। उनपर विचार करना भी आवश्यक है। ज्यों ज्यों समाज अधिक संगठित होता है त्यों त्यों उसमें अधिक विषमता भी आती जाती है। मनुष्य एक दूसरेपर अधिक अधिक आश्रित होते जाते हैं। प्रत्येक पेशे और प्रत्येक कार्यके विशेष कुशल पुरुष होने लगते हैं। जनता अस्थिर निवासोंको छोड़कर एक स्थानपर अधिक स्थिरतासे बसने लगती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओंको अपने आप पूर्ण करना छोड़ देता है। व्यापार-व्यवसायमें श्रम-विभाग दिखायी देने लगता है और प्रत्येक मनुष्य एक ही वस्तुमें कुशल बननेका यत्न करने लगता है।

अब यदि मानवीय मनोविज्ञान द्वारा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो मालूम हो सकता है कि विशेष पेशोंमें कुशलता प्राप्त करनेके कारण यह स्वाभाविक है कि मनुष्योंमें असमानता पैदा होती चली जाय। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि कुशलता और असमताका आवश्यक कार्य-कारण सम्बन्ध है, हमारा असली तात्पर्य यह है कि यदि कुशलता प्राप्त करनेके साथ साथ सामाजिक जीवनमें उतनी ही उच्चता न आती चली जाय तो असमताकी ओर प्रवृत्ति होनेकी बहुत अधिक संभावना है। मतलब यह है कि ज्यों ज्यों समाज आगे बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके रीति-रिवाज, नियम तथा समयके साथ २ पैदा होने वाली राजनीतिक संस्थाएँ अपना अपना असली मूल्य छोड़ कर संकुचित बनती जाती हैं। इस दशामें केवल न्याय और समानताके विशेष भाव ही उसे गिरनेसे बचा सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि समाजमें उन्नतिके साथ साथ संकुचितता या अनुदारता क्यों आती है? जब समाज एक ओर राजनीतिक संस्थाओं और श्रम-विभागके कारण उन्नति कर रहा है तो दूसरी ओर असमता या अधोगति क्यों उत्पन्न हो जाती है? इस सम्बन्धमें भी थोड़ासा विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है।

समाजमें असमता उत्पन्न होजानेका असली कारण मनुष्यका स्वभाव है। मनुष्यके स्वभावमें दो प्रवृत्तियां पायी जाती हैं। प्रथम यह कि मनुष्य एक बार चली हुई बातको छोड़ना नहीं चाहता, अर्थात् उसमें अभ्यास या आदत पड़ जानेका गुण है। दूसरा यह कि प्राकृतिक उन्नतिके साथ साथ उसमें धार्मिक भावोंकी अवहेलनाकी प्रवृत्ति जाग्रत होती जाती है। पहली प्रवृत्तिका फल यह होता है कि मनुष्य पुरानी लकीरका

फकीर बना रहना चाहता है और दूसरेका यह कि वे ही संस्थायें जो उसे आगे ले जानेमें सहायक थीं सदाचारकी कमीसे उन्नतिमें बाधक होने लगती हैं।

अब ज्यों ज्यों समाज उन्नति करता है त्यों त्यों प्रत्येक व्यक्ति अन्योंपर अधिक अधिक आश्रित होता जाता है और समाजके मुकाबलेमें व्यक्तिका महत्त्व कम होने लगता है। इस वैयक्तिक प्रभावकी कमीके कारण समाजमें भेद-भाव या ऊँच-नीचका विचार पैदा होने लगता है, अकुशल श्रमी कुशल श्रमियोंके आश्रित होने लगते हैं, सम्पत्तिका अधिक भाग कुशल श्रमियोंके पास चला जाता है। इस सम्पत्तिके कारण उनकी शक्ति बढ़ती है, समानताका भाव विलुप्त हो जाता है और उन्नतिका मार्ग रुक जाता है।

इसी प्रकार कमसे कम आदमियोंके हाथमें शक्ति और सम्पत्ति आते आते राजसत्ताका उदय होता है। राजा सर्व-शक्ति-सम्पन्न बन जाता है और अन्य आदमी उसके दरबारमें भृत्यवत् काम करते हैं। राजा या सरदार बनजानेपर मनुष्य स्वभावतः ही बड़े पुत्रको अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं। कारण यह है कि परिवारमें उसीकी शक्ति अधिक होती है। बस उसके पुत्रके पीछे उसके परिवारमें उत्तराधिकार चल पड़ता है और वंशानुगत राजसत्ताका उदय होता है।

यद्यपि श्रमविभाग या विशेष पेशोंमें कुशलता प्राप्त करना भी असमानताका कारण है तथापि असमानताका सबसे बड़ा कारण भूमिका एकाधिकृत हो जाना है। समाजकी प्रारम्भिक दशामें भूमि सदा सामान्य अर्थात् सबकी सम्पत्ति समझी जाती है, परन्तु इसे सार्वजनिक बनाये रखनेके तरीके (भूमिका सालाना बटवारा या कृषिके लिए भूमिपर सबको समान अधिकार देना) इतने अपर्याप्त होते हैं कि इनसे केवल समाजकी प्रारम्भिक दशामें ही काम चल सकता है। ज्यों ज्यों समाज उन्नत होता जाता है त्यों त्यों मनुष्यकृत पदार्थोंके लिए प्रयुक्त होने वाला 'सम्पत्ति' शब्द भूमिके लिए भी व्यवहारमें आने लगता है। इस व्यवहारसे जब तक जनसंख्या कम है तब तक तो कुछ फायदा ही मालूम होता है परन्तु ज्यों ही जनसंख्या कुछ बढ़ी त्यों ही भयानक खपके कारण असमानता दिखायी देने लगती है। एक ओर भूमिपतियोंकी प्रबल श्रेणी खड़ी हो जाती है और दूसरी ओर उनके नीचे दासवत् काम करने वाले मजूर नजर आने लगते हैं। और ज्यों ही एक बार ऐसी विषमता उत्पन्न हो जाती है, इसमें कुछ ऐसा आकर्षण है कि फिर वह बढ़ती ही चली जाती है।

सामाजिक असमानताके परिणामोंको विस्तारपूर्वक दिखाना हमारा उद्देश्य नहीं है, स्पष्ट है कि उन्नति होना तभी रुकता है जब समाजमें असमानता पैदा हो जाती है। एक ओर ऐसे मनुष्योंके झुण्डके झुण्ड दिखायी देते हैं जिनका दिन रातका काम पेट पालना है, ऐसे मनुष्योंको आजीविका कमानेके पीछे किसी प्रकारकी उन्नति करनेका मौका ही नहीं मिलता। दूसरी ओर उन शक्तिशाली व्यक्तियोंका जत्था बन जाता है जिनकी स्वार्थसिद्धि इस असमानता, विलासप्रियता और अशान्तिको बनाये रखनेमें होती है। समाज शासितों और शासकों, तथा गरीबों और अमीरोंकी श्रेणीमें बँट जाता है। ऐसे

समयमें उन्नतिका रुक जाना सर्वथा स्वाभाविक है। संभव है कि कुछ देर तक प्राकृतिक उन्नति विषयक आविष्कारोंका होना न भी रुके परन्तु यदि कहीं भी समानता या उच्च जीवन सम्बन्धी आविष्कार होते हुए दिखायी देंगे तो उन्हें समाजके लिए भयप्रद (डेनजरस) कह कर एकदम दबा दिया जायगा। कारण यह है कि असमानतासे मानसिक शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि मनुष्यकी प्रवृत्ति ही उन्नतिकी ओरसे फिर जाती है। हम हिन्दुस्तानियोंके लिए इस बातका उदाहरण देनेकी जरूरत नहीं कि वे लोग जिन्हें आजीविका कमानेके अलावा समय न मिलनेके कारण वर्षोंसे अशिक्षित रहना पड़ा है कितने परिवर्तन-विरोधी हो जाते हैं। साथ ही उच्च जातियोंकी अनुदारता भी यहां सर्वथा प्रत्यक्ष है। जिस समुदायका संगठन जितना ही दृढ़ होता है उसमें उतना ही अधिक अपरिवर्तनसे प्रेम भी रहता है। यदि हमारे यहां ब्राह्मणोंकी प्रबलता थी, उनका संगठन सबसे अधिक प्रबल था तो उन्नतिके मार्गमें बाधा डालनेमें भी उन्हींने सबसे अधिक भाग लिया। इसका कारण यह है कि लोगोंको भय प्रतीत होता है कि यदि किसी बातमें जरा भी परिवर्तन हुआ तो हमारे विशेष अधिकार छिन जायंगे। इस लिये उनका यह यत्न रहता है कि वे स्वयं कूपमण्डूक बने रहें तथा अन्योंको भी वैसा ही बनाये रखें।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उन्नतिके साधक और बाधक कारण क्या हैं। उन्नति-नदीका प्रवाह किस प्रकार दायें बायें घूमता हुआ आगे बढ़ता है। असमानता (अन्याय) से उन्नतिमें रुकावट होना अवश्यंभावी है। पहले पहल यह उन्नतिकी वृद्धिको ही रोकती है परन्तु जब इतनेपर भी वह कम नहीं होती तो फिर समाज अवनतिकी ओर गिरने लगता है। धीरे धीरे यह असमानता उग्र रूप धारण करती है। ऐसी दशामें दो ही बातें हो सकती हैं—या तो समाज क्रमशः रसातलकी ओर गिरता चला जाय अथवा विशेष आक्रान्ति या विक्षोभ द्वारा उसका पुनः संगठन हो जैसा कि फ्रान्समें हुआ या तथा आज कल कितने ही देशोंमें हो रहा है। जिस राजसत्ताने प्रारम्भिक सभ्यताके समय पारस्परिक संगठन और सम्मिलन द्वारा समाजकी उन्नति की थी, कालान्तरमें वही असमानताका कारण बन जाती है और उसे भी दूर करनेकी जरूरत होती है। लोगोंको रूसोके सामाजिक समझौते (सोशल काण्ट्रेक्ट) के सिद्धान्तसे प्रेम होने लगता है, साम्यवादकी डुगडुगी पिटती है, दास-प्रथाका अन्त होता है, श्रेणियोंके विशेष अधिकार नष्ट किये जाते हैं, वंशानुक्रमसे प्राप्त पद लुप्त होते हैं, एकतन्त्रके स्थानमें प्रजातन्त्रको प्रधानता मिलती है, और धार्मिक विचारोंमें स्वाधीनता, गरीब-अमीर, निर्बल-सबल, सबके जान-मालकी रक्षा तथा बोलने और लिखनेकी स्वतन्त्रता स्वीकार की जाती है। वर्तमान सभ्यताका इतिहास समानताकी विजयका इतिहास है। जितने अंशमें यह स्वीकार की गयी है उतने ही अंशमें समाजकी उन्नति हुई है। जहां इसकी उपेक्षा हुई है या हो रही है वहां अब भी अवनतिका राज्य है।

सोमदत्त विद्यालंकार

कृषि, शिल्प और वाणिज्य ।

ऋणग्रस्त किसानोंका उद्धार ।

इधर कई वर्षोंसे भारतीय किसानोंके ऋणकी मात्रा बराबर बढ़ती जा रही है। गत पचास-साठ वर्षोंमें ही वह कई गुनी हो गयी है। इसके कई कारण हैं। एक तो भूमिका लगान ऐसे बेमौके वसूल किया जाता है कि बिचारे किसानोंको बाज़ारकी ऊँची दरसे अपनी फ़सल बेच सकनेके पहिले ही कर्ज़ लेकर लगान अदा करना पड़ता है या फिर उन्हें अत्यन्त सस्ते भावसे ही फ़सलका बड़ा भाग बेच डालना पड़ता है ! परिणाम यह होता है कि उनके पास निजी आवश्यकताके लिये भी काफी अन्न इत्यादि नहीं बचता और बाज़ारका भाव चढ़ जानेपर उन्हें कर्ज़ लेकर महँगे दामोंपर उसे फिर खरीदना पड़ता है। दूसरे, बड़ी बड़ी विदेशी कम्पनियां किसानोंको ऋण देने वाले साहूकारोंके जरिये ही प्रायः अनाज इत्यादि खरीदा करती हैं। ये साहूकार अपना मुनाफा अलग निकालनेकी इच्छासे बाजारभावसे बहुत कम दरपर ही अनाज खरीदते हैं। ऋणके दबावमें पड़कर गरीब किसानोंको भी उनकी मनमानी दर मंजूर करनी पड़ती है। इस प्रकार उन्हें दुहरी चोट लगती है—एक तो ऋणकी रक़मपर सूद खूब देना पड़ता है और दूसरे उन्हें अपनी कमाईका भी पूरा पूरा बदला नहीं मिलता। फल यह होता है कि उनकी आर्थिक दशा बिगड़ती ही जाती है और कर्ज़ भी चुकने नहीं पाता।

किसानोंकी ऋणग्रस्त अवस्थाका एक और प्रधान कारण वर्त्तमान समयमें घरू उद्योगोंका ह्रास भी है। पहिले खेतीकी पैदावार अच्छी होनेपर भी कृषक जनता केवल उसीपर आश्रित नहीं रहती थी। फुर्सतके दिनोंमें प्रायः सभी किसान तरह तरहके घरू उद्योगों द्वारा अपनी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके निमित्त बहुतसी वस्तुएँ तैयार कर लिया करते थे, अतः उन चीज़ोंके लिये उन्हें रुपये खर्च करनेकी ज़रूरत नहीं पड़ती थी, किन्तु अब वह बात नहीं रही। आजकल कृषिकी उपज ही उनका एकमात्र अवलम्ब रह गया है। प्रति दिनकी आवश्यकताकी अधिकांश वस्तुएँ प्राप्त करनेके लिये अब उन्हें क्षण क्षणपर पैसा खर्च करना पड़ता है। यह पैसा जब तक अनाज रहता है तब तक प्रायः उसे ही बेचकर प्राप्त किया जाता है, किन्तु अन्तमें उन्हें क़र्ज़ लेनेके लिये साहूकारके पास जाना ही पड़ता है। इस प्रकार नाना कारणोंसे प्रेरित होकर किसानोंको ऋण लेनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। सबसे दुर्भाग्यकी बात तो यह है कि एक बार आरम्भ होनेपर इस ऋणका सिलसिला प्रायः टूटता ही नहीं।

इस दुर्दशासे किसानोंका उद्धार करनेका एक उपाय सहयोग-समितियोंकी स्थापना है। इन समितियोंकी सहायतासे किसानोंको आवश्यक रुपया कम व्याजपर और

अधिक सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार वे अधिक सूद लेनेवाले साहूकारके पंजोंसे बच जाते हैं। इस पद्धतिसे पूर्ण लाभ उठानेके निमित्त दो बातें परमावश्यक हैं। एक तो यह कि किसानोंको जो रकम उधार दी जाती है उसे अदा करनेकी मियाद काफी लम्बी होनी चाहिये। तभी वे अपने पुराने ऋणसे छुटकारा पा सकेंगे और अपनी परिस्थितिमें आवश्यक सुधार कर सकेंगे। दूसरी बात यह है कि किसानोंके साधारण समयमें भी अपनी खेतीका काम-काज ठीक तरहसे चलानेके लिये कुछ चलतू पूंजीका भी प्रबन्ध होना चाहिये।

सहयोग-समितियोंसे किसानोंको कितना लाभ हुआ है इसका अन्दाजा लगाना कठिन है। एक महाशयका अनुमान है कि साहूकारोंसे रुपया उधार न लेकर सहयोग-समितियोंसे लेनेमें ही किसानोंको कोई तीस लाख रुपये सालानाकी बचत हो रही है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकारसे ये समितियां किसानोंको लाभ पहुँचा रही हैं। इनकी उपयोगिता देखकर कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि वस्तुओंकी उत्पत्ति और बिक्रीका प्रबन्ध भी इन्हीं समितियोंके अन्तर्गत करनेसे विशेष लाभ होगा। एक ही गांवमें रुपया उधार देनेवाली समिति अलग हो और उत्पत्ति अथवा बिक्रीका प्रबन्ध करने वाली समितियां अलग हों, यह पद्धति अधिक खर्चीली है, अतः तीनों प्रकारकी सहयोग समितियोंका एकीकरण आवश्यक प्रतीत होता है।

—:०:—

भारतमें चीनीकी उत्पत्ति।

'एग्रीकलचरल जर्नल आफ इण्डिया' नामक कृषि सम्बन्धी पत्रसे प्रकट होता है कि संवत् १९७८ में भारतके कारखानोंमें ऊखसे कुल ७,५३,६३० मन चीनी तैयार हुई। गत वर्ष कुल ६,६९,२९० मन ही हुई थी। इस प्रकार संवत् १९७७ की अपेक्षा संवत् १९७८ में ८४,३४० मन चीनी अधिक तैयार की गयी। इस वृद्धिका कारण यह है कि संवत् १९७८ में चीनीके कारखानोंको गन्ने अधिक मात्रामें प्राप्त हो सके। इस वर्ष समस्त भारतमें वर्त्तमान पद्धतिसे चीनी तैयार करने वाले कुल अठारह कारखाने थे। इनमेंसे प्रायः सभी कारखाने उत्तर भारतमें थे। मद्रासके दो कारखानोंको छोड़कर शेष सोलह कारखानोंमेंसे विहार-उड़ीसामें नौ, संयुक्त-प्रान्तमें छः और आसाममें एक था। अधिकांश चीनी उत्तरीय विहारमें तैयार होती है। यद्यपि गन्नोंकी खेती सबसे अधिक मात्रामें संयुक्त प्रान्तमें होती है तो भी संवत् १९७८ में यहां वर्त्तमान प्रणालीसे तैयार की जाने वाली चीनीकी मात्रामें कोई दस हजार मनकी कमी हुई। इस कमीका वास्तविक कारण क्या है, यह समझमें नहीं आता।

—:०:—

जापानकी औद्योगिक उन्नति ।

जापानका बढ़ता हुआ व्यापार उसकी औद्योगिक उन्नतिका द्योतक है । तीस-चालीस वर्षोंके पूर्व संसारके बड़े बड़े उद्योगप्रधान राष्ट्रोंमें जापानकी गणना भूलकर भी नहीं की जाती थी, किन्तु आजकल तो वह इंग्लैण्ड और अमेरिकाके समान समुन्नत व्यावसायिक देशोंसे टक्कर ले रहा है । जापानके व्यापारकी गति महायुद्धके आरम्भ होनेके बाद ही विशेष रूपसे तीव्र होने लगी थी । युद्ध समाप्त होते होते तक जापानने संसारके व्यापार-क्षेत्रमें जो स्थान प्राप्त कर लिया है वहांसे उसका हटाया जाना अब बहुत दुष्कर कार्य हो गया है । युद्ध-जात परिस्थितिसे लाभ उठाकर जापानने हिन्दुस्थान, चीन तथा अन्य देशोंके बाजारोंको क्रमशः हथियाना प्रारम्भ कर दिया और उन्हें जो जो माल जर्मनी, ब्रिटेन इत्यादिसे प्राप्त होता था वह स्वयं अपने यहां तैयार कर भेजने लगा ।

जापानने युद्धकालके बाद जिन जिन उद्योगोंमें उन्नति की है उनमें रूईके वस्त्रोंका तथा रेशमका उद्योग विशेष उल्लेखनीय हैं । रूईके वस्त्र तैयार करनेमें जापानने कितनी तत्परता दिखायी है, यह इसीसे प्रकट है कि जहां संवत् १९७० में जापानसे कुल १५$\frac{3}{4}$ लाख रुपयोंका कपड़ा भारतमें आया था, वहां संवत् १९७८ में कोई ४$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपयोंका आया अर्थात् आठ वर्षोंमें जापानी कपड़ोंका आयात अट्ठाइस गुना हो गया । यदि हम मूल्यका ख्याल न कर आये हुए कपड़ेकी लम्बाईको ही लेते हैं तो भी जापानी वस्त्रोंके आयातका परिमाण युद्धके पूर्वकी अपेक्षा बाईस गुनेसे कम नहीं है । यद्यपि जापानके सूती वस्त्रोंका मुख्य खरीदार चीन है, तो भी युद्धके बाद भारतमें जापानी वस्त्रोंकी खपत जिस गतिसे बढ़ी है उसके कारण जापानी वस्त्रोंके खरीदनेवालोंमें चीनके बाद अब भारतका स्थान ही है । युद्धके पूर्व भारतका नम्बर चौथा था ।

संवत् १९७८ में जापानने लगभग ३१$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपयोंका कच्चा माल विदेशोंसे मँगाया । इसमें आधेसे भी अधिक अर्थात् लगभग १७$\frac{1}{4}$ करोड़की केवल रूई थी । युद्धके पूर्व जापानमें इस उद्योगके जितने कारखाने थे, संवत् १९७८ में उनमें ६६ फी सदीकी वृद्धि हुई । पूँजीमें भी ३५ फी सैकड़ेकी वृद्धि हुई ।

रेशमके उद्योगमें भी जापानने खूब उन्नति कर ली है । एक महाशयका तो कहना है कि जापानकी वर्त्तमान व्यावसायिक उन्नतिका श्रेय प्रधानतः इसी उद्योगको दिया जाना चाहिये । किन्तु जापानके सूती वस्त्रोंकी अपेक्षा रेशमी वस्त्रोंके उद्योगका भविष्य अधिक संदिग्ध है । जापानका यह व्यापार अमेरिकावासियोंकी विशेष रुचिपर आश्रित है । यदि अमेरिका वाले रेशमी वस्त्रोंका प्रयोग बिलकुल कम कर देवें या उनके बदले अन्य कोई सस्ता कपड़ा काममें लाने लगें तो जापानके इस उद्योगको बड़ा आघात पहुंचेगा । साथ ही, हालमें अमेरिकाने बाहरसे आने वाले पदार्थोंपर जो वाणिज्यकर लगाया है उससे भी अमेरिकामें जापानके रेशमी वस्त्रोंकी खपत गिर जानेकी संभावना है ।

सामयिक संग्रह ।

विदेशी पूंजीका प्रयोग ।

हम अपनी अनेक आवश्यकताओंके निमित्त किस सीमातक परावलम्बी हो रहे हैं, यह बात गत यूरोपीय युद्धके समय जितनी स्पष्ट प्रतीत होने लगी थी उतनी कदाचित् पहिले कभी नहीं हुई थी। साथ ही उस समय देशकी विपुल अव्यक्त सम्पत्तिकी ओर भी लोगोंका ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट हुआ था। किन्तु बात यह है कि—

यहांकी कृषि तथा जंगलकी पैदावारों और खनिज पदार्थोंसे विशेष लाभ उठानेके लिए पूंजी चाहिये। इस अपरिमित प्राकृतिक सामग्रीके लिए पूंजी भी अपरिमित ही चाहिए, अतः प्रश्न यह है कि इतनी अधिक पूंजी कहांसे लायी जाय। क्या इस पूंजीका विदेशोंसे लाया जाना वाञ्छनीय होगा या वह अपने ही देशमें एकत्र की जाय?

सभी बुद्धिमान् अर्थशास्त्रज्ञ यह बात स्वीकार करेंगे कि विदेशी पूंजी सम्यक् रूपसे देशके हितोंकी संवर्द्धक न होगी। किन्तु हमें यह भी मानना ही पड़ेगा कि क्षेत्र तैयार हो जानेके कारण परिस्थितिसे विदेशी लोग लाभ उठा रहे हैं। वे लोग यहांकी प्राकृतिक सामग्रीसे व्यावसायिक लाभ उठानेके एक मात्र उद्देश्यसे ही बाहरसे पूंजी लाकर लगा रहे हैं। ... देशकी दशाका जिसको काफी ज्ञान है वह जानता है कि विदेशी व्यवसायी बाहरकी पूंजीसे ही इस देशमें अनेकानेक कारखाने खोलनेकी चेष्टा कर रहे हैं। सच पूछो तो टिन-प्लेट और साबुन इत्यादिके कारखाने खुल भी गये हैं।

विदेशी पूंजीसे खोले गये कारखानोंके कारण कई हानियां होंगी।

सर्वप्रथम तो लाभका सार भाग देशसे बाहर चला जायगा अतः हमारी निर्धनता और भी बढ़ जायगी। दूसरे, इन उद्योग-धन्धोंमें यहांके लोगोंको संभवतः उत्तरदायी पद न मिल सकेंगे अतः उन्हें सिर्फ मजदूरोंकी तरह ही काम करना होगा। नवयुवक भारतीयोंको कारगुजारीकी तालीम पानेका भी बहुत कम अवसर मिलेगा। अन्ततः देशके अन्तर्गत बाहरकी पूंजी लगानेसे यहां उसका सिलसिला कायम हो जायगा और फिर उसको तोड़ना अत्यन्त कठिन हो जायगा।

ये सब बातें देशी उद्योगोंके लिये विनाशकारी हैं, इसलिए भारतीय व्यवसायियोंको देशहितकी हार्दिक इच्छासे प्रेरित होकर विदेशी पूंजीकी बाढ़ शीघ्रही रोकनी चाहिए, क्योंकि भारतकी औद्यो-

गिक उन्नति भारतीयों द्वारा ही होनी चाहिये और उसमें भारतकी ही पूंजी तथा कच्चे पदार्थोंका लगाया जाना परम वाञ्छनीय है।

यह आपत्ति हम सबोंके सिरपर मौजूद है। तजुर्बेकार विदेशी लोगों द्वारा सञ्चालित कारखानोंके मुकाबलेमें हम ठहर सकेंगे, ऐसी आशा नहीं है। यदि एक बार उन्हें यहां जम जानेका मौका मिल गया तो फिर वे यहां जड़ पकड़ लेगें और भविष्यमें हम कभी भी उनसे होने वाली बुराइयोंके दूर करनेमें समर्थ न हो सकेंगे।

इस विषयमें सबसे अधिक खतरनाक बात तो यह होगी कि

विदेशी पूंजी और विदेशी कारीगरों द्वारा तैयार की गयी ये वस्तुएं भारतमें ही बनी होनेके कारण 'स्वदेशी' कहलायँगी और इस प्रकार वे हमारे देश-प्रेमके भावोंसे भी विशेष लाभ उठावेंगे।

[नवम्बरके 'कामर्शल इण्डिया' से]

* *

नालन्दाका विश्वविद्यालय

हालके अनुसन्धानोंसे पता लगा है कि नालन्दाकी स्थिति पटना ज़िलेके वर्तमान बड़गांवके स्थलपर ही थी। भूमिखननद्वारा जो कतिपय अवशिष्ट चिन्ह प्राप्त हुए हैं उनमें विश्वविद्यालयकी एक बड़ी मोहर भी है जिसपर "श्री नालन्दा महाविहारी आर्यभिक्षु संघस्य" अङ्कित है। दन्तकथाओंके अनुसार बुद्धने अपने किसी पूर्वजन्ममें इस स्थानको तप तथा ध्यानके लिए पसन्द किया था और उन्होंने अपने अन्तिम जन्ममें भी इस स्थानपर उपदेश दिया था, ऐसा प्रतीत होता है। उनके निर्वाण प्राप्त कर लेनेपर एक सच्चे भक्त शक्रादित्य नामक राजाने यहाँ उनका स्मारक स्वरूप एक संघ बनवाया। अशोकके समयमें कुछ विद्वान भिक्षुओं (श्रमणों) ने यहां विश्वविद्यालयकी स्थापना की। कुछ सदियोंमेंही विश्वविद्यालयका विस्तार बहुत अधिक हो गया और वहां निकट तथा दूर सभी स्थानोंसे सैकड़ोंकी संख्यामें विद्यार्थी पहुंचने लगे। बौद्ध-मतके प्रभावसे जाति भेदका बन्धन टूट गया था और विदेश-यात्राकी कड़ाइयां भी नहीं थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतका सम्बन्ध तिब्बत, चीन और जापान जैसे देशोंसे स्थापित हो गया और विद्याध्ययन तथा बौद्ध साहित्यके संग्रहके निमित्त इन दूर देशोंके विद्यार्थी तथा यात्री लोग नालन्दा आने लगे। फाहियन और ह्यूनसांगके अतिरिक्त बहुतसे चीनीयात्री भी यहां आये थे। ह्यूनसांगकी यात्राके समय नालन्दाका महत्त्व बहुत बढ़ा-चढ़ा था। यात्रीगण साहित्यकी

अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें चीन और तिब्बत ले गये। वहांकी भाषाओंमें इन पुस्तकोंका अनुवाद किया गया। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि अधिकांश मूल पुस्तकें नष्ट हो गयीं पर तिब्बती तथा चीनी भाषाओंमें उनके अनुवाद अबतक मौजूद हैं। अतः इन भाषाओंके ज्ञानके विना बौद्ध भारतके इतिहासका सम्यक् अध्ययन एक प्रकारसे असम्भव ही है।

विश्वविद्यालयकी महत्ताका अन्दाजा इसी एक बातसे लगाया जा सकता है कि श्रमणों और विद्यार्थियोंको मिलाकर इसमें किसी जमानेमें दसहज़ार व्यक्तियोंके लिए स्थान था। १२ हाथ लम्बी और ६ हाथ चौडी हजारों कोठरियां विद्यार्थियोंके रहनेके लिए बनायी गयी थीं और अध्यापन-कार्य, इसी निमित्त बने हुए, विशाल भवनोंमें होता था। यहां हिन्दू और बौद्ध साहित्य तथा दर्शन, आयुर्वेद, शिल्प तथा अन्यान्य कलाएं और विज्ञान आदि विषयोंकी शिक्षाका प्रबन्ध था, विद्यार्थी अपने इच्छानुसार विषय पसन्द कर लेते थे। ताड़पत्र और भूर्जपत्रपर लिखी हुई पुस्तकोंका एक बड़ा भारी पुस्तकालय था। इस समयमें पुस्तकोंकी प्रतिलिपि करना तथा उन्हें सुरक्षित रखना एक प्रकारकी विशेषकला समझी जाती थी इसलिए स्वच्छ लिपि करना विशेषरूपसे सिखलाया जाता था।

आगन्तुक नये विद्यार्थी यदि रातके समय यहां पहुंचते थे तो उन्हें प्रातःकाल तक प्रधानद्वारके बाहर 'अतिथिशाला'में ठहरना पड़ता था। 'द्वाररक्षक' विद्वान् पुरुष होता था क्योंकि विद्यार्थी प्रवेशके योग्य है या नहीं इसकी जांच उसे ही करनी पड़ती थी। प्रवेशके लिए केवल मस्तिष्क सम्बन्धी गुणोंकी जांच की जाती थी। जो इस जांचमें पूरे उतरते थे वे जाति या धर्म सम्बन्धी किसी प्रकारकी रुकावटके बिना ही विश्वविद्यालयमें भरती कर लिये जाते थे।

नैतिक आचरणपर बहुत कड़ाई रखी जाती थी। विद्यार्थियोंकी प्रवृत्ति आलस्य तथा विषयासक्तिकी ओरसे पूर्णतः रोकी जाती थी क्योंकि आत्मसंयम और सादगी ही श्रमण-जीवनके प्रधान गुण थे। दैनिक परिश्रमके बाद वायुसेवन करनेके लिए बड़े बड़े रसाल-उपवन तथा पुष्पोद्यान लगे हुए थे जिनके मध्यमें सुन्दर २ पद्मसर बने हुए थे।

कहना नहीं होगा, यदि विश्वविद्यालयको आर्थिक कष्ट होता तो वह इतने विस्तृत और महत्त्वपूर्ण कार्यका समुचित सम्पादन कदापि न कर सकता। श्रमणों तथा विद्यार्थियोंके भरण-पोषणके लिए दान इत्यादिके रूपमें सहायता मिलती ही रहती थी।

इसके अतिरिक्त इसके आर्थिक आधारके पूर्णतः दृढ़ होनेका प्रधान कारण यह था कि कई राजाओंने इसके निमित्त दो सौसे अधिक ग्राम दानस्वरूप दे दिये थे। आश्चर्य है कि इतनी सुदृढ़ नींवपर स्थापित विश्वविद्यालय भी कैसा विध्वस्त हुआ कि आज इसके पुस्तकालयका भी कोई चिन्ह अवशिष्ट नहीं रहा। तक्षशिलाकी तरह नालन्दा विश्वविद्यालयके पतनका इतिहास भी गुप्त रहस्योंसे ढंका हुआ है।

अध्यापक फणीन्द्रनाथ बोसने विश्वविद्यालयके दो बड़े समारोहोंका उल्लेख किया है, जो शीलभद्रकी अध्यक्षतामें हुए थे। प्रथम समारोह वर्षारम्भके महाधिवेशनके अवसरपर हुआ जिसमें शीलभद्र विद्यार्थियों और श्रमणोंका सम्बोधन कर आत्मसंयमके लिए नैतिक आचरणकी आवश्यकता बतलाता है और कहता है कि इस संघ या विश्वविद्यालयमें विशुद्ध आचरणवाले व्यक्तिही प्रवेश पा सकते हैं। दूसरा समारोह पाठ्यविषय समाप्त कर लेनेपर विश्वविद्यालयसे पृथक् होनेवाले विद्यार्थियोंको प्रमाणपत्र देनेके अवसरपर हुआ। इस समय शीलभद्रने विद्यार्थियोंको सम्बोधन कर कहा "आपलोग भविष्यमें जहां कहीं रहें, बुद्धके पवित्र उपदेशोंका अनुसरण करते रहिये और क्रोधको शान्तिसे, दुष्टताको सरलतासे, कृपणताको उदारतासे तथा मिथ्यावादिताको सत्यतासे दूर कीजिये। पापका फल सदा नाश ही होता है और पुण्यसे निर्वाण प्राप्त होता है। अन्तमें मैं आपलोगोंको विश्वविद्यालयकी मर्यादा बढ़ानेमें यथाशक्ति सचेष्ट रहनेकी शिक्षा देता हूं।

['मद्रास एजुकेशनल रिव्यू'से]

* *

प्रशान्तसागरमें जापानकी नयी नीति।

जापानने अपनी प्रशान्तमहासागर सम्बन्धी नयी नीतिके अनुसार शान्तुंगसे अपने सभी सैनिक हटा लिये हैं और साथही साथ व्लैडिवास्टक भी खाली कर दिया है। अब उसने साइबीरियापर हाथ बढ़ाने तथा चीनको अपने शासनमें रखनेकी सैनिक आकांक्षा त्याग दी है। जापानने वाशिंगटन सम्मेलनकी, कमसे कम रूस और चीन विषयक, शर्तोंका, बिना किसी त्रुटिके और सज्जनतापूर्वक पालन किया है।

जापानकी इस नयी नीतिका प्रधान कारण इंग्लैंडके साथ उसकी मित्रताकी संधिका न दुहराया जाना ही है। एशियामें वह ब्रिटेनके ही बलपर इतनी धूम मचा रहा था और निर्भय होकर अपनी सैनिक नीतिका प्रयोग कर रहा था, किन्तु इंग्लैण्ड-जापान सन्धिकी पुनरावृत्ति न होनेसे परिस्थिति

भयङ्कर हो गयी। सभी जगहोंमें इस द्वीपीय साम्राज्य (जापान) को प्रतिस्पर्द्धा और द्वेषका सामना करना पड़ा। सशंक और विरोधी चीनकी शक्ति, चाहे वह कितनी ही बंटी हुई और प्रभावशून्य क्यों न हो, जापानके लिये कुछ कम खतरनाक नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि संसारमें उसका सबसे बड़ा खरीदार और सतत कच्चामाल देने वाला (चीन) उसके हाथसे जाता रहता। रूसकी शत्रुता तो उसके लिये और भी भयंकर थी। इन दोनोंके मिल जानेसे, जापानकी स्थिति, इंग्लैण्डको सहायता प्राप्त न हो सकनेके कारण शोचनीय हो जाती, वाशिंगटन सम्मेलनने उसे यह बात स्पष्टरूपसे अवगत करा दी और उसने यह समझ भी लिया कि अर्द्ध शताब्दीके अनवरत परिश्रमसे प्राप्त पद रूस और चीनकी मैत्रीसे ही अक्षुण्ण रह सकता है। इस बड़ी नाज़ुक परिस्थितिमें उसने उदारतापूर्वक अपनी भूल स्वीकृत कर नयी नीति ग्रहण करनेमें असीम साहस दिखलाया है।

[६ दिसम्बरके (अंग्रेजीपत्र) 'स्वराजसे']

मजदूरसंघोंका रचनात्मक कार्य।

मजदूरसंघोंका एकमात्र उद्देश्य हड़ताल कराना ही नहीं है। पश्चिमी देशोंमें मजदूर संघोंके बड़े बड़े रचनात्मक कार्यक्रम रहते हैं। वे अपने सदस्योंमें श्रम करनेकी योग्यता, नियमशीलता तथा कार्य-कौशल बढ़ानेका यत्न करते हैं। आकस्मिक घटनाओं या मृत्युसे सदस्योंकी रक्षाका प्रबन्ध भी वे करते हैं और बीमार पड़नेपर या बेकारीके समय सदस्योंकी सहायता करते हैं। वे व्यायाम तथा व्याख्यानसभाओंका भी प्रबन्ध करते हैं और अपने सदस्योंमें शिक्षा और उच्च विचारोंका प्रचार करनेकी तीव्र चेष्टा करते हैं। इन उपयोगी कार्योंसे श्रमियोंकी दशा सुधरने ही वाली है, किन्तु हड़तालोंके संगठनकी अपेक्षा ये कार्य अवश्य ही अधिक कठिन हैं। इनके लिये बहुसंख्यक शिक्षाप्राप्त कार्यकर्ताओंकी आवश्यकता है। पश्चिमी देशोंमें समाज सेवाकी शिक्षा देनेके निमित्त औद्योगिक स्थलोंमें स्कूल तथा कालेज स्थापित हैं। बम्बईकी 'सोशल लीग' नामक संस्था, कमसे कम बम्बईके पुतलीघरोंके सम्बन्धमें, इसी ढंगपर काम कर रही है। कलकत्तेमें भी श्रमियोंकी सहायता करनेवाली कई संस्थाएं हैं, यथा 'सोशल सर्विसलीग' 'सनातन विद्यालय' 'वर्कमेन्स एसोसियेशन' इत्यादि, किन्तु उनमें कार्यकर्त्ताओंकी बड़ी कमी है। यदि हमारे देशवासी श्रमजीवियोंकी उन्नतिकी ओर विशेष ध्यान दें तो इन संस्थाओंकी वृद्धि की जा सकती है या अन्य पृथक् संस्थाएं स्थापित की जा सकती हैं।

['लेबर' तथा 'माडर्न रिव्यू' से]

सम्पादकीय।

भारत सरकारकी आर्थिक समस्या

भारत सरकारकी आर्थिक स्थिति इधर कई वर्षोंसे कितनी शोचनीय हो रही है, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। नूतन शासन-व्यवस्था तथा भारत सरकारकी मनमानी घरजानी नीति एवं अन्य कई कारणोंसे देशका खर्च बढ़ता ही जा रहा है, किन्तु बारम्बार कर-वृद्धि इत्यादि उपायों द्वारा अधिक रुपया प्राप्त करनेकी चेष्टा करनेपर भी आमदनीमें विशेष वृद्धि नहीं हो रही है। इसी कारण गत चार-पांच वर्षोंसे भारत सरकारके आय-व्ययमें बराबर घटी ही हो रही है जिसकी संयुक्त मात्रा वर्त्तमान वर्षके आरंभमें ६० करोड़ रुपये थी। इस वर्षमें भी कोई २५-३० करोड़के घाटेकी संभावना है। ऐसी अवस्थामें इस भीषण आर्थिक संकटसे देशके उद्धारका केवल एक ही उपाय है और वह है भारत सरकारकी समूची आर्थिक नीतिका परिशोधन और उसके वृद्धिशील व्ययका परिवर्त्तन।

भारत सरकारकी सारी आमदनीका आधेसे ज्यादा भाग सेनाके निमित्त ही खर्च किया जाता है। भारत सरकारकी तथा भारतके भाग्य-विधाताओंकी दृष्टिमें यह सैनिक व्यय 'देशकी रक्षा'के ख्यालसे चाहे कितना ही आवश्यक क्यों न समझा जाय, किन्तु वास्तवमें उसका समर्थन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। संसारके अन्य किसी भी देशमें सैनिक व्ययका अनुपात इतना अधिक नहीं है। दक्षिण आफ्रिकामें समस्त आमदनीका ८ फीसदी, कनेडा तथा नारवेमें ११ फीसदी और ब्रिटेनमें २० फीसदी अंश ही सेनाके पीछे-खर्च किया जाता है। अमेरिका और जापान इत्यादि देशोंमें भी सेनाके खर्चका अनुपात इतना अधिक नहीं है कि वे इस सम्बन्धमें भारतसे टक्कर ले सकें। भारतके इस असहनीय सैनिक व्ययका प्रधान कारण भारत सरकारकी सैनिक नीति ही है। एक तो वह दिन रात भारतमें अशान्ति और अराजकताका ही स्वप्न देखा करती है—उसे इस बातका भय सदा लगा रहता है कि न जाने कब भारत विद्रोह कर बैठे। सेनाध्यक्ष लार्ड रालिनसनके शब्दोंमें 'देशकी बाह्य तथा आन्तरिक परिस्थिति ऐसी है कि जिसके कारण सेनाका व्यय और अधिक नहीं घटाया जा सकता।' इस 'बाह्य तथा आन्तरिक परिस्थिति' के सम्बन्धमें हम "स्वार्थ"के २४वें अंकमें बहुत कुछ लिख चुके हैं, अतः पुनः उन्हीं बातोंका दुहराना अनावश्यक है। हमारे ख्यालसे भारतसरकारको अपनी सैनिक नीतिमें परिवर्त्तन करना जितना अनिवार्य है उतना ही उचित भी है।

दूसरी बात यह है कि सरकार भारतीय सेनामें गोरे सैनिकोंका अनुपात विशेष रूपसे घटानेकी ओर ध्यान नहीं दे रही है। गोरे सैनिकोंके स्थानमें भारतीय सैनिकोंको नियुक्त करना आर्थिक दृष्टिसे ही नहीं, भारतके आत्म-सम्मानकी दृष्टिसे भी परमावश्यक है। जहां गोरे सैनिकोंकी एक टुकड़ी (बैटेलियन) का वार्षिक व्यय २१½ लाख रुपये पड़ता है, वहां देशी सैनिकोंकी वैसी ही टुकड़ीके निमित्त केवल पांच लाख रुपये खर्च होते हैं। अतः भारतीय सेनामें देशी सैनिकोंका अनुपात अधिकसे अधिक सीमातक बढ़ा दिया जाना चाहिये। साथ ही स्थायी सेनाका परिमाण घटानेकी भी आवश्यकता है।

सम्पादकीय

इस समय रूस अथवा अफगानिस्थानका हौआ भी नहीं है और न देश किसी प्रकारके युद्धमें ही फँसा हुआ है। भीतरी हालत भी ऐसी खतरनाक नहीं है कि जिसके कारण इतनी बड़ी सेना कायम रखी जाय।

एक बात और है। भारतमें कितनी सेनाका रखना आवश्यक या अनावश्यक है, इसका निपटारा भारतके हितकी ओर लक्ष्यकर ही किया जाना चाहिये—ब्रिटेन अथवा उसके साम्राज्यकी आवश्यकताके ख्यालसे नहीं। अभी तक कई बार ऐसे अवसर आ चुके हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय सेना विशेषकर साम्राज्यकी ही आवश्यकता देखकर रखी जाती है। यह नितान्त अनुचित है। यदि ब्रिटेन अपने साम्राज्यकी रक्षाका भार भी भारतीय सेनापर डालना चाहता है तो उसे 'भले मानुसोंकी तरह' इस सेनाके व्ययका उचित अंश भी स्वीकृत करना चाहिये। केवल प्रवासके समय ही थोड़ा-बहुत व्ययभार अपने जिम्मे ले लेनेसे ही काम न चलेगा। भारत सरकारको इस सम्बन्धमें शीघ्र ही अपनी स्पष्ट नीति निर्धारित कर लेनी चाहिये और ब्रिटिश सरकारको यह सिद्धान्त माननेके निमित्त बाध्य करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। साथ ही हम चाहते हैं कि बड़ी व्यवस्थापक सभाको सैनिक व्ययके सम्बन्धमें भी स्वीकृति देने या न देनेका अधिकार मिलना चाहिये। जब तक ऐसा न होगा तब तक सैनिक व्ययके अविच्छिन्न प्रवाहका रोका जाना असम्भव ही है।

इस सम्बन्धमें यह भी ज़रूरी है कि भारतीय सेनाके सैनिकोंकी— चाहे वे गोरे सैनिक हों या भारतीय—शिक्षाका प्रबन्ध यहां ही हो। ऐसा करनेसे 'सात-समुन्दर पार' सैनिकोंके आने जानेका तथा प्रवासका अधिक व्यय भी बच जायगा, अस्तु।

अब हम सरकारके मुल्की खर्चका विचार करते हैं। इसमें भी किफायत करनेकी काफी गुंजाइश है, उदाहरणार्थ प्रान्तोंके भिन्न भिन्न डिवीजनोंमें कमिश्नरोंका पद बिलकुल तोड़ दिया जा सकता है। प्रत्येक जिलेमें जब एक प्रमुख कर्मचारी डिप्टी कमिश्नर या कलेक्टरकी हैसियतसे रहता ही है, जिसके ऊपर सारे जिलेका उत्तरदायित्व होता है, तो ऐसी अवस्थामें कमिश्नरोंका पद टूट जानेसे भी प्रान्तोंमें 'क़ानून और अमन'की रक्षा भली भांति हो सकेगी। साथ ही यदि ज़िला मजिस्ट्रेटके हाथसे न्याय करनेका काम हटा लिया जाय तो वह पुलीसके ज़िला सुपरिण्टेण्डेण्टका काम भी अच्छी तरह सँभाल सकता है। ऐसा करनेसे पुलीस सुपरिण्टेण्डेण्टका पद भी अनावश्यक हो जायगा। उसी प्रकार अब केन्द्रस्थ सरकारकी अधीनतामें शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, उद्योग इत्यादि विभागोंकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी, क्योंकि नूतन सुधारोंके अनुसार इनका वास्तविक दायित्व प्रान्तीय सरकारोंके हाथ चला गया है और इनकी व्यवस्थाका भार भारतीय सचिवोंपर डाल दिया गया है। ऐसी अवस्थामें केन्द्रस्थ सरकारकी अधीनतामें भी इन विभागोंको पृथक् रूपसे कायम रखनेसे कोई विशेष लाभ नहीं, अतः उन्हें तोड़ देना ही हितकर होगा।

व्यय घटानेका एक और उपाय प्रान्तोंका पुनः संघटन करना है। बंगालके साथ आसाम तथा पंजाबके साथ पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त मिला देनेमें, हम समझते हैं,

कोई भी कठिनाई न होनी चाहिये। जहां तक हमारा अनुमान है इन प्रान्तोंकी जनताको भी इस प्रकारका एकीकरण अरुचिकर न होगा।

उच्च पदोंपर विदेशियोंके स्थानमें भारतीयोंकी नियुक्ति करनेसे भी शासन-व्ययमें कमी की जा सकती है। यद्यपि हम खूब समझते हैं कि जब तक शासनवर्ग जनताके प्रति वास्तवमें उत्तरदायी न होगा तब तक उच्च पदोंपर भारतीयोंके नियुक्त होनेसे भी देशका कल्याण नहीं हो सकता, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक दृष्टिसे यह प्रस्ताव सर्वथा उचित और लाभकारी साबित होगा। एक तो विदेशियोंको रखनेमें भारतीयोंकी अपेक्षा खर्च भी अधिक पड़ता है, दूसरे उनकी कमाईका पर्याप्त अंश देशके बाहर चला जाता है। भारतीयोंको नियुक्त करनेसे वेतन इत्यादिका खर्च भी घट जायगा और देशका पैसा भी देशमें ही रहेगा। इसके अतिरिक्त बहुसंख्यक भारतीयोंको शासन-कार्यकी थोड़ी बहुत शिक्षा भी मिल सकेगी।

व्यय कम करनेके निमित्त यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि भारत सरकार अपनी ज़रूरतका सामान तथा रेल इत्यादिके निमित्त आवश्यक पदार्थ यथासंभव भारतमें ही खरीदे। जो वस्तुएँ यहां प्राप्त न हो सकें वे इंग्लैण्डमें ही न खरीदी जाकर ऐसे देशोंसे खरीदी जायँ जहां वे कमसे कम मूल्यमें मिल सकें। साथ ही रेलोंके निमित्त ऋण लेनेका प्रबन्ध भी भारतमें ही होना चाहिये।

गर्मीके दिनोंमें प्रान्तीय सरकारोंका तथा केन्द्रस्थ सरकारका पहाड़ोंपर जाना भी बन्द होना चाहिये। इस प्रथाके कारण प्रतिवर्ष प्रान्त प्रान्तमें लाखों रुपये व्यर्थ ही खर्च होते हैं, अतः इसके बन्द होनेसे विशेष लाभ होगा। कर्मचारियोंको आने जानेका जो खर्च दिया जाता है उसमें भी किफायत की जा सकती है। एक तो प्रथम श्रेणीका रेल किराया इत्यादि बहुत कम लोगोंको मिलना चाहिये, दूसरे यथासंभव दुहरे किरायेका दिया जाना बन्द होना चाहिये। तबादला इत्यादि होने पर ही दुहरा किराया मिलना चाहिये, अन्य अवसरोंपर नहीं।

हमारे मतसे नयी दिल्ली बनवानेका काम भी कमसे कम तब तक स्थगित कर देना चाहिये जब तक कि देशके आय-व्ययका सन्तुलन अनुकूल अवस्थामें न आ जाय। इस कार्यमें अभी तक जो करोड़ों रुपये खर्च हो गये उतनेसे ही गम खाना चाहिये।

देशकी आर्थिक अवस्थाका विचार कर व्यय-घटानेका मार्ग दिखलानेके निमित्त जो व्यय-संकोच-समिति स्थापित हुई थी, उसकी काररवाई भी अब शुरू हो गयी है। आशा है उक्त समिति इन सब बातोंका विचार अवश्य करेगी। यदि समितिके सदस्य निष्पक्ष और निर्भीक भावसे अपनी सम्मति प्रकट करें तो उनसे बहुत कुछ लाभ हो सकता है।

* *

मिश्रदेशमें पुरातत्त्व-विषयक खोज।

किसी ज़मानेमें मिश्रकी सभ्यता बहुत बढ़ीचढ़ी थी। आजसे कोई अढ़ाई हजार वर्ष पहिले फारस देशके साम्राज्यमें संभुक्त होनेके पूर्व यह देश चिरकाल तक सभ्यता

और शासनका स्वतंत्र केन्द्र था। पुरातत्त्वज्ञोंकी खोजसे इस पुरातन सभ्यताके इतने अधिक और महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि जिनके कारण मिश्रके प्राचीन इतिहासकी अनेक बातें स्पष्टरूपसे ज्ञात हो गयी हैं। पत्थरों तथा दीवालोंपर खुदे हुए लेखोंके अतिरिक्त मन्दिरों, सड़कों, नहरों इत्यादिके भग्नांश तथा विविध चित्रकारी इत्यादिसे सुशोभित पात्र, अस्त्र शस्त्र, रत्नजटित बहुमूल्य वस्तुएँ, मूर्त्तियां इत्यादि तरह तरहकी चीजें प्रचुर मात्रामें पायी गयी हैं। इस अमूल्य सामग्रीका सबसे बड़ा संग्रह मिश्रदेशके प्रधान नगर काहिराके अजायबघरमें है। इसके अतिरिक्त बोस्टन, शिकागो, फिलाडेलफिया, सान फ्रांसिसको, न्यूयार्क, एडिनबरो लिवरपुल, मैनचेस्टर, आक्सफोर्ड, पेट्रोग्रेड, म्युनिच, कोपेनहेगन, एथन्स इत्यादि नगरोंमें भी बहुत कुछ सामग्री एकत्र की गयी है।

अभी हालमें ब्रिटेन-निवासी लार्ड कारनर्व्हान तथा उनके सहायक श्रीहोवर्ड कार्टरने कोई सोलह वर्षोंके परिश्रमके बाद जो खोज की है वह पुरातत्त्व विज्ञानकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कई बातोंमें तो इसका मूल्य पिछले वर्षोंमें की गयी पुरातत्त्व विषयक सभी खोजोंसे बढ़कर है। यद्यपि दीवालोंपर खुदे हुए लेखों तथा चित्रलिपियोंसे मिश्रदेशके राजाओंके प्रयोगमें आनेवाली प्रायः सभी वस्तुओंका पता पहिले ही लग गया था, किन्तु अभी तक इनमेंसे कई वस्तुएँ देखनेमें नहीं आयी थीं। गतमासमें पहिली ही बार 'थीब्ज़' नगरके समीप इन सब वस्तुओंका समूचा संग्रह प्राप्त हुआ है। यह प्राचीन नगर काहिरासे कोई चार सौ मील दक्षिणमें नील नदीके दोनों किनारोंपर बसा हुआ था। आजकल उस स्थानपर लक्सर तथा कारनक नामक गांव बसे हुए हैं। लक्सरके समीप ही 'व्हैली आफ दि किंग्ज़' नामक स्थान है, जहांपर भूखनन द्वारा थीब्जके राजाओंकी समाधियां और बहुतसा अमूल्य सामान पहिले भी कई बार प्राप्त हो चुका था। विल-किन्सन, साल्ट, बेलज़ोनी, इत्यादि पुरातत्त्वज्ञोंकी खोजके पश्चात् विद्वानोंकी यह धारणा हो गयी थी कि उक्त समाधिभूमिसे जितनी सामग्री प्राप्त हो सकती थी वह सब मिल चुकी है, अब वहां कुछ भी नहीं रह गया है। किन्तु इसके कुछ ही समयके बाद थिओडोर डेविस नामक सज्जनने राजवंशकी और भी कई समाधियां ढूंढ़ निकालीं। अब तो बड़े बड़े पुरातत्त्व-विशारदोंका भी विश्वास हो गया कि इस स्थानके सारे रहस्योंका पता लग गया, अतः वहां अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है। किन्तु इस बार लार्ड कारनर्व्हानकी सफलताने पुनः पुरातत्त्वज्ञोंका यह अनुमान ग़लत साबित कर दिया है।

जिस समय लार्ड महोदय अपने प्रधान सहायक श्री होवर्ड कार्टर समेत समाधिके बाह्य प्रकोष्ठके द्वारपर पहुँचे उस समय वे अपने नेत्रोंके सामने अटूट सम्पत्ति देखकर बिलकुल दंग रह गये। सर्वप्रथम उनकी दृष्टि सोनेसे मढ़ी हुई तीन राज-शय्याओंपर पड़ी। इनपर सुन्दर चित्रकारी की गयी थी। इनके ऊपर उत्कृष्ट कारीगरीकी सूचना देने वाली कई सन्दूकें रखी हुई थीं। इनमेंसे एकपर आबनूसकी लकड़ी और हाथीदांत जड़ा हुआ था जिसपर सोनेके अक्षरोंमें कुछ लिखा हुआ भी था। दूसरी सन्दूकमें प्रेतलोकका दृश्य प्रकट करने वाली वस्तुएं रखी हुई थीं। एक और सन्दूकके ऊपर आखेटके सुन्दर

दृश्य चित्रित थे। इसके भीतर बहुमूल्य रत्न, सोनेकी खड़ाऊं तथा सुन्दर ज़रदोज़ीसे युक्त राजवस्त्र बन्द थे। एक शय्याके नीचे राजा तूतांखअमेनका राज-सिंहासन था जो उस समयकी कलाका कदाचित् सर्वोत्कृष्ट नमूना है। अत्यधिक सोनेसे मढ़ी हुई एक कुर्सी भी थी जिसपर अत्याधिक मूल्यके रत्नोंसे जटित राजा और रानीके चित्र भी थे। राजाकी पूरी उँचाई वाली दो मूर्त्तियां एक दूसरीके सामने स्थापित थीं। इनपर सोनेका काम किया गया था। प्रत्येकके हाथोंमें सोनेकी छड़ी एवं गदा थी। प्रत्येक अंग तथा हाथ-पांवकी आकृति बड़ी बारीकीसे खोदकर दिखायी गयी थी, नेत्र कांच-निर्मित और शिरोभूषा बहुसंख्यक रत्नोंसे आच्छादित थी। वहांपर चार ऐसे रथ भी थे जिनकी बाजुओंमें मूल्यवान् रत्न तथा सोनेकी क़ीमती चीजें लगी हुई थीं। सिंहासनके नीचे रखनेके निमित्त एक स्टूल भी रखा हुआ था जिसपर खुदे हुए एशियावासियोंके चित्र इस अभिप्रायको प्रकट करते थे कि उन लोगोंपर भी मिश्रके राजाने अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त संगमरमरके समान मुलायम 'अलाबास्टर' पत्थरके बने हुए अज्ञातपूर्व नमूनोंके गुलदस्ते, धूपदानी इत्यादि तरह तरहके सुन्दर पात्र भी पाये गये हैं। एक सन्दूकमें 'पैपिरस' नामक प्राचीन पत्रोंपर लिखी हुई लिपिके पुलिन्दे भी प्राप्त हुए हैं, जिनसे पुरातत्त्व-विषयक अनेक बातोंपर प्रकाश पड़नेकी संभावना है।

प्रथम प्रकोष्ठसे लगा हुआ एक और प्रकोष्ठ था जिसके भीतर दृष्टि डालनेसे पहिले खण्डकी ही तरह, किन्तु बिलकुल बेसिलसिलेसे रखी हुई, सोनेकी शय्याएँ, उत्कृष्ट पेटियां, तथा विविध पात्र इत्यादि वस्तुएँ देख पड़ीं। इसके बाद दूसरे प्रकोष्ठसे मिला हुआ एक और प्रकोष्ठ था जो अभी तक खोला नहीं गया। प्रथम दो कोष्ठोंकी सामग्रीको सुरक्षित रूपसे रखनेका प्रबन्ध जबतक न हो जायगा तब तक उसके खोलनेका विचार नहीं है। इन दो प्रकोष्ठोंकी सुरक्षाके लिये लोहेके मज़बूत दरवाजे भी बनवाये गये हैं और वहांपर पहरा भी बैठा दिया गया है।

मिश्रदेशका आजसे कोई सात हजार वर्ष पूर्व तकका धारावाहिक इतिहास मिलता है। यूनानी बादशाह सिकन्दरकी विजयके पूर्व मिश्रके जिन इकतीस राजवंशोंका उल्लेख पाया जाता है, उनमेंसे अठारहवें राजवंशके समय मिश्र राजाओंका आधिपत्य अधिक विस्तृत हो गया था और वह 'नूतन साम्राज्य' कहलाने लगा था। इस वंशका अत्यन्त प्रसिद्ध राजा चतुर्थ अमेन होतेप हुआ। उस समय मिश्रमें अनेक देवताओंकी उपासना की जाती थी। अमेन या अमन देवता उन सबोंमें श्रेष्ठ समझा जाता था। आरंभमें चतुर्थ अमेन होतेप भी इसी परम्परागत धर्मका अनुयायी था, किन्तु बादमें उसने अन्य सब देवताओंकी उपासना बन्द कर दी और केवल 'एटन' अर्थात् सूर्य देवताकी उपासनाका ही प्रचार किया। उसने अपनी राजधानी भी 'थीब्ज'से हटाकर २०० मील उत्तरकी ओर वर्त्तमान 'टेल-एल-अमरना' नामक स्थानपर स्थापित की और अपना नाम भी बदलकर 'अखेन एटन' (एटन देवताका उपासक) कर लिया। अमन देवताका नाम, उसके चित्र तथा स्मृतिचिह्न उसने मिटवा दिये और उनके स्थानमें एटन देवताके नामपर नयी

इमारतों तथा स्मृतिचिह्नोंका निर्माण कराया। उसकी मृत्युके बाद नये धर्मका विरोध प्रबल होने लगा। कुछ ही वर्षोंके बाद उसका दामाद तूतांख-अमेन राजा हुआ। तूतांख-अमेनने नयी राजधानीका सर्वथा परित्याग तो न किया, पर उसने पुरानी राजधानीकी कीर्त्तिका तथा प्राचीन धर्मका पुनरुद्धार किया और कई नये नये स्मारक बनवाये। मिश्र-देशमें पुरातन वस्तुओंका जो संग्रह हालमें प्राप्त हुआ है, उसका सम्बन्ध विशेषकर इसी राजाके साथ है, क्योंकि वहांपर आयताकार जो अनेक आकृतियां पायी गयी हैं उनपर उसके राज्यारोहणके पूर्व तथा बादके दोनों नामोंका उल्लेख है। साथ ही उसकी दोनों मूर्त्तियां तथा अन्य चिह्न भी इसीका समर्थन करते हैं। हां, इस बातका सन्देह अवश्य है कि इन तीनों प्रकोष्ठोंको राजा तुतांख-अमेनकी मूल-समाधि समझना चाहिये या यह उसकी मृतदेहको डाकुओंसे सुरक्षित रखनेके निमित्त तजवीज किया हुआ पर्वतोत्कीर्ण गुप्त स्थान मात्र है। इसका भेद संभवतः तीसरे प्रकोष्ठके खुलनेपर तथा शिलालिपियों इत्यादिकी समीक्षा-परीक्षा करनेपर प्रकट होगा।

इस सम्बन्धमें जो समाचार प्रकाशित हुए हैं उनमें यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि प्रकोष्ठों तथा गमन-पथके द्वारपर लगी हुई मुहरें प्रायः अभग्न अवस्थामें पायी गयी हैं। अभी तक भूखनन द्वारा जितनी समाधियोंका पता लगाया गया था उनमें प्रायः सभीके द्वारकी मुहरें टूटी हुई थीं। किन्तु लार्ड कारनर्व्हानने जिस समाधिका अनुसन्धान किया है उसमें चोरोंका बिलकुल प्रवेश न हो सका हो, यह भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि द्वितीय प्रकोष्ठका सामान जिस बेसिलसिलेसे रखा हुआ पाया गया है उससे सन्देह होता है कि उसमें हाथ जरूर लगा है। साथ ही कुछ जोड़ तथा मुहरें बादमें फिरसे लगायी गयी भी प्रतीत होती हैं। संभव है बीसवें राजवंशके 'रामसेस' नामक राजाओंने—क्योंकि इस प्रकारके डाकुओंका प्राबल्य उन्हींके जमानेमें हुआ था—टूटी हुई मुहरोंको फिरसे दुरुस्त कर प्रकोष्ठान्तर्गत सामानकी रक्षाका प्रबन्ध किया हो।

वर्त्तमान अनुसन्धानसे संभवतः दो बातोंपर विशेष प्रकाश पड़ेगा। एक तो उस समयकी धार्मिक क्रान्तिपर जिसका उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं; दूसरे तत्कालीन शिल्पनैपुण्यपर। अठारहवें राजवंशके शासनकालमें मिश्रके शिल्प तथा कलाओंका जो पुनरुद्धार हुआ था उसके सम्बन्धकी अनेक बातें इस नूतन अनुसन्धान द्वारा प्राप्त सामग्रीसे प्रकट हो जायँगी। खासकर प्राचीन पत्रोंका जो पुलिन्दा पाया गया है उससे पुरातत्व-विषयक अनेक बातें ज्ञात होनेकी आशा है। यह भी संभव है कि उसमें तत्कालीन रीति-रिवाजों, खास कर मृत-संस्कार सम्बन्धी बातों तथा अधःलोकमें प्रेतात्माके जीवन-यापनका ही हाल हो जैसा कि इसके पहले पाये गये प्राचीन पत्रोंमें था। जब तक सारी बातें स्पष्ट रूपसे ज्ञात नहीं हो जातीं तब तक यह शंका दूर न होगी।

इंग्लैण्डकी बेकारी और भारत।

इंग्लैण्डके सामने इस समय जो विविध आर्थिक समस्याएँ उपस्थित हैं उनमेंसे बेकारीका प्रश्न भी एक समस्या है। इधर कुछ दिनोंसे इसने विकट रूप धारण कर

लिया है। बेकार मजूर बड़ा ऊधम मचा रहे हैं। प्रधान सचिवसे भेंट करनेके लिये उन्होंने किस प्रकार आकाश-पाताल एक कर रखा था, यह समाचारपत्र पढ़नेवालोंको विदित ही है। नये निर्वाचनके कारण पार्लमेण्ट (प्रतिनिधिसभा)में भी मजदूरदलका प्रभाव बहुत बढ़ गया है। वहां भी मजदूर प्रतिनिधि अनेक बाधाएँ उपस्थित कर रहे हैं। सरकारने जहांतक बन पड़ा बेकार लोगोंकी मदद की और अब भी कर रही है। किन्तु आखिर वह उन लोगोंको घर बैठे कबतक खिला सकती है? उसका खजाना खाली हो रहा है, राष्ट्रीय ऋणकी मात्रा असह्य हो रही है, और चारों तरफ किफायत की जा रही है। संभव है यही समझकर पार्लमेण्टके सदस्य सर वरदिंगटन ईवन्सने इस संबन्धमें भारतको भी याद किया है। आपने कहा है कि भारतीय रेलोंकी पूंजीके लिये पांच करोड़ पौण्ड अर्थात कोई पचहत्तर करोड़ रुपयोंका कर्ज विलायतमें लेकर अंग्रेज बेकारोंको काम दिया जा सकता है। इसका मतलब तो स्पष्ट ही है; उसे और भी स्पष्ट करनेकी क्षमता हममें नहीं है। हम देखते हैं कि दरिद्र भारतको ही इस प्रकार इंग्लैण्ड-की सहायता करनेका सम्मान दिया जारहा है, उपनिवेशोंको नहीं, किन्तु इसका कारण समझना कठिन नहीं है। उपनिवेशोंमें इतनी शक्ति है कि वे अपनी आर्थिक नीतिमें बाहरी देशका, फिर चाहे वह इंग्लैण्ड ही क्यों न हो, हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते। भारतमें यह शक्ति नहीं है। उसके राजनीतिक शरीरमें स्वतंत्र आत्माका प्रवेश अभी तक नहीं हो पाया है। इसी कारण मनचले राजनीतिज्ञ उसे इस प्रकार सम्मानित करनेका उपाय सुझानेकी धृष्टता कर रहे हैं।

सरकारने ३० करोड़ प्रतिवर्षके हिसाबसे आगामी पांच वर्षोंमें रेलोंके लिये १५० करोड़ रुपये व्यय करनेका निश्चय किया था। हम समझते हैं कि इसमेंसे अभी तक कोई २६ करोड़से अधिकका माल तो विलायतमें खरीदा ही जा चुका है। अतः सर वरदिंगटन ईवन्स महोदयकी मनोकामना शीघ्र ही पूरी हो सकेगी, इसमें शंका करनेका स्थान नहीं है। इससे इंग्लैण्डके साहूकारोंका भला तो होगा ही, साथ ही वहांके बेकारों-को काम भी मिल जायगा, अतः मजदूर दल भी प्रसन्न होगा। किन्तु क्या हम दबी ज़बानमें भारत सरकारसे या भारत मंत्रीसे यह पूछ सकते हैं कि यह माल किस भावसे खरीदा गया है? और अन्य देशोंमें यह अधिक सस्ते दामोंमें मिल सकता था या नहीं?

हिन्दीमें अर्थशास्त्र सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द

हिन्दीमें अर्थशास्त्र सम्बन्धी विषयोंपर लेख इत्यादि लिखते समय अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दोंके लिये उपयुक्त पर्यायवाची शब्द ढूंढ़नेमें या गढ़नेमें कितनी कठिनाई होती है, यह उन लोगोंसे छिपा नहीं है जिन्हें इसका जरा भी अनुभव है। हमें हर्ष है कि संयुक्त प्रान्तकी 'इण्डियन एकानामिक असोसियेशन' (भारतीय अर्थशास्त्र विषयक प्रश्नोंका विचार करने वाली संस्था) ने यह कठिनाई दूर करनेकी चेष्टा आरम्भ की है। हम हृदयसे संस्थाके सफलमनोरथ होनेकी कामना करते हैं। इस सम्बन्धमें विशेष बातें जाननेके लिये संस्थाके अवैतनिक मंत्री 'श्री दयाशंकर दुबे एम. ए. एल एल बी, ६ गंगनी सुकल तालाब लखनऊ' को पत्र लिखिये।

ओ३म् बन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३ खण्ड २ | माघ १९७९ | अङ्क ४ पूर्णाङ्क ३४

सामाजिक विषमता

उसके कारण और उपाय ।

सारे संसारमें आजकल प्रजातन्त्र राज्यकी लहर फैल रही है । पश्चिमी देशोंमें राजा और महाराजा तो अब नाम मात्रके लिए रह गये हैं । उनको अब शासन-कार्य करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं । उनके लिए इतना ही काफी है कि वे बैठे बैठे खानेके लिए भोजन लें और मन्त्रीके इच्छानुसार कागजोंपर हस्ताक्षर कर दिया करें । गत यूरोपीय महाभारतके पूर्व जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, तुर्की आदि देशोंमें स्वेच्छाचारी शासक थे । पर युद्धने उन सब राज्योंकी काया पलट दी, अब वे प्रजातन्त्र हो गये हैं । अब प्रश्न केवल यह उठता है कि क्या सब पश्चिमी देशोंका शासन वहांकी प्रजाकी इच्छाके अनुकूल होता है ? क्या वहांकी प्रजा जिसको चाहे मन्त्रीके पदपर नियुक्त कर सकती तथा हटा सकती है ? क्या उन्हें वह उसी कामको करनेके लिए बाध्य कर सकती है जिसे वह कराना चाहती है ? संक्षेपतः क्या राज्यके सब कार्योंपर साधारण प्रजाका ही अधिकार है ?

इस प्रश्नको हल करनेके लिए जब हम पूर्वीय अथवा पश्चिमी देशोंकी ओर दृष्टि डालते हैं तब हमको पता चलता है कि प्रायः कोई भी देश ऐसा नहीं है जहां सचमुच प्रजाका राज्य है । पश्चिमी देशोंके लिए पूर्वीय देशोंकी हंसी उड़ाना एक मामूली बात है । बात बातपर वे कह दिया करते हैं कि पूर्वीय देश वाले प्रजातन्त्रके मर्मोंको

नहीं जानते। पर यदि इन पश्चिमी देश वालोंकी संस्थाओंपर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि निःसन्देह उन्होंने राजाके अधिकार तो बहुत कम कर दिये हैं, पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि राज्यके सारे अधिकार साधारण प्रजाके हाथमें आ गये हैं। यदि सब बातोंपर प्रजाका ही अधिकार होता तो मजदूरोंका दल उन अधिकारोंको प्राप्त करनेके लिए अपनी अपनी सरकारोंसे न लड़ता।

सच तो यह है कि राजाके हाथसे अधिकार अवश्य छीन लिये गये हैं, पर उन अधिकारोंके स्वामी बड़े बड़े जमीदार, ताल्लुकेदार, सेठ तथा महाजन बन बैठे हैं। साधारण प्रजा लाख चेष्टा करने पर भी उनको अब तक न प्राप्त कर सकी है। इंग्लैण्डको ही लीजिये। युद्ध समाप्त होनेके पश्चात् इंग्लैण्डकी प्रजा शान्तिकी स्थापना करना चाहती थी। पर वहांके धनमदान्ध महाजन अपने व्यापारके लिए नये नये स्थानोंको पानेकी चेष्टा कर रहे थे। मेसोपोटामिया (ईराक), अरब, लघुएशिया, मारमोरा तथा कालासागर आदिपर अधिकार कर वे अपने व्यापारको फैलाना और इन स्थानोंकी आर्थिक सम्पत्तिको लूटना चाहते थे। मजदूर लोग चिल्ला चिल्ला कर कह रहे थे- "हमें शान्तिकी आवश्यकता है युद्धसे हम पीड़ित हो चुके हैं। युद्धमें हमको जाना पड़ता है। धनी लोग तो धनकी सहायता देकर छूट जाते हैं और हमको जान गँवानी पड़ती है"। पर दो वर्ष तक उनकी एक भी बात न सुनी गयी। अब भी लाखों रुपये हर साल मेसोपोटामिया (ईराक) में व्यर्थ व्यय होते हैं। इंग्लैण्डकी प्रजा इस भारको उठाना नहीं चाहती पर कुछ महाजन भविष्यके लाभकी आशासे इंग्लैण्डका धन पानीकी तरह बहाते हैं। रूसके विरुद्ध इन महाजनोंने क्या क्या षड्यन्त्र नहीं रचे? किस लिये? इसी लिए कि रूसकी सोवियट सरकार तथा प्रजा पूंजीपतियों, महाजनों और सेठ साहूकारोंके प्रतिकूल थी और है। इसपर इन पूंजीपतियोंने सैकड़ों मिथ्या तथा सच्चे दोष लगाकर रूसको न केवल बदनाम करना चाहा वरन् कई वर्ष तक रूसके विरुद्ध प्रजाकी इच्छाके प्रतिकूल भी लड़ते रहे। यही दशा अमरीकाकी भी है। वहां भी पूंजीपतियोंका ही आधिपत्य है। इसका एक सबसे बड़ा सबूत यह है कि जब कभी कारखानेके मालिकों और मजदूरोंमें झगड़ा उठ खड़ा होता है तब उसके निबटारेके लिए वे सरकारी पञ्चोंकी सहायता नहीं लेते। उनका विश्वास है कि पूंजीपतियोंका प्रभाव सरकारपर पड़ता है अतः सरकारी पञ्चोंसे वे उचित न्यायकी आशा नहीं करते। इतना ही नहीं, प्रजाकी इच्छाके विरुद्ध ही अमरीकामें एकाधिपत्य तथा ट्रस्ट आदि संस्थाओंकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। प्रजाके न चाहने पर भी अमरीकाके आयातपर भारी कर लगाया जाता है। फ्रान्सकी भी यही दशा है। वहांकी साधारण प्रजा जर्मनीके इतनी विरुद्ध नहीं है, पर वहांके पूंजीपति उस (जर्मनी)के व्यापारको नष्ट करने पर तुले हुए हैं। यही दशा प्रायः यूरोपके सारे देशोंकी है। सारे देश नाम मात्रके लिए प्रजातन्त्र हैं, वास्तवमें वहां इस समय पूंजीपतियों, ताल्लुकेदारों तथा रईसोंका राज्य है। ठीक यही दशा पूर्वीय देशोंकी है। कहा जाता है कि भारतवर्षमें प्रजातन्त्रकी

नींव डाली जा रही है। पर यदि भली प्रकार देखा जाय तो ज्ञात होगा कि हमारे देशकी म्यूनिसिपलिटियों तथा व्यवस्थापक सभाओंके सदस्य भी पूंजीपति, रईस, तथा ताल्लुकेदार हैं और विदेशी लोगोंके साथ मिलकर वे ही हमारे देशपर राज्य कर रहे हैं।

प्रश्न यह है कि संसार भरमें विशुद्ध प्रजातन्त्र राज्य क्यों नहीं पाये जाते, राज्यका प्रबन्ध इन पूंजीपतियोंके हाथमें क्यों आ जाता है? इसका एकमात्र उत्तर 'सामाजिक विषमता' है। इसकी नींव बहुत पुरानी है। प्राचीन कालसे ही बलवान् पुरुष निर्बल पुरुषोंपर राज्य कर रहे हैं। राजाओंको भी लोगोंने इसलिए चुना था कि वे बाह्य शत्रुओंसे हमारी रक्षा कर सकें। पर धीरे धीरे बलवान् पुरुष स्वयं राजा बनने लगे। टाडका राजस्थान पढ़नेसे पता चलता है कि वीर पुरुष किस प्रकार तलवारके बलसे राजा बन जाते थे। इतिहास पढ़नेसे पता चलता है कि नादिरशाह, मुहम्मदगोरी आदि भी तलवारके बलसे ही राजा हुए थे। इसी प्रकार जो निर्बल थे उनकी गिनती साधारण प्रजामें होने लगी। मध्यकालमें भी यही बात पायी जाती थी और इस समय भी यही बात पायी जाती है, केवल अन्तर इतना है कि हमारे देशमें दृढ़ राज्य होनेसे बल ही सब कुछ नहीं रह गया है, धनकी महिमा बढ़ रही है, धन ही बल हो गया है।

इस विषमताके दो मुख्य कारण हैं। पहिला कारण यह है कि लोगोंके स्वाभाविक गुण एकसे नहीं होते। कोई बहुत विद्वान् और चतुर होता है और कोई बिलकुल मूर्ख। कुछ लोग अपने गुणों तथा प्रयत्नसे बहुत धनी हो जाते हैं, अपनी सन्तानके लिए हजारों लाखोंकी सम्पत्ति छोड़ जाते हैं। ये संतानकी शिक्षा आदिका उचित प्रबन्ध करते, उन्हें अच्छे लाभदायक कार्योंमें लगाते तथा ऐसा प्रबन्ध कर जाते हैं कि जिससे उनकी सन्तान भूखों न मरे। उनकी सन्तानको भी उन्नतिके अच्छे साधन मिल जाते हैं, उनके पास इतना धन हो जाता है कि वह उससे अच्छा व्यापार कर सकती तथा लाभदायक कामोंमें लगा सकती है।

विषमताके दूसरे तथा पहिलेसे मिले हुए कारण विषम अवकाश और साधन हैं। जिस मनुष्यका पिता उसके लिए पूंजी एकत्र कर गया है उसके लिए कोई काम करना तथा व्यापारमें घुसना सहल है। वह सुगमतापूर्वक पिताके नाम और अपनी पूंजीकी बदौलत धन पैदा कर सकता है। पर चतुरसे चतुर पूंजीहीन बालकको संसारमें किसी कामके करनेमें असाधारण कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं। निःसन्देह यदि वह गुणवान् तथा बहुत चतुर है तो किसी न किसी दिन स्वयं पूंजी एकत्र कर लेगा पर उसे पूंजीपतिके बालककी तरह सुगमता न होगी।

इतना ही नहीं, अवकाशका भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। भारतीयोंकी बहुतसी बुद्धि इसलिए व्यर्थ जाती है कि यहां अन्त्यज जातिके छोटे बच्चोंको उन्नति करनेका अवकाश नहीं मिलता। नीच जातिके बालकोंको अब तक पढ़ने लिखने तथा अपनी बुद्धिको विकसित करनेका पूरा अवसर नहीं मिला है। हम मानते हैं कि माता,

पिता, उनके रहन सहन तथा सामाजिक संस्थाओंका बालकोंपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, पर हम यह माननेके लिए तैयार नहीं कि नीच जातिमें एक भी चतुर बालक उत्पन्न नहीं होता। हमारा तो पूर्ण विश्वास है कि यदि उन बालकोंको भी उसी प्रकार शिक्षादि मिलनेका पूरा अवकाश दिया जाय जिस प्रकार उच्च वर्ण वालोंके लिए है तो उनमेंसे कुछ न कुछ बालक अवश्य भारतकी उन्नति करनेमें भाग ले सकते हैं। उन लोगोंके लिए कठिनाइयां अवश्य हैं। उनके माता पिता इस योग्य नहीं होते कि उनकी शिक्षाका उचित प्रबन्ध कर सकें। ज्योंही बालक १० या ११ वर्षका होता है वे उसे ऐसे कार्योंमें लगानेकी चेष्टा करते हैं जिनसे उन्हें कुछ धनकी प्राप्ति हो। पर इसलिये उन्हें उन्नति करनेका अवसर ही न देना घोर अन्याय है। उच्च वर्णमें क्या सभी उन्नतिशील ही निकलते हैं? प्रत्येक मनुष्य धनवान्, गुणवान् तथा विद्वान् नहीं हो सकता पर धनी, गुणी तथा विद्वान् होनेका अवसर सबको बराबर मिलना चाहिये।

यह तो हुई भारत ऐसे देशोंकी बात जहांपर जाति-पांतिका बन्धन इतना दृढ़ है। पर अमरीका, इंग्लैण्ड आदि देशोंमें भी जहां सबको उन्नति करनेका पूरा अवसर मिलता है सामाजिक विषमता कम नहीं। इसका कारण यह है कि सबके पास उन्नति करनेके पूरे पूरे साधन नहीं होते। बनावटी कारणोंका भी मनुष्योंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। केवल बड़े परिश्रमी, चतुर और होनहार मनुष्य ही इन सब कठिनाइयोंपर विजय प्राप्त कर पाते हैं।

इन बनावटी कारणोंमें एक कारण पुरानी मिलकियत है। इससे लोगोंको बंधी आमदनी होती है। जिन मनुष्योंके पास पुरानी पूंजी, जमीदारी, मकानात तथा दूकानें हैं—उनको बिना उद्योग तथा परिश्रमके घर बैठे भोजन मिलता है। उनको धनका अभाव नहीं रहता। वे उच्चसे उच्च शिक्षा पासकते हैं; वे यदि चाहें तो अधिक उन्नतिके भागी होसकते हैं। वे अपना अधिक समय विद्याध्ययन तथा लाभदायक कार्योंमें लगा सकते हैं। वे विवाह देरमें कर, थोड़ी सन्तान उत्पन्न कर उनको पूर्णतया सुखी और विद्वान् बना सकते हैं। अपने बालकोंको धनोपार्जनके कार्योंमें लगानेमें उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं उठाना पडता।

दूसरी ओर मजदूर हैं जिनका एक मात्र सहारा केवल शारीरिक परिश्रम है। इनके पास न तो इतनी आमदनी होती है कि वे बचाकर पूंजी इकट्ठी करलें; तथा अपने बालकोंको शिक्षित बना कर व्यापारादि कार्योंमें लगा सकें और न इतनी साख ही होती है कि वे दूसरोंसे उधार लेसकें। जिसके पास पूंजी है वह दूसरोंसे पूंजी उधार लेकर उसे कल-कारखानों तथा व्यापारमें लगा सकता है पर जिसके पास पूंजी ही नहीं उसे कौन उधार देगा? इन सबका परिणाम यह होता है कि धनवान् अधिकाधिक धनवान होता जाता है और निर्धन मनुष्यको उन्नतिके साधनोंका अभाव ही बना रहता है।

कल-कारखानोंने इस विषमताको और भी बढ़ा दिया है। प्राचीन कालमें

थोड़े ही परिश्रमसे लोग इस योग्य होजाते थे कि वे चरखा, करघा तथा छोटे छोटे औजार मोल लेकर जुलाहे, मोची, लोहार, तथा बढ़ई आदिका काम सुगमतासे कर सकें। पर आज कल एक मामूली पर चतुर श्रमजीवी ज़िन्दगीभर उद्योग करनेपर भी इतना नहीं बचा सकता कि एक कल मोल लेकर कपड़ा बनानेका कारखाना खोल सके। हां, यदि उसे कहींसे दैवी सहायता मिल जाय तो वह भले ही उन्नति कर जाय और यदि वह एक बार कारखाना खोल सके तो अपनी चतुराईसे पूंजीपति बनकर लाखों रुपये उत्पन्न कर सकता है। अमरीकाके धनाढ्य पुरुष कारनेगी आदिको इसी प्रकारकी सहायता मिलगयी थी। पर साधारणतया कोई मजदूर अपने परिश्रमसे आज कल पूंजीपति नहीं बनसकता और न उसके लड़के ही ऐसे साधनोंको प्राप्त कर सकते हैं जिसमें ये अपनी विशेष उन्नति कर सकें। यही कारण है कि शिक्षित देशोंके मजदूर चारों ओर पूंजीपतियोंके विरुद्ध आवाज उठारहे हैं। जिधर देखो उधर ही समान अधिकारोंके लिये संग्राम मचा हुआ है। साम्यवादका शंखनाद संसारके एक कोनेसे दूसरे कोने तक गूंज रहा है। मजदूर चाहते हैं कि पूंजीपतियोंको अधिक पूंजी संग्रह करनेका अवसर न दिया जाय। उनकी संग्रहकी हुई पूंजीपर इतना अधिक कर लगाया जाय कि वे अधिक संग्रह करना छोड़ दें। कर द्वारा प्राप्त धन सर्वसाधारणकी उन्नतिमें लगाया जाय। पूंजीपतियोंका कथन है कि कर अधिक लगानेसे कम पूंजी एकत्र हो सकेगी और जितनी कम पूंजी होगी देशकी उन्नति भी उतनी ही कम होगी, क्योंकि देशकी उन्नतिके लिए रेल, तार, टेलीफोन, बिजली आदि आवश्यक हैं। पर पूंजीके विना कोई भी देश इनका प्रयोग नहीं कर सकता। पूँजी कम होनेके कारण देशकी औद्योगिक उन्नति न होगी और वहांके कारखानोंको पूंजीके लिये दूसरोंका मुंह ताकना पड़ेगा। उस देशमें व्याजकी दर अधिक और मजूरी भी दूसरे देशोंकी अपेक्षा बहुत कम होगी, अतः मजदूर लोग जो बातें चाहते हैं उनमेंसे एक भी बात न होगी, उलटा मजदूरोंका नुकसान होगा।

अब हमें यह देखना है कि वास्तविक बात क्या है? क्या जमींदारों तथा पूंजीपतियोंका होना हमारे लिए उतनाही आवश्यक है जितना किसी समय राजाका होना समाजके लिए आवश्यक था। सच तो यह है कि मनुष्यकी प्रकृति जल्द नहीं बदलती। स्वभावतः मनुष्य तभी अधिक उद्योग और परिश्रम करता है जब उसे अधिक लाभकी आशा होती है। यदि किसीको यह मालूम हो जाय कि वह तथा उसकी सन्तान उस धनका उपभोग न कर सकेगी जिसका उसने स्वयं संचय किया है तो वह अपने जीवनमें ही उस धनको उड़ा देगा। संचित किये हुए धनको भोगनेकी एक मात्र आशा ही मनुष्यको धन संचय करनेके लिए उत्तेजित करती है। हमारे देशमें प्राचीन तथा मध्यकालमें लोग धनको गाड़ कर रखते थे जिससे लुटेरे उसे छीन न लेजायं। बहुत लोग तो इसी डरसे धन संचय ही नहीं करते थे। हां गहने इत्यादिके रूपमें तो थोड़ा बहुत धन अवश्य एकत्र कर लेते थे, शेषधन खा पी कर उड़ा दिया करते थे।

क्योंकि उन्हें यह आशा न थी कि हम उस धनका उपयोग कर सकेंगे जिसे हमने बड़े परिश्रमसे पैदा किया है। पर आज कल यह भय नहीं रह गया है। प्रत्येक पुरुष अपने संचित धनको भोगनेकी आशा करता है।

परिवार-पालन, सन्तानकी शिक्षा और उन्नति या सामाजिक उन्नतिकी आकांक्षा, यशस्वी तथा धनी बननेकी आशाएं ही लोगोंको धन-संचयकी ओर प्रवृत्त करती हैं। पर यदि हम किसी मनुष्यकी सन्तानको उसके उपार्जित धनके उपभोगसे वंचित रखना चाहें तो फिर वह धनका संचय ही क्यों करेगा? यही कारण है कि जिन देशोंमें जायदाद पाने तथा बेचनेके समय जायदादपर कर लगाया जाता है वहां इस बातपर भी दृष्टि रक्खी जाती है कि कर इतना अधिक न हो कि जिसके कारण धनी मनुष्य धनका संचय करना छोड़ दें। जमींदार, ताल्लुकेदार, व्यापारी, महाजन, सेठ, साहूकार अपने तथा अपनी सन्तानके लिये ही धन संचय करते हैं। तो क्या फिर इन लोगोंपर कर लगाना ही अनुचित है?

पहिले जमींदारों तथा ताल्लुकेदारोंको लीजिये। हमारे देशके प्रायः सभी जमींदार तथा ताल्लुकेदार ऐसे हैं जिनके पूर्वजोंने या तो सस्ते दामोंमें ज़मीन मोल ले ली थी अथवा जिनके पूर्वज मुगल बादशाहोंके समय लगान वसूल कर बादशाहोंके पास भेजते थे। इसके बदले वे कुछ बँधा वेतन या कमीशन पा जाया करते थे। कम्पनीके समयमें भी ये लोग यही काम करते रहे और पीछेसे जमींदार होगये। बृटिश सरकारने इनके अधिकारोंको स्वीकार कर लिया और वे उस भूमिके स्वामी माने जाने लगे। पर इससे देशमें कई बार अनर्थ हुआ। जमींदारों और काश्तकारोंमें कई बार झगड़ा हुआ और अब भी बराबर हुआ करता है। जिस समय बृटिश सरकारने जमींदारोंके अधिकारोंको स्वीकार किया था उस समय भूमिका मूल्य इस देशमें इतना बढ़ा चढ़ा न था। ज्यों ज्यों भूमिका मूल्य बढ़ने लगा त्यों त्यों किसानोंपर जमींदारोंका अन्याय भी बढ़ता गया। सरकारने कई बार हस्तक्षेप किया पर अब भी किसान—विशेष कर अवधके किसान—असन्तुष्ट हैं। बहुतसे लोग भूमिको अपनी पूंजी समझते हैं, बहुतसे लोगोंने तो बची हुई पूंजी जमीन मोल लेनेमें ही लगा दी है। इस अवस्थामें उनकी जमीन आदि छीन लेना तथा उनपर इतना कर लगादेना कि भविष्यमें कोई भी व्यक्ति अपनी पूंजीको भूमि मोल लेनेमें न लगावे समाजके लिये हानिकारक होगा।

किसी भी कामके लिये, चाहे व्यापार हो चाहे खेती, भूमिका प्रयोग अनिवार्य है। पर यदि भूमिपर इतना अधिक कर लगा दिया जाय कि भूमिपति उस भूमिसे कुछ भी लाभ न उठा सके, और यदि उसे भूमि जानेका भय भी हो तो वह भूमिको न तो मोल ही लेगा न उसपर कुछ बनावेगा ही। भूमिपर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना भूमिपतिके लिए नितान्त आवश्यक है। सामाजिक उन्नतिके लिए यह पहिली सीढ़ी* है। बेईमानीसे

*साम्यवादी लोग इस बातको नहीं मानते। पर मेरा विचार है कि जबतक मनुष्य खुदगरज़ है तब तक वह उसी कामको अधिक मन लगा कर करता है तथा उसीकी उन्नतिमें दत्तचित्त रहता है जिसे वह अपना समझता है। लेखक

या ईमानदारीसे किसी भी प्रकार धन संचय कर यदि उसने भूमिपर अधिकार प्राप्त कर लिया है तो समाजका कर्तव्य है कि उसे उसका फल भोगने दे, क्योंकि फल भोगनेके लालचसे ही वह उस भूमिको मोल लेता है।

पर प्रश्न यह है कि समाज उसे कहां तक उसका फल भोगने दे? हमने माना कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी बचायी हुई पूंजीका उपभोग करनेका अधिकार है, पर समाजका अधिकार तो उसपर तथा भूमिपर दोनोंपर है। आजकल भूमि तथा उसकी उपजका जो मूल्य बढ़ रहा है इसके लिए भूमिपतिको कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ता। उसने केवल एक बार भूमि ले ली है पर आस पासकी जनसंख्या बढ़ने और रेल आदिके निकलनेसे अनायास भूमि और उसकी उपजका मूल्य बढ़ जाता है। ऐसी दशामें क्या भूमिपति इस बढ़तीका उपयुक्त भोक्ता तथा स्वामी हो सकता है? उसने उसके लिए कुछ भी नहीं किया है, अतः उसे इस बढ़तीका कुछ नहीं या बहुत थोड़ा अंश मिलना चाहिये। आजकल कोई भी (साम्यवादी अर्थशास्त्रज्ञोंको छोड़कर) यह नहीं कहता कि भूमिपतियों, ज़मींदारों तथा ताल्लुकेदारोंका उनकी भूमिपर अधिकार नहीं है या न होना चाहिये। पर प्रश्न यह उठता है कि उन्हें उस बढ़तीका कितना भाग मिलना चाहिये जिसके लिए उन्होंने कुछ भी उद्योग नहीं किया है। मेरे विचारमें इसपर समाजका ही अधिकार होना चाहिये। वह उस बढ़तीका यदि सब नहीं तो अधिकांश अवश्य कर-स्वरूपमें ले ले।

ठीक यही दशा पूंजीपतियों, महाजनों तथा सेठ साहूकारोंकी है। इनमेंसे अधिकांशने अपने पितापितामहसे पूंजी पायी है, जिसको उन्होंने किसी न किसी प्रकार सुरक्षित रक्खा है। निःसन्देह कुछ पूंजीपतियोंने अपने ही उद्योग तथा परिश्रमसे धनोपार्जन किया है, कुछने बेईमानी तथा निर्दयतासे धनोपार्जन किया है, पर अधिकांश पूंजीपति ऐसे ही पाये जाते हैं जिनके पितापितामह उनके लिए पूंजी तथा सुव्यवस्थित कारबार छोड़ जाते हैं। इनपर भी कर लगाना नितान्त आवश्यक है क्योंकि ये लोग भी सामाजिक उन्नतिसे लाभ उठाते हैं पर यह कर उनकी आयके अनुसार होना चाहिये। पूंजीपर कर लगाना पूंजीका संचय रोकना है। इससे लाभके बदले हानि ही होनेकी सम्भावना है। हां उन लोगोंपर, जो नगरोंके घरों तथा दूकानोंके स्वामी हैं और जिनके घरों तथा दूकानोंका मूल्य सामाजिक उन्नतिके साथ बढ़ता जाता है दूकानों तथा घरोंकी आयके अनुसार इतना कर लगाना चाहिये जिससे बढ़तीका अधिकांश समाजको मिले क्योंकि यह बढ़ती उनके उद्योगसे नहीं वरन सामाजिक उन्नतिसे हुई है।

सामजिक विषमताके ख्यालसे जनताको हम तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। सबसे उच्च स्थान धनी पूंजीपतियों, ताल्लुकेदारों तथा ज़मीदारोंका है जिनकी आमदनी बँधी है, जो अनायास ही अपनी आवश्यक्ताएं पूरी करसकते हैं और थोड़े ही परिश्रमसे अपने धनको और भी अधिक बढ़ा सकते हैं। तत्पश्चात् उन मनुष्योंकी गिनती है जो मध्यम श्रेणीके कहलाते हैं। उनकी आय पूंजीपतियोंके बराबर तो नहीं, फिर भी मजदूरोंसे अधिक है। वे यदि चाहें तो कुछ परिश्रम और उद्योगसे

कलों और कारखानोंके स्वामी बन सकते हैं। इस श्रेणीके चतुर और उद्योगी पुरुष प्रथम श्रेणीमें चले जाते और प्रथम श्रेणीके आलसी इस श्रेणीमें चले आते हैं। ये लोग बहुधा छोटी छोटी दूकानों तथा छोटे छोटे कारखानोंके स्वामी होते हैं; तीसरी श्रेणी श्रमजीवियोंकी होती है जिनके पास प्राय: पूंजी नहीं होती। इनकी सन्तान भी प्राय: श्रमजीवी ही होती है। पूंजी न होनेके कारण वह उतनी उन्नति नहीं कर सकती जितनी मध्यम या प्रथम श्रेणीकी सन्तान कर सकती है। इसमेंसे बहुत थोड़े लोग मध्यम श्रेणीके योग्य होते हैं। पश्चिमके प्राय: सभी देशोंम इनकी सन्तानको मुफ्त प्रारम्भिक शिक्षा मिलती है। ये लोग अपनी सन्तानको उच्च शिक्षा नहीं दे सकते। अपनी जीविकाके लिये इन्हें दूसरोंका मुँह ताकना पड़ता है। पूंजीपति प्राय: इस कमजोरीसे लाभ उठाना चाहते हैं। यही कारण है कि श्रमजीवी पूंजीपतियोंको सन्देहकी दृष्टिसे देखते हैं। वे चाहते हैं कि पूंजीपति अपनी पूंजीके बलसे श्रमजीवियोंपर अत्याचार न कर सकें। इसीके लिये वे मजदूर संघोंकी स्थापना करते, सहयोग समितियां (कोआपरेटिव सोसायटीज) खोलते तथा अन्तर्जातीय मजदूर कान्फरेन्स (सम्मेलन) करते हैं। वे प्रति क्षण इस बातकी चेष्टा करते रहते हैं कि पूंजीपति उन्हें अपने बराबर समझें। कहीं कहीं तो उन्होंने इसके लिये गदर मचा दिया। रूसमें उन्होंने पूंजीपतियोंका नाम ही मिटा दिया। अन्य देशोंमेंभी वे इसी बातकी चेष्टा करते हैं; पर उनकी चेष्टा कहांतक सफल होगी यह कहना कठिन है। संसार भरके अन्य सब राष्ट्र पूंजीको देशकी उन्नतिका मुख्य साधन मानते हैं। वे कर द्वारा बढ़तीको लेलेनेके लिये तैयार हैं पर पूंजीको समूल नष्ट करना नहीं चाहते। जब तक उनकी यह धारणा है तब तक सामाजिक विषमता लाख उपाय करनेपर भी दूर नहीं हो सकती। केवल कर द्वारा इस विषमताका विष हरण किया जासका है पर कोई नहीं कह सकता यह विषमता कबतक रहेगी। मजदूर लोग इस विषमताको हटाना चाहते हैं, जमीदार, पूंजीपति तथा अन्य प्रकारके अधिकारवाले इसे और भी दृढ़ करना चाहते हैं। दोनों दलोंके बीच एक प्रकारका विकट संग्रामसा मचा हुआ है। पर हमें आशा नहीं है कि हमें कभी भी जमीदारों तथा पूंजीपतियोंसे छुटकारा मिल सकेगा। जब तक मनुष्य स्वार्थी है, जबतक वह अपने कामको सर्वसाधारणके कामोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दरता तथा अधिक परिश्रमसे करता रहेगा, जब तक वह अपनेको तथा अपनी सन्तानको दूसरोंकी अपेक्षा अधिक प्यार करता रहेगा तबतक यह आशा नहीं है कि पूंजीपतियोंकी संख्या कम होजायगी अथवा उनकी आवश्यकता न रहेगी। यह विषमता बुरी हो या अच्छी, मजदूर तथा साम्यवादी इसे भले ही बुरा कहें, पर इसे दूर करना असम्भव है। जबतक हमारा समाज स्थित है तबतक उसमें धनी तथा निर्धन दोनों रहेंगे और तबतक यह विषमता भी दूर न होगी। (अपूर्ण)

श्यामबिहारी लाल कपूर।

कौटिल्यकी राज्यशासन-व्यवस्था।

(३)

दुर्ग और नगर।

गत लेखमें जनपदकी रक्षाके विषयमें लिखते हुए हमें दुर्गोंका उल्लेख करना पड़ा था। वहांपर हमने दुर्गोंका केवल एक वर्ग-भेद बतलाया था, परन्तु अब हम उनका और उन्हींके साथ नगरका विशेष विचार करेंगे।

राज्यको शत्रुओंके हमलेका डर सदैव बना रहता है इसलिये उसकी रक्षाके हेतु राज्यके चारों ओर दुर्ग बनाने चाहिये। दुर्ग कई प्रकारके होते हैं—औदक या जलदुर्ग, पार्वत या पर्वत दुर्ग, धान्वन यानी जलहीन अथवा छोटी छोटी झाड़ीवाली उजाड़ ज़मीनके दुर्ग, और वन दुर्ग। प्राचीन कालमें सब देशोंमें किलोंका महत्त्व भारी था' और इस कारण प्रचलित रीतिके अनुसार ही कौटिल्यने किलोंके महत्त्वपर ज़ोर दिया है उसने कहा है कि जल और पर्वतके दुर्गोंसे ही 'जनपद'की रक्षा हो सकती है। राजधानीका स्थान किलेसे घिरा रहना ही चाहिये। साथही वह बहुत सुरक्षित स्थानमें बनाना चाहिये। किलेके चारोंओर तीन खाइयां होनी चाहिये। किले कैसे बनाये जायं, इसके विषयमें कौटिल्यने अनेक नियम दिये हैं। इनमें सुरक्षितताका विचार प्रधान है। राजधानीके किलेमें इमारतें और सड़कें किस नियमसे बनायी जायं इसके भी नियम उसने दिये हैं। अच्छे सुरक्षित स्थानमें राजप्रासाद बनाना चाहिये और फिर चारों ओर चारों वर्णोंके घर रहने चाहिये। देव-स्थानोंका बीचमें रहना आवश्यक है। एक बात ध्यान देने योग्य है। कौटिल्यने कहा है कि प्रत्येक दस घरोंके पीछे एक कुआं अवश्य रहे! मामूली समयके लिये इनकी अवश्यकता थी ही, परन्तु शत्रुसे घेरे जानेपर इनकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती थी। जब नल नहीं थे तब आग बुझानेके लिये भी यह नियम आवश्यक था। आजकल भी इस कर्तव्यको माननेवाले राज्य बहुत थोड़े हैं। 'जो बाहिरिक (यानी बाहरके) लोग नगर और राष्ट्रके उपघातक (यानी हानि पहुंचानेवाले) हों उन्हें किलेमें न रहने देना चाहिये। या तो उन्हें देहातमें निकालदेना चाहिये अथवा उनपर करका अच्छा बोझ लादना चाहिये।'

नगरकी व्यवस्था।

इतिहासकारोंने चन्द्रगुप्तके राज्यकी व्यवस्थाका जो वर्णन दिया है, उसमें यह बतलाया है कि आजकलके स्थानिक स्वराज्यके समान उस समय भी शहरोंकी व्यवस्था थी।

उस समय भी इस शासनके लिये 'बोर्ड' रहते थे। परन्तु कौटिल्यके ग्रन्थमें इनका पता कहीं नहीं है। उलटे उसमें नगरकी रक्षाके लिये एक ही शासक बतलाया गया है और वह 'नागरक' कहा गया है। कौटिल्यने नगरकी सारी व्यवस्था इसी 'नागरक' को सौंपी है। इसके बाद उसने दूसरे कई कर्मचारियोंके नाम और कर्तव्य बतलाये हैं। नगरकी सारी व्यवस्था 'नागरक' के हाथमें रहनी चाहिये, इस कथनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि ये दूसरे कर्मचारी उसके हाथके नीचे रहते होंगे। 'प्रत्येक दस, बीस या चालीस घरोंके पीछे एक गोप रहना चाहिये। उसे उन घरोंके स्त्री-पुरुषोंकी जाति, गोत्र, नाम और कर्म (धन्धे) का ही नहीं प्रत्युत आय-व्ययका भी ज्ञान हो। नगरके चतुर्थ भागकी व्यवस्थाके लिये एक स्थानिक होना चाहिये। 'स्थानिक'को भी सारे नगरकी बातें मालूम होनी चाहिये। यह भी आवश्यक है कि नगरमें कौन आता है कौन जाता है, इस बातका ज्ञान भी उसे रहे। इसलिये 'धर्मगृहोंके मुखियाओंका यह कर्तव्य है कि वे अपने यहां आने वाले 'पाषण्डों'* और पथिकोंकी सूचना 'गोप' या 'स्थानिक' को दें। अपने स्थानोंमें केवल ऐसे तपस्वी और श्रोत्रियोंको स्थान दें जिनमें उनका पूरा पूरा विश्वास हो।' आजकल भी कहीं कहीं धर्मशालाओं और सरायोंमें आने जाने वालोंकी, और कहीं कहीं तो प्रत्येक घरमें आने जाने वालोंकी, सूचना पुलिसको अथवा स्थानिक कर्मचारियोंको देनी पड़ती है। और जिन लोगोंके विषयमें सरकारको किसी प्रकारकी शंका रहती है, उनके पीछे या तो गुप्तचर घूमते हैं या ऐसे शंकास्पद लोगोंको अपने निवासस्थानकी सूचना सरकारको देनी पड़ती है। तथापि इस नियमके कुछ अपवादोंका उल्लेख कौटिल्यने किया है। 'कारू-शिल्पी' (कारीगर) और व्यापारी चाहें तो अपनी जवाबदेहीपर अपने स्थानोंमें अपने धंधेके लोगोंको रखलें। 'परन्तु यदि व्यापारी लोग किसीको मना किये स्थान या समयमें या मना की हुई चीजें बेचते देखें तो उसकी सूचना अवश्य दें।' इसका कारण स्पष्ट ही है। मना किये हुए स्थानोंपर या मना किये हुए समयमें अथवा मना की हुई चीज़ें बेचने वालोंके विषयमें किसीको भी संदेह हो सकता है। इसी प्रकार, संदेहके पात्र होनेके कारण, बहुत अधिक खर्च करने वाले या अधिक साहसका काम करने वालेकी भी सूचना मिलनी आवश्यक है। 'यदि कोई वैद्य गुप्त रोगसे, फोड़ेसे, अथवा अपथ्य-कारक भोजन द्वारा उत्पन्न रोगसे पीड़ित मनुष्यका इलाज करे, तो उसका ही नहीं प्रत्युत जिसके घरमें इलाज हो उसका भी कर्तव्य है कि गोप या स्थानिकको इस बातकी सूचना दे। अन्यथा, रोगीके साथ वह भी दण्डनीय होगा। आजकल प्रत्यक्षमें तो इस नियमका प्रयोग नहीं होता, परन्तु अप्रत्यक्ष रीतिसे यह अमलमें अवश्य आता है, क्योंकि यदि रोगी कोई गुनाह करे और उसे छुपानेमें कोई डाक्टर इत्यादि भाग लें तो वे भी दोषी होते हैं।

*बौद्ध परिव्राजकोंके लिये पाषण्ड शब्द आया है। पाठकोंको यह मालूम ही होगा कि जो लोग देखनेमें बड़े धार्मिक होते हैं, पर भीतरसे बड़े अधार्मिक रहते हैं उन्हें आजकल पाखण्डी कहते हैं। इस शब्दका इतिहास जो हो, पर कौटिल्यके इस शब्दके उल्लेखसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय वास्तविक बौद्ध धर्मकी गिरती अवस्था थी।

"घरके मालिकोंका काम है कि अपने घरमें आने जाने वाले लोगोंकी सूचना दें, अन्यथा रात्रिको जो कोई चोरियां होंगी, उनकी जवाबदेही उन (घरके) मालिकोंपर होगी। यदि चोरियां न भी हुईं तो भी उनपर तीन पण* जुर्माना होगा।" इस नियमका प्रथम और अन्तिम भाग आजकल भी कई स्थानोंमें प्रयुक्त होता है, परन्तु आगेका नियम इससे कुछ अधिक बढ़ जाता है। "सड़क या गलीसे जाने वाला पथिक शहरके भीतर या बाहर किसी मंदिर, पवित्र स्थान, वन या श्मशानमें किसीको व्रणपीड़ित, या हानि पहुंचाने वाली सामग्रीसे युक्त, या भारी बोझ ले जानेके कारण थका हुआ, या दूसरोंकी आंख बचाते हुए, या बहुत सोते हुए, या खूब चलनेके कारण थका हुआ पावे, या वह उस स्थानमें अपरिचित सा जान पड़े तो उस पथिकका काम है कि ऐसे पुरुषको पकड़ ले।" इस नियममें पापकर्म, चोरी या ऐसे ही अन्य अपराधोंकी आशंका स्पष्ट है। अभी भी समाजको ऐसे लोगोंसे बचानेके लिये कभी कभी यह काम नैतिक या बाकायदा जवाबदेहीके कारण करना पड़ता है। "गुप्तचरोंका काम है कि वे शंकास्पद लोगोंको निर्जन घरोंमें, आबकारीकी दूकानोंमें, या पकापकाया चावल अथवा मांस बेचने वाली दूकानोंमें, द्यूतगृहोंमें और पाखण्डियोंके घरोंमें तलाश करें।" इनमेंसे बहुतेरी बातें उचित ही हैं, परन्तु 'पका पकाया चावल या मांस' बेचने वाली दूकानोंके उल्लेखका अर्थ स्पष्ट नहीं जान पड़ता।

आजकल ऐसा कोई नियम नहीं कि अमुक समयमें आग न सुलगानी चाहिये। परन्तु नगर-रक्षाकी दृष्टिसे उस समय इस नियमकी आवश्यकता थी। कौटिल्यने बतलाया है कि ग्रीष्ममें दिनके चार भागोंके बिचले दो भागोंमें (यानी कड़ी धूपके समय) आग सुलगाना मना कर देना चाहिये। लोग चाहें तो घरके बाहर रसोई पकानेका काम कर सकते हैं परन्तु आगसे नगरकी रक्षा हो सके, इसके लिये कुछ अधिक नियमोंकी आवश्यकता थी। "यदि किसी घरके मालिकके पास पानीके पांच घड़े, एक कुम्भ (पानीलानेका

---

*'पण' नामक सिक्का उस समय प्रचलित था, परन्तु इसकी निश्चित कीमत बतलाना कठिन है। श्री आपटेने न जाने किस आधारपर अपने कोशमें दिया है कि एक पण अस्सी कौड़ीके बराबर होता था। इसके लिये आपने कहींसे एक श्लोकार्द्ध भी उद्धृत किया है "अशीतिभिर्वराटकैः पण इत्यभिधीयते।" इससे ऐसा जान पड़ता है कि 'पण' ताम्बेका सिक्का था और अपने एक पैसेके बराबर ही रहा होगा। परन्तु 'पण' चान्दीका भी सिक्का होता था और उसका वजन आजकलके रुपयेके करीब चार पञ्चमांश रहता था। जब हम अर्थशास्त्रके आधारपर उस समयकी साम्पत्तिक स्थितिका विचार करेंगे, तब उस समयके सिक्कोंके विषयमें अधिक विस्तारपूर्वक लिखेंगे। लेखक

['शब्द कल्पद्रुम' (तृतीय काण्ड) तथा बँगला विश्वकोष (दशम खण्ड) में भी 'पण' का अर्थ ८० कौड़ी या २० गण्डा लिखा है। विश्वकोषमें उक्त श्लोकार्द्ध 'भविष्य पुराण' से लिया गया है। सं० स्वा०]

घड़ा), एक द्रोण*, एक सीढ़ी, एक कुल्हाड़ी, एक सूप, एक अंकुश† चिमटा (या शायद संडसी) और मशक न रखेगा उसपर एक चतुर्थांश पण‡ जुर्माना होगा।" क्या ही अच्छा नियम कौटिल्यने बतलाया है। इसका अभिप्राय यही है कि आग लग गयी तो आग बुझानेकी सब सामग्री प्रत्येक घरमें रहनी चाहिये ताकि दौड़ धूप करनेमें समय न खोना पड़े। आजकी नवीन स्थितिमें भी इस नियमकी आवश्यकता बनी ही है। कौटिल्यने एक नियम यह भी बतलाया है कि सब बड़े रास्तोंमें, चौरास्तोंमें और राजप्रासादके चारोंओर पानीसे भरे हजारों घड़े रखने चाहिये, परन्तु आजकल इस नियमकी आवश्यकता कम है, क्योंकि बहुधा सब शहरोंमें नलोंकी व्यवस्था हो गयी है। तथापि यदि शहरोंमें बड़े बड़े हौदे बना दिये जायँ तो इससे लाभ ही होगा। कौटिल्यने यह आवश्यक नियम बतलाया है कि यदि कोई मनुष्य घरका मालिक होकर भी कहीं आग लगनेपर सहायता देनेके लिये दौड़कर न जावे तो उसपर बारह पण जुर्माना किया जावे, और यदि कोई किरायेदार (विक्रयी) न दौड़ जावे तो उसपर छः पण जुर्माना किया जावे। आग एक ऐसी भयंकर आपत्ति है कि उसे दूर करनेका काम लोगोंकी सदिच्छा सहकारिता, परोपकार, आदि उच्च मनोवृत्तियोंपर छोड़ना कौटिल्यको ठीक न जँचा। इसलिये उसने कहा है कि जो कोई गृहस्वामी आग बुझानेमें योग न देगा, वह दण्डनीय होगा। और यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि यह जबरदस्ती घरोंके मालिकोंपर ही है। जिनके घर नहीं उनपर यह जिम्मेदारी लादना वृथा है। जिनके घर हैं उन्हींको इच्छा होगी कि आग जल्द बुझायी जाय। बिना घर वाले बदमाश लोग तो उसे और भी भड़कानेकी कोशिश करेंगे क्योंकि उस समय लूटमार करनेका मौका मिल सकेगा। 'फूंसके छप्पर निकाल देने चाहिये'। इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। क्या आग लगनेपर फूंसके छप्पर निकाल देने चाहियें अथवा शहरमें फूंसके छप्पर रहने ही न देना चाहिये। पहला अर्थ ही अधिक संभवनीय जान पड़ता है। आगसे काम लेने वाले (जैसे सोनार, लुहार आदि) अलग एक ओर बसाये जायं। आम लोगोंको

---

*यह काठका बना हुआ पानीका पात्र था और बहुधा घरके दरवाजेपर रखा रहता था।—लेखक

†श्री शामशास्त्रीजीने हाथीके अंकुशका उल्लेख किया है, परन्तु हमारी समझमें इसकी आवश्यकता रस्सी वगैरः लटकानेके लिये होगी इसलिये इसे आजकलका 'हुक' कह सकते हैं।—लेखक

‡जहां जुर्मानेके सम्बन्धमें 'पण' का उल्लेख है, वहां उसे चांदीका सिक्का समझना चाहिये। जुर्माना दण्ड देनेके लिये किया जाता है और इस कारण दण्डके समान जंचनेके लिये उसे चांदीका समझना होगा। लेखक

आगकी आफतसे बचानेके लिये इस नियमकी आवश्यकता स्पष्ट है। आजकल भी देहातोंमें सोनार या लुहारकी असावधानीके कारण गांवोंमें आग लगनेके मौके देखनेमें आते हैं। जो असावधानी करें, वे ही उसकी आफत सहें, यही इस नियमका मतलब देख पड़ता है। परन्तु असावधानी करने वाले लोग इतनेसे ही पूर्णतया बरी नहीं हो सकते। उनपर ५४ पण जुर्माना करना चाहिये। परन्तु जो जानबूझकर आग लगावें वे तो आगमें ही जला दिये जायं। इस नियमको आजकलके लोग बहुत कठोर कहेंगे। परन्तु यदि हम आगके भयंकर परिणामोंको देखें और उस समयकी स्थितिका ख्याल रखें तो हमें यह मानना होगा कि उस समय इस कड़े नियमकी आवश्यकता थी, और हमारी समझमें, अब भी है क्योंकि आगसे जानमालको कितना भय रहता है यह किसीको बतलानेकी आवश्यकता नहीं।

सफाईके भी कई अच्छे नियम दिये हैं। "जो कोई सड़कपर कूड़ाकर्कट फेंकेगा उसपर ⅛ पण जुर्माना होगा।" इस नियमको पढ़कर हमें 'टाइम्स आफ इण्डिया'के एक दो नोटोंका स्मरण हो आया। बड़े शहरोंमें लोग सड़कोंपर घरका कूड़ाकर्कट मनमाने फेंक देते हैं जिसके कारण लोगोंको बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। उक्त पत्रके संपादकने बम्बईके विषयमें जो कुछ लिखा था, उससे यह ध्वनि निकलती थी कि यदि लोग इन बातोंको न रोकेंगे तो कायदेकी आवश्यकता पैदा हुए बिना न रहेगी। ऐसी दशामें कोई आश्चर्य नहीं कि कौटिल्यने ऐसे कामको अपराध माना है। किन्तु यहांपर यह प्रश्न किया जा सकता है, कि कूड़ाकर्कटके लिये कौटिल्यने क्या प्रबन्ध बतलाया है? इसका उत्तर 'अर्थशास्त्र'के आधारपर नहीं दिया जा सकता क्योंकि, जहां तक हमने ढूंढ़ा है, ग्रन्थमें इस बातका विचार कहीं नहीं है। विन्सेण्ट स्मिथ कृत चन्द्रगुप्तके राज्य-वर्णनसे ही, किसी अंशमें, यह बात जानी जा सकती है। यदि आजकल ऐसे गांवों या शहरोंमें जावें जहां म्युनिसिपलटियां नहीं हैं तो इस विषयमें पहले यह बात देखनेमें आवेगी कि लोग सालभरतक घरके आसपास कूड़ाकर्कट इकट्ठा करते हैं और बरसातके बाद उसे खेतोंमें खादके बतौर डाल आते हैं या किसी लेनेवालेको दे डालते हैं। दूसरे, कुछ लोग ऐसे भी रहते हैं जो घरका भी कूड़ाकर्कट गांवके बाहर डाला करते हैं। परन्तु बड़े शहरोंमें यह उस समय भी संभव नहीं माना जा सकता कि घरोंके भीतर या उसके आसपास कूड़ा इकट्ठा किया जाय। फलतः यह अनुमान निकालना पड़ता है कि लोग रोज शहरके बाहर कूड़ाकर्कट फेंक आया करते होंगे। परन्तु इतनेसे ही यह प्रश्न पूरा पूरा हल नहीं होता। सड़कोंपर और गलियोंमें धीरे धीरे बहुतसा कचरा इकट्ठा हो ही जाता है। इसके लिये क्या प्रबन्ध था? कौटिल्यके ग्रंथसे इसका भी उत्तर देना कठिन है। विन्सेण्ट स्मिथने भी कहीं इस बातका दिग्दर्शन नहीं किया है। आजकल देहातोंमें लोग अपने घरके सामनेकी गली साफ करलेते हैं। कुछ अंशमें अबतक यह काम शहरोंमें भी होता है। घरके ठीक सामनेकी जमीन

गन्दी रहना किसीको नहीं भाता। परन्तु इतना मानलेनेपर भी बड़ी सड़कोंकी सफाई का प्रश्न हल नहीं होता। इसलिये यह भी मानना पड़ता है कि प्रत्येक शहरमें इस कामके लिये कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य रहा होगा। ऊपर बतलाये गये नियमके बाद कौटिल्यने कहा है, "जो कोई (सड़कपर) कीचड़ या पानी इकट्ठा करेगा उसपर ¼ पण जुर्माना होगा और जो कोई ऐसी ही अपराध राजमार्गपर करेगा उसपर ऊपर दिये जुर्मानोंसे दुगुना जुर्माना होगा।" आगे कहा है "पुण्यस्थान, जलाशय, मन्दिर और राजप्रासादमें जो कोई मल-विसर्जन करे उसपर एक पणसे लगा कर आगे अपराधके अनुसार दण्ड होगा; परन्तु मूत्र-विसर्जन करे तो उसका आधा दण्ड होगा। हां, यदि औषधि, व्याधि या भयसे कोई यह काम (मल या मूत्रका विसर्जन) करे तो उसे दण्ड न दिया जायगा। जो कोई शहरके भीतर बिल्ली, कुत्ते नेवले या सांपका मृतशरीर डालदेंगा उसपर तीन पण जुर्माना होगा; गधे, ऊंट, खच्चर या ढोरकी मृत देह डालनेवालेपर छः पण जुर्माना होगा; और मृत मनुष्यका शरीर डालनेवालेको ५० पण दण्ड देना होगा।" आजकलकी नाईं उस समय भी श्मशान निश्चित रहते थे, क्योंकि कौटिल्यने कहा है कि "मरघट या श्मशानभूमिको छोड़कर अन्यत्र कोई मृत शरीरका दहन करे या उसे गाड़े तो बारह पण दण्डका भागी होगा।" श्मशान ही नहीं बल्कि श्मशान मार्ग भी निश्चित रहते थे। कौटिल्यका स्पष्ट नियम है कि जो कोई किसी मृत शरीरको हमेशाके या निश्चित किये द्वार या मार्गको छोड़कर अन्य द्वार या मार्गसे लेजावेगा वह दण्डित होगा। इतना ही नहीं, जो द्वारपाल (यानी फाटकके चौकीदार) ऐसा करने देंगे उनपर दोसौ पण जुर्माना होगा। इस नियमके कई हेतु हो सकते हैं। निश्चित मार्ग या द्वारसे मृतशरीर लेजानेसे किस दिन कितने लोग किस कारण मरे, यह जाना जा सकता है। इस रीतिसे शहरकी व्याधियोंका पता लग सकता है। साथ ही अपराध करनेवाले भी पकड़े जा सकते हैं, क्योंकि मामूली रास्तोंको छोड़ अन्य मार्गसे मृतकको लेजाने वालोंके विषयमें सन्देह होना स्वाभाविक है। तीसरे, चाहे जहांसे मृतक लेजानेसे लोगों को असुविधा भी हो सकती है।

रातको शहरमें कोई घटना न होने पावे इसके विषयमें कौटिल्यने अनेक नियम दिये है। उनमेंसे कुछका उल्लेख प्रारम्भमें हो चुका है। शहरके भीतर रातको घूमनेका भी नियम आवश्यक है। रात होनेके छः (नालिका) घड़ी बाद और दिन निकलनेसे छः घड़ी पहले किसीको न घूमना चाहिये, और इस बातकी सूचना लोगोंको नक्कारा बजाकर देनी चाहिये। "नक्कारा* बजनेपर जो कोई (इस बिचले समयके)

*यूरोपीय देशोंमें भी 'मध्य युग' में (लगभग चार-पांच शताब्दियोंके पहले) ऐसी ही प्रथा प्रचलित थी। रोम-सभ्यताके प्रारंभकालमें 'करफ्यू' नामक घण्टी बजानेका कदाचित् यह भी अभिप्राय था कि अधिक रात बीत जानेपर लोग बाहर न निकलें और रातमें किसी स्थानमें एकत्र होकर साजिश न कर सकें। (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, एकादश संस्करण, खण्ड ७ पृष्ठ ६३८ देखिये)—सम्पादक।

प्रथम याम* में या अन्तिम याममें राजप्रासादके पास घूमता हुआ पाया जावेगा, उसे १¼ पण दण्ड देना होगा, और जो कोई बिचले याममें घूमता पाया जावेगा उसका इससे दुगना जुर्माना होगा, और जो कोई (नगर या दुर्गके) बाहर घूमता पाया जावेगा उसपर चारगुना जुर्माना होगा। जो कोई शंकनीय स्थान (या काल) में कोई अपराध करते पाया जायगा उसकी जांच पड़ताल की जावेगी।" इसका यह अर्थ नहीं कि रातको कोई घूमने ही न पावे। मानव-संसारके कई काम ऐसे होते हैं जो रातको भी करने पड़ते हैं। इसलिये कौटिल्यने कहा है, "जो कोई सूतिका, चिकित्सा, या प्रेतदहनके लिये या हाथमें दीपक लेकर या नक्कारा बजनेका कारण जाननेके लिये या 'नागरक' से मिलनेके लिये या अग्नि बुझानेके लिये या अधिकारियोंका पत्र (यानी आजकलका पास) लेकर रातको जावेगा वह न पकड़ा जावेगा।" इस अपवादसूचक नियममें उन सब कारणोंका समावेश हो गया है जिनसे प्रेरित होकर किसीको रात्रिके समय भी आने जानेकी आवश्यकता पड़ सकती है। आगे कौटिल्यने कहा है, " 'चाररात्रि'-को (स्वतंत्रतासे घूमनेकी रातको) जो कोई वेशान्तर करके घूमेंगे या जो मना करनेपर घूमेंगे या जो दण्ड और शस्त्र लेकर घूमेंगे, वे अपराधानुसार दण्डनीय होंगे।" 'चाररात्रि'-के उल्लेखसे ऐसा जान पड़ता है कि उस कालमें कुछ रात्रियोंको लोग स्वतंत्रतासे घूम सकते थे। बहुधा ये रात्रियां सामाजिक, धार्मिक या राजकीय उत्सवोंकी रात्रियां होती होंगी। बिना अधिकारके या अनुचित समयपर घूमने वालोंको रोकनेका काम, आजकलकी नाईं, उस समय भी पहरे वालोंके सिपुर्द था। जिसे रोकना चाहिये उसे यदि वे न रोकें तो उन्हें अनुचित समयमें घूमने वालेके अपराधसे दुगुना दण्ड मिलता था। परन्तु इसीके

---

*'याम' का अर्थ साधारणतः एक प्रहर यानी तीन घण्टेका होता है, और यही अनुमान शामशास्त्रीजीका भी प्रतीत होता है। परन्तु हमें नहीं जान पड़ता कि यह अर्थ यहां लागू हो सकता है, क्योंकि छः घड़ी पहलेके और छः घड़ी आखिरके निकाल दें तो कुछ मिलाकर बारह घड़ी यानी ४ घण्टे ४८ मिनट निकाल देने पड़ते हैं। रात सदा बारह घण्टेको नहीं होती, परन्तु यदि यह मान भी लिया जाय तौ भी बिचला समय करीब सात घण्टेका ही रह जाता है, और यहांके मूल उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि इस बिचले समयमें कमसे कम तीन 'याम' माने जायँ। इस प्रकारसे हिसाब लगानेपर एक याम तीनसे कम घण्टोंका निकलता है। यह हुई उस अवस्थाकी बात जब रात बारह घण्टेकी हो। परन्तु गर्मीके दिनोंमें उत्तर हिन्दुस्थानमें रात नौ साढ़े नौ घण्टेकी ही होनेकी सम्भावना है। ऐसे समयमें यदि करीब पांच घण्टे इनमेंसे घटा दिये तो चार साढ़े चार घण्टे ही बच जाते हैं। ऐसी अवस्थामें याम डेढ़ घण्टेसे अधिकका नहीं हो सकता। इस विषयसे सम्बन्ध रखने वाली सारी बातोंको एकत्र कर हम किसी अन्य लेखमें लिखनेका प्रयत्न करेंगे लेखक

साथ यह भी कहा गया है कि जिसे न रोकना चाहिये उसे रोकनेसे भी उन्हें उतना ही दण्ड होता था। यहां मूलमें है, "रक्षिणामवार्यं वारयतां वार्यं चावारयतामक्षणद्विगुणो दण्डः।" हमारी समझमें श्री शामशास्त्रीजीने 'स्टॉप' शब्दका जो उपयोग किया है, वह पूरा पूरा ठीक नहीं। यहां वारण करनेका अर्थ रोक रखना है। और यदि यह अर्थ किया जाय तो नियमकी विचित्रता (?) दूर हो जाती है। 'वारयतां' का 'स्टॉपिंग' या 'अवारयतां' का 'नॉट स्टॉपिंग' अर्थ करनेसे यह विचित्रता पैदा होगी कि पहरे वाला बिना रोके (यानी खड़ा किये) कैसे जान सकता है कि अमुकको जाने देना चाहिये और अमुकको न जाने देना चाहिये। इस कार्यके लिये रोकना यानी क्षणभर खड़ाकर पूछपाछ करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये 'वारयतां' का अर्थ 'रोक रखने वालोंका' और 'अवारयताम्' का अर्थ 'न रोक रखने वालोंका' होता है। पहरे वाले अपने काममें व्यग्र रहें, इसलिये आवश्यक है कि वे अनुचित मोहमें न पड़ें। इसी दृष्टिसे कौटिल्यने कहा है कि यदि किसी पहरेवालेका किसी दासीसे अनुचित सम्बन्ध हो तो वह दण्डनीय होगा। यह स्मरण रखना चाहिये कि 'दासी' दास शब्दका जातिवाचक स्त्रीलिंगसूचक रूप है। इससे स्पष्ट होता है कि इस समय तक जातिनिर्बन्ध पूरे न बन चुके थे और वर्णसंकर जारी था, इतिहासके देखनेसे भी इस बातका समर्थन होता है।

इसके आगे कौटिल्यने 'नागरक'के कुछ कर्तव्य बतलाये हैं। उसका काम है कि शहरमें रातको जो कोई जड़जीवसम्बन्धी घटना हो उसकी सूचना राजाको दे। यदि वह ऐसा न करेगा या अपने कार्यमें किसी तरहकी असावधानी दिखलाते देख पड़ेगा तो वह अपराधके अनुसार दण्डनीय होगा। उसका काम है कि 'वह रोज जलाशयों, सड़कों, गुप्त मार्गों, किले, किलेकी दीवारों और रक्षाके दूसरे साधनोंकी देखरेख करे' 'यदि गुमी हुई, भूली हुई, या छोड़दी हुई कोई चीज मिले तो उसको हिफाजतसे रखे।' सारांश, नगरकी शान्ति और रक्षाके लिये 'नागरक' जिम्मेदार था।

समय समयपर कैदियोंके मुक्त करनेकी प्रथा भी इस कालमें देख पड़ती है। कौटिल्यने कहा है कि राजाके जन्मके दिन बालक, वृद्ध, व्याधिपीड़ित या अनाथ कैदी छोड़ दिये जायं। पुण्यशील कैदियोंको या कैदियोंसे (?) कुछ करार किये हुए कैदियोंको 'दोषनिष्क्रय' यानी मुक्त होनेका द्रव्यरूपसे उचित दण्ड दें तो छोड़ देना चाहिये। इसी प्रकार समय समयपर देखते रहना चाहिये कि कौन कैदी अच्छा काम करनेके कारण, शारीरिक दण्ड भोग लेनेके कारण, या द्रव्यरूपमें दण्ड पटा देनेके कारण छोड़ दिये जा सकते हैं और ऐसे जो कोई हों उन्हें छोड़ देना चाहिये। इसी प्रकार, देश-विजयके समय, युवराजाभिषेकके समय या राजपुत्रके जन्मोत्सवके समय कैदियोंको छोड़ देना चाहिये। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि इनमेंसे बहुतसी रीतियां हिन्दुस्तानमें सदैव जारी रहीं, और उनमेंसे कुछको अंग्रेजशासकोंने भी स्वीकार किया है।

नगरके प्रबन्धके विषयमें कौटिल्यकी योजनाका संक्षिप्त वर्णन कर ही चुके हैं।

मेगेस्थनीजके आधारपर विन्सेण्ट स्मिथने चन्द्रगुप्तके कालके नगरशासनकी व्यवस्थाका, खास करके, पाटलिपुत्रकी व्यवस्थाका, जो वर्णन किया है, वह इससे मिलता नहीं जान पड़ता। विन्सेण्ट स्मिथने भी यही बात कही है। उसका कथन है कि चन्द्रगुप्तके समयमें जो नगर व्यवस्था थी, वह उसकी बनायी थी। विन्सेण्ट स्मिथने इस नगर-व्यवस्थाको 'म्युनिसिपल कमीशन' कहा है। बहुतेरे दूसरे इतिहासलेखक विन्सेण्ट स्मिथका ही आधार लिया करते हैं, इस कारण वे भी इसी लेखकके शब्दोंका उपयोग किया करते हैं, और इस तरह, हमारी समझमें, वे हमारे मनमें वास्तविक स्थितिकी कुछ भिन्न ही कल्पना उत्पन्न करते हैं। यह सम्भव हो सकता है कि कौटिल्यने अपना ग्रंथ चन्द्रगुप्तके शासनके नितान्त प्रारम्भ कालमें लिखा हो, और इस बातको एक दूसरी रीतिसे हम भी दिखला चुके हैं। तथापि हमें नहीं जान पड़ता कि मेगेस्थनीजके नगर-शासनके वर्णन और कौटिल्यकी ही व्यवस्थामें तत्त्वतः कोई भेद रहा होगा। हम दोनों वर्णनोंका एक रीतिसे सामञ्जस्य कर सकते हैं और विन्सेण्ट स्मिथने अपने पाठकोंको जिस भ्रममें डाल दिया है उसे भी दूर कर सकते हैं। चन्द्रगुप्तके राजा बननेके समय पाटलिपुत्र नगर उतना विशाल न रहा होगा जितना वह उसके समयमें हो गया। कौटिल्यका दिया वर्णन पहलेके पाटलिपुत्रको लागू होता था। जैसे जैसे वह विस्तृत होने लगा होगा वैसे वैसे श्रम-विभागकी आवश्यकता पड़ी होगी। नागरक और स्थानिक रहे ही होंगे, परन्तु बड़े विशाल नगरमें अनेक कार्योंके सम्पादनार्थ अनेक कर्मचारियोंकी आवश्यकता भी पड़ी होगी, एक ही कार्य या समान कार्योंके लिये जो कर्मचारी थे, वे आपसमें मिलजुल कर काम और सलाह मसलहत करते रहे होंगे। इस कारण मेगेस्थनीजको ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि नगरका प्रबन्ध 'बोर्डों'के द्वारा होता था। विन्सेण्ट स्मिथने यह कहीं नहीं बतलाया कि इन सारे 'बोर्डों'के ऊपर कोई अधिकारी था या नहीं। हम समझते हैं कि ऐसा अधिकारी जरूर रहा होगा। अन्तमें सारे प्रबन्धकी जिम्मेदारी किसी भी व्यवस्थामें एक मनुष्यपर ही रखनी पड़ती है। सारे जगत्का इतिहास इस तत्त्वका साक्षी है। शासनका काम रुकने न पावे यानी कोई आलस्य या प्रमाद न करने पावे और भिन्न भिन्न विभाग आपसमें न झगड़ने पावें, इसके लिये एक सर्वोच्च अधिकारीकी आवश्यकता है। चन्द्रगुप्तका राज्य चला और विन्सेण्ट स्मिथने उसकी काफी तारीफ की है। क्या यह राज्य-शासन नगरमें बिना सर्वोच्च अधिकारीके रहे ही संभव हुआ होगा? आज कल भी म्युनिसिपल बोर्डको प्रेसिडेण्टकी आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्थामें हमें मानना पड़ता है कि नगरके प्रबन्धके इन सब बोर्डोंके ऊपर 'नागरक' रहा होगा। इतना ही नहीं, हमारा तो यह अनुमान है कि इन बोर्डोंके सदस्य स्थानिक या ऐसे ही अन्य कर्मचारी रहे होंगे और वे सरकारी नौकर थे। अन्तिम बात विन्सेण्ट स्मिथने अपने ग्रंथमें लिखी ही है। इसलिये चन्द्रगुप्त कालीन नगर-व्यवस्थाके बोर्डोंकी तुलना आजकलके म्युनिसिपल बोर्डोंसे नहीं की जासकती। इन दो कालोंके बोर्डोंमें तत्त्वका एक भारी भेद है। आजकलके बोर्डोंके सदस्य बहुधा चुने हुए होते हैं, उस समयके सदस्य सरकारी कर्मचारी होते थे।

परन्तु विन्सेण्ट स्मिथने 'म्युनिसिपल' शब्दका उपयोग किया है। इस कारण उसके ग्रंथके पाठक उसके वर्णनसे सदा यही सोचते हैं कि चन्द्रगुप्तके पाटलिपुत्रमें आजकलके समान 'स्थानीय स्वराज्य' था। अब हमारे पाठक देख सकते हैं कि कौटिल्यकी दी हुई व्यवस्था और मेगेस्थनीजकी नगर-व्यवस्थाके वर्णनमें विशेष भेद नहीं है। विशाल नगरीमें श्रम-विभागकी, कर्मचारियोंकी संख्या बढ़ानेकी तथा सहकारिताकी आवश्यकता पड़नेसे उन्हें बोर्डोंका स्वरूप मिलना स्वाभाविक था, परन्तु स्मरण रहे कि वे सदैव सरकारी कर्मचारी ही रहे। नगर-शासनके लिये कौटिल्यने जो नियम दिये हैं वे भी चन्द्रगुप्तके समय अधिकांशमें पाये गये होंगे, क्योंकि कोई भी नियामक वस्तुस्थितिको छोड़कर नितान्त नयी बातोंकी कल्पना नहीं कर सकता। अन्य बातोंके समान कौटिल्यकी यह व्यवस्था भी उस समयकी वस्तुस्थितिका निदर्शक ही है। धीरे धीरे अधिक विचार होगा ही, इसलिये इस समय इतना ही लिखना काफी है।

गोपाल दामोदर तामस्कर

रेलोंके सञ्चालनका संवत् १९७८ का जो विवरण हालमें निकला है उससे प्रगट होता है कि संवत् १९७८ के अन्तमें १७ चैत्र (३१ मार्च १९२२) तक रेलोंके निमित्त पूंजीके रूपमें कुल ६५६·०६ करोड़ रुपये लगाये जा चुके थे। गत वर्ष रेलोंकी विशुद्ध आय सोलह करोड़ रुपये ही रही अर्थात् लगी हुई पूंजीपर फी सैकड़े २·७५ की ही प्राप्ति हुई। ऋण इत्यादिका व्याज देने तथा रेलोंके सम्बन्धके अन्य दायित्वोंको पूरा करनेके लिये इससे भी अधिक रकमकी जरूरत थी। इस दृष्टिसे रेलोंकी आमदनी तो थी ८१·९४ करोड़ और खर्च था ९१·२१ करोड़ अर्थात् ९.२७ करोड़का घाटा रहा। संवत् १९५७ के बाद पहिली ही बार रेलोंके कारण इतना घाटा हुआ है। इसके पूर्व भारत सरकारको उनसे अच्छी आमदनी होती थी। प्रथम श्रेणी वालोंसे १·३८ करोड़, द्वितीय श्रेणी वालोंसे २·२६ करोड़, मध्य श्रेणी वालोंसे ·७० करोड़ तथा तृतीय श्रेणीके यात्रियोंसे २८·४२ करोड़की आमदनी हुई। इस प्रकार सबसे अधिक आमदनी तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंसे हुई, किन्तु कष्टों और असुविधाओंकी सबसे अधिक उपेक्षा भी उन्हींके सम्बन्धमें की गयी, यह भी निर्विवाद है।

युक्त प्रान्तकी सरकारका खर्च ।

सुधार-योजनाके कार्यान्वित होनेके पहिले प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओंको प्रांतीय आय-व्ययपर बहुत कम अधिकार था। यद्यपि प्रति वर्ष मार्च (फागुन-चैत)के महीनेमें बजट (आय-व्यय-अनुमान पत्र) व्यवस्थापक सभाओंमें पेश किया जाता था परन्तु सभासदोंको प्रस्तावित व्ययके सम्बन्धमें स्वीकृति या अस्वीकृति देनेका अधिकार नहीं था। सभासद उसपर आलोचना कर सकते थे, वाद-विवाद कर सकते थे परन्तु खर्च करनेका सब अधिकार सरकारी अफसरोंके ही हाथमें था। यदि वे (अफसर लोग) चाहते तो सभासदोंकी इच्छाके अनुसार खर्चमें कमी भी कर सकते थे, परन्तु ऐसा बहुत ही कम होता था। सुधार-योजनाके अनुसार शासन-व्यवस्थामें कुछ परिवर्तन हो गये हैं। सब विषय केंद्रीय (सेण्ट्रल) और प्रांतीय (प्रोविन्शल) भागोंमें विभाजित कर दिये गये हैं। मुख्य मुख्य केंद्रीय विषय ये हैं—फौज, रेल, तार, सड़कें, रक्षित राज्योंसे संबन्ध, अन्य देशोंसे संबंध, आयकर, नमक, आयात-निर्यात-कर, व्यापार, अफीम, सब भारतीय नौकरियां, धर्म, करेंसी (अर्थात् मुद्रानीति) विनिमय, और रेलवे पुलिस इत्यादि। इन सब विषयोंके संबंधकी सारी व्यवस्था भारतसरकारके द्वारा की जाती है और उनपर उचित खर्चके लिये भी वही जिम्मेदार है। प्रांतीय विषयोंमेंसे कुछ विषय तो मिनिस्टरों (सचिवों)को सौंप दिये गये हैं। इन विषयोंको हस्तान्तरित विषय कहते हैं। युक्त प्रांतके मुख्य मुख्य हस्तान्तरित विषय ये हैं—स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, पब्लिक वर्क्स, कृषि, सहयोग, आबकारी, उद्योग-धंधे इत्यादि। ये सब विषय ऐसे हैं जिनके सम्बन्धमें देशकी आर्थिक उन्नतिके लिये अधिक रुपये खर्च करनेकी बड़ी आवश्यकता है। मिनिस्टर व्यवस्थापक सभाके चुने हुए सदस्योंमेंसे गवर्नर द्वारा नियुक्त किया जाता है। हस्तान्तरित विषयोंके अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय विषय गवर्नरकी कार्यकारिणी सभाके सदस्योंको सौंपे गये हैं। इनकी व्यवस्थाके लिये वे गवर्नर-जनरल और ब्रिटिश पार्लमेंटके प्रति जिम्मेदार हैं। ये रक्षित विषय कहलाते हैं। युक्त प्रांतके मुख्य मुख्य रक्षित विषय ये हैं—आबपाशी और नहर, मालगुजारी (लैण्ड रेविन्यू), अकाल रक्षक मद, न्याय, पुलिस, जेल, समाचार पत्र और प्रेसोंपर देखरेख, नये प्रांतीय कर और ऋण इत्यादि।

अपने अपने विभागोंका आगामी वर्षका आय-व्ययका चिट्ठा मिनिस्टर और कार्यकारिणी सभाके सदस्य बनाते हैं, फिर वह व्यवस्थापक सभा द्वारा चुनी हुई फाइनेंस कमेटी (अर्थ-समिति) के सामने रखा जाता है। वहांपर काटछांट होनेके बाद वह मार्चके महीनेमें व्यवस्थापक सभामें पेश किया जाता है। उस समय खर्चकी अधिकांश

मदोंकी रकम व्यवस्थापक सभा द्वारा मंजूर की जाती है। नीचे लिखी खर्चकी मदोंपर प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओंको मत देनेका अधिकार नहीं दिया गया है :—

(१) प्रांतीय कर्जपर व्याज इत्यादि
(२) जो खर्च किसी कानूनके अनुसार लाजिमी है
(३) उन अफसरोंका वेतन जो सम्राट् या भारतसचिव द्वारा नियुक्त किये गये हैं
(४) हाईकोर्टके न्यायाधीशोंका और एडवोकेट जनरलका वेतन
(५) वह रकम जो प्रांतीय सरकारको प्रतिवर्ष भारत सरकारके खर्चके लिये देना लाजिमी है

उपर्युक्त मदोंके अतिरिक्त खर्चकी बाकी सब मदोंपर प्रांतीय सभाकी मंजूरी ली जाती है। जिन मदोंके संबन्धमें व्यवस्थापक सभा मंजूरी दे सकती है उनके संबन्धमें उसे यह अधिकार है कि उनमेंसे किसी मदके खर्चकी रकमको कम करदे या नामंजूर करदे। परंतु उसे किसी मदपर खर्च बढ़ानेका अधिकार नहीं है। यदि कोई सभासद चाहे कि शिक्षा-विभागपर अथवा कृषि-विभागपर बजटमें दी हुई रकमसे अधिक खर्च किया जाय तो वह उस समय वैसा प्रस्ताव नहीं कर सकता। हां, खर्च कम करनेका प्रस्ताव वह खुशीसे कर सकता है। युक्त प्रांतके सन् १९२२-२३ (संवत् १९७९) के निमित्त प्रस्तावित १५ करोड़ ४१ लाख रुपयोंके कुल खर्चमेंसे ४ करोड़ ८ लाख रुपयोंके खर्चपर प्रांतीय व्यवस्थापक सभाको मंजूरी देनेका अधिकार नहीं था। उसकी मंजूरी १० करोड़ ६१ लाख रुपयेके खर्चके लिये ली गयी थी, उसमेंसे केवल ३ करोड़ २७ लाख हस्तान्तरित विषयोंके लिये है और ७ करोड़ ३४ लाख रक्षित विषयोंके लिये। हस्तान्तरित विभागोंमें भी करीब २४ लाख रुपयोंका ऐसा खर्च था जिसपर व्यवस्थापक सभाको मंजूरी देनेका अधिकार नहीं था। यहांपर एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि यद्यपि प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाको खर्चकी अधिकांश मदोंपर मंजूरी देनेका अधिकार दे दिया गया है तिसपर भी प्रांतके गवर्नरको यह अधिकार है कि रक्षित विषयोंके सम्बन्धमें, प्रांतीय व्यवस्थापक सभा द्वारा खर्च नामंजूर या कम किये जानेपर भी, वह अपनी इच्छाके अनुसार पूरा खर्च कर सकता है यदि वह यह समझता है कि उक्त खर्च प्रांतकी रक्षा और शांतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। इसलिये रक्षित विषयोंके सम्बन्धमें जो अधिकार व्यवस्थापक सभाको दिया गया है वह अधूरा ही है। हां, हस्तान्तरित विषयोंके सम्बन्धमें जो अधिकार दिया गया है वह अधूरा नहीं है, परन्तु उन विषयोंपर होनेवाला ऐसा खर्च जिसके सम्बन्धमें सभा मंजूरी दे सकती है केवल ३ करोड़ २० लाख है जो कि प्रांतके सम्पूर्ण खर्चके एक चतुर्थांशसे भी कम है। बस, केवल इतना अधिकार ही सुधार-योजनाके अनुसार जनताके प्रतिनिधियोंको दिया गया है। यही हाल प्रायः सब प्रांतोंका है। प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओंको प्रांतके सब खर्चोंपर पूरा अधिकार शीघ्र ही दे दिया जाना चाहिये।

युक्त प्रान्तकी सरकारका खर्च

राष्ट्रीय अथवा सरकारी खर्च और वैयक्तिक खर्चमें एक बड़ा भारी अंतर यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जहां तक बनता है वहां तक अपनी आमदनीके अनुसार ही खर्च करता है, परंतु राष्ट्रकी नीति इसके विपरीत रहती है। सरकार अपनी आमदनी खर्चके अनुसार प्राप्त करनेका प्रयत्न करती रहती है। पहले यही अन्दाजा लगा लिया जाता है कि भिन्न भिन्न मदोंमें कितने खर्चकी आवश्यकता है और फिर उतनी रकम कर द्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता है। परंतु जब खर्च और कर-भार इतना अधिक बढ़ जाता है कि बढ़ते हुए खर्चको पूरा करनेके लिये कर बढ़ानेकी अधिक गुंजाइश नहीं रहती, तब सरकारको विवश होकर अपना खर्च कम करनेकी आवश्यकता पड़ती है। हमारे प्रांतीय खर्चकी भी आजकल यही दशा होगयी है और एक कमेटी यह जांच करनेके लिए नियुक्त की गयी है कि किन किन मदोंमें कितना खर्च किस प्रकार कम किया जा सकता है। इन सब बातोंको समझनेके लिये पहिले यह जानना आवश्यक है कि भिन्न भिन्न मदोंपर प्रांतीय सरकार द्वारा संवत् १९७८ में कितना खर्च किया गया और संवत् १९७९ में कितना खर्च करनेका प्रबन्ध किया गया। अगले पृष्ठकी सूचीमें यह बतलाया गया है कि युक्त प्रांतकी सरकारका भिन्न भिन्न विषयोंपर संवत् १९७८ में खर्च क्या था और संवत् १९७९ में कितना खर्च करनेकी व्यवस्था की गयी थी, उसमेंसे कितने खर्चपर सभाको मंजूरी देनेका अधिकार था और कितनेपर नहीं था।

हम उक्त सूचीसे एकके बाद एक मद लेकर यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक मदके खर्चका ब्यौरा क्या है, कार्य-क्षमता कम किये बिना ही किन किन विभागोंमें कितना कितना खर्च कम किये जानेकी गुंजाइश है और देशकी आर्थिक उन्नतिके लिये कौन कौनसे विभागोंपर कितना अधिक खर्च करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

(अगला पृष्ठ देखिये)

संवत् १९७८ तथा १९७९ की आय-व्यय-सूची।

लाख रुपयोंमें

खर्चकी मदें	संवत् १९७७					सं. १९७८
	हस्तांतरित विषयोंपर खर्च	रक्षित विषयोंपर खर्च	रकम जिसकी मंजूरी देनेका प्रांतीय सभाको अधिकार था	रकम जिसकी मंजूरी देनेका प्रांतीय सभाको अधिकार नहींथा	मीजान खर्च	कुल खर्च
१ भारत सरकारको देना	...	२४०	...	२४०	२४०	२५
२ शासन व्यवस्था	...	१३८	१०७	३१	१३८	१४२
३ न्याय विभाग	...	६७	५०	१७	६७	६७
४ जेल विभाग	...	३५	३४	१	३५	३७
५ पुलिस	...	१७१	१६३	८	१७१	१८०
६ मालगुजारी	...	७८	७८	...	७८	७८
७ शिक्षा	१३४	७	१३३	८	१४१	१५६
८ चिकित्सा और स्वास्थ्यरक्षा	४१	...	३४	७	४१	५४
९ कृषि	२८	...	२६	२	२८	२८
१० उद्योग-धन्धे	९	...	८	१	९	९
११ जंगल विभाग	...	७९	७५	४	७९	७[illegible]
१२ सड़कें, इमारतें, और पब्लिकवर्क्स विभाग	१२६	१	१२१	६	१२७	१०८
१३ आबपाशी	...	१३७	८०	५७	१३७	११६
१४ आबकारी, रजिस्ट्री और अन्य सब विभाग	१३	८	२१	...	२१	२५
१५ करेंसी और विनिमय	...	६	१	५	६	९
१६ स्टेशनरी और छापाखाना	...	१३	१३	...	१३	१६
१७ प्रांतीय ऋणका व्याज इत्यादि	...	३४	...	३४	३४	४[illegible]
१८ अकालरक्षक मद	...	३२	...	३२	३२	३३
१९ पेंशन इत्यादि	...	५४	५२	२	५४	५०
२० कण्टिंजेंसी फण्ड	...	२	२	...	२	...
२१ कर्ज जो दिया जायगा	...	८८	६३	२५	८८	९४
योग	३५१	११९०	१०६१	४८०	१५४१	१५८३

(१) भारत सरकारका देना

सुधार योजनाके अनुसार युक्त प्रांतकी सरकारको भारत सरकारकी कमी पूरी करनेके लिये संवत् १९७९ में दो करोड़ चालीस लाख रुपये उसे देना आवश्यक था। भारत सरकारके पास अपनी कमी पूरी करनेके कई जरिये हैं। भारतीय सरकारके खर्च-की कई मदोंमें बहुत किफायत की जा सकती है। खासकर फौजी खर्च तो बहुत घटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारत सरकारके पास आयात-कर और आय-करके समान ऐसे जरिये हैं जिनके द्वारा वह अपनी आमदनी बढ़ा सकती है और गत पांच वर्षोंमें उसने अपनी आमदनी इन्हीं जरियों द्वारा बढ़ायी भी है। प्रांतीय सरकारके पास आमदनी बढ़ानेका ऐसा कोई सुलभ साधन नहीं है और न उसको कर बढ़ानेकी अधिक गुंजाइश है। प्रांतकी बढ़ती हुई आवश्यकताएं पूरी करनेके लिये और उसकी आर्थिक दशा सुधारनेके लिये यह नितांत आवश्यक है कि कृषि, शिक्षा और उद्योग विभागपर शीघ्र ही अधिक रुपया खर्च किया जाय। इसीलिये प्रांतीय सरकारद्वारा इस रकमका दिया जाना तुरंत ही बन्द हो जाना चाहिये।

(२) शासन व्यवस्था

शासन व्यवस्थामें संवत् १९७९ के बजटके अनुसार १३८ लाख रुपये खर्च किये जाने वाले हैं। इसमें गवर्नर, कार्यकारिणी सभाके सदस्य, मिनिस्टर, रेवेन्यूबोर्डके सदस्य, कमिश्नर कलेक्टर, डिप्टीकलेक्टर तहसीलदार इत्यादि अफसरोंका वेतन, यात्रा-खर्च और आफिसखर्च शामिल है। सवत् १९७९ के खर्चका व्यौरा यह है।

१.	गवर्नरका वेतन	१ लाख	२० हजार
२.	गवर्नर संबन्धी-अन्य खर्च	१ ,,	६० ,,
३.	कार्य कारिणी सभाके सदस्योंका वेतन	१ ,,	२८ ,,
४.	मिनिस्टरोंका वेतन	१ ,,	२८ ,,
५.	गवर्नर, मिनिस्टर और कार्यकारिणी सभाके सदस्योंका यात्रा खर्च	१ ,,	२२ ,,
६.	व्यवस्थापक सभाका खर्च	२ ,,	३८ ,,
७.	सेक्रेटेरियट	१० ,,	६१ ,,
८.	रेवेन्यू बोर्ड	३ ,,	५४ ,,
९.	आर्डर विभाग	० ,,	७[illegible] ,,
१०.	कमिश्नरोंका वेतन और आफिस खर्च	७ ,,	५० ,,
११.	कलेक्टर, असिस्टेंट कलेक्टर, डिप्टीकलेक्टर इत्यादिका वेतन और आफिस खर्च	७७ ,,	०८ ,,
१२.	तहसीलदार, नायब तहसीलदार और अन्य अफसरोंका वेतन तथा आफिस खर्च	२९ ,,	१३

यद्यपि गवर्नरके वेतन और कार्यकारिणी सभाके सदस्योंके वेतनके सम्बन्धमें व्यवस्थापक सभा हस्तक्षेप नहीं कर सकती तो भी उनके यात्राखर्चमें कुछ किफायत की जा सकती है। मिनिस्टरोंका वेतन भी कम किया जा सकता है*। यदि कमिश्नरोंकी जगह बिलकुल तोड़ दी जाय तो उसीसे करीब ७ लाख रुपयोंकी बचत हो सकती है। मद्रासमें कमिश्नर नहीं है तो भी उस प्रांतमें सब काम बहुत अच्छी तरहसे चलता है। यदि इस प्रांतमें जिलोंकी संख्या कम कर दी जाय तो कलेक्टर इत्यादिके वेतनोंमें आठ दस लाख रुपयोंकी बचत सहजमें हो सकती है। सेक्रेटेरियट विभागमें भी कुछ बचतकी गुंजाइश है। रेवेन्यूबोर्डके खर्चमें भी कुछ कमी की जा सकती है। हमारी समझमें शासन व्यवस्थाके निमित्त स्वीकृत एक करोड़ अड़तीस लाख रुपयोंमेंसे करीब २५ लाखकी किफायत आसानीसे की जा सकती है।

(३) न्याय-विभाग।

न्याय विभागमें इस वर्ष ६७ लाख रुपये खर्च किये जानेका अनुमान लगाया गया है। इसमें हाईकोर्ट और जुडीशियल कमिश्नरीके न्यायाधीशों, सेशनजज, डिस्ट्रिक्ट-जज, सब-जज, मुंसिफ इत्यादिके वेतन और आफिस खर्च शामिल हैं। यदि प्रत्येक जिलेमें दो या तीन अवैतनिक मुंसिफ नियुक्त कर दिये जावें और प्रत्येक गांवमें पंचायतकी स्थापना कर उसे मामूली दीवानी और फौजदारी मुकदमें सुननेका अधिकार दे दिया जावे तो मुंसिफों और अन्य जजोंकी संख्या आसानीसे कम की जा सकती है। इस प्रकार इस विभागमें कमसे कम पांच लाख रुपयोंकी किफायत सहज ही हो सकती है।

(४) जेल-विभाग

जेल विभागमें इस वर्ष ३५ लाख रुपये खर्च करनेकी मंजूरी दी गयी है। इसमें इंस्पेक्टर जनरल और जेलरोंका वेतन तथा आफिस खर्च, कैदियोंके भोजन कपड़े इत्यादिका खर्च शामिल है। कैदियोंके भोजनके लिये ही १४ लाख ४२ हजार रुपये और कपड़े बिछौने इत्यादिके लिये १ लाख ६ हजार रुपये मंजूर किये गये हैं। जब तक बड़े बड़े अफसरोंके वेतन निर्धारित करनेका अधिकार व्यवस्थापक सभाको नहीं मिलता तब तक इस मदमें किफायतकी अधिक गुंजाइश नहीं है।

(५) पुलिस-विभाग।

पुलिस विभागके लिये जो १ करोड़ ७१ लाख रुपयोंका खर्च इस वर्षके लिये मंजूर किया गया है उसका ब्यौरा नीचे लिखे अनुसार है—

१ इंस्पेक्टर जनरल, डिप्टीइंस्पेक्टर जनरल इत्यादि बड़े अफसरोंका वेतन और आफिस खर्च	२ लाख ७० हजार रुपये

*अभी हालमें ही प्रांतीय सरकार द्वारा यह सूचित किया गया है कि इस प्रांतके मिनिस्टरोंने पहली जनवरीसे केवल चार हजार रुपया मासिक वेतन लेना स्वीकार कर लिया है। यह ठीक ही है। क्या अन्य अफसर गण भी इस तरफ ध्यान देंगे?—लेखक

२ खुफिया (सी. आइ. डी.) विभाग		३ लाख १४ हजार रुपये
३ जिला सुपरिंटेंडेंट, उनके मातहत अफसर, पुलिसके सिपाही इत्यादिका वेतन और आफिस खर्च	}	११२ ,, ५० ,, ,,
४ गांवोंकी पुलिस (चौकीदार इत्यादि)		२४ ,, ५० ,, ,,
५ रेलवे पुलिस		८ ,, २२ ,, ,,

उपर्युक्त सूचीसे मालूम होता है कि सरकारका सबसे अधिक खर्च जिला पुलिस-पर होता है। यदि जिलोंकी संख्या कम कर दी जाय तो जिला सुपरिंटेंडेण्ट और उनके मातहत अफसरोंकी संख्या कुछ कम हो जावेगी और उससे १०-१५ लाख रुपयोंकी किफायत आसानीसे हो सकेगी। सी. आइ. डी. विभागमें कुल आठ अफसर हैं जिनका मासिक वेतन २५० रुपयेसे ११५० रुपये तक है, ६७ इंस्पेक्टर हैं जिनका वेतन ७० रुपयेसे ३०० रुपये तक हैं, और ५९ कानेस्टबल हैं जिनका वेतन १३ रुपयेसे ३५ रुपये तक है। प्रांत भरमें पुलिस इंस्पेक्टरोंकी संख्या करीब २१५० है और सिपाहियों (कानेस्टबलों) की संख्या करीब ३३२०० है अर्थात् प्रति बीस हजार मनुष्योंके पीछे एक इंस्पेक्टर और १४ कानेस्टबल हैं। शीघ्र ही इस बातकी जांच होनी चाहिये कि इनकी संख्या कहां तक कम की जा सकती है। गाँवोंकी पुलिसके सम्बन्धमें किफायतकी गुंजाइश नहीं दिखती क्योंकि २४ लाख ५० हजार रुपयोंका अधिकांश भाग ७१२०१ ग्राम चौकीदारोंके वेतनपर खर्च किया जाता है। इन चौकीदारोंका मासिक वेतन २ रुपयेसे ९ रुपये तक होनेके कारण हमारी समझमें इनकी संख्या इतनी कम नहीं की जा सकती जिससे ४ या ५ लाख रुपयोंकी बचत हो सके।

(६) मालगुजारी।

इस विभागमें प्रतिवर्ष करीब ७८ लाख रुपये खर्च किये जाते हैं और मालगुजारी करीब ७ करोड़ रुपये वसूल की जाती है। वसूल करनेका यह १० प्रति सैकड़ासे ज्यादा खर्च कुछ अधिक मालूम होता है। करीब ५१ लाख रुपया तो २९४३० पटवारियोंके वेतनमें चला जाता है और करीब १० लाख रुपया १५०० कानूनगो और इंस्पेक्टरोंके वेतनमें खर्च होता है। पटवारियोंका मासिक वेतन ११ रुपयेसे २६ रुपये तक है और कानूनगो, तथा इंस्पेक्टरोंका वेतन २० रुपयेसे १९५ रुपये तक है। इस बातकी जांच होनी चाहिये कि पटवारियों और कानूनगो लोगोंकी संख्या कहांतक घट सकती है।

(७) शिक्षा।

शिक्षा विभागपर इसवर्ष केवल १४१ लाख रुपये खर्च करनेकी मंजूरी दी गयी है। खर्चका ब्योरा नीचे लिखे अनुसार है।

१ विश्वविद्यालय और कालेज	२८ लाख ४३ हजार रुपये
२ सेकंडरी हाइस्कूल	४० ,, ६४ ,, ,,
३ प्रारंभिक शिक्षा	५० ,, ४० ,, ,,

४ अन्य खास खास स्कूल ४ लाख ७१ हजार रुपये

५ डायरेक्टर, इंस्पेक्टर, इत्यादिका वेतन और आफिस खर्च १४ ,, २५ ,, ,,

६ स्कालरशिप (छात्रवृत्ति) इत्यादि २ ,, ५५ ,, ,,

प्रारंभिक शालाओंपर युक्त प्रांतकी सरकार द्वारा जो ५० लाख ४० हजार रुपये खर्च करनेकी मंजूरी दी गयी है उसमेंसे ४६ लाख तो म्युनिसिपलटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डोंको शिक्षा प्रचारके लिये ग्रेगट अर्थात् आर्थिक सहायताके रूपमें दिया जायगा। इतने रुपयोंसे ये संस्थाएं प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क करनेमें समर्थ नहीं हैं। प्रांतीय सरकारने यह वचन दिया है कि जो म्युनिसिपलटी अपनी हदमें प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क करना चाहे उसका शिक्षा सम्बन्धी दो तिहाई खर्च सरकार द्वारा दिया जायगा। परन्तु म्युनिसिपलटियोंकी आमदनीके जरिये इतने परिमित हैं और उनको इतने कामोंकी तरफ ध्यान देना पड़ता है कि शिक्षा सम्बन्धी एक तिहाई खर्चके लिये भी जिम्मेदारी लेना कभी कभी उनके लिये कठिन हो जाता है। यही कारण है कि युक्त प्रांतकी बहुत ही कम म्युनिसिपलटियोंने अपनी हदमें प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क करनेका प्रबन्ध किया है। डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंकी हालत तो और भी खराब हैं। ग्रामोंमें शिक्षा-प्रचारकी तरफ बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। जहां तक मुझे मालूम है युक्त प्रांतके एक भी ग्राममें अभी शिक्षा अनिवार्य नहीं की गयी है, और यदि यह महत्त्वपूर्ण काम डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंपर ही छोड़ दिया जाय तो बड़ोदाके बराबर शिक्षा-प्रचार करनेमें सैकड़ों वर्ष लग जावेंगे। इसलिये प्रांतीय सरकारको यह काम शीघ्र ही अपने हाथोंमें ले लेना चाहिये और ग्रामोंमें शिक्षा अनिवार्य किये जानेका शीघ्र प्रबन्ध करना चाहिये। बिना शिक्षा-प्रचारके देशकी उन्नति नहीं हो सकती। बड़ोदा राज्यकी मनुष्य-संख्या २० लाख ३० हजार है और वहांपर प्रारंभिक शिक्षाके लिये सरकार द्वारा १२ लाख रुपये खर्च किये जाते हैं। युक्त प्रांतकी मनुष्य-संख्या करीब ४ करोड़ ८० लाख है। इसलिये यदि इस प्रांतकी सरकार प्रारंभिक शिक्षापर उतना खर्च करे जितना बड़ोदा सरकार करती है तो उसे प्रतिवर्ष २ करोड़ ७० लाख रुपये खर्च करना होगा। परन्तु इस वर्ष मंजूरी केवल ५० लाख ४० हजार रुपयोंकी ही दी गयी है। जब सरकार इस कामके लिये पांचगुना रुपया अधिक खर्च करेगी तब कहीं बड़ोदाके समान यहांभी प्रारंभिक शिक्षा सर्वत्र अनिवार्य और निःशुल्क हो सकेगी। हमारी समझमें सबसे उत्तम तरीका तो यह है कि सरकार प्रत्येक डिस्ट्रिक्ट बोर्डको जिलेकी मालगुजारी (भूमिकर, लैगड रेविन्यू) का तीसरा भाग शिक्षा-प्रचार और अन्य कार्योंके लिये दे दिया करे। इन रुपयोंसे वे अनायास ही अपने जिलोंमें शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क कर सकेंगे। डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंको भी शिक्षा-प्रचारकी तरफ उचित ध्यान देना चाहिये। गत कुछ वर्षोंमें सरकार द्वारा इनको शालाएं इत्यादि बनानेके लिये आर्थिक सहायताके रूपमें जो रकमें दी गयी थीं उनमेंसे १६ लाख रुपयोंका उन्होंने अपनी असावधानीके कारण उपयोग ही नहीं किया, इसलिये यह रकम उनसे वापस ले ली गयी। आशा है नवीन

कानूनके अनुसार चुने हुए डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंके सदस्य ग्रामोंमें शिक्षा-प्रचारकी तरफ उचित ध्यान देंगे। जब तक सब विभागोंके बड़े बड़े अफसरोंका वेतन देशकी आर्थिक दशाके अनुसार कम नहीं किया जाता तब तक प्रोफेसर, डायरेक्टर, इंस्पेक्टर इत्यादिके वेतन खर्चेमें कमी होनेकी बहुत कम आशा है। इनकी संख्या कम किये जानेकी संभावना कम है।

(८) चिकित्सा और स्वास्थ्य-रक्षा।

चिकित्सा-विभाग और स्वास्थ्यके लिये भी केवल ४१ लाख रुपये खर्च किये जानेकी मंजूरी दी गयी है। गावोंकी और शहरोंकी दशाके देखते यह खर्च बहुत ही कम है। चिकित्सा-विभागपर अधिक खर्च किये जानेकी सिफारिश करनेसे हमारा यह मतलब नहीं है कि सिर्फ डाक्टर लोग ही अधिक संख्यामें नियुक्त किये जायँ और अस्पतालोंकी संख्या बढ़ायी जाय परन्तु हमारी समझमें गरीब मनुष्योंको मुफ्त दवाई देनेके लिये यदि काफी औषधालय खोले जावें और इस कामके लिये वैद्य और हकीमोंकी नियुक्ति की जाय तो जनताको अधिक लाभ हो। स्वास्थ्यरक्षापर आजकल उचित ध्यान नहीं दिया जाता।

(९) कृषि।

कृषि-विभागके निमित्त केवल २८ लाख रुपये खर्च करनेकी मंजूरी दी गयी है। इस विभागमें पशु-चिकित्सा-विभाग और सहयोग-विभाग भी शामिल हैं। जिन किसानोंसे करीब ७ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष प्रांतीय सरकार द्वारा मालगुजारीके रूपमें वसूल किया जाता है उनके भलेके लिये जो विभाग खोले गये हैं उनपर केवल २८ लाख रुपये ही खर्च किये जावें, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। पशुचिकित्सा-विभागपर चार लाख और सहयोग-विभागपर दो लाख रुपये खर्च कर प्रांतीय सरकार अपने कामोंसे सन्तुष्ट हो जाती है। पशुचिकित्सा-विभागको स्थापित हुए कई वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु अभी भी कई गाँवोंमें पशुओंकी चिकित्साका ठीक प्रबन्ध नहीं है। सहयोग-विभागको भी अधिक बढ़ानेकी बहुत आवश्यकता है। कृषि-विभागके प्रयत्नोंपर ही देशकी व खासकर किसानों-की उन्नति बहुत कुछ निर्भर है। देशमें प्रतिवर्ष अनाजकी भयंकर कमी रहती है। यदि कृषि-विभागके अफसर गाँवोंमें जा जाकर किसानोंको अपनी देखरेखमें अपने खेतोंमें नये तरीकोंसे खेती करनेको उत्साहित करें और हर प्रकारसे सहायता देवें तो देशमें अनाज-की उपज शीघ्र ही दूनी हो सकती है। परन्तु इस कामके लिये कृषि-विभागमें कई देश-हितैषी और अनुभवी अफसरोंकी नियुक्ति करनी होगी। इन सबके लिये अधिक रुपयोंकी आवश्यकता पड़ेगी इसलिये हमारी समझमें कृषि-विभागपर खर्च शीघ्र ही ५० लाख रुपये तक बढ़ा देना चाहिये।

(१०) उद्योग-धंधे।

उद्योग-धन्धोंको उचित प्रोत्साहन देनेके लिये अधिक खर्च किया जाना आवश्यक है। इतने बड़े प्रांतके लिये इस विभागपर केवल ६ लाखका खर्च होता है यह बहुत ही

कम है ! इस विभागपर कमसे कम २० लाख रुपये खर्च किये जानेका प्रबन्ध शीघ्र ही किया जाना चाहिये ।

(११) जंगल-विभाग ।

जंगल-विभागका इस वर्षका कुल खर्च ७७ लाख है और आमदनी एक करोड़ १५ लाख है, अर्थात इस विभागसे प्रांतीय सरकारको करीब ३८ लाख रुपयोंका लाभ हुआ है । अब इस बातकी जांच की जानेकी आवश्यकता है कि बिना अधिक खर्चके बढ़ाये जंगल-विभागसे और अधिक आमदनी किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ।

(१२) सड़कें, इमारतें और पब्लिक वर्क्स विभाग

सड़कें, इमारतें और पब्लिक वर्क्स विभागपर करीब १ करोड़ २० लाख रुपया खर्च किये जानेकी मंजूरी दी गयी है । खर्चका ब्योरा नीचे लिखे अनुसार है—

१. नयी इमारतोंका खर्च	१६	लाख	६६	हजार	रुपये
२. इमारतोंकी दुरुस्तीका खर्च	६	,,	४६	,,	,,
३. नयी सड़कोंपर खर्च	४	,,	५७	,,	,,
४. पुरानी सड़कोंकी दुरुस्तीका खर्च	२६	,,	६०	,,	,,
५. अफसरोंका वेतन और आफिस खर्च	१६	,,	२७	,,	,,
६. औजार इत्यादि खरीदनेका खर्च	१	,,	२०	,,	,,

यह अक्सर कहा जाता है कि पब्लिक वर्क्स विभाग द्वारा जो इमारतें या सड़कें बनायी जाती हैं या दुरुस्त की जाती हैं उनकी असल कीमत उतनी नहीं रहती है जितनाकि उनपर खर्च किया जाता है । इस बातकी जांच की जानी बहुत आवश्यक है कि ये काम कम खर्चसे और अधिक ईमानदारीके साथ कैसे किये जा सकते हैं । संभव है कि इन कामोंके करवानेका कोई ऐसा तरीका निकाला जा सके जिससे प्रांतीय सरकारको इस मदमें करीब २५ लाखकी बचत हो । यह रुपया डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंको उन नयी सड़कोंको बनवानेके लिये दिया जाया करे जो कि धनके अभावके कारण अभी नहीं बनायी जा सकती हैं । अच्छी सड़कोंके अभाव अथवा कमीके कारण ग्राम-निवासियोंको बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है और इससे अंतर्देशीय व्यापारमें भी बड़ी असुविधा पड़ती है । सड़कोंकी कमी दूर किये जानेका प्रबन्ध शीघ्र ही होना चाहिये ।

(१३) आबपाशी

आबपाशी विभागके लिये इस वर्ष असलमें १ करोड़ ९२ लाख रुपये खर्च किये जानेकी मंजूरी दी गयी है परन्तु १६० पृष्ठपर दी गयी सूचीमें १ करोड़ ३७ लाखका ही उल्लेख है । कारण यह है कि इसमेंसे ५५ लाख रुपयेकी रकम जो पुरानी नहरोंका काम चालू रखनेके लिये खर्च होगी इसमें शामिल नहीं है । यह रकम इन नहरोंकी संपूर्ण आमदनी १ करोड़ ४५ लाखसे खर्चकी जायगी, अतः आबपाशी विभागकी आमदनी सिर्फ ९० लाख बतलायी गयी है । इस प्रकार ५५ लाखकी यह रकम खर्चके हिसाबमें न बतलायी

जानेके कारण प्रथम सूचीमें आबपाशी विभागकी मदमें खर्च केवल १ करोड़ ३७ लाख रुपये बतलाया गया है। खर्चका ब्योरा नीचे लिखे अनुसार है—

१. पुरानी नहरोंके चालू रखनेका खर्च	५५ लाख रुपये
२. नहरोंपर जो पूंजी लगी है उसका ब्याज	४८ ,, ,,
३. नयी नहरोंपर खर्च	८६ ,, ,,
योग	१६२ लाख रुपये

यह खुशीकी बात है कि प्रांतीय सरकारने इस मदपर इतने रुपये खर्च करनेका प्रबन्ध किया है। नहरोंके बननेसे किसानोंको और देशको बड़ा लाभ होता है। देशकी उपजकी बढ़ती होती है और सरकारको भी लाभ होता है। गतवर्षमें (अर्थात् संवत १९७८ में) प्रांतीय सरकारको पुरानी नहरोंसे, सब प्रकारका खर्च और पूंजीका ब्याज निकाल कर, करीब ४८ लाख रुपयोंका नफा हुआ। नयी नहरोंपर जो ८६ लाख रुपये खर्च किये जायंगे उसमेसे ८० लाख रुपये तो कर्ज लेकर खर्च किये जावेंगे। बाकीके केवल दो लाख रुपये आमदनीसे खर्च होंगे। असलमें चाहिये तो यह था कि गतवर्षमें इस विभागसे जो ४८ लाख रुपयोंका नफा हुआ था वह सब नयी नहरोंके बनानेमें खर्च कर दिया जाता। फिर भी सरकारका नहरें बढ़ानेका प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है।

(१४-२१) अन्य सब खर्च और कर्ज।

आबकारी, रजिस्टरी, स्टांप इत्यादि विभागोंमें, स्टेशनरी और छापेखानेमें, करेंसी और विनिमयमें तथा अन्य साधारण विभागोंके निमित्त जो ४० लाख रुपये खर्च करनेकी मंजूरी दी गयी है उसमें भी कुछ किफायतकी गुंजाइश है, परन्तु लेखके अधिक बढ़ जानेके कारण हम यहां इन विषयोंपर विचार नहीं करते। प्रांतीय ऋणके ब्याज, अकाल-रक्षक मद और पेंशनकी मदोंपर जो १ करोड़ २० लाख रुपये खर्च करनेकी मंजूरी दी गयी है उसमें कमी नहीं की जा सकती। कंटिंजेंसी फण्ड (आकस्मिक व्यय कोष) के लिये दो लाख रुपये इसलिये मंजुर किये गये हैं कि कोई असाधारण बातपर यदि कुछ खर्च करनेकी आवश्यकता पड़े तो इस मदसे खर्च किया जाय। ८८ लाख रुपये कर्ज दिये जानेका जो प्रबन्ध किया गया है उसमेंसे २५ लाख रुपये तो भारत सरकारको प्रांतीय आबपाशी सम्बन्धी कर्जकी इस वर्षकी किश्त अदा करनेकी गरज़से दिया जावेगा और ६३ लाख रुपये स्थानीय संस्थाओं और किसानोंको कर्ज दिये जानेके लिये अलग रखा गया है।

पाठक अब यह अच्छी तरह समझ गये हैं कि प्रांतीय सरकार भिन्न भिन्न मदों-पर कितना और किस प्रकारसे रुपया खर्च करती है, किफायत करनेकी कहां तक गुंजाइश है और किन किन विभागोंपर अधिक रुपये खर्च करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। यदि हो सका तो अन्य किसी अवसरपर हम यह बतलानेका प्रयत्न करेंगे कि प्रांतीय सरकारकी आमदनीके कौन कौनसे जरिये हैं और उनसे उसको कितने रुपये प्रतिवर्ष प्राप्त होते हैं।

दयाशंकर दुबे

स्वास्थ्यका आर्थिक महत्त्व।

प्रायः सभी मनुष्य अपने चारों ओर प्रति दिन ऐसी घटनाएँ देखा करते हैं जिनसे स्वास्थ्यका महत्त्व प्रकट होता है, किन्तु इनमेंसे बहुत कम ऐसे होंगे जो अपने स्वास्थ्यकी रक्षाका खयाल रखते हों। मनुष्यके स्वभावमें ऐसी कुछ लापरवाही देखनेमें आती है कि वह तब तक अपने स्वास्थ्यकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता जब तक वह बिगड़ नहीं जाता। संसारमें स्वास्थ्य उन दो-चार बहुमूल्य वस्तुओंमेंसे है जिनके महत्त्वका वास्तविक अनुभव उनके खो जानेपर ही होता है। जब तक हमारी तबियत दुरुस्त रहती है हमें इस बातका बहुत कम खयाल रहता है कि हम क्या खा रहे हैं और कितना खा रहे हैं, कितना काम करते हैं और कितना विश्राम लेते हैं, एवं किस प्रकार स्वस्थ शरीरकी मस्तीमें भूलकर असंयत जीवन व्यतीत करते हुए प्रकृतिके साधारण नियमोंतकका उल्लंघन कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें यदि हम अपने कियेका दण्ड पाकर शय्या-ग्रस्त हो जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? आश्चर्य तो तब हो जब इतना ऊधम मचाकर भी हम स्वस्थ बने रहें, इतना गुरुतर अपराध करनेपर भी दण्ड पानेसे वञ्चित रह जायँ, किन्तु साधारणतया ऐसा होता नहीं है। यदि एकाध बार कोई मनुष्य समुचित दण्ड पानेसे बच भी जाय तो वह दूसरी या तीसरी बार अवश्य ही अपने कियेका फल पा जाता है। उसी समय उसे अपने अपराधका ज्ञान होता है और उसी समय स्वास्थ्यका ठीक ठीक महत्त्व भी उसकी समझमें आ जाता है।

अंग्रेजीमें एक कहावत है "हेल्थ इज़ वेल्थ" अर्थात् 'स्वास्थ्य (ही) सम्पत्ति है'। इन तीन शब्दोंमें स्वास्थ्यका आर्थिक महत्त्व बड़ी चतुरतापूर्वक प्रकट कर दिया गया है। जो मनुष्य स्वस्थ रहता है वह अपना काम नियमित रूपसे एवं सरलता पूर्वक कर सकता है। इस प्रकार अपने परिश्रम द्वारा वह काफी धन कमा सकता है। नीरोग मनुष्यमें कार्य करनेकी शक्ति एवं फुर्ती अधिक मात्रामें वर्त्तमान रहती है, अतः वह काम भी अधिक कर सकता है। ज्यादा दिन कामपर उपस्थित रह सकनेके कारण एवं अनवरत अभ्यास होते रहनेसे उसका काम भी साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। अतः वह औरोंकी अपेक्षा अधिक धन कमा सकता है। उसे अपने अस्वस्थ भाइयोंकी तरह रोगोंके उपचारके निमित्त बारम्बार द्रव्य खर्च नहीं करना पड़ता। वह इस रुपयेको अन्य उपयोगी कामोंमें लगा सकता है, उदाहरणार्थ वह अपने कुटुम्बका प्रतिपालन अधिक सुगमतासे कर सकता है, शीतसे अपने बच्चोंकी रक्षा करनेके निमित्त वस्त्रोंका तथा उनकी निष्कण्टक वृद्धिके लिये आवश्यक दूध या अन्य साधारण पुष्टिकारक पदार्थोंका प्रबन्ध कर सकता है। यदि वह चाहे तो अपनी बचतका कुछ अंश अपने मित्रों या अन्य असहाय व्यक्तियोंकी सहायतामें भी लगा सकता है।

स्वस्थ और नीरोग मनुष्यके मुखपर जो उज्ज्वल कान्ति—प्रसन्नताकी जो अपूर्व झलक—दृष्टिगोचर होती है वह अन्योंपर भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। विषूचिकादि रोगोंकी तरह मानों स्वास्थ्य-जनित प्रसन्नता भी किसी अंशतक संक्रामक होती है। उसे देखकर साथमें काम करने वालोंके हृदयमें भी प्रसन्नताका आविर्भाव होता है, उनका भी उत्साह बढ़ता है और वे भी एकाग्र चित्तसे अपना काम करनेमें विशेष आनन्दका अनुभव करने लगते हैं। साथही स्वास्थ्यका जीता-जागता आदर्श देखकर उनके हृदयमें भी अपने स्वास्थ्यकी उन्नति करनेकी अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त कारखाने या संस्थाके मालिकपर भी स्वस्थ और प्रसन्नचित्त मनुष्यका प्रभाव पड़ता है। ऐसे मनुष्यपर दृष्टि पड़ते ही उसकी तबियत भर जाती है और उसके हृदयमें उक्त मनुष्यके प्रति अनुकूल भावना उत्पन्न हो जाती है।

ऊपर हमने जो बातें व्यक्तियोंके स्वास्थ्यके सम्बन्धमें कही हैं वे ही बातें व्यक्ति-समूहों या समस्त जनताके विषयमें भी घटित होती हैं। आर्थिक दृष्टिसे भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके लिये स्वास्थ्यका जो महत्त्व है, वही—प्रत्युत उससे भी बढ़कर—महत्त्व व्यक्ति-समूहों या समस्त जन-समुदायके लिये भी है। प्रत्येक राष्ट्रका अस्तित्व उसकी उत्पादन-शक्तिपर निर्भर है और देशकी उत्पादनशक्ति किसी सीमातक उसके निवासियोंकी तन्दुरुस्तीपर अवलम्बित है। जिस देशके निवासियोंका स्वास्थ्य जितना ही अच्छा होगा उस देशकी उत्पादनशक्ति भी, साधारणतया, अन्य देशोंकी अपेक्षा उतनी ही अधिक होगी। इस प्रकार आर्थिक उन्नतिकी दृष्टिसे जनताके स्वास्थ्यको राष्ट्रकी बड़ी भारी सम्पत्ति समझना चाहिये।

राष्ट्रकी रक्षा केवल सरकारके खजानेसे नहीं हो सकती। बड़े से बड़े खजानेमें भी आखिर कितनी सम्पत्ति होगी? फिर, खजानेकी रकम भी तो जनतासे ही वसूल की जाती है। जिस देशकी जनताका स्वास्थ्य सन्तोषजनक नहीं होता उस देशकी राष्ट्रीय आमदनी उस अनुपातमें नहीं बढ़ती जिस अनुपातमें उसे बढ़ना चाहिये। ऐसे देशके निवासियोंकी कर इत्यादि देनेकी क्षमता तो घट ही जाती है, साथ ही वे अपनी आमदनीमेंसे इतनी रकम भी नहीं बचा सकते जो वक्तपर काम आवे। ऐसी हालतमें एक ओर तो सरकारी कोषकी आमदनी गिरने लगती है और दूसरी ओर जनताके पास भी अपनी रक्षाके तथा दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके साधनोंकी संख्या और शक्ति घटने लगती है। अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रकी रक्षा और परवरिश सरकारी खजानेपर अवलम्बित न रहकर प्रधानतया उसके निवासियोंकी उत्पादन-शक्तिपर ही निर्भर है।

वर्त्तमान सभ्यताके कारण हमारी आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं। महात्मा गांधीके समान त्यागी आत्माओंका निर्वाह भलेही एक लुंगी तथा मुट्ठीभर अनाज या फलफूलसे हो जाय, पर देशके बहुसंख्यक संसारी जीवोंको इतनी वस्तुओंसे सन्तोष प्राप्त नहीं होता। उन्हें भोजनके लिये तरकारी, चटनी, मसाले इत्यादि भी चाहिये। साथ ही, पढ़नेके लिये पुस्तकें, मनोरंजनके लिये नाटक, सरकस इत्यादि एवं भ्रमणके लिये इक्के, बाइसिकल,

रेल तथा अन्य वाहनोंका भी होना आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्रको केवल वे ही वस्तुएँ तैयार करनी या जुटानी नहीं पड़तीं जिनसे उसकी प्रधान आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र इत्यादि—की पूर्त्ति हो जाय, प्रत्युत उसे पुस्तकालय, नाटक इत्यादि उन गौण आवश्यकताओंकी पूर्त्तिका भी प्रबन्ध करना पड़ता है जो सभ्यताकी वृद्धिके साथ उत्पन्न होती हैं। ज्यों ज्यों हमारी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं त्यों त्यों उनकी पूर्त्तिकी क्षमताका तथा सर्वसाधारणके स्वास्थ्यका प्रश्न अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता जाता है।

इधर युद्ध लालसा तथा सैनिक नीतिके कारण अनेक राष्ट्रोंका ऋणभार भी बहुत बढ़ गया है। उसे चुकाने तथा व्याज अदा करनेके निमित्त भी द्रव्य पैदा करना होगा। साथ ही युद्धमें आहत होनेके कारण जो लोग निराश्रय या जीविकाहीन हो गये हैं उनकी परवरिशका भार भी राष्ट्रपर आ पड़ा है। इसके लिये भी रुपयेकी आवश्यकता है। किन्तु राष्ट्रोंकी हालत यह हो रही है कि एक ओर तो बेकारी फैल रही है और दूसरी ओर परिश्रम करनेपर भी जो आमदनी होती है उससे प्रतिदिनकी आवश्यकताओंका ही खर्च ठीक रूपसे नहीं चलता। ऐसी अवस्थामें राष्ट्रका ऋण कैसे अदा किया जा सकता है और कैसे निराश्रय और अपाहिजोंका परिपालन ही हो सकता है? इस समय तो लोगोंको पूर्ण स्वस्थ रहकर असाधारण परिश्रम और स्थिर चित्तसे अपनी अपनी योग्यताके अनुसार विविध कार्योंमें लग जानेकी आवश्यकता है। इस प्रकारकी आर्थिक विपत्तिसे छुटकारा पाना स्वस्थ जातिके लिये जितना सरल और सुसाध्य है, उतना अस्वस्थ रहनेवाली जातिके लिये नहीं है। हमें यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिये कि रोगी और अशक्त रहकर हम राष्ट्रके लिये बड़े भारी आर्थिक संकटका आवाहन करते हैं। किसी भी देशमें केवल अपने ही सुखके लिये स्वास्थ्यकी कामना करने वाले मनुष्योंकी कमी नहीं है, किन्तु समाजके अस्तित्व और उसकी भलाईके खयालसे भी स्वास्थ्य-रक्षाका प्रयत्न करने वालोंकी संख्या अवश्य बहुत थोड़ी है। जो मनुष्य ज्यादा खाकर या ऐसे पदार्थों-को खाकर जिन्हें अवस्थाविशेषमें न खाना चाहिये, अथवा जो मनुष्य रात्रिभर जागकर, तंग और गंदे मकानोंमें रहकर या बुरी आदतों और कुवासनाओंमें फँसकर अपना स्वास्थ्य बिगाड़ देता है, वह अपने लिये ही कष्ट उपस्थित नहीं करता, प्रत्युत समाजका भी अहित करता है। इस दृष्टिसे वह समाजका अपराधी है।

स्वास्थ्यको नष्ट करनेवाले कारण मोटे तौरसे दो भागोंमें बाँटे जा सकते हैं—तात्कालिक और स्थायी। भूखसे ज्यादा भोजन कर लेना, बासी, सड़ी अथवा कच्ची भोजन-सामग्रीका ग्रहण करना, रात भर जागना या हैसियतसे ज्यादा परिश्रम करना अथवा इसी तरहकी अन्य कोई ज्यादती एवं असावधानीको स्वास्थ्य बिगड़ जानेका तात्कालिक कारण समझना चाहिये। गन्दे मकानों या गन्दी परिस्थितिमें रहना, कुवासनाओंमें लिप्त रहना, व्यायाम न करना इत्यादि स्वास्थ्य-विनाशके स्थायी कारण हैं। स्थायी कारणोंका प्रभाव एक दो दिनोंमें नहीं प्रकट होता, प्रत्युत महीनों या सालोंमें प्रकट होता है। ये मनुष्यके स्वास्थ्य-

पर निरन्तर अपना प्रभाव डालते रहते हैं और थोड़ासा ही तात्कालिक कारण उपस्थित होनेपर स्वास्थ्य-विनाशमें सहायक होते हैं। यदि ये कारण उपस्थित न हों तो स्वास्थ्य-रक्षाके लिये जिन सामान्य नियमोंका अनुपालन आवश्यक है, एकाध बार उनका उल्लंघन भी कर डालनेसे मनुष्य स्वस्थ बना रह सकता है, अस्तु।

ऊपर स्वास्थ्य-विनाशके जिन कारणोंका उल्लेख किया गया है उनमेंसे अनेक कारण—विशेषकर तात्कालिक कारण—तो ऐसे हैं जिनसे अपनी रक्षा करना हमारे हाथमें है। किन्तु कुछ कारण—उदाहरणार्थ गन्दे मकानों या गन्दी गलियोंमें रहना—ऐसे भी हैं जिन्हें दूर करना हमारे हाथमें नहीं है, जिनसे पीछा छुड़ाना कुछ कठिन काम है। हां, इसका यह मतलब नहीं कि इस प्रकारके कारण दूर ही नहीं किये जा सकते। समाज तथा राज्यके प्रबन्धसे और किसी अंशमें व्यक्तियों द्वारा भी उनपर विजय प्राप्त की जा सकती है।

सर्व-साधारणके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे निम्न लिखित छः बातोंकी ओर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

१. लोगोंके रहनेके लिये उपयुक्त मकानोंका प्रबन्ध हो।
२. परिस्थिति अर्थात् मकानोंके आसपासकी भूमि भी साफ हो।
३. व्यायामकी सुविधाएँ प्राप्त हों।
४. पेटभर और यथासंभव पुष्टिकारक भोजन मिल सके, इस दृष्टिसे मजूरी या वेतन भी काफी दिया जाय।
५. उचित परिश्रमके पश्चात् उचित अवकाश या छुट्टीकी व्यवस्था हो।
६. चिकित्साका प्रबन्ध हो।

स्वास्थ्य-रक्षाके खयालसे मकानोंके सुधारकी ओर जितना अधिक ध्यान दिया जाय उतना ही थोड़ा है। एक तो मकान यों ही आवश्यकतासे कम हैं। दूसरे, लोग इतने दरिद्र हो गये हैं और जीवन-निर्वाहका व्यय इतना ज्यादा बढ़ गया है कि वे मकान बनवा भी नहीं सकते। जितने मकान हैं उनमेंसे भी अधिकांश ऐसे हैं जो अत्यन्त गन्दे और असुविधाजनक होनेके कारण मनुष्यमात्रके लिये अनुपयुक्त हैं। जब इंग्लैण्डके समान स्वाधीन, उन्नतिशील और धनसम्पन्न देशमें भी कमसे कम एक लाख अस्सी हजार मकान ऐसे हैं जो मनुष्योचित नहीं समझे जा सकते तो भारतमें इनकी संख्या न जाने कितनी ज्यादा होगी। 'नाइण्टीन्थ सेन्चुरी' के एक लेखकके कथनानुसार इंग्लैण्डमें अभी कोई आठ लाख घरोंकी कमी है। इंग्लैण्ड और भारतकी अवस्थामें आकाश-पातालका अन्तर है, साथ ही भारतका क्षेत्रफल तथा आबादी भी बहुत ज्यादा है। अतः यहां तो मकानोंकी आवश्यकता इंग्लैण्डकी अपेक्षा और भी अधिक समझनी चाहिये।

भारतके बहुसंख्यक मकानोंको तो मकान कहना ही भूल है। उनमें न काफी हवा और प्रकाशका ही प्रवेश होता है और न वर्षा, धूप, जाड़े इत्यादिमें रहने वालोंको पूरी पूरी सुविधा ही प्राप्त होती है। एक ही कमरेमें प्रायः रोटी बनाना-खाना, उठना-बैठना, सोना, इत्यादि सारे काम किये जाते हैं। उसीमें बिस्तर तथा भोजन इत्यादिका सामान भी रखना पड़ता है। यदि किसीकी तबियत खराब हुई तो उसे उसी एक कमरेमें

लेटना पड़ता है जिसमें उसकी स्त्री, बच्चे इत्यादि अपना काम करते रहते हैं। ऐसी अवस्थामें उसे शान्ति पानेकी गुंजाइश ही नहीं रहती। ऐसे मकानोंमें बच्चोंकी तो पूरी आफत हो जाती है। अनेक माताएँ उन्हें ज़मीनपर सुलाकर या जांघके सहारे पास ही लिटाकर चक्की पीसने लगती हैं या चावल इत्यादि कूटनेमें लग जाती हैं। ऐसी हालतमें बालकोंकी निद्रामें जो उनके स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है कितना विघ्न न पड़ता होगा? प्रकृतिकी प्रेरणाके कारण कहनेके लिये थोड़ी नींद लग जाना दूसरी बात है, किन्तु वास्तवमें इन्हें निर्विघ्न और गाढ़ी निद्रा वाञ्छित अंशमें प्राप्त नहीं हो सकती।

हमारे जीवनके साथ मकानोंका घनिष्ट सम्बन्ध है। बालकों तथा स्त्रियोंका अधिकांश समय घरमें ही बीतता है और हम लोगोंका भी लगभग आधा समय घरमें खर्च होता है। अतः यदि रहनेका स्थान वास्तवमें सुविधायुक्त हो तभी वह घरसा जान पड़ता है और उसकी स्मृति भी सुखप्रद होती है। किन्तु हमारे देशमें अच्छे घरकी सुखद स्मृतिका यह सौभाग्य विरले ही लोगोंको प्राप्त होता है। यहां अनेक मनुष्य तो विना घरके ही हैं, अनेक गन्दे, कच्चे, तथा मिट्टीकी दीवारोंके ऐसे घरोंमें रहते हैं जिनमें गर्मीमें भी सीड़ रहती है, वर्षाकी बात ही अलग है। बहुतेरे मनुष्योंको दूसरोंके साथ एक ही कमरेमें गुजारा करना पड़ता है और कुछ लोगोंको टूटे-फूटे मकानों या खंडहरोंमें ही अपने विश्रामका समय काटना पड़ता है।

मकानोंकी दुर्दशाके विविध चित्र शहरोंमें विशेषरूपसे दृष्टिगोचर होते हैं, खासकर ऐसे स्थानोंमें जहां व्यापार ज़ोरोंसे चलता हो या कोई कारखाना, पुतलीघर इत्यादि स्थापित हो। वहांपर मकानोंकी मांग ज्यादा बढ़ जानेके कारण किरायेकी दर भी चढ़ जाती है। साथ ही मकानोंकी संख्या प्रायः निश्चित होनेके कारण कभी कभी अधिक किराया देनेपर भी रहनेको स्थान नहीं मिलता। अतः एक एक कमरेमें दो दो चार चार मनुष्योंको एक साथ रहनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। कलकत्ता, बम्बई, नागपुर इत्यादिमें खासकर पुतलीघरोंके आस-पास ऐसे दृश्य अधिक स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होते हैं। यदि इन लोगोंसे पूछा जाय कि आप लोग इतनी तकलीफके साथ ऐसे स्थानोंमें क्यों रहते हैं, तो इस प्रश्नके कई उत्तर मिलेंगे—'यहांसे पुतली घर नजदीक पड़ता है', 'इससे अधिक अच्छा स्थान और नहीं मिलता, मिलता है तो उतना किराया हम नहीं दे सकते,' 'हम भोजन करनेके लिये घर आना चाहते हैं, इसके लिये इतना कम समय मिलता है कि हम दूर नहीं रह सकते, 'हम ट्राम, मोटर इत्यादिका किराया भी नहीं दे सकते, इस कारण निकट ही रहना ठीक समझते हैं,' 'यहां पासमें बाजार है, खाने पीनेकी चीजें सुभीतेसे मिल जाती हैं, इसलिये यहीं रहना ठीक समझा'। किसी किसीको कोई उपयुक्त कारण न सूझेगा तो वे केवल यही कह देंगे कि 'बस, हम यहां रहते हैं, इतना ही बता सकते हैं। क्यों रहते हैं, इसका और क्या कारण बतलावें।' मतलब यह कि किसी गन्दे स्थानमें या ऐसे स्थानमें जहां मकानोंकी बहुत कमी हो रहनेके लिये परिस्थिति विशेषमें मनुष्यको बाध्य भी होना पड़ता है। इसका सारा दोष उसके मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता।

अत्यन्त असुविधाजनक और तंग मकानोंमें भी रहकर कुछ मनुष्य बड़े धैर्यके साथ अपना निर्वाह करते हैं और जहां तक बनता है सफाईकी ओर भी दृष्टि रखते हैं। जिन 'चालों' या मकानोंकी पंक्तियोंमें, खासकर ऊपरके खण्डोंमें, पेशाब इत्यादिके लिये उपयुक्त स्थान नहीं रहता, बूँदभर पानीके लिये भी नीचे उतर कर जानेकी ज़रूरत होती है और जिनमें बीसों किरायेदारोंके निमित्त केवल एक ही पायखाना रहता है, वहां कितनी गन्दगी, और दुर्गन्धिका प्रसार न होता होगा? ऐसी परिस्थितिमें स्वास्थ्य बिगड़नेकी पूरी सामग्री मौजूद रहती है। कभी कभी इन स्थानोंमें भोजन बनाने या रखने तककी ठीक ठीक सुविधा नहीं रहती। लोगोंको बने बनाये भोजन, बासी चीजों, या अचार इत्यादिका प्रयोग अधिकतासे करना पड़ता है। ऐसा करनेसे पैसा तो ज्यादा खर्च होता ही है, साथ ही स्वास्थ्यको भी नुकसान पहुँचता है। इस प्रकारका भोजन उतना पुष्टिकारक भी नहीं होता जितना ताज़ा भोजन होता है। इन कठिनाइयोंके साथ साथ यदि स्वच्छ वायुके आने जानेका भी कोई सुभीता न हो तो ऐसी अवस्थामें स्वास्थ्यकी दशा कहां तक शोचनीय न होगी? फिर, इस तरह एक ही कमरेमें दो या अधिक मनुष्योंका रहना तो और भी रोग-वृद्धिका कारण होता है। एक शहरमें अनुसन्धान करनेसे पता लगा कि क्षयरोगसे पीड़ित ४८३ मनुष्योंमेंसे केवल ८६ ही ऐसे थे जो अलग कमरोंमें सोते थे। शेष मनुष्योंमेंसे अधिकांश एक ही कमरेमें ही नहीं, प्रत्युत एक ही बिस्तरपर सोते थे। इस प्रकार मकानोंकी तंगी या उनकी असुविधासे सर्व साधारणके स्वास्थ्यको बड़ी हानि पहुँचती है और उनकी आर्थिक उन्नतिमें रुकावट होती है।

मकानोंके आसपास भी सफाई न रहनेसे लोगोंके स्वास्थ्यपर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। मकानोंके पास कीच मचना, राख अथवा धूल इत्यादिका एकत्र होना, गन्दे पानीके गड़हों इत्यादिका होना मलेरिया ज्वर तथा अन्य रोगोंको उत्पन्न करता है। परिस्थितिकी स्वच्छताकी ओर मकानमें रहनेवालोंको तो ध्यान देना ही चाहिये साथ ही म्युनिसिपलटियोंको भी इस सम्बन्धमें विशेष सचेष्ट रहना चाहिये। म्युनिसिपलटीके कर्मचारियोंकी असावधानी, सुस्ती और गोलमालके कारण ही प्लेग, हैजा, मलेरिया इत्यादि रोगोंको इतना उत्पात मचाने और तबाही करनेका मौक़ा मिलता है। यदि म्युनिसिपल संस्थाओंका प्रबन्ध ठीक हो तो गन्दे स्थानों तथा गलियों आदिसे छुटकारा पाना असंभव नहीं है। इनके द्वारा मकानोंके सुधारोंकी भी व्यवस्था होनी चाहिये। जो मकान इतने खराब हों कि संस्कार द्वारा भी मनुष्यके रहने योग्य न बनाये जा सकें, उनको गिरा देना चाहिये और उनके स्थानपर या अन्यत्र उपयुक्त मकान बनवानेका प्रबन्ध करना चाहिये। इंग्लैण्ड इत्यादि देश इस सम्बन्धमें बहुत आगे बढ़े हुए हैं। भारतमें भी कई बड़े बड़े शहरोंमें "इम्प्रूव्हमेण्ट ट्रस्ट" नामक (नगरोंके सुधारकी) संस्थाएँ स्थापित हुई हैं, किन्तु इनके निमित्त जितना रुपया खर्च किया जाता है, प्रायः काम उतना सन्तोषजनक नहीं होता।

व्यायामकी सुविधाओंके न होनेसे भी जनताका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। शहरोंमें सवेरे शाम स्वच्छ वायु तकका सेवन करना प्रायः दुर्लभ होता है। लोग बहुधा दो

तीन मील शहरके बाहर जाना पसन्द नहीं करते । यदि पासमें कोई पार्क, बाग या अन्य खुली जगह हुई तो थोड़ी बहुत स्वच्छ हवा मिल भी जाती है, अन्यथा वह भी नसीब नहीं होती। व्यायामके लिये खुले स्थानों, बागों, इत्यादिका होना अत्यन्त आवश्यक है ।

श्रमजीवियोंको समुचित पारिश्रमिक मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है । कम मजदूरी या वेतन मिलनेके कारण हजारों, लाखों मनुष्य जीवनकी आवश्यक सामग्री तक नहीं जुटा सकते । बहुतोंको केवल एक ही बार अथवा रूखा-सूखा आधा भोजन ही नसीब होता है । जीवन-रक्षाके निमित्त एवं स्वास्थ्य ठीक रखनेके लिये जितना या जिस प्रकारका भोजन आवश्यक है, शीत तथा वायुसे बचनेके लिये जिन वस्त्रों या वस्तुओंकी ज़रूरत है, वे भी जिस पारिश्रमिक द्वारा नहीं खरीदी जा सकतीं वह समुचित नहीं समझा जा सकता । कम मजदूरीका मिलना यहांके श्रमजीवियोंके रुग्ण और अपेक्षाकृत कम कार्यक्षम होनेका प्रधान कारण है ।

पर्याप्त पारिश्रमिकके साथ ही लोगोंको पर्याप्त विश्रामका भी अवसर मिलना चाहिये। पश्चिमी देशोंमें दिनभरमें प्राय: आठ घण्टेसे अधिक किसीको काम नहीं करना पड़ता, किन्तु हमारे यहां तो १०,१२ घण्टे काम लेना बिलकुल मामूली बात समझी जाती है। उचित परिश्रमके पश्चात् उचित विश्रामका मिलना स्वास्थ्यरक्षाके निमित्त परमावश्यक है । अतः इस स्वाभाविक नियमके अनुसार ही काम करनेका समय निर्धारित होना चाहिये ।

जनताकी स्वास्थ्यरक्षाकी दृष्टिसे चिकित्साका भी यथेष्ट प्रबन्ध होना चाहिये । चिकित्साका सरलतापूर्वक एवं मुफ्त या अल्प दामोंमें न पाया जाना ही अनेक मनुष्योंकी अकाल मृत्युका कारण है । जो लोग किसी प्रकार साधारण उपचारों द्वारा या प्रकृतिकी कृपासे अच्छे भी हो जाते हैं वे एक तो प्राय: साधारणसे अधिक समयमें अच्छे होते हैं, दूसरे उचित उपचार न होनेके कारण फिर बीमार पड़ जाते हैं । अतः एक ओर तो देशके उत्पादकोंकी संख्या कम हो जाती है, दूसरी ओर जो बच जाते हैं उनके भी शीघ्र स्वस्थ न होनेसे उत्पत्ति घट जाती है । कार्यक्षमतापर भी लम्बी बीमारीका प्रभाव पड़ता है । अतः स्वास्थ्यरक्षाके निमित्त सर्वसाधारणकी चिकित्साका भी अच्छा प्रबन्ध होना चाहिये ।

इन सब बातोंके अतिरिक्त खाने-पीनेके सामान्य नियमोंका तथा शरीर और वस्त्रकी सफाईका पूरा ध्यान रखना चाहिये । प्रत्येक व्यक्तिके स्वास्थ्यके साथ राष्ट्रके अनेक सामाजिक और आर्थिक प्रश्नोंका निकट सम्बन्ध होनेके कारण उसकी रक्षामें सचेष्ट होना राष्ट्रकी सच्ची सेवा है । हमें स्वयं स्वस्थ रहनेका प्रयत्न तो करना ही चाहिये, साथ ही अपने बन्धु-बान्धवों तथा पड़ोसियोंका भी स्वास्थ्य ठीक रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये । राष्ट्रमें कितने बच्चे पैदा होते हैं, इससे अधिक महत्त्वका प्रश्न यह है कि जो बच्चे पैदा हों वे स्वस्थ और चिरजीवी हों । इस सम्बन्धमें प्रत्येक माता-पिताको अपने दायित्वका ज्ञान होना चाहिये । लड़कोंको भी ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये कि वे स्वस्थ शरीरका अभिमान करें, एवं मैलेपन, रोग और कमजोरीसे लज्जित हों । यदि साधारण व्यायाम और थोड़ी सी सावधानीसे ही काम लिया जाय तो स्वास्थ्यरक्षामें समर्थ होना कोई बड़ी बात नहीं है ।

कृषि, शिल्प और वाणिज्य।

भारतीय लकड़ी।

भारतवर्षमें जंगलोंका क्षेत्रफल कोई २ लाख ५१ हजार वर्गमील है अर्थात् समस्त देशके क्षेत्रफलका लगभग पंचमांश जंगलोंसे व्याप्त है। इन जंगलोंमें जितने प्रकारकी इमारती लकड़ी पायी जाती है, उतने प्रकारकी शायद ही किसी एक देशके जंगलोंमें मिलती हो। भारतीय जंगल विभागने अभी तक कोई ढाई हजार क़िस्मकी लकड़ियोंका वर्गीकरण किया है। इसके अतिरिक्त अभी अनेक प्रकारकी लकड़ियोंके नाम-गुणका निश्चय करना बाक़ी ही है। संसारमें अच्छीसे अच्छी और अत्यन्त उपयोगी लकड़ी यहांके जंगलों द्वारा उपलब्ध हो सकती है, फिर भी भारतीय लकड़ियोंके व्यापारकी शिथिलता देखकर आश्चर्य होता है। भारत यदि चाहे तो लकड़ीके सम्बन्धमें अपनी ही आवश्यकताओंकी नहीं, अन्य देशोंकी भी आवश्यकताओंके अधिकांशकी पूर्त्ति कर सकता है। किन्तु वास्तवमें वर्त्तमान अवस्था ठीक इसके विरुद्ध है। भारतको अपनी ज़रूरतोंके लिये भी दूसरे देशोंका मुँह ताकना पड़ता है। संवत् १९७५ में विदेशोंसे ३५,७३० टन (टन=२७$\frac{1}{4}$ मन) लकड़ी भारतमें आयी। संवत् १९७६ में इसकी मात्रा बढ़कर ६८,०३६ टन अर्थात् लगभग दूनी हो गयी। संवत् १९७७ में ६२,३८२ टन लकड़ी आयी। यद्यपि इन वर्षोंमें भारतसे भी बहुत सी लकड़ी दूसरे देशोंको गयी तो भी जंगलोंके विस्तारका ख़याल करते हुए यह अत्यन्त नगण्य है। यदि जंगलोंकी समुचित उन्नति की जाय और उनसे पूर्ण लाभ उठाया जाय तो हमें बाहरसे प्रायः कोई भी लकड़ी मँगानेकी आवश्यकता न रह जाय। उस समय विदेशोंको भी राशि राशि लकड़ी भेजी जा सकती है और इस व्यापारसे अच्छा लाभ उठाया जा सकता है।

'इण्डियन इण्डस्ट्रीज एण्ड पावर' नामक पत्रके मतानुसार भारतमें इमारती लकड़ीकी उत्पत्ति बढ़ानेमें प्रधान कठिनाई यहांके जंगलोंकी दुर्गमता है। साथ ही लकड़ीको उपयुक्त स्थान तक पहुँचानेकी असुविधाएँ भी इसमें बाधक हैं। नदियोंका प्रवाह अविच्छिन्न, शान्त और प्रचुर जलमय न होनेके कारण मामूली छोटी लकड़ियोंको भी कारखानों या रेलके स्टेशनों इत्यादिके समीप ले जानेमें बड़ी दिक्क़त उठानी पड़ती है। यदि किसी प्रकार यह कठिनाई दूर की जा सके तो अवश्य परिस्थिति सुधर सकती है। इस समय तो हमें दियासलाई तथा पेन्सिलके कारखानोंके लिये भी विदेशोंसे लकड़ी मँगानी पड़ती है। 'भारतके लिये यह शर्मकी बात है।'

—:०:—

संसारमें कच्चे पदार्थोंके निःशेष होनेकी संभावना।

भूमण्डलमें प्राप्त हो सकने वाले कच्चे पदार्थोंकी भी कोई निश्चित सीमा है।

सबसे प्रथम जिन कच्चे पदार्थोंके समाप्त होनेकी संभावना है वे ये हैं—लोहा, तांबा, जस्ता, टीन, सीसा (लेड), तथा खनिज ईंधन। खानमें निकलनेवाले जिन पदार्थोंसे ईंधनका काम लिया जाता है उनमें सबसे पहिले पेट्रोलियमके विलुप्त होनेकी संभावना है, अतः यंत्रों इत्यादिमें तथा रोशनी या शक्ति उत्पन्न करनेमें इसका प्रयोग कमसे कम कर दिया जाना चाहिये। इस उद्देश्यसे, समय रहते ही, यंत्रोंका संघर्ष रोकने वाले अन्य साधन ढूँढ़ लेने चाहिये और शक्ति उत्पन्न करने तथा रोशनीके लिये बिजली और अलकोहलका अधिकाधिक प्रयोग होना चाहिये।

संभवतः कोयला अभी एक हजार वर्ष तक प्राप्त हो सकेगा, किन्तु अधिक उत्पादक खानोंके समाप्त हो जाने पर उसका लागत-व्यय बढ़ जायगा और परिश्रम भी अधिक पड़ेगा। इस प्रकार उसकी प्रचुरता कम हो जायगी। अतः संभव है कि चिरकाल तक परिस्थितिमें ऐसा परिवर्त्तन होता रहे जिसके कारण मनुष्य जातिको ईंधन का, तथा गर्मी और रोशनी पैदा करनेवाले वर्त्तमान साधनोंका प्रयोग कम करनेके लिये नये उपायोंकी शरण लेनी पड़े। सीसा, जस्ता, तथा तांबा संभवतः बड़ी शीघ्रतासे दुष्प्राप्य और मँहगे हो जायँगे और लोगोंको उनके बदलेमें 'टिटैनियम' तथा 'बेरियम' नामक अल्प मात्रामें पायी जानेवाली धातुओंका प्रयोग करना पड़ेगा।...अन्तमें कदाचित् अलूमीनियम ही प्रधानतया तांबेका स्थान, विशेषकर विद्युत-वाहकके रूपमें, ग्रहण कर सके।

मूल्यवान् धातुओंमें सोनेकी अपेक्षा चांदीके अधिक शीघ्र दुष्प्राप्य होनेकी संभावना है, क्योंकि एक तो कलाओंमें चांदीका अधिक विस्तृत प्रयोग होता है, दूसरे चांदीकी अपेक्षा सोनेकी खानोंकी संचित राशि, जहां तक विदित हुआ है, ज्यादा बड़ी है। वर्त्तमान समयमें या निकट भविष्यमें प्लैटिनम धातु जितनी मात्रामें प्राप्त हो सकती है, उसकी अपेक्षा मांग ज्यादा है, अतः उसके मूल्यकी वृद्धि संभवतः भविष्यमें भी जारी रहेगी।...

भविष्यमें अलूमीनियमके विशेष प्रचारकी संभावना है। यह धातु अधिक व्यापक रूपसे और अधिक मात्रामें चारों ओर फैली हुई पायी जाती है। जब तक भूमण्डलमें मनुष्य जातिका निवास है तब तक इसकी कमी होनेकी कोई संभावना प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त चीनीमिट्टी तथा कांचकी वस्तुएँ तैयार करनेमें जिन कच्चे पदार्थोंकी आवश्यकता पड़ती है उनकी भी कमी नहीं हो सकती, क्योंकि भूतलके ऊपरी हिस्सेका ६० प्रति शत अंश इन्हींसे व्याप्त है।

['दि लिविंग एज' से]

—:०:—

पशुओंकी संख्यामें कमी

कृषिकी उन्नतिके साथ पशुओंकी वृद्धिका प्रश्न विशेषरूपसे सम्बद्ध है। यदि किसी देशमें पशुओंकी संख्या कम हो या उनकी दशा सन्तोषजनक न हो तो वहांकी कृषिकी अवस्था भी पूर्णरूपसे सन्तोषजनक नहीं हो सकती। भारतके समान देशमें तो, जहां लगभग ७२ फी सदी मनुष्य कृषिसे ही अपना पेट पालते हैं, पशुओंकी संख्याका

कम होना बड़ी भारी विपत्तिका कारण हो सकता है। पशुओंके सम्बन्धमें भारत सरकार-के गणना-विभाग द्वारा जो अंक अभी हालमें प्रकाशित हुए हैं उनसे प्रकट होता है कि जहां संवत् १९७१ में भारतमें पशुओंकी संख्या १४°७ करोड़ थी, वहां संवत् १९७६ में वह केवल १४·५ करोड़ ही रह गयी अर्थात् इन पांच वर्षोंमें बीस लाख पशु कम हो गये। पशुओंकी संख्यामें वृद्धि न होकर घटीका होना इस बातका सूचक है कि उनकी रक्षाके साधनों और जीवनधारणकी सुविधाओंमें विशेष त्रुटि हो रही है। चरागाहोंकी कमी एवं रोगोंकी वृद्धि ही संभवतः पशुओंकी उन्नतिकी प्रधान बाधाएँ हैं। यही समझकर कलकत्ते-की मारवाड़ी संस्थाने सरकारसे चरागाहोंकी भूमिका क्षेत्र बढ़ानेके निमित्त अनुरोध किया है। संस्थाने अंकों द्वारा यह दिखलानेकी चेष्टा की है कि जहां डेनमार्कमें सौ मनुष्योंके पीछे पशुओंकी संख्या ७४, संयुक्त राज्य अमेरिकामें ७९, कनैडामें ८०, केप कालोनीमें १२०, न्यूजीलैण्डमें १५० तथा आस्ट्रेलियामें २५० है, वहां भारतमें सिर्फ ५९ ही है। इन देशोंमेंसे कोई भी देश औद्योगिक उन्नतिमें भारतके समान पिछड़ा हुआ नहीं है और न कृषि किसीका एकमात्र प्रधान अवलम्बन ही है। साथ ही मांसोपजीवी होनेके कारण वहांके निवासियोंको शरीरकी पुष्टिके लिये घी दूधकी भी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी हमें है। इस दृष्टिसे उक्त देशोंकी तुलनामें भारतके पशुओंका जो अनुपात ऊपर दिया गया है, वह और भी कम समझा जाना चाहिये। पशुओंकी उन्नतिकी ओर देशवासियोंका तथा राज्यका ध्यान जितना शीघ्र आकृष्ट हो सके उतना ही अच्छा होगा।

—:०:—

भारतमें लाखका व्यापार।

गत मासमें श्री निरञ्जन सिंह बी. एस-सी. ने जो पूसाके कृषि-विद्यालयमें खोजका काम कर चुके हैं, अमृतसरमें इस विषयपर भाषण करते हुए भारतीय लाखके व्यवसायका महाभारत-काल तकका इतिहास बतलाया। आपकी रायमें भारतके समान कृषिप्रधान देशके लिये यह उद्योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केवल कलकत्तेके मार्गसे ही कोई छः लाख मन चपड़ा प्रतिवर्ष विदेशोंको जाया करता है। यह तीन करोड़ रुपयोंसे भी अधिक मूल्यका होता है। लाखके व्यापारमें भारतका कोई ऐसा प्रतियोगी भी नहीं है जिससे किसी प्रकारका भय हो। जापानियों तथा जर्मनीवालोंने अपने अपने देशोंमें लाखकी उत्पत्तिका प्रयत्न अवश्य किया था, किन्तु वह सफल न हुआ।

लाख या चपड़ेका उपयोग सोनेके आभूषणोंमें भरनेके लिये, मोहर लगानेके लिये, तथा चूड़ियां, खिलौने, ग्रामोफोनके रेकार्ड, वार्निश, लिथोग्राफकी रोशनाई इत्यादि तैयार करनेमें होता है। युद्धकालमें जिन भिन्न भिन्न कामोंमें इसका प्रयोग हुआ था, उनके कारण इसका महत्त्व पहिलेसे भी अधिक बढ़ गया है। हर्षकी बात है कि इसी खयालसे अब लाखकी उत्पत्ति वैज्ञानिक तरीकोंसे करनेका भी प्रयत्न हो रहा है और सरकार इसके निमित्त रांचीमें कुछ प्रयोगशालाएँ भी स्थापित कर रही है।

सामयिक संग्रह ।

वैज्ञानिक वाणिज्य-नीति ।

हमारे देशमें संरक्षणात्मक वाणिज्य-नीतिका अनुसरण किये जानेका प्रधान विरोध इंग्लैण्डकी ही ओरसे होता है, किन्तु युद्धजात परिस्थितिके कारण स्वतंत्र-वाणिज्य-नीतिके कट्टर पक्षपाती इंग्लैण्डको भी किसी न किसी रूपमें व्यापारिक 'संरक्षण'का सहारा लेना पड़ा है। 'सेफ गार्डिंग आफ इण्डस्ट्रीज़ एक्ट' (उद्योगोंकी रक्षाका क़ानून) इसी नीतिका सूचक है। इतना होते हुए भी वहांके अनेक अर्थशास्त्रज्ञ अब भी अपनी पुरानी ऐंठ बनाये हुए हैं। वे संसारको यह दिखलानेकी चेष्टा करते हैं कि इंग्लैण्ड अब भी मुक्तद्वार वाणिज्य-का ही समर्थक है। हां, कुछ विद्वान् तो अवश्य ही अपने सिद्धान्तोंपर ठीक उसी दृढ़तासे अड़े हुए हैं जिस प्रकार युद्धके पहिले अड़े हुए थे। वे उक्त विधानका विरोध करते हैं और चाहते हैं कि वह रद कर दिया जाय, किन्तु साथ ही ऐसे विद्वानोंकी भी कमी नहीं है जो उसका केवल समर्थन ही नहीं करते, अपितु यह भी चाहते हैं कि उसका क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत कर दिया जाय अर्थात् बाहरसे आने वाले जितने पदार्थोंपर संरक्षण विधानके अनुसार इस समय आयातकर लगता है, उनसे भी अधिक पदार्थोंपर लगने लगे। ऐसे ही एक महाशय दिसम्बरके "नाइण्टीन्थ सेञ्चुरी एण्ड आफ्टर" में लिखते हैं

हमें (इंग्लैण्डवालोंको) जिस बड़े व्यापारसे द्रव्यकी प्राप्ति हुई है वह हमारे विस्तृत साम्राज्य, विशेषकर भारतके, तथा कनैडा, आस्ट्रेलिया और आफ्रिकाके साथ होता है। इनके अतिरिक्त तुर्की, चीन, जापान, मिश्र तथा दक्षिण अमेरिकाके निरपेक्ष बाजार भी हैं। इन्हीं देशोंको हमारे कारखानोंमें तैयार किये गये वस्त्र, यंत्र, मोजे इत्यादि भेजे जाते हैं। जब हम एक प्रकारके तैयार मालका बदला दूसरे प्रकारके तैयार मालके साथ करते हैं तो इस विनिमय-क्रियासे द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती। हम अपना देना पुराने ढँगसे ही अर्थात् 'वस्तुओंके बदले वस्तुएं देकर' ही अदा करते हैं, किन्तु हम परिश्रमका पूरा मूल्य प्राप्त करना आवश्यक समझते हैं। परिश्रमका मूल्य परिश्रम द्वारा ही चुकाया जा सकता है। जब हम 'गोल्ड कोस्ट' (आफ्रिका का पश्चिमीय किनारा) में रेल बनानेके लिये अपने इञ्जीनियर भेजते हैं तो हमें उनके परिश्रमका बदला उन कच्चे पदार्थोंके जरिये प्राप्त हो जाता है जो वहांसे उक्त रेल द्वारा हमारे देशको रवाना किये जाते हैं। साथ ही वहांके लोगोंकी भी दशा अधिक उन्नत हो जाती है और उन्हें केवल लुंगीसे ही सन्तोष नहीं होता। वे अब रूईके या

रेशमके लम्बे चौड़े वस्त्रोंकी इच्छा करने लगते हैं। इस प्रकार हम अपने देशवासियोंके लिये अपने ही साम्राज्यमें नूतन व्यवसाय-क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। इस प्रकारका व्यापार हमारे लिये अधिक उपयोगी है।...क्या यह पागलपनसा प्रतीत नहीं होता कि हमारे देशमें बेकारों की इतनी अधिक संख्या रहते हुए भी हम प्रति वर्ष १ करोड़ ८० लाख पौण्ड (लगभग २७ करोड़ रुपयों) के रेशमी कपड़े बाहरसे मँगाते हैं ? यदि इन वस्त्रोंपर आयातकर लगा दिया जाय तो क्या हमें विशेष लाभ न होगा ? यदि हम विदेशोंसे आने वाली वस्तुओंकी सूचीपर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि उनमें पचासों वस्तुएँ ऐसी हैं जिनपर आयातकर लगाकर हम देशको लाभ पहुंचा सकते हैं।

आप इस सिद्धान्तको नहीं मानते कि जो चीजें विदेशोंमें सस्ती तैयार होती हैं वे वहींसे मँगायी जायँ। आपकी रायमें इस प्रश्नपर केवल इस दृष्टिसे विचार होना चाहिये कि हमारा 'राष्ट्रीय हित इन वस्तुओंको अपने ही यहां तैयार करनेमें है या बाहरसे मंगानेमें।'

युद्धके दिनोंमें यह स्पष्ट हो गया था कि राष्ट्रकी रक्षाके खयालसे कुछ चीजोंका अपने ही देशमें बनाया जाना नितान्त आवश्यक है। किन्तु अवश्य ही राष्ट्रकी रक्षाके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण कारण भी हैं, उदाहरणार्थ राष्ट्रमें बेकारी न फैलने पावे इसका भी ध्यान रखना पड़ता है। मुझे अभी तक यह नहीं मालूम हुआ कि 'मककन्ना' वाणिज्यकर अर्थात् मोटर गाड़ियों, घड़ियों, बाजों इत्यादिपर कर लगनेसे एक भी मनुष्यकी क्षति हुई है। किन्तु इतना मुझे मालूम है कि अब ट्रैफोर्ड पार्क, मैनचेस्टर (इंग्लैण्ड) में बहुतसे मनुष्य फोर्ड गाड़ियां तैयार करनेमें लग गये हैं जो सन् १९१६ (संवत् १९७३) के पहिले डेट्रॉइट (अमेरिका) में यही काम किया करते थे। मुझे यह भी मालूम है कि (इंग्लैण्डमें प्रयुक्त होनेवाली) 'विल्ली' गाड़ियाँ भी अब अमेरिकामें न बनकर इंग्लैण्डके हीटन चेपल, स्टाक पोर्टमें ही तैयार होने लगी हैं। यह भी मैं जानता हूं कि इन आयातकरोंके कारण कई कारखाने ज़ोरोंसे चलने लगे हैं और इनसे किसीको असुविधा होनेका एक भी उदाहरण हमारे देखनेमें नहीं आया है। यह सत्य है कि मुक्तद्वार-वाणिज्य-नीतिके कट्टर पक्षपाती प्रतिनिधि सभामें इन करोंके विरुद्ध अपना मत देते हैं, किन्तु वे अपने इस कार्यके समर्थनमें राष्ट्रके हितका उल्लेख नहीं करते। उनका एकमात्र तर्क यह है कि ये कर रिचर्ड काबडन तथा 'फ्री ट्रेड यूनियन' (स्वतंत्र वाणिज्य चाहने वाली संस्था) की उक्तियोंका उल्लंघन करते हैं। इन नूतन करोंके विरोधमें आलबर्ट

हालमें या मेञ्चेस्टरके 'फ्री ट्रेड हाल' में किसी सभाके किये जानेके समचार तक हमें नहीं सुन पड़ते। वास्तवमें बात क्या है सो देखिये—

यदि हम अमेरिकासे बनी बनायी फोर्ड मोटर गाड़ी मंगाते हैं तो हमें अमेरिकावालोंके श्रमकी कीमत मान लीजिये सौ पौण्ड (१५०० रुपये) देनी पड़ती है। यह किस प्रकार चुकायी जाती है? संभवतः चीनके हाथ सौ पौण्डके कपड़े बेंचकर हम यह रकम प्राप्त करते हैं। किन्तु यदि हम फोर्ड गाड़ी अपने ही देशमें तैयार करते हैं तो हमें केवल आवश्यक कच्चे पदार्थ ही वहाँसे मंगाने पड़ते हैं अर्थात् अमेरिका वासियोंके श्रमके बदलेमें कोई पचास पौण्ड ही देने पड़ते हैं, शेष पचास पौण्डका श्रम हम स्वयं लगाते हैं। सौ पौण्डकी रूई या कपड़े हम चीनके हाथ अब भी बेचते हैं। व्यापार-तुलाके अनुसार इसका परिणाम यह होता है कि किसी न किसी देशसे हमें पचास पौण्डका पावना रहता है। यह मूल्य हमें या तो सोनेके रूपमें चुकाया जा सकता है या व्यापारिक वस्तुओंके रूपमें। यदि हमारे देशमें व्यापारकी सहायताके विचारसे तैयार की गयी वैज्ञानिक वाणिज्यनीति प्रचलित हो तो हम अपने देनदारोंसे जिस रूपमें चाहें उस रूपमें अपना पावना वसूल कर सकते हैं। यदि हम रेशमी वस्त्रोंपर आयातकर लगा दें तो संभवतः जापान हमारा पावना कच्चे रेशमके रूपमें अदा करेगा, जापानी रूमालोंके रूपमें नहीं।

जर्मनीके सम्बन्धमें भी आपका यही मत है। यदि यह पूछा जाय कि आयातकर लगा देनेपर जर्मनी हरजाना किस प्रकार अदा कर सकेगा तो इसका उत्तर यही है कि

इसका विचार करना जर्मनीका काम है, हमें इससे कोई मतलब नहीं। अवश्य ही हमारे देशवासियोंको क्षति पहुंचाकर हरजाना अदा करनेकी स्वतंत्रता उसे न मिलनी चाहिये। जिन वस्तुओंको हम स्वयं तैयार कर सकते हैं उन्हींके रूपमें जर्मनीको हरजाना न अदा करने देना चाहिये। केवल चतुरतापूर्वक तैयार की गयी वाणिज्यनीतिसे ही यह संभव हो सकता है कि हरजानेकी रकम तैयार माल द्वारा न चुकायी जाकर कच्चे पदार्थोंकी रफ्तनी द्वारा ही चुकायी जावे।

इस प्रकार आपकी इस 'वैज्ञानिक वाणिज्य नीतिका' मुख्य अभिप्राय यही है कि, सब बातोंका खयाल कर, जिन वस्तुओंको अपने ही देशमें तैयार करनेमें राष्ट्रका हित हो, उनपर आयातकर अवश्य लगाया जाय और जिन वस्तुओंको बाहरसे मँगानेमें ही हमें लाभ हो वे आयातकरसे मुक्त रखी जायँ। भारत-हितैषियोंको और यहाँकी अर्थनीतिके सूत्रधारोंको भी अनुग्रहपूर्वक थोड़ी देरके लिये इसपर मनन करना चाहिये।

['नाइण्टीन्थ सेञ्चुरी एण्ड आफ्टर' से]

सैनिक व्ययका असली स्वरूप।

सन् १९२२-२३ (संवत् १९७९) में सैनिक व्ययके लिये सर मेलकम हेलीका अनुमान ६२ करोड़ रुपयोंसे कुछ ही अधिक था, किन्तु थोड़ासा विचार करने पर प्रकट होगा कि जिस समय वर्तमान वर्षके हिसाबके अन्तिम अंक निकाले जायंगे उस समय हम देखेंगे कि भारतको इस सम्बन्धमें अनुमानसे कहीं अधिक रुपया खर्च करना पड़ा है। सन् १९२१-२२ (संवत् १९७८) में भी सैनिक व्ययका अनुमान लगभग ६२ करोड़ रुपये हो किया गया था किन्तु भारतको सेनाके लिये असलमें ७५ करोड़ से कम रुपये नहीं देने पड़े। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर बिलकुल सीधा है। जैसा कि सर गॉडफ्रे फेलने बड़ी व्यवस्थापक सभामें कहा था, भारतीय सैनिक व्ययके लिये स्वीकृत रक़मका एक बड़ा अंश विलायतमें ही खर्च किया जाता है। रुपयेका विनिमय-मूल्य सरकारी कानून द्वारा निर्धारित दरके अनुसार दो शिलिंग है अर्थात् एक पौण्डका मूल्य दस रुपये है, अतः आय-व्यय-अनुमान पत्रमें 'विलायती खर्च' (होम चार्जेज) का हिसाब इसी दरके अनुसार लगाया जाता है। किन्तु भारतको तो रुपयोंके रूपमें ही यह खर्च देना पड़ता है और संवत् १९७७ से उसे असलमें पौण्ड पीछे १५ रुपयोंसे भी अधिक देना पड़ रहा है, अतः यह समझना कठिन नहीं है कि सैनिक व्यय अनुमानकी अपेक्षा इतना ज्यादा क्यों बढ़गया है।

सरकारको अपनी विनिमय-नीतिके कारण जो हानि उठानी पड़ती है उसे वह भिन्न भिन्न मदोंमें बांटकर नहीं रखती। वह इस प्रकारकी समस्त हानिको पृथक् रूपसे ही प्रकाशित करती है। इस चालके कारण

यद्यपि समस्त व्ययकी राशिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता तो भी उसके कारण व्ययकी कई मदोंके सम्बन्धमें भ्रमात्मक विश्वास उत्पन्न हो जाता है। सैनिक व्ययकी मदमें विनिमयके कारण जो नुकसान होता है यदि वह उसी मदके अन्तर्गत पृथक् रूपसे दिखा दिया जाय तो उसका अधिक सत्य अनुमान लगाया जा सकता है। एक बात और है। सरकार प्रति वर्षके आय-व्यय-अनुमान-पत्रमें सैनिक व्ययके नामसे जो रकम दिखलाती है उसमें सूदकी वह रक़म शामिल नहीं रहती है जो सैनिक आवश्यकताओंके कारण लिये गये ऋणपर देनी पड़ती है। भारतके इस अनुत्पादक राष्ट्रीय ऋणके प्रारंभ करनेका दायित्व लार्ड वेलेसली, आकलैण्ड, एलनबरो, हार्डिंग, तथा डेलहौसीके युद्धोंपर है। इस ऋणपर जो सूद लगता है उसका अधिकांश सैनिक व्ययकी मदमें ही सम्मिलित होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त भारतीय रेलोंकी कई शाखाएँ मुसाफिरोंकी सुविधाओंके लिये न बनायी जाकर प्रधानतया सैनिक आवश्यकताके कारण ही बनायी जाती हैं, उदाहरणार्थ

नार्थ वेस्टर्न रेलवे (पश्चिमोत्तर भारतकी रेल) तथा आसाम बंगाल रेलवेका बड़ा भाग केवल सैनिक दृष्टिसे ही तैयार किया गया है। और भी कई शाखाओंके सम्बन्धमें यह बात कही जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेलोंके निमित्त लिये गये ऋणका खासा हिस्सा 'विशेष रक्षाके कार्योंके' निमित्त खर्च किया जाता है। इस प्रकारकी रेलोंके लिये भारतको प्रतिवर्ष बहुत व्यय-भार उठाना पड़ता है और उचित यही है कि यह रकम भी सैनिक व्ययमें ही शामिल रखी जाय। सारांश यह है कि भारत सरकारका वार्षिक चिट्ठा मिथ्या सिद्धान्तके आधारपर बनाया जाता है और उसके कारण सर्व साधारणको भारतके सैनिक व्ययके असली स्वरूपके सम्बन्धमें बड़ा धोखा हो सकता है।

इन्हीं सब बातोंका खयाल कर अध्यापक के० टी० शाहने हिसाब लगाकर बतलाया है (मार्गशीर्षका स्वार्थ देखिये) कि वर्तमान वर्षमें सेनाके कारण भारतको कोई ६१·६० करोड़ रुपये खर्च करने पड़ेंगे अर्थात् देशकी समूची आमदनीका लगभग ७५ फी सैकड़े अंश सेनाके विकराल मुखमें ही समा जायगा।

[१० जनवरीके 'बंगाली' से]

* *

मनुष्यका सामाजिक विकास।

जीव-विज्ञानकी दृष्टिसे मनुष्यने गत पचास हजार वर्षोंमें भले ही कोई विशेष उन्नति न की हो, किन्तु उसके सामाजिक विकासके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस क्षेत्रमें उसने बहुत उन्नति कर ली है। इतना अवश्य है कि

इस प्रकारका (सामाजिक) विकास तब तक शुरू नहीं हुआ था जब तक मनुष्यने मस्तिष्ककी उन्नतिके साथ जीवन विषयक उत्क्रान्ति द्वारा अधिक ज्ञान संचित करनेकी तथा वाणी और लेखन द्वारा उसकी पुष्टि करते हुए सामाजिक उत्तराधिकारके रूपमें उसे आनेवाली सन्तानको हस्तान्तरित करनेकी क्षमता न प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार ज्ञानका संचय करना और उसे हस्तान्तरित कर सकना ही सामाजिक विकासका आधार है और यह सामाजिक विकास मनुष्यकी कार्यक्षमताकी क्षिप्रोन्नतिका आधार रहा है और है।

सामाजिक विकासका नियन्त्रण प्रधानतया मनुष्य स्वयं कर सकता है और वास्तवमें ऐसा होता भी है। उसका भावी परिवर्तन या उन्नति उसके ही हाथमें है। इसी समय धर्मको भी उपयुक्त अवसरसे

लाभ उठानेका तथा अपना दायित्व ग्रहण करनेका मौक़ा मिलता है। सामाजिक विकासमें परोपकार या पारस्परिक सहायता वह माना हुआ तथा प्रबल साधन है जिसका सम्बन्ध जीव-विज्ञानसे है। चिउँटियों, मधुमक्खियों तथा बर्रोंके समान सामाजिक कीड़े मकोड़ोंकी जीवन विषयक सफलता अधिकतया परस्परकी सहायताके सिद्धान्त-परही आश्रित रही है। उसी प्रकार मनुष्यके सामाजिक विकासमें भी पदार्थका बड़ा असर हुआ है।

['दि न्यूरिपब्लिक' से]

* *

सभ्यताके पुनरुद्धारके साधन।

'दि सेन्चुरी' नामक पत्रमें श्रीग्लेन फ्रैंकने सभ्यताके पुनरुद्धारके निम्न लिखित आठ साधन बतलाये हैं—

सबसे पहिले (राजनीतिक राष्ट्रीयताके स्थानमें) उत्कर्षोत्पादक या संस्कृतिमूलक राष्ट्रीयता 'कलचरल नैशनलिज़्म'का विचार आवश्यक है। यदि पश्चिमी सभ्यता उसी राजनीतिक राष्ट्रीयताका अनुसरण करती जायगी जिसने सारे यूरोपको अशान्त और क्षुब्ध-भूमि बना रखा है और जिसने शताब्दियोंसे युद्धोंका लगातार क्रम जारी रखा है तो वह किस प्रकार जीवित रह सकेगी, यह मेरी समझमें नहीं आता। जिस प्रकारकी राष्ट्रीयता हम देख रहे हैं उसका परित्याग करना होगा। देश-भक्तिके जैसे भाव इस समय प्रचलित हैं वे भी त्यागने पड़ेंगे। फिर भी मनुष्यके स्वभावमें ही मातृभूमिके प्रति ऐसी कोई अपूर्व भक्ति-भावना पायी जाती है (कि उसका सर्वथा परित्याग भी नहीं किया जा सकता)। भविष्यमें सभ्यताका पुनरुद्धार करने वाले और चाहे जो करें, किन्तु वे मनुष्यकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिकी अवहेलना भी नहीं कर सकते। राष्ट्रीयतामें एक ऐसा तत्त्व वर्त्तमान है जिसकी रक्षा करनी ही होगी।...राजनीतिक राष्ट्रीयताकी समाधिपर ही हमें ऐसी संस्कृतिमूलक राष्ट्रीयताकी स्थापना करनी होगी जिसके कारण संसारमें राजनीतिक प्रतियोगिताके स्थानमें विचारों और रुचियोंके उत्कर्षकी प्रतियोगिता शुरू हो जाय।...इस प्रकारकी संस्कृतिमूलक राष्ट्रीयताके आधारपर यदि संसारका संगठन किया जाय तो उसमें वर्त्तमान राष्ट्रीयताके बाह्य स्वरूप एवं विभिन्नताकी रक्षा भी हो सकेगी और साथ ही प्रचलित दोषोंका निवारण भी हो जायगा।

दूसरा साधन आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयता 'एकानामिक इण्टरनैशनलि-

ज़्म'का विचार है। आर्थिक दृष्टिसे संसार आज एक ही सूत्रसे बंधा हुआ है। उसकी व्यवस्था परस्परकी अर्थात् सामान्य व्यवस्थाद्वारा ही हो सकती है। शीघ्र ही अथवा कुछ समयके बाद संसारकी सामान्य बुद्धि आधिपत्यके वर्त्तमान भावमें जीर्ण और असमयोचित अंश देखने लगेगी। उस समय हम परस्परके आर्थिक प्रश्नोंको एकके बाद एक सुरझानेकी चेष्टा करेंगे और उन्हें किसी न किसी प्रकारकी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाके सिपुर्द कर देंगे। कमसे कम गमनागमन, वाणिज्य, स्थानान्तरगमन तथा (विदेशोंके) किसी व्यवसायमें रुपया-पैसा लगानेके मूल अधिकारोंका प्रबन्ध तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था द्वारा ही होगा। राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रीयता या किसी खास तरहके राष्ट्र-संघकी स्थापना किये विना भी हम ऐसा कर सकते हैं।

तीसरा साधन लोकसत्तात्मक उद्योग 'डिमॉक्रैटाइज्ड इण्डस्ट्री'का विचार है। राज्यकी तरह उद्योगोंके क्षेत्रमें भी स्वेच्छाचारिता मरणासन्न हो रही है। यों तो कहनेको दोनों क्षेत्रोंमें वह अब भी बची हुई है, किन्तु उसे बीते हुए समयकी प्रतिच्छायामात्र समझना चाहिये। आकाशके तारेतक गगनपथसे उसका विरोध कर रहे हैं। भविष्यमें लोकसत्तावादका ही बोलबाला रहेगा। हां, उसकी समीक्षा और व्याख्या नूतन ढंगसे करनी होगी। धीरे धीरे हमारी समझमें यह बात आ रही है कि लोकसत्तावादका आशय उस प्रकारका शासन नहीं है जो मूर्ख जनताकी सम्मतिसे किया जाय। उच्चतर प्रज्ञाकी सच्ची कुलीनसत्ताका विनाश करनेमें लोकसत्तात्मक प्रणालीका भला नहीं है। अन्य शासनप्रणालीसे भी अधिक इस प्रणालीमें श्रेष्ठ नेतृत्वकी आवश्यकता है। अभी तक लोकसत्तावादकी प्रवृत्ति नेतृत्वका आरंभ होते ही उसे बन्द कर देनेकी ओर रही है। औद्योगिक क्षेत्रमें ऐसी लोकसत्ता चाहिये जिससे काम चल सके। उसकी जांच-पड़ताल निरंकुशता पूर्वक होनी चाहिये और उसे वस्तुओंको तैयार कर देनेके लिये बाध्य करना चाहिये।

चौथा साधन उदारतापूर्ण व्यवसाय 'लिबरलाइज्ड बिज़िनेस'का विचार है। मेरा अभिप्राय उस व्यवसायी मनुष्यकी भावुकतापूर्ण उदारतासे नहीं है जो (व्यवसायमें) सामाजिक कार्यपद्धतिका प्रयोग केवल इसलिये करता है कि वह "ग़रीब मज़दूरोंका उत्थान करना" चाहता है, प्रत्युत उस मनुष्यकी उदारतासे है जो यह समझता है कि भविष्यका व्यवसाय सामाजिक दृष्टिसे भी निर्दोष होना चाहिये, तभी वह व्यावहारिक दृष्टिसे भी निर्दोष हो सकता है। थोड़ेमें मेरा अभिप्राय

उस उदारतासे है जो व्यावसायिक समस्याओंको वैज्ञानिक दृष्टिसे देखती है, भावुकताकी दृष्टिसे नहीं।

पांचवां साधन बुद्धि संगत राजनीति 'रैशनलाइज़्ड पॉलिटिक्स'का विचार है। इससे मेरा अभिप्राय यह है कि राजनीतिकी स्थापना वास्तविक परिस्थितिपर की जाय।...वास्तविक घटनाओं और राजनीतिमें आजकल जो अन्तर देख पड़ता है वह अत्यन्त हानिकारक है। (राजनीतिक क्षेत्रमें आंख मूंदकर ही काम न करना चाहिये, 'बुद्धि' से भी काम लेना चाहिये।)

छठवां साधन मानवोपयोगी शिक्षा 'ह्यूमनाइज़्ड एजुकेशन'का विचार है। मेरा आशय इस सरल किन्तु महत्त्वपूर्ण विचारसे है—जो अब विस्तृत रूपसे ग्रहण किया जा रहा है—कि नियमोंके अनुपालनपर ज़ोर देनेकी अपेक्षा अभिरुचि या जिज्ञासाका उत्पन्न करना अधिक उपयोगी है, और ...शिक्षाका प्रथम उद्देश्य मनुष्यको वर्त्तमान संसारसे सुपरिचित कराना एवं अपने समयकी प्रबल शक्तियोंसे लाभ उठाते हुए—उनके विपरीत चलते हुए नहीं—कार्य करनेके योग्य बनाना है।

सातवां साधन समाजोपयोगी धर्म 'सोशलाइज़्ड' रिलीजनका विचार है।...यह धर्म समाजके लिये भी होगा, पृथक् मनुष्यकी आत्माके लिये भी। यह व्यक्तियोंकी आत्माओंका ही 'सुधार' न करेगा, अपितु संस्थाओंका भी। यह मन्दिरमें और बनियेकी दूकानपर, दोनों ही जगह समानरूपसे समादृत होगा।...

आठवां साधन उच्च संस्कारप्राप्त जाति 'वेल-ब्रेड रेस' का विचार है। निःसन्देह मेरा अभिप्राय उस जातिसे नहीं है जो भोजन इत्यादि सम्बन्धी व्यवहारमें दक्ष है, प्रत्युत उस जातिसे है जिसने जीवविज्ञानकी साधारण शिक्षाओंको अंगीकृत कर लिया है और अपनी भावी सन्तानके प्रति नैतिक दायित्वको भी समझ लिया है। ['दि सेन्चुरी' से]

* *

मिश्रकी "स्वाधीनता"।

मिश्रकी स्वाधीनताके सम्बन्धमें ब्रिटिश राजनीतिज्ञोंकी नीतिकी आलोचना करता हुआ लन्दनका 'दि नेशन एण्ड एथीनियम' नामक साप्ताहिक पत्र लिखता है—

परराष्ट्रनीतिकी तरह साम्राज्यकी नीतिका भी अनुपालन केवल दो ही सिद्धान्तोंके अनुसार हो सकता है—स्पष्टवादिता और प्रामाणिकताके अनुसार या फिर छद्मनीति और बहानेबाजीके अनुसार। इस समय मिश्रमें हमारी प्रतिष्ठा तथा कोषकी जो क्षति हो रही है उसका कारण श्रीलायड जार्ज तथा उनके सचिवमण्डलका यह हानिकारक विश्वास है कि यदि तुम थोड़ीसी चालबाज़ीसे काम लो तो

सर्वत्र सफल हो सकते हो ।...नवम्बर १९२१ (मार्गशीर्ष १९७८) में ब्रिटेनकी ओरसे लार्ड कर्ज़नने तथा मिश्रकी ओरसे अदली पाशाने सन्धिका प्रयत्न किया। सन्धिका मसौदा तैयार हुआ और वह विचारार्थ उपस्थित भी किया गया। संधिकी चर्चाका प्रकट उद्देश्य मिश्रके ऊपरसे संरक्षण हटालेना और उसे वैध शासनके अधीन स्वतंत्र राज्य स्वीकार करना था। यह देखते हुए मिश्रकी ओरसे अदली पाशाके साथ परामर्श करना रहस्यसे खाली न था। बात यह है कि उन्हें इस कार्यके लिये ब्रिटिश सरकारकी तरफसे लार्ड कर्ज़नने ही चुना था (मिश्रकी जनताने नहीं); मिश्रमें तो ये दोनों उद्देश्य—ब्रिटिश संरक्षणका अन्त और मिश्रकी स्वाधीनता—जिन्हें लार्ड कर्ज़न भी ज़बानी स्वीकार करते थे, केवल ज़गलुल पाशा तथा उनके अनुयायियोंके ही उद्देश्य समझे जाते थे। किन्तु लार्ड कर्ज़न अदली पाशाको जो देना चाहते थे ज़गलुलके वही मांगनेके कारण तथा उनके मिश्रकी इच्छाओंके वास्तविक प्रतिनिधि समझे जानेके कारण सरकारने उनसे खुल्लमखुल्ला परामर्श करना अस्वीकृत किया। फिर भी सन्धिका प्रयत्न निष्फल हुआ। अदली पाशाने भी सन्धिकी शर्तें स्वीकृत न कीं, क्योंकि वे पूर्व वक्तव्यके अनुरूप न थीं और न वास्तवमें उनके कारण संरक्षणका अन्त ही होता था।

अदली पाशासे निराश होकर लार्ड कर्ज़नको संधिकी शर्तें मनवानेके लिये अन्य मनुष्यकी आवश्यकता हुई। सबसे पहिले उन्होंने मिश्रकी स्वाधीनता चाहनेके कारण ज़गलुलको निर्वासित करा दिया। इस कण्टकके दूर होनेपर ब्रिटिश सरकारने सरवत पाशापर दृष्टिपात किया और उनसे एक खास समझौता कर लिया।...ब्रिटिश सरकारने घोषणा करदी कि "मिश्रमें ब्रिटिश संरक्षणका अन्त हो गया और मिश्र स्वतंत्र राज्य मान लिया गया।" सुलतान फुआद मिश्रके राजा हुए...और सरवत पाशा प्रधान सचिव बनाये गये।

यह नूतन व्यवस्था गत नौ महीनेसे जारी है। मिश्रके 'स्वाधीन' राज्यमें ब्रिटिश सेना डटी ही रही, वहां फौजी कानून जारी ही रहा, वहांका प्रधान सचिव ब्रिटिश हाई कमिश्नर तथा सेनापति लार्ड एलनवी द्वारा चुना गया, और वहांका सर्वाधिक पूज्य नेता निर्वासित किया गया। किसी स्वतंत्र राज्य द्वारा ऐसी विचित्र स्वाधीनताका उपभोग किये जानेका दूसरा उदाहरण इतिहासमें नहीं मिलता जैसी ग्रेट ब्रिटेनने मिश्रको दी है।...गत जुलाई (श्रावण)में जगलुलकी तबीयत बिगड़नेका हाल सुनकर उसके बचे हुए अनुयायियोंने उसको

मुक्तिके लिये एक घोषणापत्र निकाला। इसपर हस्ताक्षर करनेवाले तुरन्त पकड़े गये। सैनिक न्यायालयने उन्हें फांसी देनेकी राय दी, किन्तु सेनापतिने कृपा कर प्रत्येकको सात वर्षोंके सपरिश्रम कारावास तथा ७५ हजार रुपये जुर्मानेको ही दण्ड दिया।...मिश्रमें जैसा शासन प्रचलित है यह दिखानेके लिये यही उदाहरण काफी है। झूठ और बेईमानी ही उसका आधार है। सरकारने मिश्रके सामनेकी दीवारपर मानो यह लिख रखा है "यह स्वाधीन राज्य है, यहां वैध राजाका शासन है और यहाँके निवासियोंको स्वतंत्रता प्राप्त है।" यह बिलकुल झूठ है। वास्तवमें इस कृत्रिम दीवारके पीछे ब्रिटिश सेनापति, ब्रिटिश सेना, फौज़ी क़ानून, एवं विरोध करने वालेको सात सालकी कड़ी क़ैदके सिवाय और कुछ नहीं है। यदि इस प्रकार स्वाधीनता देनेकी प्रतिज्ञा कर उसके बदले सैनिक शासनका प्रयोग करनेकी बेईमानीसे भरी नीति केवल मिश्रमें ही वर्त्ती जाती तो कदाचित् ब्रिटिश साम्राज्यके भावी अस्तित्वका विचार करना संभव होता, किन्तु असलमें गत चार वर्षोंसे एशिया तथा पूर्वमात्रके लोगोंके साथ हमारी सरकार ऐसी ही दुरंगी चाल चलती रही है। यदि कोई इस नीतिका परिणाम जानना चाहे तो उसे "मैञ्चेस्टर गार्जियन" में प्रकाशित रूसकी पूर्वीय नीतिके सम्बन्धमें रैडकका मनोरञ्जक वक्तव्य पढ़ना चाहिये। वह कहता है "यदि आप लोग हमारे साथ सचाईका तथा न्यायका बर्ताव करें तो हम आपके साथ सहयोग करनेको सर्वथा तैयार हैं, किन्तु यदि आपका विचार हमारे साथ वैसा ही व्यवहार करनेका हो जैसा आपने फारस, तुर्की, ईराक, मिश्र तथा भारतके साथ किया है तो पूर्वके साथ हमारा सम्बन्ध इस सिद्धान्तपर आश्रित रहेगा कि ग़रीब तथा भूखे मनुष्य भी, यदि उनमें एकता हो तो, अधिक शक्तिशाली बन सकते हैं। यह भी स्पष्ट है कि रूस तथा पूर्वके लोग समान रूपसे ही भूखे तथा निर्धन हैं।" इन शब्दोंमें जो धमकी दी गयी है वह गीदड़ भबकीमात्र ही नहीं है। इस झूठी स्वतंत्रतासे, जिसके भीतर सैनिक साम्राज्यवाद छिपा हुआ है, इंग्लैण्ड वाले धोखा खा सकते हैं, किन्तु इससे मिश्रवासी, भारतवासी, अरबी या तुर्क लोगोंको धोखा नहीं दिया जा सकता। यदि साम्राज्यवादकी यह दुरंगी चाल जारी रहेगी तो अवश्य ही (एशियाके) निर्धन तथा भूखे मनुष्य (ब्रिटेनके) धनाढ्य और शक्तिशाली मनुष्योंके विरुद्ध ऐक्य स्थापित करेंगे।

['दि नेशन एण्ड एथीनियम' से]

सम्पादकीय।

लवणकरमें वृद्धिकी संभावना।

गत कई वर्षोंसे भारत सरकारके शासन-व्ययकी उच्छृंखल वृद्धिके भेषमें जो तूफा-नसा उठता चला आ रहा है, उसके कारण देशकी आर्थिक नौका किस प्रकार डोल रही है, यह हमारे पाठकोंको भली भांति विदित है। इस घटनाके उत्पन्न करनेमें, उक्त तूफान-के अतिरिक्त, अत्याधिक महत्त्वके और भी कई कारण शामिल रहे हैं। एक तो दुर्भा-ग्यसे नौकाके सञ्चालनका भार, लार्ड चेम्सफोर्डकी कृपाके कारण, सर मैलकम हेलीके समान ऐसे सुचतुर कर्णधारको सौंपा गया जिसमें नौकाको तूफानसे बचाये रखनेकी अपेक्षा उसे और भी उसके बीचमें फँसा देनेकी योग्यता ही अधिक थी। दूसरे, इस आर्थिक नौकापर लादा गया कर-भार घटाये जानेके बजाय निरन्तर बढ़ता ही गया। ऐसी अव-स्थामें आश्चर्य तो इस बातका है कि नौकाका सञ्चालन किसी प्रकार भी संभव हो सका, क्योंकि असलमें उसके सहसा उलट जानेकी पूरी सामग्री एकत्र हो चुकी थी।

संवत् १९७१ से अभी तक ४८'२९ करोड़ रुपयोंकी करवृद्धिकी जा चुकी है। गत दो वर्षोंमें ही कोई ३८ करोड़के नूतन कर लगाये गये हैं। इतने पर भी बढ़े हुए व्ययका सामना करनेके लिये सरकारी कोषमें रुपयेकी कमी है, अतः आगामी वर्षमें पुन: कर-वृद्धिकी संभावना है। सर माण्टेगू वेबने अभी हालमें बम्बईमें जो भाषण किया था उससे प्रकट होता है कि इस बार लवणकर भी अछूता न बचेगा। इस वर्ष ही रेलोंका किराया बढ़ाकर तथा कार्ड इत्यादिके मूल्यमें वृद्धि कर सरकारने ग़रीबसे ग़रीब लोगोंपर जो भार लाद दिया है वही उनके लिये असह्य हो गया है—उन्हें चिट्ठी लिखने या आवश्यक यात्रा करनेके लिये भी पेट काट कर पैसा जुटाना पड़ता है। अब यदि नमकके समान अत्यावश्यक वस्तु-पर भी महसूलकी मात्रा अधिक कर दी जाय तो इसका असर और भी अनर्थकारी होगा। नमकके बिना दो चार दिनोंके लिये भी मनुष्यका काम बड़ी कठिनाईसे चलता है। उसका सर्वथा त्याग कर देना तो कदाचित् किसी भी मनुष्यके लिये संभव नहीं है। अतः यद्यपि लवणकरके बढ़ाये जानेपर भी लोग नमकका उपयोग करना बन्द न कर सकेंगे तो भी वे उतना नमक न खरीद पावेंगे जितना अभी खरीदते हैं। अनेक मनुष्योंको तो संभ-वतः आवश्यकतासे भी कम नमकपर निर्वाह करना पड़ेगा। इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव उनके स्वास्थ्यपर पड़ सकता है। साथ ही लवणकी खपत घट जानेके कारण सरकारकी आमदनीमें भी विशेष वृद्धि न हो सकेगी। लवणकरका इतिहास इस बातका प्रमाण है। जब जब इस करमें वृद्धि की गयी है तब तब नमककी खपत भी घटी है। ईस्ट इंडिया कम्पनीके ज़मानेमें हिसाब लगाकर देखा गया था कि भारतमें फी मनुष्यके पीछे कोई छः सेर नमक खर्च होता है। संवत् १९३७ में लवणकरकी वृद्धिके बाद ही नमकका प्रयोग

प्रति मनुष्य पीछे चार सेर ही रह गया। दो वर्षोंके बाद नमकपर लगने वाला महसूल फिर घटाकर मन पीछे दो रुपये कर दिया गया। अतः दो-चार वर्षोंके भीतर ही पुनः नमककी खपत बढ़कर फी मनुष्य पीछे पांच सेर हो गयी। जब नमकका कर फिर बढ़ा कर अढ़ाई रुपये मन कर दिया गया तो संवत् १९५१ में जांच करने पर विदित हुआ कि प्रत्येक मनुष्यने केवल ४½ सेर नमकका ही प्रयोग किया। यदि लार्ड कर्जनके ज़मानेमें यह कर पुनः न घटाया जाता तो संभवतः नमककी खपत और भी गिर जाती। इस अनुभवके होते हुए भी भारत सरकार यदि फिर लवणकरकी वृद्धि करेगी तो इसका परिणाम भला न होगा। आशा है नूतन अर्थसचिव सब बातोंका ख़यालकर इस करकी वृद्धिका विचार, यदि उन्होंने किया हो तो, शीघ्र ही त्याग देंगे।

* *

प्रान्तीय सरकारोंका आर्थिक प्रश्न

जिस प्रकार भारत सरकारकी आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी है उसी प्रकार प्रान्तीय सरकारोंकी भी आर्थिक स्थिति विशेष चिन्ताजनक हो गयी है। उनका भी खर्च आमदनीकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया है। भारत सरकारकी तरह उन्हें भी करवृद्धिका सहारा लेना पड़ा है। नूतन शासन-व्यवस्थाके पहिले आमदनीकी मुख्य मुख्य मदें आवश्यकतानुसार केन्द्रस्थ सरकार और प्रान्तीय सरकारोंमें बांट ली जाती थीं, किन्तु अब प्रान्तोंको अधिक आर्थिक स्वतंत्रता देनेके लिहाज़से आमदनीके कई साधन एकमात्र उन्हें ही सौंप दिये गये हैं। हां, इतना अवश्य है कि इस व्यवस्थाके कारण भारत सरकारको जो हानि होती है उसकी पूर्त्तिके निमित्त प्रान्तीय सरकारोंको भी अपने हिस्सोंमेंसे कुछ आर्थिक सहायता उसे देनी पड़ती है। मेस्टन कमिटीके अनुसार भारत सरकारको प्रान्तोंकी ओरसे कुल मिलाकर ९·८३ करोड़की वार्षिक सहायता देना निश्चित हुआ था, किन्तु इस समय प्रान्तीय सरकारोंकी जैसी हालत हो रही है वैसी हालतमें वे अपना पूरा पूरा हिस्सा अदा करनेमें असमर्थ हैं। साथ ही केन्द्रस्थ सरकारको इधर कई वर्षोंसे जो घटी उठानी पड़ी है उसके कारण वह भी प्रान्तोंके साथ रियायत नहीं कर सकती। यही कारण है कि यद्यपि नूतन व्यवस्थाके साथ एक शर्त यह भी जोड़ दी गयी थी कि प्रान्तीय सरकारोंसे प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता क्रमशः घटायी जा कर कुछ समयमें बिलकुल बन्द कर दी जायगी और यद्यपि गत भाद्रपदके अन्तमें मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त इत्यादिकी ओरसे उक्त आर्थिक सहायताके घटवानेका प्रयत्न भी किया गया था तो भी भारत सरकारने बंगाल प्रान्तके सिवाय और किसी प्रान्तके साथ रियायत न की। इस प्रकार भारत सरकारकी ओरसे निराशा जनक उत्तर मिलनेके कारण प्रान्तीय सरकारोंको आगामी वर्षमें पुनः कर-वृद्धिका सहारा लेना पड़ेगा। संयुक्त प्रान्तकी व्यवस्थापक सभाने तो इस वर्ष विशेष कर-वृद्धि न होने दी, किन्तु अगले वर्ष भी कर-वृद्धि रोकी जा सकेगी या नहीं, इसमें सन्देह ही है। यही बात अन्य प्रान्तोंके विषयमें भी कही जा सकती है।

प्रान्तोंके सामने आर्थिक संकट निवारण करनेके दो उपाय और हैं—व्यय घटाना

और ऋण लेकर काम चलाना। पहिले साधनका प्रयोग करनेकी चेष्टा इस समय कई प्रान्तोंमें हो रही है। इस प्रयत्नमें कितनी सफलता होगी, यह कहना कठिन है। मध्य-प्रान्तकी व्यय-संकोच समितिने ८४ लाख रुपयोंका व्यय घटानेकी राय दी है। बंगाल-की व्यय-संकोच-समितिने भी १ करोड़ ६० लाख रुपयोंका व्यय कम करनेकी सिफारिश-की है। हमारे प्रान्तमें व्यय घटानेके निमित्त जो महाशय नियुक्त किये गये थे, उन्होंने पहाड़ खोदकर चुहिया निकाली थी। उनके सारे प्रयत्नोंका इतना ही परिणाम हुआ कि कुछ चपरासियों तथा क्लर्कोंको हटाकर कोई १½ लाखकी बचत की गयी। लखनऊमें बड़ी बड़ी इमारतें बनवाकर तथा फजूलखर्चीके अन्य कई कार्यों द्वारा संयुक्त प्रान्तकी सरकार जिस प्रकार रुपया बहा रही है उसे देखकर यह 'व्यय-संकोच' हास्यास्पद प्रतीत होता है। हां, अब गवर्नरने जो व्यय-संकोच-समिति स्थापित करनेकी अनुमति दी है, यदि उसने मध्यप्रान्त तथा बंगालकी समितियोंका अनुकरण किया तो अवश्य ही थोड़ा बहुत लाभ हो सकता है. अस्तु।

ऋण लेकर काम चलानेका प्रयत्न भी प्रान्तोंमें हो रहा है, किन्तु इसकी सफलता-के लिये उतना विस्तृत क्षेत्र नहीं है जितना व्यय-संकोचकी सफलताके लिये है। जनता-से कितना ऋण लिया जा सकता है, इसकी भी एक सीमा है। यदि केन्द्रस्थ सरकारके साथ साथ प्रान्तीय सरकारें भी कर्ज़ लेनेका अधिकाधिक प्रयत्न करेंगी तो उन्हें विशेष सफलता न होगी। यही समझकर भारत सरकार भी प्रान्तीय सरकारोंको इस सम्बन्धमें निरुत्साहित करना चाहती है। वह कहती है कि प्रान्तीय प्रश्नोंकी अपेक्षा समस्त देशका-प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु उसके कथनसे यह नहीं प्रकट होता कि वह ऐसा कौनसा काम करनेके लिये ऋण लेना चाहती है जिसका सम्बन्ध अखिल भारतसे है। यदि केवल रेलों इत्यादिके लिये ही उसे ऋण लेनेकी आवश्यकता है तो हम कहेंगे कि इसकी अपेक्षा प्रान्तोंको ऋण लेना अधिक आवश्यक और वाञ्छनीय है, क्योंकि वे संभ-वतः नहरों इत्यादिके समान उत्पादक तथा शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादिके समान उपयोगी कार्योंके लिये ही ऋण लेना चाहते हैं।

* *

साहित्यमें प्रतियोगिताका प्रभाव।

व्यापारकी तरह साहित्यमें भी प्रतियोगिताके दो प्रभाव विशेषरूपसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं। इनमेंसे एक लाभकारक है और दूसरा हानिकारक। जहां प्रतियोगिता नहीं रहती या केवल नाममात्रके लिये ही रहती है वहां स्वार्थी, धन-लोलुप व्यापारियोंको मन-माने दामोंपर अपनी चीज़ें बेचनेका मौक़ा मिलता है और उन्हें इस बातकी विशेष चिन्ता भी नहीं रहती कि यदि हम घटिया मेलकी वस्तुएँ भी ग्राहकोंको देंगे तो वे उनका खरीदना बन्द कर देंगे। इस प्रकार प्रतियोगिताके अभावमें उन्हें अपने मालकी उन्नतिकी ओर यथेष्ट ध्यान देनेकी फिक्र नहीं होती। किन्तु दो-चार, या इससे भी अधिक, बड़े बड़े

प्रतिद्वन्द्वियोंके उत्पन्न होते ही परिस्थिति बदल जाती है। उन्हें प्रतिद्वन्द्वियोंसे टक्कर लेनेके लिये—व्यापारिक क्षेत्रमें अपना अस्तित्वमात्र क़ायम रखनेके लिये—बढ़िया माल तैयार करनेका और जिस तिस प्रकारसे ग्राहकोंको प्रसन्न रखनेका विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। व्यापारियोंकी इस पारस्परिक प्रतियोगिताके कारण ग्राहकोंको चीज़ें भी अच्छी मिलती हैं, और अपेक्षाकृत सस्ते दामोंमें मिलती हैं, साथ ही व्यापारकी उन्नतिकी गति भी अधिक प्रखर हो जाती है।

साहित्यिक प्रतियोगिताके सम्बन्धमें भी क़रीब क़रीब ये ही बातें कही जा सकती हैं। यद्यपि व्यापारके साथ साहित्यकी तुलना करना एक प्रकारका अधार्मिक और अपवित्र कार्य है, क्योंकि हमारे खयालसे रुपया कमाना ही साहित्यका एकमात्र या प्रधान उद्देश्य नहीं है, तो भी इतना कहना अनुचित न होगा कि दोनों क्षेत्रोंकी प्रतियोगितामें बहुत कुछ सादृश्य पाया जाता है। फिर, कौन जाने साहित्य और व्यापारका एक ही उद्देश न होते हुए भी कुछ लोगोंने साहित्यको व्यापार ही समझ लिया हो? ऐसी अवस्थामें व्यापारिक प्रतियोगिताकी तरह साहित्यिक प्रतियोगितासे भी विशेष लाभ होनेकी संभावना है। ग्राहकोंको यथासंभव कम दामोंमें अधिक और बढ़िया सामग्री प्राप्त हो सकेगी। साथ ही दैनिक पत्रों, मासिक पत्रों तथा पुस्तकोंके प्रकाशकोंकी पारस्परिक होड़के कारण साहित्यकी उन्नतिका क्रम भी अधिक तीव्र हो जायगा।

किन्तु एक बात है। प्रतिद्वन्द्वियोंका सामना करनेके लिये पूंजीकी विशेष आवश्यकता है। एक तो यों ही पुस्तकों या मासिक पत्रों इत्यादिके सफल प्रकाशनमें बहुत व्यय पड़ता है, फिर यदि प्रतियोगिताके कारण, लाभ उठाना तो दूर रहा, घटी सहकर भी प्रकाशनका कार्य करना पड़ा तो बिना अच्छी पूँजीके वह जारी नहीं रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि व्यापारिक क्षेत्रकी तरह साहित्यके प्रांगणमें भी कुछ लोग अपने प्रतिस्पर्द्धियोंकी हत्याके निमित्त उस विचित्र और अन्यायपूर्ण साधनका प्रयोग करनेपर उतारू हो जायँ जिसे अंग्रेज़ीमें 'डम्पिंग' (अर्थात प्रचलित दरसे कम दरपर या लागतमूल्यसे भी कम दामोंमें किसी वस्तुका बेचा जाना) कहते हैं। यदि किसी मासिक या दैनिक पत्रका अथवा पुस्तकोंका प्रकाशक, युद्धके पूर्वके जर्मन व्यापारियोंकी तरह, पहिलेसे ही घाटेके निमित्त दस-बीस हजार रुपये अलग रख दे और बड़े बड़े विज्ञापनों तथा चतुर 'एजण्टों' द्वारा अपने पत्र या अपनी पुस्तकोंको सबसे सस्ती और सबसे अच्छी बतलाकर वास्तवमें प्रचलित मूल्यसे कम मूल्यमें, यहां तक कि प्रकाशित क़ीमतकी आधी क़ीमतपर भी, ग्राहकोंको दे देकर इस अभिप्रायसे बाज़ार हथिया लेना चाहे कि एक बार प्रतियोगियोंका मानमर्दन होते ही सारे क्षेत्रमें केवल मेरी ही तूती बोलने लगेगी तो ऐसा करनेसे उसे रोक ही कौन सकता है? इस अनुचित और अन्यायपूर्ण प्रतियोगिता ('अनहेल्दी एण्ड अनफेयर काम्पिटीशन') के विरुद्ध किसी प्रकारका 'संरक्षणकर' भी नहीं लगाया जा सकता। अतः ऐसी अवस्थामें अपनी रक्षाके निमित्त कम भाग्यशाली प्रतियोगियोंको, जिनके पास अधिक पूँजी या प्रचारके विशेष साधन न हों, अपनी

वस्तुओंकी उत्तमता, सुप्रबन्ध, तथा ग्राहकोंकी विवेक शक्तिका ही भरोसा करना होगा, और तब तक धैर्यपूर्वक बाट देखनी होगी जब तक यह तूफ़ान निकल न जाय।

इस प्रकार साहित्यिक प्रतियोगिताके कारण जहाँ साहित्यकी उन्नतिकी ही विशेष संभावना है, वहाँ किसी अंशमें, उसके दुरुपयोगके कारण, पूंजी इत्यादिकी कठिनाइयोंका सामना करनेमें असमर्थ होकर कई योग्य और अच्छे पत्रोंका बन्द होजाना या विपत्तिमें पड़जाना भी संभव है। जो प्रकाशक निकम्मे पत्रों या निरुपयोगी पुस्तकोंको ही प्रकाशित करते हों साहित्यक्षेत्रसे उनका तिरोभूत हो जाना तो अच्छा ही है, किन्तु उपयोगी साहित्यकी वृद्धि करनेवालोंको भी यदि इस प्रतियोगिताके कारण अपना अस्तित्व बनाये रखना असंभवप्राय या कठिन हो जाय तो यह बड़े दुर्भाग्यकी बात होगी। साथ ही यदि प्रतियोगियोंको परास्त करनेके पश्चात् विजयी प्रकाशक अधःच्युत हो जायँ और ग्राहकोंको रद्दी सामग्री देने लगें तो इससे खरीदारोंको भी टोटा पड़ेगा। फिर भी हमें आशा है प्रकाशकों, ग्राहकों, लेखकों और सम्पादकोंकी संयुक्त सत्-प्रवृत्ति प्रतियोगिताका ऐसा दुरुपयोग न होने देगी जिसके कारण हमारे लब्धप्रतिष्ठ या नवजात उपयोगी सहयोगियोंका अस्तित्व ही अनिश्चित हो जाय।

* *

यूरोपका राजनीतिक अधःपात।

अंग्रेजी नीतिशास्त्रज्ञ टामस हाब्ज़ने शासन-व्यवस्था स्थापित होनेके पूर्व संसारकी जिस 'प्राकृतिक अवस्था' (स्टेट आफ नेचर) का वर्णन किया है वह वर्त्तमान यूरोपके अनेक राष्ट्रोंकी दशासे बहुत कुछ मिलती जुलती है। शासन-पद्धतिका सूत्रपात होनेसे पहिले, हाब्ज़के कथनानुसार, लोग आपसमें लड़ा करते थे। प्रत्येक मनुष्यका हाथ अपने पड़ोसीके जेबमें प्रवेश करनेके लिये मानो निरन्तर लालायित ही रहता था। किसीको अपने सगेसे सगे सम्बन्धीका भी विश्वास न था। हम देखते हैं कि इस उन्नत बीसवीं शताब्दीमें भी सभ्यताभिमानी फ्रांस, इंग्लैण्ड इत्यादि देश प्रायः उसी प्रकार अपने स्वार्थमें चूर हैं जिस प्रकार हाब्ज़की 'प्राकृतिक अवस्था' में रहने वाले लोग थे। अपने हिताहितके सम्बन्धमें इनकी दृष्टि उतनी ही संकुचित और मोहाच्छन्न है जितनी उनकी थी। इन्हें भी एक दूसरेपर विश्वास नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र अपने पड़ोसीकी मृत्यु या अधःपातमें ही अपना सर्वोच्च हित देखता है। इन संकीर्ण विचारोंका परिणाम युद्ध और अशान्तिके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? गत महायुद्धके दिनोंमें वह जितना प्रत्यक्ष था उतना ही वर्त्तमान परिस्थितिमें भी है।

फ्रांस हरजानेकी रक़मके बहाने जर्मनीको तहस नहस कर प्रच्छन्न रूपसे अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा पूरी करना चाहता है। उसके सिरपर साम्राज्यवादका—यूरोपमें अखण्ड सत्ता प्राप्त करनेका—भूत सवार है। इंग्लैण्डकी साम्राज्य-लिप्सा और पिछड़े हुए देशोंका 'सुधार' करनेकी इच्छा तो संसार-प्रसिद्ध है। ये दोनों ही देश अपनी राज-

नीतिक लालसाओंकी पूर्तिके निमित्त ऐसे उतावले और ऐसे अन्धे हो रहे हैं कि इन्हें उचित अनुचितका और अपने ही वास्तविक हानि-लाभका ख़याल नहीं रहता। फ्रांस यह नहीं देखता कि जर्मनीकी आर्थिक मृत्यु उसके भी सर्वनाशका कारण हो सकती है। उसे इसकी भी परवाह नहीं है कि भूखा और असन्तुष्ट जर्मनी निर्बल होनेपर भी राजनीतिक दृष्टिसे उसके लिये और भी अधिक भयावह बन सकता है। यही भूल इंग्लैगड कर रहा है। आयर्लैंगड, भारत, मिश्र तथा तुर्कीके सम्बन्धमें उसकी जो नीति है और उसके कारण इन देशोंमें जो असन्तोष फैला है, उसका प्रत्यक्ष प्रभाव इंग्लैगडके आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रोंमें पड़ रहा है। उसकी वर्त्तमान व्यापारिक शिथिलता और उसके प्रभुत्व या संरक्षणका खुल्लम खुल्ला विरोध इसी बातके सूचक हैं।

इस प्रकार संकीर्ण दृष्टिसे केवल अपना अपना स्वार्थ देखनेका और उचित-अनुचित साधनोंसे अपनी अभीष्ट-सिद्धि चाहनेका यह राजनीतिक रोग अल्पाधिक अंशमें बेलजियम, इटली तथा लघुमित्रोंको भी लगा हुआ है। इतना अवश्य है कि इस समय फ्रांसमें यह अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गया है। कोयले और लोहेकी खानोंमे तथा विविध जंगलोंसे सम्पन्न (जर्मनीके) रूर प्रान्तपर सैनिक संरक्षण स्थापित कर फ्रांस अपनी औद्योगिक और सामरिक शक्ति बढ़ाना चाहता है, क्योंकि इनकी वृद्धिसे ही उसकी महत्त्वाकांक्षा पूरी हो सकेगी। उक्त प्रान्तपर आक्रमण करनेका वास्तवमें यही कारण है, जर्मनीसे हरजाना वसूल करनेकी इच्छा बहाना मात्र है। इंग्लैगडने भी स्वार्थवश फ्रांसका स्पष्ट विरोध नहीं किया। उसे यह भय लगा हुआ है कि विरोध करनेपर कहीं फ्रांस तुर्कीके साथ अलग सन्धि न करले। देखें, इन राष्ट्रोंकी स्वार्थपरायणता और पारस्परिक अविश्वासका क्या परिणाम होता है।

*

सभ्यताके पुनरुद्धारकी आवश्यकता।

पश्चिमी सभ्यता—जो भारतमें भी अपनी माया फैला रही है—किन किन दोषोंसे युक्त है और उसमें किस तरहके संस्कारकी आवश्यकता है यह थॉरो, रस्किन, टाल्सटाय, एच. जी. वेल्स, मेरी कारेली इत्यादि आलोचकोंकी लिखित सम्मतियोंसे प्रकट है। इसी ढँगकी एक महत्त्वपूर्ण सम्मतिका कुछ अंश इस मासके 'सामयिक संग्रह'में दिया गया है, पाठक उसे ध्यानसे पढ़ें। हमें दुःख है कि हम उक्त अवतरणकी भाषा अधिक सरल न बना सके। एक तो विचारोंकी उच्चता और जटिलताके कारण भाषा भी प्रायः असाधारण और क्लिष्ट हो जाती है। दूसरे, किसी विदेशी भाषासे इस प्रकारकी गंभीर रचनाका शुद्ध अनुवाद भी सरल भाषामें करना कभी कभी अत्यन्त कठिन हो जाता है। फिर भी आशा है 'स्वार्थ'के विचारवान् पाठक उससे लाभ उठा सकेंगे।

ज्ञातव्य विषय तथा अंक।

रुईके पुतलीघरोंका मुनाफा

संवत् १९७७ में भारतके रुईके पुतलीघरोंको १३.३० करोड़ रुपयोंकी विशुद्ध आय हुई थी, किन्तु संवत १९७८ में कोई १२ करोड़की ही हुई। पुतलीघरोंमें लगी हुई पूंजीपर फी सैकड़े ६३ की आमदनी हुई और हिस्सेदारोंको ३१ फी सदी मुनाफा बांटा गया। सिर्फ सूत कातने वाले पुतलीघरोंको लगी हुई पूँजीपर फी सैकड़े ५६ की आमदनी हुई और उन्होंने २८ फी सदी मुनाफा बांटा।

संवत् १९७२ में भारतीय पुतलीघरोंमें ६८.४० लाख तकुए तथा १.०८ लाख करघे चलते थे, संवत् १९७८ में इनकी संख्या क्रमशः ६८.७० लाख तथा १.२४ लाख थी। संवत् १९७२ में २५५ हजार मनुष्य पुतलीघरोंमें काम करते थे और उस वर्ष कुल ११३$\frac{1}{3}$ करोड़ गज कपड़ा तैयार किया गया था। संवत् १९७८ में काम करने वालोंकी संख्या बढ़कर ३३२ हजार हो गयी और तैयार किये गये कपड़ेकी तायदाद १५८ करोड़ गजपर पहुँच गयी। चीन तथा जापानको भारतके कपड़ोंकी रफ्तनी बहुत घट गयी है जिसका कारण संभवतः उक्त देशोंके पुतलीघरोंकी उन्नति है। गत वर्ष जितना सूत यहां तैयार किया गया था उसका आधा हिस्सा अर्थात् कोई १६ करोड़ सेर सूत यहांके पुतलीघरोंमें खप गया था, आठवां हिस्सा बाहर भेजा गया था और शेष $\frac{3}{8}$ वां भाग हाथके करघों द्वारा बुने जानेके काम आया।

संवत् १९७० में भारतने बाहरसे ६३.१६ करोड़ रुपयोंका कपड़ा मँगाया था और संवत् १९७७ में १०३ करोड़का मँगा डाला, किन्तु संवत् १९७८ में यह संख्या घटकर ५४.६५ करोड़ ही रह गयी अर्थात् गतवर्ष युद्धके पूर्वसे भी कम कपड़ा यहां आया।

[२१ दिसम्बरके "मैन्चेस्टर गार्जियन"से]

ओ३म् वन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३ खण्ड २ | फाल्गुन १९७९ | अङ्क ५ पूर्णाङ्क ३५

रेलका प्रबन्ध

वर्त्तमान व्यवस्थासे हानि।

आज कल रेलप्रबन्धकी चर्चा हर तरफ छिड़ी हुई है। देशी विदेशी व्यापारी अपने अपने सुभीतेकी सलाह दे रहे हैं। आकवर्थ कमिटी बैठा कर सरकारने सोचा था कि कोई उपाय निकल आवेगा, पर वहांसे हताश ही होना पड़ा। असल झगड़ेकी जो बात है उसपर कमिटी पसोपेशमें ही रह गयी, कोई निश्चयात्मक फल न निकाल सकी*।

रेलोंमें कम्पनियोंने बहुत कम पूंजी लगायी है, सबसे ज़्यादा हिस्सा तो भारत सरकारका है। १९२१-२२ (संवत् १९७८) तक कुल ६२६ करोड़की पूंजी लगायी जा चुकी थी, जिसमेंसे ५०६ करोड़ रुपया खुद सरकारका था। आकवर्थ कमिटीकी रायसे सरकार पांच वर्षोंमें और १५० करोड़की पूंजी लगायेगी। इसकी व्यवस्था हो चुकी है। इतना स्वत्व रहते हुए भी रेलोंका प्रबन्ध वह आप नहीं करती। उसने गोरी कम्पनियोंको ठेका दे रखा है जो सात समुद्र पारसे बैठे बैठे हिन्दुस्तानमें रेलोंको चलाती हैं, और मुनाफेका रुपया ले जाती हैं। आजकल अगर झगड़ा है तो इसी बातका है।

---

*सरकारने व्यापारी सभाओंसे सलाह मांगी है, अनुमान होता है कि वह इधर उधरकी राय लेकर अपना मन्तव्य शीघ्र प्रकाशित करेगी। व्यवस्थापक सभा वाले भी चुप नहीं हैं, वे लोग भी मिलजुल कर सलाह मसविरा कर रहे हैं। गरज यह कि रेलप्रबन्धके विषयपर देश अच्छी तरह उलझा हुआ है।

सम्पत्ति सरकारकी है, कम्पनियां सिर्फ ठेकेदार हैं, सरकारकी ओरसे 'रेलवे बोर्ड' कम्पनियोंपर निगरानी रखता है, पर अवस्था सन्तोषजनक नहीं है। जिस तरह देशी ज़मींदारका रोब उसके गोरे मैनेजरपर नहीं गठने पाता, उसी तरह भारत सरकार कम्पनियोंके सामने एक तरह अपनेको निरुपाय ही पाती है। यह बात सभीने स्वीकार की है कि कम्पनियां जिस नीतिसे भाड़ेका निर्ख बैठाती हैं उससे देशका कच्चा माल तो अनायास बाहर चला जाता है और देशी कारखानोंको तरसना पड़ता है। यह इसी नीतिका फल है कि विदेशी माल हज़ारों मीलसे आकर भी देशमें सस्ता पड़ता है और देशी माल मंहगा बिकता है। बम्बईकी मिलोंमें वेल्स तथा दक्षिण आफ्रिकाका कोयला सस्ता है, और बंगाल-बिहारका कोयला मंहगा। हिन्दुस्तानके बाजारमें ताता कम्पनीका लोहा बेलजियम या जर्मनीके लोहेसे कहीं मंहगा है। रेलकी लाइनें एकही मालिक अर्थात् सरकारकी हैं, पर ठेका दिया गया है भिन्न भिन्न कम्पनियोंको। इस कारण इनमें प्रायः हितविरोध रहा करता है। कम्पनियोंकी सदा यही चेष्टा रहती है कि अपनी अपनी आमदनी बढ़ावें। बढ़ा घटाकर वा प्रलोभन देकर कम्पनियां सब काम अपनी ओर खींचनेका प्रयत्न करती रहती हैं। उनका उद्देश्य है कि जिस तरह हो हिस्सेदारोंको खूब मुनाफा बाँटें, इसमें देशी रोजगारको नुकसान पहुंचे तो बलासे। इस लूटमें जहाज कम्पनियां भी साथ देती हैं, बन्दरगाहोंपर जो विदेशी तैयार माल भारतके बाजारोंमें खपनेके लिये आता है वह रेलों द्वारा ही देशमें फैलाया जाता है। इसलिये रेल और जहाजवाले मिल जाते हैं। जो जहाज कम्पनी रेलवालोंको विदेशी माल लाकर ढोनेको देती है उसीको रेलवाले भी देशी कच्चा माल रफ्तनीके लिये देते हैं। इसके लिये रेलकम्पनियोंमें होड़ लग जाती है। जी० आई० पी० वाले चाहते हैं कि कुल कच्चे मालकी रफ्तनी बम्बईके बन्दरगाहसे हो और ई० आई० वाले चाहते हैं कि हम लोग ही सब किराना और तेलहन ढोकर कलकत्तेके डेकमें पहुंचा दें। इस होड़ा-होड़ीमें देशी व्यवसायोंका ही दिवाला निकलता है, विदेशी मालवाले तो सस्ते भाड़ेसे लाभ ही उठाते हैं। जबसे रेल कम्पनियोंने आपसमें झगड़कर चीनीका भाड़ा कम किया तबसे विदेशी चीनीकी आमद बढ़ गयी और देशी खांड़का व्यवसाय बैठता गया।

फिर देखिये, कलकत्तेसे बम्बई जानेके लिये बंगाल-नागपुरका रास्ता नज़दीक है, पर रोजगार ई० आई० के हाथ है यद्यपि उसका रास्ता घुमावका है। कलकत्तेसे पंजाब तथा उत्तर भारत जानेके लिए मुगलसराय-रुहेलखण्ड रेलकी राह नज़दीक है, पर ईस्ट इंडियन रेलकी जबरदस्तीसे माल दिल्ली कालका होकर ही जाता है। कारण यह है कि कलकत्तेका बाजार रुहेलखण्ड रेलके हाथ नहीं है। घुमावके रास्तेसे समय अधिक लगे, भाड़ा ज्यादा खर्च हो, रेलके डब्बे ज्यादा घिसें तो घिसें, पर कम्पनीको लाभ ज़रूर होना चाहिये। एक कम्पनी मुंह ताके और दूसरी माल उड़ाये, यही न्याय है। रोज रोज डब्बोंकी कमीकी पुकारसे आकाश गुंजाया जाता है, पर लोगोंको मालूम नहीं कि यह अकाल कृत्रिम है। पंजाबवालोंको जब कोयलेकी ज़रूरत होती है तब ईस्ट इंडियनके पास जाना पड़ता है क्योंकि कोयला उसीसे मिल सकता है। मुगलसराय-सहारनपुरकी राह सीधी होनेपर भी ईस्ट इंडियन

लाइन उन्हें घुमावके रास्तेसे गाजियाबाद होकर कोयला ले जानेको बाध्य करती है। जब ईस्ट इंडियन लाइनको डब्बेकी तंगी रहती है, सम्भव है उसी समय रुहेलखण्डके डब्बे बेकाम पड़े रहते हों। जब पंजाबसे ईस्ट इंडियनके डब्बे खाली लौटते रहते हैं, सम्भव है उसी समय रुहेलखंड लाइनडके डब्बे भी कलकत्तेसे गेहूं पहुंचा कर फिरती खाली जाते रहते हों। यह सब अंधेर इसीलिये होता है कि रेलकी लाइनोंका अलग अलग प्रबन्ध हो रहा है, एक मालिककी सम्पत्ति होते हुए भी भिन्न भिन्न ठेकेदारोंके कारण आपसमें एक प्रकारका झगड़ा चलता रहता है। तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंसे सबसे ज्यादा रुपया आता है सही, पर उनके कष्टोंको देखने वाला कोई नहीं। कंपनीके संचालक इतनी दूर रहते हैं कि वहां तक हमारी आवाज़ ही नहीं पहुंचती। नौकरी भी देशी लोगोंको मुश्किलसे मिलती है। ऊंचे ओहदे तो हिन्दुस्तानियोंके लिये बन्द ही हैं। रेलकी अच्छी नौकरी मानों ऐंग्लो-इंडियनकी खास सम्पत्ति बन गयी है। एक ही काम करनेके लिये हिन्दुस्तानियोंको जितना मुशाहरा मिलता है, ऐंग्लो-इंडियनोंको उससे कहीं ज्यादा मिलता है। एक जी० आई० पी० का ही उदाहरण लीजिये। जहां हिन्दुस्तानी स्टेशन मास्टर ८५ से १५० रुपये तक मुशाहरा पाता है उसी ओहदे और उसी कामपर ऐंग्लो-इंडियन चार सौ पाता है। सोलह सौसे तीन हज़ारके ओहदोंपर जहां १८ ऐंग्लो-इंडियन काम कर रहे हैं वहां एक भी हिन्दुस्तानी नहीं है। बारह सौ मुशाहरा पाने वाले अफसरोंमें ३६ गोरे और सिर्फ ४ काले हैं। इंजिनियरिंग विभागमें छोटे छोटे ओहदोंपर भी—जहां तीन सौसे कम ही मुशाहरा मिलता है—आधेसे ज्यादा गोरे हैं। इसका कारण हिन्दुस्तानियोंकी अयोग्यता नहीं वरन् गोरी कम्पनियोंका पक्षपात है। आकवर्थ कमिटीने भी इसे स्वीकार किया है।

सरकारी प्रबन्धके दोष।

रेलप्रबन्धसे सम्बन्ध रखने वाली असुविधाओंका यहां दिग्दर्शन मात्र कराया गया है, लोग इसे दूर करनेके उपाय बतला रहे हैं। पर वैद्योंमें ही मतभेद मालूम होता है, कोई कहता है कम्पनियां रहें और कोई कहता है नहीं, सारा इन्तजाम सरकार अपने हाथ में ले ले। दोनों दलोंमें देशी विदेशी लोग पाये जाते हैं, विदेशियोंमें भी बहुत से ऐसे हैं जो सरकारी प्रबन्ध ही पसन्द करते हैं। देशी लोगोंमें अधिकांशकी राय सरकारी प्रबन्ध जारी करा देनेकी है। ईस्ट इंडियनका पट्टा १६२४ में अर्थात् आगामी वर्ष और जी० आई० पी० का उसके थोड़े ही दिनों बाद खतम होता है इसलिये सलाह दी जा रही है कि अबसे पट्टा नया न कराया जाय।

अब हमें देखना चाहिये कि सरकारी प्रबन्धसे कहां तक उम्मीद की जा सकती है। और देशोंमें भी सरकार रेलोंका प्रबन्ध करती है। कनेडा, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्वीजरलैण्ड, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिण आफ्रिका और जापान इसके उदाहरण हैं। हमारे देशमें बहुधा इन देशोंका ही उदाहरण पेश किया जाता है, पर यह निर्णायक नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि जांचनेसे पता लगता है कि उन देशोंमें भी फिजूल खर्च ज्यादा है, कहीं कहीं नफा तो दूरकी बात है सूद भर भी वसूल नहीं होने पाता और कहीं, जैसी कि इटलीकी

हालत है, नुक़सान ही नुक़सान उठाना पड़ रहा है। घूसखोरी और दग़ाबाज़ीकी भी कमी नहीं है। जब उन देशोंमें जहां लोग स्वतन्त्र हैं, जहां राज्यप्रबन्धपर सर्वसाधारण-का अधिकार है, सरकारी रेलोंकी यह बुरी गत है तब क्या सुबूत है कि हिन्दुस्तानमें वैसा न होने पावेगा? हम लोग अपने यहांके पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंटका ही उदाहरण क्यों नहीं लेते? वहां किस तरह रुपया उड़ाया जाता है, यह हम लोगोंको बखूबी मालूम है। यह तो सब कोई जानते हैं कि सरकारको मकान बनवानेमें सर्वसाधारणसे कहीं ज़्यादा खर्च पड़ता है। यही नहीं इससे भी बढ़ कर बुराइयोंके होनेका डर है। जर्मनीका अनुभव बतलाता है कि सरकारको जब रुपया इकट्ठा करना होता है तब वह रेल भाड़ा बढ़ाना सुगम समझती है, इसमें एक बातका सुभीता है: सरकारको तो मजेमें काफी रकम मिल जाती है और प्रजामें असन्तोष भी नहीं फैलने पाता, जैसा कि प्रत्यक्ष टैक्स बैठानेसे होता है। हमारी सरकार भी इससे बाज़ नहीं आयी है। लड़ाईके जमानेमें तो भला सब कुछ जायज था, इसलिये मालपर थोड़ासा अधिक टैक्स बैठा देना उतना बुरा नहीं कहा जा सकता। पर जब १६२१-२२ (संवत् १६७८ में) घाटा होते देखा गया तब फिर भी वही 'सरचार्ज' बैठाया और इस दफा पहिलेसे भी ज़्यादा। हां, मान लिया कि १६२२ के अप्रैल (संवत १६७८ के प्रारंभ) से यह सरचार्ज उठा दिया गया है पर इसमें सन्देह नहीं कि जरूरत पड़नेपर इसका उपयोग फिर भी किया जायगा। एक वैसी सरकार जो रोज रोज खर्च बढ़ाती जा रही है, जिसको कोई रोक टोक नहीं है, जिसका खजाना हर तरफसे खाली हो रहा है और जो फौजी खर्चमें आमदनीका ज्यादा हिस्सा लगा दिया करती है, रेलको आमदनीका एक जरिया बना लेगी, और वाणिज्य व्यापारको धक्का पहुंचायेगी, इसमें ताज्जुब ही क्या है?

आजकल जो प्रायः दस लाख आदमी रेलमें काम करते हैं, सरकारी प्रबन्ध होनेसे वे सबके सब सरकारी अफसर हो जायंगे, यह भी अनुचित ही होगा। अभी तो जब कि रेलकर्मचारी एक व्यवसायी कम्पनीका मुलाजिम है रेलके हाते में ज़ोर जुल्म करने और अपनी शान दिखानेसे बाज़ नहीं आता। निरीह मुसाफिरों तथा व्यापारियोंको इन स्टेशन बाबुओं और गार्ड साहबोंके हाथ कितनी लांछना उठानी पड़ती है यह सबपर जाहिर है! फिर, जब ये पूरे सोलह कलाओंसे पूर्ण सरकारी अफसर हो जायंगे तब तो भगवान् ही रक्षा करें। इनका दौरात्म्य पुलिससे ज़रा भी कम न रहेगा। जिन लोगोंने फ्रांस वग़ैरह जैसे सुसभ्य देशोंकी सफर की है उनका अनुभव है कि रेलके सरकारी कर्मचारी वैसा अच्छा सुलूक नहीं करते। सरकारी नौकरी हो जानेसे रेलवाले ला-परवाह हो जायंगे, क़िफ़ाय-तका ख़याल ही मिट जायगा, सरकारी माल दरियामें ढालने लगेंगे। रेलमें नफा हो या नुकसान उनका मुशाहरा तो घटनेका नहीं, जब तरक्कीके दिन पूरे होंगे तरक्की ज़रूर मिलेगी। गैरसरकारी नौकरोंको तो डर बना रहता है कि अगर मुनाफा न दिखा सके तो फिर नौकरीसे ही हाथ धोना पड़ेगा, पर सरकारी नौकरोंको वह डर कहां? आजकल हर तरफसे सुना जा रहा है कि सरकारको टोटा हो रहा है। पर क्या कभी यह भी सुना है

कि सरकारने इसके लिये अपने मुनीमसे कैफियत तलब की है ? अगर आमदनी कम हो रही है तो खर्च कम न कर टैक्स बढ़ा कर आमदनी बढ़ानेकी सलाह अनायास दी जाती है, डाक महकमेमें लोगोंने हुल्लड़ मचाया, मुशाहरा बढ़ा, आमदनी खर्च ज्यादा होने लगा, इस लिये डाकका महसूल ही बढ़ा दिया गया। कैसा न्याय है! कारखाना फेल कर रहा है तो मनेजर, मुनीमको सजा न देकर ग्राहकोंका रुपया छीन लो! आप निश्चय जानें कि रेलोंके सरकारी प्रबन्धमें जानेपर यह जरूर होगा। रेल-वाले सरकारी अफसर बन जाने पर अपना अपना गुट बना लेंगे, ये ऐंग्लो-इंडियन कर्मचारी भी सिविलियनोंकी तरह सरकारकी नकेल जिधर चाहेंगे मोड़ेंगे, जब चाहेंगे हल्ला मचाकर मुशाहरा बढ़वालेंगे, तरह तरहका भत्ता ईजाद करेंगे, हिन्दुस्तानकी गर्म आबहवासे बचनेके लिये विलायत आने जानेका भाड़ा मांग बैठेंगे और जाते जाते पेन्शनका बोझ लाद जायंगे। सरकारी ओहदा मिलनेसे शान वो शौकत भी बढ़ेगी, रेलके स्टेशनों और आफिसोंपर चपरासी अरदलियोंका तांता लग जायगा, उस वक्त इनके विना बड़े छोटे साहबोंको हाथ पैर हिलाना मुश्किल हो जायगा।

व्यवस्थापक सभाओं द्वारा इन बुराइयोंका रोका जाना असम्भव ही दिखता है। जहां तक देखा जाता है हमारे व्यवस्थापक लोग भी इस बहती गंगामें नहानेसे बाज न आयँगे। और देशोंका अनुभव भी यही बताता है। क्या ताज्जुब है कि हमारे व्यवस्थापक भी और देशोंके व्यवस्थापकोंकी तरह, रेलवालोंको, व्होटके लिये राजी रखनेकी चेष्टा करें, उनका मुशाहरा बढ़वायें, नयी जगहोंमें रेल ले जाय जहां नफाकी उमीद ही न हो, अपने भाई-बन्दों या रिश्तेदारोंको नौकरी दिलानेके लिये परपञ्च रचें और इसी तरह रेल विभागको राजनीतिक खिलाड़ियोंका रंगमंच बना डालें। तिलका ताल खड़ा करना, बालकी खाल खींचना, बात बातमें एक नया 'फाईल' खड़ा कर देना, बेकामकी लिखा पढ़ी बढ़ाना, एक दिनका काम दस दिन तक ले जाना जितना सरकारी अफसर और उनके पार्श्वचर आफिसके क्लार्क लोग जानते हैं उतना शायद हो कोई जान सकता हो। बेकामका काम बढ़ाकर क्लार्क भर्ती करते जाना तो उनके लिये बांये हाथका खेल है। जिसे विश्वास न हो वह पिछले दस-पांच वर्षोंका इतिहास देख डाले, सरकारी कर्मचारी किस क़दर बढ़े हैं इसका अनुमान लगा ले। रेलका प्रबन्ध सरकारके हाथ चले जानेपर भी यही होगा, इसमें तनिक सन्देह नहीं। देखते देखते अलादीनके महलकी तरह एक लम्बा चौड़ा 'रेलवे सेक्रेटरियट' खड़ा हो जायगा जिसमें अगणित काले, पीले और गोरे अफसर, क्लार्क तथा चपरासी अरदली नज़र आने लगेंगे। अफसरोंका सारा दिन फाईल जांचने, नोट लिखने और दस्तखत करनेमें खर्च होता रहेगा। हां, जब तबीयत ऊब जायगी तब अलबत्ता अपने अपने सेलूनमें बैठकर सफ़र कर आया करेंगे और डबल भत्ता लेंगे। सची तरक्की ताकपर रख दी जायगी। जब सालके आखिरमें टोटा होने लगेगा तो बढ़िया बढ़िया स्पीच देकर, व्यवस्थापकोंको राजी कर टैक्स बढ़वा लेंगे और फिर साल भर आरामकी नींद सोने चले जायंगे। यह आशंका निर्मूल नहीं है, सरकारी महकमोंका प्रबन्ध ही ऐसा है, इसका इतिहास ही यह कह रहा है।

क्या करना चाहिये ?

असल बात तो यह है कि रेलका रोजगार भी और रोजगारोंकी तरह है, इसमें राजनीति घुसाना अनुचित है। रेल चलाना है तो नफ़ा-नुकसान, आमद-खर्चका पूरा पूरा खयालकर व्यवसायकी नीतिपर चलाइये। सरकारी प्रबन्धमें यह बात बिलकुल नहीं होनेकी। फिर करना क्या चाहिये ? वर्त्तमान स्थिति भी असन्तोषजनक है तथा सरकारी प्रबन्ध भी नुक्सान ही पहुंचाने वाला है। फिर इसकी दवा ? जिन लोगोंको व्यवसायका पूरा अनुभव है, तथा जिन्होंने कम्पनियों अथवा सरकारी प्रबन्धके गुण-दोषका निष्पक्ष होकर विचार किया है, वे कहते हैं कि सबसे पहले तो ई० आई० तथा जी० आई० पी० का पट्टा नया न किया जाय। फिर उसके बाद रेल लाइनोंका वाणिज्य-व्यापारका सुभीता देखकर जुमला बांध दिया जाय। जैसे उत्तर भारतका व्यापार कलकत्तेसे ज्यादा सम्बन्ध रखता है, इस लिये मुनासिब है कि ई० बी, ई० आई० तथा ओ० आर० रेल लाइनोंको इकट्ठा करके एक प्रबन्धके अधीन रख दें। मुनासिब तो होता कि बी० एन० डबल्यू० को भी इसमें शामिल कर लेते, पर वह खास कम्पनीकी सम्पत्ति है। खैर, उसे छोड़कर इन तीनोंको जो सरकारकी हैं, इकट्ठा करनेमें कोई भी उज्र नहीं हो सकता। इससे आपसकी चढ़ा ऊपरी करके जो व्यापारको नुक्सान पहुंचाया जा रहा है वह भी दूर हो जायगा और खर्च भी घटेगा। जब्बलपुर वाली लाइन ई० आई० से लेकर जी० आई० पी० के प्रबन्धमें दे देनी पड़ेगी। इस तरह जुमला कर लेनेके बाद एक नयी कम्पनी खड़ी की जाय, जिसकी रजिस्ट्री हिन्दुस्तानमें हो, जिसकी पूंजी रुपयोंमें हो, विलायती सिक्कोंमें नहीं। इस कम्पनीमें सरकारी, गैरसरकारी दोनों पूंजी लगायी जाय। तीनों लाइनोंमें अभी सरकारी पूंजी लगी हुई है, इसलिये नयी कम्पनीमें सबसे ज्यादा हिस्सा सरकारका रहे, शेष पूंजी पब्लिकमें शेयर बेचकर खड़ी की जाय। शेयर बिक्री करनेमें किसी तरहकी असुविधा नहीं देखी जा सकती है, हिन्दुस्तानमें काफी रुपया मिल जायगा, बाहरवाले भी रुपया देंगे। पूंजीका सबसे बड़ा हिस्सा सरकारका दिया हुआ है, यह जानकर जन-साधारणको रुपया लगानेमें संकोच न होगा। इस कम्पनीका आफिस कलकत्तेमें हो, और देशी विदेशी दोनों ही डाइरेक्टर बनें, तथा सरकार भी अपनी ओरसे संचालक बहाल करे। सरकारसे सम्बन्ध रखनेके कारण इस कम्पनीकी इज्जत भी होगी और गैरसरकारी संचालकोंके हाथमें प्रबन्ध रहनेके कारण इसका हिसाब-किताब भी व्यवसायके नियमोंपर चलता रहेगा, फिजूलखर्ची न होने पावेगी, संचालकोंको खर्च रोकने और मुनाफा दिखानेका मौका मिलता रहेगा। रेलका काम और मामूली कामोंसे अलग है, इसमें जानका जोखिम है, देशके वाणिज्य-व्यवसायकी उन्नति-अवनति इसपर अटकती है. लड़ाईके समयमें देशकी रक्षाका कार्य इसके बिना असम्भव है, इसलिये सरकारकी पूरी निगरानी भी ज़रूरी है। जिस तरह आमद-खर्चके ख़यालसे रेलोंका प्रबन्ध कम्पनीके हाथ छोड़ देना उचित है उसी तरह इन ज़रूरतोंके लिये सरकारी निगरानी भी आवश्यक है। इसके लिये कानून बना कर कम्पनीको पाबन्द कर दिया जाय।

१९२१-२२ की रिपोर्ट

रेल विभागका १९२१-२२ (संवत् १९७८) वाला वार्षिक विवरण अभी निकला है। उससे रेलकी वर्त्तमान अवस्थाका पता चलता है। आज बीस वर्षोंसे जो मुनाफा दिखाया जाता था वह इस साल गायब है। गायब ही नहीं, बल्कि नुक़सान भी हुआ है। सरकारने रेलोंमें ५०६ करोड़की पूंजी लगायी है, इस पूंजीपर सरकारको इस साल मिला ८२ करोड़ और खर्च हुआ सवा एकानवे करोड़, अर्थात् सवा नौ करोड़का टोटा रहा। इधर कई वर्षोंसे कमसे कम ५।६ करोड़की खालिस बचत हुआ करती थी, यह तो जाती रही, उल्टा नुक़सान भी उठाना पड़ा। इस हिसाबसे कोई १५।१६ करोड़का घाटा समझना चाहिये। इसे कौन पूरा करेगा ? हिन्दुस्तानी प्रजा। उसपर टैक्सका बोझ लादा जायगा। सरकारी अफसर यह कहकर मनको सन्तोष दे रहे हैं कि चलो यह घाटा थोड़े दिनके लिये है। फिर तो नफ़ा होगा ही। पर लक्षण बुरे मालूम पड़ रहे हैं इस साल (१९२२-२३) 'सरचार्ज' उठा कर मालका महसूल बढ़ाया गया है, मुसाफिरोंका भाड़ा भी सवाया कर दिया गया है। हमारे अर्थसचिव सोचते थे कि इससे कोई बारह करोड़की आमदनी बढ़ेगी पर आदमी सोचता कुछ है और होता है कुछ और। हफ्तेपर हफ्ता बीतता जा रहा है, साल भी पूरा हो चला, बचतकी बात तो दूर रही, जितना अनुमान किया जा रहा था उसमें भी कोई आठ करोड़की कमी हो रही है। क्या इन्हीं दो तीन महीनोंमें जो अब साल पूरा होनेको रह गये हैं इतनी घटी पूरी हो जायगी ? नहीं, इसकी आशा ही व्यर्थ है। बल्कि अनुमान तो ऐसा किया जाता है कि यह हालत कुछ दिनों तक रह जायगी। लोग कह रहे हैं कि पूंजी लगानेसे आमदनी बढ़ेगी। आमदनी तो बढ़ेगी पर पूंजीपरका सूद भी तो बढ़ता जायगा; और फिर जब तक नयी लाइनें वा नये कारखाने चल न निकलेंगे तब तक तो खर्च ही खर्च रहेगा, आमदनी नामको भी न होगी। असल बात तो यह है कि मुसाफिर और मालका भाड़ा बेहद बढ़ा दिया गया है जिससे लोग रेलसे बाज़ आने लगे हैं। जब तक महसूल कम न किया जायगा, आमदनी बढ़नेकी आशा नहीं है। खर्च कम करनेकी जो पुकार चारों ओरसे उठ रही है वह रेल विभागमें भी पहुंची है। आजकल बी० एन० रेलवे खड़गपुरके कारखानेसे हिन्दुस्तानी मजूरोंको हटा रही है। यही तो न्याय है। जब विलायतमें बेकारी बढ़ रही थी, तब तो रेलकी पूंजी बढ़ा कर रेलके डब्बों 'इञ्जनोंका कंट्राक्ट विलायती कम्पनियोंके हाथ दिया गया, माल कहांन सस्ता मिलेगा-इसपर जरा भी ध्यान न देकर महंगा पर विलायती सामानही लेना ठीक ठहरा, क्योंकि वहां तो बेकारी दूर करनी थी। पर हिन्दुस्तानमें बेकारी बढ़ेगी, यहांके लोग बेरोजगार होकर भटकेंगे, इसकी किसको परवाह है। जब तक कम्पनियां विलायतमें रहेंगी, जब तक उनपर देशी लोगोंका अधिकार न होगा, यही हालत बनी रहेगी। पर इस बलाको दूर करनेके लिये खूब सोच विचार कर आगे बढ़ना पड़ेगा, कहीं ऐसा न हो कि लेनेके देने पड़ जायँ।

अर्थशास्त्री

अवस्था और व्यवस्था।

मैनेजिंग एजंसीके सम्बन्धमें, पौषके 'स्वार्थ' में काफी लिखा जा चुका है। सन्तोषका विषय है कि लोगोंका ध्यान, वर्तमान प्रबन्ध-प्रणालीमें सुधारकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो रहा है। उस लेखके प्रकाशनके कुछ दिन बाद कलकत्तेके 'इण्डस्ट्रियल क्लब' में एक अनुभवी हिसाब-परीक्षकने एक निबन्ध पढ़ा। उसमें इस विषयकी आलोचना करते हुए आपने भी मैनेजिंग एजंसीकी प्रथाके नियन्त्रणके लिये क़ानूनमें संशोधनकी अपील की। आपकी सम्मति उद्धृत करने योग्य है—

"इस देशमें कंपनियोंका प्रबन्ध बहुतकर मैनेजिंग एजंटों द्वारा होता है। इनके साथ जो शर्तें तय होती हैं वह 'आर्टिकिल्स आव् असोसियेशन' अर्थात् कंपनीकी निर्म्माण-नियमावलीमें रहती हैं। आप अक्सर देखेंगे कि मैनेजिंग एजंट बीस बरससे कमके लिये नियुक्त नहीं होते। हज़ारों वेतनके अलावा कमीशन पाते हैं। फिर भी उन्हें बर्खास्त करनेके लिये यह ज़रूरी होता है कि उन्हें बारह महीने पहिले नोटिस दिया जाय, सो भी कमसे कम तीन-चौथाई शेयर-होल्डरोंकी ओरसे। मुझे कंपनियोंके हिसाब-किताबकी जांचका काम करते दस बरस हो गये, पर आज तक मैंने यह कहीं न देखा कि शेयरहोल्डरों (हिस्सेदारों) के हटानेसे मैनेजिंग एजंट हटे हों। उनकी शर्तें इतनी कड़ी होती हैं कि उन्हें हटाना लाज़िम और ज़रूरी होने पर भी शेयरहोल्डर उन्हें हटा नहीं सकते। संसारमें और कहीं ऐसी अवस्था देखनेमें नहीं आती। मेरी राय है कि शेयरहोल्डरोंकी पहिली साधारण बैठकमें, मैनेजिंग एजंटोंकी नियुक्तिका प्रस्ताव उनकी स्वीकृतिके लिये उनके सम्मुख उपस्थित किया जाय। आखिर बिना शेयरहोल्डरोंका नियुक्तिपत्र पाये, किसीके लिये उनका प्रतिनिधि बन बैठना क़ानूनकी दृष्टिमें, कहां तक उचित और न्याय्य है? यह बड़ी विचित्र बात है कि क़ानूनने मैनेजिंग एजंट बहाल करनेका अधिकार उनको दे रखा है जो आप ही मैनेजिंग एजंट बन बैठते हैं! आप अपना जो पुरस्कार चाहें नियत कर लें, और सौमें ९५ शेयरहोल्डरोंको पीछे यह नागवार भी जँचे तो उनके लिये इसमें रत्तीभर भी हेर-फेर करना असंभव हो जाय—इससे बढ़कर विधान-विडम्बना और क्या हो सकती है!"

वास्तवमें इसके लिये प्रधानतः उत्तरदायी वह कम्पनी ऐक्ट है जिसके दोषोंकी टट्टीकी आड़से धूर्त्त और मक्कार प्रोमोटर (कम्पनी खड़ी करने वाले), डाइरेक्टर (सञ्चा-

तक), या मैनेजिंग एजंट (प्रबन्ध प्रतिनिधि) शेयरहोल्डरोंके धनका शिकार करते हैं। सारे रोग उन्हीं दोषोंके दलदलसे पैदा हो रहे हैं, अतएव उनसे स्थायी छुटकारा तभी मिल सकता है जब हम उनके उत्पत्तिस्थानको स्वास्थ्यकर बना डालें। आवश्यकता रोगोंके प्रशमनकी उतनी नहीं, जितनी उनके मूलोच्छेदकी है।

जिस विधानसे प्रस्तुत विषयका सम्बन्ध है उसे 'इंडियन कंपनीज़ ऐक्ट' (भारतीय कम्पनी विधान) कहते हैं और जो ऐक्ट इस समय जारी है वह संवत् १९६९ में पास हुआ था। इसके पहले जो ऐक्ट जारी थे उनका सार-भाग लेकर और उसमें कई नयी बातें मिलाकर यह ऐक्ट बनाया गया। भारतीय विधान बराबर अंग्रेजी विधानका अनुसरण करता आया है। इंग्लैण्डके कंपनी-कानूनके इतिहासमें संवत् १९१८ का ऐक्ट बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यह संवत् १९६४ तक जारी रहा। इस बीचमें कई संशोधक और अभाव-पूरक ऐक्ट पास हुए, पर सारी इमारतका फौलादी ढांचा संवत् १९१८ का ही ऐक्ट बना रहा। अब अपने देशकी बात लीजिये। भारतीय व्यवस्थापिका सभाने संवत् १९२२ में १९१८ वाले अंग्रेजी ऐक्टके ढंगपर एक व्यापक ऐक्ट पास किया। यह संवत् १९३८ तक जारी रहा। उस साल फिर यहांके कानूनको तत्कालीन अंग्रेजी कानूनके समान बनानेकी चेष्टा की गयी। जो ऐक्ट इंग्लैण्डमें इस बीचमें बन चुके थे उनका निचोड़ लेकर और संवत् १९२२ के ऐक्टमें आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ी कर संवत् १९३८ का इंडियन कंपनीज़ ऐक्ट बनाया गया। यह संवत् १९६९ तक प्रचलित रहा। हां, बीचमें समय समयपर संशोधन होते रहे। संवत् १९६४ में अंग्रेजी कानूनका एक बार फिर सुधार किया गया। बीचके ४६ बरसोंमें कितने ही संशोधन विधान पास हो चुके थे। सारा कानून अस्तव्यस्त अवस्थामें था। यह जानना अत्यन्त कठिन था कि किसी विषयपर क़ानूनका मन्शा क्या है। उलझनें बेहद बढ़ गयी थीं। उन्हें सुलझानेके लिये संवत् १९६४ का ऐक्ट पास हुआ। रास्ता बहुत कुछ साफ और सुगम हो गया। भारतमें भी कानूनका सुधार अनिवार्य हो रहा था। इस सुधारमें संग्रहसे संशोधनकी आवश्यकता कहीं बढ़कर थी। संवत् १९६९ के भारतीय विधानका आधार संवत् १९६४ का अंग्रेजी विधान है। पर इसे पास हुए पूरे छः बरस भी न हुए थे कि इसके दोष देख पड़ने लगे। इसके संशोधनका प्रस्ताव होने लगा। ज्यों ज्यों समय बीतता है, यह प्रस्ताव ज़ोर पकड़ता जाता है। इसका कारण क्या है?

इंग्लैंड और यहांकी अवस्थाओंमें बहुत अन्तर है। व्यापारसंसारके सारे व्यवहार-नियम लिपिबद्ध नहीं होते। बहुतसी बातें परम्परा या परिपाटीके अनुसार हुआ करती हैं। व्यवस्थापक भी उन बातोंपर कानूनकी छाप देनेका विचार नहीं करते। वह इसे व्यवसायी समाजका अपमान समझते हैं। व्यवस्था बराबर अवस्थाके अनुसार होती है, जिसका एक अर्थ यह है कि व्यवस्थापक अपना कार्य आरम्भ करनेके पहले

कुछ बातें 'मान लेते हैं'। कम्पनी-विधानका आयोजन करनेके पहले भी समाजमें व्यावहारिक सदाचारकी एक मात्रा मान लेनी पड़ती है। हमारी कठिनता यह हो रही है कि हमारे व्यवस्थापकोंने मान तो लिया कि इस देशके कंपनी-प्रोमोटर, डाइरेक्टर या मैनेजिंग एजंट बिना किसी दबावके उस सदाचारकी राहपर चलेंगे, पर उनकी आशा या अनुमान और प्रकृत अवस्थामें बड़ा अन्तर पड़ रहा है। समवायके सिद्धान्तपर चलने वाले व्यवसायकी सफलताके लिये जो गुण आवश्यक हैं उनका परिचय हममेंसे बहुत थोड़े लोग दे सकते हैं। यदि कहें तो कह सकते हैं कि यहां अपने अपने लिये तो सब हैं, पर सबके लिये परमेश्वर है। जो देख सकते हैं वह अपना ही स्वार्थ देखते हैं. समष्टिका नहीं। इसमें धूर्त्त और बेईमानोंकी खूब बन आती है। अवश्य ही धूर्त्त और बेईमान पाश्चात्य देशोंमें भी होते हैं, पर मुख्य बात यह है कि वहां लोकमत अत्यन्त प्रभावशाली है और यहां लोकमतका कहीं नाम भी नहीं वहां अगर शेयरहोल्डरोंके स्वार्थकी कहीं हत्या होती है या उनकी आंखोंमें धूल झोंककर कोई अपना मतलब निकालना चाहता है तो बातकी बातमें इसके विरुद्ध खासा आन्दोलन खड़ा हो जाता है, पर यहांके व्यवसाय-संसारमें छल और पाखण्डका बाज़ार दिन-रात गरम रहनेपर भी कोई किसीके विरुद्ध चूं तक नहीं करता। इसके कारणोंकी आलोचना करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इससे मिलने वाली शिक्षाके ग्रहण करनेकी है। संवत् १९६९ के ऐक्टको अनुभवकी कसौटीपर अच्छी तरह कसकर हमने देख लिया कि यह इस देशकी अवस्थाके अनुकूल नहीं है। आजसे तीन-चार बरस पहलेकी बात है कि देशमें सहसा कंपनियोंकी धूम मच गयी। लाखों करोड़ोंकी पूंजीकी कंपनी खुलती थी और शेयर हाथों हाथ बिक जाते थे। आज जनसाधारणका दरवाज़ा दिन रात खटखटाते रहनेपर भी अच्छीसे अच्छी कंपनी अपने चौथाई शेयर नहीं बेंच पाती, पर उस समय तो कितनी ही कंपनियां इस सूचनाके साथ जन्म लेती थीं कि सर्वसाधारणके लिये शेयर उपलभ्य नहीं हैं। शेयरोंका दाम चम्बल नदीकी बाढ़की तरह बढ़ता गया। लोग आंख मूँद कर रुपये फेंकते गये। चार दिनोंकी चाँदनीमें बड़ी चहलपहल रही। तब मंदीकी वह अँधियारी रात शुरू हुई जिसका अन्त अभी तक न हो पाया। धीरे धीरे दूध और पानी अलग होने लगे, लोगोंको भलेबुरेकी पहचान होने लगी। कितने घर बरबाद होगये, कितने अपने रुपयेसे हाथ धो बैठे, जिनके भाग्य अच्छे थे वह भी अभीतक कुछ लाभ न उठा सके, पर यह अनुभव सबको हो गया कि कानूनके छिद्रोंसे लाभ उठानेवालोंकी संख्या इस देशमें जितनी ही अधिक है उतनाही यह काम आसान भी है। तबसे प्रचलित विधानके संशोधनका प्रस्ताव कई बार किया जा चुका है और आने वाले दिनोंमें भी इसके अधिकाधिक समर्थित किये जानेकी ही संभावना है—जब तक कि जनताकी मांग पूरी नहीं हो जाती। ऐक्टकी त्रुटियां अनेक हैं और उसके सुधारमें प्रत्येक पलका विलम्ब हज़ारोंकी लूट-खसोटका कारण हो रहा है। क्या हमारे व्यवस्थापक यह नहीं जानते? इस विषयकी सूक्ष्म विवेचनाकी और उस ऐक्टके परिमार्जन-

की आवश्यकता वह कब हृदयङ्गम करेंगे ? यहां दोषोंकी सूची नहीं दी जा सकती, पर परिस्थितिके दिग्दर्शनार्थ कुछ मोटी बातें बतायी जा सकती हैं। नीचे जो कुछ लिखा गया है इसी दृष्टिसे, और आशा है इसपर समुचित विचार किया जायगा।

कंपनीके संचालक जिस नोटिस, सूचनापत्र या विज्ञापन द्वारा जनताको उसमें धन लगाने या उसके शेयर खरीदनेको आमन्त्रित करते हैं उसे 'प्रास्पेक्टस' कहते हैं। प्रास्पेक्टसमें किन बातोंका समावेश रहना चाहिये, वह कब और किस रूपमें प्रकाशित होना चाहिये—इस सम्बन्धमें कानूनके कड़े नियम हैं। अधिकतः प्रास्पेक्टसकी बातोंके आधार-पर ही जनता कंपनीसे नाता जोड़ती है, इसलिये कानूनने इसपर बड़ा ज़ोर दिया है, कि प्रास्पेक्टस बड़ी सावधानीसे तैयार किया जाय, वह कंपनीकी अवस्था दिखानेके लिये आईनेका काम दे, उसमें न तो कोई गलत, झूँठी, या भ्रामक बात आने पावे, न कोई सच्ची और ज़रूरी बात छूटने पावे। क़ानूनका उद्देश प्रशंसनीय है, पर क्या वर्त्तमान ऐक्टसे इसकी यथेष्ट पूर्ति होती है ? देखिये—

धारा ९३ के उपनियम १—घ के अनुसार प्रास्पेक्टसमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिये कि "कमसे कम" कितने रुपयेके शेयर बिक चुकने पर कंपनी "अलाटमेंट" करेगी अर्थात् शेयर लेनेकी इच्छा प्रकट करने वालोंमें शेयर बांटेगी। बिना "अलाटमेंट" अर्थात् हिस्सोंका वितरण वा बखरा किये कंपनी कारोबार शुरू नहीं कर सकती और बिना उस "कमसे कम" तायदादके शेयर बिके "अलाटमेंट" नहीं हो सकता। बिकनेका अर्थ है उतने रुपयेकी पहली किस्त—जो दरख्वास्तके साथ भेजी जाती है— कंपनीके पास पहुंच जाना। अगर उस "कमसे कम" तायदादके शेयर प्रास्पेक्टसके प्रकाशित होनेके १२० दिनके भीतर न बिक सके तो जितने रुपये इस बीचमें दरख्वास्त भेजने वालोंके आ चुके हों वह उन्हें फौरन लौटा दिये जायेंगे। कानूनने क्यों ऐसी व्यवस्था की, यह स्पष्ट है। पर साथ ही उसने इस विषयमें कुछ न कहा कि वह "कमसे कम" तायदाद क्या होनी चाहिये। चीनीकी एक कंपनी ३० लाखकी प्रस्तावित पूंजीसे खुली और उसके प्रास्पेक्टसमें कह दिया गया कि दस दस रुपयेके "कमसे कम" ५००० शेयर बिक चुकने पर "अलाटमेंट" होगा। मान लीजिये कि बहुत कुछ चेष्टा करने पर इतने शेयर बिक गये। यह भी मान लीजिये कि कंपनीने फी शेयर१) के हिसाबसे ५०००) दरख्वास्तोंके साथ, और फी शेयर ५) के हिसाबसे २५०००) "अलाटमेंट" करनेपर पाये। अब उसे कार्य्य प्रारम्भ करनेका अधिकार मिल गया। पर सिर्फ ३००००) रुपया क्या ऐसी कंपनीके लिये, उसकी प्रारम्भिक अवस्थामें भी यथेष्ट हो सकता है ? यदि और शेयर न बिक सके तो उस कंपनीके लिये 'लिक्वीडेशन' में जानेके अर्थात् हिसाब-किताब साफ कर कामकाज बन्द कर देनेके सिवाय और कोई उपाय न रह जायगा। अधिकांश कंप-नियां साधारणतः इसी कारण 'फेल' हो जाती हैं कि उनके पास काफी धन नहीं रहता। जो थोड़े बहुत रुपये शेयरोंकी बिक्रीसे आते हैं वह प्रारम्भिक खर्चमें ही चले जाते हैं।

दलाली, आफिस भाड़ा, वेतन, विज्ञापनकी छपाई इत्यादिमें ही सब कुछ स्वाहा हो जाता है। जिन लोगोंने शेयर लिये उन्हें बस पश्चात्ताप रह जाता है। यह अवस्था निरन्तर जारी है। लाखोंकी नयी कंपनियां खुलती हैं और लाखोंकी खुली हुई कंपनियां 'लिक्वीडेशन'में चली जाती हैं, अर्थात् टूट जाती हैं। उदाहरणके लिये सितंबर (भाद्र-आश्विन)के अंक लीजिये। २,०६,००,००० रुपयेकी पूंजीकी ४६ कंपनियां खुलीं और ३,७८,०० ००० रुपयेकी पूंजीकी २३ कंपनियां बन्द हो गयीं। राष्ट्रके धनका यह घोर अपव्यय है और ऐसा अपव्यय जो कितने घरोंको तहस नहस कर देता है। जो कंपनियां पूंजीके अभावसे लिक्वीडेशनमें जाती हैं उनके शेयरहोल्डरोंको क्या मिल सकता है, इस सम्बन्धमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। लाभ उन स्वार्थी कंपनी जन्मदाताओंका होता है जो इस बीचमें कंपनीके रुपयेसे गुलछर्रे उड़ाते हैं और तरह तरहके झूठे खर्च दिखाकर उसकी रकमका एक अंश अपने काममें लाते हैं यदि उनका उद्देश बुरा न भी हो और कंपनी उनके बचानेकी चेष्टा करने पर भी डूब जाय तो भी, जहां तक शेयरहोल्डरोंका सम्बन्ध है, परिस्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। कानूनने सोचा था कि प्राम्पेक्टसमें "कमसे कम" तायदाद देख कर जनता अपना कर्त्तव्य आप ही स्थिर कर लेगी। पर यहांकी भोली भाली जनता अभी इन बातोंका अर्थ भली भांति नहीं समझती। अतएव कानूनको अब साफ तौरपर कह देना चाहिये कि प्रस्तावित पूंजीका कमसे कम कितना भाग आ जाने पर कंपनीको "अलाटमेंट"का अधिकार हो सकता है। सीधीसादी बात है कि कंपनीके हाथमें कमसे कम इतना रुपया आ जाना चाहिये कि वह सचमुच कारोबार शुरू कर सके। इस समय तो अधिकांश कंपनियां कानूनकी दृष्टिमें अपना व्यवसाय प्रारंभ कर देती हैं, पर वास्तवमें उसी समयसे वह अपनी मौतके दिन गिनने लगती हैं। या यों कहना चाहिये कि उनका कानूनी जन्म और वास्तविक मरण एक साथ होता है। एक विशेषज्ञका कहना है कि पूंजीका सैकड़े ७५ भाग आजानेपर कंपनीको "अलाटमेंट"का अधिकार देना चाहिये। बात विचारनेकी है। इस समय उस "कमसे कम" तायदादके शेयर बेचनेके लिये कानून १२० दिन अर्थात् ४ महीनेका समय देता है। यदि पूंजीका एक भाग इस प्रकार निर्धारित कर दिया गया तो संभवतः यह अवधि कुछ और बढ़ा देनी होगी। बढ़ा दी जाय, कोई हर्ज नहीं, पर ऐसा कोई नियम अवश्य हो जाना चाहिये जिससे प्रस्तावित पूंजीका एक निर्दिष्ट भाग आये विना कंपनी कार्य्य प्रारम्भ करनेका अधिकार न पा सके। कारण स्पष्ट है। यदि कानूनने कंपनीको कार्य्य प्रारंभ करनेका अधिकार दे दिया और इसके कुछ ही दिन बाद वह बन्द हो गयी तो भी, जब तक उसका हिसाब-किताब साफ नहीं हो जाता, उसका सारा खर्च—आदिसे अन्त तक—उसके शेयरहोल्डरोंको देना पड़ेगा। पर यदि वह अधिकार पानेके पहिले—अर्थात् निर्दिष्ट तायदादके शेयर निर्दिष्ट समयके भीतर न बिक सकनेके कारण—कंपनी बन्द हुई तो शेयरके लिये दरख्वास्त भेजनेवालोंको उनका धन पाई पाई मिल जायगा, सिर्फ उन्हें सूदका नुकसान उठाना पड़ेगा। और उस समयतक कंपनीको जो खर्च पड़ा होगा उसके देनदार उसके डाइरेक्टर ही होंगे। जिस सुधारका यहां

प्रस्ताव किया गया है वह यदि हो गया तो दगाबाज और लुटेरे आजकी तरह गली गली कंपनी खोलते न फिरेंगे। होनहार कंपनियां भी कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होते ही धनके अभावसे, न डूबेंगी। या तो वह कर्मक्षेत्रमें उतरनेका अधिकार ही न पायँगी—जिसका अर्थ है कि जनताका धन व्यर्थकी बातोंमें खर्च न होगा—या वह बन्द भी होंगी तो किसी अन्य कारणसे। छः महीनेमें यदि कोई कंपनी अपनी पूंजीके आधे या तीन-चौथाई भागके लिये दरख्वास्तें न पा सके तो, वह कितनी ही होनहार क्यों न हो, उसके संचालकों-को समझ लेना चाहिये कि बाजारमें रुपये नहीं या जनताका उसमें विश्वास नहीं और उन्हें इस कामसे हाथ खींचकर कोई दूसरा काम सोचना चाहिये। कानून, कुछ अच्छे उद्देशवालोंके मार्गमें बाधक हो सकता है और कुछ बुरे उद्देशवालोंके लिये सहायक, पर उसका रूप वही होना चाहिये जो अधिकसे अधिक लोगोंके लिये श्रेयस्कर हो।

यह भी नियम है कि प्रास्पेक्टसमें "मेमारण्डम आव् असोसियेशन" की बातें रहा करें। मेमारण्डम आदिकी रजिस्ट्री कंपनीकी सृष्टि करनेके लिये बीज-वपनके समान है। पर उस कागजमें—और यह उसके नामसे ही स्पष्ट है—कुछ मोटी बातोंके उल्लेख-के सिवा और कुछ नहीं रहता। उससे विशेषतः कंपनीके उद्देशोंपर प्रकाश पड़ता है। पर प्रास्पेक्टसमें इसकी बातें देनेसे जनताका कोई विशेष उपकार नहीं होता। उसे तो यह बताना चाहिये कि कंपनीके डाइरेक्टरों, मैनेजिंग एजंट या सेक्रेटरीके अधिकार क्या हैं, किसका कंपनीमें कैसा स्वार्थ है, किसके साथ कंपनीका क्या इकरारनामा हुआ है इत्यादि। पर ये बातें रहती हैं 'आर्टिकल्स् आव् असोसियेशन' अर्थात् कंपनीकी नियमावलीमें। लोगोंको पंछे धोखा खानेसे बचानेके लिये, यह नियम हो जाना चाहिये कि प्रास्पेक्टसमें मेमारण्डमकी जगह आर्टिकल्सका सारांश अवश्य रहा करे—खास कर मैनेजिंग एजंटके साथकी शर्तें।

जब कंपनीका कारोबार बन्द कर देनेका समय आता है—इसका कारण चाहे जो हो—तब शेयरहोल्डरोंकी रायसे या अदालतकी आज्ञासे, जो पदाधिकारी उसका देना-पावना दे-लेकर, उसका सब काम समेट कर, उसकी अन्तिम क्रिया करनेके लिये नियुक्त होता है उसे 'लिक्वीडेटर' कहते हैं। लिक्वीडेटरके सम्बन्धमें कहा गया है— "उसे सबके हितको ध्यानमें रखना चाहिये, न तो किसीका पक्षपात करना चाहिये न किसीसे द्वेष। उसका कर्तव्य है कंपनीकी अवस्थाकी पूरी जांच करना और उसकी आदिसे अन्त तककी बातोंसे अपनेको परिचित करना। न तो उसे कुछ दबाना चाहिये न कुछ छिपाना चाहिये। जो कुछ सत्य हो उसे प्रकट कर देना चाहिये"। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह पद बड़ी जिम्मेदारी और ईमानदारीका है। ऐसी अवस्थामें कानून यह होना उचित था कि कंपनीका कोई डाइरेक्टर, प्रमोटर या अन्य पदाधिकारी कभी उसका लिक्वीडेटर न बन सके। पर बात ऐसी नहीं है। इसका परिणाम बहुत बुरा होता है। लिक्वीडेटरका एक खास कर्तव्य इस बातकी जांच करना है कि कंपनी इस दुरवस्थाको कैसे पहुँची।

अगर उसे मालूम हो कि डाइरेक्टरोंकी बेईमानी या फरेबसे कंपनीकी यह अधोगति हुई तो उसे फौरन इस बातकी रिपोर्ट करनी चाहिये और दोषीको दण्ड दिलानेके लिये जो कुछ आवश्यक हो करना-कराना चाहिये। पर यदि वही दोषी डाइरेक्टर येन-केन-प्रकारेण लिक्वीडेटर बन बैठा—और इस ऐक्टमें इसकी मनाही न होनेके कारण बहुत कर यही होता है—तो कब संभव है कि अपने आपको विपद्में डालनेके लिये वह लिक्वीडेटरके कर्तव्यका पूरा पालन करेगा!

एक बात और। कंपनीका रुपया डाइरेक्टरों या मैनेजिंग एजंटके जिम्मे बाक़ी रहना इस देशमें एक साधारण बात है। इसका नियन्त्रण आवश्यक है। इस समय यह नियम अवश्य है कि कंपनीके डाइरेक्टरों या अन्य पदाधिकारियोंके जिम्मे जो रकम बाकी हो वह "बैलंस शीट" अर्थात् देने पावनेके हिसाबमें साफ खोल दी जाय। पर इतनेसे ही काम नहीं चल सकता। नियम होना चाहिये कि साधारणतः कंपनीका रुपया कोई डाइरेक्टर या मैनेजिंग एजंट न ले। अगर अवस्थाविशेषमें ले तो उससे पूरी जमानत ली जाय या अन्य सभी डाइरेक्टर उसके जामिन हों।

शेयरहोल्डरोंकी हितरक्षाके लिये क़ानूनमें उल्लिखित संशोधनोंका होना अत्यन्त आवश्यक है।

आलोचक।

संसारका सबसे धनी मनुष्य।

इस समय संसारमें सबसे धनी पुरुष संभवतः अमेरिकाके हेनरी फोर्ड महाशय हैं। आपके कारखानोंमें तैयारकी गयी मोटर गाड़ियां संसारमें सबसे सस्ती और सबसे सुलभ हैं। कारखानोंमें कोई ६६६ करोड़ रुपयोंकी पूंजी लगी हुई है और प्रतिदिन लगभग १६½ लाख रुपयोंकी आमदनी होती है। आपका एक कारखाना इंग्लैण्डके 'मैन्चेस्टर' नगरमें भी है।

भारत और अमेरिकामें रेलोंका किराया।

रेल सम्बन्धी बातोंके सुप्रसिद्ध विशेषज्ञ श्रीप्रीस्टले महाशयके कथनानुसार अमेरिकामें प्रत्येक शिक्षित मजदूर अपनी एक दिनकी आमदनीसे साठ मीलकी रेलयात्रा कर सकता है, किन्तु भारतमें ऐसा ही मज़दूर एक दिनकी मजदूरीसे पन्द्रह मीलसे अधिक सफर नहीं कर सकता। इससे प्रकट है कि दैनिक आयका ख़याल करते हुए भारतीय श्रमियोंका अमेरिकाके श्रमियोंकी अपेक्षा चौगुना रेल-किराया देना पड़ता है।

सामाजिक विषमता ।

(२)

साम्यवाद

हम पहिले ही बतला चुके हैं कि सामाजिक विषमता आधुनिक समाजका एक मुख्य अंग है । कोई धनी है तो कोई निर्धन, कोई दिन रात उद्योग करनेपर भी अपना और अपने परिवारका उचित रूपसे पालन नहीं कर सकता, कोई बिना उद्योग किये ही दिन रात बैठे बैठे मौज उड़ाता, वेश्या नचाता तथा मदिराके नशेमें चूर रहता है । साम्यवादी इस स्थितिको देखना पसन्द नहीं करते । वे चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य केवल उस धनका ही अधिकारी हो जिसको उसने अपने उद्योग तथा परिश्रमसे कमाया है । वे चाहते हैं कि जो मनुष्य दिन रात परिश्रम करता है उसे कमसे कम इतना अवश्य मिलना चाहिये कि वह सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता रहे । हमारे देशके दीन पुरुषोंकी नाईं, रात दिन उद्योग करनेपर भी यदि कोई मनुष्य अपना तथा अपने परिवारका पालन न कर सके तो समझना चाहिये कि समाज तथा उसके नियमोंमें अवश्य भारी दोष है । साम्यवादी उन सब बुराइयोंको एक दम दूर करना चाहते हैं जिनसे समाजमें विषमताका विष फैलता है । अर्थात् वे जमींदारी तथा पुरानी मिलकियत आदिकी प्रथाओंको समूल नष्ट करना चाहते हैं । वे चाहते हैं कि संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष न रह जावे जो उद्योग करनेके योग्य होते हुए भी घरपर बैठे बैठे भोजन पावे, दूसरोंपर हुकूमत करे और परिश्रम कुछ न करे ।

कुछ लोगोंका विचार है कि साम्यवादी लोग पूंजी, पूंजीपति, बड़े बड़े कारखानों, तथा उन सब प्रथाओंके बिल्कुल प्रतिकूल हैं जो श्रमजीवियोंको पूंजीपतियोंका दास बना देती हैं । पर यह उनका भ्रम है । उन्होंने साम्यवादके सिद्धान्तोंको नहीं समझा है । निःसन्देह साम्यवाद श्रमजीवियों और पूंजीपतियोंको बराबरीका स्थान देना चाहता है, पर वह कलों, कारखानों, रेलों, जहाजों इत्यादिको सर्वथा नष्ट नहीं करना चाहता । वह केवल उनपर समाजका अधिकार रखना चाहता है, पूंजीपतियोंका नहीं । साम्यवाद समाजके सिद्धान्तोंमें भारी परिवर्तन नहीं करना चाहता । एडवर्टस, कॉम्टे आदि साम्यवादियोंका विचार था कि समाजके ऊपर शासनकर्त्ता तथा राजाकी बड़ी आवश्यकता है । कुछ साम्यवादी निःसन्देह समाजकी स्थितिको बिल्कुल बदल देना चाहते हैं । मार्क्सका विचार था कि बिना जायदाद छीने तथा हरण किये सामाजिक विषमता दूर ही नहीं हो सकती । पर विचारशील साम्यवादी जमींदारों तथा रईसोंकी जायदादको एकदम छीनना पसन्द नहीं करते । उनका विचार है कि इन जमींदारों तथा रईसोंको एक

प्रकारकी पेन्शन दे दी जावे जिससे उनके परिवारका जीवन सुगमता-पूर्वक व्यतीत हो सके। साम्यवादियोंका मुख्य अभिप्राय आय-वितरणके नियमोंमें परिवर्तन करना है। इसीलिये वे उपजके साधनोंके मालिकोंमें परिवर्तन करना चाहते हैं। रेल तार, कलों, कारखानों, तथा भूमिसे पूंजीपतियोंकी आय बहुत बढ़ती जाती है और मजदूरोंको अपने उदर पालनके लिए उनका मुहताज होना पड़ता है। पूंजीपति इन साधनोंकी सहायतासे अधिक धनवान् होते जाते हैं, अतः इनको पूंजीपतियोंके अधिकारमें देना वे हानिकारक समझते हैं। उनका विचार है कि समाजका इनपर पूर्ण अधिकार होना चाहिये जिससे विना उद्योग तथा परिश्रमके कोई भी पुरुष आवश्यक वस्तुओंके पानेका अधिकारी न हो और परिश्रम करने वाले भूखे न रहें।

साम्यवादी जायदादके विरोधी नहीं हैं। उनके नियमानुसार प्रत्येक मनुष्य अपने घर, अपनी पुस्तकों, अपने वस्त्रों, तथा अपने परिश्रमसे कमाये हुए धन, तथा बची हुई पूंजीका अधिपति हो सकता है। वे केवल उस जायदादके विरोधी हैं जिससे लोग बिना उद्योग किये ही धन कमाते और अपने दिनोंको चैनसे बिताते हैं। वे लोगोंको रहनेके लिए घर देना चाहते हैं पर यह नहीं चाहते कि लोगोंके पास इतने घर हों कि वे उन्हें किराये-पर उठाकर स्वयं उससे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें। किराया तथा व्याजका वे नाम ही उठा डालना चाहते हैं।

कृषि-भूमिके विषयमें साम्यवादियोंमें मतभेद है। कुछ लोग तो समस्त भूमिपर समाजका अधिकार चाहते हैं। उनके विचारसे इसकी सब उपजपर समाजका अधिकार है, अतः उससे जितना लाभ हो वह सब समाजको मिलना चाहिये पर कुछ साम्यवादियोंका विचार है कि छोटे छोटे किसानोंको जो अपने उद्योग और परिश्रमसे अपनी गृहस्थीका निर्वाह करते हैं ज्योंका त्यों रहने दिया जावे. और केवल उन लोगोंसे ज़मीन ले ली जावे जिनके पास आवश्यकतासे अधिक है और जो दूसरोंको अपनी ज़मीन लगान-पर देते हैं। इससे ज़मींदारीकी प्रथा उठ जावेगी और सामाजिक विषमता भी न फैलने पावेगी। नगर-भूमि, खानें, रेलोंके किनारेकी भूमि, तथा कल-कारखानोंकी भूमिपर समाजका अधिकार रहेगा।

साम्यवादके जमानेमें आय-वितरणका प्रश्न बिल्कुल सरल हो जावेगा। व्याज तथा लगानकी प्रथा तोड़ दी जावेगी। लोगोंकी आयका मुख्य साधन परिश्रम या मजदूरी होगा। वृद्धों तथा अपांगोंको निःसन्देह बिना उद्योगके ही भोजन तथा वस्त्र मिलेंगे। पर दूसरे मनुष्योंको अपने भोजनके लिए उद्योग करना पड़ेगा। व्यापारियोंको भी अपने अपने उद्योग और परिश्रमके अनुसार वेतन तथा लाभ मिलेगा। कृषक भी अपने ही परिश्रमका फल भोग सकेंगे। शेष सब समाजका होगा।

विनिमयकी अवस्था प्रायः ऐसी ही रहेगी जैसी अब है। उस समय भी कलें, कारखाने, गोदाम, दूकानें आदि सब रहेंगी। सब बनिये और दूकानदार समाजसे वेतन

पावेंगे और उसीका सामान बेचेंगे। रुपये-पैसेका प्रयोग भी उसी प्रकार होगा जिस प्रकार इस समय हो रहा है। कुछ साम्यवादियोंका विचार है कि प्रत्येक वस्तुका मूल्य (व्हैलू) तथा उसका दाम (प्राइस) श्रमके हिसाबसे रक्खा जायगा। प्रत्येक वस्तुके साथ एक रुक्का रहेगा जिसपर उसके बनानेमें जितना श्रम हुआ है उसकी व्याख्या रहेगी। यह रुक्का रुपयेकी भांति प्रयुक्त किया जा सकेगा। इससे एक लाभ यह होगा कि प्रत्येक वस्तु तथा रुपये-पैसेका मूल्य निश्चित रहेगा। आज कलकी भांति रुपये-पैसेकी संख्या घटने बढ़नेसे पदार्थोंके मूल्य तथा दाममें कुछ भी घटा बढ़ी न होगी।

साम्यवादमें सबसे विकट प्रश्न आय-वितरणका है। सच पूछो तो साम्यवादकी नींव इसीपर रखी गयी है। साम्यवादी आयको इस प्रकार वितीर्ण करना चाहते हैं कि सब लोगोंकी आवश्यकताएं भी पूरी हो जावें और लोगोंमें विषमता भी न फैलने पावे। सामाजिक विषमताको दूर करने तथा समानता फैलानेके लिए ही इसका जन्म हुआ है। आयका वितरण करनेके केवल तीन ढंग हैं। या तो लोगोंको आवश्यकताके अनुसार वेतन दिया जावे, या फिर उनके उद्योग अथवा योग्यताके अनुसार। आवश्यकताके अनुसार आयका वितरण करना सबसे सरल ढंग है। सब लोग अपने आवश्यकतानुसार समाजसे खाने पीनेको पावेंगे और अपनी शक्तिके अनुसार कार्य करेंगे। पर इसमें भी एक कठिनाई है। भिन्न भिन्न लोगोंकी प्रकृति भी भिन्न भिन्न होती है। कुछ लोग सीधे सादे होते हैं। उन्हें केवल खानेके लिए साधारण भोजन तथा पहिननेके लिये साधारण वस्त्रोंकी आवश्यकता होती है। कुछ लोग 'अमीर तबीयत' तथा मनचले होते हैं। उनके लिए अच्छा भोजन तथा चमकीले वस्त्र चाहिये। इतना ही नहीं, मानसिक शक्तिके प्रयोग करने वालोंकी आवश्यकताएं शारीरिक शक्तिके प्रयोग वालोंसे बिल्कुल भिन्न होती हैं। पर इस प्रकारके विचारोंसे वितरणपर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। अमीर तबीयत वाले मनचले इस लिए होते हैं कि बचपनसे ही उनका ऐसा स्वभाव पड़ जाता है। यदि बचपनसे ही उनपर ऐसा प्रभाव न पड़ने पावे तो उनकी आवश्यकताओं और साधारण पुरुषोंकी आवश्यकताओंमें कुछ भी अन्तर न हो। हां, मानसिक शक्ति वालोंके लिए कुछ प्रबन्ध करना ही पड़ेगा। पर उनके कारण वितरणमें बहुत विषमता न फैलने पावेगी।

वितरणका दूसरा ढंग उद्योगके अनुसार वेतन देना है। जो मनुष्य जितना ही अधिक उद्योग करेगा वह उतनी ही अधिक आयका भागी होगा। यदि सब मनुष्य एक ही से मिहनती हों तो प्रत्येक मनुष्यके एक घंटे तथा एक दिनका काम बराबर होगा, अतः उनकी मजदूरी भी बराबर होगी। साम्यवादियोंका विचार है कि प्रत्येक वस्तुका मूल्य उसमें लगे हुए श्रमपर निर्भर है। जिस वस्तुको उत्पन्न करनेमें जितना श्रम होता है उसका मूल्य भी उसीके अनुरूप होता है। अतः वस्तुओंको उत्पन्न करनेमें जितना श्रम लगे उसी हिसाबसे उन सबका आपसमें विनिमय होना चाहिये। कुछ साम्यवादी प्रत्येक प्रकारके श्रमको एक ही सा समझते हैं। शिक्षित तथा अशिक्षित मजदूरों, उसी

प्रकार मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम करने वाले व्यक्तियोंके श्रमको वे बराबर ही समझते हैं इसी लिये वे सबको एक ही सी मजदूरी देना चाहते हैं। पर कुछ साम्यवादियोंका इस विषयमें मतभेद है। उनका कथन है कि जो काम जितना ही कठिन और अरुचिकर होता है उतने ही कम मनुष्य उस कामकी ओर झुकते हैं। अतः ऐसे मनुष्योंके काम करनेका समय कम होना चाहिए। खानोंमें काम करने, मिट्टी आदि खोदने तथा अन्य कष्टदायक कार्योंमें काम करनेका समय औरोंकी अपेक्षा कम होना चाहिये। इसी प्रकार जिन कामोंमें अधिक परिश्रम करना पड़ता है उसके करने वालोंसे कम काम लिया जावे।

वितरणका तीसरा ढंग योग्यताके अनुसार वेतन देना है अर्थात् प्रत्येक पुरुष अपनी कार्य-कुशलताके अनुरूप सामाजिक सम्पत्तिके भोगनेका अधिकारी होगा। उद्योगी, परिश्रमी तथा चतुर पुरुष आलसी और मूर्ख पुरुषकी अपेक्षा अधिक धन पा सकेगा। यह ढंग आवश्यकताके ढंगके बिल्कुल प्रतिकूल है। समाजके वर्त्तमान संगठनमें प्रायः यही ढंग पाया जाता है। प्रत्येक मनुष्य समाजकी जितनी सेवा करता है, उसके द्वारा समाजको जो लाभ पहुंचता है उसी हिसाबसे उसे वेतन मिला करता है। यद्यपि बहुधा अयोग्य पुरुष अपने उद्योग और योग्यतासे अधिक और योग्य पुरुष कम भी पाया करते हैं पर यह समाजका दोष नहीं, कर्मचारियोंका दोष है। सामाजिक नियम प्रत्येक पुरुषको उसकी योग्यताके अनुसार पुरस्कार देते हैं। योग्य पुरुष औरोंकी अपेक्षा समाजकी अधिक सेवा करता है इसी लिए वह औरोंसे अधिक पुरस्कार भी पाता है। यदि ऐसा न हो अर्थात् यदि उसे अपनी योग्यताके अनुसार पारिश्रमिक न मिले तो वह शक्ति भर परिश्रम न करेगा। आर्थिक ऐश्वर्य-लाभकी आशा ही उसे शक्तिभर कार्य करनेके लिए उत्तेजित करती है। और मनुष्योंकी दशा भी तभी सुधरती है जब वे शक्तिभर उद्योग करते हैं। यदि संसारके सभी स्त्री-पुरुष एक से चतुर, परिश्रमी, और उद्योगी होते और उन्हें उन्नति करनेका बराबर बराबर अवसर मिलता तो सब लोगोंका पुरस्कार उनके उद्योगके अनुसार बराबर बराबर होता। पर स्वभावतः यह बात नहीं पायी जाती। अतः उनके पुरस्कार भी भिन्न भिन्न होते हैं। यह विभिन्नता इसलिए है कि लोग भरसक परिश्रम करें और उस शिक्षाको प्राप्त करनेकी चेष्टा करें जो उनकी बुद्धिको तीव्र करती और उनकी योग्यताको बढ़ाती है।

हम कह चुके हैं कि साम्यवादी लोग आय-वितरणकी समानतापर ही सबसे अधिक जोर देते हैं। पर अब तक वे लोग इस प्रश्नको स्वयं हल न कर सके कि वितरणमें समानता कैसे हो सकती है। उनमेंसे अधिकांश लोगोंका यह विचार है कि आयका वितरण परिश्रमके अनुसार होना चाहिये। आवश्यकताके अनुसार आय-वितरण करनेमें बड़ी कठिनाइयां पड़ेंगी। योग्यताके अनुसार वितरण करनेसे असमानता, तत्पश्चात विषमता आजावेगी। अतः परिश्रमके अनुसार ही आयका वितरण करना वे सबसे अच्छा और उचित समझते हैं। इससे कुछ असमानता तो फैलेगी पर विषमता नहीं।

कुछ लोग सोचते होंगे कि साम्यवादियोंका मुख्य अभिप्राय प्रत्येक वस्तुपर सामाजिक अधिकार प्राप्त करना है, अर्थात् उनकी दृष्टिमें समजवाद और साम्यवाद एक ही चीज है। पर वास्तवमें दोनोंमें भेद है। समाजवाद साम्यवादकी नाई आयका समान वितरण नहीं चाहता। रेल, खानें, तार, नहर आदि अन्य अन्य उपयोगी और आवश्यक वस्तुओंको ही वह अपने (समाजके) वशमें करना चाहता है। पर इन सबका प्रबन्ध उसी प्रकार होता है जैसा कि पूंजीपतिका स्वत्व रहते हुए। समाजवादमें सर्वोच्च कर्मचारीको सबसे अधिक, उससे नीचेको उससे कम और इसी प्रकार श्रेणी श्रेणीसे सबको योग्यताके अनुसार वेतन मिलता है। निःसन्देह समाजवादके अनुसार सर्वोच्च कर्मचारी इतना अधिक वेतन नहीं पाता जितना कि वह किसी पूंजीपतिकी अधीनतामें पा सकता है। साथ ही अशिक्षित मजदूर तथा नीची श्रेणीके कर्मचारी भी पूंजीपतिकी अधीनता वाले कर्मचारीसे अधिक वेतन पाते हैं। पर यह अन्तर बहुत थोड़ा है। दोनोंकी वितरण-नीति एक ही सी है।

इतना ही नहीं, समाजवाद रईसों, जमींदारों तथा पूंजीपतियोंका धन हरण नहीं करना चाहता। वह इनकी आवश्यकता समझता है। समाज जिस समय रेलों, तारों, तथा अन्य उत्पादक साधनोंपर अधिकार करना चाहता है उस समय वह उन्हें इन रईसोंसे मोल ले लेता है। यदि वह प्रारम्भसे ही उनपर अधिकार करना चाहता है तो रईसों और जमींदारोंसे रुपया उधार लेकर वह इन्हें बनाता और पूंजीपतियोंको उस धनका व्याज देता है। वह श्रमजीवियोंकी अवस्थापर निःसन्देह अधिक ध्यान देता है पर सामाजिक विषमता इससे दूर नहीं होती। वह मजदूरोंकी दशा सुधारनेके लिए नाना प्रकारके कानून और उनकी पेन्शन आदिका प्रबन्ध करता है। कभी कभी वह मजदूरोंके कमसे कम वेतनकी भी व्यवस्था कर देता है। पर इसमें और साम्यवादमें बहुत अन्तर है। इससे सामाजिक विषमता दूर नहीं होती।

साम्यवादकी कठिनाइयां

हम ऊपर देख चुके हैं कि साम्यवादी सामाजिक विषमताको किस प्रकार दूर करना चाहते हैं। उनका मुख्य अभिप्राय आय-वितरणकी समानता, तथा सबको उन्नति करनेका बराबर बराबर अवकाश देना है। साम्यवादी लोग गार्हस्थ्य जीवनको मिटाना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि स्त्री-पुरुषोंका सम्बन्ध ऐसा ही रहे जैसा इस समय पाया जाता है। पर बालकोंका भार वे केवल माता-पितापर ही नहीं छोड़ना चाहते। यदि स्वार्थी माता-पिता अपने बालकोंको, धन कमवानेकी इच्छासे, १० या १२ वर्षमें ही नौकर रखवा दिया करते हैं तो इसमें केवल उनका ही दोष नहीं है; समाजका भी दोष है। उनका दोष इतना ही है कि वे बालकोंके भविष्यपर विचार नहीं करते। किन्तु यह समाजका दोष है कि बालकोंका सारा भार माता-पितापर डाल दिया जाता है। यदि माता-पिता दीन हैं, वे बालकोंको शिक्षा नहीं दे सकते तो बालक मूर्ख रह जाते हैं। इस स्थिति-

को साम्यवादी सुधारना चाहते हैं। वे प्रारम्भसे ही बालकोंके पालन-पोषण तथा शिक्षा-का भार समाजके ही ऊपर डालना चाहते हैं। समाज ही बचपनसे बालकोंको पाले और जिस ओर, जिस काममें चाहे लगा दे। यदि बालक चतुर और होनहार है तो वह उच्चसे उच्च शिक्षा पाकर अपनी जाति तथा अपने देशकी सेवा कर सकता है। यदि वह साधारण बालक है तो कुछ न कुछ काम सीख कर यथायोग्य अपना काम कर सकता है।

पर साम्यवादी यहांपर एक बातमें धोखा खा जाते हैं। उन्हें यह याद रखना चाहिये कि पशु-पक्षियोंकी नाईं मनुष्यकी प्रकृतिमें भी सन्तान पैदा करने और उसका पालन करनेकी प्रवृत्ति पायी जाती है। यद्यपि मालथसकी भांति उत्पत्तिका भय साम्यवादियोंके सामने नहीं है तो भी मालथसका नियम सर्वथा निर्मूल नहीं है। यदि हम मालथसके नियमको पूर्ण रीतिसे संसारमें नहीं पाते तो इसका कारण यह नहीं है कि उसका भय मिथ्या था, वरन् इसका कारण यह है कि सभ्यताके विकास, नये नये आविष्कार, नयी नयी भूमि, लोगोंकी प्रकृतिमें परिवर्तन तथा मनोविजय इत्यादि कई कारणोंने उस नियमके कार्य-क्रमको पूरा होनेका अवसर न दिया। अब भी मनुष्यका स्वभाव उतना ही युद्धप्रिय है जितना सिकन्दरके समयमें था। फ्रान्स, नार्वे, तथा स्वीजरलैंडकी जनसंख्या लगातार इसलिये नहीं बढ़ती जाती कि वहांके लोग बड़ी अवस्थामें व्याह करते हैं और जब तक वे गृहस्थीका भार उठाने योग्य नहीं हो जाते तब तक गृहस्थाश्रममें पैर नहीं रखते। उन्हें अपने तथा अपनी सन्तानके भविष्यका बड़ा ध्यान रहता है। वे नहीं चाहते कि उनकी सन्तानका सामाजिक पद नीचा हो। पर यदि मनुष्योंके चित्तसे सन्तानके भविष्यकी चिन्ता हट जावे, यदि उनको उसके पालनेका भय न रहे तो फिर सन्तान पैदा करनेमें उन्हें कुछ भी संकोच न रह जावेगा। अन्य प्राणियोंकी नाईं वे भी बेधड़क बालक उत्पन्न करते जावेंगे। उन्हें विश्वास रहेगा कि समाज बालकोंके पालन-पोषण तथा शिक्षाका भार अपने ऊपर लेगा। उसे तो केवल अपनी इच्छा-पूर्ति तथा सन्तानोत्पत्तिकी चिन्ता रहेगी। आज कल गृहस्थीमें जो थोड़ा बहुत सुख हमें मिलता है, जो कुछ भी प्रेमकी लहर दिखलायी देती है उसका मुख्य कारण दम्पति-प्रणय तथा सन्तान-प्रेम है। जब माता-पिता बालकोंके पालन-पोषणका भार अपने ऊपर लेते हैं तो वे एक ही प्राणीको प्यार करते करते एक दूसरेको और भी अधिक प्यार करने लगते हैं और सन्तानको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। पर जब बालकोंके पालन-पोषणका भार हमारे सरपर न रहेगा तब न तो हमारा जीवन ही उतना सुखमय हो सकेगा, और न हम सन्तान उत्पन्न करनेमें ही संकोच करेंगे। हां, एक बातसे अवश्य संतोष होगा - विशेषकर उन लोगोंको जो स्वयं अपने बालकोंको शिक्षा देनेमें असमर्थ हैं—कि उनके बालक उच्चसे उच्च शिक्षा पानेका अवसर पा सकेंगे। पर समाजका उत्तरदायित्व बढ़ जावेगा, उसके सम्मुख बढ़ती हुई जनसंख्याकी समस्या उपस्थित हो जायगी जिसको हल करना सहल नहीं होगा*।

*गत ज्येष्ठ मासके 'स्वार्थ'में महाशय शरच्चन्द्रने इस सिद्धान्तको झूठ सिद्ध करनेकी

साम्यवादियोंके सिद्धान्तका अनुसरण करनेसे लोगोंमें उद्योग करनेकी प्रवृत्ति तथा उनकी योग्यता, और उन्नति करनेकी शक्तिका बढ़ाना बड़ा कठिन होगा। निम्न श्रेणीके लोगोंमें आजकल जो कठिनाइयां पायी जाती हैं वे निःसन्देह दूर हो जावेंगी। मज़दूरोंको काम पानेमें कठिनता न होगी। जिन मज़दूरोंकी किसी एक काममें आवश्यकता न होगी वे दूसरे काममें लगा दिये जावेंगे। उन्हें काम ढूंढ़नेके लिए कहीं न जाना पड़ेगा। पर मज़दूरोंको छुड़ानेका भी अधिकार लोगोंको न रहेगा। अधिकसे अधिक इतना किया जा सकता है कि वे एकसे हटाकर दूसरे कामपर नियत कर दिये जावेंगे। किन्तु जो मजदूर स्वभावसे आलसी हैं, जिनको केवल मजदूरी पानेका लोभ या कामका अभाव ही काम करनेपर बाध्य करता है, जो काम करना भार समझते हैं और केवल भूखके डरसे काम करते हैं उनसे काम लेनेका क्या प्रबन्ध होगा? कामसे पृथक् किये जानेका उन्हें भय है ही नहीं। नौकरी ढूंढ़ने भी उन्हें कहीं नहीं जाना है क्योंकि समाज उनके भोजनका प्रबन्ध आप ही करेगा। ऐसे मनुष्योंके साथ समाजका क्या बर्ताव होना चाहिये? यदि मज़दूरी करना, परिश्रम तथा उद्योग करना अरुचिकर न होता तो यह कठिनाई न पड़ती। पर मनुष्यका स्वभाव है कि वह उसी कामको अधिकतर मन लगाकर करता है जिसको वह अपना समझता है। यह बात चाहे सब लोगोंके लिये सच न हो पर अधिकतर मनुष्य इसी नीतिका पालन करते हैं। सारे श्रमजीवी उत्तम कार्य और उत्तम वेतन पाना पसन्द करते हैं। पर मानुषी प्रकृतिके अनुसार उत्तम वेतन पाते ही वे उत्तम कार्य करना भूल जाते हैं। यही कारण है कि कोई भी कार्य ज्यों ज्यों वह उनके स्वार्थके वृत्तसे दूर होता जाता है त्यों त्यों वह भार तुल्य प्रतीत होने लगता है।

इसके साथ ही दूसरी कठिनाई कर तथा आयका भाग पानेमें होगी। सभी मनुष्य समाजसे लाभ उठानेकी चेष्टा करेंगे और सहर्ष लाभ उठावेंगे। पर उस लाभके

चेष्टा की है। आप कानफूसियसके परिवारको जितना चाहिये उतना बढ़ा न देखकर यह दिखलानेका प्रयत्न करते हैं कि यह सिद्धान्त ही झूठ है। पर इस सिद्धान्तको झूठा कहनेके जितने मुख्य कारण हैं आपने उनपर ध्यान नहीं दिया। क्या भारतवर्ष तथा चीन बीमारीके घर नहीं हैं? क्या वहाँ प्रति दूसरे या चौथे वर्ष बढ़ियां तथा अकालके दर्शन नहीं होते? क्या लोग घरेलू तथा बाह्य युद्धमें अपने प्राणोंकी आहुति नहीं देते? यदि प्रत्येक नवजात शिशु उचित समय तक जीवित रहता और अपने पिताकी नाईं ब्याहकर परिवार बढ़ाता रहता तो क्या आश्चर्य कि उसके वंशजोंकी उतनी ही संख्या हो जाती जितनी मालथसके सिद्धान्तानुसार होनी चाहिये। पर मनुष्य या तो स्वयं अपनी इच्छासे या परमेश्वरकी इच्छासे उतने बालक उत्पन्न नहीं करता—यदि करता भी है तो उन्हें जीवित नहीं रख सकता—जितने उसे करना चाहिये। पर इससे सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती। हां, जनसंख्या ठीक ज्यामितिक अनुपातसे भले ही न बढ़े पर भोजनकी अपेक्षा वह अवश्य अधिक बढ़ती है।—लेखक।

लिए जब कर तथा आयका कुछ भाग देना पड़ेगा तब आजकी तरह उस समय भी बहुतोंको यह बात अखरेगी. अतः कर एकत्र करने वालोंको अपना काम करनेमें उतनी ही या उससे भी अधिक कठिनाई पड़ेगी जितनी कि अब पड़ती है। सम्भव है कि समाजको कुछ कठोरता भी दिखलानी पड़े। पर प्रश्न यह है कि वह क्या कठोरता दिखलायेगा? क्या कर न देने वाले मनुष्योंके लिए समाजके लाभोंका भाग मिलना बन्द कर दिया जायगा? सच तो यह है कि साम्यवादके बहुतसे नियम इस कल्पनाके आधारपर बनाये या सोचे गये हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्त्तव्यको भली भांति समझता बूझता है और न केवल समझता बूझता है अपितु उसीके अनुसार कार्य करनेको भी तैयार रहता है। पर वास्तवमें ऐसे मनुष्य अभी तक नहीं पाये जाते। मैं नहीं कहता कि ऐसे मनुष्य बनही नहीं सकते। यह सब समाजके संगठनपर निर्भर है। पर अब तक मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी देखा गया है। सम्भव है कि धीरे धीरे उसके स्वभावमें परिवर्तन हो जावे। रूस इसी सिद्धान्तको आगे रखकर इस महान् कठिन समस्याको हल करनेके लिए तत्पर हुआ है। पर हम नहीं कह सकते कि उसको अब तक कितनी सफलता प्राप्त हुई है। सफलता या असफलताका पता दश पांच वर्षोंके बाद चलेगा। पर इसमें सन्देह नहीं कि वह एक नया समाज बना रहा है। देखना केवल यह है कि इस समाजके लोग क्या बिल्कुल ही निःस्पृह तथा परोपकारी होंगे।

इतना ही नहीं वरन् नेताओंका ढूंढ लेना भी साम्यवादमें एक कठिन समस्या होगी। आधुनिक रूसके बड़े बड़े नेताओंको देख कर हमें यह न समझ लेना चाहिये कि वे साम्यवादके ही बालक हैं, क्योंकि वास्तवमें साम्यवादकी अवस्थाके पहिले ही उनकी ख्याति फैल चुकी थी। समाज-सेवा करते हुए वे लोगोंके विचारोंको अपनी ओर आकर्षित कर चुके थे। कोई भी बालक बचपनसे ही नेतृत्वके लक्षण नहीं दिखलाता*। जब तक सोना अग्निमें गलाया जाकर स्वच्छ नहीं किया जाता तब तक उसमें पूरी पूरी चमक नहीं देख पड़ती। ठीक यही दशा नेताओंकी है। जब तक वे नाना प्रकारके कष्ट नहीं सह लेते, जब तक उनकी पूरी परीक्षा नहीं हो जाती, तब तक उनका जौहर नहीं दिखलायी देता। पूंजीपतिके नौकर तथा मजदूर अपनी कार्य-कुशलताके कारण उच्चसे उच्च स्थान तक पहुंच सकते हैं। पर साम्यवादकी अवस्थामें मजदूरोंको इस उन्नतिके लिये न उचित उत्तेजना ही मिलेगी और न इसका ठीक पता ही चलेगा कि कौन मजदूर अधिक तथा उत्तम कार्य करनेवाला है। आज कलके सरकारी नौकरोंके उदाहरणसे ये सब बातें प्रत्यक्ष हो जावेंगी। प्रत्येक सरकारी नौकर अभ्यासके कारण अपने काममें कुछ न कुछ दक्ष हो जाता है। पर बहुत थोड़े सरकारी नौकर उतने कार्यकुशल होते हैं जितने कि पूंजीपतिके नौकर तथा स्वतन्त्र व्यापार वाले होते हैं। सरकारी नौकरोंका वेतन बँधा रहता है और समय समयपर

---

*कहते हैं कि राम, कृष्ण, मसीह, बुद्ध, नेपोलियन, आदि महान् पुरुष बालकपनसे ही नेता प्रतीत होते थे। पर आज कल ऐसा बहुत कम देखा जाता है। —लेखक

उनका वेतन बढ़ जाता है। पर अन्य नौकरोंका वेतन उनकी चतुराईपर निर्भर होता है। सरकारी नौकरोंमें कदाचित् ही ऐसा कोई पाया जाता हो जिसने कोई नया आविष्कार किया हो। वे प्राय: सबही बतलाये हुए मार्गपर चलने वाले हैं। जब यह दशा आधुनिक समाजकी है जहां प्रत्येक प्राणीको अपनी उन्नतिके लिये कुछ न कुछ उपाय सोचने पड़ते हैं तब साम्यवादकी दशामें जहां प्रत्येक प्राणीके जीवनका मार्ग सुलभ हो जाता है, कार्यकुशल आदमियोंका पहिचानना तथा उनका उन्नतिशील मार्गमें लगाना और भी कठिन होगा।

संक्षेपत: साम्यवादियोंके कथनानुकूल समाज संगठनसे आज कलके कुछ प्रश्न हल हो जावेंगे। मजदूरोंकी दशा आज कलकी अपेक्षा अधिक अच्छी हो जावेगी; लोगोंमें ऊंच-नीचका भेद न रहेगा; सबको उन्नति करनेका बराबर बराबर अवकाश मिलेगा; दीन तथा धनी बालकोंका एक सा ही पालन-पोषण होगा। उनके पढ़ने लिखनेका प्रबन्ध भी एक सा ही होगा; सामाजिक विषमता अधिक न फैलने पावेगी; पदार्थोंके दाम भी घटेंगे बढ़ेंगे नहीं; कोई भी मनुष्य भूखा न रहेगा, सबको काम मिलेगा, और सबलोग लगातार मन लगाकर काम करेंगे। पर इसके साथ ही कठिनाइयां भी बहुत हैं। जनसंख्याका प्रश्न बहुत बेढब हो जावेगा; लोग मितव्ययिताकी परवाह न करेंगे। पूंजी एकत्र तो की जायगी, पर बहुत कम, क्योंकि ब्याज तथा लगानकी प्रथा तो उठ जावेगी। बिना ब्याज इत्यादिके प्रलोभनके लोग पूंजी क्यों इकट्ठी करने लगे? साम्यवादसे विषमता कम तो हो जावेगी, पर किसी अंशमें सांसारिक उन्नति भी रुक जावेगी। यदि आय-वितरणके समय योग्यताका विचार न किया गया तो योग्य पुरुषोंकी संख्या कम हो जायगी, क्योंकि ससांरके अधिकांश मनुष्य आर्थिक लाभके लिए ही योग्यता दिखलाते तथा अधिक उद्योग करते हैं। जब तक मनुष्य स्वार्थी है और अपने पराएमें भेद करता है तबतक वह उसी कामको अधिक मन लगा कर करेगा जिसे वह अपने लिए लाभदायक समझेगा। अत: साम्यवादकी अवस्थामें भी योग्यताका खयाल रखना ही पड़ेगा। यह भी मानी हुई बात है कि संसारमें भिन्न भिन्न प्रकृतिके मनुष्य हैं और उनकी योग्यता एक सी नहीं होती। कोई बिलकुल अपढ़ और मूर्ख है, और कोई पढ़ा-लिखा मध्यम श्रेणीका, और कोई चतुर एवं कार्यकुशल है, अत: यह स्पष्ट है कि योग्यताके अनुसार ही मनुष्योंकी आय होगी और उनकी सन्तानें मध्यम तथा निम्न श्रेणीकी सन्तानसे अच्छी अवस्थामें रहेंगी, उसको पढ़ने-लिखनेका उचित अवकाश मिलेगा, और वह व्यापारमें कुशल हो सकती है, पिताकी साखके कारण काफी धन उधार मिल सकता है और इस प्रकार धनी पुरुष और भी-धनवान् हो सकता है। तात्पर्य यह कि सामाजिक असमानता इस परिस्थितिमें भी वर्त्तमान रहेगी।

पर प्रश्न सिर्फ इतना ही है कि क्या सामाजिक विषमता अनिवार्य है? क्या हम किसी प्रकार उससे छुटकारा नहीं पा सकते?

इसका उत्तर देना बहुत ही कठिन है। अब तक हम इस विषमतासे छुटकारा न पा सके और न निकट भविष्यमें छुटकारा पानेकी कोई आशा ही दिखलायी देती है। रूसने

उससे छुटकारा पानेका उद्योग किया है। पर उसने कार्ल मार्क्सकी नीतिका अवलम्बन कर सामाजिक संस्थाओंको ही उथल-पुथल कर डाला है। अभीतक रूसकी स्थितिमें स्थिरता नहीं आयी है और न अभी तक वाञ्छित शान्ति ही प्राप्त हुई है। जैसा कि भारतकी राष्ट्रीय सभाके अध्यक्ष देशबन्धु दासका भी विचार है, रूसमें अभी एक और विप्लवकी संभावना बनी ही हुई है।

यह प्रश्न कब तक हल होगा इसके देखनेकी सभी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम सभी मजदूरोंको स्वतन्त्र तथा उन्नत-अवस्थामें देखना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सरकार मजदूरोंके बालकोंके पढ़ाने-लिखाने तथा उनकी सहायताका प्रबन्ध करे। हम सामाजिक विषमताको दूर करना चाहते हैं। हम यह नहीं चाहते कि धनी अधिक धनी होते जावें और दीन अधिक दीन। रेल, तार, भूमि आदि पर हम समाजके अधिकारके ही पक्षपाती हैं। हम यह भी चाहते हैं कि रईसोंसे वह बढ़ती ले ली जाय जो उनको सामाजिक उन्नतिके कारण मिलती है। पर योग्यताके अनुकूल वेतनका मिटाना समाजके लिए हानिकारक ही होगा। हम सामाजिक असमानता चाहते हैं, पर सामाजिक विषमता नहीं।

श्यामबिहारी लाल कपूर।

भारतमें नोटोंका प्रचार।

गत ३ फाल्गुन (१५ फरवरी) को समस्त भारतमें कुल १, ७२, ८०, ५८, ४६१ अर्थात् लगभग १७३ करोड़ रुपयोंके नोट प्रचलित थे। इनके लिये सरकारी खजानेमें कोई ८०½ करोड़के चांदीके सिक्के तथा लगभग २४½ करोड़के सोनेके सिक्के जमा थे और लगभग ४½ करोड़के रुपये ढाले जा रहे थे। इस प्रकार नोटोंकी इस विपुल राशिके बदलेमें सरकारके पास वस्तुतः सिर्फ १०९½ करोड़का ही सोना या चांदी थी। शेष ६३½ करोड़के बदलेमें उसके पास भारतमें तथा इंग्लैण्डमें कागज (सिक्यूरिटीज़ ही जमा थे। इन कागज़ोंमें भी अधिकांश भारत सरकारके ही ऋण सम्बन्धी या हुंडियोंके चिट्ठे थे। अतः स्पष्ट ही सरकार इस साधारण नियमका उल्लंघन कर रही है कि जितने मूल्यके नोट निकाले जायँ उतना सोना या चांदी खजानेमें जमा रखी जाय।

भारतके प्राचीन प्रजातन्त्र राज्य।

भारतीय इतिहासकी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखी हुई पुस्तकोंमें प्रायः इस सिद्धान्तका समर्थन किया जाता है कि इस देशमें सदासे निरंकुश, एकतन्त्र राज्य-शासन रहता चला आया है, राजाकी स्वच्छन्द वृत्ति· पर प्रजाका कभी किसी तरहका अंकुश नहीं रहा, प्रजामें कभी भी अपने स्वत्वकी भावनाका उदय नहीं हुआ, अन्याय और अत्याचारका दौरदौरा यहां सदासे होता रहा, इत्यादि; किन्तु यह मत नितान्त भ्रमपूर्ण है। इस देशमें विविध प्रकारकी शासन-प्रथाओंका विकास पूर्वकालमें हो चुका है, इस बातका साक्षी यहांका इतिहास है। हम इस लेखमें भारतीय प्राचीन प्रजातन्त्र शासनका कुछ विवेचन करेंगे।

भारतमें प्रजाधीन शासन-प्रणाली इतने प्राचीन समयमें भी प्रचलित थी कि उसका उल्लेख वैदिक साहित्यमें भी मिलता है। अवश्य ही यह प्रणाली सार्वत्रिक न थी, किन्तु कहीं कहीं आर्यजनता इस पद्धतिका अवलम्बन जरूर किये हुए थी। ऐतरेय ब्राह्मणमें (७. ३. १४.) लिखा है—"ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते"॥ अर्थात् जो पूर्व देशके राजा हैं उनका साम्राज्यके लिये अभिषेक किया जाता है, और जो हिमाचलसे दूर उत्तर कुरु और उत्तर मद्र नामक जनपद हैं उनका वैराज्यके लिये अभिषेक हुआ करता है। जिस जनपदमें राजा न हो—'वैराज्य' शब्दका अर्थ यही सुश्लिष्ट प्रतीत होता है। अर्थात् उत्तर कुरु और उत्तरमद्र नामके आर्य-देशोंमें शासनके लिये राजाका अभिषेक न होता था, किन्तु समस्त जनता ('जनपद') का अभिषेक किया जाता था। अतएव 'वैराज्य' लोक शासनका ही नामान्तर प्रतीत होता है।

बौद्ध युगमें अनेक प्रजातन्त्र राष्ट्र थे जिनका उल्लेख प्राचीन पाली ग्रन्थोंमें मिलता है। बौद्ध-धर्मके प्रकाण्ड पण्डित तथा इतिहासज्ञ राइस् डेविड्स महोदयने अपनी "बौद्ध भारत" नामक पुस्तकमें बुद्धदेवके समकालीन अनेक प्रजातन्त्र राज्योंका सप्रमाण निरूपण किया है। बुद्धदेवकी जन्मभूमि कपिलवस्तुमें भी प्रजातन्त्र शासन था, किन्तु **'वज्जियन'** नामक जनताका राष्ट्र-संघ (संघराज्य?) बड़ा ही प्रबल था। एक समय बुद्धदेव राजगृहमें थे, मगधके राजा अजातशत्रुने इस प्रबल राष्ट्र-संघके विनाशका दृढ निश्चय कर अपने प्रधान मन्त्रीको भगवान् बुद्धसे इस विषयमें परामर्श करनेके लिये भेजा। ज्योंही यह संदेशा भगवान् बुद्धको मिला त्योंही उन्होंने अपने शिष्य आनन्दको बुलाकर कहा—"अरे आनन्द! क्या तुमने यह सुना है कि वज्जियन लोगोंमें सार्वजनिक सभाओंके अधिवेशन प्रायः हुआ करते हैं?"

उसने उत्तरमें कहा—"भगवन्, मैंने भी यही सुना है"। बुद्धदेवने प्रत्युत्तरमें

कहा—"अरे आनन्द ! जब तक वज्जियन लोग ऐसी सार्वजनिक सभाएँ प्रायः करते रहेंगे तब तक उनका ह्रास न होगा, किन्तु उनकी उत्तरोत्तर उन्नति ही होगी।"

"आनन्द, जब तक वज्जियन प्रजा ऐकमत्यसे हिलमिलकर रहेगी और आपसके सहयोग सहित अपना कार्य-संपादन करती रहेगी, जब तक वह कोई ऐसी नई व्यवस्था वा कानून न रचेगी जिससे मर्यादाका उल्लंघन होता हो, अथवा जो पुराने नियमोंके विरुद्ध हो, जब तक वे लोग अपनी चिरकालीन पुरानी संस्थाओंके अनुसार कार्य करेंगे और अपने वृद्ध पुरुषोंकी बातका आदर सहित अनुमोदन तथा उनकी आज्ञाका पालन करते रहेंगे, तब तक उनका ह्रास होना असंभव है, प्रत्युत उनका कल्याण ही होगा।"

इन अवतरणोंसे यह सिद्ध होता है कि बुद्धदेव स्वराजवादी थे, उन्हें इस प्रकारका शासन कल्याणकारी प्रतीत होता था, इसके गुण-दोष भी उन्हें स्पष्ट रूपसे विदित थे जिनका निरूपण उन्होंने अपने पूर्वोक्त सदुपदेशमें विलक्षण रूपसे किया है। उन्होंने अपने धर्म संघकी स्थापना भी स्वराज-सिद्धान्तके ही आधारपर की थी।

लिच्छवी जातिकी भी शासन पद्धतिके विषयमें "जातक-कथाओंसे" कुछ पता लगता है। पाली भाषाकी ये जातक-कथाएँ बौद्धयुगमें लिखी गयी हैं। इनमें बुद्धदेवके पूर्वजन्मकी मनोहर कहानियां हैं। इस अपूर्व कथाकोषमें भारतके प्राचीन इतिहास-संबन्धी तत्त्व भरे पड़े हैं*। कथाका अंश त्यागकर हम इन पुस्तकोंसे इतिहासके तत्त्वोंकी शोध कर सकते हैं। लिच्छवी जाति भगवान् बुद्धके समकालीन थी। इसकी राजधानी "वैशाली" आधुनिक पटनाके २७ मील उत्तर पश्चिमकी दिशामें थी। एकपरण जातकमें लिखा है कि ७७०७ राजा लोग लिच्छवी राष्ट्रपर शासन करते थे और इतने इतने ही उपराजा, सेनापति और कोषाध्यक्ष थे। चुल्लकलिंग जातकमें भी ऐसा ही उल्लेख है कि लिच्छवियोंके राजघरानेके ७७०७ पुरुषोंका घर वैशाली नगरमें था, और वे तर्क और वादानुवादमें सदा अभिरत रहते थे"। भद्दशाल जातकमें वैशालीके उस सरोवरका उल्लेख है जहांसे राजाओंके अभिषेकके लिये जल लिया जाता था। लिच्छवी लोगोंका 'गण' शब्दसे संबोधन किया गया है। स्मृतियोंमें शिलालेखों तथा सिक्कोंमें अनेक बार इस शब्दका प्रयोग 'समूह' के अर्थमें किया गया है—"कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्परिकीर्तित इति" यह गण अथवा कुलोंका समूह अपने देशका शासन स्वतः ही किया करता था। जिस शासन-विधिको हम आज 'रिपब्लिक' (प्रजातंत्र) कहते हैं उसे हमारे प्राचीन शास्त्रोंमें 'गण' कह कर पुकारते थे। सम्राट् समुद्रगुप्तके प्रयागके स्तम्भलेखमें "मालव और यौधेय गणोंका" उल्लेख है। इनकी शासन-विधि भी स्वराज मूलक थी।

---

*"The whole collection forms the most reliable, the most complete, and the most ancient collection of folklore now extant in any literature in the world".

Rhys David's Budhist India.
(p. 208).

गण शब्दका यही अर्थ है, इसका स्पष्ट प्रमाण हम आगे चलकर देंगे। संक्षेपमें, लिच्छवी जातिका शासन स्वराज-सिद्धान्तपर ही अवलम्बित था।

लिच्छवियोंकी न्याय-शासन-पद्धति बड़ी ही अपूर्व थी जिससे उनकी परम न्याय-परायणताका परिचय मिलता है। प्रजाकी स्वतन्त्रता और अधिकार-रक्षा ही उनकी नीतिका ध्येय था, यह उस न्याय-पद्धतिकी आलोचनासे ज्ञात होता है। अट्ठकथामें यह लिखा है कि मुलज़िम पहले महामात्त नामके कर्मचारियोंके समक्ष इन्साफके लिए भेजा जाता था। यदि वह निरपराध ठहरता तो वे उसे विमुक्त कर देते थे, लेकिन यदि उनके मतमें वह अपराधी पाया जाता तो वे उसे दण्ड नहीं दे सकते थे, वरन् उच्च न्यायालयमें भेज देते थे। उस न्यायालयके अधीश 'वोहारिका:' इस शब्दसे कहे जाते थे। वे भी अभियुक्तको छोड़ सकते थे, किन्तु दण्डके लिए उसे उच्चतर न्यायाधीशोंके समक्ष भेजा करते थे, जो 'सुत्तधरा:' कहलाते थे। इनके अतिरिक्त, अट्ठकुलक, सेनापति और उपराजा ये तीन और उच्चकक्षाके न्यायालय थे जो पूर्वोक्त प्रक्रियाका ही अनुसरण करते थे। 'राजा' ही अन्तिम न्यायाधीश हुआ करता था जिसे अभियुक्तको दण्ड देनेका अधिकार था, और वह दण्ड भी नज़ीर और धर्मशास्त्रके अनुसार ही दिया जाता था* ।

"बुद्धदेवकी पुण्य जन्मभूमि कपिलवस्तुमें भी स्वायत्त शासन था। रीज़डेविड्स का कथन है कि शाक्य जातिका न्याय और शासन एक लोकसभा द्वारा होता था, जो कपिलवस्तुके 'सन्थागार' वा सभांगारमें बैठा करती थी। इस सभामें युवक तथा वृद्ध सभी भाग लेते थे। इसी प्रकारकी पार्लमेण्ट या महासभामें राजा पसेनदीके प्रस्तावपर विचार किया गया था। अम्बथ अपने कार्यके लिये जब कपिलवस्तु पहुँचा उसी समय वहां इस महासभाका अधिवेशन हो रहा था, अतएव वह सीधा वहीं गया। आनन्द जब भगवान बुद्धका मृत्यु-समाचार लेकर मल्लोंके राज्यमें पहुंचा, तब वहां महासभा हो रही थी, और उसने यह समाचार सबके समक्ष कहा।"

"पाली ग्रन्थोंसे यह विदित नहीं होता कि प्रधान कितने दिनोंके लिये चुना जाता था, परन्तु इस बातका स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि वह प्रजा द्वारा ही राज्यका पदाधिकारी निर्वा-

---

* "A late tradition tells us how the criminal law was administered among the Lichchavies by a succession of regularly appointed officers,—Justices, lawyers, rehearsers of the law-maxims, the council of representatives of the eight clans, the general, the vice-consul, and the consul himself Each of these could acquit the accused. But if they considered him guilty, each had to refer the case to the next in order above them, the consul finally awarding the penalty according to the Book of Precedent".

Rhys David's Budhist India.
(p. 22).

चित होता था, और महासभाके अधिवेशनोंमें सभापतिका पद ग्रहण करता था। महासभाका कार्य स्थगित होनेपर वह सामान्य राजकाजका सञ्चालन किया करता था। प्रधानके लिए 'राजा' शब्दका प्रयोग होता था। 'राजा' शब्दका अर्थ रोमके 'कौन्सल' वा ग्रीसके 'आरकन' शब्दके समान है।

"जब बुद्धदेव महावनमें निगोधारामसें निवास करते थे तब कपिलवस्तुमें एक नये सभा-भवनका निर्माण हुआ। भगवान गौतमसे इस नये 'सन्थागार'के खोलनेकी प्रार्थना की गयी जिसका उन्होंने धर्मोपदेशपूर्वक उद्घाटन किया। इस सुअवसरपर उनके शिष्य आनन्द और मोग्गलायनने भी भाषण किये थे"।

"इसमें सन्देह नहीं कि कपिलवस्तुके सिवाय अन्य नगरोंमें भी सभा-भवन होते थे। ये सभामण्डप ऊपर छतसे रक्षित रहते थे परन्तु चारों ओर दीवार न होकर बिल्कुल खुले रहते थे। इन्हींमें बैठकर सारा कार्य किया जाता था। प्रत्येक गांवके गृहस्थ पुरुष ऐसे ही खुले हुए सभामण्डपमें किसी निकट उपवनमें बैठकर अपने गांवका प्रबन्ध और शासन करते थे। भारतके प्राचीन समयकी भांति आज भी इसी प्रकार गांवके मुखिया पंचायत किया करते हैं।

"हम उस युगमें अपराध बहुत कम पाते हैं। गावोंमें भी अपराध बहुत कम होते थे। प्रत्येक गांव एक छोटा सा स्वतन्त्र प्रजातन्त्र राज्य था*"।

प्राचीन भारतके गण-राज्योंके विषयमें ग्रीसके इतिहास-लेखकोंने भी बहुत कुछ लिखा है जिनके कथन बौद्ध-साहित्यकी एतद्विषयक चर्चाका पूर्णतया समर्थन करते हैं। वे प्रजातन्त्र तथा वर्गतन्त्र शासन-प्रथाओंका विक्रमाब्दसे चार शतक पूर्वका इतिहास बतलाते हैं। ग्रीसका विक्रान्त योद्धा अलक्षेन्द्र विक्रमाब्दके २७० वर्ष पूर्व भारतमें आया। उसके साथ अनेक विद्वान् इतिहास-लेखक थे। उसके लौट जानेपर भारतमें मौर्ययुगका उदय हुआ। सेल्यूकसने मेगास्थनीज़ नामके राजदूतको चन्द्रगुप्त मौर्यकी राजधानी पाटलिपुत्रमें रहनेके लिये भेजा। मेगास्थनीज़ आदि ग्रीसके इतिहासलेखकोंने भारतके संबन्धमें बहुत कुछ लिखा है। मेगास्थनीज़का कथन है कि मेरे समयमें भारतके बहुतसे नगरोंमें प्रजा-शासन-प्रथा प्रचलित थी। 'समुद्रके समीप रहनेवाली तथा अन्यान्य जातियां भी स्वतन्त्र एवं नरेशहीन हैं' इसका यही तात्पर्य है कि भारतमें कई स्थलोंमें छोटे छोटे प्रजातन्त्र राज्य थे। क्विण्टस कर्शियस (Quintus Curtius) ने भी मेगास्थनीज़के कथनका समर्थन किया है। उसने शबरकी (Sabarcae) नामक एक प्रबल भारतीय जनताका

---

* "We hear of no crime, and there was not probably very much in the villages themselves—each of them a tiny self-governed republic".

Budhist India.
(p. 21)

उल्लेख किया है, जिसकी शासन-पद्धति नरेशशून्य किन्तु स्वराजमूलक थी। इस राष्ट्रमें ६० हज़ार प्यादे, ६० हज़ार घुड़सवार, और ५०० रथ थे। जब अलक्षेन्द्रने इनपर आक्रमण किया तब इन्होंने तीन सेनापतियोंको निर्वाचित किया। यह प्रबल जाति सिन्धुनदके तटपर बसती थी, और उसपर इसके अनेक ग्राम थे। एरियन' ने लिखा है कि नइसाके नगर-राज्यमें शासन प्रजाके एक उत्कृष्ट वर्गके हाथमें था जिसमें एक प्रमुख और ३०० सदस्य थे। जब अलक्षेन्द्र नइसामें आया तब नगरवासियोंने अपने नगरके सर्वश्रेष्ठ तीस प्रतिनिधियोंके साथ अपना प्रमुख उसके पास भेजा। अलक्षेन्द्रने उनकी स्वतन्त्रतामें ज़रा भी बाधा न डाली किन्तु उनकी राजकीय व्यवस्थाके विषयमें पूछताछ कर उनकी प्रशंसा की, क्योंकि सर्वोत्तम वर्गके हाथमें उनका राज्य-शासन था। इसके अतिरिक्त उसने उनके ३०० सदस्योंमेंसे चुने हुए सर्वश्रेष्ठ १०० सदस्योंको अपने हाथ ले जानेकी उनसे सविनय प्रार्थना की। एरियनने यह भी कहा है कि रावी नदीके उस पारका देश बहुत ही उपजाऊ है. वहांके बाशिन्दे अच्छे किसान हैं, वे युद्धमें बड़े शूरवीर हैं और बड़े ही अच्छे राज्यकी छत्रछायामें रहते हैं, कारण कि जनताका शासन सर्वश्रेष्ठ पुरुषोंके हाथमें है जो अपने बल और अधिकारका न्यायानुसार समुचित प्रयोग करते हैं।

ग्रीसके लेखक और भी अनेक स्वराज्योपजीवी जातियोंका उल्लेख करते हैं। उनमें से मुख्य मलोई, ओक्सीड्रेकाई, ज़ैथरोई, अद्रेष्टाई* इत्यादि थीं। अब इस बातमें सन्देह न होगा कि विक्रमाब्दसे पूर्व चौथे शतकमें पंजाबमें अनेक प्रजातन्त्र राष्ट्र थे जिन्होंने अलक्षेन्द्रका सामना किया था†।

प्राचीन संस्कृत-साहित्यसे भी प्रजातन्त्र राष्ट्रोंके अस्तित्वका परिचय मिलता है। महाभारतके शान्तिपर्वमें (१०७) युधिष्ठिरके प्रश्नके उत्तरमें भीष्मने इस प्रकारके शासनके गुण-दोषोंका भली प्रकार विवेचन किया है। युधिष्ठिर बोले—"विद्वद्वर! मैं गणराज्योंकी वृत्तिके विषयमें सुनना चाहता हूं वे किस प्रकार वैभवशाली हुआ करते हैं और (आपसके विरोधसे) कैसे छिन्न भिन्न हो जाया करते हैं, कैसे अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करते हैं और मित्र उपलब्ध कर लेते हैं? मुझे प्रतीत होता है कि गणोंका नाश आपसके मतभेदसे हुआ करता है, क्योंकि मेरे मतमें बहुत लोगोंका मन्त्र-संवरण करना कठिन है।" ‡

---

* Malloi, Oxydrakai, Xathroi, Adraistai.

† मैक्क्रिण्डिलने Mc Crindle यूनान और रूमके प्राचीन भारतके इतिहास-वेत्ताओंके ग्रंथोंका अनुवाद अंग्रेजी भाषामें किया है जिनसे अलक्षेन्द्रके समकालीन भारतके इतिहासपर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

‡ **गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ।**
यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत ॥
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ।
भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये ।
मन्त्र-संवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥

भीष्मपितामहने उत्तर दिया—हे भरतसत्तम नरेश ! गणों, कुलों और राजाओंमें लोभ और आपसकी ईर्ष्या ही वैरका कारण होती है, क्योंकि लोभसे अभिभूत होकर मनुष्य असहिष्णु हो जाता है, और फिर आपसमें वैमनस्य उत्पन्न हुआ करता है। गुप्तचर, कूटनीति और सेनाके द्वारा, साम, दाम, भेद, धन-क्षय और नर-हत्याके उपायोंसे ये सब एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं। इन उपायोंके ग्रहण करनेके कारण गण राज्य छिन्नभिन्न हो जाया करते हैं क्योंकि इनके जीवनका सार संघशक्ति ही है, और इस कारण ये आपसके भेद-भाव और मनोमालिन्यसे भयवशात शत्रुके शिकार हो जाया करते हैं। इस लिए आपसमें हिलमिलकर एकतासे ही गणोंको कार्य करना चाहिये* । यदि गण मिलकर पुरुषार्थ करें तो धन भी उपलब्ध हो सकता है, और यदि उनमें संघशक्ति हो तो उनसे बाह्यराष्ट्र भी मैत्री करनेके लिये उद्यत होंगे। विद्वान् लोग उन गणोंकी प्रशंसा किया करते हैं जिनमें लोग आपसका परामर्श अवधानपूर्वक सुना करते हैं। जो स्वार्थत्यागी होते हैं वे सब प्रकारसे सुख पाते हैं (१६)। ऊंची कक्षाके गण-राज्य धर्मात्माओंको नियुक्त करके और शास्त्रानुकूल विधिसे शासन-व्यवस्था स्थापित कर तथा उसे कार्यमें परिणतकर अवश्य उन्नति करते हैं (१७)। वे गण समृद्धिशाली होते हैं जो गुप्तचर, मन्त्रिमण्डल और कोष-संचयकी अच्छी व्यवस्था कर सकते हैं (१९)। धनाढ्य शूर, शस्त्रज्ञ और शास्त्रपारंगत ये जिस गण-राष्ट्रमें जितने ही अधिक होंगे, उतनी ही सफलतासे वे राष्ट्रका कठिनसे कठिन आपत्तिमें उद्धार कर सकेंगे (२१)। हे भरतश्रेष्ठ ! क्रोध, वैमनस्य, भय दण्ड, अत्याचार, कारावास और वध ये गणोंको शत्रुका शिकार बनाते हैं (२२)। इसलिए तुम्हें गणमुख अर्थात् गणके नेताओंका सम्मान करना उचित है क्योंकि गणकी लोकयात्रा उन्हींपर निर्भर है (२३)। हे शत्रुओंके नाश करनेवाले ! गुप्तचर

---

*भेदे गणा विनश्येयुर्भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघात योगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥ १४
ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रुषसः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥ १६
धर्मिष्ठान्व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १७
चारमन्त्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च ।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ १९
द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः ।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान् गणान् संतारयन्ति ते ॥ २१
क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ॥२२
तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः ।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥ २३

विभाग और मन्त्रका गुप्त रखना, ये दोनों बातें प्रधान पुरुषों ही पर छोड़ देनी चाहिये, क्योंकि यह उचित नहीं कि सारा गण पूरा पूरा मन्त्र (गोपनीय बातें) सुने (२४)। गणके नेताओंको मिलकर गणकी भलाई करनेमें दत्तचित्त होना चाहिये (२६)। आभ्यन्तर भयसे गणकी रक्षा करनी चाहिये, बाहरका भय असार है, हे राजन्! आभ्यन्तर भय ही जड़मूलको काट डालता है (२९)। भेदसे और रिश्वतसे शत्रुलोग गणोंको छिन्न भिन्न कर डालते हैं, इसलिए संघशक्ति वा एकता ही गणोंका दृढ़ आधार है (३२)।

इस अवतरणकी आलोचनासे यह स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें यहां केवल एकराजतन्त्र शासन ही न था, किन्तु ऐसे भी राष्ट्र थे जिनमें सत्ता जनताके हाथमें रहती थी। उग्र मतभेद इस प्रकारके संघके नाशका कारण है, यह बात अर्वाचीन और प्राचीन स्वाधीन राज्योंके विषयमें बिल्कुल ही यथार्थ है। गणके मुख्य नेताओंपर लोकका विश्वास होना चाहिये, उन्हें पूर्ण अधिकार देने चाहिये। जो संघ वा गणके गुण-दोष इस अवतरणमें दिखाये गये हैं वे वर्त्तमान स्वराज्य-शैलीमें भी ज्योंके त्यों देखनेमें आते हैं।

कौटिल्यने भी अपने अर्थशास्त्रमें कितने ही संघोंका उल्लेख किया है। यद्यपि सम्राट् चन्द्रगुप्तका महामात्य कौटिल्य साम्राज्यवादी था, और उसने मौर्य-साम्राज्यके संगठनार्थ इन बेचारे छोटे छोटे संघोंकी दुर्दशा करनेमें कुछ कमी न की होगी, तथापि मौर्य-साम्राज्यके अस्त होनेके बाद कई शताब्दियोंके बीतनेपर भी ये संघ विद्यमान थे, इस तात्पर्यके शिलालेख और सिक्के हमें अधिगत हुए हैं। मौर्ययुगमें तो इनमेंसे कई एक संघ साम्राज्य-ग्रसित हुए होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। तौभी कुछ अवशिष्ट रहे। विक्रमके चतुर्थ शतकमें प्रयागके समुद्रगुप्तके स्तम्भ-लेखमें इन गणोंका उल्लेख है। तदनन्तर भारतीय इतिहासमें न जाने किस कारण वे सब कथा-मात्र-शेष हो गये। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरोत्तर वर्द्धिष्णु गुप्तवंशके साम्राज्योदरमें ये गण-राष्ट्र एक एक करके विलीन हो गये। साम्राज्य ही इनके नाशका कारण है। विक्रमाब्दके ६ शतक पूर्वसे आरम्भ कर विक्रमकी चौथी शताब्दी पर्यन्त ये राष्ट्र अपनी स्वाधीनता यहां वहां कायम रख सके लेकिन अन्तमें साम्राज्यकी प्रबल बाढ़में सभी निमग्न हो गये।

मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥ २४
"गण मुख्यैस्तु संभूय कार्य्यं गणहितं मिथः। २५
आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम्।
आभ्यन्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति ॥ २९
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभि र्गणाः।
तस्मात् संघातमेवाहु र्गणानां शरणं महत् ॥ ३२

शान्ति पर्व, राजधर्म, १०७

कौटिल्यने निम्नलिखित गणोंका उल्लेख किया है—

"लिच्छविक-वृजिक-मल्लक-मद्रक-कुकुर-कुरु पाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः"। अर्थात् ये पूर्वोक्त जातियां राज शब्दका व्यवहार करती थीं, अर्थात् इनके नेता राजा कहे जाते थे। बौद्ध ग्रन्थोंमें भी लिच्छवी संघके सरदारों अथवा सदस्योंका राजा शब्दसे ही संबोधन किया गया है। मौर्ययुगके आरम्भमें ये पूर्वोक्त गण वा संघ विद्यमान थे। इनमें प्रथम तीन आर्यावर्तके पूर्वमें, कुरु पाञ्चाल मध्यमें, मद्रक पश्चिमोत्तर प्रदेशमें, और कुकुर दक्षिण-पश्चिममें थे। संघकी शासन-प्रणाली लोकमतानुकूल ही होती थी। इसका उल्लेख कौटिल्यने किया है—

संघ मुख्यश्च संघेषु न्यायवृत्तिर्हितः प्रियः
दान्तोयुक्तजनस्तिष्ठेत् सर्व चित्तानुवर्तकः। (पृष्ठ ३७९)

अर्थशास्त्रमें संघके विषयमें नवें प्रकरणके प्रथम अध्यायमें उन उपायोंका उल्लेख किया गया है जिनसे यह नष्ट होता है। इस अध्यायके पढ़नेसे यह प्रतीत होता है कि मौर्य-साम्राज्यका कर्त्ता, धर्त्ता, विधाता कौटिल्य इन लोकतन्त्र राज्योंका कट्टर शत्रु था, और उन्हें नष्ट करनेके लिये उसने अवश्य ही निन्द्य नीतिका अवलम्बन किया होगा। यद्यपि कौटिल्यकी कुटिल नीतिसे ये प्रजातन्त्र राज्य कुछ कालतक बहुत त्रसित रहे होंगे तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इनमेंसे कुछ अपनी प्रचुर शक्तिसे मौर्य साम्राज्यका सामना करते हुए कदाचित् डटे रहे। ऐसे संघोंका थोड़ा बहुत इतिहास सिक्कों और शिलालेखोंसे मिलता है। इनका विवरण हम नीचे देते हैं—

(१) **यौधेय**—यह बड़े वीर योद्धाओंका संघ था। महर्षि पाणिनिने 'आयुधजीविसंघः' इस सूत्रमें इनका ही उल्लेख किया है। 'इनके सिक्के पहले पहल विक्रमाब्दसे एक शतक पूर्वके हैं जिनपर, **यौधेयन**' लिखा हुआ है। दूसरी तरहके सिक्कोंपर "यौधेयगणस्यजयः" यह वाक्य अंकित है। गिरनारके शिलालेखमें, सारे क्षत्रियोंमें वीर शब्दका अभिमान रखने वाले यौधेय लोगोंका उल्लेख है—"सर्व क्षत्राविष्कृत बीरशब्द जातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानाम्" इसी लेखमें राजा रुद्रदामाका कथन है कि उसने यौधेय लोगोंको परास्त किया; किन्तु चतुर्थ शतकके समुद्रगुप्तके प्रयागवाले स्तम्भलेखसे यह सिद्ध है कि यह संघ तब तक नष्ट नहीं हुआ था यद्यपि इसे गुप्त-साम्राज्यका प्राधान्य स्वीकृत करना पड़ा। यौधेय गणके सिक्के जिन जिन स्थलोंमें पाये गये हैं उनसे इनके राज्यकी सीमाओंका पता चलता है। वे प्रायः पंजाबके पूर्व सतलज और यमुनाके बीचके प्रदेशमें मिलते हैं।

(२) **मालव**—इस स्वतन्त्र जातिके भी सिक्के जयपुर राज्यके समीप नागर नामके क़स्बेके पास अधिगत हुए हैं। कदाचित् इससे संबन्ध रखने वाली अलक्षेन्द्रके समयकी मल्लोई जाति थी जिसका उल्लेख महर्षि पाणिनिने भी किया है। नासिकके शिलालेखमें महाराष्ट्र-क्षत्रप नहपानके जामाता उषवदातने 'मालय' जातिके परास्त करनेका उल्लेख किया है। विजयके पश्चात् उषवदात पुष्कर झीलमें स्नान करने गया जो इस जातिके रहनेके प्रदेशसे बहुत समीप थी। इस गणको भी सम्राट् समुद्रगुप्तका प्राधान्य स्वीकृत करना पड़ा था। चतुर्थ शताब्दीके पश्चात् इस जातिका स्वातंन्य कथा-मात्र-शेष हुआ प्रतीत होता है।

(३) अर्जुनायन—इस प्रजातन्त्र संघका भी उल्लेख समुद्रगुप्तके स्तंभ-लेखमें है। इसके सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। विन्सेंट स्मिथने इसका प्राचीन स्थल वर्तमान अलवर और भरतपुरके राज्योंमें ही बतलाया है।

(४) औदुम्बर—इस जातिके सिक्के पंजाबके उत्तर भागमें कांगड़ा ज़िलेमें पाये गये हैं।

(५) कुणिन्द—यह जाति गंगा और व्यासके मध्य हिमालयकी उपत्यकामें बसती थी। महाभारतमें इसका उल्लेख है। इस लोकतन्त्र-संघके कई भांतिके सिक्के भी मिलते हैं।

(६) वृष्णि—इस वृष्णि वंशके प्रमुख भगवान् श्रीकृष्ण थे। कौटिल्यने वृष्णि-संघका उल्लेख किया है। इसके सिक्के भी प्राप्त हुए हैं।

(७) शिवि—इस जातिके कुछ सिक्कोंपर **"मझमिकाय सिविजनपदस"** ऐसा लेख है। जानपदका प्रयोग जाति वा गणके अर्थमें होता है। इस गणकी निवास-भूमि चित्तौरके समीप थी, क्योंकि वहीं इसके सिक्के मिले हैं। माध्यमिक प्रदेशका उल्लेख पतञ्जलिने भी किया है।

ब्राह्मण और बौद्ध ग्रन्थों तथा सिक्कों, शिलालेखों और ग्रीसके इतिहासकारोंके आधारपर प्राचीन भारतके प्रजातन्त्र राज्योंका इतिवृत्त हमने इस लेखमें दिया है। जब भारतके अन्य प्रदेशोंमें एकतंत्र राज्य या साम्राज्यका उदय हुआ तभी इन छोटी छोटी स्वतन्त्र जातियोंके सामने विकट राजनीतिक समस्याएं उपस्थित हुई होंगी, तथापि इनमेंसे कुछ फिर भी अपनी स्वाधीनता कायम रख सकीं। इनका इतिहास बहुत प्राचीन कालसे विक्रमके चतुर्थ शतक तक मिलता है। इतने दीर्घ काल तक ये जातियां स्वतन्त्रताके लक्ष्यपर स्थिर रहीं, इस बातसे यह सिद्ध होता है कि भारतीय लोग राजनीतिसे उदासीन न रह कर, अपनी स्वत्व-रक्षा-का विशेष ध्यान रखते थे*।

गंगाप्रसाद महता।

*यह लेख "बौद्ध भारत", श्रीयुत के. पी. जायसवालके अनेक लेख और आर. सी. मजूमदारकी 'कारपोरेट लाइफ इन एंशण्ट इण्डिया' पुस्तकके आधारपर लिखा गया है। महाभारतका अवतरण बिहारके शोधसंबन्धी पत्रसे उद्धृत किया है। लेखक

भारतीय रेलें।

पिछले फर्वरी महीनेमें भारतकी बड़ी व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव एसम्बली) में इस प्रश्नपर विचार किया जाने वाला था कि भारतमें रेल गाड़ियां सरकारके प्रबन्धमें होनी चाहियें या व्यापारिक कम्पनियोंके प्रबन्धमें। भारतके समाचारपत्रोंके लिए यह विषय नया नहीं है। इस विषयपर समय समयपर पत्रोंमें गम्भीर और विचारपूर्ण लेख या टिप्पणियां प्रकाशित होती रही हैं। संसारमें भारत ही नहीं अन्य भी बहुतसे ऐसे देश हैं जहां रेल गाड़ियां कम्पनियोंके प्रबन्धमें हैं, परन्तु अन्य देशोंकी कम्पनियां उन्हीं देशोंके आदमियोंके हाथमें हैं, भारतवर्षमें यह बात नहीं है। यहां विदेशी कम्पनियोंका दौर दौरा है। विदेशी कम्पनियां हमारे हितोंका बहुत ही कम खयाल करती हैं और यही कारण है कि रेल गाड़ियोंका उनके हाथमें होना हमें बुरी तरह खटकता है। यहां हम राष्ट्र-प्रबन्ध और कम्पनी-प्रबन्ध दोनों पक्षोंकी युक्तियोंको संक्षेपमें देनेका यत्न करेंगे। इस विषयमें हमारा अपना मत यह है कि रेलें सरकारके अधीन रहें और वह कम्पनियोंको ठीकेपर उनका प्रबन्ध सौंप दे।

हमारे मत अर्थात् राष्ट्र-प्रबन्धके पक्षमें सबसे बड़ी युक्ति यह है कि राष्ट्र जनताके हितसे प्रेरित होकर कार्य करता है और कम्पनियां अपने स्वार्थसे प्रेरित होकर कार्य करती हैं। कम्पनियां सदा यही बात अपनी आंखोंके आगे रखेंगी कि किसी प्रकार हमें लाभ हो परन्तु राष्ट्र (सरकार) जनताके हितसे प्रेरित होकर घाटा सहनेको भी तय्यार हो जायगा। कम्पनियोंका उद्देश जिस तिस प्रकारसे रुपया बटोरना है परन्तु राष्ट्रका उद्देश प्रजाको लाभ पहुंचाना है। उदाहरणके लिए हम इटलीकी कितनी ही राष्ट्रीय रेलोंको ले सकते हैं जो केवल इसी लिए चलायी जा रही हैं कि वहांके निवासी अपने बच्चोंको स्कूलोंमें भेज सकें और गरीब लोग अपनी थोड़ी बहुत उपजको बाजारमें बेचकर अपना पेट पाल सकें। क्या यह सम्भव था कि कोई प्राइवेट कम्पनी इस प्रकारका त्याग कर सकती? राष्ट्र-प्रबन्ध और कम्पनी-प्रबन्धमें यही बड़ा भारी भेद है और इसी भेदके कारण दोनोंकी कार्य-प्रणालीमें भी भेद पड़ जाता है।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि दोनों प्रकारोंमेंसे किसमें कमसे कम खर्च और अधिकसे अधिक सुप्रबन्ध रह सकता है। हम समझते हैं कि इस बातसे दोनों पक्षोंमें विशेष भेद नहीं पड़ता। कारण कि कम्पनी और राष्ट्र दोनों ही लाभ उठानेके लिए कमसे कम खर्च और जनताकी समालोचनाके डरसे अधिकसे अधिक सुप्रबन्ध रखनेका यत्न करेंगे। परन्तु दोनोंके कार्य-क्रममें एक भेद अवश्य आजायगा और वह यह कि जहां राष्ट्र-हित और कम्पनी-हितमें विरोध होगा अर्थात जहां राष्ट्र-हितके लिए कम्पनीको

नुक्सान होता होगा वहां वह राष्ट्र-हितकी उपेक्षा करना चाहेगी, अपनी हानिकी नहीं। परन्तु दूसरी ओर राष्ट्र जनताके हितसे प्रेरित होकर घाटा भी सह लेगा।

कहा जाता है कि रेलोंका सम्बन्ध व्यापारसे है और इस लिए वे प्राइवेट कम्पनियोंके हाथमें ही रहनी चाहिए। परन्तु यदि यह युक्ति अन्य किसी देशके लिए सत्य भी हो तो भी भारतवर्षके लिए यह सत्य नहीं हो सकती। इसका मुख्य कारण यह है कि कम्पनियोंने प्रारम्भसे ही रेलोंसे होने वाले नुक्सानको अपने ऊपर लेनेसे इन्कार कर दिया था। रेल कम्पनियोंका सारा नुक्सान भारत-सरकारने सहन किया है और इसीलिए रेलोंपर उसका स्वत:सिद्ध अधिकार है। ब्राज़ील, मेक्सिको और नीदरलैण्डादि जिन देशोंमें राष्ट्रकी रेलोंको कम्पनियोंने चलाया है वहां नुक्सानका बोझ भी कम्पनियोंपर था। ऐसा आजतक किसी भी देशमें सुननेमें नहीं आया कि रेलोंके नुक्सानको तो राष्ट्र सहता रहे और उनकी मालिक कम्पनियां बनी रहें।

यह कहना भी सर्वथा सत्य नहीं कि रेलें व्यापारिक वस्तु हैं। वे व्यापारिक वस्तु हो भी सकती हैं और नहीं भी। इस बातका निश्चायक कारण नुक्सानकी जिम्मेवारी है। जो नुक्सानका जिम्मेवार है उसीका वस्तुसे अधिक सम्बन्ध समझना चाहिये। अमरीका, इंग्लैण्डादि जिन देशोंमें रेलें इस समय प्राइवेट कम्पनियोंके हाथमें हैं वहां भी उन्हें भूमि, डाक तथा तारके समान जातीय बनानेका यत्न किया जा रहा है। रेलोंके कम्पनियोंके हाथमें होनेसे सबसे बड़ा नुक्सान यह है कि जब किसी कम्पनीका रेलपर एकाधिकार हो जाता है तो वह उसका अत्यन्त दुरुपयोग करती है। एकाधिकृत वस्तुओंका जातिके हाथमें रहना ही सर्वथा उचित है।

इसमें सन्देह नहीं कि कम्पनियां चिरकालसे रेलोंको चला रही हैं परन्तु उनका प्रबन्ध सदा असन्तोषजनक रहा है। विशेषकर निचले दर्जेके यात्रियोंके आरामका खयाल कम्पनियोंने कभी नहीं किया। प्रारम्भसे ही कम्पनियोंको नुक्सानका बिल्कुल डर नहीं था। उनके कर्मचारियोंने 'माल पराया, दिल बेरहम' के अनुसार सदा बड़ी बेरहमीसे गरीब हिन्दुस्तानियोंका रुपया खर्च किया है। जिन कम्पनियोंने सन् १८४८ से १९०८ (संवत् १९०५ से १९६५) तक रेलोंको चलाया है उन्होंने ५८.०७ करोड़का नुक्सान भारतके मत्थे मढ़ा जो सूद सहित ३५९ करोड़ होता है। यूरोपियन होनेके कारण इन कम्पनियोंने सदा यूरोपियन कर्मचारियोंको ही बहुत बड़ी तनख्वाहें दी हैं और उनकी देखादेखी सरकारको भी अपनी रेलोंमें बड़ी बड़ी तनख्वाहें रखनी पड़ी। कम्पनियोंने भारतवासियोंसे सदा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया है और उन्हें पदोंसे वंचित रखा है। वर्त्तमान समयकी कम्पनी-रेलोंके किराये राष्ट्रीय रेलोंके किरायोंसे बहुत अधिक हैं।

गारण्टीड (जिनका नुक्सान भर देनेके लिये सरकार जिम्मेवार है) कम्पनियां सदा फजूल खर्च रही हैं। नीचे हम दोनों प्रकारकी कम्पनियोंका एक उदाहरण देते हैं।

वेतनसारिणी

	बी. एन. डब्ल्यू (अनगारएटीड)	सौथ इण्डियन (गारएटीड)
मुख्य इंजीनियर	१८००	२२५०
ट्रेफिक मैनेजर	१८००	२२५०
लोको सुपरिएटेण्डेएट	२२००	२२५०
स्टोरकीपर	१३५०	१७००
मुख्य ऑडिट	१८००	२२५०
एजएट	२७५०	३२५०

इन वेतनोंके सम्बन्धमें यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि सौथ इण्डियन रेलवे बी. एन. डब्ल्यूसे १४ प्रति शतक छोटी है परन्तु उसके कर्मचारियोंके वेतन १८ से २५ प्रति शतक अधिक हैं। इसके अलावा स्वतः उत्तरदायी कम्पनियां जनताके आरामका अधिक ध्यान रखती हैं और उनपर कमसे कम बोझ लादती हैं। इस समय सौथ इण्डिया कम्पनीके (?) किराये भारतमें सब रेलोंसे कम हैं।

कहा जाता है कि अंग्रेजी कम्पनियोंने रेलें तय्यार करनेमें अपनी पूंजी लगायी है इसलिये रेलें उनके हाथमें ही रहनी चाहिये। परन्तु यह बात सत्य नहीं। अंग्रेजी कम्पनियोंने भारतीय रेलोंमें केवल २८,६१,४६,६३० या लगभग २६ करोड़ रुपया लगाया है जब कि उनपर कुल व्यय ५८७ करोड़ हुआ है। इसके अलावा भारतवर्षने मार्च सन् १६२१ (संवत् १६७८ के अन्त) में इंग्लैण्डसे २५६.६६ करोड़ रुपया उधार लेकर खर्च किया है और ६१२ करोड़ रुपया अपने देशमें ही कर्ज लेकर या लगानसे प्राप्तकर रेलोंमें लगाया है। इससे साफ जाहिर है कि हमने अधिक खर्च अपने ही सरपर उठाया है। जो रुपया हमने इंग्लैण्डसे लिया है उसपर भी सुद देनेके लिए ही हम बाधित हो सकते हैं। रेलोंका प्रबन्ध किस युक्तिके आधारपर कम्पनियोंके हाथमें रखा जा सकता है यह हमारी समझमें नहीं आता। क्या ऋण देने मात्रसे कोई देश मालिक बन बैठता है? भारतके समान ही इंग्लैण्डने आस्ट्रेलियामें रेलें बनानेके लिये भी ८०० मिलियन्स पौण्ड (लगभग १२०० करोड़ रुपये) दिये हैं। क्या अंग्रेजोंको कभी वहांकी रेलोंके प्रबन्धमें भी हिस्सा मांगनेका साहस हुआ है? जो थोड़ी बहुत पूंजी अंग्रेज कम्पनियोंने भारतीय रेलोंपर लगायी भी है उसे भी उनकी कहना सरासर भूल है। इसे एक तरहका ऋण कहना चाहिये जो भारतीय सरकारने कुछ व्यक्तियोंसे लिया है, कारण कि इन कम्पनियोंने प्रारम्भमें ही भारत सरकारसे लिखा लिया था कि हानि होनेपर हमारी पूंजी सूदके साथ लौटा दी जानी चाहिये।

इस सम्बन्धमें आकवर्थ कमेटीके बहुमत वाले सदस्योंकी रिपोर्ट पठनीय है। वे कहते हैं कि यद्यपि भारतीय रेलोंके सम्बन्धमें विचार करनेसे पहले हमारा पक्का विश्वास था कि रेलें प्राइवेट कम्पनियोंके ही अधीन होनी चाहिये परन्तु यहांकी विशेष अवस्थाओंको देखते हुए हमें कहना पड़ता है कि भारतमें रेलोंका असली मालिक राष्ट्र

है और उसीके अधीन इनका प्रबन्ध होना चाहिये । भारतमें रेलें प्रजाके प्रति अपना उत्तर-दायित्व इसलिये पालन नहीं कर सकीं कि इनका प्रबन्ध करनेवाली दो सर्वथा भिन्न श्रेणियां हैं। दोहरे शासनमें कार्यकर्ता लोग कभी पूरी योग्यतासे कार्य नहीं कर सकते । गवर्न-मेंटको कभी नहीं चाहिये कि वह इतने थोड़े हिस्सेकी मालिक कम्पनीपर इतना उत्तर-दायित्व छोड़ दे । आजतक दुनियामें ऐसी कोई कम्पनी नहीं सुनी गयी जिसकी २० प्रतिशत पूंजीके मालिक ८० प्रतिशतवालों पर हुकूमत करते हों। ऐसी कम्पनीके मालिकोंको सदा घाटेका ख़तरा है और इसीलिए भारतको इतना घाटा सहना पड़ा है। आकवर्थ कमेटी कहती है कि उन कारणोंसे भारतमें किसी प्रकारका भी कम्पनी-प्रबन्ध नहीं होना चाहिये । नुक्सानका भय विना हटाये कम्पनीके हिस्सेदार बनेंगे ही बहुत कम लोग और जब तक वे सब प्रकारका ख़तरा नहीं उठाते तब तक कम्पनीके होनेकी जरूरत ही कोई नहीं है। इस-लिये कमेटीका बहुमत भारतीय जनताकी इस सम्मतिसे मिलता हुआ है कि भारतमें रेलें राष्ट्रके अधीन होनी चाहिये ।

अब हमें यह देखना है कि भारतीय सरकार इस अन्याययुक्त नीतिका समर्थन क्यों करती है । सन् १८६६ से १८७६ (संवत् १९२६-३६) तक भारतीय रेलोंका प्रबन्ध सरकारके हाथमें रहा । इस समयके अनुभवसे प्रत्यक्ष हो गया कि भारतमें रेलोंके काममें जरा भी ख़तरा नहीं, प्रत्युत यह काम अत्यन्त लाभप्रद है । जिन लोगोंने पहले इस कामको ख़तरेका जानकर छोड़ दिया था उन्होंने इंग्लैण्डमें फिर प्रबल आन्दोलन मचा-कर कहना शुरू किया कि रेलोंका सम्बन्ध व्यापारसे है और सरकारको व्यापारिक संघोंके उचित स्वत्वोंमें हाथ डालनेका कोई अधिकार नहीं। इंग्लैण्डके लोगोंके लिए किसी भी विषयमें भारत-सचिवकी स्वीकृति प्राप्त कर लेना कुछ कठिन नहीं । फल यह हुआ कि उनकी बात मान ली गयी। परन्तु कम्पनियां रेलोंको अपने हाथमें भी लेना चाहती थीं और नुक्सानके ख़तरेसे भी बचना चाहती थीं। इस कारण सन् १८७९ में नये ही प्रकार-की कम्पनियोंका संगठन किया गया । ये कम्पनियां सरकारके एजण्टके रूपमें काम करने लगीं और नुक्सानसे भी साफ बच गयीं । ईस्ट इण्डिया कम्पनीका प्रबन्ध आज भी इसी ढंगसे हो रहा है ।

उस समयसे ये कम्पनियां आकर्षणकी वस्तु बन गयी हैं । सैकड़ों सरकारी अफसरोंको उच्चतम वेतनोंपर इनमें नौकरियां दी जाती हैं। इस कारण सरकारी अफसर रेलोंमें कम्पनी-प्रबन्धका ही अनुमोदन करते हैं ! कम्पनियोंके प्रायः बहुतसे अफसर सरकारी पेन्शनयाफ्ता हैं । सरकारी अफसरोंके लिए रेलोंके कारण एक नया ही कार्य-क्षेत्र खुल गया है जिसमें उन्हें मनमानी तनख्वाहें मिलती हैं। फिर भला वे कम्पनी-पक्षका क्यों समर्थन न करें । इन्हीं अफसरोंके कारण ही सरकारी राय भी कम्पनियोंके पक्षमें दिखायी देती है ।

यहां हम यह बात स्पष्ट रूपमें कह देना चाहते हैं कि जहां बहुतसे अफसरोंने स्वार्थसे प्रेरित होकर कम्पनियोंका पक्ष लिया है वहां ऐसे निष्पक्ष सज्जनोंका भी अभाव नहीं रहा जिन्होंने प्रजाकी भलाईको ही सामने रखकर काम किया है ।

रेलोंका वर्तमान आन्दोलन

रेलोंके सम्बन्धमें पहले पहल भारतीय पत्रोंमें आन्दोलन हुआ। इसके बाद सन् १९१० से १९१८, (संवत् १९६७ से १९७५) तक प्रतिवर्ष भारतकी व्यवस्थापक सभामें इसपर बहस हुई। संवत् १९७२ में सर इब्राहीम रहीमतुल्लाके प्रस्तावपर सरकारने इस बातकी जांच करना स्वीकार किया कि कम्पनी या राष्ट्र किसके हाथमें रेलोंका प्रबन्ध आनेसे खर्च कम होता है। संवत् १९७३ में सरकारने घोषित किया कि अंकोंके सहारे खर्चेका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। सरकारने इस विषयमें प्रान्तीय सरकारों, व्यापारिक संघों तथा निष्पक्ष विद्वानोंसे राय मांगी। सबकी सम्मतिका सार यह था कि रेलोंपर राष्ट्रका प्रबन्ध होना चाहिये। संवत् १९७६ में राय बहादुर बी० एन० शर्माके प्रस्तावपर फिर सरकारने यही कहा कि रेलोंके प्रश्नपर सरकारका ध्यान है और वह इस विषयमें भारत सचिवके साथ विचार कर रही है। भारत-सचिवके विचारोंके फल स्वरूप इस विषयमें जांच करनेके लिए आकवर्थ कमेटीकी योजना की गयी जिसने संवत् १९७८ में अपनी रिपोर्ट पेश की। न मालूम सरकार अब तक भी इस कमेटीके निर्णयोंको क्यों कार्यमें परिणत नहीं करना चाहती।

आकवर्थ कमेटीकी रिपोर्ट प्रकाशित हो गयी परन्तु रेलवे बोर्डको इससे सन्तोष न हुआ और उसने प्रान्तीय सरकारों और व्यापारिक संघोंके पास दुबारा राय भेजनेके लिए प्रार्थना की। रेलवे बोर्डने अपने प्रश्नोंको जिस ढंगपर रखा उससे यही प्रभाव पड़ता था कि रेलें कम्पनीके हाथमें रहनी चाहिये। बोर्डका ऐसा करना सर्वथा अनुचित था। जांच निष्पक्ष लोगोंकी ओरसे होनी चाहिये न कि ऐसे व्यक्तिकी ओरसे जिसका उसमें स्वार्थ हो।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि सरकार तथा यूरोपियन लोग रेलोंको कम्पनीके प्रबन्धमें रखना चाहते हैं। किन्तु भारतकी प्रायः सम्पूर्ण जनता तथा अन्य निष्पक्ष लोग रेलोंको राष्ट्रके अधीन करना चाहते हैं। आकवर्थ कमिटीने जनताके पक्षका पोषण किया है। सेन्ट्रल रेलवे अडवाइसरी कौन्सिलने भी, जिसका निर्णय केवल व्यवस्थापक सभासे ही कम मान्य है, जनताके पक्षमें सम्मति दी है। इस समय सम्पूर्ण बातका निर्णय लेजिस्लेटिव एसम्ब्लीके हाथमें है।

इस सम्बन्धमें आकवर्थ कमेटीके ये शब्द स्मरण रखने चाहिये "कर द्वारा प्राप्त भारतके ही धनसे रेलोंका निर्माण हुआ है। भारतीय जनता ही रेलोंको प्रयोगमें लाती है और उनका किराया देती है। सुधारस्कीमके अनुसार बनी हुई व्यवस्थापक सभा रेलोंके सम्बन्धमें बजट पास करती है।" ऐसी अवस्थामें क्या यह बात उचित है कि भारतवासियोंकी ही सम्मतिकी उपेक्षा की जाय* ?

सोमदत्त विद्यालंकार

---

*यह लेख प्रधानतया राय साहब चन्द्रिका प्रसादके लेखके आधारपर लिखा गया है—लेखक

कृषि शिल्प, वाणिज्य ।

मैसूर राज्यकी औद्योगिक उन्नति ।

बड़ौदा, ग्वालियर, हैदराबाद इत्यादि देशी राज्योंकी तरह मैसूर भी औद्योगिक उन्नतिके मार्गमें धीरे धीरे किन्तु निश्चय रूपसे अग्रसर हो रहा है। वहांकी संवत् १९७८ की वार्षिक रिपोर्टमें प्रकट होता है कि गतवर्ष वहां, खानोंको छोड़कर, कुल ५३० कारखाने थे जिनमें कोई ४५ हजार मनुष्य काम करते थे। इन कारखानोंमें लगभग ६० लाख रुपयेका माल तैयार किया गया। सोनेकी खानों तथा चन्दनका तेल तैयार करने वाले कारखानोंकी उत्पत्तिके अङ्क इसमें शामिल नहीं हैं। वहांकी औद्योगिक उन्नतिका एक मुख्य कारण राज्यकी प्रोत्साहक नीति भी है। ऊन या रूईके वस्त्र तैयार करने वाले पुतलीघर, चमड़ेके कारखाने, खपरेके कारखाने, मोजे, बनियाइन इत्यादि बनानेवाले तथा अन्य कई कारखाने राज्यकी सहायतापर ही चल रहे हैं। इसके अतिरिक्त गत वर्ष कांचकी चूड़ियों, दियासलाइयों, मोमबत्तियों इत्यादिके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी परीक्षाएँ या प्रयोग करनेके निमित्त स्थानीय विशेषज्ञोंको राज्यकी ओरसे आर्थिक सहायताके रूपमें ऋण भी दिया गया था। साथ ही किन बड़े बड़े उद्योगोंको स्थापित करना और लाभके साथ चला सकना संभव है, इसकी पूरी पूरी जांच करनेके कई प्रयत्न किये गये और चीनी मिट्टीके बर्त्तन, दियासलाई, सरेस, सीमेण्टकी ईंटे, तथा लकड़ी इत्यादिके उद्योग जारी करनेके निमित्त आरंभिक मसौदे भी तैयार किये गये।

औद्योगिक आवश्यकताके लिये 'तकावी'के ढँगपर ऋण देनेकी नीति मैसूरमें संवत् १९७० से आरंभ हुई थी। तबसे गतवर्ष तक कोई ७ लाख ८६ हजार रुपयेका ऋण दिया जा चुका था। इस प्रकारके ऋणसे वहांके उद्योगोंको जो अमूल्य लाभ हुआ है और राज्यकी औद्योगिक परिस्थितिपर जो प्रभाव पड़ा है, उसका अनुमान वहांके अनेक कारखानोंकी वर्तमान दशासे ही लगाया जा सकता है। गत वर्ष साबुनके कारखानेको लगभग २४ हजारका लाभ हुआ। यद्यपि उत्पत्तिकी मात्रा अधिक बड़ी न थी तो भी उसके कुछ अंशकी बिक्री राज्यके बाहर भी हुई। इस कारखाने द्वारा तैयार किये गये स्नानोपयुक्त साबुनकी प्रशंसा इंग्लैण्डके कई विशेषज्ञोंने भी की है। इसी प्रकार कपड़े बुननेके उद्योगमें भी विशेष सफलता हुई। यहां तैयार किये गये वस्त्रोंको बाहरके लोगोंने भी पसन्द किया। विदेशोंको भेजे गये रेशमके कुछ नमूने वहां वालोंकी रायमें अत्युत्तम ठहरे। चन्दनके तेलका भी कारखाना, यद्यपि वह अभी पूर्ण रूपसे समुन्नत नहीं कहा जा सकता, मैसूर राज्यके प्रधान उद्योगोंमेंसे एक है। गत वर्ष इसकी २६ लाख रुपयेकी बिक्री हुई।

केवल कारखानों और नाना प्रकारके उद्योगोंकी तरफ ही ध्यान दिया गया हो सो

बात नहीं है । कृषिकी उन्नतिके निमित्त भी वहां गत वर्ष कई प्रयत्न किये गये । भिन्न भिन्न स्थानोंमें लोगोंके सामने नये प्रकारके हलों तथा कृषिके अन्य साधनोंका प्रयोग दिखलाया गया । गन्नोंके सम्बन्धमें जो परीक्षा की गयी उसका परिणाम यह हुआ कि अब वहां भी जावा तथा मारीशसके लाल गन्नोंकी दो किस्मोंकी खेती शुरू की गयी है । रेशमके कीड़ोंके सम्बन्धमें गांव गांवमें पर्वों या मेलोंके समय व्याख्यानों, मैजिक लैण्टर्नके चित्रों तथा प्रश्नोत्तरों द्वारा अनेक बातोंका प्रचार किया गया । इसमें सन्देह नहीं कि ये सब बातें मैसूर राज्यके गौरवको बढ़ाने वाली हैं । आशा है औद्योगिक क्षेत्रमें यह राज्य शीघ्र ही समुन्नत बन जायगा ।

भारतमें चायकी खेती

चायकी उत्पत्ति प्रधानतया भारत, सिंहलद्वीप, जावा, चीन इत्यादि देशोंमें होती है । गत वर्ष भारतसे लगभग १५,८७,८३ ५०० सेर चाय अन्य देशोंको भेजी गयी । इसी वर्ष सिंहलद्वीपसे ८,०८,०५,५०० सेर, जावासे ३,३६,०३,००० सेर तथा चीनसे २,८६,८८,५०० सेर चाय अन्यत्र भेजी गयी । इससे स्पष्ट है कि चायके इन तीनों केन्द्रोंने मिलकर जितनी चाय बाहर भेजी उससे भी ज्यादः अकेले भारतसे ही भेजी गयी । अतः निर्यात व्यापारकी दृष्टिसे भारतके लिये चायकी खेतीका प्रश्न बड़े महत्त्वका है । 'टाइम्स इयर बुक'में दिये हुए अंकोंको देखनेसे प्रकट होता है कि इधर कई वर्षोंसे चायकी उत्पत्ति कम होती जा रही है, यद्यपि चायकी खेतीका क्षेत्रफल बराबर बढ़ता ही रहा है । इसका कारण चायकी खेतीसे सम्बद्ध अनेक कठिनाइयां हैं जिनमेंसे एक कठिनाई काफी संख्यामें कुलियोंका न मिल सकना भी है । भारतमें चायकी खेतीका कोई ८३ फी सैकड़े अंश आसाम तथा उत्तरी बंगालमें है । यहांका जलवायु साधारण मनुष्यके स्वास्थ्यके अनुकूल न होनेके कारण तथा मजदूरोंको विशेष अधिक अथवा पर्याप्त पारिश्रमिक भी न मिलनेके कारण यहां वे समुचित संख्यामें नहीं जाते और न स्थायी रूपसे रहकर काम ही करते हैं । गतवर्षमें ब्रह्मदेशको छोड़कर समस्त भारतमें कोई ७ लाख ६ हजार एकड़ भूमिमें चायकी खेती की गयी थी और कुल १३,२१,३२,००० सेर चाय उत्पन्न हुई ।

गत कई वर्षोंकी अपेक्षा संवत् १९७८ में चायकी खेतीमें विशेष लाभ हुआ । इस बार हिस्सेदारोंको भी थोड़ा बहुत मुनाफा बांटा गया । यदि इस सुधरती हुई अवस्थामें कुलियोंकी मजूरी बढ़ा देनेका भी ध्यान रखा जाय तो इस उद्योगकी हालत और भी सन्तोषजनक हो जानेकी संभावना है ।

भारतीय चायकी सबसे ज्यादा खपत—कोई ८४ फी सैकड़े—ब्रिटिश संयुक्त राज्यमें होती है । युद्धके पूर्व रूस भी बहुत सी चाय भारतसे ही लेता था, । किन्तु अब वहांकी सामाजिक और आर्थिक समस्याओंके कारण भारतसे अन्य वस्तुओंकी तरह चायका

भेजा जाना भी बन्द हो गया । चायके व्यापारकी शिथिलताका एक कारण यह भी है। भारतमें चायकी खेती प्रधानतया गोरे लोगोंके ही हाथमें है और उसके लाभका एक बड़ा अंश भी भारतसे बाहर चला जाता है, क्योंकि इस कार्यको करने वाली कम्पनियोंमें जो ४२ करोड़से अधिक रुपया लगा हुआ है, उसमें लगभग ३४ करोड़की सम्पत्ति ऐसी कम्पनियोंकी है जिनकी स्थापना इंग्लैण्डमें हुई है। अतः ऐसी अवस्थामें मुनाफेका रुपया देशके बाहर क्यों न जाय ?

———:०:———

मद्रासमें चमड़ेका व्यवसाय

भारतकी पैदावारोंमें चमड़ेका नम्बर पांचवां समझना चाहिये। चायके व्यापारकी अपेक्षा इसका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। दक्षिण भारतमें चमड़ा तैयार करनेका काम विशेष रूपसे किया जाता है। संवत् १९७६ में भारतसे कुल १२ करोड़का पकाया हुआ चमड़ा बाहर भेजा गया था। इसमेंसे कोई १० करोड़का चमड़ा अकेले मद्राससे ही प्राप्त हुआ था। मद्रासमें चमड़ेके कारखानोंकी विशेष सफलताका कारण यह है कि वहां बहुत अच्छी तरहसे पकाया हुआ चमड़ा अधिक राशिमें मिल जाता है। दूसरा कारण यह है कि मद्रासके चमार परम्परासे ही चमड़ा पकानेके कार्यमें बड़े निपुण हैं। इसके अतिरिक्त भारतके अन्य स्थानोंकी अपेक्षा मद्रासमें बकरों तथा भेड़ोंकी संख्या भी ज्यादा है। किन्तु एक बात है। मद्रासके कारखाने कच्चे चमड़ेसे प्रायः कोई वस्तु तैयार नहीं करते। वे केवल विदेशी कारखानोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये ही चमड़ा तैयार करते हैं। यूरोपमें इस प्रकारके तैयार चमड़ेकी ही खपत ज्यादा होती है, क्योंकि चमड़ेकी बनी बनायी वस्तुएं लेनेकी अपेक्षा तैयार चमड़ा खरीदनेमें ही वहां वालोंका विशेष लाभ है।

मद्रासके कारखानोंमें चमड़ेकी भिन्न भिन्न चीजें तैयार न होनेका एक कारण पूंजीकी कमी है। यदि पर्याप्त पूंजी प्राप्त हो सके, साथ ही यदि कुछ कार्य-कुशल विशेषज्ञ भी मिल सकें तो मद्रासके कारखानोंमें वे सब वस्तुएँ भी सहज ही तैयार हो सकती हैं जो भारतीय चमड़ेसे लाभ उठाने वाले जर्मनी इत्यादिके कारखानोंमें बनती हैं। राज्यकी सहायतासे यह कठिनाई बड़ी आसानीसे दूरकी जा सकती है। मद्रासमें औद्योगिक सहायताके निमित्त सरकारकी ओरसे जो आयोजना की गयी है या की जा रही है, आशा है उससे इस व्यवसाय वाले विशेष लाभ उठा सकेंगे। जब तक काफी पूंजीका प्रबन्ध न होगा तब तक संभवतः यहांके कारखाने चमड़ेकी विविध वस्तुएँ तैयार करनेमें पूर्ण रूपसे प्रवृत्त न हो सकेंगे।

सामयिक संग्रह ।

खद्दरका आर्थिक महत्त्व ।

मैञ्चेस्टरके व्यापारपर भारतके राजनीतिक असन्तोषका जो प्रभाव पड़ा है उसे अनेक विशेषज्ञोंने निःसंकोच रूपसे स्वीकार किया है । कुछ लोगोंकी रायमें यह प्रभाव अस्थायी और क्षणिक था । उनका कथन है कि महात्मा गांधीकी गिरफ्तारीके बाद यहांके आन्दोलनमें शिथिलता आ गयी और विदेशी वस्त्रोंके बहिष्कारका काम भी ढीला पड़ गया, किन्तु 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' के व्यापारिक क्रोड़पत्रके लेखककी रायमें

इस आन्दोलनका प्रभाव अधिक व्यापक हुआ है और उसके दूर होनेके कोई चिह्न नजर नहीं आ रहे हैं । देशके लिये खद्दर सस्ता और उपयोगी कपड़ा साबित हुआ है । यहां खद्दर पहिरना एक प्रकारका 'फैशन' या रिवाजसा हो गया हैं। इसकी लोकप्रियताका प्रधान कारण संभवतः इसका आर्थिक महत्त्व हो है । सारे कुटुम्बके लिये एक मात्र खद्दरके ही कपडे तैयार किये जा सकते हैं और पहिले भिन्न भिन्न तरहके कपड़े बनवानेमें जो खर्च पड़ता था उसका अब लगभग पांचवां हिस्सा ही लगता है । खद्दर सस्ता ही नहीं पड़ता, वह अधिक समय तक चलता भी है और धोबीके घर जानेसे भी शीघ्र नहीं फटता ।

विलायतवालोंको भली भांति यह समझा देना कदाचित् संभव नहीं प्रतीत होता कि भारतके समान निर्धन देशमें लोगोंको कमखर्चीके लिये कहां तक बाध्य होना पड़ता है । वहांके कई प्रमुख व्यवसायी यह कहते कहते नहीं थकते कि भारतके करोड़ों मनुष्य लंकाशायरके वस्त्रोंके बिना अपना निर्बाह ही नहीं कर सकते । किन्तु आज हम देखते हैं कि भारतवासी लंकाशायर ही नहीं, स्थानीय पुतलीघरोंके भी कपड़ोंके बगैर अपना काम चला रहे हैं । भारतमें इस समय शायद ही ऐसा कोई पुतलीघर हो जिसकी समूची उत्पत्तिकी खपत देशमें ही हो जाती हो । माल इकट्ठा होरहा है, कोई कोई व्यापारी तो माल लेनेका अपना पूर्व निश्चय भी त्याग रहे हैं । इस वर्ष पुतलीघरोंका मुनाफा भी घट गया है । कपड़ोंका भाव गिर जानेपर भी बाजार तेज होता नहीं देख पड़ता ।

इससे स्पष्ट है कि सब बातोंके खयालसे लोगोंको अन्य कपडोंकी अपेक्षा खद्दर अधिक उपयोगी और वाञ्छनीय प्रतीत हो रहा है । यदि विदेशी महीन और सस्ते कपड़ोंके बदले देशमें ही तैयार किये गये खद्दरका ही—फिर वह मोटा और महँगा भी क्यों न हो—प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति भविष्यमें भी कुछ दिनों तक कायम रह सके तो देशका बड़ा आर्थिक लाभ हो और वह कपड़ोंके सम्बन्धमें विशेष परावलम्बी भी न रह जाय ।

['मैञ्चेस्टर गार्जियन' के व्यापारिक क्रोड़पत्रसे]

जर्मनी कितना हरजाना दे चुका ।

वर्सेल्सकी सन्धिके अनुसार हरजानेके सम्बन्धमें जो शर्तें तय हुई थीं उनका जर्मनी द्वारा अनुपालन किये जानेके प्रश्नकी ओर लोगोंका ध्यान ऐसा खिंच गया है कि उन्हें इसका शायद कोई ख़याल ही नहीं होता कि जर्मनी वास्तवमें कितनी अधिक रकम दे चुका है।

सरकारी विवरणके अनुसार पहिली मई १९२१ तक ५१० करोड़, तथा पहिली मई १९२१ से ३० अप्रैल १९२२ तक १८७·८ करोड़ सोनेके मार्क (जर्मन सिक्के) दिये जा चुके थे। गत नवम्बर तक यह संख्या २६०·८ करोड़पर पहुंच गयी अर्थात् उस समय तक कुल ७७० करोड़ सोनेके मार्क या कोई ४ करोड़ पौण्ड (लगभग ६० करोड़. रुपये) जर्मनी दे चुका था। यहां इस बातका ख़याल रखना चाहिये कि इसमें उस क्षतिके अंक शामिल नहीं है जो उत्तरी साइलेशियामें जर्मनीकी सरकारको अपनी सम्पत्तिके विनाशसे हुई और न इसमें वह नकद या मालके रूपमें दी गयी रक़म ही शामिल है जो २३८वीं धाराके अनुसार जर्मनीको युद्धके दिनोंमें ज़ब्त की हुई मिलकियतके बदलेमें देनी पड़ी है।...... सन्धिकी अन्य धाराओंके अनुसार जर्मनीको और भी बहुत-सी रकमें अदा करनी पड़ी हैं। २९६ वीं धाराके अनुसार उसे कोई ३·२५ पौण्ड भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिये गये ऋणके परिशोधनार्थ देने पड़े। इसमें लगभग दो करोड़ पौण्ड (३० करोड़ रुपये) जर्मन सरकारको ही देने पडे, क्योंकि सन् १९१४ में प्रचलित विनिमय की दरके अनुसार कर्ज चुकाना आवश्यक होनेके कारण उसे ऋणग्रस्त लोगोंकी सहायता करनी पड़ी।

इसके अतिरिक्त जर्मनीको अपनी सीमाके भीतर ठहरी हुई मित्र-राष्ट्रोंकी सेनाके निमित्त कोई तीन करोड़ पौण्ड (४५ करोड़ रुपयों) के नोट मुद्राकी तरह व्यवहारार्थ देने पड़े। साथ ही सैनिकोंके भोजन, निवास इत्यादि विषयक लिखित आदेशोंकी पूर्तिमें भी लगभग ५ करोड़ पौण्ड तथा मित्रों द्वारा बैठाये गये अनेक कमीशनों (या 'विचारक सभाओं') के व्ययके लिये करीब २५ लाख पौण्ड और देने पड़े। दिसम्बर १९२२ के अन्त तक जर्मनी जितनी रकम या माल अदा कर चुका है—यदि उसमें युद्धकालके समय ज़ब्त की गयी मिलकियतके बदले दी गयी रक़म शामिल न की जाय तो भी--उसकी मात्रा कमसे कम ५० करोड़ पौण्ड (लग भग साढ़े सात अरब रुपये) होती है।

[१९ फरवरीके 'पायोनियर' से]

जापानमें वस्तुओंकी महंगी ।

इस समय अन्य देशोंकी तरह जापानमें भी लोगोंको कैसी कैसी आर्थिक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ रहा है और किन किन उपायोंसे वे अपनी रक्षा कर रहे हैं, यह 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' नामक समाचारपत्रके एक लेखसे प्रकट है । इसमें कहा गया है कि

जापानमें महीनेके दो दिन 'कर्मखर्ची' के लिये अलग कर दिये गये हैं। इसका अभिप्राय समूचे राष्ट्रमें मितव्ययताकी आदत फैलाना है। होटलके नौकरोंके लिये तथा अन्य नौकरोंके लिये भी ये दिन अत्यन्त निराशापूर्ण होते हैं क्योंकि उक्त दोनों दिन उन्हें कोई बखशीस नहीं मिलती। इन दिनों जो लोग किसीके मृतक संस्कारमें शामिल होते हैं उन्हें भी अपनासा मुंह लेकर घर लौटना पड़ता है, क्योंकि यदि महीनेके पहिले या पन्द्रहवें दिन किसीकी मृत्यु हो जाती है तो उस दिन दाह-क्रियामें सम्मिलित होनेवाले लोगोंको वह भेंटी पानेकी बहुत कम संभावना रहती है जो जापानमें ऐसे अवसरोंपर साथ जाने वाले लोगोंको दी जाती है। यात्रा करनेवालोंके लिये भी ये दिन उदासीके दिन होते हैं क्योंकि उन्हें पहुंचानेके लिये बहुत कम लोग स्टेशन तक आते हैं, वे भाड़ेकी गाड़ीका किराया पांच येन (लगभग ७॥ रुपये) बचा लेना अधिक अच्छा समझते हैं।

लेखकके कथनानुसार वस्तुओंकी महँगीका सामना करनेके लिये जापानियोंका यह प्रथम निश्चित और वीरोचित प्रयत्न है । बात यह है कि यद्यपि

अन्य देशोंकी तरह जापानमें भी युद्धके बाद व्यापारिक शिथिलता छा गयी थी तो भी अन्य देशोंकी तरह इस शिथिलताके बाद जापानमें प्रचलित सिक्कोंकी संख्या कम नहीं की गयी। अतः मुद्राबाहुल्यके कारण जापानमें वस्तुओंका मूल्य बढ़ गया। युद्धके पूर्व जापानमें एक मामूली मकान कोई ६०० येन (लगभग ९०० रुपये) में तैयार हो सकता था और वह प्रतिमास आठ येनके किरायेपर मिल जाता था। वही आजकल दो-ढाई हजार येनमें तैयार होता है और यदि वह २५ येनके मासिक किरायेपर मिल जाय तो भी सस्ता समझा जाय। वस्त्रोंका मूल्य भी इसी प्रकार बढ़ गया है।

अमेरिकाकी तरह जापानमें भी अन्य लोगोंकी अपेक्षा मस्तिष्कका काम करनेवाले ही विशेष कष्टमें हैं, साथ ही किसानोंकी भी हालत अच्छी नहीं है। हां, चावलका मूल्य बढ़ जानेके कारण अवश्य उन्हें लाभ हुआ है। ओकायामाके एक किसानको अपनी ·५६ एकड़ भूमिसे उत्पन्न चावलके निमित्त सन् १९१० में ६४·५३ येन मिले थे, किन्तु आज उसे

प्रायः उतने ही चावलके बदले ३४२.५ येन प्राप्य हैं। इतना होते हुए भी उसकी दशा अच्छी नहीं है, क्योंकि चावलके साथ साथ अन्य वस्तुओंका मूल्य भी तो बढ़ गया है। इसके अतिरिक्त अब उसका तथा उसके कुटुम्बियोंका रहन-सहन भी अधिक खर्चीला हो गया है। पहिले वे लोग चावलके साथ जव तथा बाजरा भी मिलाकर खाते थे। किन्तु अब केवल चावल ही खाने लगे हैं, अतः अब खानेका खर्च और भी बढ़ गया है। अन्य बातोंमें भी अब उनकी आदत ज़्यादा खर्च करनेकी हो गयी है।

डाक्टर मोरीमोतोने सन् १९२० में इस अभिप्रायसे जापानियोंके रहन-सहनकी अवस्थाओंकी जांच की कि देखें संसारके अन्य देशोंमें मध्यश्रेणीके लोग जिस सुख और आरामसे रहते हैं वह कितने जापानियोंको प्राप्त है। आपकी जांचसे विदित होता है कि जापानमें मध्यश्रेणीके पांच मनुष्योंके एक साधारण कुटुम्बको भोजनके लिये १०४८ येन, वस्त्रोंके लिये ३४३ येन, मकानके किरायेके लिये ५६६ येन, तथा अन्य आवश्यकताओंके लिये ११९२ येन, इस प्रकार कुल ३१४९ येन खर्च करने पड़ते हैं। इस हिसाबसे समस्त जापानमें कोई पच्चीस हजार कुटुम्ब ही ऐसे निकलते हैं जिनकी गणना मध्यश्रेणी या धनाढ्य श्रेणीमें की जा सके। दूसरे शब्दोंमें यह भी कह सकते हैं कि जापानमें सैकड़े पीछे ९८ मनुष्य निर्धन श्रेणीमें ही शामिल हैं।

वस्तुओंकी महँगीसे जनताका परित्राण करनेके लिये जापानकी सरकार अनेक प्रयत्न कर रही है। ये प्रयत्न वीरतापूर्ण और प्रशंस्य हैं। इनके कारण सरकारको अनेक आर्थिक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा, उदाहरणार्थ

जापानमें तमाखूपर सरकारका एकाधिकार है। युद्धके बाद इसका उत्पत्ति-व्यय १४० फी सैकड़े बढ़ गया है किन्तु इसका मूल्य फी सैकड़े केवल ४३.२ ही बढ़ाया गया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सरकारने इस एकाधिकारके कारण लोगोंसे अधिक मूल्य वसूल करनेकी चेष्टा की है। इतना होते हुए भी सरकारने निम्न श्रेणीकी तमाखूकी क़ीमत और भी घटा देनेका निश्चय कर लिया है। केवल इसी मदसे उसे ६० लाख येनसे अधिक हानि उठानी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त चावल तथा दस अन्य आवश्यक वस्तुओंको लाने-लेजानेके रेल किरायेमें भी—जापानमें रेलोंका प्रबन्ध सरकारके हाथमें है—वह २० फी सैकड़ेसे लेकर ४५ फी सैकड़े तक कमी करना चाहती है। इससे भी राज्यकी आमदनीमें बहुत घटी होनेकी संभावना है।

इसके अतिरिक्त जापानकी सरकार वहांके बड़े बड़े शहरोंमें थोक विक्रीकी प्रधान

दूकानें भी स्थापित करना चाहती है जिनके कारण वस्तुओंका उचित वितरण होनेसे उनका मूल्य न बढ़ेगा। आर्थिक सहायता देनेका प्रबन्ध भी हो रहा है।

[अमेरिकाके "न्यूयार्क ट्रिव्यून" से]

* *

राजनीतिक क्षेत्रमें भावी क्रान्ति।

अभी तीन-चार मास पहिले ब्रिटेनमें प्रतिनिधिसभाका जो नूतन निर्वाचन हुआ था उसमें श्रमजीविदलके सदस्योंकी अपूर्व सफलता देखकर जनताकी उस प्रवृत्तिका अनुमान किया जा सकता है जिसके कारण शीघ्र ही राजनीतिक क्षेत्रमें भारी परिवर्त्तन होनेकी संभावना है। सुप्रसिद्ध लेखक श्री हालफोर्ड नाइटके कथनानुसार जनताकी यह प्रवृत्ति कोई बीस वर्ष पहिले ही दृष्टिगोचर होने लगी थी, अत:

यह समझना भूल है कि गत युद्धके दिनोंमें ही ये विचार उत्पन्न हुए हैं। इतना अवश्य है कि युद्धके पहिले ही वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थामें जो अविश्वास उत्पन्न हो गया था उसे युद्धजात परिस्थितिने और भी प्रबल कर दिया है।......स्पष्ट शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि पहिले सर्वसाधारण जिन नेताओंकी केवल आलोचना ही किया करते थे या जिनमें वे केवल अपनी अश्रद्धा ही प्रकट करते थे, उन्हींकी राजनीतिक तथा आर्थिक कार्यप्रणालीमें अब उन्हें निश्चित सन्देह उत्पन्न हो गया है और वे उसका अधिकाधिक तिरस्कार करने लगे हैं। यद्यपि ज्यों त्यों करके इनमेंसे कई नेता इस बारके निर्वाचनमें सफल हो गये हैं, तो भी (इसमें सन्देह नहीं कि) ज्यों ही जनतामें अधिक जागृति फैलेगी त्यों ही इन्हें अपने अन्य भाइयोंकी तरह सार्वजनिक जीवनसे विवश होकर हट जाना पड़ेगा। ये लोग ही सार्वजनिक कार्योंके उस प्रवाहके निमित्त उत्तरदायी हैं जिसके कारण सारे देशको अश्रुतपूर्व कष्ट उठाने पड़े। इन नेताओंके सम्बन्धमें मामूली लोग इस प्रकारकी ग्राम्य तर्कणा लगाया करते हैं—'या तो इन लोगोंकी इच्छा ही लड़ाई ठाननेकी थी, या फिर इन्होंने जो कार्य हाथमें लिया उसे संभालनेकी क्षमता इनमें न थी।' युद्धका आवाहन करनेवाले षड्यन्त्रोंमें सम्मिलित होनेके कारण जनता इन्हें निन्दनीय समझती है। उसकी दृष्टिमें ऐसे लोगोंकी सेवाकी कोई आवश्यकता नहीं। और यदि युद्धकी इच्छा न होते हुए भी ये उस भीषण दुर्घटनाको न रोक सके तो फिर समझना चाहिये कि ये सार्वजनिक कार्योंके योग्य नहीं, इनके स्थानपर दूसरोंको आना चाहिये। सारे देशमें लोग युद्धके मूल कारणों तथा उद्देश्योंको जाननेके लिये चिन्तित और आग्रहशील हो रहे हैं। उन्हें इस बातका विश्वास ही नहीं होता कि गत महायुद्धके समान संकट आवश्यक या उचित था। यह विचार कि राष्ट्रोंके पारस्परिक

झगड़े सुरझानेके निमित्त लाखों मनुष्योंको मृत्युके मुंहमें डाल देना उचित या अनिवार्य हो सकता है उनके लिये सर्वथा अग्राह्य है। जिन बिशपों या धर्माध्यक्षोंने मौन रहकर अप्रत्यक्षरूपसे युद्धके विषयमें अपनी स्वीकृति प्रकट की थी उन्हें ये लोग धर्म-विद्रोही समझने लगे हैं। उनकी रायमें गत महायुद्धके समय ऐसी कोई घटना नहीं हुई जिसके कारण इतने लोगोंका खून बहाना आवश्यक समझा जा सके। सारांश यह कि सर्वसाधारण अब युद्धकी बातोंसे बिलकुल तंग आ गये हैं और आज नहीं तो कल वे ऐसे मनुष्योंको दायित्वपूर्ण स्थानोंसे अवश्य हटा देंगे जिन्होंने गत राष्ट्रीय संकटका आवाहन किया था।

संक्षेपमें, यही उस भावी क्रान्तिका पूर्व स्वरूप है जो लाखों-करोड़ों मनुष्योंके मस्तिष्कमें क्रमश: अपना घर बना रही है।

गत युद्धके कारण उत्पन्न विभीषिका तथा उसके प्रवर्तकोंके प्रति अविश्वासकी भावना लोगोंकी इस धारणाके कारण और भी प्रबल हो गयी है कि इस प्रकारकी दुर्घटनाकी पुनरावृत्ति रोकनेके लिये अभी तक कोई वास्तविक प्रयत्न नहीं किया गया। समाचारपत्रोंमें नूतन युद्धकी सम्भावनाकी खबरें पढ़ पढ़कर लोगोंके हृदयमें सचमुच ही भयका संचार हो रहा है। यदि युद्ध ठन गया तो इसमें सन्देह नहीं कि जनताका क्रोध बढ़ जायगा और तब कुछ लोगोंकी अक्ल ठिकाने आयगी। डंडीके निर्वाचनमें श्रीचर्चिलकी असफलतासे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।...लोग देखते हैं कि अब भी (इंग्लैण्डके पर-राष्ट्रसचिव) लार्ड कर्जन अपने पूर्वगामियोंकी तरह सार्वजनिक कार्योंके सम्बन्धकी नीतिमें प्रतिनिधि सभाकी अनुमति या सम्मतिके अनुसार कार्य करनेके लिये बाध्य नहीं किये जाते। पर-राष्ट्रनीति जनताके प्रतिनिधियोंकी सहायतासे ही निर्धारित की जाय, इसका कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। किन्तु जनता उसे नियंत्रित करनेके लिये कटिबद्ध है। लोग राजनीतिक व्यवस्थामें यह परिवर्तन करानेका उपयुक्त अवसर मात्र ढूंढ रहे हैं। उनके हृदयमें जो यह क्रान्ति धीरे धीरे प्रविष्ट हो रही है उसकी तीव्रता वर्तमान आर्थिक व्यवस्था और उसके नैतिक आधारके प्रति बढ़ते हुए सन्देहसे दृष्टिगोचर हो रही है। युद्धारम्भके समय प्रत्येक श्रमजीवी औद्योगिक यन्त्रका एक पुर्जा मात्र था। जो थोड़े बहुत अधिकार उसे प्राप्त भी थे वे श्रमसंस्थाओंकी ही कृपासे थे, किन्तु समाजमें मेरी क्या स्थिति है इसे वह खूब समझता था। वह उत्पत्तिका एक साधन मात्र समझा जाता था और उसे उस मज़दूरीसे ही सन्तोष करना पड़ता था जो उसके मालिक देना चाहते थे। हां, श्रमसंस्थाएं इस

सम्बन्धमें उसकी थोड़ी बहुत सहायता जरूर कर सकती थीं, किन्तु वह किस अवस्थामें काम कर रहा है, इसकी सुनवाईका अधिकार उसे न था। उसकी यह चेष्टा अपने मालिकके विशेषाधिकारमें असहनीय हस्तक्षेपके समान समझी जाती थी। व्यवसायका अर्थ केवल इतना ही था कि उसका प्रवर्तक अपने लिये अधिकसे अधिक मुनाफा हासिल करे। उस समय सहयोगके सिद्धान्तकी कोई पूछ न थी। श्रमियोंको जो भृत्ति दी जाती थी वह उन्हें मंजूर करनी पड़ती थी या फिर गरीबोंकी रक्षाके कानूनकी शरण लेनी पड़ती थी।

युद्धका आरम्भ होते ही भिन्न भिन्न व्यक्तियोंको पैसा कमानेका अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। राज्यकी आवश्यकताएं सभी तरफ बढ़ गयीं। सार्वजनिक आवश्यकताओंके लिये जितनी वस्तुओंकी जरूरत पड़ी उतनीकी कल्पना युद्धकालके स्वार्थान्ध ठेकेदारोंने भी न की थी। देशकी कठिन आवश्यकताके कारण गोला-बारूदका खरीदना, फिर चाहे वह किसी कीमतपर क्यों न हो, बहुत जरूरी था। परिणाम यह हुआ कि कुछ लोग माला-माल हो गये। युद्धके मुनाफेपर जो कर बैठाये गये उनके कारण भी इन लोगोंकी सम्पत्तिमें कोई कमी न हुई। इस प्रकार सार्वजनिक आवश्यकतासे कुछ व्यक्तियोंने अधिकसे अधिक लाभ उठाया। इसपर भी वर्तमान आर्थिक संगठनके सूत्रधारोंने इस स्वार्थसिद्धिको न्यायोचित कह कर उसका अनुमोदन ही किया।

इन सब बातोंके कारण सर्वसाधारणमें भीषण असन्तोष फैल रहा है। वे देख रहे हैं कि जिन लोगोंने युद्धके समय अपना सर्वस्व दे दिया था

वे अब केवल निर्धन और बेकार ही नहीं हैं, किन्तु साथ ही उनकी परवाह करनेवाला भी प्रायः कोई नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जहां उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग दिया वहां दूसरोंने द्रव्य, सामाजिक प्रसिद्धि, प्रतिनिधि-सभामें प्रवेश इत्यादि सब कुछ पा लिया। उन बेकार मनुष्योंकी निर्धनताका आंशिक कारण यही है कि इन्हीं स्वार्थ-साधकोंको, युद्धकालमें दिये गये ऋणपर, ब्याज इत्यादिके रूपमें देनेके लिये उनपर इतने अधिक करोंका भार डाला गया है।

इस प्रकार इस भावी राजनीतिक क्रान्तिके दो स्वरूप हैं। एक तो युद्ध-विभीषकाके कारण उत्पन्न सर्वसाधारणका यह निश्चय कि भविष्यमें हम युद्ध न होने देंगे और इस उद्देश्यसे देशकी परराष्ट्र-नीतिके सर्वसाधारणके हितार्थ और उनके ही प्रतिनिधियों द्वारा नियंत्रणकी इच्छा; दूसरा, वर्तमान आर्थिक संगठनके अनुसार सार्वजनिक आवश्यकतासे लाभ उठानेके इस व्यक्तिगत अधिकारका घोर विरोध।

[लन्दनके "फोर्टनाइटली रिव्यू" से]

सम्पादकीय ।

भारतीयोंकी औसत आमदनी और खर्च ।

अभी थोड़े ही दिन पहिले बम्बईके श्रम कार्यालयने भारतीयोंकी औसत आमदनी और खर्चके जो अंक प्रकाशित किये थे वे बड़े मार्केके हैं। जांच करनेवालोंने कोई तीन हजार ऐसे कुटुम्बोंके आय-व्ययकी परीक्षा की थी जिनमें पुतलीघरोंके मजूर, खेतीका काम करनेवाले मजूर बढ़ई, व्यापारी क्लार्क इत्यादि भिन्न भिन्न तरहके श्रमजीवी शामिल हैं। आप लोगोंके इस प्रयत्नसे प्रकट होता है कि प्रत्येक औसत भारतीय कुटुम्बकी मासिक आमदनी बावन रुपये साढ़े चार आने है। इस आमदनीमें उन स्त्रियों तथा बच्चोंकी आमदनीके अंक भी शामिल हैं जिन्हें कुटुम्बके व्ययभारकी पूर्त्तिके निमित्त स्वयं भी मजूरी करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। यदि कुटुम्बकी आमदनीमेंसे इनकी आमदनी पृथक् कर दी जाय तो प्रत्येक पुरुष-मजदूरकी औसत आमदनी ४२।⁓)॥ ही रह जाती है। फिर, इस बातका भी ख़याल हमें करना चाहिये कि ये अंक उन श्रमियोंकी आमदनीके हैं जिन्हें बम्बईके समान व्यापार और व्यवसायके केन्द्रमें रहनेके कारण अन्य स्थानोंके श्रमियोंकी अपेक्षा अधिक मजूरी मिलती है। साथ ही, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इस गणनामें व्यापारियों, कारीगरों इत्यादिके अंक भी शामिल हैं। साधारण मजदूरोंकी आमदनी इनकी अपेक्षा बहुत कम होती है। इस प्रकार प्रत्येक मामूली भारतीय श्रमीकी औसत आमदनी ऊपर दिये हुए अंकोंकी अपेक्षा बहुत कम समझनी चाहिये।

यह हुई उन लोगोंकी बात जो किसी न किसी प्रकारके परिश्रम द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं। यदि उन विधवाओं, वृद्ध पुरुषों, बालकों तथा अपाहिजों इत्यादिका भी विचार किया जाय जो केवल दूसरोंके ही सहारे अपना जीवन बिताते हैं तो प्रत्येक भारतीयकी औसत आमदनी और भी कम प्रतीत होगी। इन्हीं सब बातोंका खयाल कर श्रीदादाभाई नौरोजी, श्रीडेविड बारबर, श्रीविलियम डिगबी, लार्ड कर्ज़न, तथा श्रीकुक इत्यादि कई महानुभावोंने भारतीयोंकी वार्षिक आमदनीका औसत १५ रुपयेसे लगाकर ५३ रुपयेतक ही माना है अर्थात अधिकसे अधिक कोई पांच रुपये मासिक ही समझिये! इसी संख्यामें अन्यत्र दिये हुए अंकोंमे प्रकट होगा कि भारतीयोंकी यह आमदनी इंग्लैण्ड वासियोंकी आमदनीका पन्द्रहवां तथा अमेरिकावालोंकी आमदनीका तेइसवां भाग ही है। अन्य देशोंकी तुलनामें भारत कितना दरिद्र है, यह इसीसे स्पष्ट है।

अब व्ययके अंकोंको लीजिये। श्रमकार्यालय द्वारा संगृहीत अंकोंसे प्रकट होता है कि प्रत्येक कुटुम्बकी आमदनीका सैकड़े पीछे ५६·८ अंश खाद्य वस्तुओंमें ही खर्च हो जाता है। लकड़ी तथा रोशनीके लिये सैकड़े पीछे ७.४, कपड़ोंके लिये ९.६, मकानके किरायेके लिये ७.७ तथा विविध कार्यौंके लिये १८.५ व्यय पड़ता है। 'विविध कार्यों' में स्वास्थ्य, शिक्षा, विवाह, धार्मिक तथा सामाजिक उत्सव इत्यादिके सम्बन्धकी अनेक आवश्यकताएँ शामिल हैं। इतनी थोड़ी आमदनीसे इन सबोंकी पूर्त्ति करनेमें कितनी

कठिनाई होती है, यह अनेक कुटुम्बोंकी ऋण-ग्रस्त अवस्थासे ही स्पष्ट है। गुजरातमें ७५ रुपये वार्षिक आमदनीवालोंमें सैकड़े पीछे ५३ ऋणग्रस्त हैं। कोंकणमें सैकड़े पीछे ६८, दक्षिणमें ६२ तथा सिन्धमें ७८ मनुष्योंतककी यही हालत है। बम्बईमें सड़कोंकी सफाई करने वाले मेहतरकी औसत मासिक आमदनी २३ रुपये है, किन्तु उसके कुटुम्बका व्यय पौने पच्चीस रुपये है। हां, यदि स्त्री-पुरुष दोनों ही काम करते हों तो अवश्य थोड़ी बहुत बचतकी गुंजाइश हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि अन्य प्रान्तोंमें भी इस प्रकार की जांचकी जाय तो बहुत सी महत्त्वपूर्ण और साथ ही मनोरंजक बातें प्रकट होंगी। देशकी वास्तविक आर्थिक स्थिति—उसकी उन्नतिका क्रम इत्यादि—समझनेके लिये इस बातकी बड़ी आवश्यकता है।

* *

भारत सरकारके लिये आवश्यक वस्तुओंकी खरीद।

भारत सरकारको अपनी आवश्यकताओंके लिये जिन जिन वस्तुओंकी ज़रूरत होती है उनमेंसे कुछ तो वह हिन्दुस्थानमें ही खरीदती है और कुछ विलायतसे मँगाती है। संवत् १९७७ के बादसे इंग्लैण्डमें इन वस्तुओंके खरीदनेका काम भारतके लन्दनस्थ 'हाई कमिश्नर' (वाणिज्य-दूत) के सिपुर्द कर दिया गया है।

इस सम्बन्धमें अभी हालमें ही राज्य-परिषद्के सदस्य माननीय महाराजा सर मणीन्द्र चन्द्र नन्दीने सरकारसे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न किये थे। सरकारने उनके उत्तरमें जो कुछ कहा उससे हमारा सन्तोष नहीं होता। माना कि माननीय सदस्यने जिस प्रकारका विवरण उपस्थित करनेकी प्रार्थना की थी उसे तैयार करनेमें 'हाई कमिश्नर' को विशेष परिश्रम करना पड़ता, किन्तु यह कहना कि इस परिश्रमसे किसी प्रकारके लाभकी या किसी महत्त्वपूर्ण प्रयोजनके सिद्ध होनेकी सम्भावना नहीं है, सर्वथा असत्य और भ्रान्तिपूर्ण है।

जब हम यह देखते हैं कि भारत सरकार अपनी आवश्यकताओंके निमित्त भारतमें सिर्फ पांच या छः करोड़ रुपयोंका ही माल खरीदती है, किन्तु इंग्लैण्ड इत्यादि देशोंसे सोलहसे बीस करोड़ तकका माल मँगवाती है तो क्या हमें यह जाननेका अधिकार नहीं है कि यह माल सस्तेसे सस्ते बाजारसे ही खरीदा जाता है या नहीं? यदि नहीं खरीदा जाता तो इसका कारण क्या है? भूतपूर्व वाणिज्य-दूत सर विलियम मेयरने स्वयं यह स्वीकार किया था कि हमें जर्मनी इत्यादि अन्य देशोंमें कम दामोंपर भी प्राप्त होने वाली वस्तुएँ न खरीदकर इंग्लैण्डके ही व्यापारियोंके पाससे अधिक मूल्य देकर भी रेल इत्यादिका सामान खरीदना पड़ता है। इसका कारण यह नहीं कि इंग्लैण्डकी अपेक्षा जर्मनी इत्यादिका माल घटिया मेलका ही रहता है। इसका कारण सिर्फ इतना ही है कि 'जरूरतके समय ब्रिटिश व्यापारियोंकी खबर न भुलानी चाहिये।' ऐसी अवस्थामें यह जानना क्या हमारे लिये कम महत्त्वकी बात होगी कि इस प्रकार ब्रिटिश व्यापारियोंका लिहाज़ करनेमें भारतको क्या क्षति उठानी पड़ती है? वर्तमान आर्थिक परिस्थितिमें तो यह प्रश्न और

भी अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। ब्रिटिश व्यापारियोंकी सहायताका यह सिद्धान्त इस सीमा तक तो हम मान सकते हैं कि यदि एक ही तरहकी कोई वस्तु इंग्लैण्ड तथा अन्य देशोंमें एक ही मूल्यमें प्राप्त होती हो तो वह इंग्लैण्डमें ही खरीदी जाय, किन्तु यदि उसी मेलकी कोई वस्तु अन्य देशोंमें सस्ते भावसे मिल रही हो तो वह वहांसे न खरीदी जाकर इंग्लैण्डमें ही क्यों खरीदी जाय, यह हमारी समझमें नहीं आता।

भारतके हितकी दृष्टिसे उचित तो यही है कि भारत सरकार यथासंभव अपनी आवश्यकताओंकी अधिकसे अधिक पूर्त्ति, कुछ अधिक मूल्य देकर भी, भारतमें ही करे। जो वस्तुएँ यहां प्राप्त न हों अथवा प्राप्त होनेपर भी बिलकुल निकम्मी हों वे ऐसे देशोंसे मँगायी जायँ जहां वे कमसे कम दामोंमें मिल सकें। यदि वाणिज्य-दूत वास्तवमें भारतके व्यापारिक हितकी रक्षा करना चाहते हैं तो भारत सरकारके लिये माल खरीदते समय उन्हें इस बातका ख़याल अवश्य रखना होगा। साथ ही इंग्लैण्डकी कम्पनियोंसे माल खरीदते समय उन्हें इस बातका भी आग्रह करना चाहिये कि उक्त कम्पनियां भारतीय विद्यार्थियोंको भी कुछ दिनों तक अपने यहां रखकर शिक्षा देना स्वीकार करें। आशा है भारत सरकारके नूतन वाणिज्य दूत श्रीयुत दलाल महोदय इसी मार्गका अवलम्बन करेंगे।

* *

भारत सरकारका आय-व्यय।

हमने पौषके अंकमें जिस बातकी आशंका प्रकट की थी वह क़रीब क़रीब सत्य निकली। इस बार फिर भारत-सरकारके आय-व्ययके सन्तुलनकी आशा विफल हुई। गत वर्ष जो नौ करोड़की घटी यों ही छोड़ दी गयी थी, वह तो इस वर्षकी समाप्तिके बाद ज्योंकी त्यों बनी ही रहेगी, साथ ही, जैसा कि इस वर्षके संशोधित अंकोंसे प्रकट है, कोई ८½ करोड़की घटी और भी होगी। इस प्रकार संवत १९७९ के हिसाबमें कुल १७½ करोड़की घटी होगी। गत चार वर्षोंकी घटीके अंक भी इसमें शामिल कर देनेपर इसकी संयुक्त मात्रा १०७½ करोड़पर पहुंचती है! भारत सरकारकी आर्थिक नीतिके सञ्चालकोंकी निपुणताका इससे बढ़कर और क्या सुबूत हो सकता है?

संवत १९७९ के लेखेमें आयका अनुमान १३३·२३ करोड़ और व्ययका १४२·३९ करोड़ किया गया था। इस प्रकार जो ९·१६ करोड़की घटी रह जाती थी वह यों ही छोड़ दी गयी थी अर्थात उसकी पूर्त्तिके निमित्त अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। अब नूतन अर्थसचिवके कथनसे प्रकट होता है कि वास्तवमें इस वर्षकी आय अनुमानकी अपेक्षा १२·४८ करोड़ कम ही होगी। किन्तु साथ ही ४·१४ करोड़की बचत होनेकी भी संभावना है।

आयकी जिन मदोंमें घटी हुई है उनमें विदेशी चुंगी (कस्टम्स), रेलोंकी आमदनी, आयकर, एवं डाक तथा तार-विभागकी आमदनी ही प्रधान हैं। इनमेंसे रेलों तथा डाक और तार-विभागकी आमदनीमें जो कमी हुई है उसका प्रधान कारण रेलोंके किराये तथा कार्ड इत्यादिके मूल्यका चरम सीमा तक बढ़ाया जाना ही है। यद्यपि अर्थसचिवने

यह आशा प्रकट की है कि शीघ्र ही इनकी दशा सुधर जानेकी संभावना है—और किसी अंशमें यह सत्य भी है—तो भी जिस अनुपातमें महसूल बढ़ाया गया है उसी अनुपातमें आमदनी बढ़ जाय और निकट भविष्यमें उनसे वैसा ही लाभ होने लगे जैसा इधर कई वर्षोंसे हो रहा था, ऐसी आशा करना उचित नहीं प्रतीत होता। हां, यदि लोगोंकी आमदनीमें भी विशेष वृद्धि हो जाय तो बात ही दूसरी है।

अब संवत् १९८० का आय-व्यय लीजिये। अगले वर्षकी आयका अनुमान किया गया है १९८'५२ करोड़ और व्ययका २०४'३७ करोड़ अर्थात् ५'८५ करोड़की कमी रह जाती है। इस कमीकी पूर्त्तिके लिये नोटोंके रक्षित भण्डार तथा सुवर्ण भण्डार वाले कम्पनी कागजोंपर जो सूद (१'५९ करोड़) मिलता है उसकी गणना इस वर्ष भी आमदनीके रूपमें करने तथा शेष ४'२६ करोड़के लिये नमकका दर बढ़ानेका प्रस्ताव अर्थसचिवने किया है। आपने कहा कि "हमने खर्चकी मदोंमें खूब काट-छांट की है, किन्तु फिर भी आय-व्ययका सन्तुलन न हो सका अतः नूतन कर-वृद्धि करना अनिवार्य है।" इसकी आशंका तो हमें गत मासमें ही हो गयी थी और इसी दृष्टिसे लवणकरकी वृद्धिके सम्बन्धमें हमने अपने विचार भी माघके अंकमें ही प्रकट किये थे। इस समय हम पुनः यही कहना चाहते हैं कि नमकका महसूल दुगुना अर्थात् अढाई रुपया फी मन कर देनेसे उसका प्रभाव ग़रीबसे ग़रीब मनुष्यपर भी पड़ेगा। उसके कारण असन्तोष तो उत्पन्न होगा ही, साथही नमककी खपत भी बहुत कम हो जायगी। अतः इस निन्द्य प्रस्तावका परित्याग कर देना ही वाञ्छनीय है।

यदि यह कहा जाय कि घटी पूरी करनेके निमित्त अन्य कोई उपाय ही नहीं है तो हम इसे माननेको तैयार नहीं हैं। हमारी रायमें तो इस बार भी यदि घटी यों ही छोड़ दी जाय तो विशेष हानिकी संभावना नहीं है क्योंकि एक तो घटी उतनी बड़ी नहीं है जितनी गत वर्ष थी, दूसरे यदि व्ययसंकोच-समितिकी सिफारिशोंके अनुसार कार्य किया गया तो संभव है आगामी वर्षके अन्ततक परिस्थिति बहुत कुछ सन्तोषजनक हो जायगी, किन्तु यदि विदेशोंमें भारतकी साख बनाये रखनेके तथा अन्य बातोंके ख़यालसे घटीका यों ही छोड़ा जाना उचित न भी समझा जाय, तो भी लवण-करकी वृद्धिका ही सहारा लेना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। हमें यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि व्यय-संकोच-समितिकी रिपोर्ट विलम्बसे प्रकाशित होनेके कारण अर्थ-सचिव उससे पूरा पूरा लाभ न उठा सके। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि उक्त समितिकी सभी सिफारिशें ऐसी नहीं हैं जो अगले वर्ष कार्यमें परिणत की जा सकें। फिर भी हम यह नहीं मान सकते कि व्यय घटानेकी अब कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी है। हमारी दृष्टिसे तो केवल सैनिक मदमें ही अभी बहुत कुछ किफायत की जा सकती है। सर बेसिल ब्लैकेटके कथनानुसार आगामी वर्ष सेनाके लिये ६२ करोड़की आवश्यकता होगी अर्थात् इस वर्ष (संवत् १९७९) की अपेक्षा आगामी वर्षमें सेनाके लिये कोई पौने छः करोड़ रुपये कम व्यय होंगे। सैनिक व्यय इससे ज्यादा

घटाया ही नहीं जा सकता, ऐसा विश्वास नहीं होता। स्वयं अर्थसचिवने यह स्वीकार किया है कि 'यदि वज़ीरिस्तानकी विशेष आवश्यकताओंके निमित्त ४$\frac{3}{8}$ करोड़ रुपयोंकी ज़रूरत न होती तो सेनाका व्यय आगामी वर्ष ५७$\frac{3}{8}$ करोड़ ही होता' हम पूछते हैं कि भारतसरकार क्यों इस वज़ीरिस्तानके पीछे हाथ धोकर पड़ी है और लगातार इतना धन-संहार होने पर भी अपनी नीतिका प्रत्याहार नहीं करती ?

इसी प्रकार मुल्की खर्चमें भी अभी पर्याप्त कमी की जा सकती है। यदि कर वृद्धिका ही आश्रय लेना आवश्यक हो तो किसी सीमातक आयातकरकी वृद्धि करना ही अधिक उपयुक्त होगा। चाहे जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि नमकके समान परमोपयोगी वस्तुपर अधिक महसूल लगानेका प्रयत्न सर्वथा अप्रीतिकर और अनुचित है।

* *

जाँच-समितियोंकी बाढ़।

लार्ड इञ्चकेपकी अध्यक्षतामें जिस व्यय-संकोच-समितिकी स्थापना की गयी थी उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो गयी है। रिपोर्टमें द्रव्यके अपव्ययके कई कारणोंमेंसे एक कारण गत कई वर्षोंमें अनेक जांच-समितियोंका स्थापित किया जाना भी बताया गया है। इस समितिके सदस्योंका कथन है कि 'कई बार जांच-समितियोंकी आयोजना करना वाञ्छनीय होता है, किन्तु इधर जो समितियां स्थापित हुई हैं उनकी सूची एवं विवरण इत्यादि देखकर हमें यह कहना ही पड़ता है कि इनमेंसे सभीकी नियुक्ति आवश्यक नहीं समझी जा सकती। साथ ही, इनके कारण जितना रुपया खर्च हुआ है, जांचकी आवश्यक सामग्री इत्यादि जुटानेमें तथा रिपोर्ट प्रकाशित होनेपर उसका विचार करनेमें जो परिश्रम और जो समय लगा है, उसके अनुरूप कार्य-सिद्धि भी हुई है, ऐसा सभी समितियोंके संबन्धमें नहीं कहा जा सकता।" इञ्चकेप समितिके कथनकी सत्यताका अन्दाज़ा इसीसे लगाया जा सकता है कि संवत् १९७१ से अभीतक भिन्न भिन्न प्रश्नोंका निर्णय करनेके निमित्त कोई पैंसठ समितियों तथा कमीशनोंकी नियुक्ति की जा चुकी है। इनके कारण सरकारको अड़सठ लाख रुपये व्यय पड़ा है। जिन जिन प्रश्नोंका निर्णय करनेका काम इन समितियोंको सौंपा गया था, उनमेंसे अनेक प्रश्न ऐसे भी थे जिनके निमित्त किसी जांच-समिति या विचार-समितिकी आवश्यकता ही न थी। साथ ही कई समितियोंका कार्य भी बिलकुल तत्वहीन और निरुपयोगी हुआ है। अतः इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि इनके पीछे व्यर्थ ही रुपया बर्बाद हुआ।

जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंकी जांच करनेके लिये समिति बैठानेकी अनिवार्य आवश्यकता हो उनमें भी अन्धाधुन्ध रुपया खर्च न होना चाहिये। इस समय हमारे सामने हालकी दो समितियोंके उदाहरण मौजूद हैं। भारतके लिये उपयुक्त वाणिज्य-नीतिका निर्णय करनेके लिये जो आर्थिक कमीशन नियुक्त किया गया था उसमें कुल तीन लाख साढ़े छब्बीस हजार रुपये खर्च हुए उसी प्रकार गत मासमें व्यय-संकोच समितिके व्ययके जो अंक प्रकाशित हुए थे उनसे प्रकट होता है कि १६ पौष (३१ दिसम्बर) तक इसके निमित्त

एक लाख बीस हजार रुपये खर्च हो चुके थे। यदि इसके अध्यक्ष लार्ड इञ्चकेप महोदय तथा एक और सदस्य सर टामस कैटो अवैतनिक रूपसे कार्य न करते होते तो बहुत संभव था कि इसके खर्चकी तायदाद क़रीब क़रीब इससे दूनी होती।

इन्हीं सब बातोंका ख़याल कर हम व्यय-संकोच-समितिकी इस सम्मतिसे पूर्णतया सहमत हैं कि प्रचलित प्रश्नोंका निपटारा करनेके लिये इस लम्बे चौड़े और खर्चीले साधन-का प्रयोग केवल अनिवार्य अवसरोंपर ही किया जाय। आशा है भविष्यमें सरकार इस ओर विशेष ध्यान देगी, क्योंकि जांच-समितियोंकी बाढ़का दायित्व प्रधानतया उसीके ऊपर है—व्यवस्थापकोंकी प्रेरणासे तो केवल १८ समितियोंकी ही स्थापना हुई है, अस्तु।

* *

रूरकी परिस्थिति।

इधर कुछ दिनोंसे रूरके सम्बन्धकी जो खबरें पढ़नेका अवसर हमें प्राप्त हुआ है उनसे मालूम होता है कि वहांकी परिस्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक होती जा रही है। फ्रांस अब जर्मनीके रूर प्रान्तमें और भी आगे बढ़ गया है। वह उचित-अनुचित सभी साधनोंका प्रयोग कर—लोगोंको धमकाकर, सज़ा देकर तथा नाना प्रकारसे तंग कर—हरजानेकी रक़म वसूल करना चाहता है। किन्तु जर्मनी वाले बड़ी शान्ति और सहिष्णुताके साथ इन सब ज्यादतियोंका सामना कर रहे हैं। उनकी अपूर्व दृढ़ता एवं निष्क्रिय प्रतिरोधके ही कारण अभीतक यूरोपमें युद्धकी प्रत्यक्ष घोषणा नहीं हुई और न फ्रांस ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर सका है। जबसे उसने रूरपर कब्ज़ा किया है तबसे अभी तक वह कुल ७४ हजार टन (टन=२७। मन) कोयला ही प्राप्त कर सका है। लकड़ी तो उसे नामको भी नहीं मिली। वास्तवमें इस अवधिके भीतर उसे बीस लाख टन कोयला तथा ७४ हजार वर्गफुट लकड़ी मिलनी चाहिये थी। हरजाना वसूल करना तो दूर रहा, उसे वहां लेनेके देने पड़ रहे हैं।

इधर कई हत्याओं तथा अनेक जर्मन अफसरों इत्यादिके निर्वासित किये जानेके भी समाचार आये हैं। किन्तु इनसे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि अब रूर प्रान्तके आयात-निर्यात व्यापारका कर फ्रांस स्वयं वसूल करना चाहता है। रूरसे जो माल इंग्लैण्ड हालैण्ड इत्यादि देशोंको भेजा जाता है उसपर लगाये गये करकी आमदनी वास्तवमें जर्म-नीकी सरकारको ही मिलनी चाहिये। उसी प्रकार इंग्लैण्ड इत्यादि देशोंसे जो माल रूर-के व्यापारी मँगाते हैं उसपर जो आयात-कर लगता है वह भी न्यायतः जर्मनीको ही प्राप्त होना चाहिये। किन्तु फ्रांस और बेलजियम, जो उसका समर्थक तथा सहायक है, इन दोनों करोंकी आमदनी स्वयं ही हड़प लेना चाहते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या अन्य राष्ट्रवाले फ्रांस तथा बेलजियमको कर देकर उनकी इस अन्यायपूर्ण कार्रवाईका समर्थन करेंगे? यदि वे ऐसा नहीं करते तो फ्रांस असन्तुष्ट होगा; साथ ही जो माल वे रूर प्रान्तसे लेते थे वही अब उन्हें अन्य देशोंसे, संभवतः कुछ अधिक मूल्यमें, मँगाना पड़ेगा। एक ओर अन्यायका साथ देना है और दूसरी ओर फ्रांसके समान प्रबल राष्ट्रकी शत्रुता मोल लेना एवं आर्थिक कठिनाइयोंका सामना करना है। इस प्रकार इंग्लैण्ड इत्यादि राष्ट्रोंसे

सम्बद्ध होनेके कारण अब इस प्रश्नने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लिया है। यदि राष्ट्रसंघ चाहे तो परिस्थिति बहुत कुछ सुधर सकती है, किन्तु 'टेढ़ जान शंका सब काहू' के अनुसार, संभव है, वह भी फ्रांससे कुछ छेड़-छाड़ न करे। साथ ही, फ्रांसको बाध्य करनेकी भी शक्ति उसमें है या नहीं, इसमें सन्देह ही है।

इधर रूरके निवासियोंकी दशा विशेष चिन्ताजनक होती जा रही है। उनके खाने-पीनेका खर्च दो सौ गुना बढ़ गया है। आधे सेर मांसका मूल्य ४॥ हजार मार्क (युद्धके पूर्वकी दरसे कोई तीन हजार रुपये) हो गया है। एक जोड़ी जूते ७० हजारसे एक लाख मार्क तकमें मिलते हैं। संभव है इन्हीं कठिनाइयोंसे प्रेरित होकर इस समय जर्मनीको भारतवासियोंसे भी आर्थिक सहायताका अनुरोध करना पड़ा है जैसा कि ३ चैत्रके 'आज'में प्रकाशित श्री सी. पाल होप्टनके पत्रसे प्रकट है।

* *

भारत सरकारकी वाणिज्य-नीति।

आर्थिक कमीशनके अधिक-संख्यक दलने जिस 'विवेकपूर्ण' संरक्षणके पक्षमें अपनी राय दी थी उसे स्वीकृत करानेके उद्देश्यसे श्रीजमनादास द्वारकादासने अभी उस दिन बड़ी व्यवस्थापक सभामें एक प्रस्ताव उपस्थित किया था। सरकारकी ओरसे व्यापारसदस्य श्रीइन्स महोदयने उसमें जो संशोधन किया और जिसे बड़ी व्यवस्थापक सभाने मंजूर भी कर लिया, उसके कारण मूल प्रस्तावका महत्त्व ही जाता रहा। यदि वाणिज्यकर-समितिका काम सरकारको केवल सलाह देना ही हो, जैसा कि संशोधित प्रस्तावमें कहा गया है, और यदि उससे सरकारका मतभेद होनेपर बड़ी व्यवस्थापक सभाकी सम्मति लेना भी आवश्यक न समझा जाय तो फिर वाणिज्यकर-समितिकी स्थापनासे लाभ ही क्या हो सकता है? सरकार जब चाहेगी तब ही उसके मतकी उपेक्षा कर सकेगी। संशोधित प्रस्तावमें यह भी कहा गया है कि 'संरक्षण नीतिका अनुसरण करते समय देशकी आर्थिक आवश्यकताओंका तथा आमदनीके लिये आयात-निर्यात-कर एवं देशी मालके करपर भारत सरकारकी निर्भरताका खयाल अवश्य किया जाय।' इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि यदि सरकार चाहे तो भारतके निर्धन किसानोंकी आर्थिक अवस्थाके बहाने अथवा विदेशी वस्तुओंका आना कम होनेपर रुपयेकी आवश्यकता बतलाकर संरक्षण नीतिका प्रत्याहार कर सकती है। ऐसी अवस्थामें बड़ी व्यवस्थापक सभाने उक्त संशोधन क्यों मान लिया, यह हमारी समझमें नहीं आता।

ज्ञातव्य विषय तथा अंक

भिन्न भिन्न देशवालोंकी औसत आमदनी

देश	प्रति मनुष्यकी औसत वार्षिक आमदनी रुपयोंमें	देश	प्रति मनुष्यकी औसत वार्षिक आमदनी रुपयोंमें
ब्रिटिश संयुक्त राज्य	७५०	आस्ट्रेलिया	८१०
संयुक्त राज्य अमेरिका	१०८०	केनाडा	६००
जर्मनी	४५०	जापान	९०
फ्रांस	५७०	भारतवर्ष (लगभग)	५०
इटली	३४५		

——:०:——

भारत सरकारका आय-व्यय

संवत् १९७९			संवत १९८०		
आयका अनुमान	१३३·२३	करोड़	आयका अनुमान	१९८·५२	करोड़
व्ययका अनुमान	१४२·३९	,,	व्ययका अनुमान	२०४·३७	,,
आ में कमी हुई	१२·४८	,,	घटीका अनुमान	५·८५	,,
व्यय कम हुआ	४·१४	,,	पूर्त्ति सुवर्णनिधिके व्याज द्वारा	१·५९	क.
∴ वास्तविक घटी ९·१६+८·३४=१७·५०			,, लवणकरकी वृद्धि द्वारा	४·२०	क.
			बचतका अनुमान	२४	लाख

संवत् १९७९ की घटीका विवरण

१. विदेशी चुंगीसे आय कम हुई	—३·१२	करोड़
२. आयकरसे आमदनी कम हुई	—३·४२	,,
३. अफीम तथा नमकसे आय ज्यादा	+ ·९६	,,
४. रेलोंसे विशुद्ध आय कम हुई	—५·८६	,,
५. डाक तथा तार विभागसे आय कम हुई	— ·९४	,,
६. सूद और सिक्कोंसे आय ज्यादा	+ ·५१	,,
७. ऋणपर सूद देनेसे बच गया	+ १.८६	,,
८. सैनिक व्ययमें बचत	+ ·४६	,,
९. मुल्की खर्चमें बचत	+ १·२१	,,
अन्तमें घटी	—८·३४	,,
पूर्व-निश्चित घटी	—९·१६	,,
समूची घटीका अनुमान	—१७·५०	,,

ओ३म् बन्देमातरम्

स्वार्थ

वर्ष ३ खण्ड २ | चैत्र १९७९ | अङ्क ६ पूर्णाङ्क ३६

यूरोपका चाणक्य

भारतीय राजनीतिके इतिहासमें 'चाणक्य''का नाम जिस प्रकार ''कूट-नीतिज्ञता''का पर्य्यायवाची है उसी प्रकार यूरोपमें ''मेकिम्रावेली'' शब्द ''कूटनीतिज्ञता''का द्योतक है और प्रचलित राजनीतिक भाषामें यूरोपीय कूटनीतिज्ञ ''मेकिम्रावेलियन'' कहे जाते हैं। मुद्राराक्षसके पढ़नेवाले जानते हैं कि अपने शिष्य चंद्रगुप्तको राजा बनाने और उसके राज्यकी रक्षा करनेमें चाणक्यने किस प्रकारकी कूट चालोंसे काम लिया है और धार्म्मिक तथा नैतिक दृष्टिसे कैसे घृणित कार्य्य किये हैं। मेकिम्रावेलीको अपनी बतायी हुई नीतिको स्वयं व्यवहारमें लानेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ। उसने जो राजनीतिक चालें बतलायी हैं या जो सिद्धांत कायम किये हैं वे दूसरोंके किये गये कार्य्योंके अध्ययन और अनुभवसे प्राप्त हुए हैं तथा वे दूसरों ही द्वारा कार्य्यान्वित होनेके लिये हैं। इस प्रकार मेकिम्रावेलीकी प्रतिभा चाणक्यसे कम हो जाती है क्योंकि वह राजाको राज्य चलानेका परामार्शदाता है किन्तु चाणक्य राजा और राज्य दोनोंका निर्माता एवं रक्षक है। पर राजनीतिक सिद्धांतोंमें दोनों एक हैं। दोनोंने ही धर्म्म और कर्त्तव्यको राजनीतिका साधक और समर्थक माना है, याने धर्म्म और कर्त्तव्यके लिये राजनीतिका त्याग नहीं किया जा सकता पर राजनीतिके लिये आवश्यक होने पर धर्म्म और कर्त्तव्य दोनोंका ही त्याग किया जा सकता है और यदि हो सके तो उनकी ओटमें राजनीतिक कार्य्यका साधन भी किया जा सकता है। चाणक्य और मेकिम्रावेलीको उनके राजनीतिक सिद्धांतोंके कारण लोग धार्म्मिक और नैतिक भावसे रहित समझते हैं। पर इस प्रकार सोचनेमें वे भूल

करते हैं। चाणक्यका जीवन ऋषिवत् था। उसने जो कुछ किया उसमें उसका स्वार्थ लेशमात्र भी नहीं था और मेकिआवेलीने अपने अंतिम दिन जिस दु:खमें बिताये वही उसकी ईमानदारीका प्रमाण है। चाणक्य और मेकिआवेलीने इसपर विचार नहीं किया कि संसारके मनुष्योंको क्या होना चाहिये और क्या करना चाहिये बल्कि एक व्यावहारिक मनुष्यकी तरह जो भविष्यके भरोसे बड़े बड़े मनसूबे नहीं बांधता और वर्तमान स्थितिमें ही सर्व्वश्रेष्ठ फल प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, उन्होंने इसीपर विचार किया कि मनुष्य क्या है और क्या करता है। चाणक्य हिन्दुस्थानमें उत्पन्न हुआ था। उसके बाद किसी और चाणक्यने यहां जन्म ग्रहण नहीं किया तथा हिन्दुस्थानने उसकी नीतिको नहीं अपनाया। यह हिन्दुस्थानके लिये सौभाग्यकी बात हुई या दुर्भाग्यकी, इसपर मैं यहां विचार नहीं करना चाहता। पर मेकिआवेलीको यूरोपने खूब अपनाया और यूरोपके राजनीतिज्ञ यदि "मेकिआवेलियन" नहीं हैं तो कुछ नहीं हैं, यद्यपि मेकिआवेलीकी बतलायी हुई नीतिका अनुसरण कर वे उसे भली भांति कोसा करते हैं, क्योंकि मेकिआवेलीने कहा था कि जो बात करनी हो उसकी निन्दा किया करो, उदाहरणार्थ असत्यसे कार्य्य सधता हो तो शासकको चाहिये कि असत्य बोलनेमें जरा भी न हिचके पर प्रत्यक्षरूपमें असत्यको कोसता रहे और सत्यका ढोंग रच रखे। इस प्रकार मेकिआवेलीकी मृत्युके साथ साथ उसके राजनीतिक विचारों और सिद्धान्तोंकी मृत्यु नहीं हुई है, वे जीते जागते हैं और जब तक यूरोपके राष्ट्रोंका अस्तित्व नैतिक शक्तिपर न रहकर भौतिक शक्तिपर अवलम्बित रहेगा तब तक यूरोपके लिये मेकिआवेलीको राजनीतिक गुरु माननेके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। इसी लिये मेकिआवेलीके सम्बन्धकी चर्चा केवल राजनीतिक विज्ञानकी ही बात नहीं है, व्यावहारिक राजनीतिके साथ भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जीवन

निकोलो मेकिआवेलीके पिताका नाम बरनार्डो डी निकोलो मेकिआवेली और माताका नाम बारटोलोमे डी स्टेफनोनेली था। ये दोनों इटलीके फ्लोरेंस नगरमें रहते थे। मेकिआवेलीके पिता व्यवसायसे वकील थे। मेकिआवेली अपने पिताका द्वितीय पुत्र था और उसका जन्म फ्लोरेंस नगरमें २० वैशाख संवत् १५२६ (३ मई सन् १४६९) को हुआ। यद्यपि उसे अवस्थानुकूल शिक्षा मिली थी पर हम उसे बहुत विद्वान् नहीं कह सकते। पुस्तकोंकी अपेक्षा उसने मनुष्य-जीवन और उनके कार्य्योंका ही अध्ययन विशेष रूपसे किया था। मेकिआवेलीका समय यूरोपमें "रिनेसांस" (साहित्यिक और वैज्ञानिक पुनरुत्थान) का है और इसका प्रभाव मेकिआवेलीपर खूब ही पड़ा और उसने यूनान और प्राचीन रोमके इतिहासका अध्ययन किया। मेकिआवेलीकी प्रतिभा लोगोंपर प्रकट हो चुकी थी, इसलिये विक्रम संवत् १५५१ (१४९४ ईसवी) में जब लारेंजो डी मेडीसीका पतन हुआ और फ्लोरेंसमें प्रजातंत्र स्थापित हुआ तो मेकिआवेली प्रजातंत्र सरकारमें अफसर बनाया गया और थोड़े ही दिनोंमें "चैंसलर" और द्वितीय "चॅसरी"का सेक्रेटरी बनाया

गया। इसी बीचमें मेकिम्रावेली प्रजातंत्रकी ओर से राजदूत बनाकर यूरोपके कई देशोंमें भेजा गया जिससे उस समयके यूरोप और उसके शासकोंकी रीतिनीतिका अध्ययन करनेका उसे अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। कुशाग्रबुद्धि मेकिम्रावेलीने इसका यथोचित उपयोग किया। पर मेकिम्रावेलीके सुदिनकी अवधि बहुत दिनों तक नहीं रह सकी। संवत् १५६६ (सन् १५१२) में प्रजातंत्रका नाश हो गया और मेडिसी पुनः राजा हुआ। मेकिम्रावेलीने आशा की थी कि इस नयी सरकारसे भी मुझे कोई पद अवश्य मिलेगा, पर उसके द्वारा राजनीति विज्ञानकी कुछ सेवा होने वाली थी इस लिये प्रारब्धने उसे उसकी इस आशासे वंचित रखा। उसपर "मेडिसी" के विरुद्ध षड्यंत्र रचनेका अपराध लगाया गया और उसे कारागार दण्ड मिला तथा षड्यंत्रकी मंत्रणा जाननेके लिये "मेडिसी" ने उसे बड़े बड़े कष्ट दिये। परंतु पोप लिम्रो दशवेंने उसे छुड़ा दिया और उस समय मेकिम्रावेली सार्वजनिक जीवनसे अलग हो फ्लोरेंसके समीपवर्त्ती ग्राम "सैनकैशियनों" में जहां उसकी थोड़ीसी पैतृक भूमि थी जाकर रहने लगा। इस प्रकार मेकिम्रावेलीको अपने दुर्दिनमें ही संसारकी सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेकिम्रावेली अपने कृषक-जीवनको जिस प्रकार व्यतीत करता था वह संसारके विद्वानोंके लिये आदर्श कहा जा सकता है। हम उसका थोड़ा सा वर्णन उसके ही शब्दोंमें नीचे देते हैं—

"सन्ध्या होने पर मैं घर लौटता हूं, और पठनागारमें जा बैठता हूं, धूल और गर्दसे भरे हुए कृषकके वस्त्रको उतारकर मैं कमरेके दरवाजेपर रख देता हूं, और अपने पुराने राज-सभाके वस्त्रको पहन लेता हूं। इस प्रकार सज धजकर मैं प्राचीन मनुष्योंकी प्राचीन राजसभामें प्रवेश करता हूं। वे प्रेमपूर्वक मेरा स्वागत करते हैं, और मुझे वह भोजन (प्राचीन ग्रंथकारोंके अध्ययनजनित) मिलता है जो केवल मेरा ही है, यहां उनसे बातें करनेमें मुझे कुछ भी हिचकिचाहट नहीं जान पड़ती। मैं उनके कार्य्योंका कारण पूछता हूं और वे कृपापूर्वक इसका उत्तर देते हैं। इस प्रकार चार घंटे तक मुझे कोई थकावट नहीं जान पड़ती। मैं सब दुःखोंको भूल जाता हूं, दीनता मुझे डरा नहीं सकती, मृत्यु मुझे शंकित नहीं करती, क्योंकि मेरे ऊपर उन महापुरुषोंका प्रभाव बना रहता है। जैसा डैंटे (प्रसिद्ध इटालियन कवि) ने कहा है, "अध्ययन की हुई बातोंको स्मरण रखनेसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, अन्यथा अध्ययन व्यर्थ जाता है", उन प्राचीन मनुष्योंके साथ वार्तालाप करनेसे जो कुछ मैंने पाया है उसे मैंने नोट कर लिया है। उनके आधारपर ही मैंने एक छोटी सी पुस्तक भी लिख डाली है......"।

इस प्रकार "सादी रहन-सहन और ऊँचे मनन" के उदाहरण स्वरूप मेकिम्रावेलीने संवत् १५७५ तकका समय प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्स' और अन्य छोटी पुस्तकें लिखनेमें लगाया। इसके बाद फ्लोरेंसके किसी सौदागरकी ओरसे कमिश्नर होकर उसके कार्य्योंको देखनेके लिये वह जिनोआ गया। संवत् १५७६ में "मेडिसी"ने नागरिकोंको कुछ राजनीतिक रियायतें देनेकी बात कही और अन्य लोगोंके साथ मेकिम्रावेलीसे भी एक नयी "विधि"

बनानेके विषयमें सम्मति मांगी गयी। पर एक न एक बहाना कर "मेडिसी" सदा इसे टालता गया। संवत् १५७७ (१५२० ईसवी) में मेकिआवेलीने पुनः फ्लोरेंसकी साहित्य-मण्डलीमें प्रवेश किया और इसी वर्ष उसने "आर्ट आफ वार" (युद्ध-कौशल) नामक पुस्तक लिखी। कारडिनल डी मेडिसीने उससे "फ्लोरेंस" का इतिहास लिखनेको भी कहा। संवत् १५८२ तक मेकिआवेली इसीमें लगा रहा। पुस्तक तैयार होने पर मेकिआवेली इसे लेकर रोम अपने अभिभावक गुलियनो डि मेडिसीको जो इस समय पोप क्लिमेंट सातवां हो गया था, देनेके लिये गया। इसी बीच फ्रेंसिस पहला (फ्रांस) अपने शत्रु चार्ल्स पांचवेंके हाथ इटलीमें हार गया और कैद कर लिया गया। इसके बाद उसने रोमपर चढ़ाई की। इसी गड़बड़ीमें फ्लोरेंसने मेडिसीको राजपदसे च्युत कर दिया और वहां पुनः प्रजातंत्र स्थापित हो गया। यह खबर सुनकर मेकिआवेलीको पुनः अपना सौभाग्य पलटा जान पड़ा, पर फ्लोरेंस पहुंचने पर वह बीमार हो गया और ८ आषाढ़ संवत् १५८४ (२२ जून सन् १५२०) को उसकी मृत्यु हो गयी।

सामयिक प्रभाव।

मनुष्यके विचारपर देश और कालका बहुत प्रभाव पड़ता है और राजनीतिका सम्बन्ध भी अन्य बातोंकी अपेक्षा देश और कालसे ही अधिक है, इस लिये राजनीतिज्ञों-पर भी उनका प्रभाव विशेषरूपसे पड़ता है। हम अरस्तूके विचारोंमें तत्कालीन यूनानका प्रभाव पाते हैं। अन्य राजनीतिज्ञ भी इससे खाली नहीं हैं, पर यहां इसकी विशद व्याख्या करना प्रसंगानुकूल नहीं है। मेकिआवेलीपर सामयिक प्रभाव इतना अधिक पड़ा है कि हम उसे पूर्ण रूपसे 'चाइल्ड आफ दि टाइम' (समयका शिशु) कह सकते हैं। यूरोपके राजनीति-क्षेत्रमें नियमित राजसत्ता और पोपसत्ताका आंदोलन विफल हो चुका था और धनीवर्गके शासनका भी लोप हो गया था। यूरोपके प्रत्येक देशमें प्रबल राजागण अपना पूर्ण स्वत्व स्थापित कर रहे थे और एक व्यापक ईसाई राष्ट्र स्थापित करनेका विचार छोड़ कर यूरोपके देश अपने स्वतंत्र राष्ट्र-संगठनमें लग गये थे। इंगलैण्डमें हेनरी सातवें, फ्रांसमें लुइ ग्यारहवें, चार्ल्स आठवें और लुइ बारहवें, और स्पेनमें फर्डिनांडके प्रयत्नसे पूरी राजसत्ता स्थापित हो चुकी थी और उनके अधीन उनके देशकी उन्नति हो रही थी। पर इटलीकी अवस्था शोचनीय थी, वह अनेक छोटे छोटे राज्योंमें विभक्त था जो एक सूत्रमें बांधे नहीं जा सकते थे और इस प्रकार अपने शत्रु फ्रांस, स्पेन आदिसे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ थे। संवत् १५७६ में चार्ल्स आठवेंने इटलीपर चढ़ाई की और उसी समयसे इटली यूरोपका युद्ध-क्षेत्र बन गया था। छोटे छोटे इटालियन राज्य युद्ध द्वारा अपनी रक्षामें असमर्थ थे इस लिये कूटनीतिज्ञता और राजनीतिक धूर्तता उनमें बहुत बढ़ गयी थी। मेकिआवेलीने इन सब बातोंका अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त उसे राजदूतकी हैसियतसे उस समयके प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजाओंके पास रहना पड़ा जिससे उसने देखा कि किस प्रकारकी कूटनीतिज्ञता और नीतिशून्य व्यवहारोंसे ये राजा अपना

पद और राज्य सुरक्षित किये हुये हैं। इन अनुभवों और अपने राजनीतिक विचारोंके मेलसे मेकिआवेलीने अपने सिद्धांत निर्धारित किये। उसे मालूम हुआ कि यह युग सबल मनुष्यका है और यदि इटलीमें भी कोई सबल मनुष्य होता तो वह अपनी शक्तिसे सारे इटलीको एक कर देता। इस प्रकार देश-कल्याणका प्रधान धर्म्म मेकिआवेलीके सामने था जिसके सामने उसने अन्य धर्म्मोंको हेय समझनेका उपदेश दिया। ठीक ऐसी ही अवस्था चंद्रगुप्तके समयके पूर्व्वके हिंदुस्थानकी थी और चंद्रगुप्तमें शक्तिका आभास देख चाणक्यने उसे आगे किया और एकमात्र राष्ट्र-धर्म्मको ही प्रधान मान प्रत्येक प्रकारकी कूटनीतिज्ञतासे भारतवर्षकी रक्षा की। इस प्रकार मेकिआवेलीके सामने एक ही लक्ष्य था और वह था देशका कल्याण। उस समयके देशका कल्याण यही था कि कोई एक ऐसा प्रबल शासक हो जो देशके छोटे छोटे झगड़ालू शासकोंको अधीन कर इटलीमें एक राष्ट्रीय सरकार कायम कर दे, और ऐसा करनेमें उस शासकको ऐसी परिस्थितिमें क्या करना चाहिये इसी बातको मेकिआवेलीने बतलाया है।

राजनीतिक सिद्धांत

राजनीति विषयक बातोंपर विचार करनेमें मेकिआवेलीने तत्कालीन राजनीति-विशारदों तथा अपने पूर्व्वके ग्रंथकारोंका भी अनुसरण नहीं किया। जिस प्रकार उसी समयमें कोलंबसने नयी दुनियाका पता लगा प्राचीन भौगोलिक पद्धतिको बदल दिया, उसी प्रकार मेकिआवेलीने एक नयी बात पैदा कर राजनीतिक विचार-पद्धतिको बदल दिया। मेकिआवेलीका राजनीतिशास्त्र राज्यका विज्ञान-सिद्धांत नहीं है बल्कि राज-रक्षाका शास्त्र है। इसके अतिरिक्त उसने इसपर प्रजा या शासित व्यक्तियोंकी दृष्टिसे विचार नहीं किया है बल्कि राजा या शासककी दृष्टिसे। राजनीतिक विचारोंमें उसने ऐतिहासिक पद्धतिका अनुसरण किया है, पर इतिहास पढ़कर उसने परिणाम नहीं निकाले हैं। जैसा कि हम बतला चुके हैं, सामयिक घटनाओं और मनुष्य-चरित्रके अध्ययनमें वह बड़ा ही पटु था। इन्हीं अध्ययनोंसे उसने अपने राजनीतिक सिद्धांत निश्चित किये हैं और ऐतिहासिक दृष्टान्तोंको इनकी ही पुष्टिके लिये खोज निकाला है।

अरस्तूने धर्म्म और कर्त्तव्यसे राजनीतिको अलग करनेका कुछ प्रयत्न किया था पर उसके बादके लेखकोंने राजनीति और धर्म्मको मिला दिया जिसके आधारपर पोप राजसत्ता और राजा धार्म्मिक स्वत्व चाहने लगे। इस बुराईको पहले पहल पूर्ण रूपसे मेकिआवेलीने ही दूर किया। उसने धर्म्मशास्त्र और कर्त्तव्य शास्त्रको राजनीति शास्त्रसे पूर्ण रूपसे अलग कर दिया।

शासनतंत्रको विभक्त करनेमें मेकिआवेलीने अरस्तूका अनुकरणकर इसे तीन भागों याने राजतंत्र, धनतंत्र और प्रजातंत्रमें विभाजित किया है, पर उसके विचारसे मिश्रित शासन-पद्धति अच्छी है। अरस्तूका आदर्श नगर-राज्य है और उसके बड़ेसे बड़े राज्यमें दस हजारसे अधिक मनुष्य नहीं रहने चाहिये, पर मेकिआवेलीके विचारा-

नुसार राज्यका कर्त्तव्य है संगठन और विस्तार, इसलिये मेकिआवेली चाहता है कि राज सुसंगठित हो और जहांतक हो सके अपना आधिपत्य बढ़ावे। मेकिआवेलीने राजतंत्र-पर जोर दिया है पर प्रजातंत्रपर भी उसने उतना ही जोर दिया है। किन्तु असलमें जिस शासनमें आर्थिक समता प्राप्त हो सके वही शासन सर्व्वोत्तम है। राजतंत्रकी अपेक्षा प्रजातंत्र अधिक बुद्धिमानी और योग्यतासे कार्य्य कर सकता है। मेकिआवेली धनतंत्र अर्थात् अल्प संख्यक धनी व्यक्तियों द्वारा शासनका अत्यंत विरोधी है क्योंकि ये सदा आपसमें लड़ा करते हैं जिससे प्रजा शांति-सुख नहीं पाती। प्रजाकी उन्नतिके लिये अधिकसे अधिक शांतिकी आवश्यकता है, इस लिये प्रजा द्वारा चुना हुआ राजा ही सबसे अच्छा है।

धर्म्म और कर्त्तव्यका स्थान

मेकिआवेलीने धर्म्म और कर्त्तव्यको शासकका स्वामी नहीं बल्कि उसके हाथोंमें इन्हें सेवक माना है। उसने लिखा है कि राजाको नेक होना चाहिये पर अपनी नेकनी-यतीके कारण वह कार्य्यपटुताको नहीं छोड़ सकता। राजाको उत्तम कार्य्योंमें विश्वास रखना चाहिये पर राजनीतिक सत्ता स्थापित रखनेके लिये धोखा और कपट भी अपरि-हार्य है। राजाको इस प्रकार रहना चाहिये कि वह धर्म्म स्वरूप, सत्य स्वरूप, मानव-सद्गुणोंसे भरा हुआ, और पवित्रता-पूर्ण जान पड़े। पर जब राज्य-रक्षाकी बात आवे तो वह इन सारी बातोंको भूलकर भी राज्यकी रक्षा करे और जब उसे सफलता प्राप्त होगी तो प्रत्येक निंदनीय उपाय प्रशंसनीय हो जायगा और सारी जनता उसकी प्रशंसा करेगी। अपने "रिपब्लिक" में उसने लिखा है कि जब राज्यपर संकट हो तो प्रजातंत्र शासक और राजा दोनोंको चाहिये कि, आवश्यक होनेपर अपनी पूर्व्व प्रतिज्ञाओंको तोड़ दें और अकृतज्ञता दिखलानेमें दिल न चुरावें। चतुर राजनीतिज्ञ वह है जिसका विश्वास सद्गुण और धर्म्ममें लेशमात्र न होते हुए भी प्रजावर्गको वह धार्म्मिक जान पड़े। आधुनिक युरोपीय राजनीतिज्ञ इसके उदाहरण स्वरूप हैं जो केवल इस अभिप्रायसे ईश्वरमें विश्वास करते हैं कि वे उसके नामसे प्रतिज्ञा कर सकें और सत्यमें उसकी दुहाई दे सकें।

दूसरी जगह उसने फिर लिखा है कि, "जब देशकी स्वतंत्रता संकटमें हो, उस समय इसका कुछ भी ध्यान नहीं होना चाहिये कि क्या न्याय्य है और क्या अन्याय्य, क्या दयापूर्ण काम है और क्या क्रूरतापूर्ण, क्या अभिमानयुक्त है और क्या लज्जायुक्त, संक्षेपमें जिससे राष्ट्रकी जीवन-रक्षा हो और स्वतंत्रता बनी रहे उसे छोड़ अन्य सब उपायोंका तिरस्कार किया जाना चाहिये।"

राजाका कर्त्तव्य

राजाका प्रधान कर्त्तव्य राज्यकी रक्षा करना है। इसके लिये उसे हर प्रकारके भले बुरे कर्म्म करनेके लिये तैयार रहना चाहिये। राज्यकी रक्षाके लिये सबल सेनाकी आवश्यकता होती है, अतः राजाको चाहिये कि रुपयेका ध्यान न कर सेना रखे क्योंकि

रुपयेसे अच्छी सेना नहीं मिल सकती पर अच्छी सेनाके बल रुपये मिल सकते हैं। राजाको चाहिये कि प्राचीन संस्थाओं और रस्मोंकी रक्षा और प्रतिष्ठा करे याने ऐसा भाव उनके प्रति रखे कि लोगोंको मालूम हो कि राजा हमारे धर्म्म, व्यवहार और प्राचीन प्रथाओंका संरक्षक है। सार्वजनिक जीवनमें राजाको चाहिये कि कड़ाईसे कार्य्य करे पर स्त्री जाति और प्रजाकी रक्षाके लिये यत्न करे तथा उनके धन लेने या उनकी स्त्रियोंपर कुदृष्टि डालनेका प्रयत्न न करे। राजा ऐसा कार्य्य करे जिससे लोग डरें पर उससे घृणा न करें, इस लिये प्रजाके प्रति निर्दय कार्य्य अपने अफसरोंसे करवावे और और उत्तम कार्य्य अपने हाथोंसे करे।

मेकिआवेलीने इस संबन्धका ऐतिहासिक उदाहरण यह दिया है कि सीजर बोरजिया या ड्यूक वलेनशियोने जब इटलीके नगर रोमान्या अपना अधिकार जमाया तो उसे शांति और सुव्यवस्था कायम करनेकी आवश्यकता जान पड़ी। उसने रैमेरेडिओ-करो नामक एक निर्दयी व्यक्तिके अधिकारमें पूर्ण स्वत्व दे दिया और इसने बड़े बड़े निर्दयतापूर्ण कार्य्य कर अपना बल अच्छी तरहसे जमा लिया और प्रजाने भयभीत होकर शांन्ति ग्रहण कर ली। जब ड्यूकने देखा कि यह अवस्था पहुंच गयी और हो सकता है कि यह हमारे ही विरुद्ध खड़ा हो जाय, तब उसने प्रजाको दंड देनेके अपराधपर डि ओकरोको एक दिन फांसी दिलवा दी। उसकी लाश शूलीपर लटकती छोड़ दी गयी। यह देखकर प्रजा राजाकी कड़ाईसे भयभीत हुई पर साथ ही साथ उसका हृदय ऐसे निर्दयीको दंड देनेके कारण राजाके प्रति कृतज्ञतासे भर गया।

राजा जब प्रजाको कोई स्वत्व या रेयायत देना चाहे तो उन्हें एक-ब-एक न दे दे क्योंकि इस प्रकार उनकी तृप्ति शीघ्र हो जायगी और पुनः वे अधिक मांगने लगेंगे या पूर्ण स्तत्व प्राप्त होनेपर उसकी उपेक्षा करने लगेंगे। इसलिये जो सुधार करना हो उसे अल्प मात्रामें समय समयपर करते रहना चाहिये।

उसने पुनः बतलाया है कि राजाको चाहिये कि जनताके नेताओंको अपना मित्र बना ले और यदि वे मित्र न बन सकें तो उन्हें कठोर दण्ड दे। दण्ड देनेकी नीति यह होनी चाहिये कि भरसक दण्ड न दिया जाय, पर यदि दण्ड दिया जाय तो वह इतना कड़ा हो कि दण्डित व्यक्तिमें बदला लेनेका काबू न रह जाय। इसके अतिरिक्त राजाको चाहिये कि जब किसी मनुष्यको क्षति पहुंचावे तो पुनः उसपर विश्वास न करे क्योंकि यद्यपि मनुष्य ऊपरसे भिन्न भाव प्रकट करता है पर वह की गयी बुराइयोंको कभी नहीं भूलता और सदा बदला लेनेकी ताकमें रहता है। इस सन्बन्धमें मेकिआवेलीने उसी नीतिकी शिक्षा दी है जो हिन्दी कवि गिरधरकी इन पंक्तियोंमें समाविष्ट है—

जाकी धन धरती लयी ताहि न लीजै संग।
जो संग राखे ही बने तो करि राखु अपंग॥

राजनीतिक मामलोंमें लोग किस विचारसे प्रभावित होते हैं, यह बतलाते हुए

मेकिम्रावेलीने कहा है कि मनुष्य स्वभावसे ही कृतघ्न, अस्थिरचित्त, कायर और लोभी होते हैं। इस लिये लोग प्रजाको राजाके विरुद्ध खड़ा करनेका यत्न करते हैं। और जब कोई धोखा देना चाहता है तो धोखा खानेवाले मिल ही जाते हैं। अतः राजाको बहुत सतर्क रहना चाहिये, उसे अपने मंत्रियोंपर नहीं बल्कि स्वयं अपने ही ऊपर विश्वास करना चाहिये। मनुष्यको धनका लोभ अधिक होता है। लोग पिताकी मृत्यु भूल जाते हैं पर यदि पिताकी संपत्ति उनसे छिन जाय तो उसे वे नहीं भूल सकते। इसलिये राजकी भौतिक उन्नतिके लिये राजाको बराबर यत्न करना चाहिये।

उपसंहार

मनुष्य स्वभावसे ही दुर्बल होता है, इसका पता मेकिम्रावेलीको अपने अनुभवसे ही लग चुका था। उसकी बतलायी हुई नीति इसी आधारपर आश्रित है। यदि संसारके सभी मनुष्य सत्य बोलने लगें, ईर्षा द्वेष और डाहका भाव उनमें न रहे तो मेकिम्रावेलीकी नीति ही क्या, दुनियाके सारे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य विषयक विवेचनाकी जड़ कट जाय। पर ऐसा अनुमान करना कि संसारके लोग कभी इस अवस्थापर पहुंचेंगे कोरी कल्पना ही है। संसारके प्रारंभसे लेकर आजतकका जो ज्ञान हमें है, उससे हम यही कह सकते हैं कि संसारने इस विषयमें उन्नति नहीं की है। इसलिये संसारको हम कैसा देखना चाहते हैं इसका ध्यान छोड़, संसार कैसा है, इस धारणासे जो सिद्धांत निकाले जांय वही व्यावहारिक हो सकते हैं। सत्य और धर्म्मका उच्चभाव हमारे हृदयोंमें श्रद्धा उत्पन्न करता है और हम उसे अपना आदर्श मान सकते हैं पर इस भौतिक जीवनमें उनसे हमारा कल्याण हो सकता है या नहीं इसमें संदेह है। बहुधा कहा जाता है कि सत्य और धर्म्मकी विजय अवश्य होती है, पर इसका पूर्ण अर्थ क्या है इसका बहुत कम विचार किया जाता है। जो वस्तु हमारे लिये उपलब्ध नहीं हो सकती उसकी प्रशंसा करनेको अथवा उसके लिये लालायित होनेको हम बाध्य भले ही हों, पर हम यत्न उसी वस्तुके लिये करते हैं जो उपलब्ध हो। सत्य और धर्म्मकी विजय अवश्य होती है पर उस विजयका रूप धार्म्मिक और नैतिक होता है। केवल सत्य और धर्म्मके अवलम्बनसे राष्ट्रकी रक्षा नहीं हो सकती, खासकर ऐसी परिस्थितिमें जब कि संसारके अन्य राष्ट्र असत्य और अधर्म्मपर ही तुले हों। ईसा मसीहने सत्यके लिये अपने प्राण दे दिये पर सत्य उनके प्राण न बचा सका। पृथ्वीराजने मुहम्मद गोरीके साथ बड़ी उदारता दिखलायी और लड़ाईमें हराने तथा कैद करने पर भी उन्होंने उसे छोड़ दिया पर यह उदारता मुहम्मद गोरीके हाथोंमेंसे उनके प्राणोंकी रक्षा न कर सकी। यदि केवल व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करना हो तो मनुष्य सत्य और धर्म्मके नामपर मर सकता है क्योंकि उसकी मृत्युसे उसे या अधिकसे अधिक उसके परिवारको ही कुछ हानि पहुंच सकती है। पर राष्ट्रकी बात दूसरी है। राष्ट्रके लिये वह सत्य सत्य नहीं और वह धर्म्म धर्म्म नहीं है जिससे उसके प्राणोंकी रक्षा न हो सके, क्योंकि सत्य और धर्म्मकी शिथिलताके कारण यदि दूसरे राष्ट्रको यह अपनेपर अत्याचार

करने दे और अपने राष्ट्रीय जीवनको दूसरेके हाथमें समर्पण कर दास बन जाय तो उसकी जो दुर्गति होगी उसमें वह सत्य क्या, असत्यका भी पालन नहीं कर सकेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि जब राष्ट्रके कल्याणपर विचार करना हो तो आध्यात्मिक बातोंके झगड़ेमें पड़कर इसे चौपट नहीं करना चाहिये। मुसलमान राजाओंके समयमें राजपूतानेमें बड़े बड़े राजपूत राजा थे पर उन्होंने व्यक्तिगत धर्म्म और राष्ट्र धर्म्ममें विभेद करना नहीं सीखा था, इसलिये वे अपनी रक्षा नहीं कर सके। पर महराष्ट्र-वीर शिवाजी और सिक्ख-गुरु गुरुगोविंद सिंह साधारण मनुष्योंके यहां जन्म लेने पर भी मुगलोंके विरुद्ध अपनी सत्ता कायम कर सके क्योंकि मुगलोंकी कूट चालोंको वे समझते थे और राष्ट्रके हित-साधनके लिये उनका प्रतिकार करना धर्म्म मानते थे। राजपूत-कुलभूषण महाराणा प्रतापकी वीरता और देशभक्तिपर कौन भारतीय हृदय मुग्ध नहीं होता, पर राजनीतिक चालोंकी अज्ञानता या यों कहिये कि उपेक्षाके कारण उनका विपुल बल और अदम्य उत्साह भी उनकी और उनके राज्यकी तथा हिंदुओंकी यथोचित रक्षा न कर सका। मानसिंहका अपमान कर उन्होंने स्वजाति और स्वधर्म्मके अभिमानसे पूर्ण व्यक्तिके उपयुक्त कार्य्य भले ही किया हो पर निस्सन्देह उन्होंने धुरन्धर राजनीतिज्ञके योग्य कार्य्य नहीं किया।

इसीलिये मेकिआवेलीने वैयक्तिक जीवन और सार्वजनिक जीवनको अलग अलग रखा है। उसके मतानुसार कितने ही ऐसे सद्गुण हैं जो वैयक्तिक जीवनके लिये तो सद्गुण है, किन्तु सार्व्वजनिक जीवनमें बहुधा दुर्गुण हो जाते हैं। मेकिआवेली पूर्ण रूपसे व्यावहारिक मनुष्य था। मनुष्यके लिये शक्ति और कार्य्यदक्षता उसका आदर्श थी और इसकी पूर्त्तिके साधनोंकी भित्तिपर ही उसका सारा 'दर्शन' स्थापित है। इसीलिये सीजर बोर्जिया जैसे अत्याचारी मनुष्यका उसने समर्थन किया है और यह कहकर बेजलिमानीकी निन्दा की है कि अवसर प्राप्त होने पर भी उसने पोप जुलियस सीजरकी हत्या न करायी और पीछे उसके कारण उसे कष्ट उठाना पड़ा।

मेकिआवेलीकी धारणा है कि "मनुष्य जीवनसे संबन्ध रखनेवाला कार्य्य आगेकी ओर बढ़ता जाता है, ऐसी अवस्थामें चुपचाप खड़ा रहना असंभव है। चाहें तो हम उन्नति कर सकते हैं, पर यदि उन्नति न कर सके तो पतन अवश्यंभावी है। तर्क तथा विवेकबुद्धि हमें जिस स्थानपर जानेसे रोकती है, आवश्यकता वहां हमें घसीट लेजाती है।

ठाकुर राजकिशोर सिंह

प्राचीन भारतमें जहाजोंका अस्तित्व*

पश्चिमी सभ्यताके अनुयायियोंकी धारणा है कि प्राचीन भारत एक असभ्य देश था। यहांके निवासी नितान्त मूर्ख तथा जंगली थे। ये किसी विद्या या कलामें निपुण न थे; ज्ञानकी बातें तो दूर रहीं, संसारके व्यवहारकी वस्तुएं तक बनाना इन्हें ज्ञात न था।

उन लोगोंकी ऐसी धारणाका मूल कारण यह है कि इस देशका पुराने जमानेका सविस्तर क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं है। यदि इस देशका बृहत् इतिहास विद्यमान होता तो वे लोग हमारे विषयमें ऐसा कहनेका साहस न करते। सुतरां हमलोगोंका कर्त्तव्य है कि हम अपने देशकी उन प्राचीन बातोंपर प्रकाश डालनेका यथासाध्य प्रयत्न करें जो उसके उत्कर्षका कारण थीं। साथ ही, दूसरोंकी शंकाओंका समाधान करने और उनके प्रश्नोंका समीचीन उत्तर देनेके निमित्त विस्तृत अनुसन्धानकी भी बड़ी आवश्यकता है, अस्तु।

भारतके प्राचीन उत्कर्षके सम्बन्धमें जो अनेक शंकाएँ तथा विवादग्रस्त प्रश्न उपस्थित होते हैं उनमेंसे एक यह भी है कि प्राचीन कालमें यहां जहाजोंका अस्तित्व था या नहीं। अभी तक पश्चिमी विद्वानोंकी धारणा थी कि प्राचीन भारतवासी जहाज-निर्माण-कलासे सर्वथा अनभिज्ञ थे, वे सदा छोटी छोटी नावोंसे ही किसी प्रकार अपना काम चला लेते थे। किन्तु सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् डाक्टर राधाकुमुद मुखोपाध्यायने इस विषयका अनुसन्धान करनेमें जो परिश्रम किया है उसके कारण अब यह धारणा क्रमशः दूर हो रही है। आपने अपनी सुविख्यात पुस्तक "दि इण्डियन शिपिंग" द्वारा यह स्पष्टतः प्रमाणित कर दिया है कि प्राचीन भारतके लोग जहाज बनानेकी कलासे अभिज्ञ ही न थे, अपितु उन्होंने इसकी बहुत कुछ उन्नति भी कर ली थी। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि उस समय यहां वर्त्तमान यूरोपीय देशोंकी भांति ही बड़े बड़े जहाजोंकी भरमार थी। पुरातत्वज्ञोंने जहां तक इस विषयकी खोज की है उसके आधारपर ऐसी कल्पना करनेकी गुंजाइश नहीं है। इसका कारण भी शीघ्र समझमें आ सकता है। यहां इतने अधिक जहाजोंकी आवश्यकता ही न थी।

यह एक मोटी बात है कि इतने विस्तीर्ण पुराण, रामायण, महाभारत तथा संस्कृत साहित्यका मथन करने पर भी जब बिरले ही जहाजोंका उल्लेख मिलता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि यहां जहाजोंकी संख्या ज्यादा थी। देवासुर-संग्राम तथा राम-रावणके युद्धकी ही बात लीजिये। क्या कहींपर जहाजों द्वारा युद्ध होनेका

---

*प्रो॰ राधाकुमुद मुखोपाध्याय, एम. ए. लिखित 'इंडियन' शिपिंग' पुस्तकके आधारपर।

ब्योरा मिलता है ? यदि रामचन्द्रके समयमें जहाजोंकी सुसम्पन्न तथा उन्नत व्यवस्था रहती तो उन्हें क्या पड़ी थी कि सौ योजन समुद्र पार होनेके लिये सेतुबन्धका आयोजन करते ? रामायणमें श्री हनूमानजीके कूदकर समुद्र-लंघनकी बात पायी जाती है किन्तु कहींपर उनके जहाज द्वारा सफर करनेका बयान नहीं पाया जाता। सीतान्वेषण करते करते जब अंगद, नल-नील आदिकी भेंट जटायुके भ्राता सम्पातिसे हुई और जब उसने सीताके लंकामें रहनेकी बात कह सुनायी तब जाम्बवान आदिने कहा कि सिवाय कूदकर समुद्र-लंघनके और कोई उपाय लंका जानेका नहीं है। और यदि कोई दूसरा उपाय रहता तो वहां जानेका भार हनूमानजीके ही ऊपर क्यों सौंपा जाता ? किन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं हो सकता कि उस समय जहाजका अस्तित्व नहीं था। कारण कि आवश्यकतानुसार प्रसंग आनेपर ही किसी विषयका उल्लेख किया जाता है। साथ ही वहां यह बात भी है कि रामायण और महाभारतमें जहां कहीं जहाजका उल्लेख पाया जाता है यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तात्कालिक आवश्यकताकी पूर्त्ति करनेके लिये ही जहाजोंका निर्माण हुआ था, उदाहरणार्थ विदुरकी आज्ञासे एक जहाजका बनवाया जाना और विषाक्त पाण्डवोंका उसके द्वारा भेजा जाना, तथा राजसूय यज्ञके अवसरपर दिग्विजयके हेतु पाण्डवोंका द्वीपान्तर गमन करना, इत्यादि।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं भारतवर्षको इतने अधिक जहाजोंकी आवश्यता ही न थी जितने वर्त्तमान यूरोपीय देशोंके पास पाये जाते हैं। इंग्लैण्ड प्रभृति देशोंकी भांति न तो भारत टापूकी तरह समुद्रसे चारों ओर घिरा हुआ ही है और न इसे अन्न, वस्त्र अथवा विद्याके लिये बाहर जानेकी जरूरत ही थी। भारतवर्ष एक ऐसा देश है जो एक स्वतन्त्र भौगोलिक खण्ड कहा जा सकता है। वह सब तरहसे स्वतन्त्र था। अपनी मांग आप पूरी कर लेता था। उसे किसी वस्तुके लिये दूसरे देशोंका मुंह ताकनेकी आवश्यकता न थी। ऐसी अवस्थामें विदेश-गमनकी ओर भारतवासियोंकी विशेष प्रवृत्तिका न होना स्वाभाविक ही है। इधर धर्मशास्त्रोंमें भी समुद्र-यात्राकी मनाही होनेके कारण अन्य अन्य देशोंके साथ भारतका सम्बन्ध और भी टूट गया। यद्यपि इस समुद्र-यात्राकी मनाहीको यूरोपीय इतिहासवेत्ता भारतके विदेशी वाणिज्य-व्यापारके सर्वनाशका मुख्य कारण बतलाते हैं और यद्यपि किसी सीमातक यह सत्य भी है तो भी हमारी समझमें इस प्रकारकी निषेधाज्ञा देनेमें उन ऋषि मुनियोंका गूढ़ तात्पर्य्य यह था कि यहांके निवासी अपनी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता बनाये रखनेके लिये आवश्यकीय वस्तुएं स्वयं ही तैयार कर लिया करेंगे और उनके लिये त्राहि त्राहि करते हुए दूसरोंकी झिड़कियां सुनकर इस देशकी महत्ताको कलंकित न करें। यही उपर्युक्त कारण है कि संसारके अन्य देशोंके साथ यहांके निवासियोंका ज्यादा तअल्लुक नहीं रहा किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं प्राचीन भारतवासी जहाज बनानेकी कलासे परिचित अवश्य थे।

प्राचीन भारतमें जहाजोंका अस्तित्व साबित करनेके लिये जो साधन मिले हैं वे दो भागोंमें बांटे जा सकते हैं देशी, तथा विदेशी। देशी साधन वे हैं जो यहांकी नाना

भाषाओंके प्राचीन साहित्य तथा यहांके कलाकौशलके कार्य्योंके आधारपर ढूंढे गये हैं। भाषाओंके प्राचीन साहित्योंमें संस्कृत साहित्य, पाली साहित्य एवं प्रान्तीय भाषाओंके साहित्य हैं। कलाकौशलके कार्य्योंमें चित्र-विद्या, और भास्कर्य विद्या अथवा बततराशी (स्कल्पचर) ही उल्लेखनीय हैं। साथ ही एक और साधन उपयोगी समझा जाता है। वह है पुरातत्व विद्या (आर्किओलाजी), पुनः, यह भी चार भागोंमें विभक्त किया जाता है—प्राचीन शिलालेख, इमारतें, ताम्रपत्र तथा सिक्के।

जो विदेशी यात्री यहां समय समयपर आते गये हैं और यहांका इतिवृत्त लिखते गये हैं वे ही प्रायः विदेशी साधन समझे जाते हैं। इतिहास-लेखकोंने भी कहीं कहीं इनका जिक्र किया है। उन यात्रियोंने चीनी, अरबी तथा फारसी भाषाओंमें अथवा अपनी देशी भाषाओंमें मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं जिनकी सहायतासे यहांके इतिहासकी बातोंपर भी थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है।

यद्यपि संस्कृत तथा पालीके प्राचीन साहित्यमें भारतीयोंके व्यापार-व्यवसायके हेतु जहाजों द्वारा यात्राका उल्लेख एक जगह नहीं बल्कि अनेकानेक जगहोंमें है, जो आगे दिखाया जायगा, किन्तु इससे यह पता नहीं चलता कि जहाज यहां ही बनाया जाता था। इस विषयका एक अपूर्व प्रामाणिक ग्रन्थ* प्रो. राधाकुमुद मुखोपाध्यायने खोज निकाला है। इसमें जहाज बनानेकी विद्या सिखलायी गयी है। जहाज कितने प्रकारके होते थे, किन किन मापोंके बनते थे, इत्यादि बातोंका ब्योरेवार वृत्तान्त इसमें वर्णित है। वृक्षायुर्वेदमें (साइन्स आफ प्लैण्ट लाइफ, बोटानी) चार तरहकी लकड़ियां कही गयी हैं, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र†। पहली जातिकी लकड़ी बहुत हलकी तथा कोमल होती है और अन्य दूसरी लकड़ीसे यह आसानीसे मेल खाती है। दूसरी क्षत्रिय जातिकी लकड़ी हलकी तो अवश्य होती है किन्तु साथ ही दृढ़ भी होती है। यह दूसरी

---

*इस ग्रन्थका नाम 'युक्ति कल्पतरु' है। इसकी हस्तलिपि कलकत्तेके संस्कृत कालेज पुस्तकालयमें सुरक्षित है। प्रो० औफ्रेटने संस्कृत हस्तलिपियोंकी सूचीमें इसका उल्लेख किया है। डा० राजेन्द्रलाल मित्रने इसके विषयमें निम्नलिखित टिप्पणी लिखी है, "युक्ति कल्पतरु राजा भोजका बनाया है। इसमें जवाहिरात, तलवार, घोड़ा, हाथी, पताका, छाता, आसन, मन्त्री, तथा जहाज प्रभृति विषयोंका विशद वर्णन है। इसमें भोजनामक ग्रन्थकारका जिक्र अक्सर आया है। मालूम होता है कि ये धारके राजा भोज हैं।

†लघुयत् कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढाङ्गं लघुयत् काष्ठं अघटं क्षत्रजाति तत्॥
कोमलं गुरु यत् काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढाङ्गं गुरु यत् काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते॥
लक्षणं द्वय योगेन द्विजातिः काष्ठ संग्रहः।

तरहकी लकड़ीसे नहीं मिलायी जा सकती। तीसरी वैश्य जातिकी लकड़ी कोमल परन्तु गुरु अर्थात् भारी होती है। चौथी शूद्र जातिकी लकड़ी दृढ़ अर्थात् मजबूत और गुरु होती है। साथ ही द्विजाति श्रेणीकी भी लकड़ी होती है जो दो भिन्न भिन्न जातियोंकी लकड़ियोंके गुण रखती है।

क्षत्रिय जातिकी लकड़ीसे बने जहाज सुख-सम्पत्ति देते हैं। अतएव जहां अगाध जल हो और मार्ग दुर्गम और दुरूह हो वहां ऐसे जहाजोंसे काम लेना चाहिये। किन्तु द्विजाति-श्रेणीकी लकड़ीसे बने जहाज विपरीत फल देते हैं, दुःख और दैन्य उत्पन्न करते हैं और साथ ही साथ मजबूत भी अधिक नहीं होते। वे बहुत जल्द जलमें सड़ जाते हैं और थोड़ासा धक्का लगते ही फट कर डूब जाते हैं।

इन सब बातोंके अतिरिक्त इस पुस्तकमें एक ऐसी बातका भी उल्लेख किया गया है जिससे उन विदेशी विद्वानोंको मुंह-तोड़ जवाब मिलता है जिनका कथन है कि प्राचीन भारतवासी निरे गँवार थे, वैज्ञानिक विषयकी बातें उन्हें मालूम न थीं। चुम्बक लोहेके सम्बन्धमें चितावनी देते हुए एक स्थानपर लिखा है " "न सिन्धुगाद्यार्हति लौहबन्धं तल्लोहकान्तैर्ह्रियते हि लौहम्। विपद्यते तेन जलेषु नौका गुणेन बन्धं निजगाद भोजः"। अर्थात् यहां इस बातकी ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि जहाजोंमें जो तख्ते जोड़े जायं उनमें लोहेका व्यवहार न किया जाय, क्योंकि समुद्रमें जो चुम्बकवाली चट्टान रहेगी वह उन्हें आकर्षित करेगी, जिससे उससे टक्कर खाकर जहाज चकनाचूर हो जायँगे। यहां ऐसे पदार्थोंसे उन तख्तोंके जोड़नेका आदेश है जो लोहेके न हों। अब पाठक समझ सकते हैं कि जिन लोगोंकी यह धारणा है कि केवल छोटी छोटी डोंगियां ही यहां चलती थीं उन लोगोंकी धारणा कितनी भ्रममूलक है। क्या समुद्रमें भी डोंगीसे ही काम लिया जाता है?

लेखकने अपने ग्रन्थमें जहाजोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है-सामान्य जहाज, जो छोटी बड़ी नदियोंमें जासके और विशेष जहाज जो समुद्रगामी हो। साधारण श्रेणीमें दस भिन्न भिन्न प्रकारकी नावोंका जिक्र है। इनकी लम्बाई, चौड़ाई, गहराई तथा उँचाई निम्नलिखित प्रकारकी हैं।

नाम	लम्बाई (हाथमें)	चौड़ाई	ऊँचाई
१ क्षुद्रा	१६	४	४
२ मध्यमा	२४	१२	८
३ भीमा	४०	२०	२०
४ चपला	४८	२४	२४
५ पतला	६४	३२	३२
६ भया	७२	३६	३६
७ दीर्घा	८८	४४	४४

नाम	लम्बाई (हाथ में)	चौड़ाई	ऊँचाई
८ पत्रपुता	९६	४८	४८
९ गर्भरा	११२	५६	५६
१० मन्थरा	१२०	६०	६०

उपर्युक्त दस प्रकारके जहाजोंमेंसे भीमा, भया और गर्भरा विपत्तिजनक हैं क्योंकि उनकी बनावट उन्हें जलके ऊपर स्थिर नहीं रख सकती।

जो जहाज विशेष अथवा खास श्रेणीमें रखे गये हैं वे समुद्रगामी हैं। प्रथमतः वे दो भागोंमें बांटे गये हैं, पहला 'दीर्घा' जिसके अन्तर्गत वे जहाज भी हैं जो अधिक लम्बे होते हैं, और दूसरा 'उन्नता' जिसके अन्तर्गत वे जहाज हैं जो लम्बाई, चौड़ाईके लिये नहीं, वरन् उँचाईके लिये विख्यात हैं। पुनः दीर्घाके दस और उन्नताके पांच भेद हैं जिनकी लम्बाई, चौड़ाई, उँचाई और नाम नीचे दिये जाते हैं—

१ दीर्घा ४२ हाथ (लम्बाई) ५ १/४ हाथ (चौड़ाई, ४ १/५ हाथ (उँचाई)

नाम	लम्बाई	चौड़ाई	ऊँचाई
१ दीर्घिका	३२	४	३ १/५
२ तारणी	४८	६	४ ४/५
३ लोला	६४	८	६ २/५
४ गतवरा	८०	१०	८
५ गामिनी	९६	१२	९ २/५
६ तरी	११२	१४	११ १/५
७ जंघाला	१२८	१६	१२ ४/५
८ प्लाविनी	१४४	१८	१४ २/५
९ धारिणी	१६०	२०	१६
१० वेगिनी	१७६	२२	१७ ३/५

दीर्घा जहाजकी इन दसों श्रेणियोंमें लोला, गामिनी तथा प्लाविनी विपत्ति उत्पन्न करने वाली हैं।

२. उन्नता

नाम	लम्बाई	चौड़ाई	उँचाई
१ ऊर्द्धा	३२	१६	१६
२ अनूर्द्धा	४८	२४	२४
३ स्वर्णमुखी	६४	३२	३२
४ गर्भिणी	८०	४०	४०
५ मन्थरा	९६	४८	४८

इसके अतिरिक्त इसमें जहाजोंको पूरी तौरसे सजधजकर जलयात्रियोंके हेतु सुखद बनानेकी तरकीब भी बतायी गयी है। इस कामके लिये चार प्रकारके धातु कहे गये हैं— सोना, चांदी, ताम्बा और इन तीनोंके मेलसे बना हुआ धातु। भिन्न भिन्न जहाजोंके लिये चार प्रकारके रंग भी कहे गये हैं। चार शृंग, (मस्तूल) जिसमें हों उसे उजल रंगसे, तीन शृंग वालेको लाल रंगसे, दो शृंगवालेको पीले रंगसे और एक शृंग वालेको नीले रंगसे रँगना चाहिये। जहाजके सामनेका भाग भिन्न भिन्न प्रकारके पशु-पक्षियों जैसा बना रहना चाहिये।

जहाजके नीचेकी कोठरीका भी वर्णन इस 'युक्ति-कल्पतरु' में पाया जाता है। इन कोठरियोंके अनुसार ही जहाजोंके नाम रखे जाते थे। एक जहाजका नाम सर्वमन्दिरा है, इसके एक छोरसे दूसरे छोर तक कोठरी बनी रहती है। इसमें राजाओंके उपयोगकी आवश्यक सामग्री यथा खजाना, घोड़े और स्त्रियां रखी जाती हैं। दूसरेका नाम मध्यमन्दिरा है, इसके केवल मध्य भागमें कोठरी रहती है। यह राजाओंके जल-क्रीड़ाके काममें लाया जाता है और वर्षाऋतुमें बहुत उपयोगी होता है। तीसरे प्रकारका जहाज अग्रमन्दिरा है। यह वर्षा विगत होनेपर शुष्क ऋतुओंमें प्रयुक्त होता है। किन्तु इसकी मुख्य उपयोगिता 'युक्तिकल्पतरु'की भाषामें "चिरप्रवास यात्रायां रणे काले घनात्यये" है। किन्तु पाठक, आप ऐसा न समझें कि लड़ाईका उल्लेख अतिशयोक्ति मात्र है। ग्रन्थकारने उस लड़ाईका जिक्र भी कर दिया है जिसमें तुग्र नामके एक राजर्षिने अपने लड़के भुज्युको शत्रुओंके विरुद्ध दूरस्थित द्वीपमें भेजा था, किन्तु दुर्भाग्यवश उसकी भी गति यूरोपके आधुनिक समयके टाइटानिक जहाजकी भांति हुई। भारतीय साहित्यमें उल्लिखित यह पहला युद्ध कहा जाता है जो जहाज द्वारा किया गया था। जहाजका उल्लेख महाभारतके आदिपर्वमें भी पाया जाता है। दयालु विदुरकी आज्ञानुसार पाण्डवोंको बचानेके लिये एक जहाज बनाया गया था जिसपर चढ़ कर वे लोग अपने प्राणोंकी रक्षा कर सकें। वाल्मीकि रामायणके अयोध्याकाण्डमें ५०० जहाजोंका उल्लेख है; इनमें कैवर्तके सैकड़ों नवयुवक ध्यान लगाये बैठे थे ताकि ये लोग शत्रुओंकी गति रोके रखें। कालिदासके 'रघुवंशम्' में जहाजोंका उल्लेख पाया जाता है; इन्ही जहाजोंके सहारे बंगालियोंने महान् शक्तिशाली राजा रघुका सामना किया था।

इसके अतिरिक्त पाली भाषाके साहित्यमें भी जहाजों द्वारा समुद्र-यात्रा तथा सामुद्रिक व्यापारका उल्लेख बहुतायतसे पाया जाता है। राजवल्लीके अनुसार बंगालके राजा सिंहवाहुने जिस जहाजपर कुमार विजयको भेजा था वह इतना बड़ा था कि उसमें उनके सातसौ अनुयायी बड़े आरामसे गये थे। जिस जहाजमें वीर राजकुमार सिंहल थे और जो जम्बुद्वीपके किसी अज्ञात स्थानसे आकर लंका पहुंचा था उसमें उनके पांचसौ अनुयायी थे। जिस जहाज द्वारा विजयकी स्त्री लंका लायी गयी थी उसमें आठसौ यात्री थे। 'समुद्द वणिक्जातक'में जिस जहाजका वर्णन है वह इतना बड़ा था कि उसमें सारा गांव समा

गया और इसके अलावे उसमें एक हजार तो केवल बढ़ई थे। ब्रह्मदेशके दो भाई सौदागर जिनके नाम तापुस और पालकेत थे बंगालकी खाड़ीमें एक जहाजपर सवार हुए। इन दोनोंका सामान पांचसौ बैल गाड़ियोंपर लद कर आया था। इनके सिवाय और भी बहुतसे यात्री अपना अपना सामान लेकर उस जहाजपर पहलेहीसे बैठे थे। 'सांख जातक' में एक उदारहृदय ब्राह्मणके जिस जहाजके डूबनेसे बचनेकी बातका उल्लेख है वह जहाज आठ सौ हाथ लम्बा, छःसौ हाथ चौड़ा और बीस फैदम गहरा था। पाली ग्रन्थोंमें ऐसे ऐसे जहाजोंका प्रचुर उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त साहित्यिक प्रमाणोंसे जो बात साबित होती है उसका समर्थन दूसरे प्रमाणों द्वारा भी होता है जो विशेष कर अवशिष्ट चिन्होंके रूपमें विद्यमान हैं। प्राचीन भारतीय कला-कौशलके, भारतीय भास्कर्य विद्या (बुततराशी) के तथा देशी चित्रकारीके कार्य्योंको एवं प्राचीन भारतीय मुद्राओंको देखकर यही विश्वास होता है कि प्राचीन समयमें इस देशके निवासी जहाज बनाना और उनका प्रयोग करना अच्छी तरह जानते थे।

प्राचीन भारतीय कलाओंमें जहाजों और नावोंके अनेकानेक चित्र पाये गये हैं। इनमें सबसे पुराने प्रमाण सांचीकी बुततराशियोंमें पाये जाते हैं जो ईसासे दोसौ वर्ष पहलेकी हैं। सांचीके पूर्व वाले फाटकपर स्तूप नम्बर १ पर जो चित्र खुदा हुआ है उसमें यह दिखलाया गया है कि एक छोटे जहाजपर तीन मनुष्य बैठे हुए हैं और एक नदी पार कर रहे हैं। तीनोंके तीनों संन्यासीके वेषमें हैं। उनमें से दो तो जहाजको सीधी राहपर लेजा रहे हैं और तीसरा व्यक्ति किनारेपरके खड़े चार मनुष्योंको गम्भीर दृष्टिसे देख रहा है। एक चित्र पश्चिम द्वारके स्तूप नम्बर १ में खुदा हुआ है। जहाज देखनेमें अत्यन्त ही मनोहर है। इसके आगेके भागकी बनावट बड़ीही विचित्र और मनोरञ्जक है, ऐसा मालूम पड़ता है कि यह कोई अनूठा जानवर है जिसका धड़ सिंह जैसा और शिर गरुड़ जैसा है। इसके पंख भी गरुड़के से हैं। जहाजके पीछेका भाग मछलीकी पूंछ जैसा है। जहाजके ऊपर एक वितान (चँदोवा) टंगा हुआ है और उसके तले एक रिक्त (खाली) सिंहासन पड़ा हुआ है। सिंहासनके निकट एक मनुष्य छत्र और दूसरा चंवर लिये खड़ा है; और एक तीसरा मनुष्य जहाजको चला रहा है। नदीमें सद्यः विकसित पुष्प और कलियां शोभा पा रही हैं और एक बड़ी नाव हालमें ही डूबी हुई दिखायी गयी है। पांच मनुष्य नावका मस्तूल पकड़ कर तैर रहे हैं और छठां जहाजपर चढ़ा लेनेकी विनती कर रहा है। जहाजकी सूरत शक्लके विषयमें यह कह देना अनुचित और असंगत न होगा कि यह (सूरत-शक्लें) मनगढ़न्त अथवा, कल्पना मात्र न थीं। 'युक्ति-कल्पतरु' में कितने श्लोक हैं जिनसे जहाजोंकी भिन्न भिन्न सूरतोंके होनेका समर्थन तथा अनुमोदन होता है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि इसी आकार-प्रकारके जहाज भी यहां पाये जाते थे और इसीलिये 'सांची'के जहाजोंका यह रूप केवल चित्रकारोंकी कल्पना नहीं कही जा सकती।

प्राचीन भारतमें जहाजोंका अस्तित्व

प्राचीनताके ख्यालसे सांचीकी बुततराशीके पश्चात् कनहरीकी कन्दराकी कारीगरीका वर्णन किया जा सकता है। यह कनहरी बम्बईके निकट सालसीट द्वीपमें है। अकाट्य प्रमाणों द्वारा साबित किया जाचुका है कि ये चित्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीके अन्तमें बनाये गये थे जिस समय वहांके राजा अन्ध्रभृत्य अथवा शतकर्णी वशिष्ठ पुत्र [विक्रम १६०-२१६ या १३३-१६२ ईसवी] और गौतमीपुत्र द्वितीय [विक्रम संवत २२४-२५३ या १७७-१९६ ईसवी] राज्य करते थे। वहांके अनेक चित्रोंमेंसे एकमें जहाज डूबनेका दृश्य दिखलाया गया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि एक जहाज समुद्रमें डूब गया है और दो आदमी असहाय होकर पद्मपाणि देवसे सहायताकी प्रार्थना कर रहे हैं जिन्होंने दो आदमियोंको उनकी सहायताके लिये भेजा है।

पुरीके श्री जगन्नाथजीके मन्दिरमें एक जहाजका चित्र खींचा हुआ है। यह मन्दिर बारहवीं शताब्दीमें बनवाया गया था, और इसमें जितने चित्र खींचे हुए हैं प्रायः सभी उसी समयके बने हुए हैं। जब कोई नयी इमारत बनायी जाती है तब रंग, रोगन, कलाबत्तू, तस्वीर आदि नाना तरहके सामानोंसे वह सज धज कर तय्यार की जाती है ताकि प्रथम उद्घाटनके समय उसमें यथासंभव कोई त्रुटि न रहने पावे। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि यह चित्र भी बारहवीं शताब्दीमें बनाया गया होगा। पुनः यह चित्र मन्दिरके उस भागमें अंकित है जिसे लोग करनकके ब्लैक पैगोडाका एक अंश मानते हैं। उक्त जहाजके चित्रकी शोभा देखते ही बनती है। यहां दीवारमें चित्रकी शोभा और समीप ही समुद्रकी उत्तुंग तरंगपर बल खाते जहाजोंकी शोभा प्रायः एक ही सी जान पड़ती है। चित्रकारने इस हदकी सफाई दिखायी है कि चित्र देखते ही हठात् मुँहसे वाह ! वाह !! की ध्वनि निकल पड़ती है।

उड़ीसाके भुवनेश्वरमें एक पुराना मन्दिर है जो विन्दु सरोवरके पश्चिम स्थित है। मन्दिरका नाम है वैताल दूल। वैतार (ल) शब्दका अर्थ जहाज है, और चूंकि यह मन्दिर जहाजके आकारका बना हुआ है अतएव इसका नाम वैताल पड़ा।

अजन्ताके गुफा-मन्दिरोंमें भी जहाजोंके बहुतसे चित्र पाये जाते हैं। ये चित्र विशेषकर गुफा नम्बर २ में हैं जिनका पता लोगोंको संवत् ५८२ ७०७ में लगा था। ये चित्र भी उसी समयके अंकित हैं। विदेशी यात्री ह्यून संगके यहां आनेके पहले ही अजन्ताके कन्दरा मन्दिर तैयार हो चुके थे। वे महाराष्ट्राधिपति पुलकेशी द्वितीयके यहां टिके थे और खुद अजन्ता नहीं जा सके थे। किन्तु वहीं उन्होंने अजन्ताकी इमारतोंका विशद वर्णन सुना था। उन्होंने बारम्बार उनकी तारीफ की है। इतिहासवेत्ताओंने पुलकेशीके राज्यकालको ही सामुद्रिक व्यापार तथा जहाज-शिल्प-कलाके उत्कर्ष प्राप्त होनेका 'सुवर्णयुग' बताया है। इस राजाकी जलसेना पूर्णतया संगठित की गयी थी। उसमें सैकड़ों जहाज थे। उन्हीं जहाजोंके सहारे उन्होंने 'पुरी' नगरीपर, जो पश्चिमी समुद्रकी रानी कहलाती है, फतह पायी थी। अजन्ताके अंकित चित्रोंको देखकर ही

ग्रिफिथ्स साहबने कहा है 'कि भारतवर्षका विदेशियोंके साथ व्यापार करनेका यही ज्वलन्त प्रमाण है"। उक्त चित्रोंमेंसे दो तो ऐसे जहाजोंके हैं जो समुद्रकी ओर जातेसे प्रतीत होते हैं। उनका पार्श्व-भाग भी उतना ही बड़ा और ऊंचा है जितना समुद्रगामी जहाजोंका हुआ करता है। उनके पाल भी तने हुए हैं। लम्बे लम्बे मस्तूल उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं।

तीसरे चित्रमें यह दर्शाया गया है कि विजय अपनी जल-सेनाके साथ लंकाकी भूमिपर उतर रहे हैं और अब उनका राज-तिलक हुआ चाहता है। विजयका वह जहाज इतना बड़ा है कि उसमें कमसे कम १५०० सैनिक सुखपूर्वक जा सकते हैं। विजयके लंका-गमनका वृत्तान्त पाली ग्रन्थ 'महावंशो' और 'राजावलीय' में सविस्तर वर्णित है और वे उसी दिन लंका गये थे जिस दिन बुद्धदेवने निर्वाण प्राप्त किया था। यह घटना विक्रम संवत्से लगभग ४८६ वर्ष पहले हुई थी, ऐसा ही ऐतिहासिकोंका मत है।

जावा द्वीपके बोरो बुदुदुर मन्दिरमें भी बहुतसे जहाजोंके चित्र पाये जाते हैं। प्रायः इन्हीं जहाजोंपर चढ़कर अनेक भारतवासी जावा गये थे और उनमेंसे अधिकांश वहीं बस गये। इन्हींमेंसे एक जहाजपर चढ़कर फाहियानने लंकासे जावाकी यात्रा की थी। निक्कोलो कोराटीने इन जहाजोंका वर्णन करते हुए कहा है कि "भारत वासियोंने कई एक जहाज बनाये हैं जो हम लोगोंके जहाजोंसे बड़े हैं और जिनमें कमसे कम दो हजार सशस्त्र सैनिक आनन्दपूर्वक यात्रा कर सकते हैं। इनमें पांच मस्तूल और इतने ही पाल होते हैं। कितने जहाज तो कोठरी कोठरीके रूपमें इस प्रकार बनाये गये हैं कि यदि एक कोठरी काट कर अलग कर दी जाय तो बचे हुए भाग बे-खौफ मञ्जिल तय कर सकते हैं"। एक जहाजका चित्र ऐसा बनाया गया है मानो वह दूसरे जहाजसे टक्कर लेनेपर है, और इस भयसे सब मांझी लाइफ बोट 'प्राणरक्षक नौकाएँ' उतारनेके लिये उतावले हो रहे हैं। एक दूसरे चित्रमें यह दिखलाया गया है कि जहाज डूब रहा है और उसपरके मनुष्य दूसरे जहाजपर चढ़ रहे हैं। एक मनुष्य जलमें उतरा रहा है और उसका साथी हाथ पकड़ कर उसे जहाजपर चढ़ानेका यत्न कर रहा है। पासमें ही एक बड़ा भारी ग्राह मुंह फैलाये उस मनुष्यको हड़प जानेकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक चला जा रहा है।

पूर्वीय किनारेपर आन्ध्रोंकी कुछ मुद्राएँ पायी गयी हैं जो विक्रमकी दूसरी या तीसरी शताब्दीकी हैं। इनपर मस्तूल वाले दो जहाजोंका चित्र खींचा हुआ है जो बहुत ही बड़े आकारका है। इस चित्रको देखकर प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता विन्सेंट स्मिथने कहा है कि इन सिक्कोंपरका अंकित चित्र यह सूचित करता है कि यज्ञश्रीकी राज्य-ध्वजा केवल इसी देशमें नहीं फहराती थी।" यज्ञश्रीने संवत् २२१ से २७० तक राज्य किया है। स्मिथ (?) साहब भारतके दूसरे प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता फिर कहते हैं कि जहाज-चित्रांकित मुद्राएँ जिन्हें शायद यज्ञश्रीने ही बनवाया था इस बातको प्रमाणित करती हैं कि ईसाके बाद पहली शताब्दीके लगभग कारोमण्डलके तटपर विदेशियोंके साथ

सामुद्रिक व्यापार किया जाता था।" आंध्रोंका इतिहास भी इस बातका समर्थन करता है, कारण कि आर. सीवेल साहब कहते हैं कि आंध्रोंके शासनकालमें पश्चिमी एशिया, यूनान, रूस, और ईरानके साथ तथा चीन और पूर्व वालोंके साथ समुद्र तथा स्थल दोनों मार्गो द्वारा व्यापार होता था। अतएव हमें यह मानना ही पड़ेगा कि प्राचीन भारतके लोग जहाज बनानेकी कलासे भलीभांति परिचित थे।

इन दिनों पाश्चात्य विद्वानोंने ऐतिहासिक खोजोंके लिये एक और अपूर्व साधन, भाषा-विज्ञान (फाइलालॉजी) से काम निकालना शुरू किया है। प्रसिद्ध प्रसिद्ध ग्रंथोंमें जो अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं तथा जिनके भिन्न भिन्न अर्थ भिन्न भिन्न समयमें निर्मित कोषोंमें वर्णित हैं, उनके आधारपर भी ऐतिहासिक खोज होने लगी है। साथ ही एक बात और आश्चर्य्यजनक है कि व्यवहृत शब्दोंके आधारपर खोज करना या अनुमान लगाना तो स्वाभाविक ही है किन्तु इन विकट पुरातत्त्वान्वेषियोंने अव्यवहृत शब्दोंके आधारपर भी काम निकालना शुरू किया है। चूंकि वेदमें 'पोत' शब्द पाया जाता है, अतः वैदिक युगमें जहाजोंका अस्तित्व मानना सीधी सादी बात है किन्तु यदि वेदोंमें 'व्योम यान' शब्द न मिले तो उस समयमें उसका अस्तित्व माननेमें वे लोग आनाकानी करने लगते हैं। इसी रीतिके अनुसार कई प्रसिद्ध यूरोपीय इतिहास-वेत्ताओंने पाणिनि व्याकरणके सूत्र, पतञ्जलिके महाभाष्य तथा कात्यायनकी वृत्तियोंके आधारपर भी कुछ ऐतिहासिक बातोंकी खोज की है।

संस्कृतके कोषोंमें नाव तथा जहाजोंके लिए कई संज्ञाएं हैं। इनके अर्थ भी भिन्न भिन्न बताये गये हैं, ये अर्थ उन कोषकारोंके दिमागकी कल्पनाके फल स्वरूप कदापि नहीं हैं। सभी भाषाओंके कोष तथा व्याकरण भाषाके प्रचार होनेके बहुत दिनोंके बाद बनाये जाते हैं। कभी कभी तो शताब्दियोंका अन्तर पड़ जाता है। कोषकारोंसे पहले तथा समकालीन साहित्यमें जिन ग्रंथोंमें ये शब्द व्यवहृत होते आये हैं उन्हींका संकलन मात्र उन्होंने किया है। यही कारण है कि किसी भाषाका केवल एक कोष नहीं पाया जाता है, बल्कि समय समयपर भिन्न भिन्न कोषोंके बनानेकी आवश्यकता पड़ती आयी है और ये बनते आये हैं। संस्कृत साहित्यमें जहाजोंके दो नाम उपलब्ध होते हैं—एक पोत और दूसरा वहित्र। संस्कृतके सारे ग्रंथोंको मथ जाइये, आपको सामुद्रिक नावोंके निमित्त ये ही दो नाम अधिकतासे प्रयुक्त हुए मिलेंगे। 'नौका' शब्दका प्रयोग भी पाया जाता है। जैसे इन दिनों भी हम लोग नदी पार करने वाली नावके साथ ही 'सामुद्रिक नाव' तकका व्यवहार करते हैं, वैसे ही प्राचीन संस्कृत साहित्यमें भी समुद्र द्वारा द्वीपान्तर-गामी नावको भी 'नौका' कहते थे। किन्तु 'पोत' या 'वहित्र' शब्दका व्यवहार अधिकतासे किया गया है। उदाहरणार्थ मार्कण्डेय पुराणमें दुर्गा सप्तशतीके बारहवें अध्यायमें लिखा है......आपूर्णातो थ वातेन स्थित, पोते महार्णवे......। अब पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि यदि समुद्रोंमें चलने वाले जहाज न होते तो पुराणोंमें उनका उल्लेख

क्योंकर होता ? क्या यह भी कोरी कपोल-कल्पना ही समझी जायगी ? फिर भारत-कवि-कुल-कमल-दिवाकर-कालिदास भी रघुवंशमें लिखते हैं

क्व सूर्य्य-प्रभवो वंशः क्व चाल्प विषयामतिः, तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्" अर्थात् सूर्य्यवंशके इतिहासके समान दुस्तर समुद्रको मोहवश क्षुद्र बुद्धि रूपी नौका द्वारा पार करना चाहता हूं। यदि एक ही तरहकी मामूली नाव उन दिनोंमें होती तो 'उडुप' से समुद्रका पार होना, यह उपमा क्योंकर दी जाती ? फिर पोतवणिक् शब्दका पर्य्यायवाची शब्द सांयात्रिक है। अमरकोषके प्रसिद्ध टीकाकार महेश्वरने यह अर्थ किया है 'समुदितानां गमनं द्वीपान्तर गमनं वा संयात्रा, सा प्रयोजनमस्यास्ति ......। क्या एक द्वीपसे दूसरे द्वीपमें ले जानेकी सामर्थ्य जहाजोंको छोड़कर मामूली नदीमें तैरने वाली या उतारेकी नावको कभी प्राप्त हो सकती है ? अतः यह स्पष्ट ही है कि एक देशसे दूसरे देशको जानेवाले सामुद्रिक जहाज उन दिनों भारतमें अवश्य प्रचलित थे।

गंगापति सिंह।

सबसे बहुमूल्य सोनेकी खानि।

'मैनचेस्टर गार्जियन' के एक संवाद दाताने उत्तरीय टोरण्टो (कनैडा) की एक सोनेकी खानिका जो विवरण छपवाया है वह बड़ा मनोरञ्जक है। इस खानिका पता बेनी हालिञ्जर नामक नवयुवकने लगाया था। वह खानि ढूँढ़ निकालनेकी इच्छा कर सत्रह वर्षकी ही अवस्थामें घरसे बाहर निकला था। अपनी क़िस्मत अजमानेके लिये पहिले वह उस क्षेत्रमें पहुंचा जहां चांदीकी खानियां पायी गयी थीं। यहांसे निराश होकर उसने १५० मील उत्तरकी ओर पांरक्यूपाइन क्षेत्रमें कहीं कहीं सुवर्ण-राशि प्राप्त होनेकी खबर सुनी। खानि ढूंढ निकालनेका अनुभव न होते हुए भी उसने पांरक्यूपाइन क्षेत्रमें जानेका निश्चय कर लिया। किन्तु पासमें एक पैसा न था। निदान एक मित्रकी उदारतासे कोई दो सौ रुपये पाकर वह निकल पड़ा। इस बार उसका भाग्य चमक उठा। एक स्थान पर कुदालीकी चोट लगते ही उसे १६५ हजार डालर (लगभग पांच लाख रुपये) की सुवर्ण-निधि मिल गयी। बादमें यह खानि संसारकी सबसे बहुमूल्य सोनेकी खानि साबित हुई। अभी तक डेढ़ अरब रुपयेसे अधिकका सोना निकाला जा चुका है। प्रतिमास (वर्ष ?) कोई ३२ लाख रुपयोंका सोना निकलता है। जितना सोना निकलता है उसका आधा मुनाफा होता है। अतः यदि मुनाफेका उचित वितरण हो तो प्रतिमास एक नये लखपतिकी उत्पत्ति हो सकती है। श्री ब्रिघमका अनुमान है कि खानिसे कोई १८० करोड़ रुपयेका सोना निकलेगा अर्थात् इससे ३५ या ४० वर्षका काम निकल सकेगा।

भारत सरकारका ऋण।

भा रत सरकारके ऋणका ठीक ठीक आशय बहुतोंकी समझमें नहीं आता, क्योंकि वे उसकी उत्पत्तिका ठीक ठीक हाल नहीं जानते।

इंग्लैण्डके राजाकी प्रतिनिधि स्वरूप ईस्ट इंडिया कम्पनीने भारतमें कई लड़ाइयां लड़ीं। इनमेंसे कुछ फरासीसियोंके विरुद्ध लड़ी गयी थीं, जो कि संसारके भिन्न भिन्न भागोंमें अंग्रेजोंके प्रतिस्पर्द्धी थे। अन्य लड़ाइयां भी ऐसे भारतीय राजाओं या शासकोंके विरुद्ध लड़ी गयी थीं जिनको फरासीसियोंकी सहायता प्राप्त थी। इन युद्धोंका परिणाम यह हुआ कि कम्पनीके हाथमें बड़े बड़े प्रान्त आ गये! बृटिश सरकारकी अनुमतिसे ही ये युद्ध शुरू किये गये थे अथवा शुरू होनेपर बृटिश सरकारने इन्हें मंजूर कर लिया था। ईस्ट इंडिया कम्पनीको एशियामें युद्ध करनेका अधिकार इस शर्तपर दे दिया गया था कि विजय द्वारा उपलब्ध भूमि इंग्लैण्डकी समझी जाय और युद्धका खर्च कम्पनी अपने सिरपर ले।

कम्पनीकी आर्थिक दशा इतनी अच्छी न थी कि वह इन युद्धोंका व्यय-भार उठा सकनेमें समर्थ होती। संवत् १८२२ (१७६५ ई०) में जिस समय कम्पनीको बंगालकी दीवानी प्राप्त हुई उस समय वह ऋण-ग्रस्त होचुकी थी। यह ऋण करनाटकमें फरासीसियोंके साथ जीवन-मरणकी लड़ाई लड़नेके निमित्त बृटिश सरकारकी स्वीकृतिसे ही लिया गया था। इसे अदा करनेका भार नवाधिगत बंगाल प्रान्तकी आमदनीपर डाल दिया गया*।

भारत सरकारके ऋणका वास्तविक आरम्भ यही है। यद्यपि कम्पनीकी आयके द्वार यथेष्ट थे, परन्तु कम्पनीकी सतत लड़ाइयोंका व्ययभार उस आयसे भी कहीं अधिक था। हेस्टिंग्ज़ने जो लूट मचा रखी थी उसके बाद भी जब बंगदेशकी आय यथेष्ट न

---

*पार्लमेण्टके निश्चयके अनुसार कम्पनीको प्रति वर्ष चार लाख पौण्ड बृटिश कोषमें जमा करने पड़ते थे, किन्तु कम्पनीकी आर्थिक स्थिति अच्छी न होनेके कारण यह रकम कुछ वर्षों तक ही दी जा सकी। इस सम्बन्धमें 'टाइम्स आव इण्डियाके' भूतपूर्व सम्पादक श्री राबर्ट नाइटकी सम्मति उल्लेखनीय है—"इंग्लैण्डके राजाने कम्पनीको यह स्वीकृति दे दी कि बंगाल प्रान्तकी आमदनीका वह मनमाना प्रयोग कर सकती है, शर्त इतनी ही है कि उक्त विजयके लाभमें राष्ट्रका भी अधिकार मानकर वह प्रतिवर्ष ४ लाख पौंड बृटिश खजानेमें दाखिल कर दिया करे। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि राष्ट्रने केवल इस शर्तपर कि ४ लाख पौंड इंग्लैण्डके खजानेको भेज दिये जाया करें कम्पनीको भारतकी जनता तथा राजाओंको मनमाने लूटनेकी मानो एक बड़ी सनद दे दी—राबर्ट 'नाइट कृत' इंडिया एण्ड आवर फाइनेन्शल रिलेशन्स देयरविद' पृष्ठ १७]।

जान पड़ी तो कम्पनीने अपनी इस आयको, अपने युद्धोंके लिये आवश्यक द्रव्यकी प्राप्ति करनेके उद्देश्यसे, गिरों रखनेका प्रस्ताव पास किया। इस प्रकार बंगालकी आयकी सहायतासे मैसूरके नवाबोंकी भौम सम्पत्ति हड़प की गयी और मैसूरकी आयका उपयोग करके मराठोंके राज्यका अन्त किया गया। भारतवर्षमें अंग्रेजोंने अपनी लड़ाइयां केवल भारतीय सिपाहियों द्वारा ही नहीं लड़ीं और जीती थीं किन्तु भारतके रुपये और साखकी सहायतासे भी उन लड़ाइयोंको इन्होंने जीता था।

परन्तु अभी इससे भी अधिक बुरी बात कहनी शेष है। एशियाके प्रत्येक भागमें, जहां जहां इंग्लैण्डने लड़ाइयां लड़ीं वहां वहां सर्वत्र उसने भारतीय सेना और द्रव्यसे ही वे लड़ाइयां लड़ी हैं। सिंहलद्वीप, सिंगापूर, हांगकांग, अदन, और रंगून सब ही प्रदेश इंग्लैण्डने भारतकी सेना और धनके द्वारा जीते हैं। अफगानिस्तान, चीन, ब्रह्मा और ईरानसे भी जो युद्ध अंग्रेजोंने लड़े थे वे यद्यपि बृटिश नीतिकी संसिद्धिके लिये किये गये थे और भारतके हितका सम्बन्ध उनसे नाममात्रका ही था, परन्तु उनमें मुख्यतया भारतके ही द्रव्य और उसकी सेनाका उपयोग किया गया था*।

इतना ही नहीं किन्तु कम्पनीने अपना जो कारबार सेंटहेलीना, बेनकूलन, मलाका, प्रिंस आव वेल्स द्वीप, और कान्टनमें चला रखा था उसका सब व्ययभार, और अंग्रेजोंने जो आक्रमण 'उत्तमाशा' अन्तरीप, मनिल्ला, मारीशस तथा मलक्का टापुओंपर किये थे उन सब चढ़ाइयोंका खर्च भी, भारतके मत्थे मढ़ा गया। इन देशोंकी चढ़ाइयोंके साथ भारतवर्षके हितका क्या सम्बन्ध था, यह बताना कठिन है। इनमेंसे कुछपर तो भारतवर्षमें आनेसे पहिले ही कम्पनीने अपने व्यापारिक हेतुओंके लिये अपना अधिकार जमा रखा था। फिर यद्यपि संवत् १८६१ में ही सेंट हेलीना इंग्लैण्डकी सरकारके अधीन हो गया था, तो भी संवत् १९२३ तक उसके व्ययका भार भारतको ही वहन करना पड़ता था। यह रकम इंग्लैण्डमें भारत सरकारके निमित्त किये गये खर्च 'इंग्लिश चार्जेज'† (जिसे गलतीसे 'होम चार्जेज़' भी कहते हैं) में शामिल रहा करती थी।

संवत् १८९१ के बाद कम्पनी व्यापारिक संस्था नहीं रह गयी और इस समयतक यह ऋण ३ करोड़ ७० लाख पौण्ड (लगभग ३७ करोड़ रुपया) हो गया था। यह ३७ करोड़का कर्ज किस भांति भारतके सिर चढ़ा, यह जाननेके लिये हमको कम्पनीके आर्थिक इतिहासका कुछ विस्तृत अध्ययन करना पड़ेगा।

कम्पनीका प्राप्त मूलधन (६० लाख पौण्ड) ६ करोड़ रुपया था। केवल इतने रुपयेकी पूंजीसे कम्पनीने भारतवर्षमें व्यापारी और 'शासक' का काम आरम्भ किया था। 'कम्पनी राजाओंकी तरह व्यापार करती थी और व्यापारियोंकी तरह शासन करती

---

*Wingate, Our Financial Relations with India, p17

†यह रकम पेंशनके लिये दी जाती थी।

थी'*। कम्पनीकी इस दुहरी चालसे भारतको लाभ हुआ अथवा हानि, इस विषयमें दोनों प्रकारके परस्पर नितान्त भिन्न मत पाये जाते हैं। यहां इस प्रश्नको उठाना हमारा अभीष्ट नहीं है। इस संयुक्त कार्यमें इतना ही कहना काफी है कि अंग्रेजी सरकारकी निगाहमें कम्पनी और भारतवर्ष दो साझेदार थे और अंग्रेजी पार्लमेण्टने कम्पनीको एक एक्ट पास करके यह अधिकार दे दिया था कि वह व्यापारके द्वारा प्राप्त हुये लाभका ध्यान न रख कर और यदि आवश्यकता हो तो ऋण लेकर भी, अपने मूल धनपर १० प्रति सैकड़ाका लाभ बांट दें†।

यह तो स्पष्ट ही है कि दीवानी प्राप्त होनेके समय (संवत् १८२२)से कम्पनी अपना वाणिज्य-व्यवसाय केवल बंगालके राजस्वकी आयसे एवं भारत सरकारके नामसे ही चला सकती थी‡। संवत् १८७१ तक कम्पनीका शासनसम्बन्धी तथा व्यापार-सम्बन्धी हिसाब-किताब अलग अलग नहीं रखा जाता था, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि किस परिमाण तक कम्पनीने भारतकी आयका उपयोग अपनी सौदागरीके काममें किया होगा। उक्त वर्षमें 'चार्टर एक्ट' द्वारा भारतीय व्यापारमें कम्पनीका एकाधिकार तोड़ दिया गया, केवल चीनमें ही उसका यह स्वत्व रहने दिया गया। संवत १८७१ से कम्पनीने अपना ध्यान चीनके व्यापारिक एकाधिकारकी ओर तथा भारतीय व्यापारमें दूसरे व्यापारियोंकी प्रतिद्वन्द्विताकी ओर एवं अंग्रेज सरकारकी तरफसे भारतका शासन करनेकी ओर लगाना शुरू किया। इसी वर्षसे उसने अपने हिसाबमें दो खाते, शासन तथा राज्य सम्बन्धी—और व्यापार सम्बन्धी—कर दिये। परन्तु इन हिसाबोंको यदि मोटी तरहसे भी जांचा जावे तो प्रत्यक्ष हो जावेगा कि यह विभाग ठीक नहीं किया गया था। कितनी ही मदें ऐसी हैं जो शासन सम्बन्धी विभागमें डाल दी गयी हैं, असलमें उन्हें व्यापारके हिसाब-किताबमें जाना चाहिये था। यह उच्छृंखलता संवत् १८९१ तक बराबर चलती रही जब कि कम्पनीकी व्यापारिक सत्ता नष्ट करनेका और उसके अधिकारमें भारतके ब्रिटिश शासनाधिगत स्थानोंकी व्यवस्थाका दायित्व ही रहने देनेका निश्चय किया गया।

इस अवसरपर ऐसी कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं जिनको ऐतिहासिक विद्वान्

---

*Wealth of Nations, Prof Cannan's Edition Vol II p 136-140 and 304

†यहां यह संकेत संवत १८०५ के लिये है जब कम्पनीने भौम अधिकार भी प्राप्त कर लिये थे। जो लड़ाइयां संवत् १८०५ के पश्चात् हुईं, उनके जमानेमें यह प्रवाद है कि, कम्पनीकी मुनाफेकी आय उक्त १० प्रति सैकड़ा बांटनेके लिये यथेष्ट नहीं होती थी, अतः उक्त मुनाफा राजस्वकी आयसे अथवा उसकी साखपर लिये गये ऋणसे दिया जाता था।

‡ सन् १७८२ (संवत् १८३९) की हाउस-आव-कामन्सकी नवीं रिपोर्टका पृष्ठ २२

प्राय: भुला देते हैं* । इस समय भारतमें अंग्रेजोंकी शक्ति सर्वप्रधान बन चुकी थी । विस्तृत प्रदेशोंका शासन और करोड़ों मनुष्योंके जान-मालकी रक्षाका भार कम्पनीके हाथ था । अंग्रेजी सरकार जानती थी कि अनिश्चित कालतक इतनी अधिक शक्ति कम्पनीके हाथमें रहने देना बुद्धिमानीकी बात न होगी । परन्तु साथ ही अंग्रेजी सरकार यह भी समझती थी कि कम्पनी भारतमें स्थायी रूपसे इतनी अधिक पूंजी लगा चुकी है कि इस समय कोर्ट-आव-डाइरेक्टर्सके हाथसे शासन सूत्र ले लेना सुकर नहीं था, या कमसे कम न्यायोचित नहीं प्रतीत होता था । यह सब कोई जानता था कि कम्पनीके डाइरेक्टरोंको अपने वार्षिक मुनाफेकी अपेक्षा भारतमें ब्रिटिश कर्मचारियोंको नियुक्त करनेका अधिकार अधिक लाभकारी था† । इसी लिये तत्कालीन अंग्रेजी सरकारने यह निश्चय किया कि यद्यपि अभी और कुछ दिनोंतक भारतका शासनाधिकार कम्पनीके हाथमें ही रहने दिया जावे तो भी अधिक अच्छा शासन हो सकनेके लिये कुछ प्रतिबन्ध अवश्य उत्पन्न कर दिये जावें । इसी लिये उस समय सबसे प्रथम इन उपायोंका प्रयोग करना ठीक समझा गया— (१) कम्पनीका व्यापार रोक दिया जाय, (२) कोर्ट आव-डाइरेक्टर्स पर अंग्रेजी सरकारका नियंत्रण बढ़ाया जाय । इसी समय कम्पनीके हिसाब-किताबका प्रश्न उपस्थित हुआ । कम्पनीके डाइरेक्टर लोग दो बातें चाहते थे—अपने लिये तो भारतमें कर्मचारी नियुक्त करनेका अधिकार और कम्पनीके हिस्सेदारोंके लिये वार्षिक मुनाफा । जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, इस समय कम्पनीके हाथसे भारतमें नौकरी दिलानेका अधिकार छीननेका प्रश्न उपस्थित नहीं था तो भी आर्थिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें हमें यहांपर विचार करना है ।

विवादास्पद प्रश्न इस समयके कम्पनीके शासन-विभाग और व्यापार-विभागके मध्यमें समझा जाता था । जो लिखा पढ़ी हुई उसमें डाइरेक्टरोंने अपनी शक्तिभर कम्पनीके व्यापारिक हितोंको सम्मुख रखनेका यत्न किया था । शासन सम्बन्धी हिताहितकी बात अंग्रेजी सरकारकी ओरसे कही गयी थी । उस समय निश्चय इस प्रकार हुआ कि शासन-सम्बन्धी हिसाबका खाता आगेसे भारत सरकारके खातेके नामसे अलग रखा जावे । उधर कम्पनीके व्यापार सम्बन्धी हितोंकी रक्षाका प्रबन्ध डाइरेक्टरोंकी और कम्पनीके मालिकोंकी इच्छानुसार ही किया जाय परन्तु इसका व्यय भारत सरकारके खातेमें ही दर्ज किया जाय ।

विवाद उठानेका तरीका ग़लत था । इस अवसरपर भारतकी जनताके

---

* आगेका विवरण संवत् १८७३ के 'चार्टर पेपर्स' के आधारपर है जो कोर्ट-आव-डाइरेक्टर्स (कम्पनीके सञ्चालक मण्डल) की आज्ञानुसार छापे गये थे। इनमेंसे कुछ पत्र उस समय पार्लमेण्टके सम्मुख भी उपस्थित किये गये थे। शेष पत्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। लेखकको इन अप्रकाशित पत्रोंको भी देखनेका अवसर मिला था ।

†एडम स्मथ, वेल्थ आव नेशन्स, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २ ३

हानिलाभका विचार करने वाला या उसके सम्बन्धमें कहने सुनने वाला कोई भी नहीं था। कम्पनीके शासन-विभागके ऋणका भार—उस ऋणका जिसे कम्पनीने भारतमें अंग्रेजी अधिकारमें आये हुए स्थानोंको प्राप्त करनेके लिये अपने गले मढ़ा था— किसके ऊपर है, इस प्रश्नपर कुछ भी वाद-विवाद नहीं किया गया। यह प्रश्न उस समय उठाया ही नहीं गया। उस समय यह मान लिया गया कि यह ऋण राजस्व द्वारा प्राप्त आयके जिम्मे रखा जावे या दूसरे शब्दोंमें यह ऋण 'भारतका सार्वजनिक ऋण' समझा जावे। यह बात छिपी नहीं है कि उपनिवेशों और अन्य अन्य प्रदेशोंपर अधिकार जमानेके कारण इंग्लैण्डका सार्वजनिक ऋण अत्यधिक बढ़ गया है। अब अंग्रेज नागरिकको रक्षित राज्योंके अधिकृत करने एवं उनके रक्षण-व्ययका भार उठानेके निमित्त कर देना अखरने लगा है। परन्तु जिस समय भारतके सम्बन्धमें यही प्रश्न उठा था उस समय उसपर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया था।

संवत् १८९१ में 'चार्टर एक्ट' के सम्बन्धमें जो लम्बाचौड़ा और मनोरञ्जक पत्र-व्यवहार किया गया था उसमें केवल एक स्थानपर यह प्रश्न उठाया गया है। संवत् १८८९ के १ फाल्गुनको 'बोर्ड-आव-कंट्रोल' (नियंत्रक मण्डल) के तत्कालीन प्रधान दि राइट आनरेबिल चार्ल्स ग्राण्टने लिखा था—

"व्यापारिक लाभके लिये अधिगत प्रान्तकी आमदनीके खर्च किये जानेके कारण उत्पन्न जिस दायित्वका उल्लेख मैंने अभी किया है यदि उसे हम सचमुच ही व्यापार-विभागकी आमदनी मान लें तो कम्पनीकी मालियतके मूल्यपर उसके कारण बहुत गहरा प्रभाव पड़ेगा। यहां एक शंका और उत्पन्न होती है, जो कम्पनीको भी भली भांति मालूम है, कि क्या कम्पनीकी मालियतपर किसी और भी बहुत बड़े दायित्वका भार डाला जा सकता है?

"मेरा इशारा जिस प्रश्नकी ओर है वह यह है—क्या कानूनकी दृष्टिमें कम्पनीकी तमाम व्यापारिक सम्पत्तिपर उन सब ऋणों और लेनदनोंका दायित्व नहीं है जो कम्पनीके नामसे राजनीतिक आवश्यकताओंके कारण या भूमि-प्राप्तिके उद्देश्यसे लिये और किये गये हैं? और क्या राजनीतिक शक्ति छिन जानेपर भी कम्पनीका यह दायित्व न बना रहेगा?

"यह प्रश्न आगे चलकर कई उप-विभागोंमें विभक्त हो जाता है जिनकी गणना मैं यहां नहीं करना चाहता, परन्तु जिनके सम्बन्धमें मैं दृढ़ प्रमाणोंके आधारपर कह सकता हूं कि उनपर अत्यन्त गम्भीरतासे विचार होना चाहिये। यदि इन बातोंकी अवहेलना की गयी तो कम्पनीके कारोबारको दुरुस्त करनेके प्रयत्नमें बड़ा गोलमाल उत्पन्न हो जायगा। इन प्रश्नोंकी ओर ध्यान दिलानेमें स्वभावतः ही मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि जैसा कि ऊपर लिखा गया है, कम्पनीके लिये यह प्रश्न कोई नयी बात नहीं है।

"तो भी यह कहा जा सकता है कि मेरे विचारमें यह प्रश्न संभवतः उसी समय उठाया जायगा जब न्यायोचित अधिकारके आधारपर कम्पनीका पुनः संगठन

करनेकी आवश्यकता होगी। आगे चलकर मैं यह दिखाऊँगा कि पार्लमेण्टके सदस्योंको सम्राट्की सरकार द्वारा उपस्थित प्रस्तावके आधारपर कम्पनीका पुन: संगठन करनेमें न तो इस प्रश्नके और न इससे पहिलेके प्रश्नके ही कारण आपत्ति होनी चाहिये।

"सम्भवत: यह कहा जा सकता है कि केवल कानूनकी दृष्टिसे व्यापार और शासन विभागोंके परस्परके ऋण और मांगोंका चाहे जो मूल्य हो, पार्लमेण्टको अधिकार है कि वह इस जटिल और विवादपूर्ण मामलेका निपटारा 'न्याय और नीति' के व्यापक सिद्धान्तोंके आधारपर करे और उसे ऐसा ही करना भी चाहिये।

'सम्राट्के मन्त्रियोंका विश्वास है कि पार्लमेण्टको ऐसा करनेका अधिकार है और यही उसका कर्त्तव्य भी है, इसी कारण उन्हें भरोसा है कि हम जो प्रस्ताव करना चाहते हैं उसे पार्लमेण्ट स्वीकार कर लेगी।'"

यदि 'न्याय और नीतिके व्यापक सिद्धान्त' इन शब्दोंका कुछ अर्थ है तो यह स्पष्ट है कि यह ऋण या तो कम्पनीके मत्थे या इंग्लैण्ड वासियोंके ही जिम्मे पड़ना चाहिये था अथवा ये दोनों मिलकर ही इसे देते। परन्तु इस ऋणसे बच निकलना दोनोंहीके लिये उस समय सरल और सुखसाध्य था और जब अंग्रेजी पार्लमेण्टने जानबूझ कर इसे उसके सिरपर थाप दिया तो भारतके लिये यह असम्भव था कि वह इसे न उठाता।

इस प्रकार इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नको भुलाकर अब केवल कम्पनीके व्यापार सम्बन्धी हितोंकी रक्षाकी ही चर्चा छिड़ने लगी। इस मामलेमें स्वभावत: ही कम्पनीके दावे बड़े बड़े और जबर्दस्त थे। परन्तु उन दावोंकी वास्तविक परिस्थिति चार्ल्स ग्राण्टके पत्रमें इन शब्दोंमें समझायी गयी थी—"और अन्तमें मैं पूर्ण स्पष्टताके साथ कहे देता हूं कि उस सम्पत्तिमें कम्पनीका जो हित संयुक्त है उसमें अनेक शंकाएँ और जटिलताएँ हैं। इनसे छुटकारा पानेका केवल एक ही उपाय है कि सम्राट्के मंत्री जिस ढँगका उपाय बतलाना चाहते हैं उस ढँगका कोई उपाय स्वीकृत किया जाय"*।

ऐसी दशामें कम्पनीने सम्राट्के मन्त्रियों द्वारा बताये समझौतेके आधारपर ही संतोष किया और इस समझौतेके अन्तर्गत शर्तोंको स्वीकृत करानेमें व्यापार सम्बन्धी अधिकसे अधिक रियायत प्राप्त करनेका यत्न किया असल समझौतेमें सम्पत्तिके सम्बन्धकी धाराएँ ये थीं—

"कम्पनीकी व्यापारिक और भौमिक कुल सम्पत्ति तथा कम्पनीके सम्पूर्ण अधिकृत स्थान एवं उसके सब स्वत्व और अधिकार सम्राट्को, भारतकी शासक सरकारकी हैसियतसे, दे दिये जावें।

---

*चार्ल्सग्राण्टके उसी पत्रसे उद्धृत। उसी पत्रमें आगे यह भी लिखा है "जिस सम्पत्तिको कम्पनी व्यापारिक कहती है उसके सम्बन्धमें शंकाएँ हैं। उसका वास्तविक परिणाम क्या है और उसमें क्या क्या शामिल हैं, यह बताना कठिन है। उसपर ऋणका भार भी अधिक है।

"कम्पनीके मालिकोंको इंग्लेण्डमें छःमाही किस्तोंके रूपमें प्रतिवर्ष ६३ लाख रुपया (छः लाख तीस हजार पौंड) दिया जावे और इसका भार एकमात्र भारतकी भौमिक सम्पत्तिसे प्राप्त होने वाली आयपर डाला जावे तथा यह रकम भारतके राजकीय ऋणमें सम्मिलित समझी जावे जो संवत् 'x'* के १७ वैशाख पूर्व देय न होगा। और इस समय भी पार्लमेण्टकी इच्छानुसार उक्त वार्षिक धनके प्रत्येक ५२॥) रुपया (पांच पौंड पांच शिलिंग) के भागके लिये १०००) रुपया (१०० पौण्ड) दिया जावे।

"व्यापारीय सम्पत्तिका जो अंश रुपयोंके रूपमें परिवर्त्तित किया जा सकता है, उसे रुपयोंमें परिवर्त्तित कर लिया जावे और यह आय तथा वह रोकड़ जो व्यापारिक विभागके खातेमें १७ वैशाख संवत् १८६१ तकका हिसाब लगानेसे बाकी बचती हो वर्त्तमान राजकीय ऋणके उस भागको चुकानेमें लगायी जावे जो उस पूँजीके बराबर हो जिसकी वार्षिक आय ६३ लाख रुपया (छः लाख तीस हजार पौंड) हो सके।"

चार्ल्स ग्राण्टकी सम्मतिमें इस प्रकारके प्रबन्धसे मालिकोंका बहुत बड़ा भला हुआ था। उक्त लिखा-पढ़ीकी विस्तृत बातोंका उल्लेख न करके यहां उन धाराओंको उद्धृत कर देना ही पर्याप्त होगा जिनका सम्बन्ध आर्थिक प्रश्नोंके साथ है। इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जावेगा कि मालिकोंको आगे चलकर इससे और भी कितना लाभ हुआ।

(१) कम्पनीकी सम्पत्ति भारत सरकारकी हैसियतसे सम्राट्को दी गयी।

(२) कम्पनीके ऋण और दायित्वका भार भारतके सिर डाला गया, इसी मद्दमें व्यापार सम्बन्धी 'होम बाण्डडैट्' और 'राज्यका ऋण" भी सम्मिलित है।

(३) इंग्लैण्डकी कम्पनीकी पूंजीपर प्रतिवर्ष १०½ प्रति सैकड़ा ६३ लाख रुपया) दिया जावेगा। इंग्लैण्डको जो रुपया प्रतिवर्ष भारतकी राजकीय आयमेंसे भेजा जाता है उसमें सबसे पहिले यह रुपया देय होगा।

(४) संवत् १९३१ के बाद यदि पार्लमेण्ट चाहे तो पूंजीके हिस्सोंके प्रति एक हजार रुपयेके बदले दो हजार रुपये (अर्थात् कुल १२ करोड़ रुपये) एक साथ देकर मुनाफेसे छुटकारा करा लेगी।

(५) कम्पनीकी व्यापारिक सम्पत्तिमेंसे दो करोड़ रुपया निकालकर कम्पनीकी पूँजीके धनको निबटानेके लिये एक नया खाता रखा जावेगा। इस नये फण्डका प्रबन्ध इंग्लैण्डका राष्ट्रीय ऋण निबटानेवाले कमिश्नरोंके हाथमें रहेगा। यदि कम्पनीको किसी समय वार्षिक मुनाफा न मिल सके या वह समयपर न पहुंचे तो उक्त मुनाफेका रुपया इस फण्डमेंसे दिया जावे।

(६) कम्पनीके व्यापार-विभागके कर्मचारियोंको उचित मुआविजा दिया जावेगा।

अब हमें यह देखना है कि इस योजनाका भारत-वासियोंपर क्या प्रभाव पड़ा था। पहिले तो कम्पनीकी आयमेंसे दो करोड़ रुपया निकाल लिया गया। कम्पनीकी

*वर्षका निर्णय बादमें किया गया था।

आमदनी तथा पावना वसूल करनेका कार्य कई वर्षों तकके लिये रखा गया। इन कई वर्षोंमें और उनके पीछे भी कितनेही वर्षोंतक कम्पनीके व्यापार-विभागमें कर्मचारियोंको, जो कम्पनीकी सेवासे धीरे धीरे अलग किये गये मुआविजाके रूपमें देनेके निमित्त बड़ी बड़ी रकम पायी जाती हैं। शेष सम्पत्ति उस समयके कम्पनीके ऋण देनेके लिये लगायी गयी जिसमें उक्त होम बॉण्डडेट् और व्यापार-विभागके ऋणकी अन्य मद्दें भी सम्मिलित कर ली गयी थीं। इसमें पता लगता है कि संवत् १८६१ के बाद धीरे धीरे यह ऋण कोई सात करोड़ तकके परिमाणमें घट गया।

इसके विरुद्ध भारतवर्ष ४० वर्षतक ६३ लाख रुपया प्रतिवर्ष वार्षिक मुनाफेके नामसे देता रहा जबकि संवत् १६२९ में पार्लमेण्टने ईस्ट इण्डिया कम्पनीका स्टाकका रुपया अदा कर दिया। भारतके इस झूठे सार्वजनिक ऋणकी तादादमें सात करोड़ रुपये कम हो जानेसे भारतको ४ रुपये प्रति सैकड़ेके हिसाबसे २८ लाख रुपये वार्षिककी बचत हुई। किन्तु प्रतिवर्ष ६३ लाख रुपया देनेसे स्पष्ट ही यह अभिप्राय निकलता है कि भारतको जो २८ लाखकी बचत हुई उसकी अपेक्षा प्रति वर्ष ३५ लाख रुपया अधिक देना पड़ता था। यहां यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि यह ६३ लाखके वार्षिक मुनाफेकी रकम संवत् १८६१ तक कम्पनीके व्यापारसे होने वाले लाभपर पड़ती थी। संवत् १६३१ में ऋण चुकाने वाले फण्डमें १२ करोड़ रुपया नहीं हो सका जैसी कि पूर्वमें आशा की गयी थी। इस १२ करोड़की कमीको पूरा करनेके लिये भारतमंत्रीने भारतके जिम्मे ४॥ करोड़ रुपया और 'सार्वजनिक ऋण' के नामसे मढ़ दिया।

इस घटनावलीसे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि बहुत सी बातोंमें कम्पनी भारतके लिये एक असह्य और अन्याययुक्त भारमात्र थी और जब संवत् १८६१ में कम्पनीका अन्त किया गया तब उचित तो यही था कि भारतवर्षको उस बोझसे मुक्त करनेका प्रयत्न किया जाता, परन्तु उस अवसरमें लाभ न उठाया गया। संवत् १८६१ के समझौतेमें इस बोझको हटानेके निमित्त कोई परिवर्तन नहीं किया गया। उसने और उलटे उसे स्थायी रूपसे भारतके गले मढ़ दिया और कुछ अंशोंमें उसे बढ़ा भी दिया।

यद्यपि अल्प कालके लिये भारतसरकारका यह ऋण घट गया था, परन्तु संवत् १८६६ से यह फिर बढ़ने लगा। इस बार भी यह ऋण युद्धोंके कारण बढ़ा था जिनके द्वारा अंग्रेजोंको नये नये स्थान प्राप्त हुए। संवत् १६१३ में यह ऋण ४६ करोड़ रुपया हो गया था।

परन्तु इस अद्भुत वृत्तान्तके पीछे एक लेखा और भी है जिसका हमें विचार करना है। भारतवर्षके लिये इंग्लैण्डको कुछ खर्च अपने सिर उठाना तो अलग रहा, उलटे भारतवर्ष ही प्रतिवर्ष एक बड़ी रकम 'होम चार्जेस' के नामसे इंग्लैण्डको देता रहा है। संवत् १८६१ से १६१३ तक भारत सरकारने इस नाममें इंग्लैण्डको ७५ करोड़ रुपये दिये। भारतने इतनी बड़ी रकमके बदलेमें इंग्लैण्डसे, सेना सम्बन्धी तथा अन्य कुछ पदार्थोंके अतिरिक्त जिनका मूल्य १० करोड़ रुपयेके लगभग होगा, कुछ भी नहीं पाया।

भारत सरकारका ऋण

महाशय दत्तकी* सम्मतिमें यही धन जो भारतवर्षसे 'होम चार्जेज' के रूपमें खींचा गया भारत सरकारके ऋणका बीज है। उन्होंने सिद्ध किया है कि सिपाही-विद्रोह'से पूर्व भारतकी आय इतनी अधिक थी कि भारतवर्षकी तत्कालीन लड़ाइयोंमें मन-माना रुपया उड़ाने पर भी उसके कोषमें कुछ न कुछ बचत ही रहती "अतः यदि अंग्रजी राज्यके आरम्भके साथ साथ भारतवर्ष होम चार्जेजसे मुक्त कर दिया गया होता तो जब वह कम्पनीके हाथसे सम्राज्ञीके हाथमें आया उस समय उसके ऊपर कोई सार्वजनिक ऋण न होता, बल्कि उसके पास कुछ बचत ही रहती। भारतवर्षके ऊपर जो ऋण कम्पनीके एक शताब्दीके शासनमें हो गया था वह वास्तवमें भारतके ज़िम्मे उस व्ययके लगानेसे हुआ था जो इंग्लैण्डमें उठाया गया था और जो न्याय और समताके विचारसे भारतपर किसी प्रकार वाजिब नहीं था†।"

अधिक ठीक यह बात जान पड़ती है कि इन दोनों ही कारणोंसे भारत सरकार-के ऋणकी उत्पत्ति हुई है। अवश्य ही इस ऋणका श्रीगणेश उन लड़ाइयोंसे होता है जो दक्षिणमें अंग्रजों और फ्रांसीसियोंमें हुई थीं। ऊपर यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि आगे चलकर किस प्रकार यह ऋण दूसरी लड़ाइयों और ऐसे ही कारणोंसे बढ़ता रहा। यह भार 'होम चार्जेज'के कारण और भी बढ़ गया। यह कह सकना कठिन है कि किस कारणने इस व्ययको कितने अंशोंमें अधिक बढ़ाया। परन्तु यह स्पष्ट है कि युद्ध तो अब केवल ऐतिहासिक घटना मात्र ही रह गये परन्तु होम चार्जेज'का भार अब भी सहना पड़ता है। यह कहना अनुचित न होगा कि इस 'होम चार्जेज'का भी एक अंश युद्धोंके कारण उत्पन्न हुआ। यह इंग्लैण्डमें होनेवाला सैनिक-व्यय एवं लड़ाइयोंके निमित्त विलायतमें लिये गये ऋणका व्याज है।

यह अन्याययुक्त नीति, जिसका अनुसरण कम्पनी करती रही 'सिपाही-विद्रोह' के समय उच्चतम शिखरपर पहुंच चुकी थी। महाशय जॉन ब्राइटने कहा था 'मेरा विचार है कि सिपाही-विद्रोहके दमन करनेमें जो ४० करोड़ रुपया व्यय हुआ है उसे भारतवासियोंके सिर मढ़ना उनके ऊपर असह्य बोझ होगा। बलवा पार्लमेण्टके कुशासन और अंग्रेजोंकी दुर्नीतिका परिणाम था। यदि प्रत्येक मनुष्यके साथ न्याय किया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि ये ४० करोड़ रुपये इस देश (इंग्लैण्ड) की प्रजासे कर द्वारा वसूल होने चाहिये"

इस विषयमें सर जार्ज विनगेटका मत भी उद्धृत करना उचित है। आपने भारतवर्षमें रहकर कई वर्षोंका अनुभव प्राप्त किया था। आपने संवत् १६१६ में लिखा था, "यदि अंग्रेज जातिके लिये भारतके सम्बन्धमें सबसे अधिक आत्मत्याग करनेकी आवश्यकता थी तो वह अवसर उस समय था जब कि ब्रिटिश साम्राज्यका सबसे उज्ज्वल रत्न (भारत) उससे छिन जानेकी आशंकामें था, परन्तु इस नाजुक मौकेपर भी हमारी

*इकॉनॉमिक हिस्ट्री आव इण्डिया जिल्द २ पृष्ठ २२०

† ,, ,, ,, ,, पृष्ठ २१५

परम्परागत स्वार्थपरायणताने हमें अपनी नीति न बदलने दी। हमने अप्रतिम नीचताके साथ अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिये इस विपत्तिपूर्ण युद्धका व्यय पाई पाई भारतके ऋणग्रस्त अर्थ-विभागपर डाल दिया। यह यत्न तो निष्फल होगा ही परन्तु साथ ही जिस प्रेरणासे प्रेरित होकर हमने ऐसा कार्य किया है वह भी कम दूष्य नहीं है। कैसी विचित्र बात है कि जो जाति सामान्यतया खुले हाथसे अपने उपनिवेश और विदेशी राज्योंको आवश्यकताके समय धनसे सहायता देती रही है, वही असाधारण और दुर्ज्ञेय कृपणताके साथ अपने भारतवर्षके बड़े साम्राज्यको सहायता देनेसे उस समय हाथ खींच ले जब वह अत्यन्त विकट आर्थिक संकटोंमें फँस रहा हो।"

यह बड़ा भारी ऋण चाहे वह कम्पनीकी एशिया, यूरोप या आफ्रीका महाद्वीपमें लड़ी हुई लड़ाइयोंके कारण बढ़ा हो, चाहे 'होम चार्जेज' के नामसे दी जानेवाली वार्षिक रकमके कारण बढ़ा हो, अथवा संवत् १९१४ का सिपाही विद्रोह ही इसकी अपार वृद्धिका हेतु हो, संवत् १९१५ की नयी सरकारको उसी समय हस्तान्तरित किया गया था जब भारतवर्षका भाग्य-चक्र कम्पनीके हाथोंसे निकल कर सम्राज्ञीके हाथोंमें पहुंचा था। संवत् १९१५ में पुनः संवत् १८९१ की बात दोहरायी गयी। संवत् १९१५ में भारतकी सुव्यवस्था और सुशासनके लिये पास किये कानून गये* की ४२ वीं धारामें लिखा है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनीके मूलधनपरका मुनाफा, और तमाम तमस्सुक बौंड, डिबेञ्चर, और अन्य सब ग्रेट ब्रिटनके ऋण, तथा भौम विभागके सब प्रकारके ऋण तथा कम्पनीके और भी सब प्रकारके देय ऋण "भारतके राज्य-करकी आयसे दिये जावेंगे और दिये जाने योग्य हैं"।

यही भारत सरकारके ऋणकी उत्पत्तिका रहस्य है। जो ऐंग्लो इण्डियन लेखक यह कहते हैं कि भारत सरकारके वर्तमान ऋणका बहुत बड़ा अंश उस अंग्रेजी पुंजीके कारण है जो भारतकी औद्योगिक उन्नतिमें लगाया गया है वे इतिहासकी अवज्ञा करते हैं एवं गलत धारणा उत्पन्न करते हैं।

अनुवादक-जगन्नलाल गुप्त।

—:०:—

*Act for the Better Government of India, 1858, sec 42.

फ्रान्स और जर्मनी

स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृभाव' आजसे डेढ़सौ वर्ष पूर्व फ्रान्सकी यह विख्यात युद्ध ध्वनि थी। इसी समयके प्रसिद्ध नेता मिरेबोने लिखा था, कि फ्रान्सकी एकता, उसकी सभ्यता और स्वाधीनता-प्रेम देखकर सारा संसार मुग्ध हो रहा है, यह देश किसी दिन, सत्य, सन्तोष और न्यायमें अवश्य सारे यूरोपका पथ-प्रदर्शक बनेगा। परन्तु इस महानुभावकी यह पवित्र आशा व्यर्थ हुई। प्रबल प्रतापी नपोलियनके राजत्वकालमें ही इस स्वतंत्रताका अर्थ दूसरेकी स्वतंत्रता अपहरण करना ही समझा जाने लगा। परन्तु नपोलियनने अपना आतंक राजविप्लवके उच्च आदर्शोंकी ओटमें ही जमाया था इसलिये यद्यपि उसने उनके भावोंको नष्ट कर डाला परन्तु फिर भी उसने उनका बाह्य स्वरूप बहुत कुछ बनाये रखा। परन्तु प्रसिद्ध वाटरलूके रणक्षेत्रपर नपोलियनके साथ साथ इन भावोंका बचा-खुचा स्वरूप भी सदाके लिये अस्त हो गया। जर्मनीके प्रति फ्रान्सका व्यवहार देखकर सारे सभ्य संसारकी ऐसीही धारणा हो रही है। चार वर्षतक फ्रान्सकी भूमिपर तोप और बम्बके गोलोंका भीषण नाद होता रहा, सभी देशोंके निवासियोंने इसकी स्वतंत्रताके लिये अपना जीवन बलिदान किया। अन्तमें मित्र राष्ट्रोंकी पूर्ण विजय हुई और स विजयके मदमें फ्रान्स अपने आपको बिल्कुल भूल गया।

फ्रान्स और जर्मनीका परस्पर वैमनस्य बहुत प्राचीन है। इस छोटेसे लेखमें उसका ऐतिहासिक वर्णन असम्भव है। पर जिन भावोंसे प्रेरित होकर, फ्रान्स जर्मनीके प्रति, अपनी वर्तमान नीतिका संचालन कर रहा है, उनका जानना अत्यन्त आवश्यक है। विजयके बाद मनमाने हरजानेका लोभ दिखला कर, युद्धकालमें, फ्रान्सने अपनी मितव्ययी किसान-प्रजासे, खूब ऋण लिया था। परन्तु अब इसका चुकाना तो दूर रहा, बिना बेढब कर-वृद्धिके राष्ट्रीय आय-व्ययका संचालन तक कठिन हो रहा है। सूद दरसूदकी कौन कहे, पूंजीके भी लाले पड़ रहे हैं, और उसपर भी करवृद्धिका असह्य भार डाला जा रहा है, इससे सारी जनतामें क्षोभ उत्पन्न हो रहा है। इस दिवालेके भयसे भी बढ़कर शत्रुके पुनराक्रमणका भय है, जिसके कारण फ्रान्सको कभी भी चैन नहीं आता। उसको नीचा दिखलानेवाला बिस्मार्क कभीका मर चुका, उसकी वर्तमान दुर्गति करनेवाला कैसर, हालैण्डके एक दुर्गमें, अपनी सारी उमंगें, बुढ़ापेके व्याहमें निकाल रहा है, जबर्दस्ती फौजमें भरती करानेका कानून रद्द हो गया, अस्त्र शस्त्र छीन लिये गये, जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया गया, पर तब भी जर्मन सैनिकका भय अब भी फ्रान्सके हृदयको कंपा रहा है। फ्रान्स अपनी जनसंख्याको भूल नहीं सकता। डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जनसंख्या २ करोड़ ४० लाख थी, इतने वर्ष बाद भी यह संख्या ३ करोड़ ९० लाखसे अधिक न हो सकी, और इसमें भी

अब कमी हो रही है। इसके प्रतिकूल जर्मनीकी संख्या २ करोड़ ३० लाखसे ६ करोड़ ५० लाख, और ग्रेट ब्रिटेन की १ करोड़ ६ लाखसे ४ करोड़ २० लाख हो गयी। गत महायुद्धमें सबसे अधिक क्षति उठाकर फ्रांस अपनी निर्बलताका अनुभव कर रहा है, और आत्मरक्षाके उपायके लिये सदा चिन्तित रहता है।

इस चिन्ताको दूर करनेके लिये, सन्धिसम्मेलनके अवसरपर, तत्कालीन फ्रेंच प्रधान सचिव, और सम्मेलनके सभापति श्री क्लिमांशोने एक उपाय बतलाया था। यह उपाय राइन प्रदेशको फ्रांसके हाथ सौंप देना था। राइन नदीको अपनी पूर्वीय सीमा बनाना, फ्रांसका बड़ा पुराना उद्देश्य है, जिसकी प्राप्तिके लिये, उसने सदा मानव-रक्त बहाया है। इसी नदीके बायें तटपर साढ़े आठ लाखसे भी अधिक जर्मन बसे हुए हैं, जर्मन सभ्यताकी बालक्रीड़ाका यह मुख्य स्थान है। मित्र राष्ट्रोंको, अपना हित देखते हुए यह प्रस्ताव पसन्द न आया। परन्तु फ्रान्सके भयको किसी तरह शान्त करना था, इसलिये, इंग्लैण्ड और अमेरिकाने परस्पर एक सन्धि करके जर्मनीके विरुद्ध फ्रान्सको अभय दान देनेका विचार किया, साथ ही साथ राइनके वामतटवर्ती प्रान्तपर, पन्द्रह वर्षके लिये फ्रान्सका अधिकार भी स्वीकृत हुआ परन्तु जब यूरोपके झगड़ोंसे, अमेरिकाने अपना हाथ खींचना निश्चित किया, तो इंग्लैण्डसे सन्धिकी बातचीत भी जाती रही, और फ्रान्सको फिर पुरानी बेचैनी होने लगी!

मित्र राष्ट्रोंसे मनमाना सहारा न मिलनेके कारण, जर्मनीको सदा निर्बल बनाये रखनेमें ही, उसने अपना कल्याण समझा। फ्रेंच राजनीतिज्ञ आत्मरक्षाके लिये इस उपायको सुगम समझते हैं। उनका कहना है कि जर्मन एकता आधुनिक और बनावटी है। भिन्न भिन्न राज्यों और प्रान्तोंको एकताके सूत्रमें बांधनेवाला, कोई प्राचीन, परंपरागत राष्ट्रीय भाव नहीं है। बिस्मार्ककी चतुर नीति और प्रशियाकी सैनिक शक्तिके बलसे यह एकता अब तक स्थिर रही। पर अब तो न बिस्मार्क है, और न प्रशियाकी वह प्रबल शक्ति, इस लिये फूटका बीजारोपण सहजमें ही हो सकता है। बवेरिया और प्रशियाको आपसमें भिड़ा देना, राइन प्रदेशको एक दम पृथक् हो जानेके लिये उत्तेजित करना, फ्रान्स बायें हाथका खेल समझता है इस दृष्टिसे, हरजानेकी असफलतामें ही फ्रान्स अपना वास्तविक हित देखता है

परन्तु फ्रान्सकी इस नीतिमें, उसकी सबसे भारी भूल यह है कि अभी तक उसको जर्मनी वालोंके स्वभावका पूरा अनुभव नहीं हुआ है। सैकड़ों वर्ष पहिले, फ्रेंच नेताओंने जर्मन स्वभावका जो अनुमान किया था, वही अनुमान अब भी बना हुआ है। पर वास्तवमें तबसे जर्मन स्वभावमें, बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। निस्सन्देह आज जर्मनीकी दशा बड़ी शोचनीय हो रही है, जिसका मुख्य कारण उसके पूर्व शासकोंकी कुटिल और निरंकुश राजनीति थी। फ्रेडरिक, स्टीन, फिक्ते, और बिस्मार्ककी कौन कहे, आज साधारण दृष्टिसे भी, जर्मनीमें योग्य नेताओंका अभाव है। राजनीतिक

जीवन छिन्न भिन्न हो रहा है, भिन्न भिन्न दल परस्पर लड़ रहे हैं। आर्थिक क्षतिके कारण नैतिक जीवनमें भी उदासीनता है। यह सब होते हुए भी, जिसने जर्मन स्वभाव-का ध्यानसे अध्ययन किया है. वह कभी यह नहीं मान सकता कि जर्मन लोगोंकी स्वदेश-भक्ति बनावटी भाव है। बवेरिया या वेडन निजके व्यवहारमें भले ही बर्लिनको तिरस्कार-की दृष्टिसे देखते हों पर बाहरी शत्रु सम्मुख, वे पक्के जर्मन हैं। यदि फ्रान्सके विचारानुसार यह मान भी लिया जाय कि प्रान्तोंमें पृथक् होनेकी इच्छा बढ़ रही है, तब भी साम्राज्यका इतना शीघ्र छिन्न भिन्न होना सहज नहीं है, क्योंकि आर्थिक जीवन-का ऐसा जटिल जाल बिछा है, जिससे किसी प्रान्तका एकदम मुक्त होना असम्भव है। यदि फ्रांसको जर्मनीका गला घोंटनेमें सफलता भी हुई तो उसका परिणाम अराजकता अवश्य होगा, पर साथ ही साथ, इस अराजकतासे एकता भी ऐसी उत्पन्न होगी, जिसका सामना करना फ्रान्सके लिये असम्भव हो जायगा। इस सम्बन्धमें फ्रान्सको एक ही ऐतिहासिक घटनाका स्मरण कराना काफी है। नपोलियनके समयमें, जर्मनीमें ३६० राज्य थे। एकताका कोई भी बन्धन न था, राष्ट्रीयताका बिलकुल अभाव था, सभीमें स्वार्थकी धुन समायी थी। पर यह सब कुछ होते हुए, नपोलियनके अत्याचारसे ऐसी अग्नि प्रज्वलित हुई जिसमें स्वयं फ्रान्सको भस्म होना पड़ा। एकताकी शृंखलायें आपत्ति और अत्याचार-की अग्निमें तपकर ही बनती हैं।

आत्मरक्षाके अतिरिक्त फ्रान्सको अपनी आर्थिक उन्नतिकी भी चिन्ता हो रही है। युद्धकालमें उसकी मुख्य मुख्य कोयलेकी खानें बेकार पड़ी रहीं जिससे उसके उद्योग-धन्धोंकी बड़ी हानि हुई। परन्तु वर्सेल सन्धिसे इस हानिका उसे पूरा बदला भी मिल गया। १५ वर्ष तकके लिये उसको सार प्रान्तकी कोयलेकी खानोंपर अधिकार मिल गया। लोरेनकी लोहेकी खानें भी उसीके हाथमें आगयीं। इन खानोंके मिल जानेसे उसे कोयलेकी अधिक आवश्यकता होने लगी। इसी लिये उसकी दृष्टि रूर प्रान्त-पर पड़ी, जहां कोयला बहुतायतसे पाया जाता है। यदि वह चाहता तो इस सम्बन्धमें जर्मनीसे परामर्श करके, अपना और उसका, दोनोंका भला कर सकता था। पर यह मार्ग उसे पसन्द न आया, उसने जर्मनीका गला घोंट करके ही अपना भला करना चाहा।

संक्षेपमें इन्हीं भावोंसे प्रेरित होकर फ्रान्स जर्मनीके प्रति अपनी वर्तमान नीतिका अनुसरण कर रहा है। अब देखना यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायकी दृष्टिसे उसकी यह नीति कहां तक ठीक है। आजकल सारे यूरोपकी दुर्गतिका मूल कारण वर्सेलकी सन्धि है। परस्पर मतभेदको ढँकनेके लिये, इसमें सभी भावोंका समावेश किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि इससे कोई भी सन्तुष्ट नहीं है। सीधे साधे डाक्टर विल्सनके उच्च विचार, साम्राज्यवादी क्लिमांशोकी स्वदेशवृद्धिकी आकांक्षा, कुटिल नीतिनिपुण लायड जार्जके दांव पेंच, बेल्जियमकी हार्दिक संकीर्णता और जापानकी मनमानी लूट, सभी एकमें घुट पिटकर यह विषकी गांठ तैयार हुई है। निस्सन्देह इस सन्धिके ही कारण यूरोपकी गति आजकल सांप-छछूंदरकी सी हो रही है।

हरजानेका प्रश्न तय करते समय किसीको भी जर्मनीकी आर्थिक शक्तिका ध्यान न था, सभीको अपने देशमें वाह वाही लूटनेकी पड़ी थी। फल यह हुआ कि हरजानेकी तादाद इतनी भारी रखी गयी, कि जिसको अदा करनेके लिये जर्मनी सदा अयोग्य रहेगा। तत्पश्चात् जर्मनीपर, अदायगीमें टालमटूल करनेका दोषारोपण किया गया। यह दोष कितना निर्मूल है, इसका पता, जर्मनीके एक प्रतिनिधिने जो हिसाब प्रकाशित किया है, उससे लग सकता है। इस हिसाबके अनुसार गत जुलाई मासतक नकद और सामान मिलाकर जर्मनीने ५ अरब और ८४ करोड़ रुपया दिया। इसके अतिरिक्त जर्मनीमें पड़ी हुई मित्र राष्ट्रोंकी सेना और कमीशनोंके लिये, उसे ६० करोड़ रुपया खर्च करना पड़ा। विदेशियोंकी व्यक्तिगत आर्थिक क्षतिको पूरा करनेमें, ३४ करोड़ रुपया लगा*। इसमें यदि उससे जो सम्पत्ति और प्रदेश छीन लिये गये उनका मूल्य जोड़ दिया जाय, तो यह संख्या ७५ अरबके लगभग पहुंचेगी। तब भी कहा जाता है कि जर्मनी देनेमें टालमटूल कर रहा है। इतना देनेके बाद भी, अभी तक यह निश्चित नहीं हुआ है, कि हरजानेमें अभी उसको कितना और देना है। अभी गत पेरिस सम्मेलनमें ब्रिटिश प्रधान सचिव बोनर लाने कहा था कि केवल हरजानेकी मात्रा ३० अरब ५० करोड़ होनी चाहिये। फ्रांसको इतनेसे भी सन्तोष नहीं है। इतने भारी हरजानेके गोलमालमें, फ्रांसके अनुसार, उसको २५ लाख टन कोयला, २० हजार घनफुट शहतीर और १ लाख ३५ हजार तारके लट्ठे, ठीक समयपर न दे सकनेके कारण, जर्मनी घोर अपराधी है। इसके दण्ड स्वरूप उसने जर्मनीके रूर प्रान्तपर, जो कि उसके आर्थिक जीवनका आधार है, अधिकार जमा लिया। उस प्रान्तपर क्या क्या अत्याचार हो रहे हैं, इसका हाल समाचार-पत्रोंके पाठकोंको विदित ही है।

फ्रान्सकी इस नीतिका समर्थन वर्सेल सन्धिसे भी तो नहीं हो रहा है। जिस सन्धिपर बराबर डटे रहनेकी घोषणा फ्रान्स सदा किया करता है, उसी सन्धिकी १८ वीं धाराके अनुसार, यदि जर्मनी जान बूझ कर हरजाना देनेमें आनाकानी करे, तो उसे आर्थिक दण्ड दिये जा सकते हैं या मित्र राष्ट्रोंकी सम्मतिसे, समयानुसार अन्य उपाय काममें लाये जा सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है, कि सैनिक बलका प्रयोग नहीं हो सकता है, केवल आर्थिक दण्ड दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक या दो राष्ट्र मनमाने उपाय काममें नहीं ला सकते हैं, ऐसे समयपर सभी राष्ट्रोंकी सम्मति आवश्यक है। पर वर्सेल सन्धिके सबसे भारी समर्थक फ्रान्सको इस धाराका कुछ भी ध्यान नहीं है। रूर

*इस प्रकार गत मासके 'स्वार्थ' (पृष्ठ २६७) में दिये अंकोंके अनुसार दिसम्बर १९२२ तक जर्मनी कमसे कम साढ़े सात अरब रुपये दे चुका था। (उक्त पृष्ठकी दसवीं पंक्तिमें '४० करोड़ पौण्ड या ६०० करोड़ रुपये' पढ़िये)—१२ अप्रैल १९२२ के 'नेशन'ने पेरिसके 'ताँ' पत्रके आधारपर लिखा था कि सन् १९२१ के अन्त तक जर्मनी कुल मिलाकर ११॥ अरब सोनेके मार्क या लगभग ८॥ अरब रुपये मित्रोंको दे चुका था। सं. स्वा.

प्रान्तमें पूरा सैनिक अधिकार कर रखनेपर भी, उसका कहना है कि यह आर्थिक दण्ड मात्र है, और ब्रिटेन तथा अमरीका जो उसका साथ नहीं दे रहे हैं, वर्सेल सन्धिकी अवहेलना कर रहे हैं।

अब यहांपर अमरीका और इंग्लैण्डकी नीति भी देखनी है। अमरीकाके बिना मित्रराष्ट्रोंकी विजय असम्भव थी। शान्ति स्थापित करनेमें सन्धिकी सफलता, उसकी सहानुभूतिपर निर्भर थी। जबसे उसने हाथ खींच लिया, तबसे सन्धि भी निर्जीव हो गयी। जेनरल स्मट्स सरीखे राजनीतिज्ञोंका ऐसा ही अनुमान है। पर इसमें अमरीकाको दोष नहीं दिया जा सकता। वर्सेल सन्धिमें विल्सनके आदर्शोंकी दुर्दशा देखकर, इन झगड़ोंसे उसका अलग रहना ही ठीक था। युद्धसे क्लान्त होनेपर यूरोपीय शक्तियोंकी दृष्टि अमरीकापर पड़ी थी, परन्तु विजयके मदमें उसकी सहायताका कुछ ध्यान न रहा। अब धीरे धीरे फिर उसी ओर सबकी दृष्टि उठ रही है, और सभीका अनुमान हो रहा है, कि बिना उसके हस्तक्षेपके यह जटिल समस्या तय होनेकी नहीं है। पर यह बात इंग्लैण्डके विषयमें नहीं कही जा सकती। सन्धि-सम्मेलनके अवसरपर फ्रान्सके साथ, विल्सनको झुकानेमें, इंग्लैण्डने कोई कसर बाकी न रखी थी। उसके बाद भी वह फ्रान्सकी पीठ ठोकता रहा। दो वर्ष पूर्व जब फ्रान्सने ड्यूसलडार्फ, ड्यूसबर्ग, और रुहरोर्ट स्थानोंपर अपना अधिकार जमा लिया, तब लायड जार्जकी सरकारने चूँ तक नहीं किया। परन्तु जब जर्मनीके आर्थिक जीवनका प्रभाव ब्रिटिश व्यापारपर पड़ने लगा, तब अंग्रेज राजनीतिज्ञोंकी आंखें खुलीं। तभीसे लायड जार्जने भी फ्रान्सका समर्थन छोड़ा। परन्तु वर्सेल सन्धिके कारण इंग्लैण्ड फ्रांसके साथ इतना जकड़ा हुआ है, कि खुल्लमखुल्ला उससे विरोध करनेका साहस इंग्लैण्डको नहीं हो रहा है। इसीलिये वर्तमान ब्रिटिश सरकारने उदासीनताकी नीतिका अवलम्बन किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि सन्धिके बादसे पग पगपर इंग्लैण्ड खूब छक रहा है, पर इसमें दोष उसीका है। यदि प्रारम्भसे ही, वह लायड जार्जकी जादूगरीमें न पड़कर, निष्कपट रहा होता, तो आज उसकी और सारे यूरोपकी यह दशा न होती। वर्सेल सन्धिपर डटे रहकर भी यदि वह चाहे, तो फ्रान्सको उचित मार्गपर ला सकता है। सन्धिकी १३ वीं धाराके अनुसार राष्ट्र संघके सदस्योंमें, यदि किसी विषयपर मतभेद हो, जो परस्पर परामर्शसे दूर न होता हो, तो उसका निर्णय संघकी पंचायतसे हो सकता है। इन पंचायती विषयोंमें सन्धि सम्बन्धी मतभेद और उसकी व्याख्या भी है। परन्तु आश्चर्य तो यह है, कि जिस संघका डंका सारे संसारमें पीटा गया, उसपर उसके जन्मदाताओंका ही बिश्वास नहीं है। यदि इस विषयमें इंग्लैण्ड दृढ़तासे काम लेवे, तो फ्रान्सको अवश्य दबना पड़े, पर ब्रिटिश सरकारको तो फ्रान्सके व्यवहार अन्यायपूर्ण तक भी कहनेका साहस नहीं हो रहा है! इस उपायमें सफलता न होगी, बस इतना ही कह कर, ब्रिटिश प्रधान

सचिव बोनर ला सन्तोष कर रहे हैं। परन्तु जनतामें इस नीतिके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया है, जिसके आगे किसी दिन ब्रिटिश सरकारको अवश्य सिर झुकाना पड़ेगा।

इधर जर्मनीने दूसरी ही नीतिका सहारा लिया है। अस्त्र-शस्त्रोंकी असारताका पाठ अब उसकी समझमें आने लगा है। मोल्टके, बर्नहार्डी और कैसरके बताये हुए मार्गपर चलनेका परिणाम उसने देख लिया है। अब उसने सत्याग्रह और असहयोगके मार्गपर चलनेका दृढ़ निश्चय किया है। फ्रांसका अत्याचार असह्य होनेपर जर्मनीने अभी तक अपना हाथ नहीं उठाया है। वह चुपचाप सब कुछ सहन कर रहा है। जर्मन धनी व्यापारी, बड़े बड़े पदाधिकारी हँसी खुशी जेल जा रहे हैं। चारों ओर अद्भुत उत्साह दिखायी दे रहा है। फ्रेंच भाषाका शब्द भी बोलना पाप है, होटलोंमें फ्रान्स और बेलजियमके निवासियोंको आश्रय भी मिलना कठिन हो रहा है। धनी निर्धन, ऊँच नीच, सभीको स्वदेश-रक्षाकी धुन समायी है। एक बार नपोलियनके अत्याचारके दिन फिर याद आ रहे हैं। तब उसके सौभाग्यसे फिके और स्टीन सदृश नेता मौजूद थे, जिन्होंने अपने उच्च और पवित्र उपदेशोंसे, सारे देशके जीवन-प्रवाहको ही पलट दिया था। आज भी वे भाव लोप नहीं हुए हैं, इतने दिनके निरंकुश शासनके पश्चात् भी वे बने हुए हैं, और धीरे धीरे जागृत हो रहे हैं। निस्सन्देह, ऐसे समयमें एक सच्चे नेतासे उसे बड़ी सहायता मिली होती। किसी अमरीकन समाचारपत्रने* ठीक लिखा है, कि इस समय उसको जर्मन महात्मा गान्धीकी आवश्यकता है।

गङ्गाशंकर मिश्र

चिट्ठियांपर ग़लत पता लिखनेसे हानि।

अमेरिकामें गलत या अपर्याप्त पता लिखनेके कारण डाक विभागको प्रति वर्ष कोई ६४ लाख रुपयोंकी हानि होती है। हर साल बीस करोड़ ऐसी चिट्ठियां डाकखानोंमें छोड़ी जाती हैं जिनके पतेकी इबारत समझने, जांच करने तथा सुधारनेमें बहुत समय लग जाता है। पचहत्तर बड़े बड़े डाकखानोंमें ५८५ क्लार्क प्रति दिन आठ घण्टेके हिसाबसे सिर्फ इसी काममें लगे रहते हैं। गत वर्ष वहांके 'डेड लेटर आफिस' में १ करोड़ ६६ लाख चिट्ठियां पड़ी रह गयीं, क्योंकि उनके पानेवालेका पता न लग सका। यदि थोड़ी सी सावधानी एवं दत्तचित्ततासे काम लिया जाय तो इतना रुपया और परिश्रम व्यर्थ न जाय, साथ ही उत्सुकतापूर्वक चिट्ठीकी राह देखने वाले लाखों मनुष्योंको परेशानी, चिन्ता एवं निराशाका सामना न करना पड़े।

---

* न्यूयार्कका साप्ताहिक पत्र 'नेशन' (१७-१-१९२३)—स० स्वा०

कृषि, शिल्प और वाणिज्य ।

जापानका व्यापार ।

युद्धका आरम्भ होनेके बाद जापानने अपने व्यापारमें बड़ी उन्नति की है। संवत् १६७८में उसका निर्यात व्यापार युद्धकालके औसतसे भी बढ़ गया था और युद्धके पूर्वके पांच वर्षोंके औसतकी अपेक्षा तो वह तिगुना था। किन्तु इस व्यापार-वृद्धिका प्रधान कारण जापानके रेशमी वस्त्र ही हैं। इनके बिना जापानका व्यापार इतनी अधिक उन्नति न कर सकता।

किन्तु इधर हालमें जापानके व्यापारका जो विवरण प्रकाशित हुआ है उससे दूसरी ही बात प्रकट होती है। इस समय समस्त संसारमें जो व्यापारिक शिथिलता दृष्टिगोचर हो रही है वह जापानमें भी अपना प्रभाव दिखा रही है। 'जापानमें बाहरका माल तो धड़ाधड़ आ रहा है, किन्तु रेशमी वस्त्रोंको छोड़कर जापानकी अन्य वस्तुओंके निर्यातमें कोई उन्नति नहीं हो रही है। पदार्थोंकी कीमत चढ़ी हुई है और भविष्यके विषयमें शंकाका भाव फैला हुआ है।'

यद्यपि वस्तुओंकी क़ीमतें घटानेकी चेष्टा भी की जा रही है, तो भी वास्तवमें अभी तक उन्हें क़ायम रखनेका ही प्रयत्न विशेषरूपसे होता रहा है। उदाहरणार्थ कोयलेकी उत्पत्ति १७॥ फी सैकड़ा संकुचित कर दी गयी है। यदि कोयलेकी उत्पत्ति अधिकतासे की जाय तो उसका भाव गिर जाय और अनेक कारखानोंको लाभ भी बहुत हो। यही हाल ताम्बेकी उत्पत्तिका भी है। ताम्बेकी खानियोंके मालिक ताम्बेकी उत्पत्तिकी मात्रा नहीं बढ़ाना चाहते, क्योंकि ऐसा करनेसे उसकी कीमत घटने लगेगी। किन्तु साथ ही उन्हें प्रतियोगिताका भी ख़याल करना है। अतः वे बड़े असमंजसमें पड़े हैं। अभी उन्हें इस उद्योगसे अच्छा लाभ होता है, क्योंकि निर्यात व्यापारकी दृष्टिसे रेशमी कपड़ों तथा रूईके सूत इत्यादिके बाद ताम्बेका ही स्थान है। जापानमें ताम्बेकी उत्पत्ति भी अच्छी होती है। यदि उत्पादन-व्ययमें कमी कर या उत्पत्तिकी मात्रा बढ़ाकर ताम्बेका मूल्य न घटाया गया तो इस उद्योगको भी क्षति पहुंचनेकी संभावना है।

व्यापारिक शिथिलताका एक परिणाम यह हुआ है कि जापान-निवासियोंकी क्रयशक्ति घट गयी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यद्यपि पिछले कई वर्षोंमें सेविंग्ज़ बैंकमें जमा की हुई सार्वजनिक सम्पत्तिकी मात्रा प्रायः प्रति मास ही बढ़ा करती थी, तो भी गत वर्ष वह बहुत घट गयी। संवत १६७८ के आश्विन-कार्तिकमें जापानियोंके कोई १३६ करोड़ रुपये बैंकोंमें जमा थे, किन्तु संवत् १६७६ के आरंभमें इसमें कोई दो करोड़की कमी हो गयी। यह सत्य है कि केवल इतने ही थोड़े समयके अनुभवसे कोई बात निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती, फिर भी इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस समय जापानकी क्रयशक्ति घट गयी है और इसका प्रधान कारण व्यापारकी मन्दी ही है।

बिहारमें हाथका बुना कपड़ा।

बिहार तथा उड़ीसा प्रान्तके उद्योग विभागने संवत् १९७८ का जो विवरण प्रकाशित किया है उससे प्रकट होता है कि गत वर्ष यहां एक लाख साठ हजार करघे चलते थे। इनमें पांच लाखसे ज्यादा मनुष्य लगे हुए थे। ये लोग प्रति वर्ष पांच करोड़से अधिक- के सूती वस्त्र तैयार करते हैं। साथ ही रेशमी वस्त्र तथा ऊनी कम्मल इत्यादि भी यहां बनाये जाते हैं। यदि चरखों द्वारा सूत भी अपने ही यहां तैयार करनेका विशेष प्रयत्न किया जाय तो वस्त्र तैयार करनेके उद्योगमें बहुत-कुछ उन्नति हो सकती है। उक्त विवरणमें दिये हुए अंकोंसे प्रकट होता है कि संवत् १९७८ में बिहारके जुलाहोंने बाहरसे रेल या जलमार्ग द्वारा आये हुए कोई एक लाख सेर सूतका प्रयोग किया। अतः यह स्पष्ट ही है कि घरमें ही सूत तैयार करनेसे विशेष लाभकी संभावना है।

—:०:—

अमेरिकामें मोटरोंकी उत्पत्ति।

संसारमें सबसे अधिक मोटरें संयुक्त राज्य अमेरिकामें तैयार होती हैं। जितनी शीघ्रतासे और जिस प्रचुर परिमाणमें उनकी उत्पत्ति बढ़ रही है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। गत दस वर्षोंके भीतर कोई एक दर्जन अवसरोंपर अनेक विशेषज्ञोंने यह मत प्रकट किया था कि मोटर गाड़ियोंकी खपत चरम-सीमा तक पहुँच चुकी है, अतः अब उनकी उत्पत्ति न बढ़ेगी। अनुभवने उनके इस कथनको मिथ्या प्रमाणित कर दिया है। संसारमें मोटरोंकी मांग बराबर बढ़ती ही जा रही है। किसी भी देशको अभी तक मोटरोंका अजीर्ण हुआ है या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। संवत् १९७८ के अन्तमें कई लोगोंका यह अनुमान था कि वर्त्तमान वर्ष (१९७९) में बहुत कम मोटर गाड़ियां तैयार की जायँगी। उनकी रायमें तो मोटरोंके कई कारखानोंके बन्द तक हो जानेकी संभावना थी, किन्तु वास्तवमें मार्चके 'अमेरिकन रिव्यू आफ रिव्यूज' में प्रकाशित संवत् १९७९ के अंकोंसे प्रकट होता है कि इस वर्षमें तैयार की गयी मोटरोंकी संख्या संवत् १९७७ की भी अपेक्षा बढ़ गयी है। इस वर्ष २२ लाख ८७ हजार गाड़ियां तैयार हुई। संवत् १९७७ में १८ लाख ८३ हजार ही मोटरें बनी थीं।

समस्त संसारमें इस समय जितनी मोटर गाड़ियां हैं उनमेंसे सैकड़े पीछे ९० अकेले संयुक्त राज्य अमेरिकामें ही हैं। वहां इस समय १ करोड़ १५ लाख मोटरें हैं— इनमेंसे १ करोड़ २॥ लाख मनुष्योंके बैठनेकी गाड़ियां हैं, शेष सामान इत्यादि लादनेके काममें आती हैं। अमेरिकामें १० करोड़ ५७ लाख मनुष्य रहते हैं। इस हिसाबसे वहां प्रति दस मनुष्योंके पीछे एक मोटर गाड़ीका औसत पड़ता है। अमेरिकाके १ लाख १० हजार डाक्टर मोटरोंका प्रयोग करते हैं। वहांके कृषकोंके पास कोई ३३ लाख सवारीकी तथा २ लाख माल लादनेकी मोटर गाड़ियां अपनी निजकी हैं। एक महाशय-

का अनुमान है कि संवत् १९८० में १८ लाख मोटरें सिर्फ पुरानी मोटरोंके स्थानमें नयी मोटरें प्रस्तुत करनेके लिये ही आवश्यक होंगी।

विदेशोंमें भी अमेरिकाकी मोटरोंकी खपत बढ़ रही है। जापान, चीन और भारतमें उनकी विशेष मांग है। जापानमें बहुसंख्यक मोटर साइकिलोंके अतिरिक्त अमेरिकाकी १० हजार मोटरें इस समय भी प्रयुक्त हो रही हैं। अमेरिकाकी मोटरोंके अधिक प्रचारका प्रधान कारण उनका अपेक्षाकृत सस्ता होना ही है। अधिक संख्यामें तैयार करनेके कारण अमेरिकाके कारखाने इंग्लैण्ड इत्यादिके प्रतिस्पर्द्धियोंकी तुलनामें अपनी मोटरें बहुत सस्ते मूल्यमें दे सकते हैं। यही कारण है कि संसारके बाजारोंमें अमेरिकाके मोटर-व्यवसायियोंके सामने अन्य देशवाले टक्कर नहीं ले सकते। बाहरसे आने वाली मोटर गाड़ियोंपर २० प्रति शतके स्थानमें ३० प्रति शत कर लगनेपर भी संवत् १९७६ के दस महीनोंमें कुल ३६५८ मोटरें भारतमें आयीं। संवत् १९७८ में २८९५ ही आयी थीं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आयातकरकी वृद्धिके कारण मोटरके व्यवसायपर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। हां, इस वर्ष ब्रिटिश संयुक्त राज्यकी मोटरोंका आयात अवश्य कम हो गया है। गत वर्ष आयी हुई मोटरोंमेंसे सैकड़े पीछे ७४ इंग्लैण्डसे आयी थीं, इस वर्ष सिर्फ १० फी सैकड़े ही आयीं, किन्तु इसका वास्तविक कारण कर-वृद्धि न होकर ब्रिटिश मोटरोंका अधिक महँगा होना ही समझना चाहिये।

—:०:—

चीनीका सबसे बड़ा कारखाना।

संसारमें चीनीका सबसे बड़ा कारखाना संभवतः क्यूबा द्वीपमें है। वहांके प्रधान कारखानेमें १॥ लाख टन (कोई ४० लाख मन) चीनी तैयार होती है। इसकी तुलना भारतके कारखानोंसे कीजिये। कहनेके लिये तो यहां संवत् १९७८ में वर्तमान पद्धतिसे चीनी तैयार करनेके अठारह कारखाने थे। किन्तु इनके द्वारा तैयार की गयी चीनीकी संयुक्त मात्रा ७,५३, ६३० मन ही थी अर्थात् क्यूबाका सिर्फ एक कारखाना जितनी चीनी तैयार करता है, भारतके समस्त कारखाने मिलकर उसका पांचवां भाग भी तैयार नहीं कर सकते।

संभव है क्यूबाके कृषक ऊखकी खेती करनेमें भारतीयोंकी अपेक्षा विशेष निपुण हों, किन्तु क्यूबामें चीनीकी उत्पत्ति अपेक्षाकृत अधिक होनेका असली कारण यह नहीं प्रतीत होता। इसका वास्तविक कारण क्यूबामें ऊखका प्रचुर मात्रामें उत्पन्न होना ही है। वहांके कारखानोंको ऊखकी आवश्यक मात्रा निर्विघ्नरूपसे प्राप्त हो जाती है। भारतमें यह बात नहीं है। एक तो यहां ऊखकी उत्पत्ति प्रचुर मात्रामें नहीं होती, दूसरे यहांकी ईख प्रायः अधिक मोटी और प्रचुर-रसयुक्त भी नहीं होती। साथही इसका अधिक भाग मामूली गुड़ इत्यादि तैयार करनेमें ही खर्च हो जाता है, अतः यहांके कारखानोंको ईखकी पर्याप्त राशि प्राप्त करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। [बंगला 'कृषक'से संकलित]

तेलहन और खलीकी रफ्तनी।

कृषिकी दृष्टिसे तेलहन और खलीके निर्यातका प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पशुओंको खिलानेके लिये तथा खाद द्वारा भूमिकी उर्वराशक्ति बढ़ानेके लिये इनका प्रयोग विशेष लाभकारी होता है। ऐसी अवस्थामें यह स्पष्ट ही है कि भारतके समान कृषि-प्रधान देशको इन पदार्थोंकी विशेष आवश्यकता है। अतः देशमें उत्पन्न होनेवाले तेल-हनोंका और साथ ही खलीका भी अत्यधिक मात्रामें बाहर जाना यहांकी कृषि एवं तज्जन्य सम्पत्तिके लिये बहुत हानिकारी है। संवत् १९७६ में भारतसे कोई १६५ लाख हण्ड्रेडवेट (लगभग २२८ लाख मन) तेलहन बाहर भेजे गये थे। यदि एक मन तेलहनसे लगभग एक-तिहाई तेलका निकलना मान लें तो शेष दो-तिहाई खली समझ लीजिये। इस हिसाबसे संवत् १९७६ में बाहर भेजे गये तेलहनोंसे कोई डेढ़ सौ लाख मन खली तैयार होती। इसके अतिरिक्त उस वर्ष कोई ४१ लाख मनसे अधिक खली भी यहांसे बाहर भेजी गयी। इस प्रकार कुल १९० लाख या लगभग दो करोड़ मन खली देशके बाहर चली गयी। यदि देशकी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके पश्चात् जो खली या तेलहन इत्यादि बच जावें वे ही बाहर जायँ तो यह वाञ्छनीय ही होगा, किन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। लोग नकद रुपयोंके प्रलोभनमें आकर अपना स्थायी लाभ नहीं देखते और इन उपयोगी वस्तु-ओंको निरुपयोगी वस्तुओंकी तरह अन्य देशोंके हाथ बेच देते हैं।

यदि तेलहनों तथा खलीकी इतनी राशि देशमें ही रहती तो इसमें सन्देह नहीं कि उससे यहांके कृषकोंका विशेष लाभ होता। प्रति दिन दो सेरके हिसाबसे १९० लाख मन खली लगभग १० लाख पशुओंके निमित्त सालभरके लिये काफी होगी। खली मिलनेसे दूध देनेवाले पशु दूध अधिक देने लगेंगे। अन्य पशुओंको भी लाभ होगा। वे अधिक भूमि जोतने तथा अन्य काम करनेमें समर्थ हो सकेंगे। उसी प्रकार यदि खादके रूपमें प्रयुक्त होनेके लिये इतनी खली यहीं रह जाया करे तो कृषिकी उत्पत्ति भी शीघ्र ही बढ़ जाय। अतः अधिक मात्रामें तेलहनों तथा खलीका बाहर भेजा जाना देशके लिये अनर्थकारी है। इस आर्थिक हानिसे देशकी रक्षा करनेके निमित्त इनकी रफ्तनी-का बन्द होना, अथवा विशेषरूपसे घट जाना परमावश्यक है।

सामयिक संग्रह।

जर्मनीमें छपाईका खर्च।

यद्यपि जर्मनीके सिक्के मार्कका मूल्य गिर जानेके कारण वहांकी वस्तुओंकी कीमत तथा मजूरीका निर्ख बहुत बढ़ गया है तो भी जो लोग विदेशी सिक्कों द्वारा मूल्य चुका सकें उनके लिये जर्मनीमें पुस्तक इत्यादि छपानेका कार्य अन्य देशोंकी अपेक्षा बहुत सस्ता पडता है। अमेरिका तथा ब्रिटेनके प्रकाशक इस परिस्थितिसे लाभ उठा रहे हैं।

यदि इंग्लैण्ड या भारतका कोई प्रकाशक रायल अठपेजी आकारके २५० पृष्ठोंकी कोई पुस्तक जर्मनीमें छपवाना चाहे तो वर्त्तमान हिसाबसे कागज तथा छपाईका कुल व्यय अधिकसे अधिक तीस लाख मार्क पड़ेगा।

इंग्लैण्ड या जर्मनीमें प्रकाशित होनेके लिये जर्मनीके मुद्रकोंको छपी हुई पुस्तकोंकी समस्त प्रतियां जर्मनीके बाहर भेजनी होंगी। छपाईका खर्च दुगुना लगानेपर ही सरकार छपी हुई प्रतियां बाहर भेजनेकी अनुमति देती है। अनुमति प्राप्त करनेके लिये एक प्रति शतके हिसाबसे खर्च पड़ता है। फिर यदि पुस्तककी पूरी जिल्द बांधी जाय या केवल कागजकी ही जिल्द रखी जाय तो ४ प्रति शतका निर्यातकर लगता है। यदि पुस्तकके छपे हुए फार्म यों ही भेजे जायं—जिल्द न बांधी जाय—तो छः प्रतिशत कर लगता है। इस प्रकार एक हजार प्रतियां छपवानेका समस्त व्यय यह होगा—छपाईके लिये ६० लाख मार्क, बाहर भेजनेकी अनुमतिके लिये ६० हजार मार्क, निर्यातकर २ लाख ४० हजार मार्क अर्थात् कोई ६३ लाख मार्क खर्च होंगे।

यह हिसाब उस समयका है जिस समय एक पौण्ड (लगभग १५ रुपयों) में ५० हजार मार्क मिलते थे। अतः छपाई इत्यादिका व्यय १२६ पौण्डसे अधिक नहीं पड़ता। यदि इसमें जहाजके किराये तथा बीमेका खर्च भी शामिल कर लें तो कोई १३६ पौण्ड होते हैं। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिकाकी अपेक्षा यहां आधा या दो-तिहाई व्यय ही पड़ता है। भारतकी दृष्टिसे भी यह खर्च ज्यादा नहीं है। फिर छपाई कितनी बढ़िया होती है, भारतीय प्रकाशक इसका अनुमान भी नहीं कर सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि मार्कका मूल्य और भी अधिक गिर जानेपर छपाई इत्यादिका दर भी चढ़ जावेगी, पर जो लोग डालर, पौण्ड या रुपयोंके रूपमें दाम देंगे वे देखेंगे कि दर चढ़ जानेसे उन्हें नाममात्रके लिये ही कुछ रकम और देनी होगी, क्योंकि जिस समय जर्मन सिक्कोंमें छपाईका खर्च ज्यादा पड़ने लगेगा उस समय पौण्ड, तथा रुपया इत्यादि विदेशी सिक्कोंके बदलेमें मार्क भी तो ज्यादा मिलने लगेंगे।

भारतके जो पुस्तक-प्रकाशक जर्मनीमें कुछ काम करवाना चाहते हों उन्हें मार्क खरीदनेकी भूल न करनी चाहिये। जर्मनीकी मुद्रा उसी समय खरीदनी चाहिये जिस समय दाम चुकता करने हों। इस उद्देश्यसे जर्मनी या इंग्लैण्डके किसी बैंकमें खर्चका अन्दाजा लगाकर कुछ पौण्ड जमा कर देना चाहिये और अपने एजण्ट या प्रतिनिधिको यह अधिकार दे देना चाहिये कि वह अनुकूल समयपर पौण्डोंके बदले मार्क खरीद ले।

[बर्लिनके 'कामर्शल न्यूज'से]

* *

अमेरिकाके प्रति ब्रिटेनका ऋण।

गत यूरोपीय युद्धके दिनोंमें ब्रिटेन तथा यूरोपके अन्य राष्ट्रोंने अमेरिकासे जो ऋण लिया था उसकी तायदाद इतनी अधिक है कि मूल ऋणकी बात जाने दीजिये, केवल ब्याज ही देते जाना उनके लिये प्रायः असंभव है। ऋण लेनेवाले राष्ट्रोंमें सिर्फ ब्रिटेन ही ऐसा है जो अपना ऋण चुकानेमें समर्थ कहा सकता है। इस समय

अमेरिकाके प्रति ब्रिटेनके ऋणकी तायदाद कोई ४॥ अरब डालर (लगभग १४ अरब रुपये) है। अभी तक यह ऐसे कागजोंके रूपमें है जिनका मूल्य आवश्यकता पड़ते ही दिया जाना चाहिये। युद्धके दिनोंमें ब्रिटेनको अमेरिकासे बारूद तथा अन्य वस्तुएं खरीदनी पड़ी थीं। हमारी (अमेरिकाकी) सरकार ४॥ फी सैकड़े ब्याजवाले कागज निकालकर स्वयं ही यहांके व्यापारियोंसे आवश्यक वस्तुएं खरीदती थी और उन्हें दर्शनी हुंडियोंके बदलेमें ब्रिटेनको दे देती थी। युद्धमें हमारे देश (अमेरिका) के शामिल होनेके बाद इंग्लैण्डके लिये कोई ७ अरब डालरकी वस्तुएं यहां खरीदी गयीं। इंग्लैण्डने ३ अरब डालर तो अदा कर दिये, शेष ४ अरबकी चीजें उस समय उसकी साखपर यों ही उधार दी गयीं। यह तो स्पष्ट ही है कि ब्रिटेन, या कोई भी राष्ट्र, इतनी बड़ी रकम मांगके समय तुरन्त अदा नहीं कर सकता। ऐसी

अवस्थामें उद्धार पानेका एक ही उपाय है। ऋण चुकानेकी ऐसी स्थायी व्यवस्था कर दी जाय जिससे वह कुछ वर्षोंमें उचित व्याज सहित अदा हो जाय। इसी उद्देश्यसे गत वर्ष कांग्रेस (अमरीकाकी राष्ट्रीय सभा) ने इस सम्बन्धमें एक कमीशन नियुक्त किया था।

कांग्रेसने इस कमीशनको दो बातोंकी हिदायत पहिले ही कर दी थी। पहिली तो यह कि ऋण चुकानेकी अवधि २५ वर्षोंसे अधिक न रखी जाय, और दूसरी यह कि व्याजकी दर फी सैकड़े ४½ से कम न हो क्योंकि उक्त ऋणपर अमेरिकाकी सरकार अपने महाजनोंको इतना व्याज स्वयं ही दे रही है। इतना होते हुए भी कमीशनने यह राय दी कि ऋणकी अवधि ६२ वर्ष रखी जाय और व्याजकी दर पहिले दस वर्षोंके लिये ३ फी सैकड़ा और बादके लिये ३॥ फी सैकड़ा रखी जाय। इसकी आलोचना करते हुए न्यूयार्कके प्रधान न्यायालयके न्यायपति श्री कोहालनने अपने एक भाषणमें यह कहा था—

यदि ये शर्तें कांग्रेस मान ले तो अमेरिकाके करदाताओंपर प्रतिवर्ष दो करोड़ पौण्ड (३० करोड़ रुपयोंका) कर-भार पड़ेगा। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इनके कारण अमेरिकाके प्रत्येक पुरुष, स्त्री तथा बालकपर ऋणपत्रोंकी सारी अवधि भर एक डालर वार्षिक कर लगाना आवश्यक होगा। इस प्रकार अमेरिकावालोंपर प्रतिवर्ष कुल दस करोड़ डालर (कोई ३२ करोड़ रुपये) का करभार पड़ेगा और इंग्लैण्ड वाले इतने ही करभारसे बच जायंगे। साठ वर्षोंमें इसकी मात्रा ब्रिटेनद्वारा हमसे लिये गये ऋणसे भी अधिक बढ़ जावेगी।......जो ऋण आजसे बहुत पहिले ही चुकता हो जाना चाहिये था वह अब दो पुश्तोंमें चुकाया जायगा। इस प्रकार संसारके प्रत्येक भागसे धन चूसनेमें इंग्लैण्ड और भी अधिक समर्थ हो सकेगा। हमें जिन करोंका भार उठाना पड़ेगा उनका प्रत्यक्ष परिणाम यह होगा कि हमारे आर्थिक प्रतिद्वन्द्वी इंग्लैण्डकी शक्ति बढ़ जायगी। यह देश गत तीन सौ वर्षोंसे छल-बल द्वारा उन सब देशोंको नष्ट या परास्त करता रहा है जिन्होंने इसके साथ प्रतियोगिता करनेका साहस किया था।...यदि इंग्लैण्ड यह ऋण नक़द मुद्राके रूपमें अदा नहीं कर सकता तो वह हमें पश्चिमी द्वीपपुंजके कुछ द्वीप क्यों नहीं दे देता? उनसे उसका इसके सिवाय और कोई लाभ नहीं कि युद्ध छिड़नेपर वह अमेरिकाके विरुद्ध उनका प्रयोग कर सके।

आप यह माननेके लिये तैयार नहीं हैं कि अमेरिका और इंग्लैण्डमें युद्धकी संभावना नहीं है। दोनों देशोंमें एक ही भाषा बोली जाती है, अतः दोनोंमें शत्रुता उत्पन्न न होगी, यह भी वे स्वीकार नहीं करते।

यदि यह कहा जाय कि इस समय हम अधिक धनवान् और

प्रभावशाली हैं तो उसका जवाब यह है कि किसी समय वे राष्ट्र भी तो ऐसे ही शक्ति-सम्पन्न थे जिन्हें उन कारणोंने विध्वस्त कर दिया जो इस समय हमें भी भयभीत कर रहे हैं।

इस प्रकार कुछ लोगोंने कमीशनके निर्णयका विरोध किया था। फिर भी कांग्रेसने उसे मंजूर कर लिया। न्यूयार्कके 'लिटररी डाइजेस्ट' ने इस सम्बन्धमें जिन भिन्न भिन्न पत्रोंका मत प्रकाशित किया है, उससे प्रकट होता है कि अमेरिका-वासी भी इस निश्चयसे सहमत हैं। इंग्लैण्डके समाचारपत्रोंने भी अपना सन्तोष प्रकाशित किया है। 'एकानामिस्ट' के शब्दोंमें "अमेरिका पहिले दस वर्षोंमें तीन फी सेकड़े, फिर ३॥ फी सेकड़े व्याज स्वीकार कर हमारे ऊपर उस खर्चसे भी कम खर्चका भार डाल रहा है जो उसे स्वयं उठाना पड़ा था। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिका खयाल कर ही वह इतना घाटा सहनेको तैयार है"।

['अमेरिकन रिव्यू आफ रिव्यूज़' तथा मद्रासके 'स्वराज'से]

* *

समष्टिवाद और प्रतियोगिता।

फरवरी मासके 'सोशलिस्ट' में समष्टिवादके विरुद्ध किये गये कई आक्षेपोंका संक्षिप्त उत्तर दिया गया है। कुछ लोगोंका कहना है कि समष्टिवादमें प्रतियोगिताका विनाश हो जायगा।

यह सत्य है कि प्रतियोगिताके कुछ प्रकारोंका विनाश करना समष्टिवादका अभीष्ट है। किन्तु प्रतियोगिताके भिन्न भिन्न प्रकारोंमें भेद करना आवश्यक है। जहां एक प्रकारकी प्रतियोगिता अच्छी होती है, वहां दूसरे प्रकारकी प्रतियोगिता बुरी भी होती है।

एक दिनकी मजूरी कमानेके लिये परस्पर झगड़ते हुए श्रमियोंके समूहकी प्रतियोगिता अमानवोचित है। किन्तु किसी वस्तुको अधिक सुन्दर बनानेके प्रयत्नमें जो प्रतियोगिता दृष्टिगोचर होती है वह लाभ प्रद ही होती है।

समष्टिवादसे जिस प्रतियोगिताका विनाश होगा वह ऐसी प्रतियोगिता है जिसकी सहायतासे कोई व्यापारी अपने प्रतिस्पर्द्धीकी हत्या करनेमें समर्थ होता है, या कोई श्रमजीवी अपने कमजोर भाईके हाथसे उसकी रोज़ी छीन लेता है। व्यापारिक प्रतियोगिताके कारण बहुत रुपया बर्बाद होता है। जनताकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जहां एक ही दूकानसे काम चल सकता है, वहां प्रायः दस दूकानोंपर एक ही किस्मकी चीज़ उसी मूल्यपर बेची जाती है।

प्रतियोगिताके कारण कई तरहकी बेईमानी होने लगती है। पदार्थोंमें मिलावट करनेकी प्रवृत्ति प्रतियोगितासे ही उत्पन्न होती है।

प्रतियोगिताके कारण बहुतसे ऐसे मनुष्योंको भी नियुक्त करना आवश्यक होता है जिन्हें हम उत्पत्तिके साधक नहीं कह सकते। इस कारण वास्तवमें काम करनेवालोंको और भी अधिक परिश्रम करना पड़ता है।

कहा जाता है कि प्रतियोगिताने लोगोंको आविष्कार करने और संगठन करनेके निमित्त उत्तेजित किया है। सम्भव है यह सच हो, किन्तु इसकी अपेक्षा सहयोगिताके कारण ऐसा होना अधिक सम्भव है। अवश्य ही गत शताब्दीमें प्रतिस्पर्द्धाकी अपेक्षा सहयोगितासे ही अधिक उन्नति हुई है।

समष्टिवादके कारण भौतिक क्षेत्रकी प्रतियोगिता उस मानसिक क्षेत्रकी प्रतियोगितामें परिणत हो जायगी जिसकी सम्पत्ति अनन्त है और जहां दूसरे मनुष्यको निर्धन बनाये बिना ही प्रचुर सम्पत्तिका संग्रह करना सम्भव है।

[फरवरीके 'सोशलिस्ट' से]

* *

विनिमय साधक बैंकोंकी आवश्यकता

फरवरी मासके 'इण्डियन रिव्यू' में विनिमय साधक बैंकोंकी आवश्यकता प्रकट करते हुए श्री एस० जी० वर्त्ती एम० ए० लिखते हैं —

विदेशी व्यापारकी सुव्यवस्था और विकासके लिये विनिमय साधक बैंकोंकी उपयोगिता निर्विवाद है। सच बात तो यह है कि यदि वर्तमान प्रणालीसे और सबसे नये तरीकों द्वारा व्यापार करना है तो आर्थिक अवलम्बनके लिये बैंकोंको सहायता लेना नितान्त आवश्यक है। भारतका विदेशी व्यापार भारतीयोंके हाथमें न रहकर प्रधानतया विदेशियोंके ही हाथमें है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि भारतीयोंके अपने निजके विनिमय साधक बैंक नहीं हैं। इस समय जो विदेशी बैंक भारतमें अपनी शाखाओं द्वारा विनिमयका काम कर रहे हैं वे विदेशी कम्पनियों तथा व्यापारियोंको ही आर्थिक सहायता देते हैं। उक्त शाखाओंकी स्थापनाका उद्देश्य ही यह था। यदि किसी भारतीय व्यापारिक कम्पनीको उनसे लाभ उठानेका अवसर मिलता भी है तो सिर्फ उस हालतमें मिलता है जब कि विदेशी कम्पनियोंकी आवश्यकताएं पूरी हो चुकती हैं। इस प्रकार भारतीय

व्यापारियोंको विदेशी बैंकोंकी अनुकम्पाका भिखारी बनना पड़ता है और इस कारण उन्हें व्यापारमें बड़ी बड़ी अड़चनें उठानी पड़ती हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि वर्तमान परिस्थितिमें सुधार होना चाहिये और भारतीय व्यापारियोंको भी अपने देशके विस्तृत व्यापारसे लाभ उठानेके लिये प्रतियोगिता करनेका उचित अवसर मिलना चाहिये।

सम्भव है, बैंककी व्यवस्था करनेके लिये शुरूमें कोई सुदक्ष और अभ्यस्त भारतीय न मिल सके। भारतीयोंको अभी तक बैंकोंकी व्यवस्थाका अनुभव प्राप्त करनेके निमित्त पर्याप्त अवसर ही नहीं मिला है। अतः इस कार्यके लिये सम्भवतः किसी विदेशी कार्य-कुशल व्यक्तिको ही नियुक्त करना होगा। ऐसा करनेमें कोई आपत्ति न होनी चाहिये। वेतनका संकोच न करते हुए निपुणसे निपुण व्यक्तिको नियुक्त कर लेना चाहिये। स्मरण रहे कि हम अभी कार्यका सूत्रपात ही कर रहे हैं और हमारे भावी प्रयत्न प्रथम प्रयत्नकी सफलताके अनुसार ही किये जायंगे। यदि विदेशी विशेषज्ञ नियुक्त किया जाय तो अन्य देशवासियोंकी अपेक्षा किसी अमेरिकनको ही नियुक्त करना बेहतर होगा।

भारतीयों द्वारा व्यवस्थित विनिमय बैंककी स्थापनासे भारतीय व्यापारियोंका भला तो होगा ही, साथ ही एक लाभ और होगा। भारतमें आगका तथा जहाजोंका बीमा करने वाली कम्पनियां प्रायः विदेशी कम्पनियोंकी शाखाएं ही हैं। भारतके इतने बड़े विदेशी व्यापारसे सम्बद्ध इस प्रकारके कार्यका अधिकांश ये कम्पनियां ही करती हैं। विदेशी विनियम साधक बैंकोंसे इन्हें अप्रत्यक्ष सहायता एवं प्रोत्साहन मिलता है। ये बैंक उक्त कम्पनियोंके साथ किये गये बीमोंको विना किसी उज्रके स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु यदि बीमा करने वाली संस्था भारतीय हो तो प्रायः प्रत्येक अवसरपर आपत्तियां उपस्थित की जाती हैं। इस प्रकार जहाजोंका बीमा करनेवाली विदेशी कम्पनियोंके साथ रियायत की जाती है, अतः वे बीमेका वह मुनाफा भी अपने अपने देशोंको खींच ले जानेमें समर्थ होती हैं जो न्यायतः, यदि भारतीय बीमा कम्पनियोंकी नीति भी विदेशी बैंक स्वीकार कर लिया करें तो, भारतीयोंको ही मिलना चाहिये। अतः इस उद्देश्यसे भी भारतीयोंको अपना संगठन करनेकी आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय विनिमय-बैंकोंसे एक लाभ यह भी होगा कि भारतीय जहाज कम्पनियोंकी स्थापना करने और उनकी उन्नति करनेमें भी इससे सहायता मिलेगी।

[फरवरीके 'इण्डियन रिव्यू'से]

पुस्तकावलोकन।

भारतीय शासन

इस पुस्तकके लेखक हैं प्रेममहाविद्यालय, वृन्दावनके श्री भगवानदास केला। प्रकाशक भी आप ही हैं। पृष्ठ-संख्या १६८, मूल्य चौदह आने।

इस पुस्तकमें वर्त्तमान भारतकी शासनप्रणालीके सम्बन्धकी प्रायः सभी ज्ञातव्य बातोंका समावेश कर दिया गया है। भारतमन्त्री और भारत सरकारमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, हाई कमिश्नर कौन है, उसके सिपुर्द क्या क्या काम है, भारत सरकारके आय-व्ययका हिसाब किस प्रकार रखा जाता है, व्यवस्थापक सभाके सदस्योंको उसमें काट-छांट करनेका अधिकार कहां तक है, कानून कैसे बनते हैं, निर्वाचकोंके लिये किन किन शर्तोंका पूरा करना आवश्यक है, इत्यादि अनेक उपयोगी और आवश्यक विषयोंका संक्षिप्त वर्णन सरल और रोचक भाषामें किया गया है। यद्यपि पुस्तकमें वर्णित विषयों- मेंसे कई विषय ऐसे हैं जिनकी विवेचना अधिक विस्तृत रूपसे की जा सकती थी तो भी आपने 'यह कार्य योग्यतर पात्रोंके लिये छोड़कर—एक ही स्थानपर सबके दिग्दर्शनमात्रसे सन्तोष किया है।' आपके इस 'दिग्दर्शन' से हमें भी सन्तोष है।

पुस्तकका यह तीसरा संस्करण है और इसकी विशेषता यह है कि इसमें नूतन सुधारोंका भी उल्लेख कर दिया गया है। ब्रिटिश शासनकालके आरम्भसे अभी तक यहांकी शासन-प्रणालीमें जो जो परिवर्तन हुए उनका संक्षिप्त इतिहास प्रथम तथा तृतीय परिच्छेदमें दिया गया है और अन्य परिच्छेदोंमें भी यथावसर उनका उल्लेख किया गया है। पुस्तक प्रायः निष्पक्ष भावसे ही लिखी गयी है। फिर भी उसमें कहीं कहीं—उदाहरणार्थ पृ० ७० पर—आलोचनाके छींटे भी देख पड़ते हैं। हमारी दृष्टिसे तृतीय परिच्छेदका विषय प्रथम परिच्छेदके बाद और द्वितीयके पहिले रखा जाता तो अच्छा था। पुस्तक सर्वथा उपादेय है।

ये पुस्तकें भी मिल गयीं। भेजनेवालोंको धन्यवाद।

१. जागृत भारत—जी० वी० शुक्ल, ६४ काटन स्ट्रीट, कलकत्ता।

२. बैरका बदला नाटक—डा० कृष्णराव भवि बी. एससी. एम. बी. बी. एस., लार्डगंज, जबलपुर

३. आरोग्य शास्त्र—श्री शंकर आयुर्वेदिक औषधालय, सूत्रमंडी, लाहौर।

४. ग्राम सुधार—छात्र सहोदर कार्यालय, जबलपुर।

'पथ-भिक्षु'

सम्पादकीय।

रेलोंका बढ़ता हुआ व्यय।

गत २९ फाल्गुन (१३ मार्च) को बड़ी व्यवस्थापक सभामें रेलोंके निमित्त व्ययकी स्वीकृति देते समय अनेक सदस्योंने उसके घटाये जानेपर जोर दिया था, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। जिन लोगोंने इञ्चकेप कमिटीकी रिपोर्टका हवाला देकर अपने कथनकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया था, उनका उत्तर देते हुए भारत सरकारके व्यापार-सदस्यने कहा कि 'इञ्चकेप कमिटीकी राय संवत् १९७० के अंकोंके साथ संवत् १९७८ के अंकोंकी तुलनाके आधारपर दी गयी है। रेलोंके समान व्यापार सम्बन्धी विषयका विचार करते समय इस पद्धतिका सहारा लेना उचित नहीं है। संवत् १९७० में व्यापार अदृष्टपूर्व अवस्थाको पहुंच चुका था, वह वर्ष उन्नतिका वर्ष था, किन्तु संवत् १९७८ तथा संवत् १९७९ ये दोनों ही वर्ष व्यापारिक शिथिलताके वर्ष हैं।' तात्पर्य यह है कि रेलोंके व्ययका अनुमान जिन कारणोंसे बढ़ गया उनपर रेल विभागका कोई वश न था।

व्यापार-सदस्यके कथनकी आंशिक सत्यता हम स्वीकार करते हैं, किन्तु जब हम यह देखते है कि संवत् १९७० में रेलोंका खर्च उनकी आमदनीका प्रति शत लगभग ५४ था और संवत् १९७८ में वह प्रति शत ७६ से भी अधिक बढ़ गया, तब हमें उनके उत्तरसे सन्तोष नहीं होता। हमारे मनमें नाना प्रकारकी शंकाएं उत्पन्न होने लगती हैं। क्या वास्तवमें इस परिस्थितिका सारा दायित्व व्यापारकी शिथिलतापर ही है? अभी हालमें रेलोंके सम्बन्धमें जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी उससे प्रकट होता है कि यद्यपि संवत् १९७८में पिछले वर्षकी अपेक्षा बाहरसे तैयार वस्त्र कम परिमाणमें आये तो भी माल गाड़ियोंसे पहलेकी अपेक्षा १॥ करोड़की आमदनी अधिक हुई थी। अतः व्यापारकी मन्दीको संवत् १९७८ में आमदनीकी घटीका एक मात्र कारण नहीं कह सकते। उस वर्ष कृषि-की अवस्था भी सन्तोषजनक थी। असलमें आमदनीकी कमी माल गाड़ियोंसे नहीं बल्कि मुसाफिर ले जानेवाली गाड़ियोंसे ही हुई थी। रिपोर्टमें इस घटीका कारण वस्तुओंकी महंगी बताया गया था, जिससे लोगोंका गमनागमन कम हो गया था। ऐसी हालतमें रेल-किरायेकी वृद्धि तो यात्रियोंको और भी असह्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रेलोंकी आमदनीपर इस कर-वृद्धिका भी विशेष प्रभाव पड़ा है।

यदि हम व्यापार सदस्यके ही कथनको सर्वथा ग्राह्य मान लें तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वर्त्तमान परिस्थितिमें रेलोंका व्यय घटाना आवश्यक नहीं है। उन्होंने इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेलजियम इत्यादि देशोंका उदाहरण पेश कर यह दिखलानेका यत्न किया कि भारतमें रेलोंके व्ययका अनुमान अपेक्षाकृत बहुत कम है, पर क्या केवल इतनेसे ही यह कहा जा सकता है कि यह व्यय सर्वथा आवश्यक और उचित है और इसमें कमीकी

गुंजाइश नहीं है ? अन्य देशोंकी परिस्थिति कैसी है, वहांके लिये किस नीतिका अनुसरण करना उपयुक्त है, यह तो हम नहीं कह सकते । हां, यहांकी हालत देखते हुए हम इतना ज़रूर कह सकते हैं कि रेलोंके व्ययमें कमी होनी चाहिये। साथ ही रेलोंका किराया भी घटाया जाना चाहिये, तभी उनकी आमदनी बढ़ेगी और उनसे लाभ भी हो सकेगा। यदि रेलोंसे विशेष लाभ भी न हो, किन्तु यदि वे देशकी औद्योगिक उन्नतिमें सहायक हो सकें, यदि उनका सञ्चालन इस ढंगसे किया जासके कि उनसे देशी उद्योगोंको प्रोत्साहन मिले, तो उनके अस्तित्वसे समूचे राष्ट्रके हित-साधनकी सम्भावना है ।

* *

राजनीतिक अभ्युत्थानका मूल तत्व ।

पिछले कुछ वर्षोंकी घटनाओंकी ओर दृष्टिपात करनेसे विदित होगा कि वर्त्तमान समयमें भारत ही नहीं, संसारके सभी देशोंमें अन्य विषयोंकी अपेक्षा राजनीतिक विषयोंकी ओर ही लोगोंका ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट होता रहा है । इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, जापान, रूस इत्यादि आधे दर्जनसे ऊपर देशोंमें तो राजनीति ही मानो लोगोंकी जीवन-मूल हो रही है । इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक प्रश्नोंकी ओर सर्वसाधारणकी इस प्रवृत्तिका एक प्रधान कारण संसार-व्यापी आर्थिक उथल-पुथल ही है अर्थात् जिन्हें हम केवल राजनीतिक प्रश्न ही समझते हैं वास्तवमें वे आर्थिक प्रश्नोंके ही रूपान्तरमात्र हैं या कमसे कम उनके ही प्रतिफल हैं । किन्तु इतना होते हुए भी हमें यह मानना पड़ेगा कि अनेक प्रश्न ऐसे हैं जिनके विशुद्ध राजनीतिक महत्त्वके ही कारण लोग राजनीतिकी ओर इतने अधिक आकृष्ट होते जा रहे हैं। संसार-व्यापी शक्तियों तथा अनपेक्षित घटनाओंके प्रबल संयोगने हमारे जीवनमें राजनीतिको वह स्थान दे दिया है जो उसे संभवत: प्राचीन तथा मध्यकालमें कभी भी प्राप्त न था । इसीलिये इस समय 'राजनीतिक अभ्युत्थानका मूल तत्व' क्या है, यह प्रश्न हमारे लिये विशेष महत्त्वपूर्ण हो गया है ।

यद्यपि पश्चिमके अनेक देशोंको अपनी वर्त्तमान राजनीतिक उन्नतिका और अपनी भौतिक सभ्यताका बड़ा अभिमान है, तो भी पिछले अनुभवने यह स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि उनका यह अभिमान करना व्यर्थकी डींग मारना ही है । जिसे वे अपनी राजनीतिक उन्नति समझते हैं वास्तवमें वह राजनीतिक प्रबलता और नैतिक अधःपातका विचित्र संमिश्रण है । अतः राजनीतिक अभ्युत्थानके मूल तत्वका प्रश्न उक्त देशोंके लिये भी वैसा ही उपयोगी है जैसा वह हमारे लिये है ।

जिन विद्वानोंने वर्त्तमान सभ्यता और दिखाऊ राजनीतिक उन्नतिके दोषोंपर गंभीरतापूर्वक विचार किया है, उन्होंने उक्त प्रश्नका उत्तर भिन्न भिन्न ढँगसे दिया है, किन्तु जहां तक हम समझते हैं उनके कथनका निष्कर्ष यही है कि 'मनुष्यमात्रके समानाधिकारको स्वीकार कर लेना ही सच्चे राजनीतिक अभ्युत्थानका मूल तत्व है ।' यदि हम इतना

मान लें कि साधारणतया प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक मनुष्य-समूह तथा प्रत्येक राष्ट्रको आत्म-निश्चय और आत्म-शासनका पूरा पूरा अधिकार है तो हमारा राजनीतिक अभ्युदय होनेमें अधिक विलम्ब न लगे ! मनुष्योंके समानाधिकारका यह आशय नहीं है कि संसारमें सभी मनुष्य एक दूसरेके समान हैं । इसका आशय केवल इतना ही है कि राजनीतिक दृष्टिसे कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना ही निर्धन या कमज़ोर क्यों न हो, किसी अन्य मनुष्यकी अपेक्षा छोटा या हीन नहीं है—उसके ऊपर शासन करनेका अधिकार किसीको भी प्राप्त नहीं है । प्रत्येक राष्ट्रके सम्बन्धमें भी यही सिद्धान्त मान्य है । इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य या प्रत्येक राष्ट्रको अपने सन्तोषार्थ और अपने इच्छानुसार ही अपने कार्योंका नियंत्रण करनेका नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है । इस दृष्टिसे मनुष्य मात्र स्वाधीन है । उसकी स्वाधीनतामें हस्तक्षेप करनेका अधिकार किसीको भी नहीं है । हां, 'स्वाधीनता'का आशय स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता नहीं है । दूसरोंके जान-मालको क्षति न पहुंचाते हुए या उसके अधिकारोंमें हस्तक्षेप न करते हुए यदि कोई मनुष्य या राष्ट्र अपने ही ढंगसे अपना कार्य करना चाहे तो किसी बाह्य व्यक्ति या राष्ट्रको उसे अपने पथसे रोकने या स्वार्थवश उसके सामने बाधाएं उपस्थित करनेका कोई अधिकार नहीं है । हमारी दृष्टिसे राजनीतिक अभ्युत्थानका मूल तत्व यही है । पश्चिमी देशोंने अनेक अवसरोंपर या तो इस सिद्धान्तकी उपेक्षा की है या फिर केवल तभी तक उसका अनुसरण किया है जब तक ऐसा करना उनकी स्वार्थ-सिद्धिके अनुकूल था । यही कारण है कि इतना प्रयत्न करते हुए भी उक्त देशोंको राजनीतिक सन्तोष और शान्ति प्राप्त करनेमें अभी तक सफलता प्राप्त नही हुई है । यदि हम पाश्चात्य देशोंके इस अनुभवसे लाभ उठा सके तो हमारा राजनीतिक भविष्य अधिक आशापूर्ण और अधिक सफल हो सकेगा ।

ऊपर हमने राजनीतिके जिस तत्वका उल्लेख किया है उसके अधिकसे अधिक विस्तृत प्रचारकी आवश्यकता है । जब तक हम भली भांति उसको हृदयंगम न कर लेंगे तब तक हमारे लिये अपने राजनीतिक आदर्शके समीप पहुंचना अत्यन्त कठिन है । इस उद्देशकी पूर्त्तिमें सुयोग्य निर्वाचकोंसे तथा देशका कल्याण चाहने वाले और निष्पक्ष एवं निर्भीक भावसे अपना मत प्रकट करनेवाले संवादपत्रोंसे हमें बड़ी सहायता मिल सकती है । स्वार्थी या संकुचित विचार वाले प्रचारकों, वक्ताओं इत्यादिकी मीठी मीठी बातों द्वारा जो बहकाये न जा सकें, जो विद्वान्, अनुभवी, सुदक्ष, उद्यमी एवं सच्चे देश-हितैषियों को ही निर्वाचित करना अपना निश्चित धर्म मानें, ऐसे निर्वाचक ही प्रतिनिधि-शासन या प्रजातंत्र शासनके मूलस्तंभ हैं, अत: उनका सुशिक्षित और कार्यपरायण होना परमावश्यक है । उसी प्रकार राजनीतिक दलबन्दियों या व्यक्तिगत बातोंके झमेलेमें न पड़कर केवल राष्ट्र-हितको ही सर्वोच्च ध्येय मानते हुए जनताको सच्ची और उपयोगी सलाह देने वाले संवादपत्रोंकी भी देशमें बड़ी आवश्यकता है । जनताके मतका ठीक ठीक प्रदर्शन करना तो इनका प्रधान कर्त्तव्य है ही । साथ ही उसके विचारोंको देशहितानुगामी और सुसंस्कृत बनाना भी इनका ही काम है । ऐसे ही समाचारपत्रोंकी सहायतासे देशमें राजनीतिक जागृ-

तिका विशेष प्रसार होता है। जनताके विचारोंको परिष्कृत और उच्च बनानेके कार्यमें सच्चे देशप्रेमियोंके प्रभावोत्पादक व्याख्यानों और उनकी देश-सेवाओं एवं आत्म-त्यागके प्रत्यक्ष उदाहरणोंसे भी बहुत मदद मिलती है। इस प्रकार व्यक्तिगत तथा राष्ट्रगत स्वाधीनताके उपयुक्त सिद्धान्तका सम्यक् प्रचार होनेसे ही सच्चा राजनीतिक अभ्युत्थान संभव हो सकता है।

* *

पुरातत्व-विभागमें व्यय-संकोच

संसारके प्रायः सभी सभ्य देशोंमें प्राचीन कीर्त्तिके नमूनों तथा विलुप्त गौरवके अवशिष्ट चिह्नोंकी रक्षा करना तथा मरम्मत कराना राष्ट्रका परम कर्त्तव्य समझा जाता है। भारतमें इस तरफ उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना पश्चिमके या पूर्वके ही स्वाधीन और समुन्नत देशोंमें दिया जाता है। फिर भी भारत सरकारके पुरातत्व-विभागने इस सम्बन्धमें जो थोड़ा बहुत कार्य किया है, वह भी हमारे लिये कम महत्त्वका नहीं है। लार्ड कर्जनके समयसे यह विभाग भारतके अनेक प्राचीन स्मृति-चिह्नों तथा भग्नावशिष्ट स्थानोंकी देखभाल करने लगा है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका कार्य परमोपयोगी और साथ ही परमावश्यक होनेके कारण अविच्छिन्न रूपसे जारी रहना चाहिये। यदि देशकी आर्थिक परिस्थितिके कारण कुछ समय तक उसकी अधिक उन्नति न की जा सके तो इसमें हमें कोई आपत्ति न होगी। किन्तु हम देखते हैं कि लार्ड इञ्चकेपकी व्यय संकोच समितिने न जाने क्या समझकर इस विभागमें भी किफायत करनेकी सिफारिश की है। समितिकी अनेक सिफारिशोंको उचित मानते हुए भी हम उसकी इस रायसे सहमत नहीं हो सकते।

इस समय पुरातत्व विभाग द्वारा कोई आठ सौ प्राचीन स्मृति-चिह्नोंकी रक्षा होती है। इञ्चकेप समितिने सिफारिश की है कि अब इनकी संख्या घटाकर पांच सौ ही कर दी जाय, शेषकी रक्षाका भार सर्वसाधारणकी उदारता और आर्थिक सहायतापर ही छोड़ दिया जाय। हमारे विचारमें तो प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों इत्यादिकी रक्षा तथा मरम्मतका जो कार्य इस समय हो रहा है, वह भी पर्याप्त नहीं है। ऐसी अवस्थामें व्यय-संकोचकी दोहाई देकर उसका क्षेत्र और भी संकुचित कर देना सर्वथा अनुचित और अनर्थकारी है। यदि सरकार चाहे तो मरम्मतका कार्य अपनी आर्थिक अवस्थाके अनुसार पारी पारीसे करा सकती है, किन्तु संरक्षित वस्तुओंकी सूचीमेंसे कोई एक-तिहाईका नाम ही निकाल देना उचित नहीं प्रतीत होता। आशा है व्यवस्थापक सभाके सदस्य इञ्चकेप समितिकी यह सिफारिश मंजूर न करेंगे और न सरकार ही इसे स्वीकृत करनेके निमित्त विशेष तत्परता दिखावेगी।

* *

जापानकी औद्योगिक समस्या

संसारके इतिहासमें संभवतः जापानके सिवाय और कोई देश ऐसा नहीं मिलता

जिसने इतने थोड़े समयमें ही इतनी अधिक औद्योगिक और राजनीतिक उन्नति की हो। गत तीस वर्षोंके भीतर ही भीतर जापानी कारखानोंमें काम करने वालोंकी संख्या लगभग सौ गुनी बढ़ गयी है। किन्तु इस उन्नतिके साथ साथ अब वहां भीषण औद्योगिक समस्या भी उत्पन्न हो रही है। वर्त्तमान व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धाके जालमें फँसकर और सस्ती मजूरीके प्रलोभनमें आकर उसने अपनी हालत करीब करीब उतनी ही शोचनीय बना ली है जितनी कि इस समय अनेक यूरोपीय देशोंकी हो रही है। युद्धके बादकी महँगी वहां अभी तक मौजूद ही है, किन्तु श्रमजीवियोंकी मजूरी उतनी नहीं बढ़ी है। उन्हें अब भी सस्ती मजूरीपर काम करना पड़ता है और उदर-ज्वालासे पीड़ित होकर चौदह चौदह घण्टों तक काम करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। इसी कारण वहां सामाजिक विषमता बढ़ती ही जा रही है। जो धनवान् हैं वे अधिक धनवान् होते जा रहे हैं, जो गरीब हैं उनकी दरिद्रता और भी बढ़ रही है। घने बसे हुए शहरोंकी गन्दी गलियोंमें हजारों मनुष्य कुछ ही आने रोजपर अपनी जिन्दगी बसर कर रहे हैं। जैसा कि 'सोशल रिफार्मर' में प्रकाशित एक लेखमें बतलाया गया है, जापानमें इस समय सैकड़े पीछे कोई ६२ मनुष्योंको इतनी कम मजूरी मिलती है जिससे उनके जीवन-निर्वाहका व्यय भी भली भांति नहीं चल सकता। वहांके सैकड़े पीछे ८६ जुर्मोंका प्रधान कारण अपराधियोंकी निर्धनता ही है। कृषकों एवं कृषिमें लगे हुए मजदूरों तकमें असन्तोष फैला हुआ है और वे आर्थिक स्वतंत्रता पानेके लिये विशेष उत्कण्ठित हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें यदि जापानके पूँजीपति तथा राजनीतिक सूत्रधार समय रहते हुए कोई उचित व्यवस्था न कर लेंगे तो इसमें सन्देह नहीं कि वहां भी रूस इत्यादिकी तरह कोई भीषण आर्थिक एवं सामाजिक हलचल उत्पन्न हो जाय।

जापानमें इस औद्योगिक समस्याके प्रतीकारका उपाय भी हो रहा है। वहांके पूँजीपति तथा बड़े बड़े व्यवसायी अपने अधीन श्रमियोंकी शिकायतोंको सुननेके लिये तथा उन्हें दूर करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करनेके लिये अधिकाधिक प्रवृत्त हो रहे हैं। कई व्यवसायपतियोंने तो अपने कारखानोंमें प्रतिदिन आठ घण्टे काम करनेका नियम बना दिया है और श्रमियोंको बेकारीसे बचानेकी भी निश्चित व्यवस्था कर दी है। व्याधियोंसे उनकी रक्षा करने तथा उनकी भलाईके अन्य कार्योंकी ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। यदि वास्तवमें ये प्रयत्न सच्चे हृदयसे किये जाते हों और यदि इसी प्रकार सभी पूँजीपति श्रमियोंके साथ उदारतापूर्ण सहयोग करनेके लिये तैयार रहें तो जापान उन अगणित दुःखद घटनाओंसे बच सकता है जो पश्चिमी देशोंमें पूँजीपतियों और श्रमियोंके बीच कोई एक शताब्दीसे बराबर होती आ रही हैं। हमें भी जापानकी इस परिस्थितिसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

* *

नमककर बढ़ गया

बड़ी व्यवस्थापक सभा द्वारा दो बार अस्वीकृत किये जानेपर भी नमक-कर

सवा रुपयेके स्थानमें अढाई रुपये मन कर दिया गया। वाइसरायने उसके बढ़ानेमेंही देशका हित समझा, इसी कारण उन्होंने व्यवस्थापक सभाके निर्णयको न मान कर अपने विशेषाधिकारका प्रयोग किया। नूतन सुधारोंकी धारा ६७ बके अनुसार प्रबल आवश्यकता आ पड़नेपर वाइसराय अपने विशेषाधिकारका प्रयोग कर किसी भी प्रस्तावको क़ानूनमें परिणत कर सकते हैं। साधारणतया, इस प्रकारके विशेषाधिकारकी सहायतासे बनाया गया क़ानून इंग्लैण्डकी प्रतिनिधि सभा तथा लार्ड सभाके सामने कमसे कम आठ दिनों तक विचारार्थ रखा जाना चाहिये। साथ ही उसपर महामान्य सम्राट्की स्वीकृति लेना भी आवश्यक है। तभी वह क़ानून अमलमें लाया जा सकता है। किन्तु इस धारामें एक शर्त यह भी है कि कठिन आवश्यकताके समय वाइसराय ऐसे कानूनको तुरन्तही अमलमें ला सकते हैं, हां, बादमें यदि सम्राट् चाहें तो उसे नामञ्जूर कर सकते हैं। इसी धाराका उल्लेख कर बड़े लाटने तथा उनके पहिले भी स्वराष्ट्र सचिव सर मेलकम हेलीने इस प्रकारके स्वाधिकार-प्रयोगको विधि-विहित प्रमाणित करनेकी चेष्टा की है। हमारी दृष्टिसे तो लाट साहबका यह कार्य क़ानून के ख़यालसे भलेही नाजायज (इल्लीगल) न हो पर हम उसे शासन-पद्धतिके साधारण सिद्धान्तोंके प्रतिकूल (अनकांस्टिट्यूशनल) ज़रूर कहेंगे, अस्तु।

प्रबल आवश्यकता' या 'राष्ट्रके हित'की व्याख्या करते हुए वाइसराय तथा सर मेलकम हेली, दोनोंने ही इस बातपर जोर दिया कि भारतकी साख बनाये रखनेके लिये इस बार घटीका यों ही छोड़ दिया जाना कदापि ठीक न होता। जिस प्रयत्नसे भारतकी साख अक्षुण्ण रह सके, उसका प्रयोग करना तो उचित ही है। किन्तु ऐसे अवसरपर हमें अन्य बातोंका भी ख़याल करना ज़रूरी है। हमें देखना चाहिये कि इस प्रयत्नके कारण आर्थिक कठिनाइयोंसे दबी हुई निर्धन और निःसहाय जनताका कष्ट तो न बढ़ जायगा? इसीका विचारकर व्यवस्थापक सभाके सदस्योंने तथा भारतीय संवादपत्रोंने एक स्वरसे नमक-करकी वृद्धिका विरोध किया था। यदि वाइसराय महोदय इसका यह आशय निकालें कि ये लोग भारतकी साख बनाये रखनेके लिये उत्सुक नहीं हैं, तो यह उनकी भूल है। पिछले वर्षोंमें जब बीस बीस करोड़की घटीका सामना करना पड़ा था, उस समय तो भारतकी साखकी रक्षाके लिये सरकारने इतनी तत्परता न दिखायी। अब एक ही वर्षमें चारपांच करोड़की घटीके कारण भारतकी साख डूब जानेकी कहां तक संभावना है, यह हमारी समझमें नहीं आता।

सर मागटेगू वेबके इस कथनका कि इस वर्षकी घटीको यों ही छोड़ देनेसे भारतकी साख न डूबेगी, सर मेलकम हेलीने वास्तवमें कोई उत्तर नहीं दिया। इधर उधरकी बातों द्वारा किसीके कथनकी दिल्लगी उड़ाना एक बात है, और उचित तर्कों द्वारा उसे मिथ्या साबित करना दूसरी बात है।

वाइसराय तथा स्वराष्ट्र-सचिवका यह कहना भी ठीक नहीं है कि नमककरकी वृद्धिका विरोध करने वालोंने परिस्थितिका सामना करनेके लिये और उपाय नहीं बताये।

बड़ी व्यवस्थापक सभाके सदस्योंने आय-करको दूना करने अथवा मिट्टीके तेल, चमड़े, पाट इत्यादिकी रफ्तनीपर कर लगाने या उसकी वृद्धि करने, उसी प्रकार बाहरसे आनेवाले कुछ पदार्थोंपर अधिक आयातकर लगानेके प्रस्ताव किये ही थे। हां, यह सत्य है कि इन भिन्न भिन्न प्रस्तावोंके सम्बन्धमें सदस्योंमें थोड़ा-बहुत मतभेद था. किन्तु जिस करका विरोध सभी गैरसरकारी सदस्योंने एक स्वरसे किया था उसे मंजूर कर लेना तो सरकारने अपना धर्म समझा, पर जिन अन्य प्रस्तावोंका विरोध दो चार ही सज्जनों द्वारा किया गया था उनकी ओर ध्यान देना भी उसने उचित नहीं समझा। सरकारकी इस रहस्यमयी नीतिको समझनेकी क्षमता हममें नहीं है। हम इतना ही कह सकते हैं कि लोकमतकी उपेक्षा कर वाइसराय द्वारा नमककरका बढ़ाया जाना देशके लिये बड़े दुर्भाग्यकी बात है। वाइसराय या उनके अनुयायी नमककरके विरोधको चाहे केवल 'भावुकता' ही क्यों न समझें, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी इस कार्रवाईके कारण गरीबसे गरीब मनुष्यकी आत्मापर जो कर-भार पड़ेगा वह उसे विशेष कष्टदायक प्रतीत होगा।

* *

जहाजोंका किराया रोक रखनेकी प्रथा

भारतीय जहाजोंके बेड़ेकी स्थापना एवं उन्नतिके मार्गमें एक बड़ी भारी बाधा विदेशी जहाज-कम्पनियोंकी 'डिफर्ड रिबेट सिस्टम' अर्थात् किराया रोक रखनेकी प्रथा है। भारतके जो व्यापारी विदेशोंको अपना माल भेजते हैं यदि वे साल भर तक उसी जहाज कम्पनी द्वारा माल भेजते रहें तो दिये हुए किरायेका कुछ अंश उन्हें वापस मिल जाता है। यदि कोई व्यापारी कभी इस शर्तका उल्लंघन कर डाले अर्थात् यदि किसी कारण वश एकाधबार वह किसी अन्य कम्पनीके जहाजों द्वारा अपना माल भेज दे तो फिर भाड़ेका उक्त अंश उसे नहीं मिलता। इस प्रकार विवश होकर व्यापारियोंको किसी खास कम्पनी के ही जहाजों द्वारा अपना माल भिजवाना पड़ता है। इस शर्तके कारण वे एक ही कम्पनीके साथ ऐसे बँध जाते हैं कि फिर इच्छा रहते हुए भी उन्हें अन्य किसी कम्पनीका सहारा लेना कठिन हो जाता है।

प्रायः देखा गया है कि जिस समय भारतमें स्थापित कोई जहाज-कम्पनी अपना कार्यारम्भ करती है उस समय अनेक बड़ी बड़ी विदेशी जहाज-कम्पनियां ग्राहकोंको आकर्षित करनेके लिये एवं नूतन कम्पनीको परास्त करनेके उद्देश्यसे भाड़ेकी दर एकदम घटा देती हैं। नयी कम्पनीको इतनी शक्ति कहां कि वह इन सुव्यवस्थित और समुन्नत कम्पनियोंके साथ होड़ लगा सके! यदि कभी कोई कम्पनी किराया घटानेका साहस भी करती है तो ये विदेशी कम्पनियां अपना भाड़ा और भी कम कर देती हैं। ऐसी अवस्थामें यदि कोई नूतन कम्पनी दो-चार वर्ष भी टिक जाय तो गनीमत समझिये। इस होड़ा होड़ीमें व्यापारियोंको विशेष लाभ होता हो, सो बात भी नहीं है, क्योंकि प्रतिस्पर्द्धा करने वाली कम्पनीको परास्त करनेके पश्चात् ये कम्पनियां किरायेकी दर फिर बढ़ा देती

हैं, यहां तक कि संवर्द्धित किराये से ये अपनी पूर्व घटी भी पूरी कर लेती हैं। जब तक इस प्रकारकी अनुचित प्रतियोगिता क़ानून द्वारा बन्द न कर दी जायगी तब तक भारतीय जहाजोंके व्यापारिक बेड़ेकी आशाका सफल होना संभव प्रतीत नहीं होता।

अभी उस दिन श्रीशेषगिरि ऐय्यरने इसी अभिप्रायसे बड़ी व्यवस्थापक सभामें एक बिल (विधान पत्र) उपस्थित किया था। उसमें कहा गया था कि जहाजोंके भाड़ेकी अधिकतम और अल्पतम दर निश्चित कर दी जाय एवं किरायां रोक रखनेकी प्रथा बन्द कर दी जाय। भारतमें इस प्रकारके विधानकी कितनी आवश्यकता है यह इसीसे प्रकट होगा कि गत पच्चीस वर्षोंके भीतर जहाजोंकी कोई बीस देशी कम्पनियां यहां स्थापित हुईं, किन्तु उपर्युल्लिखत अन्याय्य प्रतियोगिताके कारण तथा भारत सरकारकी उदासीन नीतिके कारण उनमेंसे अधिकांश शीघ्र ही असफल होकर टूट गयीं।

इस समय भारतीय व्यापारी जो माल बाहरसे मँगाते हैं या बाहर भेजते हैं वह प्रायः विदेशी जहाज-कम्पनियों द्वारा ही आता-जाता है। इसके लिये भारतको प्रति वर्ष कोई तीस करोड़ रुपये भाड़े इत्यादिके रूपमें उक्त कम्पनियोंको देना पड़ते हैं। यदि भारतीय जहाज-कम्पनियों द्वारा माल भेजा या मंगाया जाय तो देशकी इतनी बड़ी रकम बाहर न जाने पावे। साथ ही हजारों मनुष्योंके जीवन-निर्वाहका एक अच्छा साधन भी उत्पन्न हो जाय।

जहां तक हमें स्मरण है श्रीयुत शेषगिरि ऐय्यरके उक्त बिलपर बड़ी व्यवस्थापक सभाके गत अधिवेशनमें विचार नहीं हो सका था। सरकारकी ओरसे कहा गया था कि यदि उस बिलपर विचार करनेका अवकाश मिलता तो सरकार उसका विरोध करती। हमें सरकारकी इस प्रवृत्तिका दुःख है। फिर भी हमें आशा है कि—सरकारका रुख चाहे प्रतिकूल ही क्यों न हो—आगामी अधिवेशनमें व्यवस्थापक सभा इस बिलको अवश्य मंजूर कर लेगी।

—:०:—

ज्ञातव्य विषय तथा अंक

स्विटज़रलैण्डकी घड़ियां ।

घड़ियां बनानेके उद्योगमें स्विटज़रलैण्ड संसारके अन्य सब देशोंसे आगे बढ़ा हुआ है। वहांकी बनी घड़ियां संसार भरमें फैल गयी हैं। बाहर भेजी गयी घड़ियोंकी संख्या एवं उनके मूल्यका विवरण नीचे दिया जाता है जिससे इस उद्योगकी उन्नतिका पता लगेगा।

संवत्	निर्यात घड़ियोंकी संख्या	मूल्य (फ्रांकमें)
१९५२	४७ लाख	६४६ लाख
१९५७	७३ ,,	१२०२ ,,
१९६२	६१ ,,	१३१९ ,,
१९६७	१०४ ,,	१४७० ,,
१९७०	१३८ ,,	१८३० ,,
१९७३	१७६ ,,	२०७८ ,,
१९७७	१३७ ,,	३२५८ ,,

[अन्तके पांच शून्य छोड़ दिये गये हैं]

संवत् १९७७ भिन्न भिन्न देशोंको भेजी गयी घड़ियोंके मूल्यका विवरण यह है

देश		मूल्य (फ्रांकमें)
संयुक्त राज्य (अमेरिका)	...	७२२ लाख
ब्रिटिश संयुक्त राज्य	...	३५८ ,,
ब्रिटिश भारत	...	२१५ ,,
स्पेन	...	१९५ ,,
जापान	...	१९२ ,,
फ्रान्स	...	१५० ,,
चीन	...	११६ ,,
कनाडा	...	९२ ,,
जर्मनी	...	८९ ,,
इटली	...	८३ ,,

[स्विटज़रलैण्डका सिक्का फ्रांक इस समय लगभग दस आनेके बराबर है]